२ | तांत्रिक योग-साधना

तंत्र अपने आपमें एक पूर्ण योग है। तांत्रिक सिद्धियों के लिए योगाभ्यास अनिवार्य है। ध्यान, धारणा, आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि के अतिरिक्त राजयोग, लययोग, हठयोग, भक्तियोग, मंत्रयोग आदि नानाविध योगों का समावेश तंत्रसाधना में पाया जाता है।

पातञ्जलयोगशास्त्र **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** कह कर चित्त-वृत्तियों के निरोध को ही 'योग' मानता है, किन्तु तंत्र शास्त्र **योगमेकत्व-मिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना** कहकर एक वस्तु को दूसरी वस्तु में मिला देना ही 'योग' मानता है। मात्र इन्द्रियों तथा चित्त वृत्तियों से निरोध की भर्त्सना करते हुए अभिनवगुप्त ने 'मालिनीविजयवार्तिक में लिखा है—

अनादर विरक्त्यैव गलतीन्द्रिय वृत्तयः।

यावत्तु विनियम्यन्ते तावत्तावद् विकुर्वते ॥२।११२॥

—'यदि गृहस्थ गार्हस्थ्य जीवन बिताते हुए, लौकिक सुखों का अनुभव करते हुए शास्त्रविधि से भोग और वासनाओं को तृप्त करते हुए माहेश्वर आगम द्वारा बताए गए योग का अभ्यास करता है तो वह आत्मानन्द कला का रसास्वादन करता है। उस पर निर्भर रह कर वह अभ्यास करता रहे तो सभी सांसारिक भोगों से उसे विरक्ति हो जाती है। उसके मन में यह विचार पैदा होता है, कि **किमेतैर्क्षणिकैर्भोगैः**—इन क्षणभंगुर भोग-सुखों में क्या धरा है। इस प्रकार का निरादर भाव उत्पन्न होने पर साधक इन्द्रियों के कार्यव्यापार, विषय-भोगों की तृष्णा से विरत हो जाता है।'

तंत्रशास्त्र का मत है कि 'बलात् इन्द्रिय निग्रह करने से अनेक प्रकार से विकार उत्पन्न हो जाते हैं और कभी न कभी इस प्रकार का व्यक्ति महामोहमय विषमगर्त में गिरता है।'

समावेशयोग

शैवागम में बलात् इन्द्रिय-निग्रह को अच्छा नहीं माना गया है। वह सुखपूर्वक योगसाधना का उपदेश देता है। शैवागमयोग पातंजल आदि योगशास्त्रों से विशिष्ट महत्त्व रखता है। शैवागम 'समावेश-योग' का उपदेश देते हुए कहता है कि यह 'समावेश योग' दृढ़तर भावनावश सिद्ध होता है अथवा दृढ़ इच्छाशक्ति के प्रयोग से सिद्ध होता है।

'समावेश' की साधना करने से पूर्व साधक को यह अभ्यास करना चाहिए कि 'मैं सर्वत्र हूँ, सब में मैं ही हूँ, मुझ में ही सब कुछ है, मेरा ही सब कुछ है, मेरी ही शक्ति का विस्तार सर्वत्र व्याप्त है, यह विश्व मेरी ही शक्ति से प्रसारित और प्रचलित है।'

ऐसी भावना और विकल्प ज्ञानरूप से ज्ञानाभ्यास में क्रियांश एवं इच्छांश के गुणीभूत होने से इसका नाम 'ज्ञानयोग' पड़ा है। इसी को

आगमशास्त्रों के आचार्य 'शाक्तोपाय' कहते हैं। तंत्रशास्त्र का मत है कि 'शाक्तोपाय' के अभ्यास की प्रक्रिया सद्गुरु से सीखनी चाहिए'। अन्यत्र यह भी बताया गया है कि गुरु के वाक्य से या शास्त्र के वचन से अपने स्वभाव का वास्तविक ज्ञान करके तीव्रतर इच्छाशक्ति के प्रयोगाभ्यास का बल पाए भावनाभ्यास के बिना भी शिवभाव का समावेश प्राप्त हो जाता है। सद्यः समावेश-अभ्यास ही 'शाम्भवोपाय' कहा जाता है। माहेश्वर आगम इसे 'इच्छोपाय' अथवा 'इच्छायोग' भी कहता है। इस योग की साधना में जो परिपक्वता है, उसमें तो इच्छाशक्ति प्रयोग के बिना और प्रारम्भिक चित्त सम्बोधि के बिना भी किसी परिपूर्ण शिवभाव-समावेश सम्पन्न योगी के दर्शन, संस्पर्श मात्र से ही साधक में शिवता का समावेश हो जाता हैं। अत्यल्प उपाय प्रधान होनेसे स्वल्प अर्थ में 'नञ्' का प्रयोग होने से इस योग को ' अनुपाययोग' भी कहा जाता है।

'शाम्भवोपाय' योग तो 'उपाय' और 'अनुपाय' प्राप्त करता हुआ साक्षात् शिवता—प्रत्यभिज्ञा का 'उपाय' कहा जाता है। 'शाम्भव उपाय'-योग निर्विकल्प होता है और 'शाक्तोपाय' योग शुद्ध विकल्पात्मक होता है। शाक्त साधकगण तो अपने लिए ही विकल्प बुद्धि का अवलंबन करते हैं, उनका और कोई प्रमेय नहीं रहता है। जो भी प्रमेयांश अपने लिए प्रयुक्त होते हैं, वे सामान्यतया 'यही सब कुछ है' इसी भाव से न कि विशेषतः इस स्थण्डिल या प्रतीक के लिए।

जिस उपाय योग में बाह्य विशेष प्रमेयों का उपयोग होता है, उसे माहेश्वर आगम 'आणवोपाय' कहता है। इस 'आणवोपाय' में ध्यातृ-ध्येय-ध्यान संघट्ट को, प्राणोच्चार को, प्राणोच्चार ध्वनि को, प्राणवायु को, देहको, लिङ्गादि को, कलातत्त्व भुवनों को, मंत्र के वर्णों और पदों को विकल्प आलंबन एवं दृढ़तर भावना बल से अपने आप को भगवती परमाशक्ति में लय करके उस परमशक्ति को साधक प्राप्त कर

लेता है। वह साधक तत्काल परिपूर्ण शिव भावसमावेश प्राप्त कर लेता है।

भावना-योग

तंत्र-साधना पद्धति में मानसिक वृत्तियों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। मन और बुद्धि के आपसी संघर्ष को मिटा कर उन्हें साधक भावनायोग द्वारा एक ही लक्ष्य की ओर प्रवृत्त करता है। भावना-योग की साधना से साधक का व्यक्तित्व शक्तिशाली बन जाता है।

जिस विचार या विश्वास को लेकर साधक भावना करता है, वह वहीं बन जाता है। भावना-योग के अभ्यास और विकास से शक्ति, ज्ञान और आनन्द के स्रोत उमड़ने लगते हैं। भावना न केवल मानसिक संस्कार करती हैं, वल्कि इससे शरीरगत असाध्य से असाध्य रोग भी दूर हो जाया करते हैं। शरीर की शुद्धि, चित्त की शुद्धि के लिए भावनायोग सर्वोत्तम माना गया है।

कुण्डलिनी योग

शक्ति, ईश्वरी, कुटिलांगी, भुजंगी, अरुन्धती आदि अनेक नाम कुण्डलिनी के हैं। तंत्रशास्त्र इसे मानव शरीर की सर्वोच्च शक्ति मानता है। सभी शक्तियाँ केन्द्रीभूत होकर कुण्डलिनी में निवास करती हैं और विभिन्न रूपों में प्रकट हुआ करती हैं काम शक्ति भी कुण्डलिनी की एक महती शक्ति है। जो व्यक्ति मैथुन-संभोगरत रहते हैं, ब्रह्मचर्य की साधना से विरत रहते हैं, उनकी कुण्डलिनी क्षीण हो जाती है। ब्रह्मचर्यरत रहने से कुण्डलिनी जागृत होकर उर्ध्वगमन करती है। जाग्रत कुण्डलिनी आध्यात्मिक उत्थान करती है और प्राणों के साथ शिव में मिल जाती है।

तन्त्रशास्त्र और योगशास्त्र दोनों के मत से कुण्डलिनी का स्थान मनुष्य शरीर में मलेन्द्रिय से दो अंगुल ऊपर और मूत्रेन्द्रिय से दो अंगुल नीचे माना गया है। यही स्थान मूलाधार चक्र का भी है कुण्डलिनी

नागिन की तरह साढ़े तीन वलय बनाकर कुण्डली मारकर मूलाधार चक्र में सोयी रहती है, वह सुषुम्णा के द्वार बन्द रखती है।

भूलोक (मूलाधार चक्र) में स्थित कुण्डलिनी प्रकृति को वहन करती है, इसलिए उसे प्रकृति का वाहन कहा जाता है। वह प्रकृति—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार—इन आठ भागों में विभक्त है। कुण्डलिनी के दो रूप हैं। एक कुण्डलिनी और दूसरी कुल-कुण्डलिनी, इसे महाकुण्डलिनी या ब्रह्माण्ड कुण्डलिनी भी कहते हैं। यह सहस्रार चक्र में रहती है। मूलाधार चक्र में स्थित कुण्डलिनी नीचे से कुल कुण्डलिनी का संचालन करती है और ऊपर से सत्यलोक (सहस्रार-चक्र) में स्थित महाकुण्डलिनी मूल प्रकृति का संचालन करती है। दो रूपों वाली कुण्डलिनी ने मूलाधार और सहस्रारचक्र दोनों स्थानों पर अपने फन द्वारा पुरुष शक्ति को स्तम्भित कर रखा है। यह समस्त विश्व को लपेटे हुए पूँछ को मुँह के अन्दर दबाए हुए है। कुण्डलिनी के घेरे में अधोमुख त्रिकोण ▽ है। यह त्रिकोण अर्धनारीश्वर का प्रतीक है। इसी त्रिकोण को प्रतीक रूप में योगी अरविन्द ने और थिओसो-फिकल सोसायटी ने अपनी साधना के लिए स्वीकार किया है।

तन्त्रशास्त्र में कुण्डलिनी एक पारिभाषिक शब्द है। जिसका अर्थ शब्द ब्रह्म अथवा परावाक् शक्ति है। सभी मन्त्र, देवता कुण्डलिनी की अभिव्यक्ति हैं। मन्त्रों की रचना करने वाले अक्षर **मातृका** कहलाते हैं। मातृका से ही विश्व की रचना होती है। कुण्डलिनी महाशक्ति परमेश्वरी है, वही नादशक्ति है, वही सर्वशक्ति सम्पन्न कला है। निर्गुण ब्रह्म से प्रस्रावित होने वाला अमृत स्रोत कुण्डलिनी ही है। कुण्डलिनी ही नित्य चेतना को जाग्रत करती है।

तन्त्र शास्त्र का मत है कि कुण्डलिनी ब्रह्म है, उसी में सभी अक्षर समाए हुए हैं। कुण्डलिनी चित् शक्ति है जो वर्ण और शब्दों के रूप में प्रकट होती है। वर्णमाला के अक्षर शाश्वत ब्रह्म के यन्त्र हैं। अक्षरों की

शक्ति जब मन्त्र शक्ति से मिलती है, तब साधक को साधना द्वारा उसका साक्षात्कार होता है। शक्ति का सूक्ष्म रूप कुण्डलिनी है, जब वह स्थूल रूप में प्रकट होती है, तो विभिन्न देवताओं का आकार ग्रहण करती है। कुण्डलिनी का यह स्थूल रूप ही मन्त्र का अधिष्ठातृ देवता कहा जाता है।

मन्त्र और देवता ब्रह्म के दो रूप हैं। तन्त्र-साधना में इन्हें **शिव** और **शक्ति** कहा जाता है। स्तुतियों और प्रार्थनाओं में उपासक अपनी कामना अपने इष्टदेव के समक्ष प्रस्तुत करता है। स्तुति और प्रार्थना को मन्त्र नहीं कहा जा सकता है, इस लिए कि मन्त्रकामना रहित होते हैं, उनकी भाषा स्तुतियों की भाषा की भाँति साधक की निजी भाषा नहीं होती है। मन्त्रों की भाषा स्थिर और शाश्वती होती है। स्तुति, प्रार्थना में दास्य-भाव रहता है, उनमें दिव्य भाव नहीं रहता है और मन्त्र तो स्वयमेव देवता होते हैं। मन्त्रों के अक्षर-विन्यास का एक निश्चित क्रम होता है। मन्त्रों का उच्चारण वर्ण और स्वर के अनुसार होता है, यदि मन्त्रों का अनुवाद कर दिया जाय तो मन्त्र का मंत्रत्व और दिव्यत्व समाप्त हो जाता है।

कुण्डलिनी विद्युत के समान भास्वर है। उसकी ध्वनि मधुमक्खियों के गुंजार की तरह है। श्वास, प्रश्वास के द्वारा कुण्डलिनी ही समस्त प्राणियों को जीवन देती है। मूलाधारपद्म में स्थित कुण्डलिनी आलोक-मण्डल के समान प्रकाशित होती है। कुण्डलिनी वर्णमातृका शब्दों की जननी है। वही मन्त्रों को जन्म देती है। मन्त्रों की सिद्धि कुण्डलिनी को जाग्रत करने के लिए की जाती है। कुलार्णव तन्त्र का कहना है कि कुण्डलिनी प्रत्येक जीव के मूलाधार चक्र में सोई रहती है, जब वह जाग्रत होकर षट्चक्रों का भेदन करती है, तभी अपने शुद्ध रूप में प्रस्फुटित होती है। समस्त वेद, मन्त्र और तन्त्र उसी के रूपान्तर है। कुण्डलिनी शब्द ब्रह्म है। सूर्य, चन्द्र और अग्नि के रूप में तीन शक्तियों

का मूल कारण है। मानव-देह में सर्वाधिक प्रबल सर्जना-शक्ति कुण्डलिनी है।'

आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रा द्वारा कुण्डलिनी को जाग्रत किया जाता है। आसन, प्राणायाम आदि के अभ्यास से प्राण इड़ा और पिंगला नाड़ियों से निकलकर सुषुम्णा नाड़ी में प्रविष्ट होते हैं तब कुण्डलिनी ऊपर की ओर उठती है। ऊर्ध्वगमन करती हुई कुण्डलिनी जब ब्रह्म-रन्ध्र में पहुंच जाती है, तब साधक शुद्ध अवस्था को प्राप्त करता है फिर उसके लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता है।

कुण्डलिनी को जाग्रत कर उसे सहस्रार चक्र तक पहुँचने के लिए, अनेक वर्षों का समय लग जाता है, किन्तु ऐसे भी उदाहरण हैं कि पूर्व जन्म के संस्कारों से अथवा सुयोग्य गुरु की कृपा से अल्पकालीन प्रयास से ही कुण्डलिनी जाग्रत होकर सहस्रार चक्र तक पहुँच जाती है। प्रारम्भ में कुण्डलिनी उठ कर एक निश्चित विन्दु पर ठहरती है, फिर धीरे धीरे ऊपर की ओर वढ़ती है। जिस चक्र पर कुण्डलिनी पहुँचती है, उस चक्र के अनुसार साधक को विशेष प्रकार के आनन्द की अनुभूति होती है। जब कुण्डलिनी सहस्रार चक्र तक पहुँच जाती है तो योगी को उस समय मोक्ष का-सा आनन्द प्राप्त होता है।

आसन, प्राणायाम, बन्ध और मुद्राओं के अभ्यास से प्राण जब सुषुम्णा में प्रवेश करते हैं तो सुषुम्णा काल को निगल जाती है, उस समय न दिन रहता है, न रात। प्राणों को सुषुम्णा में प्रवेश कराने के लिए अनेक उपाय तन्त्र-साधना के अन्तर्गत हैं। अपान वायु को ऊपर की ओर और प्राण वायु को नीचे की ओर खींचने से प्राण सुषुम्णा में प्रवेश करते हैं।

जालन्धर और मूल बन्ध के द्वारा प्राण जब सुषुम्णा से मिलते हैं तो अग्नि प्रदीप्त हो उठता है। अग्नि की यह उष्णता सोई हुई कुण्डलिनी को जगा देती है, वह आवाज करती हुई कुण्डली त्याग कर सीधी हो

जाती है और सुषुम्णा में प्रविष्ट हो जाती है। फिर प्रयास पूर्वक एक के बाद एक चक्र में क्रमशः उसे ले जाया जाता है। इसी को षट्चक्र भेदन कहते हैं।

कुण्डलिनी-जागरण की प्रक्रिया

योग-क्रिया शुद्धि से पूर्व मल शुद्धि की जाती है। कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने के लिए पहले **अश्विनी मुद्रा** का प्रयोग करना चाहिए। गुदा को बार-बार संकुचित और प्रसारित्त करना **अश्विनी मुद्रा** है। इस मुद्रा का प्रयोग षट् चक्र भेदन में अपान वायु के अवरोध के रूप में किया जाता है।

अश्विनी मुद्रा के बाद **शक्ति चालन** मुद्रा करनी चाहिए। उदर को अन्दर खींच कर दाहने और बाएँ हिलाने से शक्ति **संचालन मुद्रा** बनती है। इस मुद्रा के द्वारा प्राण वायु को सुषुम्णा में प्रविष्ट कराया जाता है। इस मुद्रा के साथ सिद्धासन में बैठ कर पूरक प्राणायाम किया जाता है। और प्राण तथा अपान को मिला दिया जाता है।

शक्ति संचालन मुद्रा के साथ **योनि मुद्रा** की जाती है। योनिमुद्रा सिद्धासन पर बैठ कर की जाती है। दोनों हाथ की दसों अँगुलियों से कान (अँगूठों से), आँखें (तर्जनी अंगुलियों से), नाक के दोनों छिद्र (मध्यमा अंगुलियों से) और मुख (अनामिका और कनिष्ठा अंगुलियों से) बंद कर लिए जाते हैं। इस मुद्रा से कान, आँख, नाक और मुख इन्द्रियों पर वाह्य प्रभाव नहीं पड़ता है। सिद्धासन में बैठने का भी यही तात्पर्य है। इस आसन में बाएँ पैर की एँड़ी से गुदा द्वार को दबाया जाता है और दाहने पैर की एँड़ी बाएँ पैर पर रख कर मूत्रेन्द्रिय को ढाक लिया जाता है। योनि मुद्रा कर के योगी **काकिनी** मुद्रा द्वारा प्राण-वायु को खींचता है और उसे अपानवायु से जोड़ देता है। दोनों ओठों को कौवे की चोंच की तरह सिकोड़ कर साँस अन्दर खींचना काकिनी मुद्रा है।

इसके बाद योगी षट्चक्रों का क्रमशः ध्यान करता है और सोऽहं हंसः इस बीज मन्त्र का अजपाजप करते हुए कुण्डलिनी को जाग्रत करता है। कुण्डलिनी जाग्रत करने के लिए **खेचरी मुद्रा** की जाती है, इससे ध्यान परिपक्व होता है। महामुद्रा तथा महावेध का अभ्यास महाबंध के साथ किया जाता है। इसमें साधक बाएँ पैर की एँड़ी को मूलाधार चक्र पर जमा कर दाएँ पैर को सीधा फैला देता है और दोनों हाथों से दाएँ पैर का पंजा पकड़ लेता है। तत्पश्चात् जालन्धर बंध लगा कर फैले हुए पैर के घुटने पर सिर को रख देता है, इससे प्राण सुषुम्णा में प्रवेश कर कुण्डलिनी को जाग्रत करता है।

षट्चक्र

तन्त्र-साधना में साधना को दृष्टिगत रखते हुए शरीर को दो भागों में बाँटा गया है। १—कमर से ऊपर का हिस्सा, २—कमर से नीचे का हिस्सा। इन दोनों भागों के मध्य में शरीर का केन्द्र है। शरीर का ऊपरी भाग मेरुदंड पर अवलंबित है और मेरुदण्ड पूरे शरीर से संबंध रखता है। पीठ की रीढ़ को **मेरुदण्ड** कहा जाता है। जैसे मेरु पर्वत को पृथ्वी की धुरी माना गया है, उसी प्रकार मेरुदण्ड पूरे शरीर की धुरी है। कमर और गर्दन के बीच का हिस्सा 'धड़' कहलाता है। यह भाग मस्तिष्क पर अवलंबित रहता है। रीढ़ में श्वेत और रक्त वर्ण के तत्त्व हैं और मूर्द्धा तथा धड़ में श्वेत-रक्त शिराएँ हैं। मस्तिष्क तथा मेरुदण्ड में श्वेत तथा रक्त वर्ण की शिराएँ हैं, किन्तु परस्पर एक दूसरे से विपरीत रहती हैं।

तन्त्रशास्त्र का सिद्धान्त है, कि **यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे** जो शरीर में है, वही ब्रह्माण्ड में भी है। तदनुसार कमर से नीचे के भाग में सात लोकों की स्थिति की कल्पना की गई है। शरीरगत ये सात लोक विश्व की शक्तियों पर आधारित हैं। कमर से ऊपर का जो भाग है, उसमें मस्तिष्क और मेरुदण्ड के द्वारा चेतना प्रवाहित रहती है। इस ऊपरी भाग में भी

भूः, भुवः, स्वः, तपः, जनः, महः और सत्य ये सात चक्र हैं, जिन्हें सात लोक कहा जाता है। इनमें पाँचवाँ (लोक) मेरुदण्ड में स्थित हैं, छठा मस्तिष्क के नीचे और सातवाँ मस्तिष्क के ऊपर स्थित है। इसी सातवें लोक पर शिव और शक्ति का निवास है। शिव-शक्ति की साधना कर शिवत्व प्राप्त करने के लिए साधक षट्चक्रों की साधना उनका भेदन करके करता है।

षट् चक्रों के स्वरूप और स्थान

१. **मूलाधार** चक्र—यह मेरुदण्ड के मूल में स्थित है। इसका स्थान मूत्रेन्द्रिय और मलेन्द्रिय के मध्य का स्थान है।

२. **स्वाधिष्ठान चक्र**—इसका स्थान मूत्रेन्द्रिय के ऊपर है।

३. **मणिपूर चक्र**—इसका स्थान नाभि है।

४. **अनाहत चक्र**—इसका स्थान हृदय है।

५. **विशुद्धि चक्र**—इसका स्थान कण्ठ के मूल में है।

६. **आज्ञा चक्र**—इसका स्थान दोनों भौंहों के मध्य में है।

इन छह चक्रों को छह लोक कहा गया है, इन सबसे ऊपर मस्तिष्क के ऊपरी भाग में **सहस्रार चक्र** है, जिसे सातवाँ लोक कहा जाता है चेतना की सर्वोच्च अभिव्यक्ति का केन्द्र सहस्रार चक्र है। यहीं पर परमशिव और शक्ति का निवास है। ये सभी चक्र पद्म (कमल) की तरह हैं।

इन पद्मों के स्थान, दल और वर्ण इस प्रकार हैं—

क्रम	चक्र	स्थान	दल	वर्ण
१	मूलाधार	गुदा	चार	व, श, ष, स
२	स्वाधिष्ठान	लिङ्ग	छह	ब, भ, म, य, र, ल,
३	मणिपूर	नाभि	दस	ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ

४	अनाहत	हृदय	बारह	क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ड
५	विशुद्धि	कण्ठ	सोलह	अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः
६	आज्ञा	भ्रूमध्य	दो	ह, क्ष

मूलाधार से आज्ञा चक्र ४+६+१०+१२+१६+२ वर्णों को जोड़ने से कुल योग ५० होता है। संस्कृत वर्णमाला के इन पचास वर्णों का श्रेणी-विभाजन कर इन्हें छह भागों में बाँट दिया गया है। साधना में चक्रों के इन्हीं वर्णों का ध्यान किया जाता है।

चक्रों और उन पर विन्यस्त वर्णों का समवाय संबंध है। जिस चक्र के अक्षर का उच्चारण किया जाता है, उस अक्षर के चक्र में एक प्रकार का स्पन्दन होता है, फिर वहीं से उस प्रकार की प्रथम स्फूर्ति होती है।

तन्त्र शास्त्र के मत से 'कुण्डलिनी सगुण ब्रह्म रूप हैं, वह मूलाधार चक्र में सोई हुई है, उसे कुण्डलिनी योग के द्वारा जगाया जाता है। जागने पर वह ऊपर की ओर उठती है। जब कुण्डलिनी ऊपर उठती है, तो प्रत्येक चक्र से सम्बद्ध तन्मात्रा और उससे बनी हुई इन्द्रिय उत्तरोत्तर अपने ऊपर वाले केन्द्र में लय हो जाती है जैसे—

मूलाधार चक्र पृथ्वी तत्त्व से बना है वहाँ से जाग्रत होकर कुण्डलिनी जब जल तत्त्व से बने हुए स्वाधिष्ठान चक्र में प्रवेश करती है तो पृथ्वी महाभूत, उसकी तन्मात्रा तथा उससे बनी हुई घ्राण इन्द्रिय, जल तत्त्व से बनी हुई रूप इन्द्रिय में विलीन हो जाती है। स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर मणिपूर चक्र है, यह नाभिस्थान में है और अग्नि-तत्त्व से बना है। जब कुण्डलिनी मणिपूर चक्र में पहुँचती है तो स्वाधिष्ठान चक्र का जल-तत्त्व मणिपूर चक्र के—अग्नि-तत्त्व में विलीन हो जाता है और रसना

इन्द्रिय चक्षुइन्द्रिय में विलीन हो जाती है। मणिपूर चक्र के ऊपर हृदय-स्थान में अनाहत चक्र है, यह वायुतत्त्व से बना है। जाग्रत कुण्डलिनी जब अनाहत चक्र में पहुँचती है तो मणिपूरचक्र का अग्नितत्त्व अनाहत चक्र के वायुतत्त्व में विलीन हो जाता है और जब कुण्डलिनी कण्ठस्थ विशुद्धि चक्र में पहुँचती है तो आकाशतत्त्व से बने हुए विशुद्धि चक्र के आकाशतत्त्व में अनाहतचक्र का वायुतत्त्व विलीन हो जाता है। भ्रूमध्य स्थित आज्ञा चक्र में कुण्डलिनी के पहुँचने पर सभी चक्रों के तत्त्व प्राण में विलीन हो जाते हैं। मस्तिष्क के तालु स्थान में स्थित सहस्रार चक्र पर जब कुण्डलिनी पहुँचती है तो प्राणतत्त्व प्रकृति में विलीन हो जाता है, और तभी ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। सहस्रार चक्र में कुण्डलिनी के पहुँचने पर शिव और शक्ति का संगम होता है।

प्राणविद्या

तांत्रिक-साधना में मन, मस्तिष्क और चित्तवृत्तियों को शान्त सुस्थिर बनाने के लिए तथा शरीर को निर्विकार, पवित्र बनाए रखने के लिए प्राण विद्या की साधना कीजाती है, इसमें आसन और मुद्राओं के रूप में पहले शारीरिक संशोधन किया जाता है, तत्पश्चात् प्राणायाम द्वारा मन को एकाग्र किया जाता है, फिर शरीर का शोधन किया जाता है—

१ शोधन—षट्कर्मों द्वारा शरीर की शुद्धि करना षट्कर्म में पहला कर्म है **धौति**। धौति का अर्थ है धोना। अन्तरधौति, दन्त धौति, हृद् धौति और मूल धौति, इनमें से अन्तर धौति तीन प्रकार की होती है—

१. **वातसार,** अर्थात् वायु पेट में ले जाकर उसे बाहर निकालना।

२. वारिसार, शरीर में पानी भर कर फिर उसको वायु-मार्ग से निकालना।

३. **वह्निसार** इसमें नाभिग्रंथि को मेरुदंड से स्पर्श कराते हैं और इस प्रकार संघर्ष से उष्णता उत्पन्न करते हैं। इसके बाद बाहर निकालने की क्रिया की जाती है। इस क्रिया में साधक **काकिनी** मुद्रा द्वारा शरीर

में वायु भर लेता है और आधे पहर तक वायु को रोके रखता है, तदनन्तर सारे शरीर से वायु को निकाल कर उसे स्वच्छ कर देता है। इसी प्रकार अन्य धौतियों की पद्धति है।

२. वस्तिकर्म

यह क्रिया शुष्कवस्ति और जलवस्ति के रूप में दो प्रकार की होती है। जो जलवस्ति है, उसमें साधक नाभिपर्यन्त पानी में खड़ा हो कर **उत्कटासन** में बैठता है और अश्विनी मुद्रा से मलमार्ग का संकोचन और प्रसारण करता है या फिर वह पश्चिमोत्तान आसन में बैठ कर नाभि के नीचे मल को नाना-भाव से संचालित करता है।

नेति एक प्रकार की वस्ति है, जिसे नाक के रंध्रों में लगा कर नाक के छिद्रों की सफाई की जाती है। **लौकिकी** में साधक पेट को एक ओर से दूसरी ओर चलाता है। **त्राटक** में साधक किसी एक बिन्दु की ओर टकटकी लगाये, बिना पलकें झपाये देखता है, वह तब तक देखता रहता है जब तक आँखों से आँसू नहीं निकलते हैं। त्राटक से दिव्य-दृष्टि प्राप्त होती है। **वातक्रमण** में वायु को अन्दर खींच कर रोका जाता है और फिर उसे बाहर निकाला जाता है। **व्युत्क्रम** में नासिका से पानी लेजाकर नासान्ध्र से बाहर किया जाता है। इन्हीं क्रियाओं से साधक शरीर को शुद्ध करता हैं। षट्कर्म के बाद आसन की साधना की जाती है।

३. आसन

आसन तो बहुत बताए गए हैं। ८४ लाख योनियों की संख्या के आधार पर आसनों की संख्या ८४ लाख है, उनमें १६०० उत्तम माने गए हैं, किन्तु तांत्रिक-साधना में पद्मासन, सिद्धासन, वज्रासन, शवासन, चितासन और मुंडासन मुख्य माने गये हैं।

कुण्डलिनी जाग्रत करने के लिए सिद्धासन तथा ऐसी मुद्राओं का प्रयोग किया जाता है, जिनमें एक पैर की एड़ी गुदाद्वार को दबाती हैं और दूसरे पैर की एड़ीलिङ्गेन्द्रिय को दबाती है। योनि मुद्रा द्वारा कान,

नाक, आँख और मुख-छिद्र अँगुलियों से ढाक दिएजाते हैं। दाहने पैर की एड़ी गुदा पर जमा दी जाती है और बाएँ पैर की एड़ी लिङ्गेन्द्रिय पर जमा दीं जाती है और लिङ्गेन्द्रिय को संकुचित कर के दोनों के बीच इस प्रकार दबाया जाता है कि वह दिखाई न पड़े। साथ ही खेचरी मुद्रा द्वारा जीभ को उलट कर कण्ठ द्वार रोक दिया जाता है।

मुंडासन, चितासन, शवासन, प्रायः क्षुद्र भौतिक इच्छा की पूर्ति में सहायक होते हैं। मुंडासन में नरमुंडों पर बैठ कर साधना की जाती है। चितासन में चिताभूमि पर बैठ कर साधना की जाती है और शवासन में मृतशरीर पर बैठ कर साधना की जाती है। आध्यात्मिकक्षेत्र में इनका महत्त्व नहीं है, किन्तु फिर भी इन आसनों द्वारा की गई साधना से साधक भय और घृणा से मुक्त हो जाता है और निरन्तर साधना द्वारा शव को शिव बनाने की क्षमता प्राप्त करता है।

तांत्रिक योग-साधना का मुख्य लक्ष्य आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त करना है, इसलिए साधना के लिए एकान्त, निर्वातगुफा, पर्वत-शिखर, निर्जन स्थान, श्मसान नदी-तट आदि स्थान उपयुक्त माने गए हैं। तांत्रिक-साधना में श्मसान दो तरह के हैं---१-वाह्य श्मसान २-अभ्यन्तर श्मसान। वाह्यश्मसान वह है जहां मुरदे जलाये या दफ़नाए जाते हैं और अभ्यन्तर श्मसान हृदय में है जहां पर समस्त कामनाओं, वासनाओं, विषय-प्रपंचों का दहन किया जाता है।

वस्तुतः जिस अवस्था में सुखपूर्वक बैठा जा सके वह आसन है। विचारों को विशुद्ध बनाये रखने के लिए आसन की स्थिरता आवश्यक होती है। यदि किसी ऐसे आसन को लगाया जाए, जिससे शरीर स्थिर ना हो पाए, हिलना, डुलना बना रहे तो शारीरिक अस्थिरता और उस की हलचल से मन डाँवाडोल चंचल और अस्थिर रहता है। ध्यान-भंग हो जाता है। इसलिए साधक को यह स्वयं निर्णय करना चाहिए कि उसके लिए कौन- सा आसन सुखकर और शरीर तथा मन को स्थिरत

देने वाला है। यदि कोई व्यक्ति स्थूलकाय है तो वज्रासन में बैठना उस के लिए संभव नहीं है, इसी तरह पद्मासन भी उसके लिए विपत्ति जनक है, फिर भला ऐसा व्यक्ति कैसे सिद्धि प्राप्त कर सकता है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह मंत्र-साधना, योग-साधना प्रारम्भ करने से पहले आसन और मुद्राओं का अभ्यास करे। एक आसन पर जब तीन घंटे तक सुखपूर्वक बैठने का अभ्यास हो जाए तो समझना चाहिए कि वह आसन सिद्ध हो गया है। आसनों और मुद्राओं का नियमित अभ्यास करते रहने से कुछ ही दिनों में वह सहज हो जाते हैं। जब साधक को आसन सिद्ध हो जाता है तो रजोगुण से उत्पन्न होने वाली मानसिक चंचलता दूर हो जाती है और मन, मस्तिष्क तथा शरीर सब में संतुलन आ जाता है।

आसनों की सिद्धि में मुद्राएं और बन्ध अभेद सम्बन्ध रखते हैं। कुछ आसन ऐसे होते हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध प्राणवायु से रहता है। ऐसे आसन प्राणायाम की सिद्धि में सहायक होते हैं। इस प्रकार के आसनों में **सिद्धासन** बहुत ही उपयुक्त और उत्कृष्ट आसन है। 'हठयोगप्रदीपिका' में बताया गया है कि—

'जैसे यमों में अहिंसा, नियमों में मिताहार मुख्य है। वैसे ही आसनों में **सिद्धासन** मुख्य है।'

सिद्धासन का अभ्यास करते रहने से कुछ ही दिनों में **उन्मनी** अवस्था प्राप्त हो जाती है और तीन बंध अपने आप लगने लगते हैं।

४. मुद्रा

मुद्राएँ प्रदर्शित करने से साधक पाप-निवृत्त होकर इष्टदेवता का सान्निध्य प्राप्त करता है। मुद्राओं के स्वरूप समझने के साथ उसकी पारिभाषिक शब्दावली को समझना आवश्यक होता है।

दोनों हाथ की अंगुलियों, मुट्ठियों को जोड़ने, मोड़ने और खोलने

से सारी मुद्राएँ बनती हैं। इसलिए हाथ, अंगुली और मुट्ठी की भेद-संज्ञा को इस प्रकार जानना चाहिए।

मणिबन्ध (हाथ की कलाई) से कनिष्ठा (छिगुरी) तक का अंग हाथ है। हाथ का अग्रभाग पंच शाख, शय और पाणि कहलाता है। इसमें जो अंगुलियाँ हैं, वे करपल्लव या करशाख कहलाती हैं। अंगुलियाँ पाँच होती हैं—अंगुष्ठ (अंगूठा) इसे ज्येष्ठा, वृद्धा और भ्रूपूजक कहते हैं। दूसरी अंगुली को तर्जनी, प्रदर्शिनी, प्रदेशिका, पितृपूजिका कहते हैं। बीच की तीसरी अंगुली को मध्या, मध्यमा और जपकरणी कहते हैं। चौथी अंगुली को अनामा, अनामिका और प्रान्तवासिनी कहते हैं। पाँचवी कनिष्ठा को अन्त्यमा, लध्वी, स्वल्पा, रत्नी और अन्त्यजा कहते हैं। इन पाँचों अंगुलियों को बन्द कर लेने से मुष्टि (मुट्ठी) बनती है और खोल देने से करतल बनता है। मुष्ठि दो प्रकार की होती है, जिसमें रत्नी (कनिष्ठा) शामिल रहती है, वह मुष्टि (मुट्ठी) और जिसमें रत्नी न संलग्न हो वह अरत्नी कहलाती है।

हाथ में तीर्थ और देवताओं का वास

हाथ के आरम्भ में अंगूठे के नीचे **आत्मतीर्थ**, हाथ के अन्त में अंगुलियों के ऊपर **परमार्थतीर्थ**, हाथ के उत्तर भाग में कनिष्ठा से कुछ नीचे **देवतीर्थ** और हाथ के दक्षिण भाग तर्जनी और अंगुष्ठ के बीच में **पितृतीर्थ** रहता है। स्नान, दान, संकल्प, तर्पण आदि कर्मों और उन-उन कर्मों के स्थानीय तीर्थ के ऊपर होकर त्यागने में महाफल होता है। हाथ के मूल में ब्रह्मा, मध्यमें विष्णु और हाथ के अग्रभाग में शिव का वास रहता है।

नित्य-साधना में उपयोगी मुद्राएँ

प्रार्थना-मुद्रा—दोनों हाथ की दसों अंगुलियों को आमने-सामने परस्पर मिला देने के बाद हृदय के समीप रखने से प्रार्थना मुद्रा बनती है।

देने वाला है। यदि कोई व्यक्ति स्थूलकाय है तो वज्रासन में बैठना उस के लिए संभव नहीं है, इसी तरह पद्मासन भी उसके लिए विपत्ति जनक है, फिर भला ऐसा व्यक्ति कैसे सिद्धि प्राप्त कर सकता है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह मंत्र-साधना, योग-साधना प्रारम्भ करने से पहले आसन और मुद्राओं का अभ्यास करे। एक आसन पर जब तीन घंटे तक सुखपूर्वक बैठने का अभ्यास हो जाए तो समझना चाहिए कि वह आसन सिद्ध हो गया है। आसनों और मुद्राओं का नियमित अभ्यास करते रहने से कुछ ही दिनों में वह सहज हो जाते हैं। जब साधक को आसन सिद्ध हो जाता है तो रजोगुण से उत्पन्न होने वाली मानसिक चंचलता दूर हो जाती है और मन, मस्तिष्क तथा शरीर सब में संतुलन आ जाता है।

आसनों की सिद्धि में मुद्राएँ और बन्ध अभेद सम्बन्ध रखते हैं। कुछ आसन ऐसे होते हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध प्राणवायु से रहता है। ऐसे आसन प्राणायाम की सिद्धि में सहायक होते हैं। इस प्रकार के आसनों में **सिद्धासन** बहुत ही उपयुक्त और उत्कृष्ट आसन है। 'हठयोगप्रदीपिका' में बताया गया है कि—

'जैसे यमों में अहिंसा, नियमों में मिताहार मुख्य है। वैसे ही आसनों में **सिद्धासन** मुख्य है।'

सिद्धासन का अभ्यास करते रहने से कुछ ही दिनों में **उन्मनी** अवस्था प्राप्त हो जाती है और तीन बंध अपने आप लगने लगते हैं।

४. मुद्रा

मुद्राएँ प्रदर्शित करने से साधक पाप-निवृत्त होकर इष्टदेवता का सान्निध्य प्राप्त करता है। मुद्राओं के स्वरूप समझने के साथ उसकी पारिभाषिक शब्दावली को समझना आवश्यक होता है।

दोनों हाथ की अंगुलियों, मुट्ठियों को जोड़ने, मोड़ने और खोलने

से सारी मुद्राएँ बनती हैं। इसलिए हाथ, अंगुली और मुट्ठी की भेद-संज्ञा को इस प्रकार जानना चाहिए।

मणिबन्ध (हाथ की कलाई) से कनिष्ठा (छिंगुरी) तक का अंग हाथ है। हाथ का अग्रभाग पंच शाख, शय और पाणि कहलाता है। इसमें जो अंगुलियाँ हैं, वे करपल्लव या करशाख कहलाती हैं। अंगुलियाँ पाँच होती हैं—अंगुष्ठ (अंगूठा) इसे ज्येष्ठा, वृद्धा और भ्रूपूजक कहते हैं। दूसरी अंगुली को तर्जनी, प्रदर्शिनी, प्रदेशिका, पितृपूजिका कहते हैं। बीच की तीसरी अंगुली को मध्या, मध्यमा और जपकरणी कहते हैं। चौथी अंगुली को अनामा, अनामिका और प्रान्तवासिनी कहते हैं। पाँचवी कनिष्ठा को अन्त्यमा, लध्वी, स्वल्पा, रत्नी और अन्त्यजा कहते हैं। इन पाँचों अंगुलियों को बन्द कर लेने से मुष्टि (मुट्ठी) बनती है और खोल देने से करतल बनता है। मुष्ठि दो प्रकार की होती है, जिसमें रत्नी (कनिष्ठा) शामिल रहती है, वह मुष्टि (मुट्ठी) और जिसमें रत्नी न संलग्न हो वह अरत्नी कहलाती है।

हाथ में तीर्थ और देवताओं का वास

हाथ के आरम्भ में अंगूठे के नीचे **आत्मतीर्थ**, हाथ के अन्त में अंगुलियों के ऊपर **परमार्थतीर्थ**, हाथ के उत्तर भाग में कनिष्ठा से कुछ नीचे **देवतीर्थ** और हाथ के दक्षिण भाग तर्जनी और अंगुष्ठ के बीच में **पितृतीर्थ** रहता है। स्नान, दान, संकल्प, तर्पण आदि कर्मों और उन-उन कर्मों के स्थानीय तीर्थ के ऊपर होकर त्यागने में महाफल होता है। हाथ के मूल में ब्रह्मा, मध्यमें विष्णु और हाथ के अग्रभाग में शिव का वास रहता है।

नित्य-साधना में उपयोगी मुद्राएँ

प्रार्थना-मुद्रा—दोनों हाथ की दसों अंगुलियों को आमने-सामने परस्पर मिला देने के बाद हृदय के समीप रखने से प्रार्थना मुद्रा बनती है।

अंकुश मुद्रा—दाहने हाथ की मुट्ठी बाँध कर तर्जनी को अंकुश के समान मोड़ने पर त्रैलोक्य को आकृष्ट करने वाली अंकुश मुद्रा बनती है।

कुन्तमुद्रा—मुट्ठी को खड़ी करके तर्जनी को सीधी करे और उसके अग्रभाग में अंगूठा लगाने से सर्वरक्षाकारी कुन्त मुद्रा बनती है।

कुम्भमुद्रा—दाहने अंगूठे को बाएँ अंगूठे में लगाकर शेष अंगुलियों को मुट्ठी बाँध कर नीचे-ऊपर लगादे और मुट्ठी को पोली रखे तो कुम्भ-मुद्रा बनती है।

तत्त्वमुद्रा—अंगूठा और अनामिका के अग्रभाग को मिलाने से तत्त्व मुद्रा बनती है।

सन्ध्योपासना की मुद्राएँ—१ सम्मुखी, २ संपुटी, ३ वितत, ४ विस्तृत, ५ द्विमुखी, ६ त्रिमुखी, ७ चतुर्मुखी, ८ पंचमुखी, ९ षड्मुखी, १० अधोमुखी, ११ व्यापक, १२ आञ्जलिक, १३ शकट, १४ यमपाश, १५ ग्रथित १६ सम्मुखोन्मुख, १७ प्रलय, १८ मुष्टिक, १९ मत्स्य, २० कूर्म, २१ वराह, २२ सिंहक्रान्त, २३ विक्रान्त और २४ मुद्गर। ये २४ मुद्राएँ सन्ध्याकाल में की जाती हैं।

सन्ध्याकाल-समाप्ति के बाद की मुद्राएँ—१ सुरभि, २ ज्ञान, ३ वैराग्य, ४ योनि, ५ शंख, ६ पंकज, ७ लिंग ८ निर्वाण ये आठ मुद्राएँ सन्ध्याकाल बीतने पर की जाती हैं।

ध्यानकाल की वासुदेवी मुद्रा—दोनों हाथों की अंजलि बाँधने पर यह मुद्रा बनती है। इसे ध्यान प्रारम्भ करने से पूर्व करनी चाहिए।

जपमुद्रा—अंगूठा और मध्यमा अंगुली के पोरों से मणियाँ चलाकर माला फेरने से जपमुद्रा बनती है। इसे करमाला भी कहते हैं।

शाम्भवी मुद्रा—मूल बन्ध और उड्डीयान बन्ध के साथ सिद्धासन या पद्मासन से बैठकर नासिका के अग्रभाग अथवा भ्रूमध्य में दृष्टि को स्थिर करके ध्यान जमाना शाम्भवी मुद्रा है। इस मुद्रा से मन सर्वथा वृत्ति शून्य हो जाता है।

५. बन्ध—बन्धों का अन्तर्भाव भी मुद्राओं के अन्तर्गत किया जाता है। बन्धों से प्राणों का निरोध होता है। तीन बन्ध मुख्य है—

मूलबन्ध, उड्डीयान और जालन्धर।

६. **मूलबंध**—मूल (गुदा) और लिंग स्थान के रन्ध्र को बन्द करने का नाम मूल बन्ध है। बाएँ पैर की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्यभाग में दृढ़तापूर्वक जमाकर गुदा को सिकोड़ कर योनिस्थान अर्थात् गुदा और लिंग एवं कंद के बीच के भाग को दृढ़तापूर्वक संकोचन द्वारा अधोगत अपान वायु को धीरे-धीरे ऊपर की ओर खींचने को मूलबन्ध कहते हैं। यह बन्ध सिद्धासन के साथ लगाया जाता है। इससे कुंडलिनी उठकर ऊपर की ओर चढ़ने लगती है।

उड्डीयान बंध—दोनों जानुओं को मोड़कर पैरों के तलुओं को आपस में भिड़ाकर पेट के नाभि के नीचे और ऊपर आठ अंगुल हिस्से को बल-पूर्वक खींच कर मेरुदण्ड (रीढ़) से ऐसा लगादे कि पेट के स्थान पर गड्ढा-सा दिखे। जितना पेट के अन्दर की ओर अधिक खींचा जाएगा उतना ही अच्छा होगा। इस बन्ध से प्राण सुषुम्णा की ओर पक्षी की तरह उड़ने लगता है।

जालंधर बंध—कंठ को सिकोड़ कर ठोडी को दृढ़तापूर्वक कंठ रूप में स्थापित करे हृदय से ठोड़ी का अन्तर केवल चार अंगुल रहे। सीना आगे की ओर तना रहे। यह बन्ध कंठ के नाड़ीजाल को बाँधे रहता है। इस बन्ध से कंठ-स्वर मधुर-आकर्षक बनता है और कंठ के संकुचित हो जाने से इडा-पिंगला नाड़ियाँ बन्द हो जाती हैं तब प्राण सुषुम्ण में प्रवेश करता है।

लगभग सभी आसन और मुद्राएँ मूलबन्ध और उड्डीयान बन्ध के साथ किए जाते हैं।

५. महाबंध—महाबन्ध के द्वारा इडा, पिंगला और सुषुम्णा—इन

तीनों नाड़ियों के प्रवाह को एक ही दिशा में परिवर्तित कर अन्य क्रियाओं के साथ मन को आज्ञाचक्र पर स्थिर करना होता है।

विधि—बाएँ पैर की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्यभाग में जमा कर बायीं जंघा के ऊपर दाहने पैर को रख समसूत्र में हो, वाम अथवा जिस नासारन्ध्र से वायु चल रहा हो, उससे ही पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगाए। फिर मलद्वार से वायु का ऊपर की ओर आकर्षण करके मूलबन्ध लगाए। मन को मध्य नाड़ी में लगाए हुए यथाशक्ति कुम्भक करे। इसके बाद पूरक की विपरीत वाली नासिका से धीरे-धीरे रेचन करे। इस प्रकार दोनों नासिकाओं से अनुलोभ-विलोम रीति से प्राणायाम करे।

इस महाबन्ध से प्राण ऊर्ध्वगामी होता है और इडा-पिंगला सुषुम्णा का संगम होता है।

आसन, प्राणायाम, बन्ध और मुद्राओं से कुंडलिनी जाग्रत की जाती है। इनके करने से प्राण इडा और पिंगला से निकलकर सुषुम्णा में प्रविष्ट होता है तब कुंडलिनी ऊर्ध्वगामी होती है।

ध्यान योग—हर देश, जाति, धर्म और सम्प्रदाय की आध्यात्मिक परम्परा में 'ध्यान' आध्यात्मिकसाधना, आत्मसाक्षात्कार और परमात्म ज्ञान का मुख्य तत्त्व माना गया है। ध्यान की साधना और सिद्धि सदैव एकान्त और मौन की रही है। ध्यान की साधना पुस्तकें पढ़कर नहीं करनी चाहिए ध्यान एक योगविद्या है जो गुरू-शिष्यपरम्परा प्रधान है। जिस प्रकार एक दीपक दूसरे दीपक से प्रकाश प्राप्त करता है, उसी प्रकार ध्यान-सिद्धि-आलोक को शिष्य गुरु से रहस्य के रूप में प्राप्त करता है।

आत्मा को आत्मा के द्वारा प्रज्वलित करने की यह प्रक्रिया वैदिक काल से अब तक निर्बाधरूप से चली आ रही है। ध्यान-योगी मौन होकर एकान्तवास करता है। वह ध्यानस्थ होकर अपने चारों ओर योग

और क्षेम का वितरण करता है। ध्यान में अद्भुत शक्ति निहित रहती है। ध्यान द्वारा विशृंखल मन को एकाग्र किया जाता है। दूषित-विचारों और दूषित वृत्तियों को ध्यान की तरंगे बहा ले जाती हैं। ध्यान चेतना-शक्ति को जाग्रत करता है और जाग्रत-चेतना में समस्त अनुभूतियाँ समा जाती हैं। ध्यान से विचारों में सामंजस्य उत्पन्न होता है। भेद-दृष्टि समाप्त हो जाती है। जब संकुचित जीवात्मा विराट् सत्ता में लीन हो जाता है तो वही ध्यान सिद्धि कहलाती है।

ध्यान के अभ्यास के लिए उतावली नहीं करनी चाहिए दीर्घकाल तक संयम, नियमपूर्वक ध्यान करते रहने मे ध्यान-सिद्धि प्राप्त होती है। एक निश्चित समय पर, शुद्ध, एकान्त स्थान में ध्यानाभ्यास करना चाहिए। ध्यान का समय अर्धरात्रि या ब्राह्मवेला उत्तम होता है। बैठने केलिए ऊन, कुशासन या मृग चर्म का आसन होना चाहिए। पूर्व या उत्तर की ओर मुँह करके ध्यान करना चाहिए। सामान्यतया सिद्धासन लगाकर बैठना चाहिए।

ध्यान से पूर्व संकल्प-निरोध—ध्यान करने से पूर्व संकल्पों का निरोध किया जाना चाहिए। मनुष्य के ही नहीं बल्कि प्राणिमात्र के जीवन में दो प्रकार के संकल्प हुआ करते हैं—एक 'तात्कालिक संकल्प' और दूसरा 'महासंकल्प'। तात्कालिक संकल्प नित्य प्रति के कार्यकलाप एवं जीवन निर्वाह के लिए हुआ करते हैं और महासंकल्प अमर्यादित कामनाओं, वासनाओं की पूर्ति के लिए हुआ करते हैं। इन दोनों प्रकार के संकल्पों में प्रथम तात्कालिक संकल्पों को सीमित करना चाहिए अधिक आवश्यकताएँ आकांक्षाएँ न बढ़ने देनी चाहिए। वासनापूर्ति के लिए उत्पन्न महासंकल्पों को मैत्रीभाव, भक्तिभाव और वैराग्यभाव से निवृत्त करना चाहिए।

संकल्प-निरोध की विधि—१. स्थिरचित्त होकर एकान्त में बैठ कर जिह्वा को मुख-विवर में ऐसी दशा में स्थापित किया जाय कि

वह ऊपर, नीचे और दाँतों, ओठों को छू न सके। दाँतों को परस्पर न मिलाकर उन्हें खुला रखा जाए और मुँह को बंद कर लिया जाए। ऐसा करने से जीभ का हिलना-डुलना बंद हो जाता है और मन में कोई संकल्प नहीं उठता है।

इस विधि का रहस्य-विज्ञान यह है कि शब्दों पर आरूढ़ होकर संकल्प अन्तर्देश में प्रकट हुआ करते हैं। हर शब्द के साथ कोई न कोई संकल्प संलग्न रहता है। शब्दों का उच्चारण वाणी से हुआ करता है। वागिन्द्रिय का अधिष्ठातृ देवता 'अग्नि' है। अग्नि को प्रज्ज्वलित करने के लिए अरणि-मंथन किया जाता है। जिह्वा के नीचे का अधर अरणि और जिह्वा के ऊपर का ओठ उत्तर अरणि का जब जिह्वारूप मंथन-काष्ठ से आलोडन नहीं होगा तब अग्नि नहीं उत्पन्न होगा। अग्नि न उत्पन्न होने से शब्द नहीं होगा और शब्द न होने से संकल्प का भी उदय न होगा।

२. सुस्थिर होकर सिद्धासन या सुखासन (फालथी) में बैठ कर आँखों की दोनों पुतलियों का संचरण रोक कर उन्हें अचल बना दिया जाए। इससे मन में किसी भी रूप की कल्पना नहीं आती है। रूप का निरोध होने से संकल्प का निरोध होता है।

इसका रहस्य यह है कि संकल्प किसी न किसी रूप में उत्पन्न हुआ ही करते हैं। जितने भी विषय हैं, उन सब के आकार होते हैं और संकल्प निर्विषयक नहीं होते हैं। नेत्रों की पुतलियों का निरोध होने से रूप का निरोध होता और रूप का निरोध होने से संकल्पों का निरोध होता है।

३. मूलाधार चक्र से लम्बी घड़घड़ाहट, ध्वनि के साथ प्रणव (ॐ) का उच्चारण करने से संकल्प स्वतः निवृत्त हो जाते हैं।

४. जो व्यक्ति जिस किसी भी धर्म, सम्प्रदाय का हो वह उसी के अनुसार अपने इष्टदेव का नाम या इष्ट मंत्र अथवा प्रार्थना का मन ही मन उच्चारण करे तो संकल्प क्षीण होते हैं।

न्यास—न्यास का अर्थ है, स्थापना। अपने शरीर के अंग-अंग में अभीष्ट मंत्र अथवा देवता को स्थापित करना न्यास है। ध्यान से पूर्व न्यास करने से शरीर पवित्र हो जाता है, दिव्यशक्तियाँ नस-नस से प्रवाहित होने लगती हैं। साधक का शरीर देवतामय अथवा मंत्रमय हो जाता है। मन और इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं। न्यास दो प्रकार का होता है—अन्तर्न्यास और वहिर्न्यास। दोनों प्रकार के न्यास भी मंत्र-न्यास और देवता न्यास के रूप में भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, जिन्हें तत्त्व न्यास, व्यापक, किरीट-न्यास, ऋषि, छन्द और देवता न्यास, व्याहृति न्यास और मंत्रन्यास, मातृका न्यास कहा जाता है। आसन शुद्धि से लेकर न्यास पर्यन्त कर्म करने से साधक का वाह्य और अन्तर पवित्र हो जाता है।

एकाग्रता—न्यास के बाद एकाग्रता को ध्यान में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। मन, चित्त, इन्द्रियों को एकाग्र बनाने के लिए ही शान्त, एकान्त, शुद्ध स्थान ध्यान के लिए बताया गया है। एकाग्रता क्या है? इसे समझने के लिए बताया गया है कि मनुष्य की चेतना चारों ओर छितरी हुई रहती है और इधर-उधर विषयों, वस्तुओं की ओर दौड़ा करती है। जब कोई स्थायी स्वभाव का काम करना होता है, तो मनुष्य सबसे पहले छितरी हुई चेतना को समेट कर उसे एकाग्र करता है। एकाग्र-चेतना की पहचान तब की जा सकती है, जब छितरी हुई चेतना किसी एक स्थान और किसी एक कार्य, विषय या वस्तु पर एकाग्र होने के लिए बाध्य हो जाती है। जैसे, जब कोई वैज्ञानिक किसी पुष्प विशेष का अध्ययन करने में मग्न होता है तो उसकी चेतना उस पुष्प पर एकाग्र हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि एकाग्रता का ध्यान मस्तिष्क पर होना है। जैसे कोई शिकारी अपने शिकार पर निशाना साधता है तो उसकी चेतना सिमट कर उस शिकार के अंग विशेष पर एकाग्र हो जाती है। ऐसे ही कोई साधक किसी विन्दु विशेष पर त्राटक करता है तो उस की एकाग्रता उसी विन्दु पर टिक कर एकाग्र हो जाती है। उस समय साधक

केवल विन्दु को ही देखता है, इधर-उधर की न कोई वस्तु देखता है और न उसके मन में इधर-उधर के विचार पैदा होते हैं।

ध्यान के भेद—ध्यान कई प्रकार के हैं। ज्ञान प्राप्त करने के लिए, आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करने के लिए महाशक्ति का ज्योति रूप से ध्यान किया जाता है। इसके अलावा विभिन्न प्रयोजनों के लिए **पदस्थ-ध्यान, रूपस्थ-ध्यान, पिण्डस्थ-ध्यान, शक्तिवर्द्धक-ध्यान** आदि अनेक प्रतीक ध्यान योग के माध्यम हैं। किन्तु तांत्रिक-साधना में ध्यान करने से पूर्व अंगन्यास, करन्यास, हृदयन्यास करने का विधान है। हृदयन्यास में हृदय-कमल पर द्वादशकलात्मकसूर्य, षोडशकलात्मक चन्द्र और दशकलात्मक अग्नि तत्त्व का न्यास किया जाता है, इसे तत्त्वन्यास कहते हैं। तत्त्व-न्यास के बाद पीठन्यास किया जाता है, जिसमें क्रमशः आधार शक्ति, प्रकृति, कूर्म, अनन्त, पृथिवी, क्षीर समुद्र, श्वेत द्वीप, मणिमण्डल, कल्पवृक्ष, मणिवेदिका और रत्नसिंहासन का ध्यान किया जाता है। पीठन्यास में आधार शक्ति की स्थापना नित्यप्रति अंगों में करने से साधक को अलौकिक आनन्द प्राप्त होता हैं। वह वाह्य स्मृति रहित होकर अपने इष्टदेव की अनुभूति में मग्न हो जाता है।

ध्यान की पूर्णता—ध्यान-योग का एक विधान हैं—दोनों भौहों के बीच ध्यान को एकाग्र करना। दोनों भौहों के बीच के स्थान को त्रिपुटी कहा जाता है, उसी पर अन्तर्मन, गुह्य-दर्शन और संकल्प का केन्द्र है। यही कारण है कि ध्यान के समय जिसका चिन्तन त्रिपुटी में एकाग्र किया जाता है, उसकी प्रतिमूर्ति देखने का अनुभव होता है। अनुभूति ही ध्यान की पूर्णता है। जब तक अनुभूति नहीं होती है, तब तक ध्यान में सफलता नहीं मिलती है।

आनापान स्मृति—बौद्ध योग-साधना में 'आनापान स्मृति ध्यान' को बहुत महत्त्व प्रदान किया गया है। श्वास-प्रश्वास पर ध्यान करने की प्रक्रिया को 'आनापान स्मृति' कहा गया है। इस ध्यान के अभ्यास में न

तो क्रियायोग है और न प्राणों का निरोध है। केवल श्वासों की गति पर मन को स्थिर कर उसका निरीक्षण किया जाता है। वस्तुतः आनापान स्मृति एक प्रकार का मानसिक ध्यान है। इस ध्यान के अभ्यास से सूक्ष्मता की वृद्धि होती है। इस ध्यान का अभ्यास करने के लिए 'स्मृति' और 'प्रज्ञा' का निर्मल होना आवश्यक है। स्मृति की निर्मलता के अनुसार ही निरीक्षण की स्पष्टता बढ़ती है। स्मृति जितनी दृढ़ होगी निरीक्षणता उतनी ही स्थायी बनती है। आनापान स्मृति के लिए शुद्ध एकान्त स्थान और पद्मासन को उपयोगी बताया गया है और शवासन को भी प्रधानता दी गई है। रात में चित लेट कर शव की तरह निश्चेष्ट बनकर इसका अभ्यास किया जाता है।

आनापान स्मृति में श्वासों पर ध्यान जमाया जाता है। श्वास-प्रश्वास अपनी स्वाभाविक गति के चलते रहते हैं, साधक केवल उनका निरीक्षण करता है। श्वास कहाँ से उठा, कैसे उठा, किस प्रकार धीर-धीरे बाहर निकला और फिर किस प्रकार लौट कर उसने प्रवेश किया—इन्हीं का सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए साधक के मन में जब और कोई भावना या संकल्प नहीं रहता है, तो वह निरीक्षण करता हुआ गहरी नींद में सो जाता है। यह ध्यान थकावट, चिन्ता और क्लान्ति मिटाने तथा अनिद्रा-रोग, मानसिक रोग दूर करने में सहायक बनता है।

ध्यान विधि—आनापान स्मृति ध्यान की विधि यह है कि पद्मासन पर बैठ कर या शवासन से लेट कर श्वास की गति को स्वाभाविक बनाने के लिए श्वास के साथ मन को लगा देना चाहिए। मन को श्वास के साथ संलग्न कर देने से श्वास की गति में कोई बाधा नहीं आ पाती। जब श्वास अपनी स्वाभाविक गति से चलने लगे तो साधक को चाहिए कि वह यह निरीक्षण करे कि श्वास कहाँ से उठता है, किस रास्ते से जा रहा है, कहाँ जा रहा है, किस रास्ते से बाहर निकलता है, और कहाँ तक बाहर जाता है, फिर किस प्रकार खिच कर वापस लौटता है और भीतर जाता है। प्राण-वायु के इस खेल को साक्षी बनकर साधक

देखता रहे किन्तु देखने के लिए श्वास-प्रश्वास की गति से छेड़-छाड़ न करे। उसे अपनी गति से चलने देना चाहिए। हाँ, इतना ध्यान बराबर रखे कि मन श्वास की गति से लगा रहे तनिक भी हटे नहीं। कदाचित् मन हटने लगे या हट जाए तो तुरन्त उसे श्वास की गति के साथ लगा दे।

श्वास की गति देखना ही आनापानस्मृति का मुख्य उद्देश्य है। साधक इस ध्यान-योग में पहले बहुत भटकता और बहकता है, उसे यह ज्ञात ही नहीं हो पाता कि श्वास कहाँ से उठता है, किस रास्ते से चलता है, कैसे बाहर निकलता है, किन्तु यदि साधक हताश और निराश नहीं होता है और निरन्तर क्रियारत रहता है तो श्वास स्वयं उसे अपनी गति और गन्तव्य बता देते हैं और साधक को श्वास की गति का पूरा बोध हो जाता है। यह ध्यान-साधना भूत, भविष्य का ज्ञान कराती है शरीर, मन, बुद्धि को निर्मल बनाती है और अन्त में उद्देश्य की सिद्धि होती है।

जपध्यान-योग इस ध्यान में किसी मन्त्र का जप भी सिद्धि प्रदान करता है। जप पूर्वक ध्यान की पद्धति दो प्रकार की होती है—

एक मानसिक पद्धति, दूसरी भाव प्रधान पद्धति।

१. यदि मन्त्र का जप मन्त्र के अर्थ पर ध्यान रख कर किया जाता है, तो साधक के मन में ऐसी कोई चीज होती है जो उस मन्त्र के देवता के स्वभाव, शक्ति, सौन्दर्य पर एकाग्र होती है, जिसे जप का मन्त्र व्यक्त करता हैं। जप के मन्त्र के द्वारा देवता की शक्ति को चैतन्य के अन्दर ले आना **मानसिक ध्यान पद्धति** का अभीष्ट होता है।

२. और यदि जप हृदय से उठता है, अथवा मन्त्र का बोधार्थ हृदय को झंकृत करता है तो यह **भावप्रधान ध्यान पद्धति** कही जाती है।

यदि साधक किसी मन्त्र का जप करते हुए मंत्रार्थ या मन्त्र के देवता का ध्यान करता है, तो उस जप को मन या प्राण का सहारा अवश्य

मिलता है। यदि जप करते हुए मन में नीरसता आ जाए, प्राणों में चंचलता आ जाए तो समझना चाहिये कि जप को मन का सहारा नहीं मिल पाता है।

जब कोई साधक नियमित रूप से किसी मन्त्र का जप करता है तो कभी-कभी अथवा बहुधा जप स्वयं प्रस्फुटित होने लगता है। जब इस प्रकार मन्त्र-जप का प्रस्फुरण स्वत: होने लगता है तो समझना चाहिए कि आन्तरिकसत्ता के द्वारा जप होने लगा है, इस ढंग का जप अत्यधिक फलदायक होता है। इससे शीघ्र सिद्धि मिलती है।

यह प्रत्यक्ष और अनुभूत है कि यदि कोई साधक किसी मन्त्र का जप किए बिना ध्यान में निरत रहता है तो उसे ध्यानावस्था में ही मन्त्र प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार ध्यान के द्वारा ध्येय वस्तु का अन्तर्दर्शन होता है, उसी प्रकार मन्त्र भी प्राप्त होता है।

संतों, योगियों ने 'ॐ' मन्त्र का जप और ध्यान करने का आग्रह किया है। यह बहुत ही उपयोगी ध्यान-साधना मन्त्र है। 'ॐ' मन्त्र है, यह ब्रह्म चैतन्य के तुरीय से लेकर भौतिक स्तर तक के चारों लोकों को अभिव्यक्त करने वाला शब्द-प्रतीक है। साधक जब किसी मन्त्र का जप करते हुए ध्यान करता है तो मन्त्र की शब्द शक्ति, ध्वनिशक्ति और अर्थशक्ति उसकी चेतना में प्रकम्पन पैदा करती हैं और चेतना को उस वस्तु की सिद्धि के लिए तैयार करती है, जिसका प्रतीक वह मन्त्र होता है। स्वयं वह मन्त्र उसे अपने अन्दर वहन करता है।

ॐ मन्त्र का जप करते हुए जब ध्यान किया जाता है तो 'ॐ' मन्त्र चेतना के सभी स्तरों, सभी परतों का उद्घाटन करता है। वह सभी स्थूल, भौतिक वस्तुओं में आन्तरिक सत्ता और अतिभौतिक जगत् में साधक को चेतन का अनुभव कराता है। 'ॐ' मन्त्र का जप-ध्यान करने वाले साधकों का मुख्य लक्ष्य अंतिम अनुभूति ही हुआ करती है।

●

पञ्चमोऽधिकारः

* नेत्रोद्योतः *

अभिषिञ्चति भुक्तिमुक्तये महतो यत् स्ववपुःपरिस्रुतैः ।
परमामृतनिर्झरैरिदं शिवयोर्नेत्रमुपास्महे परम् ॥

अथ शास्त्रान्तराभिहितैतच्छास्त्रसूचितसबीजदीक्षादीक्षितान् श्रुतशीलसमाचारानाचार्यान् साधकांश्चाभिषेचयितुं श्रीभगवानुवाच—

अभिषेकं प्रवक्ष्यामि यथा यस्येह दीयते ।

यथेति ययेतिकर्तव्यतया, यस्येति आचार्यस्य साधकस्य वा दीयते, तथा तस्याभिषेकं प्रवक्ष्यामीति प्रतिज्ञा ॥

तत्र—

अष्टभिः कलशैर्देय आचार्यस्य विधानतः ॥ १ ॥

---

* ज्ञानवती *

यमवाप्य परस्य निग्रहं भ्रमते जीव भवार्णवे पुनः ।
मनुसाधनासिद्धियोगतो लभते सिद्धिमहं नतोऽस्मितम् ॥

जो महान् (साधकों) को अपने शरीर से निःसृत परम अमृतरूपी झरनों से सिञ्चित करता है ऐसे शिवशिवा के इस नेत्र की हम उपासना करते हैं ।

अब दूसरे शास्त्रों में उक्त और इस ग्रन्थ में संकेतित सबीजदीक्षादीक्षित श्रुतशील सदाचारसम्पन्न आचार्यों और साधकों का अभिषेक करने के लिये श्रीभगवान् ने कहा—

(अब मैं) जिसको जिस प्रकार दिया जाता है वह अभिषेक कहूँगा ॥

यथा = जिस इतिकर्त्तव्यता के द्वारा । जिसको = आचार्य या साधक को । उस प्रकार के उसके अभिषेक को कहूँगा—यह प्रतिज्ञा है ।

विधानमीशानदिशि स्वस्तिकादिमण्डलगतश्रीपर्णाद्यासनोपविष्टस्य विहित-न्यासस्य अमृतेशतयार्चितस्य काञ्चिकौदनमृद्गोमयदूर्वासिद्धार्थकादिपूर्णदीपकल-शनिर्भर्त्सनतः शमितविघ्नस्य परमन्त्रस्फारावेशनिःष्यन्दिपरामृतधारासारचिन्तनेन सह शिरसि कलशाम्भःक्षेपात्मकम् ॥ १ ॥

ये च ते कलशाः—

ते च विद्येश्वराः प्रोक्ताः समुद्राश्च सगर्भगाः ।

समुद्राष्टकाम्भोभृतः श्रीमदमृतेशभैरवस्फाराविष्टानन्तादिविद्येश्वराधिष्ठिता भाव्या इत्यर्थः । सगर्भगा इति रत्नौषध्यक्षतादियुक्ताः । एतच्चोपलक्षणम् । तेनाश्रित-मन्त्रैः प्रत्येकं साष्टशतमूलमन्त्राभिमन्त्रितैः, इत्यागमिकमभिषेकविषयमभिषिक्तस्य ज्ञानयोगस्फारोपायप्रकाशनोष्णीष-संहिता-च्छत्रपादुका-करणी-कर्तर्यादिप्रदानाद्या-गमोक्तं सर्वमनुसर्तव्यम् ॥

कलशविषयं पक्षान्तरमाह—

उसमें—

आचार्य का अभिषेक आठ कलशों से विधानपूर्वक किया जाना चाहिये ॥ १ ॥

विधान बतलाते हैं—ईशान दिशा में स्वस्तिक आदि मण्डल के अन्तर्गत पलाश आदि के आसन पर बैठे हुए, न्यास सम्पन्न किये हुये, अमृतेश्वर (= भैरव के) रूप में पूजित, काञ्चिक (स्वर्ण आदि रत्न) ओदन मिट्टी गोबर दूर्वा पीलीसरसों आदि से पूर्ण कलश के निर्भर्त्सन (कुशा के द्वारा जोर से जल के छीटे मारने) के द्वारा जिसका विघ्न शान्त कर दिया गया है—ऐसे (आचार्य के) शिर पर, परमन्त्र के स्फार के आवेश से क्षरित होने वाले परामृत धारा के चिन्तन के साथ कलश के जल का गिराना—विधान है ॥ १ ॥

वे कलश—

समुद्रजल और उसके गर्भस्थ (= रत्नों) से पूरित होने पर विद्येश्वर (माने जाते) हैं ॥ २- ॥

ये कलश, आठ समुद्रों के जल से पूर्ण, श्रीमान् अमृतेश्वर भैरव के स्फार से आविष्ट तथा अनन्त आदि विद्येश्वरों से अधिष्ठित हैं—ऐसी भावना करनी चाहिये । सगर्भगाः = रत्न ओषधि अक्षत आदि से युक्त । यह (कथन) उपलक्षण है । इसलिये आश्रित मन्त्रों के साथ-साथ प्रत्येक कलश १०८ बार मूलमन्त्रों से अभिमन्त्रित होना चाहिये—ऐसा आगमिक अभिषेक होता है । अभिषिक्त (आचार्य को) ज्ञानयोगस्फार के उपाय के प्रकाशक पगड़ी, संहिता (= धारण करने या पहनने का वस्त्र) छाता, पादुका, करणी, कर्त्तरी आदि देना चाहिये ॥

पञ्चभिर्भूतसंख्यैर्वा त्रिभिर्वा तत्त्वरूपकैः ॥ २ ॥
आत्मविद्याशिवाख्यैस्तु एकेनापि शिवात्मना ।

भूतानां पृथिव्यादिव्योमान्तानां सम्यक् ख्यानं निवृत्त्यादिकलाव्याप्त्यनुसन्धिना प्रकाशो येषाम्, तत्त्वैरात्मादिभी रूपकं रूपणा निरूपणं येषाम्, आत्मविद्याशिवैः आ समन्तात् ख्यानं तन्मयतया प्रथा येषाम् ॥ २ ॥

एष चाभिषेकः—

अधिकारार्थमाचार्ये साधके सिद्धिकामतः ॥ ३ ॥

आचार्यविषयः परानुग्रहैकप्रयोजनः कार्यः, मन्त्राराधनेन स्वात्मविषया सिद्धिरस्य स्यादित्याशयेन साधकविषयः कार्यः । अत्रापि श्रीस्वच्छन्दाद्युक्ता सर्वा प्रक्रियानुसरणीया ॥ ३ ॥

अथायं साधकः—

अभिषिक्तो ह्यनुज्ञातः प्रकुर्यान्मन्त्रसाधनम् ।

कलशविषयक पक्षान्तर को कहते हैं—

(पञ्च) महाभूत की संख्या के अनुसार पाँच अथवा आत्मा विद्या शिव नामक तत्त्वों के रूप वाले तीन अथवा शिवात्मक एक (कलश) से (भी अभिषेक होता है) ॥ -२-३- ॥

भूत = पृथिवी से लेकर आकाश तक का सम्यक् ख्यान = निवृत्ति आदि कलाओं की व्याप्ति की अनुसन्धि से प्रकाश है जिनका वे (पाँच कलश) । तत्त्व = आत्मा आदि के द्वारा रूपण = निरूपण है जिनका, वे (तीन कलश)। आत्मा विद्या एवं शिव के द्वारा—आ = सर्वतः, ख्यान = तन्मयतया प्रथा, है जिनकी वे, उनके द्वारा ॥ २ ॥

यह अभिषेक—

आचार्य के विषय में अधिकार के लिये और साधक के विषय में सिद्धि की इच्छा से किया जाना चाहिये ॥ -३ ॥

आचार्य का विषय है—परानुग्रहमात्र । मन्त्र के आराधन से साधक की स्वात्मविषया सिद्धि होती है—इस आशय से यह साधकविषयक किया जाना चाहिये । यहाँ भी स्वच्छन्दतन्त्र आदि में उक्त समस्त प्रक्रियाओं का अनुसरण करना चाहिये ॥ ३ ॥

यह साधक—

अभिषिक्त होने के बाद आज्ञा प्राप्त कर मन्त्र की साधना करे ॥ ४- ॥

न तु उदासीत ॥

तेनायम्—

तद्व्रतस्तत्समाचारस्तद्भक्तस्तत्परायणः ॥ ४ ॥
पवित्राहारनिरतो लघ्वाशी संयतेन्द्रियः ।
एकान्ते पुण्यक्षेत्रे तु तीर्थायतनगोचरे ॥ ५ ॥
सर्वसंयोगोज्झितमनाः साधको जपमारभेत् ।

तत्रैव व्रतं वाक्चित्तसंयमः, पूजाहोमात्मकस्तु समाचारो यस्य । स्पष्टमन्यत् ॥ ५ ॥

तत्र—

लक्षमेकं जपेन्मन्त्री पूर्वसेवासमन्वितः ॥ ६ ॥
तेन सामान्यकर्माणि सिद्ध्यन्ते साधकस्य तु ।

पूर्वसेवायां च मीनोदयात् प्रभृत्यधिकविश्रान्त्या जपः कार्य इति श्रीस्वच्छन्देऽस्ति, तथा जपाद् दशमांशेनोत्तमादिद्रव्यैर्होम इति । सामान्यकर्माणि वश्याकर्षणादीनि ॥ ६ ॥

किं च—

भौमीं सिद्धिमवाप्नोति दशलक्षजपेन तु ॥ ७ ॥

न कि उदासीन होकर बैठ जाय ॥

इस कारण यह—

(साधक) उसी के अनुसार व्रत, आचार, भक्ति करे अर्थात् तत्परायण हो जाय । पवित्र आहार ले, थोड़ा भोजन और इन्द्रियों पर संयम रखे । एकान्त पवित्र क्षेत्र, तीर्थ अथवा देवालय में बैठकर समस्त आसक्तियों से मन को हटा कर जप का प्रारम्भ करे ॥ ४-६- ॥

व्रत = वाणी और मन पर नियन्त्रण । समाचार = पूजा होम । शेष स्पष्ट है ॥ ५ ॥

पूर्व सेवा से समन्वित मन्त्री यदि एक लाख जप करे तो उससे साधक के सामान्य कर्म सिद्ध हो जाते हैं ॥ -६-७- ॥

पूर्व सेवा में—मीन के सूर्य का उदय होने से लेकर अधिक विश्रान्ति के साथ जप करना चाहिये—ऐसा स्वच्छन्दतन्त्र में है । जप का दशमांश होम उत्तम द्रव्यों से करना चाहिये । सामान्य कर्म = वशीकरण आदि ॥ ६ ॥

और भी—

आन्तरिक्षीं च लभते.........

पातालाकाशगतिमाप्नोतीत्यर्थः ।

..............लक्षपञ्चाशता ध्रुवम् ।
दिव्यां सिद्धिमवाप्नोति साधको नात्र संशयः ॥ ८ ॥

दिव्यां भुवनेश्वरप्राप्तिरूपाम् ।

तथा कोटिकृते जप्य ऐश्वरीं सिद्धिमाप्नुयात् ।
व्यापकस्तु शिवो भूत्वा निग्रहानुग्रहक्षमः ॥ ९ ॥
यथेच्छं कुरुते सर्वं धारयेत् संहरेद् भृशम् ।
सर्वगः सर्वकर्ता च सर्वज्ञो भवति ध्रुवम् ॥ १० ॥

व्यापक इत्यादिना ऐश्वरी सिद्धिः स्फुटीकृता । सर्वगः सर्वात्मा । एतच्च सर्वं साधक एतद्देहस्थ एव लभते, इति शिवम् ॥

कमलजकृष्णरुद्रतनुभिर्वितनोति पृथक्
शिवसुशिवेशमूर्तिभिरथाप्यपृथङ् निखिलम् ।

दश लाख जप से साधक पृथिवी और अन्तरिक्ष सम्बन्धी सिद्धि प्राप्त करता है ॥ -७-८- ॥

पाताल और आकाश में गति प्राप्त करता है ॥

साधक पचास लाख जप से दिव्यसिद्धियाँ प्राप्त करता है—इसमें सन्देह नहीं है ॥ -८ ॥

दिव्य = भुवनेश्वर की प्राप्ति रूप ।

एक करोड़ जप करने पर ईश्वरसम्बन्धी सिद्धि प्राप्त करता है । व्यापक होकर शिव हो जाता है और निग्रह तथा अनुग्रह में समर्थ हो जाता है । वह इच्छानुसार सब कुछ सृष्टि स्थिति संहार करता है । वह सर्वगामी, सर्वकर्त्ता और सर्वज्ञ हो जाता है ॥ ९-१० ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के पञ्चम अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ५ ॥

❧❁❧

'व्यापक' इत्यादि कथन के द्वारा ऐश्वरी सिद्धि स्पष्ट की गयी है । सर्वग = सर्वात्मा । साधक यह सब इसी देह से प्राप्त करता है ।

यदिह परामृतैः समभिषिञ्चति भक्तजनं
जयति समस्तसिद्धिकृदिदं नयनं शिवयोः ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योतेऽभिषेकविधिर्नाम पञ्चमोऽधिकारः ॥ ५ ॥

जो ब्रह्मा विष्णु और शिव के शरीरों के द्वारा (अपने को) अलग-अलग करते हैं पुनः ईश्वर सदाशिव और शिव के द्वारा सम्पूर्ण विश्व को एक कर लेते हैं, समस्त सिद्धियों को देने वाले शिव शिवा के वे नयन सर्वोत्कृष्ट है ।

जो इस संसार में स्थित भक्तजनों का परामृत से सिञ्चन करते हैं ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के पञ्चम अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ५ ॥

षष्ठोऽधिकारः

* नेत्रोद्योतः *

व्याध्यादिदौर्गत्यजरादिदोषहुताशशान्तिं परमामृतैर्यत् ।
अर्चाहुतिध्यानजपादि सिञ्चत् करोति तन्नौमि हरोर्ध्वनेत्रम् ॥

पूर्वपटलाधिगतार्थानुवादेन अन्यदेवतारयितुं श्रीदेव्युवाच—

श्रुतो मया महादेव मृत्युजित् सिद्धिमोक्षदः ।
अधुना श्रोतुमिच्छामि सिद्धित्रयसमन्वितम् ॥ १ ॥
अमृतेशं महात्मानं सर्वप्राणिषु जीवितम् ।
यथा सिद्धिप्रदं लोके मानवानां हितङ्करम् ॥ २ ॥
पूर्वोक्तदुष्टशमनमपमृत्युविनाशनम् ।
आप्यायनं शरीरस्य शान्तिपुष्टिप्रदं शुभम् ॥ ३ ॥

---

* ज्ञानवती *

यागो होमो जपादिश्च कृपया यस्य वर्ण्यते ।
अधिकारे रसाख्येऽस्मिन् नुमस्तं वह्निचक्षुषम् ॥

जो परम अमृत के द्वारा सिञ्चन करते हुए व्याधि आदि दुर्गति और जरा आदि दोष रूपी अग्नि को शान्त करते हैं तथा अभिषिक्त करते हुए अर्चन आहुति ध्यान जप आदि करते हैं, भगवान् शङ्कर के उस ऊर्ध्व नेत्र को मैं प्रणाम करता हूँ ।

पूर्व पटलों के द्वारा ज्ञात विषय का अनुवाद कर अन्य विषय को अवतारित करने के लिये श्री देवी ने कहा—

हे महादेव ! मैंने सिद्धि और मोक्ष को देने वाला मृत्युञ्जय मन्त्र सुना । अब मैं उस (आत्म तत्त्व) को सुनना चाहती हूँ जो तीनों सिद्धियों से युक्त, समस्त प्राणियों का जीवन, लोक में सिद्धिदायक, मनुष्यों का हितकारी, पूर्वोक्त दुष्टों का शामक, अपमृत्यु का नाशक, शरीर का पोषक, शान्तिपुष्टि को देने वाला शुभ अमृतेश और महान् है ॥ १-३ ॥

अथ प्रथमद्वितीयाधिकारोक्तवाच्यवाचकात्ममन्त्ररूपो मृत्युजित्, तृतीयचतुर्थाधिकारोक्तनित्यनैमित्तिककर्मणा मोक्षद:, पञ्चमाधिकारोक्तकाम्यकर्मत: सामान्येन सिद्धिप्रदश्च मया श्रुत: । इदानीं तु तमेव भौमदिव्यान्तरिक्षसिद्धिप्रदममृतेशं विश्वजीवनं महान्तमात्मानं या या सिद्धिर्यथा सिद्धिस्तत्प्रदं लोके सर्वत्र भूतसर्गो द्वितीयाधिकारोक्तदृशा विशेषतो व्याध्यादिबाधितानां मनुष्याणां हितङ्करं श्रोतुमिच्छामि । हितङ्करत्वं पूर्वोक्तेत्यादिना स्फुटीकृतम् । शान्तिर्ग्रहादिदोषनिवृत्ति: । आप्याय: शुष्कस्य सरसीभाव: । पुष्टि: पूर्णाङ्गता । शुभं दौर्गत्यादिहरम् ॥ ३ ॥

एवं पृष्ट: श्रीभगवानुवाच—

श्रूयतां संप्रवक्ष्यामि रहस्यं परमाद्भुतम् ।
यथा तरन्ति मनुजा दु:खोदधिपरिप्लुता: ॥ ४ ॥
अपमृत्युशताक्रान्ता जना दारिद्र्यसंयुता: ।
आधिव्याधिभयोद्विग्ना: पापौघैर्विनिपीडिता: ॥ ५ ॥
मुच्यन्ते च यथा सर्वे पूर्वोक्तैर्दारुणै: प्रिये ।
त्रिविधं तदुपायं तु स्थूलं सूक्ष्मं परं च तत् ॥ ६ ॥

मनुजा इति कृपास्पदसातिशयत्वेन चोदिता यथा तरन्ति न दु:खादिभाजो भवन्ति, दारुणैर्भूतादिभिश्च यथा मुच्यन्ते त्यज्यन्ते, तथा प्रोक्तवीर्यसारमृत्यु-

---

मैंने प्रथम द्वितीय अधिकारों में उक्त वाच्यवाचकात्मक मन्त्ररूप मृत्युञ्जय, तृतीय चतुर्थ अधिकार मे उक्त नित्यनैमित्तिक कर्म के द्वारा मोक्षप्रद, पञ्चम अधिकार में उक्त काम्य कर्म से सामान्यत: सिद्धिप्रद को सुना । अब उसी भौम दिव्य अन्तरिक्ष की सिद्धियों को देने वाले, अमृतेश, विश्वजीवन, जो-जो सिद्धि जिस प्रकार से मिलती है उसको देने वाले, सर्वत्र भूतसृष्टि, द्वितीय अधिकार में उक्त रीति से विशेषतया व्याधि आदि से पीड़ित मनुष्यों के हितकारी महान् आत्मा को जानना चाहती हूँ । (उस आत्मा का हितकर होना पूर्वोक्त दुष्टशमन...) इत्यादि के द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है । शान्ति = ग्रह आदि जन्य दोषों की निवृत्ति । आप्यायन = शुष्क को सरस बनाना । पुष्टि = पूर्णाङ्गता । शुभ = दुर्गति आदि को दूर करने वाला ॥ ३ ॥

इस प्रकार पूछे गये श्री भगवान् ने कहा—

हे प्रिये ! सुनो । मैं तुमको परम अद्भुत रहस्य बतलाऊँगा जिसके द्वारा दु:खसागर में डूबे हुये, सैकड़ों अपमृत्यु से आक्रान्त, दारिद्र्ययुक्त, आधि व्याधि भय से उद्विग्न, पापसमूह से पीड़ित मनुष्य समस्त पूर्वोक्त दारुण विषयों से मुक्त हो जाते हैं । वह उपाय तीन प्रकार का है—स्थूल, सूक्ष्म और पर ॥ ४-६ ॥

मनुज = अतिशय कृपापात्र होने से प्रेरित । जिस कारण पार हो जाते हैं =

जित्परमार्थरहस्यं तत्रोपायरूपं वस्तु यत्तत् संप्रवक्ष्यामि ॥ ६ ॥

तत्र—

स्थूलं तु यजनं होमो जपो ध्यानं समुद्रकम् ।
यन्त्राणि मोहनादीनि मन्त्रराट् कुरुते भृशम् ॥ ७ ॥

मन्त्रराट् यजनादि कुरुते स्ववीर्येणापि तिष्ठति । मुद्रा अत्र पूर्वोक्ताः ॥ ७ ॥

सूक्ष्मं चक्रादियोगेन कलानाड्युदयेन च ।

सप्तमाधिकारभाविषट्चक्रषोडशाधारादौ यो योगस्तेन, तथा कलानाड्युदयेनेति कला कालावयवमुहूर्ताद्युपलक्षणपरा तत्प्रधानो यो नाड्युदयस्तेन श्रीस्वच्छन्दाद्युक्त-बाह्यान्तररौद्रेतरादिकालैकीकारेण प्रयुक्तो मन्त्रराट् स्ववीर्यस्फारणेन सूक्ष्ममुपायं व्याध्यादिनाशनं करोतीत्यर्थः ॥

परं सर्वात्मकं चैव मोक्षदं मृत्युजिद् भवेत् ॥ ८ ॥

महासामान्यमन्त्रवीर्यरूपत्वाद् मृत्युजिन्नाथस्येत्थं निर्देशः । सर्वात्मकं परमा-द्वयम् । एतच्चाष्टमाधिकारे निर्णेष्यते ॥ ८ ॥

दुःख आदि के पात्र नहीं बनते । दारुण = भूत आदि से । मुक्त होते हैं = छोड़ दिये जाते हैं । उस प्रकार के उक्तवीर्य वाले मृत्युञ्जयी परमार्थ रहस्य के उपायभूत वस्तु को कहूँगा ॥ ४-६ ॥

वहाँ—

यह मन्त्रराट् स्थूल याग, होम, जप, ध्यान, मुद्रायें, यन्त्र सम्मोहन आदि करता है ॥ ७ ॥

मन्त्रराट् यजन आदि करता है और अपने वीर्य के साथ रहता है । यहाँ मुद्रायें—जो पहले कही गयीं (= उनको समझना चाहिये) ॥ ७ ॥

सूक्ष्म उपाय चक्र आदि की साधना और कला-नाड़ी के उदय से होता है ॥ ८- ॥

सप्तम अधिकार में बतलाया जाने वाला षट्चक्र, सोलह आधार आदि विषयों वाला जो योग उससे, तथा कला = काल के अवयव मुहूर्त्त आदि उसका सहायक जो नाडी का उदय उस स्वच्छन्दतन्त्र आदि ग्रन्थों में उक्त बाह्य आभ्यन्तर रौद्र शान्त आदि काल को एक करने से प्रयुक्त मन्त्रराट् स्ववीर्यस्फारण के द्वारा सूक्ष्म उपाय वाले व्याधि आदि का नाश करता है ॥

पर उपाय सर्वात्मक है जो कि मोक्षप्रद और मृत्युजित् होता है ॥ -८ ॥

मृत्युजित्नाथ के महासामान्यमन्त्रवीर्य रूप होने से ऐसा (= पर मोक्षद आदि) निर्देश है । सर्वात्मक = परम अद्वय । इसे अष्टम अधिकार में बतायेंगे ॥ ८ ॥

तत्र स्थूलोपायं वक्तुमुपक्रमते—

यदा मृत्युवशाघ्रातः कालेन कलितः प्रिये।
दृष्टस्तत्प्रतिघातार्थममृतेशं यजेत्तदा ॥ ९ ॥
सर्वश्वेतोपचारेण पूर्वोक्तविधिना ततः।

मृत्युरपमृत्युः । कालो महामृत्युः । विधानं तृतीयाधिकारोक्तं यागादि ॥ ९॥

एवं च—

यस्य नाम समुद्दिश्य पूजयेन्मृत्युजिद्विभुम् ॥ १० ॥
मृत्योरुत्तरते शीघ्रं सत्यं मे नानृतं वचः।

असावित्यर्थात् । सत्यमित्युक्त्या नात्र मायाप्रमातृतया सन्देग्धव्यम् निश्चयस्यैव सिद्धिनिमित्तत्वात् ॥ १० ॥

सितशर्करया युक्तैर्घृतक्षीरप्लुतैस्तिलैः ॥ ११ ॥
पुण्यदार्विन्धने वह्नौ कुण्डे वृत्ते त्रिमेखले।
महारक्षाविधानेन जुहुयाद्यस्य नामतः ॥ १२ ॥
महाशान्तिर्भवेत् क्षिप्रं गतस्यापि यमक्षयम्।

(उन तीनों प्रकार के उपायों में से) स्थूल उपाय को बतलाने का उपक्रम करते हैं—

हे प्रिये ! मनुष्य जब अकालमृत्यु या स्वाभाविक मृत्यु से ग्रसित हो जाय तो उसके प्रतिघात के लिये उस समय अमृतेश का पूजन करना चाहिये । यह पूजन पूर्वोक्त विधि से समस्त श्वेत वस्तुओं के द्वारा (होता है) ॥ ९-१०- ॥

मृत्यु = अकालमृत्यु । काल = महामृत्यु । विधान = तीसरे अधिकार में वर्णित याग आदि ॥ ९- ॥

(अनुष्ठाता) जिसका नाम लेकर मृत्युञ्जय भगवान् की पूजा करता है (वह आदमी) शीघ्र ही मृत्यु को पार कर जाता है । यह मेरा वचन सत्य है असत्य नहीं ॥ -१०-११- ॥

'यह'—इतना अपनी ओर से समझना चाहिये । सत्यम् कहने से 'मायाप्रमाता' होने के कारण इस विषय में सन्देह नहीं करना चाहिये क्योंकि निश्चय ही सिद्धि का निमित्त बनता है—यह समझना चाहिये ॥ १० ॥

सफेद शक्कर से युक्त घृत दूध से मिश्रित (सफेद) तिल से पवित्र लकड़ी वाली अग्नि में हवन करे । उसके पहले तीन मेखला वाला कुण्ड बनाना चाहिये । महारक्षाविधानपूर्वक जिसके नाम से हवन

पुण्यं पलाशादिदारु इन्धनं दीपनं यस्य । महारक्षाविधानमस्त्रप्राकारादिचिन्तनम्, यागहर्म्ये च दुष्टप्रवेशरक्षणम् । नामत इति मन्त्रान्तोच्चारितेन । यमक्षयं यमगेहम् ॥ १२ ॥

अथवा शर्करायुक्तपयसा केवलेन तु ॥ १३ ॥
होमान्मृत्युं जयेच्छीघ्रं मृत्युजिन्नात्र संशयः ।

स्पष्टम् ॥ १३ ॥

सुगन्धिघृतहोमेन क्षीरवृक्षमयेऽनले ॥ १४ ॥
तर्पितो नाशयेन्मृत्युं मृत्युजिन्नात्र संशयः ।

यस्य नाम्ना तस्येत्यर्थात् ॥ १४ ॥

क्षीरवृक्षसमिद्धोमाज्ज्वरं नाशयते क्षणात्॥ १५ ॥

प्रादेशमात्राः सत्वचः कनिष्ठाङ्गुलिमानाः सरसाः शाखाः समिधः ॥ १५ ॥

तिलतण्डुलमाक्षीकमाज्यक्षीरसमन्वितम् ।
एष पञ्चामृतो होमः सर्वदुष्टनिवर्हणः ॥ १६ ॥

किया जायेगा यमपुर में गये हुये भी उस व्यक्ति को महाशान्ति प्राप्त होती है ॥ -११-१३- ॥

पवित्र = पलाश आदि की लकड़ी, इन्धन = जलाने वाली है जिसकी । महारक्षा-विधान = अस्त्रप्राकार आदि का ध्यान तथा यागगृह में दुष्ट प्राणी के प्रवेश से रक्षा । नाम लेकर = मन्त्र के अन्त में नाम का उच्चारण कर । यमक्षय = यमगृह (= यमलोक) ॥ १२ ॥

अथवा केवल शर्करायुक्त दूध से हवन करने पर (यह) मृत्युञ्जय (मन्त्र या देवता) शीघ्र ही मृत्यु को जीत लेता है, इसमें सन्देह नहीं ॥-१३-१४-॥

क्षीरवृक्ष (= पाकड़, पीपल, गूलर, बरगद आदि) की लकड़ी वाली आग में सुगन्धित घृत का होम करने पर मृत्युजित् मृत्यु का निःसन्देह नाश करते हैं ॥ -१४-१५- ॥

जिसके नाम से होम होगा उसकी (मृत्यु का) ॥ १४ ॥

क्षीरवृक्ष की समिधा से होम करने पर (यह मन्त्र) एक क्षण में ज्वर को नष्ट कर देता है ॥ -१५ ॥

कनिष्ठा जितनी मोटी एक बालिस्त लम्बी छिलकेसहित गीली लकड़ी समिधा कहलाती है ॥ १५ ॥

तिल, चावल, मधु, घी और दूध इन (पाँच द्रव्यों) के द्वारा पञ्चामृत होम होता है जो समस्त दोषों को दूर करता है ॥ १६ ॥

मन्त्रराजप्रसादात् ॥ १६ ॥

गुग्गुलोर्गुलिकाभिश्च त्र्यक्ताभिश्चणमात्रया ।
होमात् पुष्टिर्भवत्याशु क्षीणदेहस्य सुव्रते ॥ १७ ॥

चणकप्रमाणाभिर्गुग्गुलुधूपगुलिकाभिराज्यक्षीरक्षौद्रात्मत्रिमध्वक्ताभिर्होमात् पुष्टिर्भवति ।

'वषडाप्यायने शस्तः' (६।९६)

इति स्वच्छन्दोक्तनीत्या सर्वत्रात्र वषट्जातिः प्रयोज्या ॥ १७ ॥

यदा व्याधिशताकीर्णो ह्यबलो दृश्यते नरः।
तदास्य सम्पुटीकृत्य नाम जप्त्वा विमुच्यते॥ १८ ॥

मूलमन्त्रेणेत्यर्थात् ॥ १८ ॥

किं च—

यं यं मन्त्रं जपेद् विद्वानमृतेशेन संपुटम् ।
तस्य सिद्ध्यति स क्षिप्रं भाग्यहीनोऽपि यो भवेत्॥ १९ ॥

जपोऽत्र स्वकल्पोक्तविधिना ॥ १९ ॥

मन्त्रराज की प्रसन्नता होने पर ही (= निवर्हण होता है) ।

तीन वस्तुओं से उपलिप्त चने के बराबर गुग्गुलु की गोली से होम करने पर क्षीणदेह व्यक्ति शीघ्र पुष्टि को प्राप्त करता है ॥ १७ ॥

चने के बराबर गुग्गुलुधूप की गोली, जो कि घी दूध और मधु रूप त्रिमधु से सिक्त हो, से होम करने पर पुष्टि होती है ॥

'आप्यायन के लिये' वषट् का उच्चारण उत्तम कहा गया है' ।

इस स्वच्छन्दोक्त नीति के अनुसार सर्वत्र 'वषट्' जाति का प्रयोग करना चाहिये ॥ १७ ॥

मनुष्य जब सैकड़ों रोगों से युक्त और दुर्बल दिखाई दे तो उसके नाम को इस मन्त्रराट् से सम्पुटित कर जप करने से वह (रोग) मुक्त हो जाता है ॥ १८ ॥

और भी—

भाग्यहीन भी विद्वान् अमृतेश से सम्पुटित जिस किसी मन्त्र को जपे तो वह मन्त्र उसको शीघ्र सिद्ध हो जाता है ॥ १९ ॥

यह जप स्वकल्पोक्त विधि के अनुसार होना चाहिये ॥ १९ ॥

एतत्प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमाह—

क्षीणगात्रस्य देवेशि भेषजं मन्त्रसंपुटम् ।
दीयते तत्क्षणाद्देवि स पुष्टिं लभते बली ॥ २० ॥

भेषजमौषधम्, मन्त्रसंपुटमिति मन्त्रसंपुटीकारेण प्रयुक्तमित्यर्थः ॥ २० ॥

हृत्पद्ममध्यगं जीवं चन्द्रमण्डलमध्यगम् ।
साद्यर्णरोधितं कृत्वा मृत्योरुत्तरते भृशम् ॥ २१ ॥

साद्यर्णैः सविसर्गसकारहोमबीजप्रणवैर्जीवनिकटात् क्रमात्क्रमं बहिर्निःसृतैः रोधितम् । अष्टासु दिक्षु ध्यातैराक्रान्तं चन्द्रबिम्बसंनिविष्टमात्मन परस्य वा जीवं यः करोति ध्यायति, स मृत्युमुत्तरति । कृत्वेति अन्तर्भावितणिजर्थोऽपि ॥ २१ ॥

साद्यर्णरोधितं कृत्वा ध्यायेद्देहे तु योगवित् ।
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तः स भवेन्नात्र संशयः ॥ २२ ॥

जीवद्देहस्यायं रोधनप्रयोगः ॥ २२ ॥

क्षीरोदपद्ममध्यस्थममृतोर्मिभिराकुलम् ।

प्रसङ्गतः प्राप्त इसका कथन कर प्रस्तुत को कहते हैं—

हे देवेशि ! क्षीणशरीर वाले को यदि मन्त्र से संपुटित औषधि दी जाय तो वह पुष्टि को तत्क्षण प्राप्त करता है और बलवान् होता है ॥ २० ॥

भेषज = औषध । मन्त्रसम्पुट = (पहले) मन्त्र के द्वारा सम्पुटित कर (बाद में) प्रयोग में लायी गयी ॥ २० ॥

हृदयकमल के मध्यवर्ती जीव को चन्द्रमण्डल के मध्य में ले जाकर साद्यर्ण से रोधित कर (साधक) भयङ्कर मृत्यु से पार हो जाता है ॥ २१ ॥

साद्यर्ण = विसर्ग से युक्त सकार, होमबीज एवं प्रणव (= ॐ जूं सः) । इनके द्वारा जीव के निकट से क्रमशः बाहर निकले हुए के द्वारा रोधित । आठ दिशाओं में ध्यात के द्वारा आक्रान्त तथा चन्द्रबिम्ब में सन्निविष्ट अपने या पर के जीव का जो ध्यान करता है वह मृत्यु को पार कर जाता है । 'कृत्वा' पद में अन्तर्भावित णिच् है (अतएव इसका अर्थ होगा—कारयित्वा = करा कर) ॥ २१ ॥

जो योगवित् साद्यर्ण से रोधित (= सम्पुटित) कर देह में इसका ध्यान करता है । वह समस्त व्याधियों से मुक्त हो जाता है इसमें सन्देह नहीं ॥ २२ ॥

यह प्रयोग जीवित देह वाले के लिये है ॥ २२ ॥

क्षीरसमुद्र के मध्यस्थ कमल के बीच में स्थित अमृतलहरों से व्याप्त,

ऊर्ध्वाधःशशिरुद्धं तु साद्यर्णैः संपुटीकृतम् ॥ २३ ॥
ध्यायते सुप्रहृष्टात्मा आत्मनोऽपि परस्य वा ।
स बाह्याभ्यन्तरं शुभ्रं सुधापूरितविग्रहम् ॥ २४ ॥
अनुद्विग्नमनायासं सर्वरोगैः प्रमुच्यते ।

क्षीराब्धिमध्यस्थसितसरोरुहकर्णिकागतेन्दूपविष्टम्, ऊर्ध्वस्थेन्द्वमृतैः सिच्यमानमैन्दवप्रभाभरोच्छलत्क्षीरोदतरङ्गैरन्तर्बहिश्चापूरितम्, सुशुभ्रं च प्रोक्तयुक्त्या ध्यातमन्त्रराजसंपुटीकृतं यस्य शरीरं भृशं ध्यायते स नीरोगो भवति ॥

रोचनाकुङ्कुमेनैव क्षीरेण च समन्वितः॥ २५ ॥
सितपद्मेऽष्टपत्रे तु मध्ये साद्यर्णरोधितः ।
सर्वव्याधिसमाक्रान्तश्चन्द्रमण्डलवेष्टितः ॥ २६ ॥
चतुष्कोणपुराक्रान्तो वज्रभृद्वज्रलाञ्छितः ।
मुच्यते नात्र संदेहः सर्वव्याधिनिपीडनात्॥ २७ ॥

गोरोचनाकुङ्कुमक्षीरैर्भूर्जादौ सितकमलमालिख्य प्रतिपत्रमुक्तयुक्त्योल्लिखितमन्त्रेण रोधितोऽर्थात् कर्णिकायां नामद्वारोल्लिखितः साध्यो बहिः षोडशकलेन्दुबिम्बवेष्टितः सवज्रकचतुरश्रपुरस्थो व्याध्याक्रान्तोऽपि सर्वव्याधिपीडनान्मुच्यते । वज्रभृद्वज्रेत्युक्ते

नीचे एवं ऊपर चन्द्रमा से रुद्ध, साद्यर्णों (= सकार आदि वर्णों अर्थात् ॐ जूं सः) के द्वारा सम्पुटित, बाहर और भीतर शुभ्र, सुधा से आपूरित जिस शरीर का ध्यान करता है वह सुप्रसन्न आत्मा वाला साधक अपने या पर शरीर को अनुद्विग्न और अनायास रूप से सब रोगों से मुक्त करा देता है ॥ २३-२५- ॥

(साधक द्वारा) क्षीरसागर के मध्य में स्थित श्वेत कमल की कर्णिका में वर्त्तमान चन्द्रमा के ऊपर बैठे हुये, ऊर्ध्वस्थ चन्द्रमा के अमृत से सींचे जाते हुए, क्षीर सागर की तरङ्गों से भीतर एवं बाहर आपूरित, सुशुभ्र उक्त युक्ति से ध्यात मन्त्रराज से सम्पुटीकृत जिस (= रुग्ण व्यक्ति) के शरीर का ध्यान किया जाता है वह नीरोग हो जाता है ॥

गोरोचन कुंकुम एवं दूध को मिलाकर उससे बनाये गये सफेद अष्टदल कमल के मध्य में साद्यर्ण से सम्पुटित नामवाला साध्य रोगी, यदि (अपने को) चन्द्रमण्डल से वेष्टित, चतुष्कोण पुर से आक्रान्त, वज्रभृत् (= इन्द्र) के वज्र से लाञ्छित हुआ ध्यान करे तो समस्त व्याधि से समाक्रान्त वह व्याधियों की पीड़ा से मुक्त हो जाता है इसमें सन्देह नहीं ॥ -२५-२७ ॥

गोरोचन कुंकुम दूध के द्वारा भोजपत्र आदि पर सफेद कमल बनाकर उसके हर एक पत्ते (= पंखुड़ी) पर उक्त युक्ति से उल्लिखित मन्त्र से रोधित अर्थात् कर्णिका में नाम के द्वारा उल्लिखित साध्य (= रोगी अपने को) बाहर षोडश कला

समधिष्ठितानि वज्राणि ध्यायेदिति शिक्षयति ॥ २७ ॥

षोडशारे महाचक्रे षोडशस्वरभूषिते ।
आद्यन्तमन्त्रयोगेन मध्ये नाम समालिखेत् ॥ २८ ॥
जीवान्तः सान्तमध्यस्थं वर्णान्तेनाभिरक्षितम् ।
प्रत्यर्णममृतेशेन संपुटित्वा तु सर्वतः ॥ २९ ॥
मध्ये दलेषु सर्वेषु शशिमण्डलमध्यगम् ।
बाह्ये तु द्विगुणं पद्मं कादिसान्तक्रमेण तु ॥ ३० ॥
पूर्ववत्तु लिखेन्मन्त्री प्रति साद्यर्णरोधितम् ।
वर्णं तदन्तः साध्यस्य नाम बाह्येऽर्कमण्डलम् ॥ ३१ ॥
पुरन्दरपुरेणाधः समन्तात् परिवारयेत् ।
सितचन्दनसंयुक्तं रोचनाक्षीरयोगतः ॥ ३२ ॥
लिखित्वा मन्त्रराजं तु कर्पूरक्षोदधूसरम् ।
महारक्षाविधानं तु पुष्टसौभाग्यदायकम् ॥ ३३ ॥
एतच्चक्रं महादेवि सितपुष्पैः प्रपूजयेत् ।
सर्वश्वेतोपचारेण मधुमध्ये निधापयेत् ॥ ३४ ॥
अनेनैव विधानेन सप्ताहान्मृत्युजिद् भवेत् ।

वाले चन्द्रमा से वेष्टित तथा चारो कोने पर वज्र अङ्कित हूँ—ऐसा ध्यान करे, तो व्याधि से आक्रान्त भी वह सब व्याधियों की पीड़ा से मुक्त हो जाता है । वज्रभृत् वज्र ऐसा कहने पर समधिष्ठित वज्र का ध्यान करे—यह बतलाते हैं ॥ २७ ॥

मन्त्रवेत्ता सोलह अरों वाले महाचक्र में जो कि (अ आ—इत्यादि) सोलह स्वर से भूषित हो उसमें (रोगी के नाम के) आदि और अन्त में मन्त्र को जोड़ कर नाम लिखे । अन्त में जीव (= सकार) मध्य में सान्त (हकार) हो और वर्णान्त (क्षकार) से सम्पुटित हो । प्रत्येक वर्ण को अमृतेश से सर्वतः सम्पुटित कर सभी दलों के मध्य में चन्द्रमण्डल-मध्यवर्त्ती (स्वरों) को मन्त्रवेत्ता लिखे । (षोडशदल कमल के) बाहर दो गुना (= बत्तीस) दलों को लिखे जिसमें 'क' से लेकर 'ह' तक वर्ण हों । प्रत्येक वर्ण साद्यर्ण से रोधित होना चाहिये । उसके भीतर साध्य का नाम और बाहर सूर्य मण्डल बनाये। नीचे चारों ओर पुरन्दरपुर के द्वारा घेर दें। सफेद चन्दन गोरोचन दूध मिलाकर उससे मन्त्रराज को लिखकर उसपर कर्पूर का चूर्ण छिड़क दें। यह महारक्षा विधान पुष्टि और सौभाग्यदायक है। हे महादेवी ! इस चक्र की श्वेत पुष्प आदि से पूजा कर मधु के बीच में रख दे । इसी प्रकार एक सप्ताह तक करने से साधक मृत्युञ्जयी हो जाता है ॥ २८-३५- ॥

षोडशदलकमलकर्णिकायां मन्त्रसंपुटितं साध्यनाम जीवस्य सकारस्यान्तः कृत्वा, सान्तस्य हकारस्यान्तर्विधाय वर्णान्तेन क्षकारेणान्तर्बहिः संस्थितेन रक्षितं कुर्यात् । प्रतिमन्त्रं च अमृतेशसंपुटितं नाम ठकारवेष्टितं क्रमेणाकारादिस्वरमध्यगं कृत्वा मध्यस्थमन्त्रसांमुख्येन लिखेत् । षोडशपत्रस्य पद्मस्य बहिर्द्वात्रिंशद्दल-मुल्लिखेत्, तत्र च कादिसान्तान् द्वात्रिंशद्वर्णान् न्यसेत् । तेषु च प्रतिवर्णं पूर्ववत् साद्यर्णरोधितमित्युक्तयुक्त्या मन्त्रसंपुटितम्, तदिति पूर्वन्यस्तं साध्यनामान्तर्मध्ये लिखित्वा सर्वस्यास्य बहिरर्कमण्डलमिति ठकारम्, तद्बहिः पुरन्दरपुरमिति वज्रलाञ्छितं चतुरश्रसंनिवेशं कुर्यात् । प्रति साद्यर्णरोधितमित्यत्र 'व्यवहिताश्च' इति व्यवहितेन प्रतिना वर्णशब्दस्य संबन्धः । एतत्सर्वं चक्रं सितचन्दन-गोरोचनाक्षीरैर्लिखित्वा, सितकुसुमकर्पूरादिभिरभ्यर्च्य माक्षिकमध्यस्थं पुष्टिसौभाग्य-कृत्, सप्ताहं मधुमध्ये निहितं च मृत्युजित् ॥ ३४ ॥

किं चेदम्—

राजरक्षाविधानं तु भूभृतां तु प्रकाशयेत् ॥ ३५ ॥
संग्रामकाले वरदं रिपुदर्पापहं भवेत् ।
शिवादिनवतत्त्वानि प्रत्येकं शशिमण्डलम् ॥ ३६ ॥
मध्यात् पूर्वादि ऐश्यन्तममृतेशेन मन्त्रिणा ।
यदा व्याधिशताकीर्णमपमृत्युशतेन वा ॥ ३७ ॥

सोलह पंखुड़ी वाले कमल की कर्णिका में मन्त्र से सम्पुटित साध्य का नाम जीव = सकार के भीतर करके, सान्त = हकार के भीतर रख कर भीतर एवं बाहर स्थित क्षकार से उसे रक्षित कर दे । प्रत्येक मन्त्र के साथ अमृतेश (= मृत्युञ्जयबीज) से सम्पुटित नाम ठकार से वेष्टित क्रमशः अकारादि स्वरों का मध्यगामी बनाकर मध्यस्थ मन्त्र के समुख लिखे । षोडशदल कमल के बाहर बत्तीस दलों वाला कमल बनाये । उसमें 'क' से लेकर 'स' तक ३२ वर्णों को लिखे । उनमें प्रतिवर्ण पूर्व की भाँति साद्यर्णरोधितम् इस उक्त युक्ति के अनुसार मन्त्र से सम्पुटित पूर्णन्यस्त साध्य के नाम भीतर मध्य में लिखकर इन सब के बाहर अर्कमण्डल = ठकार, उसके बाहर पुरन्दरपुर = वज्र, से अङ्कित चौकोर सन्निवेश बनाये । 'प्रति साद्यर्णरोधितम्' यहाँ पर 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १.४.८२) सूत्र के अनुसार व्यवहित प्रति के साथ वर्ण शब्द का सम्बन्ध है । इस सब चक्र को सफेद चन्दन गोरोचन दूध से लिखकर, सफेद फूल कपूर आदि से उसकी पूजा करने के बाद यदि मधु के बीच रखा जाय तो पुष्टि और सौभाग्य देता है । एक सप्ताह तक मधु के बीच में रखने पर (मृत्यु) मृत्यु को जीत लेता है ॥ ३४ ॥

इस राजरक्षा विधान को राजाओं को बतलाना चाहिये क्योंकि यह संग्रामकाल में वरदायी और शत्रु के मद को नष्ट करने वाला होता है । मध्य कोष्ठ से प्रारम्भ कर पूर्व से लेकर ईशान कोण पर्यन्त अमृतेश के

तदा श्वेतोपचारेण पूज्यं क्षीरघृतेन वा ।
तिलैः क्षीरसमिद्भिर्वा होमाच्छान्तिं समश्नुते॥ ३८ ॥

आतानवितानविन्यस्तरेखाचतुष्ककलितकोष्ठनवके प्रत्येकं चन्द्रमण्डललाञ्छिते मध्यकोष्ठकात् प्रभृति प्रागादिक्रमेण ऐश्यन्तं शिव-सदाशिव-ईश्वर-विद्या-माया-काल-नियति-प्रकृति-पुरुषतत्त्वानि नामत उल्लिख्य, सितोपचारेणानेन मन्त्रेण मन्त्रिणा यदा पूजा क्षीरघृताभ्यां क्षीराक्तैस्तिलैः क्षीराक्तसमिद्भिर्वा होमो यथाशक्ति क्रियते, तदा व्याध्याद्यपमृत्युशताकीर्णमपि साध्यशरीरं स्वस्थतामेति ॥ ३८ ॥

एवं संपूज्य कुम्भे तु सर्वौषधिसमन्विते ।
सितपद्ममुखोद्गारे रत्नगर्भाम्बुपूरिते ॥ ३९ ॥
सर्वमङ्गलघोषेण शिरसि ह्यभिषेचयेत् ।
स मुच्यते न संदेहः सर्वव्याधिप्रपीडितः ॥ ४० ॥

एवमिति शिवादिनवतत्त्वान्युक्तयुक्त्या कुम्भे ध्यात्वा संपूज्य, तेन योऽभिषिच्यते शिरसि स सर्वव्याधिभिः पीडितोऽपि मुच्यते । सितपद्मैर्मुखे उद्गार आमोदो यस्येति समासः ॥

ध्यात्वा परामृतं नित्यं नित्योदितमनामयम् ।

द्वारा यदि मन्त्री श्वेतोपचार से पूजन करे तथा दूध घी अथवा तिल दूध अथवा दूध में डूबी समिधा से होम करे तो शान्ति मिलती है ॥-३५-३८॥

लम्बाई एवं चौड़ाई में खींची गयी चार रेखाओं से बने नव कोष्ठ, जिनमें प्रत्येक चन्द्रमण्डल से लाञ्छित हो, में मध्यकोष्ठ से लेकर पूर्व आदि के क्रम से ईशान दिशा तक शिव, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, माया, काल, नियति, प्रकृति और पुरुष तत्त्वों का नाम लिखकर श्वेत उपकरणों से इस मन्त्र के द्वारा मन्त्री यदि दूध घी, दूधमिश्रित तिल, दूध में डुबोई गयी समिधा से यथाशक्ति होम करता है तो व्याधि आदि सैकड़ों अपमृत्यु से घिरा हुआ भी साध्य का शरीर स्वस्थ हो जाता है ॥ ३८ ॥

इस प्रकार समस्त औषधियों से युक्त, मुख पर श्वेत कमल रखे गये, अन्दर रत्न डालकर पानी से भरे हुए कुम्भ से सर्वमङ्गल घोष के साथ (= साध्य के) शिर पर अभिषेक करना चाहिये । (ऐसा करने पर) समस्त व्याधियों से प्रपीड़ित भी व्यक्ति मुक्त हो जाता है इसमें सन्देह नहीं ॥ ३९-४० ॥

इस प्रकार = शिव आदि नव तत्त्वों का उक्त युक्ति से कुम्भ में ध्यान कर और पूजा कर उस कुम्भ से जो मनुष्य शिर पर अभिषिक्त होता है वह समस्त व्याधियों से पीड़ित हुआ भी मुक्त हो जाता है । यहाँ सितपद्मों से उद्गार = सुगन्ध है मुख में जिसके—यह (बहुव्रीहि) समास है ॥

प्रक्रियान्तस्थममृतमवतार्य पराच्छिवात् ॥ ४१ ॥
चतुर्नवामृताधारं नवधा नवपूरितम् ।
शतार्धक्षोभितं नित्यं षट्पञ्चैकसमन्वितम् ॥ ४२ ॥
अनन्ताधारगम्भीरमष्टात्रिंशद्विभूषितम् ।
पञ्चभिर्वा प्रसिद्ध्यर्थं पूर्णं तेन निरन्तरम् ॥ ४३ ॥
एवं ध्यानपरो यस्तु सबाह्याभ्यन्तरामृतम् ।
विक्षोभ्य कलशं मूर्ध्नि दैशिको मन्त्रतत्परः ॥ ४४ ॥
अनुग्रहपदावस्थो ह्यभिषिञ्चेत् प्रयत्नतः ।
स मुच्यते न सन्देहः संसाराद् दुरतिक्रमात्॥ ४५ ॥

प्रक्रियान्तस्थं समनान्ताध्वपर्यन्तगमुन्मनापरतत्त्वामृतम्, नित्यमुदितमनावृत-चिज्ज्योतीरूपम्: नित्यमविनाशि, न विद्यते आमयो माया यतस्तादृक्, ध्यात्वा समावेशयुक्त्या विमृश्य, तत एव परमशिवात्, अमृतमिति शाक्तानन्दम्, अवतार्य शिष्यशिरोऽवतीर्णं विचिन्त्य, तन्मन्त्रपूजितं परामृतपूर्णं कलशमुल्लास्य, एवमित्यु-भयामृतध्यानासक्तो मन्त्रराजपरामर्शपरोऽनुजिघृक्षुराचार्यो यस्य मूर्ध्नि सबाह्याभ्यन्तर-मेतदमृतं विकिरेत्, स मोक्षमाप्नोत्येव । कीदृगमृतमित्याह—चतुर्ये नव षट्त्रिंश-दर्थात् तत्त्वानि तान्येव—

'एकैकत्र च तत्त्वेऽपि षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपता ।'

प्रक्रियान्त में स्थित, नित्य, नित्योदित अनामय अमृत परम अमृत को पर शिव से (शिष्य के शिर में) उतार कर चार × नव = छत्तीस तत्त्वों के अमृत आधार को नव बार नव तत्त्वों अर्थात् ८१ तत्त्वों से पूरित पचास (अक्षरों) से क्षोभित, छह पाँच एवं एक से युक्त, अनन्त आधार के कारण गम्भीर सिद्धि के लिये ३८ वक्त्रों से अथवा पाँच (कलाओं) से विभूषित कलश को ध्यानस्थ अनुग्रहपद पर स्थित आचार्य बाहर और भीतर क्षोभित कर यदि साध्य का प्रयत्नपूर्वक अभिषेक करे तो निःसन्देह दुरतिक्रम संसार से मुक्त हो जाता है; इसमें सन्देह नहीं ॥ ४१-४५ ॥

प्रक्रियान्तस्थ = समनापर्यन्त पहुँचने वाला, उन्मनापरतत्त्व अमृत वाला; नित्योदित = अनावृत चिद्ज्योति रूप, नित्य = अविनाशी, अनामय = मायारहित शिवतत्त्व का ध्यान कर = समावेशयुक्ति से विमर्श कर, उसी परम शिव से, अमृत को = शाक्तानन्द को,उतार कर = शिष्य के शिर पर उतरा हुआ ध्यान कर, उस मन्त्र से पूजित परम् अमृत से पूर्ण कलश को उल्लासित कर, इस प्रकार दोनो अमृत के ध्यान में लगा हुआ, मन्त्रराज के परामर्श में लगा हुआ अनुग्रहेच्छु आचार्य जिसके शिर पर बाहर और भीतर इस अमृत का विकिरण करता है वह मोक्ष को प्राप्त करता ही है । वह अमृत कैसा है ?—यह कहते हैं—

इति च स्थित्याऽमृतानि तेषामाधारमाश्रयम्, तथा नवधा यानि नवनवात्म-व्योमव्याप्यादिप्रक्रियया एकाशीतिः पदानि तैः पूरितं संपूर्णं व्याप्तम्, तथा शतार्धेन पञ्चाशता आदिक्षान्तैर्वर्णैः क्षोभितं व्याप्तिं भावितम्, तथा षड्भिरङ्गैः पञ्चभिर्वक्त्रैरेकेन च मूलेन सम्यगन्वितं श्रीस्वच्छन्दाद्युक्तसाध्यमन्त्रसंहिता-पूर्णम्, तथा अनन्तैः कालाग्न्याद्यनाश्रितान्तैराधारैर्भुवनैरन्तर्ध्यातैर्गम्भीरमपरिच्छेद्यम्, तथा अष्टात्रिंशता वक्त्रपञ्चककलाभिर्विभूषितम्, तेनेत्यनेन षड्विधेनाध्वना निरन्तरं पूर्णम्, अत एव प्रसिद्धिः प्रकृष्टा भुक्तिमुक्तिलक्षणा सिद्धिरर्थः प्रयोजनं यस्य ॥ ४५ ॥

अतश्च योऽनेनाभिषिच्यते—

आयुर्बलं जयः कान्तिर्धृतिर्मेधा वपुः श्रियः ।
सर्वं प्रवर्तते तस्य............

प्रकर्षेण वर्तते पुष्यतीत्यर्थः ॥

तथा—

................भूभृतां राज्यमुत्तमम् ॥ ४६ ॥

प्रवर्तते ॥ ४६ ॥

'एक-एक तत्त्व ३६ तत्त्वों के रूप वाले होते हैं ।'

इस नियम के अनुसार अमृतों का आधार = आश्रय, है । नव प्रकार के जो नव नवात्म व्योमप्रक्रिया (अर्थात् ९×९ वाली प्रक्रिया) के अनुसार इक्यासी पद[1] उनसे पूरित = पूर्ण = व्याप्त है । तथा शतार्द्ध = पचास 'अ' से लेकर 'क्ष' तक तथा एक मूल से सम्यक्तया युक्त अर्थात् स्वच्छन्दतन्त्र आदि में उक्त साध्यमन्त्र संहिता से पूर्ण है । अनन्त कालाग्निरुद्र भुवन से लेकर अनाश्रित शिवपर्यन्त आधारों = अन्तर्ध्यात भुवनों, से गम्भीर = अपरिच्छेद्य, है । अँड़तीस = पाँचमुख और कलाओं से विभूषित हैं । उससे = छह प्रकार के अध्वा से, निरन्तर पूर्ण है । इसलिये प्रसिद्धि = प्रकृष्ट भुक्तिमुक्तिलक्षण वाली, सिद्धि = प्रयोजन वाला, है ॥ ४५ ॥

इसलिये जो इसके द्वारा अभिषिक्त होता है—

उसको आयु, बल, जय, कान्ति, धैर्य, मेधा, शरीर, शोभा सब कुछ मिल जाता है ॥ ४६- ॥

तथा राजाओं को उत्तम राज्य मिलता है ॥ ४६ ॥

प्रवर्तित होता है ॥ ४५ ॥

---

१. द्रष्टव्य—तत्त्वप्रकाश के पाँचवें श्लोक की व्याख्या ।

किं च—

दुःखार्दितो विदुःखस्तु व्याधिमान् गतरुग्भवेत् ।
वन्ध्या तु लभते पुत्रं कन्या तु पतिमावहेत् ॥ ४७ ॥

एतत्कलशाभिषेकात् सर्वोऽभीष्टफलमाप्नोतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

यदाह—

यान् यान् समीहते कामाँस्तान् सर्वान् ध्रुवमाप्नुयात् ।

तदित्थम्—

अभिषेकस्य माहात्म्यं विधानविहितस्य तु ॥ ४८ ॥
कथितं ते मया देवि प्रजानां हितकाम्यया ।
अन्यशास्त्रोपचारेण..........

शास्त्रान्तरव्यवहारेण ॥ ४८ ॥

तदित्थमभिषेकात् साध्यः

..........सर्वशान्त्यरहो भवेत् ॥ ४९ ॥

और भी—

दुःख से पीड़ित व्यक्ति दुःखरहित तथा रोगी नीरोग हो जाता है । वन्ध्या स्त्री पुत्र एवं कन्या पति प्राप्त करती है ॥ ४७ ॥

तात्पर्य यह है कि इस कलश से अभिषेक होने पर सब लोग अभीष्टफल की प्राप्ति करते हैं ॥ ४७ ॥

जैसा कि कहते हैं—

साधक जिन-जिन इच्छाओं को करता है उन-उन इच्छाओं की पूर्त्ति निश्चित होती है ॥ ४७- ॥

तो इस प्रकार—

हे देवि ! प्रजाओं के हित की इच्छा से मैंने अन्यशास्त्र के व्यवहार के अनुसार विहित अभिषेक की महिमा तुमको बतला दी ॥ ४८- ॥

शास्त्रान्तर व्यवहार से ॥ ४८ ॥

तो इस प्रकार अभिषेक के कारण साध्य—

समस्त शान्ति के योग्य होता है ॥ -४९ ॥

'अर्ह' शब्द के स्थान पर 'अरह' पाठ ईश्वरीय है ॥ ४९ ॥

अर्हशब्दस्थाने अरह इति शब्द ऐशः ॥

एतदुपसंहरन् अन्यदवतारयति—

एवं स्थूलं विधानं तु सूक्ष्मं चैवाधुना शृणु॥ ५० ॥

अनेनाधिकारेण स्थूलध्यानमुक्तम्, भाविना तु सप्तमेन सूक्ष्ममुच्यते, इति शिवम् ॥ ५० ॥

समस्तदुःखदलनं सर्वसंपत्प्रवर्तनम् ।
परनिर्वाणजननं नयनं शाङ्करं नुमः ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योते साधनविधिः षष्ठोऽधिकारः ॥ ६ ॥

इसका उपसंहार करते हुए अन्य को अवतारित करते हैं—

इस प्रकार स्थूल विधान कहा गया । अब सूक्ष्म को सुनो ॥ ५० ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के षष्ठ अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ६ ॥

इस अधिकार के द्वारा स्थूल ध्यान कहा गया । भावी सप्तम अधिकार से सूक्ष्म कहा जायगा ॥

समस्त दुःखों का नाश करने वाले समस्त सम्पत्ति को देने वाले और परिनिर्वाण के जनक शाङ्कर नेत्र को हम नमस्कार करते हैं ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के षष्ठ अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ६ ॥

सप्तमोऽधिकारः

* नेत्रोद्योतः *

चक्राधारवियल्लक्ष्यग्रन्थिनाड्यादिसंकुलम् ।
स्वामृतैर्देहमासिञ्चत् स्मराम्यूर्ध्वेक्षणं विभोः ॥

अथ सूक्ष्मध्यानं निर्णेतुं भगवानुवाच—

अतः परं प्रवक्ष्यामि ध्यानं सूक्ष्ममनुत्तमम् ।

—न विद्यते उत्तममन्यत् सूक्ष्मध्यानं यतः, परं त्वतोऽप्युत्तमं भविष्यति ॥

तदुपक्रमते—

ऋतुचक्रं स्वराधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ॥ १ ॥

---

* ज्ञानवती *

षट्चक्रं रविग्रन्थिलक्ष्यत्रितयं धामत्रयादीनि यः
सम्यम् वेत्ति सुयोगविच्च सततं यो वेत्ति नाडीगणम् ।
तं योगप्रवणं विशुद्धवपुषं यन्मोचयेद् बन्धना-
न्नेत्रं नित्यमनन्तशक्ति शिवयोर्मोक्षप्रदं तन्नुमः ॥

चक्र, आधार, व्योम, लक्ष्य, ग्रन्थि, नाडी आदि से व्याप्त देह को अपने अमृत से सिञ्चित करने वाले, परमात्मा के नेत्र का हम स्मरण करते हैं ।

अब सूक्ष्म ध्यान का निर्णय करने के लिये भगवान् ने कहा—

इसके बाद (मैं) उत्तमोत्तम सूक्ष्म ध्यान को कहूँगा ॥ १- ॥

अनुत्तम का अर्थ है—जिससे बढ़कर कोई दूसरा सूक्ष्म ध्यान नहीं है । पर ध्यान तो इससे भी उत्तम होगा ॥

उसका उपक्रम करते हैं—

ग्रन्थिद्वादशसंयुक्तं शक्तित्रयसमन्वितम् ।
धामत्रयपथाक्रान्तं नाडित्रयसमन्वितम् ॥ २ ॥
ज्ञात्वा शरीरं सुश्रोणि दशनाडिपथावृतम् ।
द्वासप्तत्या सहस्रैस्तु सार्धकोटित्रयेण च ॥ ३ ॥
नाडिवृन्दैः समाक्रान्तं मलिनं व्याधिभिर्वृतम् ।
सूक्ष्मध्यानामृतेनैव परेणैवोदितेन तु ॥ ४ ॥
आप्यायं कुरुते योगी आत्मनो वा परस्य च ।
दिव्यदेहः स भवति सर्वव्याधिविवर्जितः ॥ ५ ॥

ऋतवः षट् जन्म-नाभि-हृत्-तालु-विन्दु-नादस्थानानि नाडिमायायोगभेदनदीप्तिशाण्ताख्यानि नाडिमायादिप्रसराश्रयत्वात् चक्राणि यत्र, स्वराः षोडश अङ्गुष्ठ-गुल्फ-जानु-मेढ्र-पायु-कन्द-नाडि-जठर-हृत-कूर्मनाडी-कण्ठ-तालु-भ्रूमध्य-ललाट-ब्रह्मरन्ध्रद्वादशान्ताख्या जीवस्याधारकत्वादाधारा यत्र, यदि वा सर्वसहत्वादस्य नयस्य कुलप्रक्रियया—

'मेढ्रस्याधः कुलो ज्ञेयो मध्ये तु विषसंज्ञितः ।
मूले तु शाक्तः कथितो बोधनादप्रवर्तकः ॥
अग्निसंज्ञस्ततश्चोर्ध्वमङ्गुलानां चतुष्टये ।

हे सुन्दरनितम्बों वाली ! इस शरीर को ऋतुचक्र, स्वराधार, तीन लक्ष्य, पाँच आकाश, बारह ग्रन्थियों, तीन शक्तियों, तीन धामपथों, तीन नाडियों, दश नाडीपथों, बहत्तर हजार और साढ़े तीन करोड़ नाडियों से युक्त, व्याधियों से पीड़ित और मलिन समझकर योगी पर उदित सूक्ष्म ध्यानामृत से सींचता है तो चाहे अपना शरीर हो या दूसरे का, (वह) समस्त व्याधियों से रहित दिव्य हो जाता है ॥ -१-५ ॥

यह शरीर ऋतु = छह, चक्रों वाला है । वे चक्र जन्मस्थान (= मूलाधार), नाभि, हृदय, तालु, बिन्दु और नाद में रहते हैं । उनके नाम हैं—नाडी, माया, योग, भेदन, दीप्ति और शान्त । यतो हि वे जन्मस्थान आदि नाडी माया आदि के प्रसरस्थान हैं इसलिये चक्र हैं । स्वरों की संख्या सोलह है—पैर का अङ्गूठा, टखना, जाँघें, मेढ्र (= नाभि और लिङ्ग के बीच का भाग) पायु (= मलद्वार), कन्द (= मेढ्र के ऊपर और नाभि के नीचे पक्षी के अण्डे के समान वह अवयव जहाँ से ७२००० नाड़ियाँ निकलती हैं), नाडी, पेट, हृदय, कूर्म नाडी, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त । ये जीव के आधार के होने के कारण आधार कहे जाते हैं । अथवा यह शास्त्र सब के सिद्धान्तों को मानने वाला है इसलिये कौल मत के अनुसार—

'मेढ्र के नीचे कुल (१) मध्य में विष (२) मूल में बोधनाद का प्रवर्त्तक (३)

नाभ्यध: पवनाधारे नाभावेव घटाभिध: ॥
नाभिहृन्मध्यमार्गे तु सर्वकामाभिधो मत: ।
सञ्जीवन्यभिधानाख्यो हृत्पद्मोदरमध्यग: ॥
वक्ष:स्थले स्थित: कूर्मो गले लोलाभिध: स्मृत: ।
लम्भकस्य स्थितश्चोर्ध्वे सुधाधार: सुधात्मक: ॥
तस्यैव मूलमाश्रित्य सौम्य: सोमकलावृत: ।
भ्रूमध्ये गगनाभोगे विद्याकमलसंज्ञित: ॥
रौद्रस्तालुतलाधारो रुद्रशक्त्या त्वधिष्ठित: ।
चिन्तामण्यभिधानाख्यश्चतुष्पथनिवासि यत् ॥
ब्रह्मरन्ध्रस्य मध्ये तु तुर्याधारस्तु मस्तके ।
नाड्याधार: पर: सूक्ष्मो घनव्याप्तिप्रबोधक: ॥
इत्युक्ता: षोडशाधारा:........................... ॥' इति ।

त्रीण्यन्तर्बहिरुभयरूपाणि लक्ष्याणि लक्षणीयानि यत्र । निरावरणरूपत्वात्

'खमनन्तं तु जन्माख्यं ।' (७।२७)

इति वक्ष्यमाणानां जन्म-नाभि-हृद्-बिन्दु-नादरूपाणां व्योम्नां पञ्चकं विद्यते यत्र,

'जन्ममूले तु मायाख्यो ।' (७।२७)

इत्यभिधास्यमानाश्चैतन्यावृतिहेतुत्वाद् ग्रन्थयो माया-पाशव-ब्रह्म-विष्णु-रुद्र-ईश्वर-

---

उसके चार अंगुल ऊपर अग्नि (४) नाभि के नीचे पवनाधार नाभि में ही घट नामक आधार है (५) नाभिहृदय के मध्यमार्ग में सर्वकाम (६) हृदयकमल के बीच सञ्जीवनी (७) वक्ष:स्थल में कूर्म (८) गले में लोल (९) लम्बिका के ऊपर सुधापूर्ण सुधाधार (१०) उसके मूल में सोंमकला से युक्त सौम्य (११) गगन के समान विस्तृत भ्रूमध्य में विद्याकमल (१२) तालु के तल में रुद्रशक्ति से समन्वित रौद्र (१३) चतुष्पथ में रहने वाला चिन्तामणि (१४) ब्रह्मरन्ध्र के मध्य में तुर्याधार (१५) मस्तक में नाड्याधार (१६) है जो कि पर सूक्ष्म और घनव्याप्ति का प्रबोधक है । इस प्रकार सोलह आधार कहे गये ॥'

तीन लक्ष्य = अन्दर-बाहर और उभय रूप लक्षणीय है जिसमें वह । आवरणरहित होने के कारण—

'जन्म नामक आकाश अनन्त है ।' (७-२७)

इस प्रकार वक्ष्यमाण जन्मस्थान, नाभि, हृदय, बिन्दु और नादरूप पाँच आकाश उस शरीर में हैं ।

'जन्म के मूल में माया नामक ग्रन्थि है ।' (७-२७)

सदाशिव-इन्धिका-दीपिका-बैन्दव-नाद-शक्त्याख्या ये पाशास्तैः संयुक्तम् । इच्छादिना शक्तित्रयेण सम्यगन्वितमेषणीयादिविषये प्रवर्तमानम् । सोम-सूर्य-वह्निरूप-धामत्रयपथैः सव्यापसव्यपवनैर्मध्यमपवनेन चाधिष्ठितम् । इडापिङ्गलासुषुम्नाख्येन पवनाश्रयेण नाडित्रयेण युक्तम् । गान्धारी-हस्तिजिह्वा-पूषा-यशा-अलम्बुसा-कुहू-शङ्खिनीभिश्च युक्तत्वाद् दश नाडयः पन्थानो येषां प्राणापानसमानोदानव्याननाग-कूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जयाख्यास्तैः आ समन्ताद् वृतमोतप्रोतम् । दिग्दशकावस्थित-नाडिदशकप्रपञ्चभूताभिर्द्वासप्तत्या सहस्रैर्मध्यव्याप्त्या सार्धकोटित्रयेण च महा-व्याप्त्या नाडिवृन्दैः समाक्रान्तम् । आणवमायीयकार्ममलयोगान्मलिनम् । योगिना-मपि—

'येनेदं तद्धि भोगतः ।'

इति स्थित्यावश्यंभाविक्रोडीकृतं शरीरं ज्ञात्वा योगी यस्य आत्मनः परस्य वा, परेणैवेति पररूपतामनुज्झतापि समनन्तरभाविना सूक्ष्मध्यानामृतेनोदितेन स्फुटीभूतेनाप्यायं करोति, स गतव्याधिर्दिव्यदेह इति सूक्ष्मध्यानामृतोन्मिषच्छाक्त-मूर्तिर्भवति ॥ ५ ॥

इस प्रकार आगे कही जाने वाली, चैतन्य का आवरक होने से ये ग्रन्थियाँ हैं, जिनके नाम हैं—माया, पाशव, ब्रह्म, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, इन्धिका, दीपिका, वैन्दव, नाद और शक्ति, इन पाशों से युक्त, इच्छा आदि (= ज्ञान और क्रिया) इन तीन शक्तियों से युक्त अर्थात् एषणीय आदि विषय में प्रवर्त्तमान सोम सूर्य वह्नि रूप तीन तेजरूपी रास्ते अर्थात् दायें बायें तथा बीच के पवन से अधिष्ठित है । वायु के आधार इडा पिङ्गला सुषुम्ना नामक तीन नाडियों से (यह शरीर) युक्त है । (इडा आदि के सहित) गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशा, अलम्बुसा, कूहू और शंखिनी इन दश नाडी रूपी पथ वाले प्राण, अपान, समान, उदान व्यान तथा नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय नामक वायु से ओत-प्रोत है । ये दशों नाडियाँ शरीर की दशो दिशाओं में व्याप्त हैं । इन्हीं का विस्तार ७२ हजार नाडियाँ हैं और साढ़े तीन करोड़ नाडियाँ भी महाव्याप्ति कर इस शरीर में वर्त्तमान हैं । यह शरीर आणव मायीय और कार्ममल से युक्त होने के कारण मलिन है ।

योगियों का भी शरीर

'जिससे यह (शरीर) है वह भोग के कारण ।'

इस स्थिति के कारण अवश्यभवनीयता के द्वारा आक्रान्त है । शरीर को उक्त प्रकार से जानकर जब योगी अपने या दूसरे के शरीर की पररूपता को न छोड़ते हुए भी समनन्तरभावी उदित = स्फुटीभूत, सूक्ष्म ध्यानामृत के द्वारा (इसका) आप्यायन करता है तो वह (अपना या दूसरे का शरीर) व्याधिरहित दिव्य देह हो जाता है अर्थात् सूक्ष्म ध्यान के अमृत से उन्मिषत् शाक्त शरीर वाला हो जाता

'सूक्ष्मध्यानामृतेनैव परेणैवोदितेन ।'

इति यदुक्तं तत्सोपक्रमं स्फुटयति—

यत्स्वरूपं स्वसंवेद्यं स्वस्थं स्वव्याप्तिसंभवम् ।
स्वोदिता तु परा शक्तिस्तत्स्था तद्गर्भगा शिवा॥ ६ ॥
तां वहेन्मध्यमप्राणे प्राणापानान्तरे ध्रुवे ।
अहं भूत्वा ततो मन्त्रं तत्स्थं तद्गर्भगं ध्रुवम् ॥ ७ ॥
स्वोदितेन वरारोहे स्पन्दनं स्पन्दनेन तु ।
कृत्वा तमभिमानं तु जन्मस्थाने निधापयेत् ॥ ८ ॥
भावभेदेन तत्स्थानान्मूलाधारे नियोजयेत् ।
नादसूच्या प्रयोगेन वेधयेत् सूक्ष्मयोगतः ॥ ९ ॥
आधारषोडशं भित्त्वा ग्रन्थिद्वादशकं तथा ।
मध्यनाडिपथारूढो वेधयेत् परमं ध्रुवम् ॥ १० ॥
तत्प्रविश्य ततो भूत्वा तत्स्थोऽसौ व्यापकः शिवः ।
सर्वामयपरित्यागान्निष्कलाक्षोभशक्तितः ॥ ११ ॥
पुनरापूर्य तेनैव मार्गेण हृदयान्तरम् ।
तत्र प्रविष्टमात्रं तु ध्यायेल्लब्धं रसायनम् ॥ १२ ॥

है ॥ ५ ॥

'सूक्ष्म ध्यानामृत से उदित पर से'—

यह जो कहा गया उसी को उपक्रम के साथ स्पष्ट करते हैं—

जो स्वरूप स्वसंवेद्य स्वस्थ और स्वव्याप्ति से उत्पन्न है पराशक्ति शिवा उसमें स्थित उसके गर्भ में वर्त्तमान तथा स्वयं उदित है । उस (= शिवा) को प्राण और अपान के बीच वर्त्तमान ध्रुव मध्यम प्राण में ले जाना चाहिये । हे वरारोहे ! इसके बाद उसके गर्भ में वर्त्तमान ध्रुवमन्त्र को अहं के रूप में होकर स्वोदित स्पन्दन से स्पन्दित कर उस अभिमान (= वीर्य) को जन्मस्थान में स्थापित कर देना चाहिये । भाव का भेदन कर उसे मूलाधार में जोड़ देना चाहिये । फिर सूक्ष्म योग से नादरूपी सूची के द्वारा प्रयोग कर उसका वेधन करे । तत्पश्चात् षोडशाधार एवं द्वादशग्रन्थियों का भेदन कर मध्य नाडीपथ पर आरुढ़ होकर परम ध्रुव का भेदन करे । पुनः उसमें प्रवेश कर उसमें स्थित हुआ यह (= साधक) समस्त रोग का परित्याग करने के कारण निष्कल अक्षोभ शक्ति के कारण व्यापक शिव हो जाता है । तत्पश्चात् उसी मार्ग से हृदय के मध्य को आपूरित कर उसमें प्रविष्ट होकर रसायन को प्राप्त हुआ ध्यान करे । विश्राम का अनुभव

विश्रामानुभवं प्राप्य तस्मात् स्थानात् प्रवाहयेत् ।
सर्वं तदमृतं वेगात् सर्वत्रैव विरेचयेत् ॥ १३ ॥
अनन्तनाडिभेदेन अनन्तामृतमुत्तमम् ।
अनन्तध्यानयोगेन परिपूर्य पुरं स्वकम् ॥ १४ ॥
अजरामरस्ततो भूत्वा सबाह्याभ्यन्तरं प्रिये ।
एवं मृत्युजिता सर्वं सूक्ष्मध्यानेन पूरितम् ॥ १५ ॥
ततोऽसौ सिद्ध्यति क्षिप्रं सत्यं देवि न चान्यथा ।

यदिति प्रथमाधिकारनिर्दिष्टपरधामात्मवीर्यम्, स्वरूपमिति विशेषानिर्देशात् सर्वस्य, स्वसंवेद्यं स्वप्रकाशम् न तु स्वसंवेदनान्यप्रमाणप्रमेयम्,

'तस्य देवातिदेवस्य परापेक्षा न विद्यते ।
परस्य तदपेक्षत्वात् स्वतन्त्रोऽयमतः स्थितः ॥'

इति कामिकोक्तनीत्याऽस्य भगवतः प्रमाणागोचरत्वात् अत एव स्वतन्त्रात्मन्यवतिष्ठते न त्वन्यत्र तद्विविक्तस्यान्यस्याभावात्, प्रत्युतान्यद्विश्वं तद्व्याप्तत्वात्तन्मयमेव संभवतीत्याह—स्वव्याप्तिसंभवम्, स्वव्याप्त्या संभवो विश्वरूपतयोन्मज्जनं यस्य । अस्य च भगवतः परा स्वातन्त्र्यात्मा शक्तिः स्वा अव्यभिचारिणी चासौ उदिता प्रस्फुरद्रूपा, तत्रैव च भगवद्रूपे स्थिता, न चाधाराधेयभावेन, अपि तु सामरस्येने-

---

कर उस स्थान से समस्त अमृत को वेग के साथ सर्वत्र शरीर में प्रवाहित करे। अनन्त ध्यान के साथ अनन्त नाडी के भेद से अनन्त उत्तम अमृत से अपने शरीर को पूरित करे। हे प्रिये ! इसके बाद बाहर भीतर सर्वत्र अजर अमर होकर मृत्युजित् के द्वारा सब कुछ सूक्ष्म ध्यान से पूरित करे । इस प्रकार यह (= साधक) शीघ्र सिद्ध हो जाता है । यह कथन अन्यथा नहीं है ॥ ६-१६- ॥

जो = प्रथम अधिकार से निर्दिष्ट पर तेज रूप वीर्य । स्वरूप = विशेष का निर्देश न होने से सबका रूप । स्वसंवेद्य = स्वप्रकाश न कि स्वसंवेदन से भिन्न प्रमाण से प्रमेय ।

'उस देवातिदेव को दूसरे की अपेक्षा नहीं होती । (इसके विपरीत) दूसरे को उसकी अपेक्षा होने से यह स्वतन्त्ररूप में स्थित है ।'

कामिक तन्त्र में कथित इस नीति के अनुसार यह भगवान् दूसरे किसी भी प्रमाण के विषय नहीं होते हैं । इसलिये ये स्वतन्त्र अपने में ही स्थित रहते हैं न कि अन्य में, क्योंकि उनसे भिन्न कोई दूसरा नहीं होता है । उल्टे अन्य विश्व उनसे व्याप्त होने के कारण तन्मयरूप में उत्पन्न होता है—यह कहते हैं—स्वव्याप्तिसम्भव । स्वव्याप्ति से, सम्भव = विश्व के रूप में उन्मज्जन, है जिसका (वह परधाम) । इस भगवान् की परा = स्वातन्त्र्यरूपा शक्ति स्वा = अव्यभिचारिणी

त्याह—तद्गर्भगा । अतश्च शिवा परमार्थशिवाभिन्नरूपत्वात् शिवा । एवं परं रूपं भित्तिभूतत्वेन प्रकाश्य सूक्ष्मध्यानं वक्तुमुपक्रमते—तामित्यादिना । तां परां चितिशक्तिम्, मध्यमप्राणे सुषुम्नास्थोदानाख्यप्राणब्रह्मणि, वहेत् निमज्जितप्राणापान-व्याप्तिं उन्मग्नतया विमृशेत् । कथम् ? अहं भूत्वा, देहादिप्रमातृताप्रशमनेन पूर्णाहन्तामाविश्येत्यर्थ: । तत उक्तवक्ष्यमाणवीर्यव्याप्तिकं मूलमन्त्रं तत्स्थं तद्गर्भ-गमिति पराशक्तिसामरस्यमयम्, अत एव स्पन्दनमिति सामान्यस्पन्दरूपं कृत्वा कथं ? स्वोदितेन स्पन्दनेन अप्राणाद्यवष्टम्भेन । एवं मन्त्रवीर्यसारमामृश्य तमभि-मानं तदसामान्यचमत्कारमयं स्वं वीर्यं जन्माधारे आनन्दचक्रे निधापयेत् प्रतिष्ठा-पयेत् । कथम् ? भावस्य देहप्राणादिमिताभिमानमयस्य भेदेन प्रशमनेन । ततोऽपि मूलाधारे कन्दे तमभिमानं भावभेदेनैव नियोजयेद् निरूढं कुर्यात् । ततोऽपि स्फुरत्तोन्मिषत्तारूपमन्त्रनाथप्राणसूच्या हेतुना कृतो य: प्रकृष्ट: क्रमात्क्रम-मूर्ध्वारोहात्मा योगस्तेन । तथा सूक्ष्मयोगत इति—उन्मिषत्स्फुरत्तोत्तेजनप्रकर्षेण । मध्यनाडीपथमारूढ: पूर्वोद्दिष्टकुलशास्त्रादिष्टमाधारषोडशकं तथोपक्रान्तनिर्णेष्यमाणं ग्रन्थिद्वादशकं च भित्त्वा परमं ध्रुवं द्वादशान्तधाम वेधयेदाविशेत् । तच्च प्रविश्य,

---

तथा उदित = नित्य प्रस्फुरद् रूपा होती है । यह उसी भगवत् रूप में स्थित होती है वह भी आधाराधेय भाव से नहीं बल्कि समरसता के साथ होती है । 'तद्गर्भगा' पद से यही कहा गया । इसलिये परमार्थ शिव से अभिन्नरूपा होने के कारण वह शिवा है । इस प्रकार पररूप को आधार के रूप में प्रकाशित कर सूक्ष्म ध्यान को बतलाने का उपक्रम करते हैं—उसको इत्यादि । उसको = परा चिति शक्ति को । मध्यमप्राण में = सुषुम्ना में स्थित उदान नामक प्राणब्रह्म में । वहन करे = निमज्जित प्राणअपान व्याप्ति का उन्मग्न के रूप में विमर्श करना चाहिए । कैसे ?—अहं होकर = देहादिप्रमातृता को शान्त कर पूर्ण-अहन्ता में आविष्ट होकर । इसके बाद उक्त वक्ष्यमाण व्याप्ति वाले मूल मन्त्र और उसमें स्थित उसके गर्भ में वर्त्तमान पराशक्तिसामरस्यमय इसीलिये स्पन्दन = सामान्य स्पन्दन रूप बनाकर । यह कैसे होगा (इसके उत्तर में कहते हैं—) स्वोदित स्पन्दन से अप्राण आदि के अवष्टम्भन से । इस प्रकार मन्त्रवीर्य के सामरस्य का आमर्शन कर उस अभिमान को = उस असामान्य चमत्कारमय अपने वीर्य को, जन्माधार = आनन्दचक्र, में, स्थापित करना चाहिए । कैसे ?—देह प्राण आदि परिमित अभिमानमय भाव के भेदन = प्रशमन से । इसके बाद मूलाधार में = कन्द में, उस अभिमान को भावभेद के द्वारा ही नियोजित करे = निरूढ़ बनाये । इसके बाद स्फुरत्ता उन्मिषत्ता रूप मन्त्रनाथप्राणसूची के द्वारा किया गया जो प्रकृष्ट = क्रमश: ऊर्ध्वारोहण रूप, योग उससे तथा सूक्ष्म योग से = उन्मिषत् स्फुरत्तोत्तेजन प्रकर्ष के द्वारा, मध्यनाडीपथ पर आरूढ़ (साधक) पूर्व में वर्णित कुलशास्त्र में कथित सोलह आधारों तथा उपक्रान्त निर्णेष्यमान बारह ग्रन्थियों का भेदन कर परम ध्रुव द्वादशान्त धाम का वेध करना चाहिए = उसमें आविष्ट हो जाय । और उसमें प्रविष्ट होकर

सर्वस्यामयस्य महामायापर्यन्तस्य बन्धस्य परित्यागात्, तत्रैव ध्रुवपदे स्थितः सन्, व्यापको नित्योदितपराशक्तिसमरसः परमशिवैकरूपो भूत्वा, तेनैव द्वादशान्तादन्तःप्रसृतेन मध्यमेन मार्गेण हृदयमध्यमापूर्य परानन्दप्रसरणाच्छुरितं कृत्वा, तत्र हृदि प्रविष्टमात्रं तत् परमानन्दरूपं रसायनमासादितं ध्यायेद्विमृशेत् तावद्यावत्तत्र विश्रान्तिमेति, ततस्तस्माद्धृदयादुच्छलितं तदमृतं प्रवाहयेत् नानाप्रवाहाभिमुखं कुर्यात् । ततस्तेनैवामृतेन अनन्तनाडीप्रवाहप्रसृतेन बहलध्यानध्यातेन सबाह्याभ्यन्तरं स्वं पूरं देहं परिपूर्य तदनन्तरं सर्वममृतं वेगाद् द्रुतप्रवाहेन सर्वरोमरन्ध्रैः सर्वत्र गोचरे रेचयेद् अव्युच्छिन्नप्रवाहं प्रेरयेत् । एवं परवीर्यात्मना भगवता मृत्युजिता प्रोक्तसूक्ष्मशाक्तानन्दध्यानेन यदा सर्वमापूरितं चिन्तयति योगी तदासौ अजरामरो भूत्वा क्षिप्रं सिद्ध्यति मृत्युजिद्भट्टारकतामाप्नोति । नात्र प्रमातृसुलभः संशयः कार्यः ॥ १५ ॥

एवं शाक्तानन्दमार्गावष्टम्भात्मककौलिकप्रक्रियोक्ताधारादिभेदेन सूक्ष्मध्यानमुक्त्वा, स्थूलयुक्तिक्रमेण तन्त्रप्रक्रियोक्ताधारादिभेदेन पूर्णासितामृतकल्लोलचिन्तनात्मसूक्ष्मध्यानं वक्तुमुपक्रमते—

जन्मस्थाने समाश्रित्य स्पन्दस्थां मध्यमां कलाम् ॥ १६ ॥

सब आमय के = महामाया पर्यन्त बन्ध के, परित्याग से उसी ध्रुवपद में स्थित हुआ व्यापक = नित्योदित, परा शक्ति से समरस परशिव के साथ एक रूप होकर उसी = द्वादशान्त, से अन्तः फैले हुए मध्यमार्ग से हृदय के मध्य को पूरित कर = परानन्द के प्रसरण से अलङ्कृतकर, वहाँ = हृदय में, प्रविष्टमात्र उस = परम आनन्द रूप, रसायन को तब तक प्राप्त हुआ ध्यान करना चाहिए जब तक विश्रान्ति न मिल जाय । उसके बाद उस = हृदय, से उच्छलित उस अमृत को प्रवाहित करना चाहिए = अनेक दिशा में प्रवाहाभिमुख करना चाहिए । इसके बाद अनन्तनाडीप्रवाह से फैले हुए बहल (= दृढ़) ध्यान के द्वारा ध्यात उस अमृत से अपने शरीर को बाहर और भीतर पूरित कर बाद में समस्त अमृत को वेग से = द्रुत प्रवाह के साथ, समस्त रोमकूपों से सभी विषयों पर रेचन करना चाहिए = अव्युच्छिन्न प्रवाह के रूप में प्रेरित करना चाहिए । इस प्रकार योगी जब परवीर्यात्मक भगवान् मृत्युञ्जय के द्वारा प्रोक्त सूक्ष्म शाक्त आनन्द के ध्यान से सबको आपूरित चिन्तन करता है तब यह अजर अमर होकर शीघ्र सिद्ध हो जाता है = मृत्युञ्जयभट्टारक बन जाता है । इस विषय में प्रमातृसुलभ संशय नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥

इस प्रकार शाक्तानन्दमार्गावष्टम्भात्मक कौलिक प्रक्रिया में उक्त आधार आदि भेद से सूक्ष्म ध्यान का कथन कर स्थूल युक्ति के क्रम से तन्त्रप्रक्रियोक्त आधार आदि के भेद से पूर्ण असितामृतकल्लोलचिन्तनात्मक सूक्ष्म ध्यान को बतलाने का उपक्रम करते हैं—

तत्स्थं कृत्वा तदात्मानं कालाग्निं तु समाश्रयेत् ।
गत्वा गृहीतविज्ञानं वीर्यं तत्रैव निक्षिपेत् ॥ १७ ॥
तद्वीर्यापूरिता शक्तिः क्रियाख्या मध्यमोत्तमा ।
विज्ञानेनोर्ध्वतो भित्त्वा ग्रन्थिभेदेन चेच्छया ॥ १८ ॥
मूलस्पन्दं समाश्रित्य त्यक्त्वा वाहद्वयं ततः ।
मध्यमार्गप्रवाहिन्या सुषुम्नाख्यां समाश्रयेत् ॥ १९ ॥
तामेवाश्रित्य विरमेत्तत्सर्वेन्द्रियगोचरात् ।
तदा प्रत्यस्तमायेन विज्ञानेनोर्ध्वतः पुनः ॥ २० ॥
ब्रह्मादिकारणानां तु त्यागं कृत्वा शनैः शनैः ।
षण्णां शक्तिमतां प्राप्य कुण्डलाख्यां निरोधिकाम् ॥ २१ ॥
मायादिग्रन्थिभेदेन हृदादिव्योमपञ्चकम् ।

पूर्वं जन्मस्थानमानन्देन्द्रियमुक्तम् इह तु कन्दः, तत्र स्पन्दस्थामिति स्पन्दाविष्टाम्, मध्यमां कलां प्राणशक्तिमाश्रित्य मत्तगन्धस्थानसङ्कोचविकासाभ्यां शतश उन्मिषितां सूक्ष्मप्राणशक्तिमध्यास्य, आत्मानं मनस्तदवसरे तत्स्थं तन्निभालनैकाविष्टं कृत्वा, कालाग्निमिति पादाङ्गुष्ठाधारं गत्वा, समाश्रयेत् भावनयाध्यासीत । तत्रैव

जन्मस्थान में स्पन्दस्थ मध्यमा कला का आश्रयण कर, उसमें अपने को स्थित कर कालाग्नि का आश्रयण कर लेना चाहिये । वहीं पर गृहीत-विज्ञान वाले वीर्य का प्रक्षेप करना चाहिए । उस वीर्य से आपूरित क्रिया नामक शक्ति उत्तम (अतिशय से निर्गत होकर) मध्यमा हो जाती है । इच्छा और विज्ञान के द्वारा ऊपर से ग्रन्थिभेद से भेदन कर मूल स्पन्द में जाकर दोनों वाह (= इडा पिंगला) को छोड़कर मध्यमार्गप्रवाहिनी के द्वारा सुषुम्ना में पहुँचना चाहिये । उसका आश्रयण कर समस्त इन्द्रिय विषयों से विराम ले लेना चाहिये । फिर शान्तमाया वाले विज्ञान के द्वारा ऊपर से ब्रह्मा आदि कारणों का धीरे-धीरे त्याग कर (ब्रह्मा आदि) छह शक्तिमानों की कुण्डल नामक निरोधिका शक्ति को प्राप्त कर माया आदि ग्रन्थियों का भेदन कर हृदय आदि पाँच आकाश का त्याग कर विराम करना चाहिये ॥ -१६-२२- ॥

पहले श्लोकों में जन्मस्थान का अर्थ था—उपस्थेन्द्रिय, यहाँ जन्मस्थान का अर्थ है—कन्द । उसमें स्पन्दस्थ = स्पन्द से आविष्ट, मध्यमा कला = प्राण शक्ति का आश्रयण कर, मत्तगन्ध (= गुदा) के संकोचविकास के द्वारा सैकड़ों बार उन्मिषित सूक्ष्म प्राणशक्ति को अध्यासित कर, अपने को = अपने मन को, उस अवसर में तत्स्थ = उसके निभालन से आविष्ट, कर कालाग्नि = पैर के अंगूठे रूपी आधार, के पास जाकर, समाश्रयण करे = भावना से वहाँ स्थित हो । उसी

च गृहीतविज्ञानं वीर्यमिति कन्दभूम्यासादितं शाक्तस्पन्दात्म वीर्यं निक्षिपेद् भावना-प्रकर्षेण स्फुटयेत् । इत्थं तद्वीर्येत्युक्तवीर्येणापूरिता लब्धोदया, प्राणस्पन्दात्मा क्रियाशक्तिरुत्तमातिशयेनोद्गता सती मध्यमा भवति, समस्तदेहस्य नाभिर्मध्यं तत्र प्राप्ता जायते । कथम् ? इच्छया सङ्कोचक्रमोत्थोर्ध्वारोहणप्रयत्नेन, विज्ञानेन च भावनया, ऊर्ध्वत इत्युपरितनगुल्फजानुमेढ्रकन्दनाभ्याख्यानां ग्रन्थीनां भेदेन वेधन-व्यापारेण भित्त्वा, अर्थात् तान्येवोर्ध्वस्थानान्याक्रम्य 'भेदिता माण्डलिका भूभुजा,—इतिवदद्भिः (वद् भिदिः) स्वीकारार्थः । अथ मूलस्पन्दं समाश्रित्येति मत्तगन्धस्थानं विकासाकुञ्चनपरम्परापुरःसरं निरोध्य । एतच्च श्रीस्वच्छन्दोक्तदिव्य-करणोपलक्षणपरम् । अत एव वाहद्वयं पार्श्वनाड्यौ त्यक्त्वा परिहृत्य, तत इति प्रोक्तेच्छाज्ञानावष्टम्भयुक्त्या, मध्यमार्गप्रवाहिण्या प्रोक्तया मध्यप्राणब्रह्मशक्त्या सुषुम्नाख्यां नाडीं सम्यगाश्रयेत् । तामाश्रित्य तत इत्यभ्यस्तात् सर्वेन्द्रिय-गोचराद्विरमेद् अन्तर्मुखीकृतसर्वेन्द्रियस्तिष्ठेत् । तदा च प्रत्यस्ता प्रतिक्षिप्ता माया प्राणादिप्रधानतात्माख्यातिर्येन तादृशा, प्रकाशानन्दात्मना ज्ञानेन हृत्कण्ठादिगत-सृष्ट्यादिसंवित्स्वभावब्रह्मादिकारणानि क्रमात् त्यक्त्वा, वक्ष्यमाणमायादिग्रन्थिभेदेन सह हृदादिव्योमपञ्चकं च त्यक्त्वा, षण्णां ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवशिवाख्यानां कारणानामूर्ध्वत ऊर्ध्वे स्थितां कुण्डलाख्यां शक्तिं शून्यातिशून्यान्तमशेष-

---

में गृहीतविज्ञान = कन्दभूमि से प्राप्त शाक्तस्पन्दात्मक वीर्य, का निक्षेप करे = भावना के प्रकर्ष से स्फुट करें । इस प्रकार उस = उक्त वीर्य, से आपूरित = उदय को प्राप्त, प्राणस्पन्दात्मक क्रियाशक्ति उत्तम अतिशय से उद्गत होती हुई मध्यम हो जाती है = समस्त देह का मध्य जो नाभि, उसमें पहुँच जाती है । कैसे ? इच्छा के द्वारा संकोच क्रम से उठे हुए । ऊर्ध्वतः = (पादाङ्गुष्ठ के) ऊपर गुल्फ, जानु, मेढ्र, कन्द, नाभि नामक ग्रन्थियों के भेदन = वेधनव्यापार के द्वारा भिन्न कर, अर्थात् उन-उन ऊर्ध्व स्थानों को आक्रान्त कर । यहाँ भिद् धातु स्वीकार अर्थ में है । जैसे कि—'राजा के द्वारा माण्डलिक लोग भेदित (= स्वीकृत) हुए ।' इसके बाद मूलस्पन्द का आश्रयण कर = मत्तगन्धस्थान का विकास एवं संकोच परम्परा के द्वारा निरोध कर । यह स्वच्छन्दतन्त्र में वर्णित दिव्यकरण का उपलक्षण है । इसलिये दोनों वाह (इडा पिङ्गला) वाली = पार्श्वनाडी, को छोड़कर उक्त इच्छा ज्ञान के अवष्टम्भ की युक्ति से मध्यमार्ग में बहने वाली उक्त मध्यप्राण ब्रह्मशक्ति के द्वारा सुषुम्ना नाड़ी का आश्रयण करे । इसका आश्रयण कर पूर्व में अभ्यस्त समस्त इन्द्रियविषयों से विराम कर ले । अर्थात् समस्त इन्द्रियों को अन्तर्मुखी कर ले । इसके बाद माया अर्थात् प्राण आदि को आत्मा मानने के अज्ञान को नष्ट करने वाले प्रकाशानन्दरूप ज्ञान के द्वारा हृदय कण्ठ आदि में रहने वाले संवित्स्वभाव रूप ब्रह्मा विष्णु आदि कारणों को क्रमशः त्यक्त कर वक्ष्यमाण माया आदि ग्रन्थियों को भिन्न करने के साथ-साथ हृदय आदि पाँच आकाशों को छोड़कर, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और अनाश्रित शिव

विश्वगर्भाकारात्मककुण्डलरूपतयावस्थितां समनाख्यां शक्तिं प्राप्य, विज्ञानेनोर्ध्वं विरमेद् उन्मनापरतत्त्वात्मतामाविशेदिति दूरेण संबन्ध: । विरमेदिति पूर्वस्थमिहापि योज्यम् ॥

तत्र निर्भेद्यग्रन्थ्यादीनां स्वरूपं तावत्क्रमेणादिशति—

जन्ममूले तु मायाख्यो ग्रन्थिर्जन्मनि पाशव: ॥ २२ ॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिव: ।
कारणस्थास्तु पञ्चैवं ग्रन्थय: समुदाहृता: ॥ २३ ॥
इन्धिकाख्यस्तु यो ग्रन्थिर्द्विमार्गाशमन: शिव: ।
तदूर्ध्वे दीपिका नाम तदूर्ध्वे चैव बैन्दव: ॥ २४ ॥
नादाख्यस्तु महाग्रन्थि: शक्तिग्रन्थिरत: पर: ।

जन्ममूलमानन्देन्द्रियम् तच्छरीरोत्पत्तिहेतुर्मायारूपतया मायाख्यो ग्रन्थि:, जन्मनि कन्दे पाशव: पशूनां संकुचितदृक्शक्तित्वात् पाश्यानामयमाधारनानानाडी-प्राणादीनां प्रथमोद्भेदकल्प: । हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यललाटस्थानां ब्रह्मादीनां कारणानां पशुं प्रति सृष्ट्यादिकर्तृत्वेन निरोधकत्वाद् ग्रन्थिरूपकत्वात् तत्स्था: पञ्च ग्रन्थय: निरोधिकोर्ध्वे—

कारणों के ऊपर स्थित कुण्डल नामक शक्ति = शून्यातिशून्यपर्यन्त समस्त विश्वगर्भाकारात्मक कुण्डलरूप में स्थित समना नामक शक्ति, को प्राप्त कर विज्ञान के साथ ऊपर विराम करे = उन्मना रूपी परतत्त्व रूप हो जाय । इतना दूर से सम्बन्ध है ।

अब निर्भेद्य ग्रन्थि आदि के स्वरूप को क्रम से दिखलाते हैं—

जन्म के मूल में माया नामक ग्रन्थि और जन्म में पाशव नामक ग्रन्थि रहती है । ब्रह्मा विष्णु रुद्र ईश्वर सदाशिव ये पाँच ग्रन्थियाँ कारणों में रहती हैं । इन्धिका नामक जो ग्रन्थि है वह द्विमार्ग के सम्पूर्ण शमन का हेतु है इसीलिये शिव है उसके ऊपर दीपिका उसके ऊपर बैन्दव ग्रन्थि है । नाद नामक महाग्रन्थि है और इसके बाद शक्ति ग्रन्थि है ॥ -२२-२५- ॥

जन्ममूल = आनन्द देने वाली इन्द्रिय अर्थात् उपस्थ । वह शरीर की उत्पत्ति का कारण है । माया रूप होने के कारण मायाग्रन्थि ही जन्म के कन्द में पाशव ग्रन्थि है । (यह) संकुचित ज्ञान शक्ति होने के कारण पशु अर्थात् पाश में बाँधने योग्य जीवों का आधार रूप अनेक नाड़ी प्राण आदि का प्रथम उद्भेद रूपी है । हृदय, कण्ठ तालु, भ्रूमध्य और ललाट में रहने वाले क्रमश: ब्रह्मा आदि (= विष्णु रुद्र, ईश्वर और सदाशिव) कारणों का सृष्टि आदि के कर्त्ता के रूप में निरोधक होने से पशु के प्रति ग्रन्थिरूप होने के कारण उनमें स्थित पाँच ग्रन्थियाँ हैं । निरोधिका के ऊपर—

'इन्धिका दीपिका चैव रोचिका मोचिकोर्ध्वगा ।' (१०।१२२६)

इति श्रीस्वच्छन्दे नादशक्तयो या उक्ताः, ता एवेह परचित्प्रकाशावारक-रूपत्वाद् ग्रन्थय उक्ताः । तत्रेन्धिकाख्यो यो ग्रन्थिरसौ द्विमार्गाशमन इति निरोधिकास्पृष्टवामदक्षिणवाहनिःशेषप्रशमनहेतुः, अत एव शिव ऊर्ध्वैकमार्गारोहकत्वात् श्रेयोरूपः । तदूर्ध्वे किंचिद्दीप्तिहेतुत्वाद् दीपिकाख्यो ग्रन्थिः, अतोऽपि किंचिदधिकप्रकाशहेतुत्वाद् बैन्दवः । रोचिकेत्यन्यत्र योक्ता शक्तिस्तद्रूपो ग्रन्थिः । तदुपरि नादाख्यो महाग्रन्थिरिति । मोचिकोर्ध्वगेत्यन्यत्र यच्छक्तिद्वयमुक्तं तत्रोर्ध्वगा नादान्तेति तत्रैव योक्ता सैवेहान्तर्भावितमोचिका नादाख्यो महाग्रन्थिरित्युक्तः । महत्त्वं चास्य ग्रन्थ्यन्तर्भावादेव । अतः परः शक्तिस्थानस्थो ग्रन्थिः शक्तिग्रन्थिः ॥

यदेवं निर्णीतं तत्—

ग्रन्थिद्वादशकं भित्त्वा प्रविशेत् परमे पदे ॥ २५ ॥

उन्मनापरतत्त्वात्मनि धाम्नि ॥ २५ ॥

अत्र ब्रह्मादिकारणग्रन्थिभेदनादेव तदधिष्ठितहृदादिस्थानानि शक्तिग्रन्थिभेदेन च शक्तिस्थानं तदुपरि च व्यापिनीधामशिवस्थाने दलयेदित्याह—

'इन्धिका दीपिका रोचिका और मोचिका—ये ऊर्ध्वगामी है ।'

इस प्रकार स्वच्छन्दतन्त्र (१०.१२२६) में जो नादशक्तियाँ कही गयी हैं वे ही पर चैतन्यरूप प्रकाश का आवरक होने के कारण ग्रन्थि कही गयी हैं । उनमें इन्धिका नामक जो ग्रन्थि है वह द्विमार्गाशमन = निरोधिका से स्पृष्ट बायीं दायीं नाडी (= इडा पिङ्गला) के प्रवाह का आ = (पूर्णरूप से) प्रशमन करने का कारण है इसलिये शिव = ऊर्ध्वमार्ग, का आरोहक होने से श्रेयोरूप है । उसके ऊपर कुछ प्रकाश का कारण होने से दीपिका नामक ग्रन्थि है । इससे भी थोड़ा अधिक प्रकाशक होने से बैन्दव ग्रन्थि है । जो अन्यत्र शक्ति कही गयी है वह यहाँ रोचिका ग्रन्थि है । उसके ऊपर नाद नामक महाग्रन्थि है । मोचिका और ऊर्ध्वगा ये दोनों शक्तियाँ जो कि अन्यत्र कही गयी हैं, उनमें ऊर्ध्वगा को अन्यत्र नादान्त कहा गया है वही यहाँ अन्तर्भावित मोचिका नाद नामक महाग्रन्थि कही गयी है । दूसरी ग्रन्थियों का अपने अन्दर अन्तर्भाव करने से यहाँ 'महा' ग्रन्थि है । इसके ऊपर शक्तिस्थान में स्थित ग्रन्थि शक्तिग्रन्थि कही जाती है ।

जो कि ऐसा कहा गया इसलिये—

इन बारह ग्रन्थियों का भेदन कर परमपद में योगी प्रवेश करे ॥-२५॥

(परमपद =) उन्मना परतत्त्वरूप स्थान में ॥ २५ ॥

ब्रह्मा आदि कारण ग्रन्थि के भेदन से ही उनके द्वारा अधिष्ठित हृदय आदि

ब्रह्माणं च तथा विष्णुं रुद्रं चैवेश्वरं तथा ।
सदाशिवं तथा शक्तिं शिवस्थानं प्रभेदयेत् ॥ २६ ॥

अन्ते स्थानशब्दो ब्रह्मादिशब्दानामपि तत्स्थानप्रतिपादकत्वसूचनाय ॥ २६ ॥

अथ पूर्वोद्दिष्टं शून्यपञ्चकं षट्चक्रं च प्रदर्शयति—

खमनन्तं तु जन्माख्यं नाभौ व्योम द्वितीयकम् ।
तृतीयं तु हृदि स्थाने चतुर्थं बिन्दुमध्यतः ॥ २७ ॥
नादाख्यं तु समुद्दिष्टं षट्चक्रमधुनोच्यते ।
जन्माख्ये नाडिचक्रं तु नाभौ मायाख्यमुत्तमम् ॥ २८ ॥
हृदिस्थं योगिचक्रं तु तालुस्थं भेदनं स्मृतम् ।
बिन्दुस्थं दीप्तिचक्रं तु नादस्थं शान्तमुच्यते ॥ २९ ॥

अनन्तवद्विश्वाश्रयत्वादनन्तम् । नादाश्रयत्वाद् नादाख्यम् । नाडिप्रसरहेतुत्वात्,

'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ।' (पा०यो० ३।२५)

इति नीत्या समस्तमायाप्रपञ्चख्यातिहेतुत्वात्, योगिनां चित्तैकाग्र्यप्रदत्वात्,

---

स्थान और शक्तिग्रन्थि के भेदन से शक्तिस्थान और उसके ऊपर व्यापिनी धाम जो शिवस्थान है उसका भी भेदन करना चाहिये—यह कहते हैं—

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति के स्थानों तथा शिवस्थान का भेदन करना चाहिये ॥ २६ ॥

अन्त में पठित 'स्थान' शब्द को ब्रह्मा आदि के साथ जोड़ना चाहिये—इस प्रकार ब्रह्मस्थान विष्णुस्थान आदि बतलाने के लिये 'स्थान' शब्द का प्रयोग है ॥ २६ ॥

अब पूर्वोद्दिष्ट पाँच शून्यों और छह चक्रों को बतलाते हैं—

जन्मस्थान पहला शून्य है । नाभि में दूसरा शून्य है । तीसरा हृदय स्थान में, चौथा बिन्दु के मध्य में है । पाँचवा नाद कहा गया है । अब षट्चक्र को कहते हैं । जन्मस्थान में नाड़ीचक्र, नाभि में मायाचक्र, हृदय में योगीचक्र, तालु में भेदन, बिन्दु में दीप्ति एवं नाद में शान्त चक्र स्थित कहा जाता है ॥ २७-२९ ॥

अनन्त की भाँति विश्व का आश्रय होने से शून्य का नाम अनन्त है । नाद का आश्रय होने से इसका नाद नाम है । नाड़ियों के विस्तार का कारण होने से,

'नाभिचक्र में (धारणा ध्यान समाधि लगाने से) कायव्यूह (= शरीरसंरचना) का ज्ञान होता है ।' (पा०यो०सू० ३.२५)

प्रयत्नेन भेदनीयत्वात्, दीप्तिरूपत्वात्, शान्तिप्रदत्वादिति क्रमेण नाडिचक्रादौ हेतव: । एतानि शून्यानि सौषुप्तावेशप्रदत्वात्, चक्राणि तु भेदप्रसरहेतुत्वात् हेयानीति कृत्वा ॥ २९ ॥

तैः सह—

पूर्वोक्तानि च सर्वाणि ज्ञानशूलेन भेदयेत् ।

पूर्वोक्तनीत्याधारग्रन्थ्यादीनि । ज्ञानशूलं मन्त्रवीर्यभूतचित्स्फुरत्ता ॥

ज्ञानशूलोत्तेजने युक्तिमाह—

आक्रम्य जन्माधाराख्यं तन्मूलं पीडयेच्छनैः ॥ ३० ॥

चित्तप्राणैकाग्र्येण कन्दभूमिमवष्टभ्य, तन्मूलमिति मत्तगन्धस्थानम्, शनैरिति सङ्कोचविकासाभ्यासेन, शक्त्युन्मेषमुपलक्ष्य पीडयेद् यथा शक्तिरूर्ध्वमुखैव भवति ॥ ३० ॥

अथ प्रसङ्गान्नानाशास्त्रप्रसिद्धान् पर्यायान् जन्माधारस्याह—

नियम के अनुसार समस्त मायाप्रपञ्च के ज्ञान का हेतु होने के कारण (इसे नाडीचक्र कहा जाता है । इसी प्रकार) योगियों को चित्त की एकाग्रता देने के कारण, प्रयत्नपूर्वक भेदनीय होने के कारण, दीप्तिरूप होने के कारण, शान्तिप्रद होने के कारण क्रमश: योगीचक्र आदि कहे जाते हैं । चूँकि ये शून्य (शरीर के अन्दर) सौषुप्त आवेश उत्पन्न करते हैं तथा चक्रभेद की भावना को बढ़ाते हैं, इसलिये हेय हैं ॥ २७-२९ ॥

उनके साथ—

(योगी को चाहिये कि वह) पूर्वोक्त सभी (ग्रन्थि आदि) का ज्ञानशूल से भेदन करे ॥ ३०- ॥

पूर्वोक्त नीति से आधारग्रन्थि आदि का (भेदन करे)। ज्ञानशूल = मन्त्र की वीर्यभूत चित्स्फुरत्ता ॥

ज्ञानशूल की उत्तेजना में युक्ति बतलाते हैं—

जन्माधार को आक्रान्त कर उसके मूल का धीरे-धीरे पीड़न करना चाहिये ॥ -३० ॥

चित्त और प्राण को एकाग्र कर कन्दभूमि को अवष्टम्भित (= स्थिर) करे । उसके मूल को = मत्तगन्धस्थान (= गुदामार्ग) को । धीरे-धीरे = संकोच विकास के अभ्यास से । शक्ति के उन्मेष को ध्यान में रख कर पीड़ित करे ताकि कुण्डलिनी शक्ति का मुख ऊपर होने लगे ॥ ३० ॥

जन्माधारस्य सुश्रोणि पर्यायान् शृण्वतः परम् ।
जन्मस्थानं तु कन्दाख्यं कूर्माख्यं स्थानपञ्चकम्॥ ३१ ॥
मत्स्योदरं तथैवेह मूलाधारस्तथोच्यते ।

मरुदुद्भवहेतुत्वात्, मध्यनाडीकन्दरूपत्वात्, कूर्माकारत्वात्, पृथिव्यादिव्योमान्ततत्त्वपञ्चकस्थानत्वात्, मत्स्योदरवत् स्फुरणात्, मूलभूतत्वाच्च जन्मादि आख्यायते ॥

एवं महामाहात्म्याच्छास्त्रेषु निरुच्यते या कन्दभूः—

तत्स्थां वै खेचराख्यां तु मुद्रां विन्देत योगवित् ॥ ३२ ॥
मुद्रया तु तया देवि आत्मा वै मुद्रितो यदा ।
तदा चोर्ध्वं तु विसरेद्विज्ञानेनोर्ध्वतः क्रमात् ॥ ३३ ॥

तत्स्थामिति कन्दभूमिविस्फुरितां शक्तिम्, मुदो हर्षस्य राणात् पाशमोचनभेदद्रावणात्मत्वात् परसंविद्द्रविणमुद्रणाच्च मुद्राम्, खे बोधगगने चरणात् खेचर्याख्यां योगी लभेत । लब्धया तु तया यदा आत्माणुर्मुद्रितः तद्वशः संपन्नः, तदामन्त्र-

---

अब प्रसङ्गात् अनेक शास्त्रों में प्रसिद्ध जन्माधार के पर्यायवाची शब्दों को बतलाते हैं—

हे सुश्रोणि ! इसके बाद जन्माधार के पर्यायों को सुनो । इसे जन्मस्थान, कन्द, कूर्म, स्थानपञ्चक, मत्स्योदर और मूलाधार कहा जाता है ॥ ३१-३२- ॥

वायु की उत्पत्ति का कारण होने से, मध्यनाडी का कन्दरूप होने से, कछुये के आकार का होने से, पृथ्वी से लेकर आकाश तक पाँच का (मूल) स्थान होने से, मछली के पेट के समान स्फुरण वाला होने से, मूल होने से यह जन्माधार आदि कहा जाता है ॥

इस प्रकार महामाहात्म्य के कारण शास्त्रों में जो यह कन्दभूमि कही जाती है—

योगी उसमें स्थित हुई खेचरी मुद्रा को प्राप्त करता है । हे देवि ! जब उस मुद्रा से आत्मा मुद्रित (= वशीभूत) होता है तब विज्ञान के द्वारा योगी क्रमशः ऊपर-ऊपर चलने लगता है ॥ -३२-३३ ॥

उसमें स्थित को = कन्द भूमि में विस्फुरित शक्ति को । मुद के = हर्ष के, राण (= दान) से, पाशमोचन भेदद्रावण रूप होने से, परसंवित् रूप धन के मुद्रण के कारण (इसका मुद्रा नाम पड़ा है) । ख = बोधगगन में, चरण = सञ्चरण करने से—खेचरी नामक मुद्रा को योगी प्राप्त करता है । उपलब्ध उस मुद्रा के द्वारा जब यह आत्मा = अणु (= जीव) मुद्रित होता है = उसके वश में होता है,

वीर्यस्फुरत्तात्मना विज्ञानेनोर्ध्वं द्वादशान्तं यावद्विसरेत् प्रसरेत् ॥ ३३ ॥

एतदेव स्फुटयति—

भिन्द्याद्भिन्द्यात् परं स्थानं यावत् स्वरवरार्चिते ।
तत्स्थानं चैव संप्राप्य योगी समरसो भवेत् ॥ ३४ ॥
निष्कलं भावमापन्नो व्यापकः परमः शिवः ।

परं स्थानं द्वादशान्तम् । भिन्द्यादिति वीप्सया क्रमादित्युक्तिः स्फुटीकृता । समरस इति सर्वस्याधस्तनस्याध्वनस्तन्मयीभावप्राप्तेः । परमः शिव इति, न तु भेदवाद्युक्तव्यतिरिक्तमुक्तशिवरूपः ॥

अथ श्लोकार्धेन परमशिवाभेदव्याप्तिमनुवदन् शक्तेरवरोहक्रमेण व्याप्तिमादेष्टुमुपक्रमते—

एवं भूत्वा समं सर्वं निःस्पन्दं सर्वदोदितम् ॥ ३५ ॥
ततः प्रवर्तते शक्तिर्लक्ष्यहीना निरामया ।
इच्छामात्रविनिर्दिष्टा ज्ञानरूपा क्रियात्मिका ॥ ३६ ॥
एका सा भावभेदेन तस्य भेदेन संस्थिता ।

भूत्वेत्यन्तर्भावितणिजर्थः । तेन सर्वं समनान्तम्, एवं द्वादशान्तारोहणेन, समं

तब (वह) मन्त्रवीर्य की स्फुरत्ता रूप विज्ञान के द्वारा ऊर्ध्व = द्वादशान्त तक, प्रसरण करता है ॥ ३३ ॥

इसी को स्पष्ट करते हैं—

हे श्रेष्ठस्वरों से पूजित ! पर स्थान का बार-बार तब तक भेदन करना चाहिये जब तक उस स्थान को प्राप्त करने के बाद योगी निष्कल भाव को प्राप्त कर समरस, व्यापक परम शिव न हो जाय ॥ ३४-३५- ॥

पर स्थान = द्वादशान्त । भेदन करे—इसको दो बार कहने का अर्थ है— क्रमशः । समरस = समस्त अधस्तन अध्वा के तन्मयीभाव की प्राप्ति के कारण । परम शिव—न कि भेदवादियों के द्वारा उक्त भिन्न मुक्त शिवरूप (परम शिव) ॥ ३४ ॥

अब श्लोकार्द्ध के द्वारा परमशिव के साथ अभेदव्याप्ति को कहते हुए शक्ति के अवरोहक्रम से व्याप्ति को बतलाने का उपक्रम करते हैं—

इस प्रकार सबको सम निःस्पन्द और सर्वदा उदित सम्पादित करने के बाद लक्ष्यहीन, निरामय, इच्छाज्ञानक्रियारूपा शक्ति प्रवृत्त होती है । यद्यपि वह एक है फिर भी उसके (= परम शिव के) भावभेद के कारण वह भेदपूर्वक स्थित है ॥ ३५-३७- ॥

समरसम्, निःस्पन्दं प्रशान्तकल्लोलम्, सर्वदोदितं प्राप्तपरचित्प्रकाशैक्यम्, भावयित्वा संपाद्य, तत एव द्वादशान्तधाम्नो लक्ष्यहीना परस्फुरत्तात्मा, निष्क्रान्त आमयो महामाया यस्यास्तादृशी महामायाद्युल्लासिका परा शक्तिः, प्रवर्तते समुन्मिषति इच्छा-ज्ञान-क्रियारूपतया क्रमेण स्फुरतीत्यर्थः । तत एवैका, तस्येति परमशिवस्य, संबन्धिना भावभेदेन एषणीयज्ञेयकार्यावभासनोदयवैचित्र्येण हेतुना, भेदेन संस्थिता गृहीतेच्छादिनानात्वा ।

यत एवं परमशिवाच्छक्तिः स्वयं प्रवर्तते, तेन—

खेचरीमुद्रयापूर्य शक्त्यन्तं तत्र सर्वतः ॥ ३७ ॥
यावच्च नोदितश्चन्द्रस्तावत् सूक्ष्मं निरञ्जनम्।
भावग्राह्यमसंदिग्धं सर्वावस्थोज्झितं परम् ॥ ३८ ॥
व्यापकं पदमैशानमनौपम्यमनामयम् ।
भवन्ति योगिनस्तत्तु तदारूढौ वरानने ॥ ३९ ॥

तत्र—

'बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं न्यसेत् ।
दण्डाकारं तु तावत्तन्नयेद्यावत् कखत्रयम् ॥

भूत्वा—यहाँ अन्तर्भावित 'णिच्' प्रत्यय है (= इससे 'भूत्वा' का अर्थ है—भावयित्वा = सम्पादित कर) । सब = समना पर्यन्त । इस प्रकार द्वादशान्त तक आरोहण के द्वारा सबको समरस निःस्पन्द = कल्लोलरहित, सर्वदा उदित = पर संवित् की प्रकाशैकता को प्राप्त, बनाकर, उसी से = द्वादशान्तधाम से, लक्ष्यहीन = परस्फुरत्तारूप, निरामया = निकल गया है आमय = महामाया जिससे वह अर्थात् महामाया आदि की उल्लासिका परा शक्ति, प्रवृत्त होती है = समुन्मिषित होती है = इच्छा-ज्ञान-क्रिया रूप में क्रम से स्फुरित होती है । इसीलिये वह एक होते हुए भी, उसके = परमशिव के, भावभेद से = एषणीय ज्ञेय कार्य के अवभासन के उदयवैचित्र्य के कारण, (वह शक्ति) भेदपूर्वक स्थित है = इच्छा आदि नानारूप धारण किये है ॥

चूँकि परमशिव से शक्ति स्वयं प्रवृत्त होती है; इस कारण—

खेचरी मुद्रा के द्वारा शक्तिपर्यन्त सब प्रकार से आपूरण कर जब तक चन्द्र का उदय नहीं होता तब तक उस (= शक्ति) पर आरूढ़ होने पर सूक्ष्म, निरञ्जन, भावग्राह्य, असन्दिग्ध, सब अवस्था से परे, पर, व्यापक, उपमारहित, अनामय (जो परधाम उपलब्ध होता है) योगिजन वैसे ही हो जाते हैं ॥ -३७-३९ ॥

योगी पद्मासन लगाकर नाभि में अक्ष के स्वामी (= क्षकार) का न्यास करे ।

निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत् खत्रयेण तु ।
एतां बद्ध्वा महायोगी खे गतिं प्रतिपद्यते ॥' (७।१५-१७)

इति श्रीमालिनीविजयलक्षितया पूर्वोद्दिष्टखेचरीमुद्रया शक्त्यन्तं यावत्, सर्वतः सर्वप्रकारेणापूर्य, यावत् तत्र चन्द्र इत्यपानो नोदितो भवेत् तावत् तदारूढौ तच्छक्तिपदारोहे सति, योगिनः, सूक्ष्ममतीन्द्रियम्, निरञ्जनमनावरणम्, भावग्राह्यं स्वप्रकाशम्, असन्दिग्धं स्वविमर्शसारम्, सर्वाभिर्जागराद्यवस्थाभिरुज्झितम् सर्वसामरस्यावस्थानात्परम्, दिग्देशाद्यनवच्छेदाद् व्यापकम्, परमेशानं स्वतन्त्रम्, अद्वितीयत्वाद् अनौपम्यम्, न विद्यते आमयो महामायावच्छेदो यतो भक्तिभाजां तदनामयम्, यत् परं धाम तद्भवन्ति तन्मया जायन्त इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

एवं प्राप्तपरतत्त्वाभेदस्य योगिनः 'तत् प्रवर्तते शक्तिः' इत्यनेन योन्मिषन्ती परा शक्तिरुक्ता—

सा योनिः सर्वदेवानां शक्तीनां चाप्यनेकधा ।
अग्नीषोमात्मिका योनिस्तस्याः सर्वं प्रवर्तते ॥ ४० ॥
तत्र संग्रथिता मन्त्रास्त्राणवन्तो भवन्ति हि ।
सर्वेषां चैव संहारस्तदेव परमं पदम् ॥ ४१ ॥

उसे दण्डाकार में तब तक ले जाय जब तक क ख त्रय (= क = शिर में, ख त्रय = शक्ति व्यापिनी और समना) का निग्रह कर ख तीन (= शक्ति व्यापिनी और समना) से उसे प्रेरित करे । इसका बन्धन कर महायोगी आकाश में गति प्राप्त करता है । (मा०वि०तं० ७।१५-१७)

इस मालिनीविजयतन्त्र से लक्षित पूर्वोद्दिष्ट खेचरी मुद्रा के द्वारा शक्तिपर्यन्त, सर्वतः = सब प्रकार से, (नाडी समूह को) आपूरित कर जब तक चन्द्र = अपान, उदित नहीं होता तब तक उसके आरूढ़ होने पर = (योगी के) उस शक्ति पद पर आरूढ़ होने पर, योगी लोग सूक्ष्म = अतीन्द्रिय, निरञ्जन = आवरणरहित, भावग्राह्य = स्वप्रकाश, असन्दिग्ध = स्वविमर्शमात्र तत्त्व वाले, सब = जाग्रत स्वप्न आदि, अवस्थाओं से उज्झित, सब के साथ समरस होने से पर, दिशा देश आदि से अवच्छिन्न न होने से व्यापक, परमेश्वर = स्वतन्त्र, अद्वितीय होने से अनुपम, भक्त लोगों के लिये जहाँ महामाया अवच्छेद रूपी आमय नहीं है ऐसा अनामय जो परमधाम, उसके रूप वाले या तन्मय = वही हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

इस प्रकार परतत्त्व से अभेद को प्राप्त योगी की 'उसके प्रति शक्ति प्रवृत्त होती है' उक्ति के द्वारा जो उन्मिषन्ती पराशक्ति कही गयी है—

वह समस्त देवों की कारण है; शक्तियों की अनेक प्रकार है, अग्नि और सोमरूपी योनि है । उसी से सब उत्पन्न होता है । उसमें संग्रथित मन्त्र त्राण करते हैं । सबकी संहारस्थली वह परम पद है । परमशिव को

तस्मात् प्रवर्तते सृष्टिर्विक्षोभ्य परमं शिवम् ।
अनौपम्यामृतं प्राप्य बिन्दुं विक्षोभ्य लीलया ॥ ४२ ॥
चन्द्रोदये तदा ख्याते परमामृतमुत्तमम् ।
बहलामृतकल्लोलमनन्तं तत्र संस्मरेत् ॥ ४३ ॥
तस्मात् प्राप्यामृतं शुद्धं स्वशक्त्या चैव कर्षयेत्।
मध्यमार्गेण सुश्रोणि कारणादि प्रभेदयेत् ॥ ४४ ॥
आप्यायनं प्रकुर्वीत् स्थाने स्थाने ह्यनुक्रमात् ।
यावद् ब्रह्मपदं प्राप्तं तस्मादाप्याययेदधः ॥ ४५ ॥
जन्मस्थानपथाच्चैव कालाग्नौ तु प्रवर्तयेत् ।
तदापूर्य समन्तात्तु परिपूर्णं स्मरेत् पुरम् ॥ ४६ ॥
सुषुम्नामृतेनाखिलं परिपूर्णं विभावयेत् ।
अनन्तनाडिभिस्तत्र रोमकूपैः समन्ततः ॥ ४७ ॥
निष्क्रम्य व्यापको भूत्वा ह्यमृतोर्मिभिराकुलम् ।
अमृतार्णवसंरूढं मज्जन्तममृतार्णवे ॥ ४८ ॥
तदूर्ध्वे ह्यमृतार्णं तु प्रद्रुतं व्यापकं शिवम् ।
एवं समरसीभूतं ह्यमृतं सर्वतोमुखम् ॥ ४९ ॥
इच्छाज्ञानक्रियारूपं शिवमात्मस्वरूपकम् ।
निरामयमनुप्राप्य स्वानुभूत्या विभावयेत् ॥ ५० ॥
अमृतेशपदं सूक्ष्मं संप्राप्यैवामृतीभवेत् ।

विक्षुब्ध कर उसी से सृष्टि होती है । योगी (को चाहिये कि वह) अनुपम अमृत को प्राप्त कर, बिन्दु को लीला के द्वारा क्षुब्ध कर चन्द्रोदय होने पर बहल (= प्रचुर) अमृत कल्लोलवाले अनन्त उत्तम परम अमृत का वहाँ स्मरण करे ॥ ४०-४३ ॥

उससे शुद्ध अमृत प्राप्त कर अपनी शक्ति से उसे मध्यमार्ग से (नीचे) ले जाय । तत्पश्चात् कारण आदि का भेदन करे । तात्पर्य यह है कि स्थान-स्थान पर क्रम से तब तक आप्यायन करे जब तक कि ब्रह्मपद न प्राप्त हो जाय । उससे नीचे-नीचे आप्यायन करे । जन्मस्थान पथ से कालाग्नि में प्रवर्त्तित करे । उस (अमृत) से अपने शरीर को सब ओर से परिपूर्ण होता हुआ ध्यान करे । सुषुम्ना के अमृत से सबको परिपूर्ण ध्यान करे । इसके बाद अनन्त नाड़ियों अर्थात् रोमकूपों से सब ओर से निकल कर व्यापक होकर अमृतकिरणों से व्याकुल अमृतसमुद्र में संरूढ़ उसमें डूबते हुए तथा उसके बाद अमृतवर्ण को प्रद्रुत व्यापक शिव के साथ समरसीभूत सब दिशाओं में प्रसृत इच्छा ज्ञान क्रिया रूप

तदासावमृतीभूय मृत्युजिन्नात्र संशयः ॥ ५१ ॥
कालजित् सुभगो धीरो मृत्युस्तं च न बाधते।

सर्वदेवानामित्यनाश्रितसदाशिवेश्वरानन्तरुद्रादीनाम्, शक्तीनामिति वामाज्येष्ठादीनां च, यतश्च सा शक्तिरग्नीषोमात्मिका योनिस्तत एव सोमप्रधाना, यतस्तस्याः सर्वं प्रवर्तते उद्भवति, अत एवाग्नीषोमात्मशक्तिप्रकृति विश्वमग्नीषोममयमेव । तथा चाग्निरप्याह्लादयति हिममपि च दहति, इति तत्त्वविद आहुः । किं च, तत्राग्नीषोमात्मशक्तिधाम्नि संग्रथितास्तद्वीर्यसारत्वेनोच्चारिता मन्त्रास्त्राणवन्तः सिद्धिमुक्तिदाः, इति शक्तेः स्थितिहेतुत्वमुक्तम् । तदेवेत्यग्नीषोमात्मनः शक्तेरग्निरूपत्वात् संहर्तृत्वं च । एवं सृष्टिस्थितिसंहारहेतुत्वं शक्तेः प्रदर्श्य प्रकृतमाह-तस्मादिति । यत एवंभूतैषा शक्तिस्तस्मात्परं शिवं विक्षोभ्य समनापदावरोहणेन सृष्ट्युन्मुखं कृत्वा, तत्रानौपम्यमिति परमानन्दमयममृतं प्राप्य, बिन्दुमिति महाप्रकाशात्म समनारूढं धाम, लीलया स्वातन्त्र्यक्रीडया, विक्षोभ्य सृष्टिप्रसरोन्मुखं विधाय, तदा चन्द्रोदयेऽपानोल्लासे ख्याते सति, तत एव शाक्ताद्धाम्न उदितं परमामृतमुत्तममानन्दरसप्रधानं बहला अमृतकल्लोलाः सुसितसुधाप्रसारा यस्य तादृक्, अनन्त-

---

शिव का निरापद आत्मस्वरूप में चिन्तन करे। इस प्रकार सूक्ष्म अमृतेश पद को प्राप्त कर अमृत हो जाय । इस प्रकार यह (साधक) अमृत, मृत्युजित्, कालजयी, सुभग और धीर हो जाता है । मृत्यु उसको बाधित नहीं करती ॥ ४४-५२- ॥

सब देवों का = अनाश्रित शिव, सदाशिव ईश्वर अनन्तेश रुद्र आदि का । शक्तियों का = वामा ज्येष्ठा तथा ब्राह्मी आदि का । चूँकि वह शक्ति अग्नीषोमरूपा योनि है इसीलिये सोमप्रधान है । चूँकि उससे सब प्रवृत्त = उत्पन्न होता है इसलिये अग्निसोमरूप शक्तिवाला विश्व अग्निसोममय ही है । इस प्रकार अग्नि भी आनन्द देती है हिम भी दाह करता है—ऐसा तत्त्ववेत्ता लोग कहते हैं । उस अग्निसोमात्मक शक्तिधाम में संग्रथित = उसके वीर्यसार के रूप में उच्चारित, मन्त्र त्राण करते हैं = भोग और मोक्ष देते हैं । इस प्रकार शक्ति ही स्थिति का कारण है—यह कहा गया । वही—अग्नीषोमात्मक शक्ति के अग्निरूप होने के कारण वह संहर्त्री भी है । इस प्रकार शक्ति को सृष्टि स्थिति संहार का कारण बतलाकर प्रस्तुत को कहते हैं—इस कारण । यतो हि यह शक्ति इस प्रकार की है इस कारण योगी को चाहिये कि वह परशिव को विक्षोभित कर समना स्तर पर उतर कर सृष्टि के प्रति (उन्हें) उन्मुख बनाये । वहाँ पर अनौपम्य—परमानन्दमय अमृत, को प्राप्त कर बिन्दु अर्थात् महाप्रकाशरूप समनारूढ़ धाम को लीला अर्थात् स्वातन्त्र्यवश विक्षोभित कर अर्थात् सृष्टिप्रसर की ओर प्रवृत्त करे उसके बाद चन्द्र अर्थात् अपान का उल्लास होने पर उसी शाक्तधाम से उदित परम अमृत = उत्तम आनन्द रसप्रधान बहल अमृतलहरियों = सुसित सुधारसप्रसर वाले अनन्त अनवच्छिन्न का स्मरण

मनवच्छिन्नम्, तत्र स्मरेद् ध्यायेत् । तस्मात् चन्द्रोदयाच्छुद्धममृतं प्राप्यान्तर्मुखीभूतया स्वशक्त्या मध्यमार्गेण कर्षयेदधोऽधः प्रवर्तयेत् । तेन च कारणादीति कारणानि ब्रह्मादीनि, आदिशब्दात्, पूर्वोक्तं चक्राधारादि सर्वं प्रभेदयेद् निषिञ्चेत् । एतदेवाप्यायनमित्यादिनानेन स्फुटीकृतम् । ब्रह्मस्थानं हृद्धाम यावत्तदमृतं प्राप्तं भवति, ततोऽप्यधो नाभेरधःस्थाने निषिच्य कालाग्न्यन्तमापूर्य समन्तात् परिपूर्णं देहं स्मरेत् । ततः सर्वरोमकूपैः प्रसृत्यान्तर्बहिरासादितव्याप्ति सर्वदिक्कममृतार्णवप्लावनसमरसीभूतपरमामृतरूपम्, इच्छाज्ञानक्रियाशक्तिकचितं परमशिवरूपं निरामयमात्मानं चिन्तयेत् । एवं सूक्ष्मध्यानाद्विजितमृत्युरासादितपरमसौभाग्योऽमृतेशतुल्यो भवति ॥ ५१ ॥

उपसंहरति—

कालस्य वञ्चनं सूक्ष्मं मया ते प्रकटीकृतम् ॥ ५२ ॥
न कस्यचिन्मयाख्यातं त्वदृते भक्तवत्सले ॥ ५३ ॥

तवैव परानुग्रहैकव्रताया एवं प्रकटीकृतम् ॥ ५३ ॥

अर्थात् ध्यान करे । उस चन्द्रोदय से शुद्ध अमृत को प्राप्त कर अन्तर्मुखीभूत अपनी शक्ति से मध्यमार्ग से (उस अमृत को) नीचे-नीचे ले जाय । उसके द्वारा कारण आदि = ब्रह्मा आदि कारणों एवं चक्र आधार आदि सबका, प्रभेदन = सिञ्चन, करे । यही बात 'आप्यायन' इत्यादि के द्वारा ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है । जबतक वह अमृत ब्रह्मस्थान = हृदयधाम को प्राप्त होता है तबतक उसको और नीचे = नाभि के नीचे, स्थान से गिराकर कालाग्नि तक पूरित कर समस्त शरीर को उससे परिपूर्ण चिन्तन करे । इसके बाद उस अमृत को समस्त रोम कूपों के माध्यम से बाहर निकाल कर समस्त दिशाओं में व्याप्त होकर अमृत-समुद्र के प्लावन जैसा, इच्छा ज्ञान क्रिया शक्ति वाले परमशिव रूप अपने को निरामय सोचे। इस प्रकार सूक्ष्मध्यान से योगी मृत्यु को जीत कर परम सौभाग्य वाला एवं अमृतेश के समान हो जाता है ॥ ५१ ॥

(अधिकार का) उपसंहार करते हैं—

हे भक्तवत्सले ! मेरे द्वारा तुम्हें काल का सूक्ष्म वञ्चन (= परिचय) बतलाया गया। इसे तुम्हारे अतिरिक्त मैंने किस को नहीं कहा ॥५२-५३॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के सप्तम अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ७ ॥

परानुग्रह का नियम रखने वाली तुम्हीं को बतलाया ॥ ५३ ॥

सूक्ष्मध्यानसमुल्लासिसुधाकल्लोलकेलिभिः ।
प्लावयन्निखिलं नौमि नेत्रमुच्चैर्महेशितुः ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचिते-नेत्रोद्योते सूक्ष्मध्याननिरूपणं नाम सप्तमोऽधिकारः ॥ ७ ॥

सूक्ष्मध्यान को समुल्लसित करने वाले, अमृत लहरियों की लीला के द्वारा समस्त विश्व को प्लावित करने वाले, परमेश्वर के उच्च नेत्र को मैं (उच्च रूप से) प्रणाम करता हूँ ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के सप्तम अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ७ ॥

अष्टमोऽधिकारः

*** नेत्रोद्योतः ***

अमन्दानन्दसन्दोहि स्पन्दान्दोलनसुन्दरम् ।
स्वज्योतिश्चिन्महाज्योतिर्नेत्रं जयति मृत्युजित् ॥

सूक्ष्मध्यानानन्तरं परध्याननिर्णयाय श्रीभगवानुवाच—

अथ मृत्युञ्जयं नित्यं परं चैवाधुनोच्यते ।
यत्प्राप्य न प्रवर्तेत संसारे त्रिविधे प्रिये ॥ १ ॥

अथशब्दः सूक्ष्मध्यानानन्तर्यप्रथनाय, नित्यमेव च यन्मृत्युञ्जयं कालग्रासि, परमनुत्तरं परमेशस्वरूपम् । त्रिविध इति मायान्तसदाशिवान्तशिवान्तभवाभवातिभवरूपे ॥ १ ॥

*** ज्ञानवती ***

यमाद्यष्टाङ्गयोगेन साकमावेशलक्षणम् ।
वर्णयज्जयते नेत्रमुपायानां विवेचकम् ॥

अमन्द आनन्द की राशि वाला, स्पन्द के आन्दोलन से सुन्दर, स्वयं प्रकाश, चैतन्य की महाज्योतिरूप मृत्युजित्नेत्र सर्वोत्कृष्ट है ।

सूक्ष्म ध्यान के बाद पर ध्यान के निर्णय के लिये श्री भगवान् ने कहा—

हे प्रिये ! इसके बाद अब नित्य पर मृत्युञ्जय ध्यान को बतलाता हूँ जिसको प्राप्त कर (योगी) इस त्रिविध संसार में नहीं आता ॥ १ ॥

(श्लोकोक्त) 'अथ' शब्द सूक्ष्म ध्यान के आनन्तर्य को बतलाने के लिये है । नित्य जो मृत्युञ्जय = काल को निगलने वाला, पर = अनुत्तर परमेश्वररूप, त्रिविध = मायान्त, सदाशिवान्त तथा शिवान्त जो कि क्रमशः भव, अभव और अतिभव रूप है, (में योगी प्रवेश नहीं करता) ॥ १ ॥

किं च—

योगी सर्वगतो भाति सर्वदृक् सर्वकृच्छिवः ।
तदहं कथयिष्यामि यस्मादन्यन्न विद्यते ॥ २ ॥
यत्प्राप्य तन्मयत्वेन भवति ह्यजरामरः ।

परयोगिनोऽस्य देहादिप्रमातृताऽस्पर्शाद् जरामरणादिकथैव न काचिदस्तीत्यर्थः॥

तदेतद्वक्तुमुपक्रमते—

यन्न वाग्वदते नित्यं यन्न दृश्येत चक्षुषा ॥ ३ ॥
यच्च न श्रूयते कर्णैर्नासा यच्च न जिघ्रति ।
यन्नास्वादयते जिह्वा न स्पृशेद्यत् त्वगिन्द्रियम् ॥ ४ ॥
न चेतसा चिन्तनीयं सर्ववर्णरसोज्झितम् ।
सर्ववर्णरसैर्युक्तमप्रमेयमतीन्द्रियम् ॥ ५ ॥
यत्प्राप्य योगिनो देवि भवन्ति ह्यजरामराः ।
तदभ्यासेन महता वैराग्येण परेण च ॥ ६ ॥
रागद्वेषपरित्यागाल्लोभमोहक्षयात् प्रिये ।
मदमात्सर्यसंत्यागान्मानगर्वतमःक्षयात् ॥ ७ ॥
लभ्यते शाश्वतं नित्यं शिवमव्ययमुत्तमम् ।

साथ ही—

(उसको प्राप्त कर) योगी सर्वगामी, सर्वद्रष्टा और सर्वकर्त्ता रूप शिव हो जाता है । मैं उस (तत्त्व) को बतलाऊँगा जिससे भिन्न और कुछ नहीं है । जिसको प्राप्त कर तन्मय होने के कारण योगी अजर अमर हो जाता है ॥ २-३- ॥

देहादिप्रमातृता का स्पर्श न होने के कारण जरा मरण आदि की कोई बात ही नहीं है ॥

उसको कहने का उपक्रम करते हैं—

जिस नित्य को वाणी नहीं बताती; जो आँखों से देखा नहीं जाता, जिसको कानों से सुना नहीं जाता, नासिका जिसको सूँघ नहीं सकती; जिह्वा जिसका आस्वादन नहीं करती, त्वगिन्द्रिय जिसका स्पर्श नहीं करती, चित्त जिसका चिन्तन नहीं कर सकता, जो समस्त वर्ण रस (आदि) से रहित होकर भी समस्त वर्ण रसों से युक्त है; जिसको प्राप्त कर योगीजन अजर और अमर हो जाते हैं । हे प्रिये ! शाश्वत नित्य उत्तम अव्यय शिवस्वरूप वह (तत्त्व) अत्यन्त महान् अभ्यास, परवैराग्य, रागद्वेष के

पश्यन्त्यादित्रिरूपापि वाग् यन्न भाषते, यच्च बहिरन्तःकरणागोचरः, वर्णयन्तीति वर्णा वाचकाः, वर्ण्यन्त इति वर्णा वाच्याः, सर्वे च ते वर्णास्तेषां रसाः प्रसरास्तैरुज्झितमवाच्यवाचकात्मेत्यर्थः । अथ च तैः सर्वैर्युक्तं विश्वात्मकत्वात्, अतश्चातीन्द्रियत्वान्न प्रमेयमपि तु परप्रमात्रेकरूपमिति पर्यवसितम्, यदेवंभूतं तत्त्वं प्राप्य समाविश्य,

'योगमेकत्वमिच्छन्ति ।' मा० वि० (४।४)

इति स्थित्या योगिनः परतत्त्वैकशालिनस्तत्त्वतो जरामृत्युरहिता भवन्ति । तन्महताभ्यासेन—

'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।' (भ गी० १२।२)

इति सततसमावेशप्रयत्नेन परेण वैराग्येण दृष्टागमिकधराद्यनाश्रितान्तसमस्तभोगवैतृष्ण्येन, अत एव रागद्वेषादिसर्वदोषप्रशमाच्च लभ्यते, मानाच्छङ्करपूजातो तस्य क्षयात् शाश्वतमविवर्तात्मकम्, नित्यं लोकोत्तरं शिवं परश्रेयोरूपमव्ययमपरिणामि, अतश्चोत्तमं सर्वोत्कृष्टम् ॥

परित्याग, लोभ मोह के सम्यक् नाश, मदमात्सर्य के सन्त्याग, मान गर्व अज्ञान के क्षय से प्राप्त होता है ॥ ३-८- ॥

पश्यन्ती आदि तीनों प्रकार की वाणी जिसको नहीं बतलाती । जो बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों का विषय नहीं बनता । जो वर्णन करे वह वर्ण (कहलाता है) अर्थात् वाचक । जो वर्णित किया जाय वह भी वर्ण (कहलाता है) अर्थात् वाच्य । वे सभी (= वाचक वाच्य) वर्ण हैं । उनका रस = प्रसार, उनसे त्यक्त अर्थात् अवाच्य अवाचकरूप । वह उन सबसे युक्त है क्योंकि वह विश्वरूप है । इसलिये अतीन्द्रिय होने के कारण वह प्रमेय नहीं है वरन् परप्रमातामात्र है । इस प्रकार के तत्त्व को प्राप्त कर = उससे समविष्ट होकर,

'योग का अर्थ है—एकत्व—(ऐसा विद्वान्) मानते हैं ।' (मा०वि० ४.४)

उस स्थिति से परतत्त्व से ऐक्य को प्राप्त योगी जरामृत्यु से रहित हो जाते हैं । वह तत्त्व महा अभ्यास से—

'जो लोग मन को मुझ में आविष्ट कर नित्य योग में लगे हुये मेरी उपासना करते हैं' (भ०गी० १२।२)

इस प्रकार सतत समावेश रूपी प्रयत्न से तथा परवैराग्य = प्रत्यक्ष एवं आगमवर्णित पृथ्वी से अनाश्रित शिव पर्यन्त प्राप्य समस्त भोगों के प्रति अनिच्छा, के कारण, इसीलिये राग द्वेष आदि समस्त दोषों के प्रशमन के कारण प्राप्त होता है । मान = शङ्कर पूजा के कारण जो गर्व—मेरे जैसा कोई नहीं है इस प्रकार का—वही तम अर्थात् अनात्मा में आत्माभिमानरूप अज्ञान, उसके क्षय से, शाश्वत = विवर्त्तरहित, नित्य = लोकोत्तर, शिव = पर श्रेयोरूप, अव्यय = अपरिणामी,

इयांश्चास्य स्फारोऽयम्—

निमेषोन्मेषमात्रेण यदि चैवोपलभ्यते ॥ ८ ॥
ततः प्रभृति मुक्तोऽसौ न पुनर्जन्म चाप्नुयात् ।

केनचिदिति मध्येऽध्याहार्यम् । उपलभ्यते समाविश्यते । ततःप्रभृति न तु कालान्तरे । मुक्तः स्थितैरपि देहप्राणैरगुणीकृतः । न च तद्देहत्यागे पुनर्जन्म देहान्तरसंबन्धमाप्नोति, अपि तु परमशिव एव भवति ॥

ततश्च योगी—

अष्टाङ्गेन तु योगेन प्राप्नुयान्नान्यतः क्वचित् ॥ ९ ॥

तमष्टाङ्गयोगमन्यशास्त्रप्रतिपादितरूपवैलक्षण्येन क्रमेणादिशति देवः—

संसाराद्विरतिर्नित्यं यमः पर उदाहृतः ।
भावना तु परे तत्त्वे नित्यं नियम उच्यते ॥ १० ॥

स्पष्टम् ॥ १० ॥

मध्यमं प्राणमाश्रित्य प्राणापानपथान्तरम् ।

इस कारण उत्तम = सर्वोत्कृष्ट (शिव तत्त्व प्राप्त होता है) ॥

यदि कोई निमेष या उन्मेष मात्र से उसे प्राप्त कर ले तो उसके बाद वह मुक्त हो जाता है और पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता ॥ ८-९- ॥

बीच में, 'केनचित्' का अध्याहार कर लेना चाहिये । (तब अन्वय होगा— 'किसी के द्वारा') उपलब्ध किया जाता है = समाविष्ट किया जाता है । तब से— न कि कालान्तर में, मुक्त = देह प्राण के रहते हुए भी उनसे असम्बद्ध । उस शरीर का त्याग होने पर पुनर्जन्म = दूसरे देह से सम्बन्ध, नहीं होता वरन् वह परम शिव ही हो जाता है ॥ -८-९- ॥

इसके बाद योगी—

अष्टाङ्ग योग से ही उसे प्राप्त करता है अन्य किसी साधक से नहीं ॥ -९ ॥

देव (= परमेश्वर) प्रकृत अष्टाङ्ग योग को अन्य शास्त्रों में प्रतिपादित अष्टाङ्ग योग से भिन्न रूप में बतलाते हैं—

संसार से शाश्वत विरति को पर (= उत्कृष्ट) यम कहा गया है । पर तत्त्व में नित्य भावना नियम कहा जाता है ॥ १० ॥

कारिकार्थ स्पष्ट है ॥ १० ॥

प्राण और अपान मार्गों के बीच में उपस्थित मध्य प्राण को आधार

आलम्ब्य ज्ञानशक्तिं च तत्स्थं चैवासनं लभेत ॥ ११ ॥

प्राणापानमार्गयोः सव्यापसव्ययोरान्तरं मध्यनाड्यां भवं प्राणमित्यूर्ध्वगामिनमुदानमाश्रित्य, ततश्च प्राणीयव्याप्तिनिमज्जनेन चिद्व्याप्त्युन्मज्जनाद् ज्ञानशक्तिमुन्मिषत्स्फुरत्तारूपां संविदमालम्ब्यावष्टभ्य, तत्स्थमेवासनं योगी लभते निजज्ञानशक्त्यासनासीनश्चिन्महेशरूपो भवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

प्राणादिस्थूलभावं तु त्यक्त्वा सूक्ष्ममथान्तरम् ।
सूक्ष्मातीतं तु परमं स्पन्दनं लभ्यते यतः ॥ १२ ॥
प्राणायामः स उद्दिष्टो यस्मान्न च्यवते पुनः ।

प्राणादौ प्राणापानसमानेषु यः स्थूलो रेचकपूरकादिर्भावः स्वभावस्तं त्यक्त्वा उज्झित्वा, अथेत्येतत्स्थूलप्राणायामानन्तरभावि, सूक्ष्ममान्तरमिति मध्यपथेन रेचनाचमनादिरूपं च तं त्यक्त्वा, यतो यस्मात् सूक्ष्ममप्यतीतं परममिति प्राणाद्यचित्स्फुरत्तात्म स्पन्दनं लभ्यते, तस्मात्तदेव परं स्पन्दनं यत् स एव स्थूलसूक्ष्मभेदभाजां प्राणानामायामः प्रशमितप्राधान्यावभासात्मा नियम उत्कृष्टतयादिष्टो निरूपितः । यस्मादिति यं प्राणायाममासाद्य न पुनश्च्यवते चित्प्रमातृमयतां न कदाचिज्जहाति ॥

बनाकर ज्ञानशक्ति के आलम्बन के द्वारा उसी में स्थित होना आसन है ॥ ११ ॥

प्राण अपान (= इड़ा पिङ्गला) ये ही सव्यापसव्य (= बाँयाँ-दाँयाँ) मार्ग हैं, इन दोनों के बीच मध्यनाड़ी (= सुषुम्ना) है । उसमें उत्पन्न होने वाले प्राण = ऊर्ध्वगामी उदान का आश्रयण कर, उसके बाद प्राणीय व्याप्ति के निमज्जन से चिद्व्याप्ति का उन्मज्जन होने के कारण उन्मिषित स्फुरत्तारूपा ज्ञानशक्ति = संविद् का आलम्बन कर उस पर स्थित हुआ योगी आसन प्राप्त करता है अर्थात् अपनी ज्ञानशक्तिरूपी आसन पर आसीन हुआ वह चिन्महेश्वर रूप हो जाता है ॥ ११ ॥

प्राण आदि स्थूल भाव का तत्पश्चात् सूक्ष्मभाव का त्याग कर जिसके द्वारा सूक्ष्मातीत पर स्पन्दन प्राप्त किया जाता है वह प्राणायाम कहा गया है जिसको प्राप्त कर योगी च्युत नहीं होता ॥ १२-१३- ॥

प्राण आदि = प्राण अपान और समान में जो स्थूल रेचक पूरक आदि भाव = स्वभाव, उसको छोड़कर, इसके बाद = इस स्थूल प्राणायाम के बाद होने वाले भीतरी सूक्ष्म = मध्यमार्ग से रेचन आचमन (= ग्रहण) आदि रूप उसका त्याग कर, जिस कारण सूक्ष्म से भी परे पर अर्थात् प्राण आदि अचित्स्फुरत्ता वाला स्पन्दन उपलब्ध होता है, वही पर स्पन्दन स्थूल सूक्ष्म भेदवाले प्राणों का आयाम = प्रशमित प्राधान्यावभासरूप नियम उत्कृष्ट रूप से कहा गया है । जिसकारण = जिस प्राणायाम को प्राप्त कर, (साधक) पुनः च्युत नहीं होता = चित्प्रमातृमयता को कभी भी नहीं छोड़ता ॥

शब्दादिगुणवृत्तिर्या चेतसा ह्यनुभूयते ॥ १३ ॥
त्यक्त्वा तां प्रविशेद्धाम परमं तत्स्वचेतसा।
प्रत्याहार इति प्रोक्तो भवपाशनिकृन्तकः ॥ १४ ॥

शब्दस्पर्शादीनां गुणानां सत्त्वादिरूपाणां या काचिद्वृत्तिर्दशा चेतसा संविदाऽनुभूयते, तां त्यक्त्वानादरेणापहस्त्य, स्वचेतसा विकल्पसंवित्परामर्शेनैव परचिद्धामप्रवेशो हीति यस्माच्चितिभूमेः प्रसृतस्य चित्तस्य तत्प्रतीपप्रापणात्मा प्रत्याहारोऽतश्च भवपाशानां निकृन्तकः ॥ १४ ॥

धीगुणान् समतिक्रम्य निर्ध्येयं चाव्ययं विभुम्।
ध्यात्वा ध्येयं स्वसंवेद्यं ध्यानं तच्च विदुर्बुधाः ॥ १५ ॥

धियो बुद्धेः सत्त्वादिगुणान् समतिक्रम्य समावेशेन प्रशमय्य, निर्ध्येयमिति ध्येयेभ्यो नियत्याकृत्यादिरूपेभ्यो निष्क्रान्तं, निष्क्रान्तानि च तानि यस्मात् तम्, विभुं व्यापकमव्ययं नित्यम्, स्वसंवेद्यं स्वप्रकाशम्; ध्येयं ध्यानार्हमथ चाध्येयमध्येतव्यम् विम्रष्टव्यं स्मर्तव्यं च, अर्थाच्चिदानन्दघनं परमेश्वरं ध्यात्वा विमृश्य ये बुधास्तत्त्वज्ञास्ते, तच्चेति तद्विमर्शात्मैव, ध्यानं विदुरविच्छिन्नेन पारम्पर्येण जानन्ति। च एवार्थे ॥ १५ ॥

चित्त के द्वारा शब्द आदि गुणों की जिस वृत्ति का अनुभव किया जाता है (योगी) उस (वृत्ति) को छोड़कर अपने चित्त से उस परम धाम में प्रवेश करे। संसारबन्धन का नाशक यही प्रत्याहार कहा गया है ॥ -१३-१४ ॥

सत्त्व आदि रूप वाले शब्द स्पर्श आदि गुणों की जो कोई वृत्ति = दशा, चित्त के द्वारा = संविद् के द्वारा अनुभूत होती है, उसका त्यागकर = अनादर के साथ अपसारण कर, अपने चित्त से = विकल्प संवित् परामर्श के द्वारा, परचित् धाम में प्रवेश ही प्रत्याहार है। प्रत्याहार शब्द को स्पष्ट करते हैं—क्योंकि चिति भूमि से (बाहर) फैले हुए चित्त का पुनः उल्टी दिशा में (चिति की ओर) आहरण प्रत्याहार होता है इसलिये वह संसार के पाशों का छेदक होता है ॥ १४ ॥

बुद्धि के गुणों का अतिक्रमण कर निर्ध्येय अव्यय व्यापक स्वसंवेद्य ध्येय के ध्यान को विद्वानों ने ध्यान माना है ॥ १५ ॥

धी के = बुद्धि के, सत्त्व आदि गुणों को अतिक्रान्त कर = समावेश के द्वारा शान्त कर, निर्ध्येय = नियति आकृति आदि रूप ध्येयों से निष्क्रान्त अथवा वे ध्येय निष्क्रान्त हैं जिससे, उसको; विभु = व्यापक, अव्यय = नित्य, स्वसंवेद्य = स्वप्रकाश, ध्येय = ध्यान के योग्य, (ध्यात्वा ध्येयं में ध्यात्वाऽध्येयं ऐसी पूर्वरूप सन्धि मान कर व्याख्या करते हैं—) अध्येय = अध्ययन विमर्श स्मरण के योग्य, अर्थात् चित् आनन्दघन परमेश्वर का ध्यान = विमर्श, कर जो बुध = तत्त्वज्ञ हैं, वे

धारणा परमात्मत्वं धार्यते येन सर्वदा ।
धारणा सा विनिर्दिष्टा भवबन्धविनाशिनी ॥ १६ ॥

येन योगिना सर्वदा परमात्मत्वं चैतन्यं धार्यते समावेशेनावलम्ब्यते, तस्य या धारणा चैतन्यविमर्शनात्मा वृत्तिः, सा भवबन्धविनाशहेतुर्धारणान्यधारणा-वैलक्षण्येन विनिर्दिष्टा ॥ १६ ॥

एवं यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणा लोकोत्तरदृष्ट्या प्रतिपाद्य, समाधिमपि परस्वरूपविषयमाणवशाक्तशाम्भवोपायप्राप्यमनुपायं चादिशति श्लोक-चतुष्केण—

समं सर्वेषु भूतेषु आधानं चित्तनिग्रहः ।
समाधानमिति प्रोक्तमन्यथा लोकदाम्भिकम् ॥ १७ ॥

सर्वप्राणिषु चित्तस्य समं वैषम्यप्रतिपत्तिनिग्रहात्म आधानं चित्तनिग्रहः समाधानमिति चोक्तम् । स्वात्मतुल्यताचिन्तनं यत्तत्समाधानं प्रोक्तम् । अन्यथा लोचननिमीलनादिप्रकारेणैतद्विपरीतं यत् समाधानं तत् लोकदम्भैक-प्रयोजनम् ॥ १७ ॥

उस = विमर्शस्वरूप को ध्यान मानते हैं अर्थात् अविच्छिन्न परम्परा से जानते हैं । 'च' का प्रयोग 'एव' अर्थ में है ॥ १५ ॥

धारणा का अर्थ है—जिसके द्वारा सर्वदा परमात्मता का धारण किया जाय वह धारणा कही गयी है । यह भी संसाररूपी बन्धन की विनाशिनी है ॥ १६ ॥

जिस = योगी, के द्वारा सर्वदा परमात्मत्व = चैतन्य, धारण किया जाता है = समावेश के द्वारा जिसका अवलम्बन किया जाता है उस (= योगी) की जो धारणा = चैतन्य का विमर्शन रूप वृत्ति, वह भवरूपीबन्ध के विनाश का कारण होने से धारणा कही गयी है । यह अन्य धारणाओं से विलक्षण है ॥ १६ ॥

इस प्रकार यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार ध्यान धारणा का लोकोत्तर दृष्टि से प्रतिपादन कर, आणव शाक्त और शाम्भव उपायों से प्राप्य परस्वरूपविषयक अनुपाय रूप समाधि को चार श्लोकों के द्वारा बतलाते हैं—

(समाधि शब्द का विग्रहार्थ—सम + आधि =) समस्त प्राणियों में चित्त का आधान = निग्रह ही समाधान (= समाधि) कहा गया है । इसके विपरीत (लोक प्रचलित समाधि) लोकदम्भ है ॥ १७ ॥

सब प्राणियों के विषय में चित्त का सम = वैषम्यज्ञान का निग्रहरूप जो आधान = चित्त का निग्रह, वह समाधान कहा गया है । जो स्वात्मतुल्यता का चिन्तन है वह समाधान कहा गया है । अन्यथा अर्थात् आँख बन्द करना आदि

एतद्ध्यानोपायकमाणवं समाधानम्, शुद्धविकल्पोपायं शाक्तम् । तदाह—

स्वपरस्थेषु भूतेषु जगत्यस्मिन् समानधीः ।
शिवोऽहमद्वितीयोऽहं समाधिः स परः स्मृतः ॥ १८ ॥

सर्वमिदमहमेव, इत्यहन्तेदन्तासामानाधिकरण्यात्मशुद्धविद्योत्थाध्यवसायरूपः परः समाधिः स्मृतः पारम्पर्यतः प्रसिद्धः ॥ १८ ॥

अथैकवारोपायप्राप्यमपि पुनरुपायानपेक्षतयानुपायं सततोदितं समाधिमादिशति—

सम्यक्स्वरूपसंवेद्यं संविद्रूपं स्वभावजम् ।
स्वसंवेद्यस्वरूपं च समाधानं परं विदुः ॥ १९ ॥

सम्यगेकवारोपायतः संवेद्यं स्फुरितं यत्स्वाभाविकं संविद्रूपं चकासच्चिद्धाम, तत् स्वसंवेद्यस्वरूपमिति स्वप्रकाशं नित्योदितत्वेनाव्युत्थानं समाधानम् ॥ १९ ॥

अविकल्पोपायं शाम्भवं समाधिमाह—

जो कि पूर्वोक्त के विपरीत समाधान है वह लोक में प्रदर्शन के लिये पाखण्ड करना है ॥ १७ ॥

इस प्रकार के ध्यान से आणवोपाय समाधि होती है । शुद्ध विकल्प के द्वारा शाक्त (समाधि होती है) । वह कहते हैं—

अपने या दूसरे प्राणियों में यहाँ तक कि इस संसार के विषय में भी समान बुद्धि रखना, जिसका स्वरूप है—'मैं शिव हूँ' 'मैं ही एकमात्र हूँ', (इत्यादि), पर समाधि मानी गयी है ॥ १८ ॥

'यह सब मैं ही हूँ' इस प्रकार अहन्ता इदन्ता के समानाधिकरण्यरूप शुद्ध-विद्या से उत्पन्न निश्चय ही परसमाधि स्मृत है = परम्परया प्रसिद्ध है ॥ १८ ॥

अब सतत् उदित उस समाधि का वर्णन करते हैं जो एक बार उपाय के द्वारा प्राप्त हो जाने पर फिर उपाय की अपेक्षा नहीं रखती अत एव अनुपाय कही जाती है—

जो सम्यक्स्वरूपसंवेद्य, स्वभाव से उत्पन्न संविद्रूप तथा स्वसंवेद्य रूप है, उसे (विद्वान् लोग) पर समाधि मानते हैं ॥ १९ ॥

सम्यक् = एक बार उपाय के द्वारा, संवेद्य = स्फुरित, जो स्वाभाविक संविद्रूप = प्रकाशमान चित् धाम, वह स्वसंवेद्यस्वरूप = स्वप्रकाश = नित्योदित होने के कारण व्युत्थानरहित होता है, समाधान है ॥ १९ ॥

विकल्पोपाय से रहित शाम्भव समाधि को बतलाते हैं—

राशिभ्यां चिज्जडाभ्यां च विचार्य निपुणं पदम्।
यन्नित्यं शाश्वतं रूपं समाधानं तु तद्विदुः ॥ २० ॥

जडराशिर्भुवनभावदेहादिः । चिद्राशिः सकलप्रलयाकलविज्ञानाकलमन्त्रमन्त्रेशमन्त्रमहेशशिवाख्यः प्रमातृवर्गः । ततो मध्यात् पदं विश्वप्रतिष्ठास्थानं निपुणं विचार्य बाढं विमृश्य यन्नित्यमविनाशि शाश्वतं विवर्तपरिणामशून्यं सदा स्वप्रकाशं च रूपमर्थात् स्फुरति, तत्समाधानं विदुस्तत्त्वज्ञाः ॥ २० ॥

'अष्टाङ्गेन तु योगेन' इत्युपक्रान्तमुपसंहरन् प्रकृते योजयति—

एवमष्टाङ्गयोगेन स्वभावस्थं परं ध्रुवम् ।
दृष्ट्वा वञ्चयते कालममृतेशं परं विभुम् ॥ २१ ॥
मृत्युजित् स भवेद्देवि न कालः कलयेच्च तम् ।

एवमित्युक्तरूपेण न त्वन्यशास्त्रोक्ताहिंसासत्याद्यात्मना, परममृतेशं चिन्नाथं परं विभुमनाश्रितान्ताशेषकारणस्वामिनम्, दृष्ट्वा कालं वञ्चयति, अकालकलितचिदानन्दैकघन एव जायते । अत एव तत्त्वतोऽयमेव सङ्कोचात्ममृत्युविदलनाद् मृत्युजित् । सुचिरमपि स्थिरीकृतदेहस्तु न वस्तुतो मृत्युजिदित्याशयशेषः ॥

चित्राशि एवं जडराशि के बीच से पद का भली भाँति विचार कर जो नित्यशाश्वत रूप है वह समाधि है ॥ २० ॥

जड राशि = भुवन, पदार्थ, शरीर आदि । चिद्राशि = सकल, प्रलयाकल, विज्ञानाकल, मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर, शिव नामक प्रमातृवर्ग । इनके मध्य से पद = विश्वप्रतिष्ठा का स्थान, का निपुण = भली-भाँति, विचार कर जो नित्य = अविनाशी, शाश्वत = विवर्त्त अथवा परिणाम से शून्य, सदा स्वप्रकाशरूप है अर्थात् स्फुरण करता है उसे तत्त्वज्ञ लोग समाधि कहते हैं ॥ २० ॥

श्लोक सं० ९ में 'अष्टाङ्गेन तु योगेन' कथन के द्वारा प्रारम्भ किये गये का उपसंहार करते हुए प्रस्तुत से उसको जोड़ते हैं—

हे देवि ! इस प्रकार अष्टाङ्गयोग के द्वारा स्वभावस्थ, पर, ध्रुव, व्यापक परम अमृतेश का साक्षात्कार कर योगी काल को दूर हटा देता है और मृत्युजित् हो जाता है । काल उसको प्रभावित नहीं करता ॥ २१-२२- ॥

इस प्रकार = उक्तरूप से, न कि अन्य शास्त्रों में उक्त अहिंसा सत्य आदि से, पर अमृतेश = चित् के स्वामी, पर विभु = (ब्रह्मा से लेकर) अनाश्रित शिवपर्यन्त अशेष कारणों के स्वामी को देखकर (योगी) काल का वञ्चन करते हैं = अकालकलित चिदानन्दैकघन हो जाते हैं । इसलिये वस्तुतः यही संकोचरूपी मृत्यु का विदलन करने से मृत्युजित् है । बहुत काल तक देह को स्थिर रखने वाला वस्तुतः मृत्युजित् नहीं है ॥

किं च—

तत्त्वषट्त्रिंशतस्त्यागाद् भुवनानन्त्यवर्जनात् ॥ २२ ॥
एकाशीतिपदोर्ध्वं वै वर्णपञ्चाशतः परम् ।
व्यापकं सर्वमन्त्रेषु सर्वेष्वेव हि जीवनम् ॥ २३ ॥
अष्टात्रिंशत्कलोर्ध्वं तु सर्वान्तः सर्वमध्यगम् ।
आदिर्मध्यं न चैवान्तो लभ्यते यस्य केनचित्॥ २४ ॥
तदप्रमेयमतुलं प्राप्य सर्वं न लभ्यते ।

पृथ्व्यादिशिवान्तानि तत्त्वानि, कालाग्न्याद्यनाश्रितान्तानि भुवनानि च त्यक्त्वा नवात्मादिप्रक्रियया प्रणवादिपदानामकारादिवर्णपञ्चाशत ईशानपुरुषाघोरादिकलाष्टा-त्रिंशतश्चोर्ध्वं सर्वमन्त्रव्यापकम्, एवं च षड्विधाध्वोत्तीर्णम्, अतश्च सर्वजीवितभूतं सर्वेषामन्तः पूर्वापरकोट्यात्म, तन्मयत्वादेव च विश्वस्य सर्वमध्यगतम्, न चास्य केनाप्यादिमध्यान्ता लभ्यन्ते दिक्कालादिकथोत्तीर्णत्वात्, अतश्चाप्रमेयम्, अद्वितीय-त्वादतुलम्, प्राप्य षड्विधाध्वमयदेहप्राणाद्युल्लङ्घनेन योगिभिरासाद्य, सर्वमित्यध्व-प्रपञ्चात्म निखिलं न लभ्यते न प्राप्यते तेन प्राग्वत् नाव्रियते, अथ च काक्वा

और भी—

छत्तीस तत्त्वों के त्याग से, अनन्त भुवनों का निषेध करने से, इक्यासी पदों एवं पचास वर्णों के परे जो सब मन्त्रों में व्यापक और सबका जीवन है, जो अँड़तीस कलाओं से ऊपर, सबके भीतर और सबके मध्य में है और जिसका आदि मध्य और अन्त किसी के द्वारा प्राप्त नहीं होता उस अतुल अप्रमेय को प्राप्त कर क्या सब कुछ प्राप्त नहीं हो जाता? ॥ २२-२५- ॥

(छत्तीस) तत्त्व = पृथिवी से लेकर शिवपर्यन्त, भुवन = कालाग्नि से लेकर अनाश्रित शिव पर्यन्त, इनको छोड़ कर नव आत्मा आदि की प्रक्रिया से प्रणव आदि (९ × ९ = ८१) पदों तथा 'अ' से लेकर 'क्ष' तक पचास वर्ण, उसी प्रकार ईशान तत्पुरुष अघोर आदि अँड़तीस कलाओं से ऊपर सब मन्त्रों में व्यापक रूप से रहने वाले, षट्प्रकार के अध्वाओं से उत्तीर्ण इसलिये सबका जीवनभूत, सबके अन्तः = पूर्वापर कोटिरूप, और तन्मय होने के कारण विश्व = सबके मध्य में वर्त्तमान तत्त्व, जिसका कि आदि मध्य और अन्त किसी के द्वारा प्राप्त नहीं होता क्योंकि वह दिक् काल आदि से परे हैं, इसलिये अप्रमेय है । तथा अद्वितीय होने से अतुल है, उसको प्राप्त कर अर्थात् छह प्रकार के अध्वा वाले देहप्राण आदि का उल्लङ्घन के द्वारा योगियों के द्वारा प्राप्य होकर, सब = अध्वप्रपञ्चरूप समस्त विश्व, प्राप्त नहीं किया जाता = उस (योगी) के द्वारा पूर्व की भाँति आवृत नहीं होता । अथवा काकुध्वनि के द्वारा-क्या सब कुछ नहीं प्राप्त

सर्वं न लभ्यते, अपितु लभ्यते (एव), सर्वसर्वात्मामृतेशभैरवता विद्यत इत्यर्थः ॥

तथा—

येनैकेन जगत् सर्वमप्रमेयेन पूरितम् ॥ २५ ॥
तज्ज्ञात्वा मुच्यते क्षिप्रं घोरात् संसारबन्धनात् ।

ज्ञात्वा दाढ्र्येन निश्चित्य ॥

अपि च—

तत्त्वत्रयविनिर्मुक्तं शाश्वतं चाचलं ध्रुवम् ॥ २६ ॥
दिव्येन योगमार्गेण दृष्ट्वा भूयो न जायते ।
सर्वेन्द्रियविनिर्मुक्तमवेद्यं चाप्यनामयम् ॥ २७ ॥

तत्त्वत्रयं नरशक्तिशिवाख्यम् । शाश्वतं विवर्तवाद इव नासत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहि, अचलमपरिणामि, ध्रुवं नित्यम्, इन्द्रियविनिर्मुक्तमनामयमिति मायेन्द्रियानावृतम्, अवेद्यं च, दिव्येन योगमार्गेण विकल्पहानोन्मिषदविकल्पविमर्शावष्टम्भोपायेन, दृष्ट्वा साक्षात्कृत्य, न पुर्जन्मैति ॥ २७ ॥

एवमाणवेन शाक्तेन शाम्भवेन चोपायेनासादितं परं तत्त्वं मुक्तिदं न

किया जाता ? अर्थात् प्राप्त किया ही जाता है अर्थात् वह सर्वसर्वात्मा अमृतेश भैरव हो जाता है ॥

तथा—

जिस एक अप्रमेय तत्त्व के द्वारा समस्त जगत् व्याप्त है उसको जानकर (योगी) शीघ्र ही संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है ॥ २५-२६- ॥

जानकर = दृढ़तापूर्वक निश्चय कर ॥

और भी—

तीन तत्त्वों से रहित, शाश्वत, अचल, ध्रुव, समस्त इन्द्रियों से विनिर्मुक्त अवेद्य और अनामय (पर तत्त्व) को दिव्य योगमार्ग से देखकर योगी पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता ॥ -२६-२७ ॥

तीन तत्त्व = नर शक्ति और शिव । शाश्वत = न कि विवर्त्तवाद के समान असत्य पृथक् रूप का ग्रहण करने वाला । अचल = अपरिणामी । ध्रुव = नित्य । इन्द्रिय विनिर्मुक्त अनामय = माया और इन्द्रियु से अनावृत एवं अवेद्य तत्त्व को, योगमार्ग से = विकल्पों का त्याग कर उन्मिषित होते हुए निर्विकल्प विमर्श के उपाय से, देखकर = साक्षात् कर, पुनर्जन्म नहीं होता ॥ २७ ॥

इस प्रकार आणव शाक्त और शाम्भव उपायों से प्राप्त हुआ पर तत्त्व मोक्ष

केवलमिहैवोपादेयमुक्तम्, यावत् सर्वशास्त्रेषु इत्याह—

परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
चैतन्यमात्मनो रूपं सर्वशास्त्रेषु कथ्यते ॥ २८ ॥

यत् सर्वैः समनान्तैरुपाधिभिरवच्छेदकैर्विशेषेण वर्जितं तत्सङ्कोचासंकुचितं चैतन्यमात्मनो ग्राहकस्य रूपम्, तदेव परमात्मनः परमशिवस्य स्वरूपम्, न तु व्यतिरिक्तं यथा भेदवादिनो मन्यन्ते । अत एव शिवोऽहमद्वितीयोऽहमिति तात्त्विकसमाधिनिर्णयावसरे उक्तम् । सर्वशास्त्रेषु चैतत्कथ्यते, न तु क्वचि-देवेत्यनेन सिद्धान्तानामपि रहस्याद्वयसारता अन्तःसंभवन्त्यपि गाढप्ररूढसांसारिक-द्वैतवासनानां न स्फुटीकृता । यथोक्तं श्रीकुलपञ्चाशिकायाम्—

'यत्रास्ति सर्वलोकस्य तदस्तीति विरुध्यते ।
निगद्यते यदा देवि हृदये न प्ररोहति ॥
एतस्मात् कारणाद्देवि देवताभिः प्रगोपितम् ।
तेन सिद्धेन देवेशि किं न सिद्ध्यति भूतले ॥' इति ।

तत एव समस्तशैवशास्त्रसारसंग्रहरूपेषु शिवसूत्रेषु 'चैतन्यमात्मा' इति प्रारम्भ एवोक्तम् ॥ २८ ॥

प्रदान करता है इसलिये केवल इसी शास्त्र में नहीं बल्कि सब शास्त्रों में उसे उपादेय कहा गया—यह कहते हैं—

समस्त उपाधियों से रहित जो आत्मा का चैतन्य रूप है वही समस्त शास्त्रों में परमात्मा का रूप कहा जाता है ॥ २८ ॥

जो सभी = समनापर्यन्त उपाधियों अर्थात् अवच्छेदकों से विशेष रूप से रहित है = उनके संकोच से असंकुचित चैतन्य, आत्मा का = ग्राहक (प्रमाता) का रूप है वही परमात्मा = परमशिव, का स्वरूप है । न कि भिन्न, जैसा कि भेदवादी लोग मानते हैं । इसीलिये तात्त्विक समाधि के निर्णय के अवसर पर 'मै शिव हूँ', 'मै अद्वितीय हूँ',—ऐसा कहा गया । यह सब शास्त्रों में कहा जाता है न कि किसी-किसी शास्त्र में । इसलिये सिद्धान्तों का रहस्य अथवा सार अद्वयतत्त्व ही है—यह धारणा हृदय में उत्पन्न हो सकती है किन्तु गाढ़ एवं दृढ सांसारिक द्वैतवासना वालों के लिये यह स्पष्ट नहीं होती । जैसा कि कुलपञ्चाशिका में कहा गया है—

'हे देवि ! जब सब लोगों के बीच 'वह नहीं है', 'वह है'—इस प्रकार का विरोधी वर्णन होने लगता है (तब वह तत्त्व हृदय में परिलक्षित नहीं होता) इसलिये देवताओं ने (संशयात्मा लोगों से) उसे छिपाये रखा । हे देवेशि ! उसके सिद्ध होने पर भूतल पर क्या सिद्ध नहीं होता अर्थात् सब कुछ मिल जाता है ।'

इसीलिये समस्त शैवशास्त्र के सार के संग्रहरूप शिवसूत्रों में पहले ही

एवंभूतमपि चैतदात्मनो रूपम्—

निर्मलं न भवेद्देवी यावच्छक्त्या न बोधितम् ।

'शैवी मुखमिहोच्यते ।' (२०)

इति श्रीविज्ञानभट्टारकादिष्टनीत्या परमेश्वरस्यैव शक्त्यां शक्त्याभासात्मनोऽणोः स्वस्फुरत्ताप्रवेशनयाऽणुत्वं निमज्ज्य, परमशिवत्वमुन्मील्यते ॥

ननु दीक्षयाभिव्यक्तशिवत्वा अपि मुक्तशिवा भिन्ना एव परमशिवात्, तत्कथं परमात्मस्वरूपैक्यमात्मचैतन्यस्योक्तम् ?—इत्याशङ्कां शमयति—

दीक्षाज्ञानादिना शोध्यमात्मानं चैव निर्मलम् ॥ २९ ॥
ये वदन्ति न चैवान्यं विन्दन्ति परमं शिवम् ।
त आत्मोपासकाः शैवे न गच्छन्ति परं पदम्॥ ३० ॥

दीक्षाज्ञानयोगचर्याभिः शोध्यमात्मानं निर्मलमन्यमेव परमशिवाद् व्यक्तिरिक्तमेव वदन्ति, न तु परमशिवं विन्दन्ति परमशिवरूपं नासादयन्ति, ते आत्मोपासकाः शुद्धात्मतत्त्वाराधकाः शैवे यत् परं पदं परमशिवत्वम्, तन्न गच्छन्ति नाप्नुवन्ति ।

'चैतन्यमात्मा' कहा गया ॥ २८ ॥

आत्मा का इस प्रकार का भी रूप—

हे देवि ! जब तक शक्ति के द्वारा बोधित नहीं होता तब तक निर्मल नहीं होता ॥ २९- ॥

'(यह शक्ति) इस शास्त्र में शिव का मुख कही जाती है ।' (२०)

इस विज्ञानभट्टारक (= विज्ञानभैरव) की नीति के अनुसार परमेश्वर की ही शक्ति में शक्त्याभास रूप अणु का अणुत्व जब स्वस्फुरताप्रवेश के कारण तिरोहित हो जाता है तब परम शिवत्व का उन्मीलन होता है ॥

प्रश्न है कि दीक्षा के द्वारा जिनका शिवत्व अभिव्यक्त हो गया है ऐसे मुक्त शिव परमशिव से भिन्न ही होते हैं तो फिर आत्म चैतन्य को परमात्मस्वरूप से अभिन्न कैसे कहा गया?—इस शङ्का को दूर करते हैं—

जो लोग आत्मा को दीक्षा ज्ञान आदि के द्वारा शोध्य अत एव निर्मल एवं भिन्न कहते हैं, वे परमशिव को प्राप्त नहीं करते । वे आत्मोपासक शिव स्थानीय पर पद को नहीं प्राप्त करते (अथवा शैवविधि के द्वारा ही पर पद को प्राप्त करते हैं)॥ -२९-३० ॥

जो लोग दीक्षा ज्ञान योग चर्या के द्वारा शोध्य आत्मा को निर्मल अत एव परमशिव से भिन्न कहते हैं, वे परमशिव का लाभ नहीं प्राप्त करते = परमशिवरूप को नहीं प्राप्त करते । आत्मोपासक = शुद्ध आत्म तत्त्व की आराधना करनेवाले वे

यदि तु कदाचित् तीव्रशक्तिपाताद् गच्छन्ति, तच्छैवेन शिवादिष्टाद्वयज्ञानेनैव न त्वन्येन ज्ञानेनेति सप्तमीतृतीये तन्त्रेण योज्ये । तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे समनान्तस्थशुद्धात्मनिर्णयावसरे—

अविदित्वा परं तत्त्वं शिवत्वं कल्पितं तु यैः ।
त आत्मोपासका शैवे न गच्छन्ति परं शिवम् ॥' (४।३९२)

इति ॥ ३० ॥

एतदेव भङ्ग्यन्तरेण स्फुटयति—

यद्वा तु परमाशक्तिः सर्वज्ञादिगुणान्विता ।
आपादादिविकासिन्या न विकास्येत निर्मला ॥ ३१ ॥
तावन्न निर्मलो ह्यात्मा बद्धः शैवे तदोच्यते ।

तावच्छब्दापेक्षया यावच्छब्दोऽध्याहार्यः । तेनापादादि पाङ्गुष्ठात्प्रभृति विकासिन्या प्राणप्राधान्यनिमज्जनेन चित्प्राधान्यमुन्मज्जयन्त्या दीक्षाज्ञानादिरूपया अनुग्रहिकया शक्त्या यावत् सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वस्वतन्त्रताद्यात्मा परमा शक्तिर्न विकास्येत नोन्मिष्येत, न तावदात्मा जीवो निर्मलः । यदा चैवं तदा

लोग शैव में जो परमपद = परमशिवत्व उसको नहीं प्राप्त होते और यदि कदाचित् तीव्र शक्तिपात से (परम शिव के पास) जाते भी हैं तो वह भी शैवेन = शिवादिष्ट अद्वय ज्ञान के द्वारा । (इस प्रकार 'शिव' शिव पद में सप्तमी विभक्ति लगाकर 'न' को अलग कर 'शैवे न' गच्छन्ति ऐसा अन्वय करना चाहिये अथवा 'शैवेन' इस प्रकार शैव शब्द से तृतीया विभक्ति जोड़कर 'शैवेन गच्छन्ति' ऐसा अन्वय करना चाहिये) । वही स्वच्छन्द तन्त्र में समनान्तस्थशुद्धात्मनिर्णय के अवसर पर कहा गया—

'जिन लोगों ने शिवतत्त्व को जाने बिना शिवत्व की कल्पना की है वे शुद्ध आत्मोपासक हैं तथा शिवतत्त्ववर्त्ती परशिवरूपता को नहीं प्राप्त करते' ॥ ३० ॥

इसी को दूसरे ढंग से स्पष्ट करते हैं—

जब तक पैर से लेकर (शिरपर्यन्त) विकासवाली शक्ति के द्वारा सर्वज्ञत्व आदि गुणों वाली निर्मल परमाशक्ति विकसित नहीं होती यह निर्मल आत्मा शैवशास्त्र के अनुसार बद्ध कहा जाता है ॥ ३१-३२- ॥

'तावत्' शब्द को दृष्टि में रखकर 'यावत्' शब्द को अपनी ओर से जोड़ना चाहिये । पैर से लेकर = पैर के अंगूठे से लेकर, विकास करने वाली = प्राण की प्रधानता को दूर कर चित् के प्राधान्य का आहरण करने वाली, दीक्षा ज्ञानादिरूपा अनुग्राहिका शक्ति के द्वारा जब तक सर्वज्ञत्व सर्वकर्तृत्व स्वतन्त्रत्व आदि रूप परमशक्ति का विकास = उन्मेष, नहीं होता तब तक आत्मा = जीव, निर्मल

शैवेऽसावात्मा जीवन्मुक्तेरनासादाद्बद्ध एवोच्यते ॥

विकासितायाः शक्तेः स्वरूपं दर्शयति—

यत्रस्थः पुरुषः सर्वं वेत्त्यतीतमनागतम् ॥ ३२ ॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तत्तत्त्वं शक्तिलक्षणम् ।

इन्द्रियाण्यन्तर्मुखीकृत्य यत्र तुटिपातात्मनि आद्योन्मेषस्थितौ लब्धावस्थितिर्योगी, अतीतानागतादि सर्वं वेत्ति, तत् प्रतिभात्म तत्त्वं शक्तिलक्षणम् ॥

तथा—

यत्र यत्र भवेदिच्छा ज्ञानं वापि प्रवर्तते ॥ ३३ ॥
क्रियाकृत्यस्वरूपा वा तत्तत्त्वं शक्तिलक्षणम् ।

न कृत्यं निष्पाद्यं स्वरूपं यस्यास्तादृश्यकृत्रिमा निर्विकल्पा इच्छा ज्ञप्तिः स्फुरत्तात्मा क्रिया वा यत्र यत्रावसरे प्रवर्तते, तत्र तत्र तद् एषणीयाद्यनारूषितशुद्धेच्छादिमात्रात्मतत्त्वं शक्तिलक्षणम् ॥

तथा—

नहीं होता । जब ऐसा होता है तब शैवशास्त्र के अनुसार यह आत्मा जीवन्मुक्ति को न प्राप्त करने के कारण बद्ध ही कहा जाता है ॥

विकसित शक्ति का स्वरूप दिखलाते हैं—

जिसमें स्थित (= जिससे सम्पन्न) पुरुष इन्द्रियसमूह का नियमन कर अतीत अनागत सब को जान लेता है वह तत्त्व शक्ति है ॥ -३२-३३- ॥

इन्द्रियों को अन्तर्मुख कर जहाँ तुटिपात रूप प्रथम उन्मेष की स्थिति में रहकर योगी अतीत अनागत आदि (= दूरस्थ अतीन्द्रिय) सब को जान लेता है वह प्रतिभारूपी तत्त्व शक्तिपद का वाच्य है । (पातञ्जल योगसूत्र 'प्रातिभाद्वा सर्वम्' ३।३३—से यही अर्थ निकलता है) ॥

तथा—

जिस-जिस विषय की अकृत्यस्वरूपा इच्छा होती है या जिस-जिस विषय का (= वैसा) ज्ञान होता है अथवा (उस प्रकार की) क्रिया जहाँ प्रवृत्त होती है । वह तत्त्व शक्ति है ॥ -३३-३४- ॥

नहीं है कृत्य = निष्पादन के योग्य स्वरूप जिसका वैसी अकृत्रिमा = निर्विकल्पा इच्छा, ज्ञान अथवा स्फुरत्ता रूपा क्रिया जिस-जिस अवसर पर प्रवृत्त होती है उस-उस अवसर पर वह = एषणीय आदि से अनारूषित शुद्ध इच्छा ज्ञान क्रिया तत्त्व ही शक्ति है ॥

व्यापकस्य यतो देवि चिद्रूपस्यात्मनः शिवात् ॥ ३४ ॥
प्रसरत्यद्भुतानन्दा सा शक्तिः परमा स्मृता ।

व्यापकचिन्मात्रमयतामात्मनो भावयतो योगिनो या आश्चर्यरूपा आनन्दात्मा शक्तिः शिवात् प्रसरत्युन्मिषति, सा परमा स्मृता तत्तत्त्वं शक्तिलक्षणमित्यर्थः ॥

एवं लक्षितशक्त्यवष्टम्भविस्फारेण—

विप्रसार्य तमात्मानं सर्वज्ञादिगुणैर्गुणी ॥ ३५ ॥
साभासः कथ्यते देवि शिवः परमकारणम् ।

सर्वज्ञादिगुणैरिति तद्विमर्शनेनात्मानं विप्रसार्य—

'बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा यतः प्रकाशावरणक्षयः' (यो०सू० ३।४३) इति स्थित्या विकास्य यो योगी तैरेव सर्वज्ञत्वादिगुणैर्गुणी संपन्नः, स सर्वज्ञत्वाद्याभासविमर्शनादेव साभासः शिवः कथ्यते ॥

एतदेव स्फुटयति—

सर्वज्ञः परितृप्तश्च यस्य बोधो ह्यनादिमान् ॥ ३६ ॥
स्वतन्त्रो ह्यप्रलुप्तश्च यश्च वानन्तशक्तिकः ।

तथा—

हे देवि ! व्यापक एवं चिद्रूप (योगी) के जिस आत्मा रूपी शिव से जो अद्भुत आनन्दस्वरूपा शक्ति प्रसृत होती है वह परमा (शक्ति) मानी गयी है ॥ -३४-३५- ॥

अपनी व्यापक चिन्मात्रमयता की भावना करने वाले योगी के अन्दर जो आश्चर्यमयी आनन्दरूपा शक्ति शिव से उन्मिषित होती है वह परमाशक्ति मानी गयी है। वह तत्त्व (या उसका तत्त्व) शक्ति है ॥

हे देवि ! गुणवान् (साधक) सर्वज्ञत्व आदि गुणों से अपना विकास कर परमकारण साभास शिव कहा जाता है ॥ -३५-३६- ॥

सर्वज्ञता आदि गुणों के विमर्शन से अपने को—

'(शरीर के) बाहर (मन की) अकल्पिता वृत्ति महाविदेहा (धारणा) होती है। इसके बाद प्रकाश के आवरण का नाश हो जाता है।' (पा०यो०सू० ३।४३)

इस स्थिति से विकसित कर जो योगी उन्हीं सर्वज्ञत्व आदि गुणों से गुणी हो जाता है वह सर्वज्ञत्व आदि आभासों का विमर्शन करने से साभास शिव कहा जाता है ॥

उसी को स्पष्ट करते हैं—

शक्तिमान् गुणभेदेन स्वगुणान् विन्दते गुणी ॥ ३७ ॥
पृथग्भेदविभेदेन नानात्वं विमृशेदिह ।
स साभास इति प्रोक्तो निराभासस्तु कथ्यते ॥ ३८ ॥

परितृप्तो नैराकांक्ष्येण चिदानन्दघनः, अनादिमान् न तु भावनोत्थः, स्वतन्त्रो न तु भेदेश्वरवत् कर्ममलपरिपाकाद्यपेक्षः, अप्रलुप्तो न तु ब्रह्मादिवत् स्वापाद्यावृतः, अनन्तशक्तिकः

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नम् ।'

इति स्थित्या मरीचिरूपाशेषविश्वशरीरः, शक्तिमानिति समुत्पन्नयथालक्षितपरशक्तिस्वरूपः, गुणानां सत्त्वरजस्तमसां भेदेन चिद्भुवि देहादिप्रमातृतानिमज्जनोत्थेन विदारणेन, स्वगुणान् सर्वज्ञत्वादीन् लभते । तैरेव च गुणैर्गुणी, भेदानां सर्वज्ञत्वादिविशेषाणां व्याख्यातदृशा व्यावृत्तिकृतो यः पृथग्विभेदस्तेन नानात्वं विचित्राभासरूपतां य आत्मनो विमृशेत्, स साभास इत्युक्तः । निराभासस्तु उच्यते ॥

तमाह—

जो सर्वज्ञ, परितृप्त है; जिसका बोध अनादि है; जो स्वतन्त्र, अलुप्त और अनन्त शक्तिवाला है; शक्तिमान्, सत्त्वादि गुणों के भेद से अपने गुणों को प्राप्त करता है वही गुणी है । पृथक् भेद विभेद के कारण जो यहाँ नानात्व का विमर्श करता है । वह साभास शिव कहा जाता है । आगे निराभास का वर्णन कर रहे हैं ॥ -३६-३८ ॥

परितृप्त = निराकाङ्क्ष होने के कारण चिदानन्दघन । अनादिमान् न कि भावना से उठा हुआ । स्वतन्त्र, न कि भेदवादियों के ईश्वर की भाँति कार्म मल के परिपाक आदि की अपेक्षा वाला । अप्रलुप्त, न कि ब्रह्मा आदि की भाँति निद्रा आदि से आवृत । अनन्त शक्तिवाला—

'इसकी शक्तियाँ ही सम्पूर्ण संसार है ।'

इस स्थिति से मरीचिरूप समस्त विश्वशरीर वाला, शक्तिमान् = समुत्पन्न यथालक्षित परशक्तिरूप । गुणों = सत्त्व रजस् तमस्, के भेद से चिद्भूमि में देहादिप्रमातृता के निमज्जन से उत्पन्न विदारण से, अपने गुणों = सर्वज्ञत्व आदि, को प्राप्त करता है । उन्हीं गुणों के कारण वह गुणी है । भेदों अर्थात् सर्वसत्त्व आदि विशेषों का ऊपर व्याख्यात रीति से व्यावृत्ति करने वाला जो पृथक् विभेद उससे जो अपनी अनेकरूपता = विचित्राभासरूपता, का विमर्श करता है वह साभास कहा जाता है । निराभास का कथन करते हैं ॥ ३६-३८ ॥

उसी (= निराभास) को कहते है—

नाहमस्मि न चान्योऽस्ति निराभासस्तदा भवेत् ।
सावस्था परमा प्रोक्ता शिवस्य परमात्मनः ॥ ३९ ॥

आभासेभ्यो ग्राह्यग्राहकविमर्शात्मकेभ्यो निष्क्रान्तः चिद्विमर्शैकपरमार्थः । तदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

'सर्वथा त्वन्तरालीनानन्ततत्त्वौघनिर्भरः ।
शिवश्चिदानन्दघनः परमाक्षरविग्रहः ॥' (४।१।१४)

इति ॥ ३९ ॥

एतद्दशासमापन्नस्य च योगिन ईदृशी स्फुरत्तेत्याह—

नाहमस्मि न चान्योऽस्ति ध्येयं चात्र न विद्यते ।
आनन्दपदसंलीनं मनः समरसीगतम् ॥ ४० ॥

अहमिति देहादिर्ग्राहकः । अन्यो मद्व्यतिरिक्तो नीलादिः । ध्येयमित्यनुग्राहकत्वेन बुद्ध्योपस्थापितम् ॥ ४० ॥

एतत्पदलाभाय शाम्भवोपायमादिशति देवः—

नोर्ध्वे ध्यानं प्रयुञ्जीत नाधस्तान्न च मध्यतः ।
नाग्रतः पृष्ठतः किञ्चित् पार्श्वयोरुभयोरपि ॥ ४१ ॥

'न मैं हूँ, न कोई दूसरा है' (जब इस प्रकार की चेतना प्रस्फुरित होती है तब वह) निराभास शिव होता है । वह परमात्मा शिव की परम अवस्था कही गयी है ॥ ३९ ॥

ग्राह्यग्राहक के विमर्शरूप आभासों से ऊपर उठकर जो केवल चिद्विमर्शमात्र हो जाता है (वह निराभास कहलाता है) । ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया है—

अनन्त तत्त्वों के समूह को जो सर्वथा भीतर लीन कर लेता है वही परमाक्षर विग्रह चिदानन्दघन शिव है (४.१.१४) ॥ ३९ ॥

इस दशा को प्राप्त योगी की ऐसी स्फुरत्ता होती है—यह कहते हैं—

'न मैं हूँ', 'न कोई दूसरा है'; यहाँ कोई ध्येय (= ध्यान करने योग्य वस्तु) नहीं है; आनन्दपद में संलीन मेरा मन समरस (= एकरूप) हो गया है ॥ ४० ॥

मैं = देह आदि प्रमाता रूप ग्राहक । अन्य = मुझसे भिन्न लीन सुख आदि (ग्राह्य)। ध्येय = अनुग्राहक के रूप में बुद्धि के द्वारा उपस्थापित ॥ ४० ॥

इस पद के लाभ के लिये भगवान् शाम्भवोपाय को बतलाते हैं—

न ऊपर ध्यान करना चाहिये न नीचे और न मध्य में, आगे-पीछे

नान्तःशरीरसंस्थाने न बाह्ये भावयेत् क्वचित् ।
नाकाशे बन्धयेल्लक्ष्यं नाधो दृष्टिं निवेशयेत् ॥ ४२ ॥
न चाक्ष्णोर्मीलनं किञ्चिन्न किञ्चिद् दृष्टिबन्धनम्।
अवलम्बं निरालम्बं सालम्बं न च भावयेत् ॥ ४३ ॥
नेन्द्रियाणि न भूतानि शब्दस्पर्शरसादि यत्।
सर्वं त्यक्त्वा समाधिस्थः केवलं तन्मयो भवेत्॥ ४४ ॥

ऊर्ध्वे द्वादशान्ते, अधः कन्दादौ, मध्ये हृदादौ, अग्रतः पृष्ठतः पार्श्वयोः, तत्पुरुषसद्योजातादिरूपम् । अन्तःशरीर इति—

'आमूलात्किरणाभासां सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरात्मिकाम्।
चिन्तयेत्तां द्विषट्कान्ते शाम्यन्तीं भैरवोदयः ॥' (वि०भै० २८)

इतिवत् । न बाह्य इति—

'वस्त्वन्तरे वेद्यमाने सर्ववेद्येषु शून्यता ।
तामेव मनसा ध्यायन् विदितोऽपि प्रशाम्यति ॥'(वि०भै० १२२)

इतिवत् । नाकाश इति—

अगल-बगल भी नहीं । न शरीरसंस्थान के भीतर न कहीं बाहर भावना करनी चाहिये । न आकाश में लक्ष्यबन्ध करना चाहिये और न दृष्टि को कहीं स्थिर करना चाहिये । न आखों को थोड़ा बन्द करे न दृष्टिबन्धन (= करना चाहिये)। अवलम्ब, सालम्ब, निरालम्ब भावना नहीं करनी चाहिये । इन्द्रिय पञ्चमहाभूत और शब्द स्पर्श आदि भी नहीं है—ऐसा समझना चाहिये । इस प्रकार सब को छोड़ कर समाधिस्थ होकर केवल तन्मय होना चाहिये ॥ ४१-४४ ॥

ऊर्ध्व में = द्वादशान्त में । नीचे = कन्द आदि में । मध्य = हृदय आदि में। आगे पीछे दोनों पार्श्वों में, तत्पुरुष सद्योजात आदि रूप की भावना भी नहीं करनी चाहिये । शरीर के भीतर—

'किरण के समान सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर मूलाधार से लेकर द्विषट्कान्त (द्वादशान्त) तक पहुँचकर शान्त होने वाली प्राण वायु का चिन्तन करना चाहिये । इससे भैरव (स्वरूप) का उदय होता है ॥' (वि०भै०२८)

के समान (चिन्तन करना चाहिये)। बाहर नहीं—

'किसी एक वस्तु का ज्ञान होते समय दूसरी समस्त वेद्यवस्तुओं में शून्यता की भावना करनी चाहिये । उस (= शून्यता) का ही मन से ध्यान करता हुआ योगी ज्ञान से भी ऊपर हो जाता है अर्थात् शान्त ब्रह्मरूप हो जाता है ।' (वि०भै० १२२)

तेजसा सूर्यदीपादेराकाशे शबलीकृते ।
दृष्टिं निवेश्य तत्रैव स्वात्मरूपं प्रकाशते ॥ (वि०भै० ७६)

इतिवत् । नाध इति—

कूपादिके महागर्ते स्थित्वोपरि निरीक्षणात् ।
अविकल्पमतेः सम्यक् सद्यश्चित्तलयः स्फुटम् ॥ (वि०भै० ११५)

इतिवत् । न चाक्ष्णोर्मीलनमिति—

एवमेव निमील्यादौ नेत्रे कृष्णाभमग्रतः ।
प्रसार्य भैरवं रूपं भावयंस्तन्मयो भवेत् ॥ (वि०भै० ८८)

इतिवत् । न दृष्टिबन्धनमिति—

निर्वृक्षगिरिभित्त्यादिदेशे दृष्टिं विनिक्षिपेत् ।
निलीने मानसे भावे वृत्तिक्षीणः प्रजायते ॥ (वि०भै० ६०)

इतिवत् । अवलम्ब्यत इति अवलम्बो ध्येय आकारस्तम्—

भावे त्यक्ते निरुद्धा चिन्नैव भावान्तरं व्रजेत्।

के समान । आकाश में नहीं—

'सूर्य दीपक आदि के तेज से आकाश के चित्रित होने पर उसमें दृष्टि लगाकर (= देखने से) उसी में अपना रूप प्रकाशित होता है ।' (वि०भै० ७६)

के समान । नीचे नहीं—

'कूप आदि किसी बड़े गहरे गड्ढे में खड़ा होकर ऊपर देखने से निर्विकल्पक बुद्धि वाले (व्यक्ति) का तत्काल पूर्णतया स्पष्ट चित्तलय हो जाता है ।' (वि०भै०११५)

के समान । आँखों का बन्द करना भी नहीं—

'इस प्रकार पहले दोनों आँखों को बन्द कर सामने काले रंग के भैरव के रूप को उपस्थापित कर उस रूप की भावना करने वाला तन्मय हो जाता है ।' (वि०भै० ८८)

के समान । दृष्टिबन्धन नहीं—

'वृक्ष, पर्वत, दीवाल आदि (आधार) से रहित शून्य आकाश में दृष्टि स्थित करनी चाहिये । मन में उत्पन्न भाव के विलीन होने पर (साधक की) वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं ॥' (वि०भै० ६०)

के समान । जिसका अवलम्बन किया जाय वह अवलम्बन है अर्थात् ध्येय आकार, उसको—

'भाव का त्याग करने पर निरुद्धा चित् किसी दूसरे भाव पर स्थित नहीं

तदा तन्मध्यभावेन विकसत्यतिभावना ॥ (वि०भै० ६२)

इतिवत् । निरालम्ब इति—

उभयोर्भावयोर्ज्ञाने ज्ञात्वा मध्यं समाश्रयेत् ।
युगपच्च द्वयं त्यक्त्वा मध्ये तत्त्वं प्रकाशते॥ (वि०भै० ६१)

इतिवत् । सहालम्बेन वर्तते सालम्बं साकारं ज्ञानम्—

'इच्छायामथवा ज्ञाने जाते चित्तं निवेशयेत् ।
तत्र बुद्ध्यानन्यचेतास्ततः स्यादात्मदर्शनम् ॥' (वि०भै० ९८)

इतिवत् । नेन्द्रियाणि न भूतानीति तत्तद्धारणापटलोक्तनीत्या सर्वं त्यक्त्वा समाधिस्थ इति अकिञ्चिच्चिन्तकत्वेन स्वस्वरूपविमर्शनप्रवणस्तन्मय इत्यानन्दपद-संलीनसमरसज्ञानमयः ॥ ४४ ॥

या चैवंभूता दशा—

सावस्था परमा प्रोक्ता परस्य परमात्मनः ।
निराभासं पदं तत्तु तत्प्राप्य विनिवर्तते ॥ ४५ ॥

सांसारिकी स्थितिमुज्झति ॥ ४५ ॥

होती । तब उस (= व्यक्ताव्यक्त भाव) के मध्य में भावना करने पर अतिक्रान्त-भावना विकसित होती है ।' (वि०भै० ६२)

के समान । निरालम्ब—

'दोनों (भावों) का ज्ञान होने पर मध्य का आश्रयण करना चाहिये, फिर दोनों का एक साथ त्याग करने पर मध्य में आत्मतत्त्व प्रकाशित होता है ॥' (वि०भै० ६१)

के समान । जो आलम्बन के साथ हो वह सालम्ब होता है अर्थात् साकार ज्ञान—

'इच्छा अथवा ज्ञान के उत्पन्न होने पर चित्त को वहाँ लगाये । बुद्धि के द्वारा एकाग्रचित होने पर आत्मदर्शन हो जाता है ॥' (वि०भै० ९८)

के समान । न इन्द्रियाँ हैं न भूत हैं अर्थात् तत्तद् धारणापटल में कथित नीति के अनुसार सब कुछ छोड़ कर समाधिस्थ = किसी का चिन्तन किये बिना केवल अपने स्वरूप का विमर्श करने वाला, आनन्दपद में संलीन समरस ज्ञानमय हो जाता है ॥ ४४ ॥

इस प्रकार की जो दशा है—

वह परमात्मा की परम अवस्था कही गयी है । वही निराभास पद है । उसको प्राप्त कर (योगी) विनिवृत्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

अतश्च यः—

भावयेदेवमात्मानमात्मनो भावनाबलात् ।
स गच्छेत् परमं शान्तं शिवमत्यन्तनिर्मलम् ॥ ४६ ॥

आत्मनो निर्विकल्पसंवेदनस्य या भावना विकल्पहानेन संपादना, तस्या यद्बलं विमर्शदाढर्यं तेन भावयेत् ॥ ४६ ॥

किं च—

तत्तत्त्वमेकं सर्वत्र भवति(ते) मृत्युजिच्छिवम् ।
तच्चामृतेशं परमं तृतीयं पदमुत्तमम् ॥ ४७ ॥
आख्यातं तव देवेशि किमन्यत् कथयामि ते ।

सर्वत्र क्षित्याद्यनाश्रितान्ते, तदेवैकमद्वितीयम्, तत्त्वं पारमार्थिकं स्वरूपम्, शिवं श्रेयोरूपम्, मृत्युजिद्भवति । तृतीयमिति प्रोक्तस्थूलसूक्ष्मज्ञानद्वयापेक्षया, तवेत्यनुग्रहैकपरायाः, किमन्यत् कथयामीति नातोऽन्यद्रहस्यं कथनीयं किञ्चिदस्तीत्यर्थः ॥

एतदुपसंहरति—

(विनिवृत्त हो जाता है =) सांसारिक स्थिति को छोड़ देता है ॥ ४५ ॥

इसलिये जो (साधक)—

अपने भावना के बल से आत्मा की इस प्रकार भावना करता है । वह अत्यन्त निर्मल परम शान्त शिवभाव को प्राप्त हो जाता है ॥ ४६ ॥

अपने निर्विकल्पक संवेदन की जो भावना = विकल्प के परित्याग से सम्पादना, उसका जो बल = विमर्श की दृढ़ता, उसके द्वारा भावना करनी चाहिये ॥ ४६ ॥

और भी—

वही एक तत्त्व जो कि सर्वव्यापी और शिव है, मृत्युञ्जय (के नाम से ज्ञात) होता है । वही परम अमृतेश और उत्तम तृतीय पद है । हे देवेशि ! (मैंने उसको) तुम्हें बतलाया, तुमको और क्या बतलाऊँ ॥ ४७-४८- ॥

सर्वत्र = पृथिवी से लेकर अनाश्रित शिवपर्यन्त; वही एक = अद्वितीय; तत्त्व = पारमार्थिक स्वरूप; शिव = कल्याणकारी, मृत्युजित् होता है । तीसरा = उपर्युक्त स्थूल सूक्ष्म दो ज्ञानों की अपेक्षा । तुमको जो कि अनुग्रहपरायणा हो; दूसरा क्या कहूँ—इसके अतिरिक्त कोई और रहस्य कथनीय नहीं है ॥

इसका उपसंहार करते हैं—

एवं मृत्युजिता सर्वं ध्यात्वा व्याप्तं विमुच्यते ॥ ४८ ॥

योगी ॥ ४८ ॥

एतच्च—

सर्वकालं तु कालस्य वञ्चनं कथितं प्रिये ।

अकालकलितचिद्धामसमावेशोपदेशात् ॥

प्रकृतमुपसंहृत्य पूर्वप्रस्तुतमुपसंहरति—

एवं तु त्रिविधं देवि मया ते प्रकटीकृतम् ॥ ४९ ॥
कालस्य वञ्चनं नाम..........

एष च—

................योगः परमदुर्लभः ।

किं च—

अनेनाभ्यासयोगेन मृत्युजिद् भवति(ते) नरः ॥ ५० ॥

न केवलमात्मनः, यावत्—

इस प्रकार योगी सब कुछ को मृत्युञ्जय से व्याप्त हुआ ध्यान कर मुक्त हो जाता है ॥ ४८ ॥

योगी (मुक्त हो जाता है) ॥ ४८ ॥

और यह—

हे प्रिये ! काल का अपसारक सर्वकाल तुमको बतलाया गया ॥४९-॥

अकालकलित चिद्धाम के समावेश के उपदेश के कारण (यह कहा गया) ॥

प्रस्तुत का उपसंहार कर पूर्वप्रस्तुत को उपसंहृत करते हैं—

हे देवि ! इस प्रकार मैंने तुम्हें काल का तीन प्रकार का वञ्चन (= त्याग) बतलाया ॥ -४९-५०- ॥

यह—

योग परम दुर्लभ है ॥ -५०- ॥

और भी—

इसके अभ्यासयोग से मनुष्य मृत्युजित् हो जाता है ॥ -५० ॥

न केवल अपनी मृत्यु बल्कि—

अनेनैव तु योगेन लोकानुग्रहकाम्यया।
भवते मृत्युजिद्योगी सर्वप्राणिषु सर्वदा ॥ ५१ ॥

एतज्ज्ञाननिष्ठो विश्वानुग्रहकरणक्षम इत्यर्थः ।

यत्त्वत्राधिकारे परं ज्ञानमुक्तम्—

एष मृत्युञ्जयः ख्यातः शाश्वतः परमो ध्रुवः ।
अस्मात् परतरो नास्ति सत्यमेतद्वदाम्यहम् ॥ ५२ ॥

शिष्याणामत्रार्थे दृढ आश्वासो जायतामित्याशयेनादरादुक्तमर्थमत्युपादेयत्वात् पुनः पुनरादिशति—

यत्परामृतरूपं तु त्रिविधं चोदितं मया ।
तदभ्यासाद् भवेज्जन्तुरात्मनोऽथ परस्य वा ॥ ५३ ॥
अमृतेशसमो देवि मृत्युजिन्नात्र संशयः ।

किञ्चेमं मृत्युजिन्नाथम्—

येन येन प्रकारेण यत्र यत्रैव संस्मरेत् ॥ ५४ ॥
तेन तेनैव भावेन स योगी कालजिद् भवेत् ।

संसारी लोगों के ऊपर कृपा करने की इच्छा से इस योग के द्वारा योगी सभी प्राणियों के विषय में सर्वदा मृत्युजित् होता है । (अर्थात् अन्य प्राणियों को भी मृत्यु से छुटकारा दिला सकता है) ॥ ५१ ॥

इस ज्ञान में परिनिष्ठित योगी विश्व के ऊपर अनुग्रह करने में सक्षम होता है ॥

इस अधिकार जो पर ज्ञान कहा गया—

वह शाश्वत परम ध्रुव मृत्युञ्जय कहा गया है । इससे बढ़कर कुछ नहीं है । यह मैं सत्य कह रहा हूँ ॥ ५२ ॥

इस विषय में शिष्यों को दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो इस आशय से आदरपूर्वक कहे गये अर्थ को, अत्यन्त ग्राह्य होने के कारण, बार-बार कह रहे हैं—

जो तीन प्रकार का पर अमृत मैंने (तुमको) बतलाया उसके अभ्यास से मनुष्य अपने और दूसरे के लिये अमृतेशतुल्य होकर मृत्युजित् हो जाता है । हे देवि ! इसमें संशय नहीं है ॥ ५३-५४- ॥

इस मृत्युञ्जयभट्टारक का—

योगी जिस-जिस प्रकार से जहाँ-जहाँ (उसका) स्मरण करता है उसी-उसी भाव से वह कालजयी हो जाता है ॥ -५४-५५- ॥

येन येनेत्याणवेन शाक्तेन शाम्भवेन वा । यत्र यत्रेति नात्र देशकालावस्थादि-नियम इत्यर्थः ॥

अयं च योगी—

यत्र यत्र स्थितो वापि येन येन व्रतेन वा॥ ५५ ॥
येन येन च योगेन भावभेदेन सिद्ध्यति ।

येन येन योगेन तत्तत्संहितासु योगपादोक्तेन, भावभेदेनेत्येतत्तत्त्वनिष्ठभावना-विशेषेण ॥

यच्चेदममृतेशनाथाख्यं परं तत्त्वम्—

तदेकं बहुधा देवि ध्यातं वै सिद्धिदं भवेत् ॥ ५६ ॥
द्वैताद्वैतविमिश्रे वा एकवीरेऽथ यामले ।
सर्वशास्त्रप्रकारेण सर्वदा सिद्धिदं भवेत् ॥ ५७ ॥

एकमिति पराद्वयस्वतन्त्रचित्सतत्त्वम्, अत एव बहुधेत्येतत्स्वातन्त्र्यावभासित-भाविपटलवक्ष्यमाणश्रीसदाशिवतुम्बुरुभैरवकुलेश्वरादिरूपतया ध्यातं सिद्धिं ददात्येवे-त्यर्थः । परमाद्वैतरूपत्वाच्चास्य नाथस्य द्वैताद्वैतादिसर्वप्रकारक्रोडीकारित्वं न विरुध्यते । वक्ष्यति चैकविंशाधिकारे—

जिस-जिस = आणव, शाक्त अथवा शाम्भव उपाय से । जहाँ-जहाँ = इस विषय में देश काल अवस्था का नियम (= प्रतिबन्ध) नहीं है—यह तात्पर्य है ॥

और यह योगी—

जहाँ-जहाँ, जिस-जिस व्रत से तथा जिस-जिस योग से स्थित होता है, भावना के भेद से (वहाँ-वहाँ) उसे (वह) सिद्धि मिलती है ॥ ५५-५६- ॥

जिस-जिस योग से = भिन्न-भिन्न संहिताओं में योगपाद में कथित (योग) से । भाव के भेद से = इस तत्त्व में स्थित भावनाविशेष के द्वारा ॥

जो यह अमृतेशनाथ नामक पर तत्त्व है—

एक होने पर भी अनेक प्रकार से ध्यात होने पर यह सिद्धिदाता हो जाता है । द्वैत, अद्वैत, विमिश्र (= द्वैताद्वैत), एकवीर, यामल, सब में सब शास्त्रों के प्रकार में यह सिद्धि प्रदान करता है ॥ -५६-५७ ॥

एक = पर अद्वय स्वतन्त्र चित्तत्त्व । इसीलिये बहुधा = स्वातन्त्र्य के कारण अवभासित भावी पटल में वक्ष्यमाण सदाशिव तुम्बुरु भैरव कुलेश्वर आदि के रूप में ध्यात होने पर सिद्धि को देता ही है । यतो हि यह अमृतेशनाथ परम अद्वैत रूप है इसलिये इनके यहाँ द्वैत अद्वैत आदि सभी भेदों का क्रोडीकारित्व (= सङ्गम)

'अद्वैतं कल्पनाहीनं चिद्घनम् ।' (२१।२३) इति ॥ ५७ ॥

किं च—

चिन्तारत्नं यथा लोके चिन्तितार्थफलप्रदम् ।
तथैव मन्त्रराजस्तु चिन्तितार्थफलप्रदः ॥ ५८ ॥

अत्रत्य इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

किं च—

मन्त्राणां सप्तकोटीनामालयः परमो बली ।

तेषामपि पराद्वयैकवीर्यत्वात् ॥

अपि च—

भावहीनास्तु ये मन्त्राः शक्तिहीनास्तु कीलिताः ॥ ५९ ॥
वर्णमात्राविहीनास्तु गुर्वागमविवर्जिताः ।
भ्रष्टाम्नायविहीना ये आगमोज्झितविघ्निताः ॥ ६० ॥
न सिद्ध्यन्ति यदा देवि जप्ता इष्टाः सहस्रशः ।
असिद्धा रिपवो ये च सर्वांशकविवर्जिताः ॥ ६१ ॥
आद्यन्तसंपुटेनैव साद्यर्णेन तु रोधिताः ।
मन्त्रेणानेन देवेशि अमृतेशेन जीविताः ॥ ६२ ॥

परस्पर विरुद्ध नहीं होता । इक्कीसवें अधिकार में कहेंगे भी—

'वह तत्त्व अद्वैत कल्पनाहीन और चिद्घन है' ॥ ५७ ॥

और भी—

संसार में जिस प्रकार चिन्तामणिरत्न चिन्तितविषयक फल देता है उसी प्रकार यह मन्त्रराज चिन्तित अर्थरूपी फल को देने वाला है ॥ ५८ ॥

और भी—

यह सात करोड़ मन्त्रों का आलय है अत एव परम बली है ॥ ५९-॥

क्योंकि वे (सात करोड़ मन्त्र) भी परमवीर्य वाले हैं ॥

और भी—

जो मन्त्र भावहीन, शक्तिहीन, कीलित, वर्णमात्राविहीन, गुरु की परम्परा से रहित, भ्रष्ट आम्नाय के कारण नष्ट, आगम से त्यक्त, विघ्नित हैं तथा इष्टरूप में हजारों बार जप किये जाने पर भी सिद्ध नहीं होते, उसी प्रकार जो असिद्ध शत्रु हैं सर्वांश से रहित है आदि वर्ण के सहित आद्यन्त सम्पुट

सिद्ध्यन्ति ह्यप्रयत्नेन जप्ता इष्टा न संशयः।
ध्याताः सर्वप्रदा देवि भवन्ति न वचोऽनृतम् ॥ ६३ ॥

भावहीना अज्ञातवीर्याः, शक्तिहीनाः साञ्जनाः । यथोक्तम्—

'साञ्जनास्तेऽण्डमध्यस्थाः सात्त्वराजसतामसाः ।' इति ।

कीलिता व्यत्यस्तवर्णपदाः, गुर्वाम्नायविवर्जिताः शिष्यैः स्वयमेव पुस्तकाद् गृहीताः, भ्रष्टाम्नाया अज्ञातसंहितोत्थानाः, तत एव विनष्टाः, आगमोज्झितैर्विघ्निता नित्यं क्षुद्रसिद्धिविनियोगेन विघ्नाभिभूताः कृताः । असिद्धा रिपवो ये इति नामाक्षरान्मन्त्राक्षरं मातृकाक्रमेणाङ्गुलिपर्वचतुष्टये पुनःपुनरावर्तनया गण्यमानं यदि (प्रथमं पर्व स्पृशति तदा सिद्धं भवति यदि) द्वितीयं पर्व स्पृशति, तदा सिद्धं साध्यं तदुच्यते । यदि तृतीयं पर्व स्पृशति, तदा सुसिद्धं भवति । अथ चतुर्थं पर्व स्पृशति, तदास्य विरुध्यते । सर्वे अंशका भावस्वभावपुष्पपाताद्याख्याः । एवमादि च श्रीस्वच्छन्दादेर्ज्ञेयम् । एवमीदृशा अपि मन्त्रा नेत्रनाथसंपुटीकारेण इष्टा ध्याता जप्ताश्च सर्वसिद्धिप्रदा भवन्ति । न संशय इति, न वचोऽनृतमिति

होने से रोधित हैं, हे देवेशि ! वे सब इस अमृतेशमन्त्र से जीवित होने पर यथेष्ट जाप किये जाने पर बिना प्रयत्न के सिद्ध हो जाते हैं—इससे सन्देह नहीं । हे देवि ! ध्यान किये जाने पर ये सर्वप्रद होते हैं यह वचन झूठा नहीं है ॥ -५९-६३ ॥

भावहीन = जिनकी शक्ति ज्ञात नहीं है अर्थात् शक्तिरहित, मलिन । जैसा कि कहा गया—

'वे (जीव) साञ्जन है जो अण्ड (= ब्रह्माण्ड) के मध्य में स्थित हैं और सत्त्व रजस् तमस् से युक्त है ।'

कीलित = अक्षरों को या पदों को उलट-पलट कर बनाये गये । गुरु आम्नाय से रहित = शिष्यों के द्वारा स्वयं पुस्तक से गृहीत । भ्रष्टाम्नाय = अज्ञात संहिता से प्राप्त, इसी कारण बिनष्ट । आगम के उज्झित होने से विघ्नित = सदा छोटी सिद्धियों में प्रयुक्त होने के कारण विघ्नाभिभूत । असिद्ध रिपु = असिद्ध मन्त्र एवं रिपुमन्त्र । साधक का नाम और मन्त्रों के अक्षरों को मातृका के क्रम से स्वर एवं व्यञ्जन को अलग-अलग कर चारो अंगुलियों के पर्वों से आवर्त्तन के साथ गणना करने पर यदि (पहले पर्व का स्पर्श करता है तो सिद्ध होता है); दूसरे पर्व को छूता है तो सिद्धसाध्य कहा जाता है । यदि तृतीय पर्व का स्पर्श करता है तो सुसिद्ध होता है । चतुर्थ को छूता है तो इसका विरोधी होता है । सर्वांश = भावस्वभाव = मन्त्रों के छह प्रकार के भाव स्वभाव पुष्पपात आदि सभी अंशक मन्त्रनाथ के जप से दूर हो जाते हैं । इस सबको स्वच्छन्द[1] आदि से जानलेना

---

१. द्रष्टव्य—स्व०तं० अष्टमपटल

चोक्त्यानाश्वस्तानामप्याश्वासं रोहयति ॥ ६३ ॥

उपसंहरति—

इति सर्वं समाख्यातं रहस्यं परमं प्रिये ॥ ६४ ॥

प्रथमाधिकारे यत् परमं रहस्यं प्रश्नितम्, तदित्युक्तदृशा सर्वं समाख्यातमिति शिवम् ॥ ६४ ॥

चिदानन्दघनं धाम शाङ्करं परमामृतम् ।
मृत्युजिज्जयति श्रीमत् स्वावेशेनोद्धरज्जगत् ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योते अष्टमोऽधिकारः ॥ ८ ॥

चाहिये । ऐसे भी मन्त्र नेत्रनाथ से सम्पुटित कर इष्ट ध्यात और जप्त होने पर सर्व सिद्धिप्रद होते हैं । 'संशय नहीं हैं' 'वचन झूठा नहीं है' इन वचनों से अविश्वासी लोगों के मन में भी विश्वास उत्पन्न करते हैं ॥

उपसंहार करते हैं—

हे प्रिये ! इस प्रकार समस्त परम रहस्य कहा गया ॥ ६४ ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के अष्टम अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ८ ॥

प्रथम अधिकार में जो परम रहस्य पूछा गया था वह उक्त रीति से सब का सब कह दिया गया ॥ ६४ ॥

चिदानन्दघन, परमअमृत, श्रीमान् तथा अपने आवेश से जगत् का उद्धार करने वाला शाङ्कर तेज सबसे बढ़कर है ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के अष्टम अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ८ ॥

नवमोऽधिकारः

*** नेत्रोद्योतः ***

स्वच्छस्वच्छन्दचिन्नेत्रं चित्रानुग्रहहेतुतः ।
सदाशिवादिभी रूपैः प्रस्फुरज्जयति प्रभुः ॥

अथाधिकारसङ्गतिं कुर्वती श्रीदेव्युवाच—

श्रुतं देव मया सर्वं माहात्म्यं मन्त्रनायके[1] ।
अधुना श्रोतुमिच्छामि यदुक्तं विभुना मम ॥ १ ॥
सर्वागमविधानेन भावभेदेन सिद्धिदम् ।
वामदक्षिणसिद्धान्तसौरवैष्णववैदिके ॥ २ ॥
यथेष्टसिद्धिदं देवं यथेष्टाचारयोगतः ।
तदाख्याहि सुरेशान चिन्तारत्नफलोदयम् ॥ ३ ॥

*** ज्ञानवती ***

अधिकार इहाङ्कगे प्रभोर्वामाद्यं ह्यनुसृत्य पूजनम् ।
सुशिवस्य समर्चनं ब्रुवन् जयतात् कोऽपि मणेः फलप्रदः ॥

प्रभु (= समर्थ) एवं स्वच्छ-स्वच्छन्द चित् नेत्र विचित्र अनुग्रह के कारण सदाशिव आदि रूपों से स्फुरित होते हुए सर्वोत्कृष्ट हैं ।

अब अधिकार की सङ्गति बैठाती हुयी देवी ने कहा—

हे देव ! मैंने मन्त्रनायक (= अमृतेश मन्त्र) का सम्पूर्ण माहात्म्य सुना । अब मैं, जैसा कि विभु आपने मुझसे कहा—समस्त आगमों के विधान से भावभेद के अनुसार सिद्धि देने वाले देव, वाम, दक्षिण, सिद्धान्त, सौर, वैष्णव एवं वैदिक प्रक्रियाओं में यथेष्ट आचारद्वारा यथेष्ट सिद्धि देने वाले हैं, हे सुरेशान ! उस चिन्तामणिरत्न के समान फल देने वाले को बतलाइये ॥ १-३ ॥

---

१. यहाँ षष्ठी अर्थ में सप्तमी का प्रयोग आर्ष है ।

अथ योगदीक्षाचिन्तामणौ पातञ्जलयोगः ।

एवं सांख्यं वेदान्तानुकूलतया प्रतिपाद्येदानीं मलिनान्तःकरणानां जिज्ञासूनां सांख्योक्ते जीवात्मैक्यासंगलक्षणपुरुषे चित्तस्थितिर्न स्यादिति तदन्तःकरणमलनिरासकनिरोधाख्ययोगेन चित्तशुद्धौ विवेकाविर्भावेन तत्रैव चित्तस्थैर्यं स्यादिति तदर्थं योगं निरूपयितुं योगदीक्षाचिन्तामण्याख्यमेकोत्तरशतश्लोकं प्रकरणमारभते, तत्र चावांतरप्रकरणे द्वे पातञ्जलाख्यं शैवाख्यं चेति; तत्रापि पातञ्जलस्यैकविध्यादाद्यमेव षड्विंशतिश्लोकं भवति, इतरस्य च चातुर्विध्यात्तत्र चत्वारि प्रकरणानि मन्त्रयोग हठयोग शिवशक्तिपराक्रम लययोगाख्यानि क्रमेण चतुःश्लोकैकोनविंशतिश्लोक षोडशश्लोक षट्त्रिंशच्छ्लोकानि सन्ति, तान्यनुक्रमतो व्याख्यास्यामः । तत्रादौ पातञ्जलं योगं निरूपयति, तत्र तावद्योगप्रतिपादकस्यास्य प्रकरणस्य योगदीक्षाचिन्तामणिनाम्नोर्थं तत्र प्रवृत्तिं जनयितुं सफलं दर्शयति ।

अथातो योगदीक्षायाश्चिन्तामणिरुदीर्यते ।
तत्प्राप्त्याऽबोधदारिद्र्यं सर्वमेव विनश्यति ॥ १ ॥

अथेति । अथ सांख्यप्रतिपादनानन्तरं सांख्योक्ते तत्त्वे मलिनान्तःकरणानां मुमुक्षूणां केन चित्प्रतिबिन्धेन चित्तस्थैर्यं न भवति यतोऽत इति हेतोरित्यर्थः, योगदीक्षाया योगस्य निरोधाख्यस्य दीक्षा संस्कारस्तस्याश्चिन्तामणिः कल्पितफलप्रदत्वाच्चिन्तामणिरिव कल्पितधारणाजन्यफलप्रदत्वाच्चिन्तामणिरिति नाम प्रकरणस्य स उदीर्यते निरूप्यते तत्त्वं शृणु, ननु चिन्तामणिप्राप्त्या दारिद्र्यं नश्यत्यनेन किं स्यादित्यत आह तदिति, तत्प्राप्त्या तस्य

योगदीक्षाचिन्तामणेः प्राप्त्या लाभेनाऽबोधदारिद्र्यमबोधोऽज्ञानं तदेव सर्वदारिद्र्यमूलत्वाद्दारिद्र्यं दरिद्रत्वं तत्सर्वमेव समस्तमपि विनश्यति निवर्ततेऽतोऽस्य योगदीक्षाचिन्तामणिरिति नामेति भावः ॥ १ ॥

अस्य च संप्रदायतः प्रामाण्यं वक्तुं योगप्रवर्त्तकान्द्राभ्यामाह ।

> महायोगेश्वरः शम्भुः महायोगेश्वरो हरिः ।
> महायोगेश्वरो ब्रह्मा भवानी सिद्धयोगिनी ॥ २ ॥

महायोगेश्वर इति । शम्भुः शं सुखं भवत्यस्माल्लोकानामिति स शम्भुः शङ्कर इत्यर्थः, महायोगेश्वरो महाञ्छ्रेष्ठो योगानां मन्त्रादियोगानामीश्वरः प्रवर्त्तक आचार्य इत्यर्थः, तथा हरिर्हरति सर्वं दुःखं भक्तानां स हरिर्विष्णुर्महायोगेश्वरो महान्सर्वमान्यो योगेश्वरो योगप्रवर्त्तकोऽस्ति तथा ब्रह्मा परमेष्ठी महायोगेश्वरो महाञ्जगत्पूज्यो योगेश्वरो योगप्रवर्त्तकोऽस्ति तथा भवानी सर्वजगज्जीवयित्री चिच्छक्तिः सिद्धयोगिनी स्वतःसिद्धयोगवत्यस्ति, एतेषां सर्वजगच्छ्रेष्ठत्वं योगफलमेव योगानां प्रवृत्तिरपि तेभ्य एवेति भावः ॥ २ ॥

तदितरेषामपि योगेन सिद्धिप्राप्तिमपि तदितरेषां तत्र रुचिं जनयितुं प्रदर्शयति ।

> सनकाद्याः वसिष्ठाद्याः कचदत्तशुकादयः ।
> अरुन्धतीप्रभृतयो योगात्सिद्धिमुपागताः ॥ ३ ॥

सनकेति । सनकाद्याः सनक आद्यो मुख्यो येषु ते नैष्ठिका, वसिष्ठाद्या वसिष्ठ आद्यो मुख्यो येषां पुलस्त्यादीनां ते सर्वे गृहिणः, तथा कचदत्तशुकादयः कचो बृहस्पतेः पुत्रो

दत्तो ह्यत्रेः पुत्रः शुको व्यासपुत्र एत आदयो मुख्या येषामार्षभादीनां ते सर्वेपि परमहंसाः, तथाऽरुन्धतीप्रभृतयोऽरुन्धती वसिष्ठपत्नी प्रभृतिरादिर्यासां देवहूत्यादीनां ताः स्त्रियः, एते सर्वे योगाच्चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणयोगात्सिद्धिमणिमादिरूपां मुक्तिमपि उपागता प्राप्ता अतो मुमुक्षुभिर्योगः साध्य एवेति भावः ॥ ३ ॥

ननु योगशब्दवाच्यार्थानां मतभेदेन बहुत्वप्रतीतेर्मुख्यो योगशब्दार्थः को विवक्षित इत्याशङ्कायामाह ।

आत्मज्ञानेन यो योगो जीवात्मपरात्मनोः ।
स योगस्तस्य हेतुत्वाद्योगा बहुविधा मताः ॥४॥

आत्मज्ञानेनेति । यो वेदान्तेषु प्रसिद्ध आत्मज्ञानेन आत्मस्वरूपयथार्थज्ञानेन तत्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्याहंब्रह्मेत्याकारेण जीवात्मपरमात्मनोर्जीवस्य प्राणोपाधिकस्य साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासस्यात्मा शोधितस्त्वंपदार्थः कूटस्थः, परमश्चासावात्मा च परमात्मा शोधितस्तत्पदार्थो जगदारोपाधिष्ठानं ब्रह्मेत्यर्थः, तयोरुभयोर्योग एकत्वं यत्पारमार्थिकं स स एवेत्यर्थः, योगो योगशब्दवाच्यो मुख्यो भवति, तत्र तर्हि कुतो बहुत्वं दृश्यते तत्र तत्र शास्त्रेषु तत्राह तस्य, योगस्य हेतुत्वात्साधनत्वात्तेपि योगा योगशब्दवाच्यार्था भवन्ति, अतस्ते बहुविधा अनेकप्रकारा मता मुनिभिस्तत्तच्छास्त्रेषु निर्णीताः, याथार्थ्यात्मज्ञानस्यैव योगशब्दमुख्यार्थत्वमितरेषां तु तत्साधनभूतत्वाद्गौणं योगशब्दार्थत्वमिति भावः ॥ ४ ॥

एवं मुख्यं योगशब्दार्थं प्रतिपाद्येदानीं भगवत्प्रतिपादितं योगशब्दार्थं दर्शयति ।

विरोधिलक्षणान्यायादभद्रा भद्रिका यथा ।
सर्वदुःखवियोगस्तु योग इत्याह केशवः ॥ ५ ॥

विरोधीति । केशवः सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्णः सर्वदुःखवियोगस्तु सर्वेषामाध्यात्मिकादीनां दुःखानां वियोगो विश्लेषः स्वस्मिन्दुःखासत्त्वप्रतीतिः स एव योगो योगशब्दवाच्योर्थोऽस्तीति एवं प्राहोक्तवान् 'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितमि'त्यादिष्विति ज्ञेयं, ननु आत्मनस्तत्त्वतो योगवियोगयोरसम्भवात्तस्मिन्योगशब्दवाच्यार्थो माऽस्तु दुःखवियोगे तु तदभाववति कथं योगत्वमुच्यत इत्याशङ्क्य योगत्वं तत्र सम्भावयितुं न्यायमाह विरोधीति, विरोधिलक्षणान्यायाद्यत्र यद्विरोधोस्ति तत्र तद्वाचकशब्दप्रयोगो विरोधिलक्षणान्यायो तदभाववति तद्भाववचन इत्युक्तलक्षण इत्यर्थः, तत्रोदाहरणमभद्रेति, यथा यद्वदभद्रा स्वरूपतोऽकल्याणरूपापि भद्रिका भद्रिकेति कल्याणवाचकशब्देनोच्यते लोके तथा वियोगोपि योगशब्देनोक्त इति भावः ॥ ५ ॥

ननूक्तलक्षणस्य योगस्य किं फलं तत्सदृष्टान्तमाह ।

अत्यन्तचपलस्यापि मनसो योगशक्तितः ।
निश्चलत्वं प्रजायेत विन्ध्यस्येव महागिरेः ॥ ६ ॥

अत्यन्तेति । अत्यन्तचपलस्यापि निरन्तरचञ्चलस्वभावस्यापि मनसश्चित्तस्य योगशक्तितो योगाभ्यासजन्यसामर्थ्येन निश्चलत्वं स्थिरत्वं प्रजायेत स्यात्तत्र दृष्टान्तो महागिरेरतीवदृद्धस्य विन्ध्यस्येव विन्ध्यनाम्नः पर्वतस्येव यथा विन्ध्यप-

र्वेतस्याचलत्वं त्यक्त्वा वृद्धिरूपं चाञ्चल्यं वृद्धं तदगस्त्यमुनिकृतयोगेन चाञ्चल्यं परित्याज्य स्थावरत्वं स्थापितं स्वकृतयोगेन वागस्त्याज्ञानुल्लङ्घनाय स्थिरत्वं सम्पादितं तद्वद्योगेन योगी स्वत आत्मरूपत्वादचञ्चलस्यापि मनसोऽचाञ्चल्यं त्यक्त्वा चञ्चलत्वं गृहीतं तत्परित्याज्य स्थिरत्वमात्मस्वरूपभूतं सम्पादयतीत्याशयः ॥ ६ ॥

योगस्य मनश्चाञ्चल्यनिवर्त्तकत्वे भुशुण्डसम्मतिरस्तीत्याह ।

तथा च भुशुण्डः ।

तथेति । भुशुण्डश्च भुशुण्डोपीत्यर्थः, तथाच तमेवार्थमाह । केन वाक्येनेत्याशङ्क्य तद्वाक्यं पठति ।

नाभसीं धारणां बद्ध्वा तिष्ठामि विगतज्वरः ।
यावत्पुनः कमलजः सृष्टिकर्मणि तिष्ठति ॥ ७ ॥

नाभसीमिति । अहं भुशुण्डनामा काको वायोरपि लय आसन्ने नाभसीं सर्ववाय्वादिभूतभौतिकरहितं नभ एवाहमित्येवं नभसम्बन्धिनीं धारणां भावनां बद्ध्वा सन्धार्य तया च विगतज्वरो वाय्वादिनाशेन स्वनाशभीतिरहितः सन्नाकाशमात्ररूपस्तिष्ठामि स्थिरो भवामि, कियत्पर्यन्तमित्यत आह यावदिति, कमलजो ब्रह्मा कमलेन सह सम्भूय वर्त्तमानो यावद्यावता कालेन पुनर्भूयः सृष्टिकर्मणि सृज्यतेनया सा सृष्टिस्तद्रूपे कर्मणि क्रियायां तिष्ठति संस्थितो भवति तावत्कालपर्यन्तमित्यर्थः ॥ ७ ॥

एवं योगफलं प्रदर्श्येदानीं पातञ्जलं योगं वक्तुं मुख्यं पातञ्जलयोगलक्षणमाह ।

चित्तवृत्तिनिरोधस्तु मुख्यः पातञ्जलो मतः ।

प्राणवृत्तिनिरोधस्तु गौणस्तत्साधनत्वतः ॥ ८ ॥

चित्तेति। पातञ्जलः पतञ्जलिना प्रोक्तः पातञ्जलः 'तेन प्रोक्तमि'ति तद्धितोऽण्,मुख्यः प्रधानो योगस्तु हठादिभ्यो विलक्षणश्चित्तवृत्तिनिरोधश्चित्तस्यान्तःकरणस्य वृत्तीनां बाह्यादिविषयाकाराणां निरोधोऽवरोध एव मत इष्टः, तत्र भगवतः पतञ्जलेः सूत्रं 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध' इति, प्राणवृत्तिनिरोधस्तु प्राणस्य शरीरावच्छिन्नस्य वायोर्वृत्तयः प्राणापानादयस्तासां निरोधोऽवरोधः प्राणायामादिना स्थैर्यसम्पादनं हठिनां प्रधानभूतोपि पातञ्जलानां तत्साधनत्वतस्तस्य चित्तवृत्तिनिरोधनाम्नोः योगस्य साधनरूपत्वाद्गौणो न प्रधानत्वेन संमत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

एवं पातञ्जलयोगस्वरूपं प्रदर्श्येदानीं तत्साधनानि दर्शयितुं तत्प्रतिपादकं सूत्रं प्रमाणयति।

तत्र सूत्रं 'यमनियमासनप्राणायाम—
प्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोष्टावङ्गानि' ॥ ९ ॥

तत्रेति। तत्र योगाङ्गेषु सूत्रं पतञ्जलेः सूत्रमस्तीत्यर्थः, तदेवोदाहरति यमेति, यमाः पञ्च, नियमाः पञ्च, आसनानि सुखासनप्रभृतीनि, प्राणायाम आभ्यन्तरबाह्यभेदेन द्विविधोपि, प्रत्याहार इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यो व्यावृत्तिरूपो, धारणा देशविशेषसम्बन्धश्चित्तस्य, ध्यानं विजातीयप्रत्ययानन्तरितध्येयसजातीयप्रत्ययवृत्तिप्रवाहः, समाधिः सविकल्पकापरपर्यायः संप्रज्ञातः; एतान्यष्टौ योगस्याङ्गानि सन्ति ॥ ९ ॥

एवं योगाष्टाङ्गप्रतिपादकं पातञ्जलसूत्रमुपन्यस्येदानीं यमादीन्यङ्गानि दर्शयितुमुपक्रमते चतुर्भिः।

यमोऽस्तेयऋताहिंसाब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ।
नियमः शौचसन्तोषतपःपाठेश्वरार्पणम् ॥ ९ ॥

यम इति । अस्तेयं चौर्याभाव ऋतं सत्यवक्तृत्वादि अहिंसा हिंसातः सदा निवृत्तिर्ब्रह्मचर्यमष्टाङ्गमैथुननिवृत्त्युपलक्षितं नैष्ठिकादि ।

'स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
एकान्तवासो रमणं स्पर्शोऽष्टविधमैथुनमि'ति ।

एतन्निवृत्तिर्ब्रह्मचर्यं, अपरिग्रहो योगाननुकूलविषयासंग्रहः, एते पञ्च यमो जातित्वादेकवचनं यमा ज्ञेया, यमयन्ति निवर्त्तयन्ति हिंसादिभ्यः पुरुषविशेषं ते यमा इत्यर्थः; तत्र पतञ्जलेः सूत्रम्, 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा' इति । यमानुक्त्वा नियमानाह नियम इति, शौचसन्तोषौ शौचं बाह्यं स्नानादि आन्तरं रागत्यागादीत्येवं द्विविधं, सन्तोषो यथालब्धे विषयेऽलंबुद्धिस्तपः स्वस्ववर्णाश्रमधर्मनिष्ठापूर्वकक्लेशसहिष्णुत्वं, पाठेश्वरार्पणं पाठश्च स्वाध्याय ईश्वरार्पणं च यद्यत्क्रियते स्वयं तत्तदीश्वरेणैव कृतमिति निश्चय, एते पञ्च नियमाः; अत्रापि जातित्वादेकवचनं, जन्मप्रदकमभ्यो व्यावर्त्य मोक्षकारणे निष्कामकर्मणि नियमयन्तीति नियमनाम्नोक्ता ज्ञातव्याः, अत्रापि पातञ्जलं सूत्रं 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा' इति । यमनियमफलान्यपि कानि चित्सूत्रितानि तान्यपि प्रदर्शयामः, यमेषु तावदहिंसाफलप्रतिपादकं सूत्रम्, 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः' । सत्यफले सूत्रं, 'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वं' । अस्तेयफले सूत्रं, 'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानं' ब्रह्मचर्यफले सूत्रं, ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः, । अपरिग्रहफले सूत्रं

'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोध' इति क्रमेणज्ञेयानि । नियमफलान्यपि सूत्रैर्दर्शितानि, तत्र शौचफलप्रतिपादके सूत्रे 'शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः, सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च' । सन्तोषफलमाह 'सन्तोषादनुत्तमसुखलाभ' इति । तपः फलमाह 'कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपस' इति । स्वाध्यायफलमाह 'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोग' इति । ईश्वरप्रणिधानफलमाह 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानादि'ति ॥ ९ ॥

आसनप्राणायामावाह ।

आसनं सुखरूपेण शरीरस्थिरता मता ।
प्राणायामः प्राणदण्डः कुम्भपूरकरेचकैः ॥ १० ॥

आसनमिति । सुखरूपेण पद्मकस्वस्तिकादीनि आसनानि प्रोक्तानि, तत्र यादृशेन देहस्थापनरूपेणासनेन यस्य पुरुषस्यावयवेषु व्यथानुत्पत्तिस्तदेव सुखरूपमासनं तेन शरीरस्थिरता देहेऽचाञ्चल्यं स्यादित्यध्याहार्यं, तदेवासनमास्यतेस्मिन्नित्यासनं मतमिष्टं ज्ञेयम्; अत्रापि पतञ्जलेः सूत्रं 'स्थिरसुखमासनमि'ति । अस्योपायप्रतिपादकं पतञ्जलेः सूत्रमपि 'प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्यामि'ति । अस्यार्थः, प्रयत्नशैथिल्यं प्रयत्नस्य लौकिकवैदिकस्य गमागममैथुनगृहकृत्यव्यापारादिरूपस्य तीर्थयात्रास्नानयागहोमादिरूपस्यच मानसोत्साहरूपस्य शैथिल्यं कर्त्तव्यं तेन, तदभावे च मानस उत्साहो बलाद्देहमुत्थाप्यान्यत्र चालयेदेवेत्यर्थः; अनन्तसमापत्तिश्च फणासहस्रेण पृथिवीं धृत्वा स्थिरः स्थितोनन्त एवाहमस्मीति दृढधारणाऽनन्तसमापत्तिः स्वस्मिन्ननन्तत्वापादनं स्थिरत्वहेतुस्तेन चोपायेनासनसिद्धिर्जायत इत्यर्थः । आसनसिद्धिफलमपि सूत्रांशेनाह भगवान्पतञ्जलिः, 'ततो द्वन्द्वानभिघात' इति । अस्यार्थ आसने

सिद्धे ततोऽनन्तरं द्वन्द्वैः सुखदुःखादिलक्षणैरनभिघातो न पराभवो जायते योगिन इत्यर्थः। प्राणायाममाह प्राणायाम इति, कुम्भपूरकरेचकैः कुम्भकेन द्विविधेनान्तरेण बाह्येन चेति, कुम्भकस्य द्वैविध्यं वसिष्ठ आह।

'अपानेऽस्तङ्गते प्राणो यावन्नाभ्युदितो हृदि।
तावत्सा कुम्भकावस्था योगिभिर्याऽनुभूयते॥
बहिरस्तं गते प्राणे यावन्नापान उद्गतः।
तावत्पूर्णां समावस्थां बहिष्ठं कुम्भकं विदुरि'ति॥
तेनोक्तलक्षणेन कुम्भकेन, पूरकेण=
'वक्त्रेणोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः।
एवं वायुर्गृहीतव्यः पूरकस्येति लक्षणम्'॥
इत्युक्तलक्षणेन पूरकेण, रेचकेन च=
'उत्क्षिप्य वायुमाकाशं शून्यं कृत्वा निरात्मकम्।
शून्यभावेन युञ्जीत रेचकस्येति लक्षणम्॥

इत्युक्तलक्षणेन रेचकेन यः प्राणदण्डः प्राणस्य शारीरावच्छिन्नवायोर्दण्डो नियमनं स प्राणायामः प्राणायामनाम्नोक्तो मुनिभिरिति शेषः। आसनानन्तरमेव प्राणायामप्रतिपादकं पतञ्जलेः सूत्रं, 'तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायाम' इति। तस्यैतस्याभ्यासप्रतिपादकमपि पतञ्जलेः सूत्रं, 'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्म' इति। अस्यार्थः, बाह्यवृत्ती रेचक, आभ्यन्तरवृत्तिः पूरकः, स्तम्भवृत्तिः कुम्भकः, तत्रैकैको देशकालसङ्ख्याभिः परीक्ष्यः। तथाहि, स्वाभाविकरेचके हृदयदेशान्निर्गतस्य वायोः नासाग्रसमदेशाद्बहिर्द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं श्वासस्य समाप्तिर्भवति अभ्यासे च तस्य क्रमेण नाभेर्वा मूलाधाराद्वायुनिर्गमे च-

तुर्विंशत्यङ्गुलिपर्यन्ते समाप्तिर्भवति अस्मिंश्च प्रयत्नाधिक्ये जाते नाभेर्वा मूलाधारस्य क्षोभेणान्तर्निश्चयो भवति, बहिरपि सूक्ष्मं सूत्रादि धृत्वा तच्चाञ्चल्येन परीक्ष्यो भवति, इयमेव देशपरीक्षा । कालतोपि परीक्षा यथा, रेचककाले प्रणवस्यावृत्तयो दश वा विंशतिर्वा त्रिंशद्वेत्येवं कालतः परीक्षा । अस्मिन्मासे दश नित्यमग्रिममासे विंशतिर्विंशतिः, तदुत्तरे मासे च त्रिंशत्त्रिंशादित्येवं सङ्ख्या परीक्षा । एवं त्रिविधपरीक्षा पूरकेपि ज्ञेया । कुम्भके तु कालसङ्ख्याभ्यां द्विविधा परीक्षा स्पष्टा, परन्तु यथा तूलपिण्डः प्रसार्यमाणो विरलः सूक्ष्मश्च भवति तद्वत्प्राणो देशकालसङ्ख्याधिक्येनाभ्यस्यमानो, दीर्घो दुर्लक्ष्यत्वात्सूक्ष्मश्च भवति । एवं पूर्वोक्तरेचककुम्भकपूरकेभ्योन्यं प्राणायाममपि पतञ्जलिः सूत्रयामास 'बाह्याभ्यन्तरपूर्वत्रयापेक्षोपि चतुर्थ' इति । अस्यार्थः, यथाशक्ति सर्वं विरिच्य ततः कृतः कुम्भको बाह्यः, तथान्तर्वायुमापूर्य ततः कृतः कुम्भकः आन्तरः, एवं च रेचकपूरकापेक्षया कुम्भकस्तृतीयः, एतत्त्रयापेक्षया रेचकपूरकौ त्यक्त्वा केवलकुम्भकश्चतुर्थो भवति । निद्रालस्यादिबलवद्दोषवतां पूर्वत्रिकं निर्दोषाणां चतुर्थ इति ज्ञेयम् । प्राणायामफलमप्याह पतञ्जलिः सूत्राभ्यां 'ततः क्षीयते प्रकाशावरणमि'ति । 'धारणासु च योग्यता मनस' इति च । अनयोरर्थः, प्रकाशस्य सत्त्वस्यावरणं तमो निद्रालस्यादिकारणं तस्य नाशो भवति, प्राणायामान्मनसस्तमोनाशे धारणासु योग्यताधिकारित्वं जायत इत्यर्थः ॥१०॥

प्रत्याहारधारणे प्राह ।

प्रत्याहारस्त्विन्द्रियाणां चलानां प्रतिरोधनम् ।
क्वचित्प्रदेशे चित्तस्य स्थापनं धारणा मता ॥११॥

प्रत्याहार इति । चलानां चञ्चलानामिन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां प्रतिरोधनं स्वस्वविषयाच्छब्दादेर्निवर्त्तनं प्रत्याहारस्तु स प्रत्याहारोपि ज्ञेयः, अत्रापि पतञ्जलेः सूत्रं 'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार' इति । अस्यार्थः, शब्दस्पर्शादिविषयेभ्यो निवर्त्तिताः श्रोत्रादयश्चित्तस्वरूपमनुकुर्वन्तीवावतिष्ठन्ते स प्रत्याहार इत्यर्थः, । श्रुतिश्च;

'शब्दादिविषयान्पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम् ।
चिन्तयेदात्मनो रश्मीन्प्रत्याहारः स उच्यते' इति ॥

प्रत्याहारफलमप्याह पतञ्जलिः 'ततः परमावश्यतेन्द्रियाणामि'ति । धारणामाह क्वचिदिति, क्वचित्कुत्रचित्प्रदेशे आधारस्वाधिष्ठानादिचक्रे क्वचिद्बाह्ये प्रतिमादौ सौन्दर्यवत्स्त्रीपुरुषयोर्वा चित्तस्य मनसः स्थापनं स्थैर्यसंपादनं धारणा धारणापदवाच्या मतेष्टत्वेन गृहीता योगिभिरिति शेषः, तथा चात्र पतञ्जलेः सूत्रं 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणे'ति ॥ ११ ॥

ध्यानसमाधी आह ।

निरन्तरश्चित्प्रवाहो ध्येयस्य ध्यानमीरितम् ।
समाधिरष्टमो ज्ञेयस्तदात्मकतया स्थितिः ॥ १२ ॥

निरन्तर इति । ध्येयस्य ध्यानगोचरस्य ध्येयस्य विषयत्वात्तत्सम्बन्धवानित्यर्थः, निरन्तरो ध्येयविजातीयविषयप्रत्ययैरनन्तरितश्चित्प्रवाहश्चितां वृत्तीनां प्रवाहो जलप्रवाह इव सातत्यं तद्ध्यानं ध्याननाम्नेरितमुक्तम्, अत्र च पतञ्जलेः सूत्रं 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानमि'ति । समाधिमाह समाधिरिति, चित्तस्येत्यपकर्षः पूर्वश्लोकात्, चित्तस्य मनसस्तदात्मकतया तद्ध्येयमेवात्मा स्वरूपं यस्य तस्य भावस्तत्ता तया ध्येयाकार प-

रिणामेनेत्यर्थः, स्थितिः स्थानं समाधिः समाधिनामको ज्ञेयः, स चोक्तेषु योगाङ्गेषु अष्टमः, अयं च सविकल्पक एव सम्प्रज्ञातापरपर्यायो ज्ञेयः। अत्रैव पतञ्जलेः सूत्रं 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिरि'ति, अयं च ध्यानपरिणामरूपत्वाद्ध्यानभेद एव ॥ १२ ॥

इदानीं योगाङ्गभूतं योगाख्यं च समाधिं विवेक्तुं समाधिभेदमाह।

संप्रज्ञातस्तदन्यश्च समाधिर्द्विविधो हि सः।
यमादिपञ्चबहिरङ्गमन्तरङ्गमथापरम् ॥१३॥

संप्रज्ञात इति। स उक्तलक्षणः समाधिर्ध्येयाकारपरिणामरूपो द्विविधो द्वे विधे प्रकारौ यस्य स तथोक्तः। हि तौ द्वौ प्रकारौ प्रसिद्धौ पातञ्जल इत्यर्थः। तावेव प्रकारौ दर्शयति संप्रज्ञात इति, संप्रज्ञातः संप्रज्ञातनामकः, तदन्यश्च तस्मात्संप्रज्ञातादन्य इतरश्चासंप्रज्ञात इत्यर्थः। एतत्समाधिद्वयप्रतिपादके पतञ्जलेः सूत्रे, 'शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणाम' इति 'सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः' इति च। एतयोरर्थः, शान्तो ह्यतीत उदित उत्पन्नो वर्त्तमान इत्यर्थः, प्रत्ययः प्रतीतिरनुभव इत्यर्थः, तावुभौ तुल्यप्रत्ययावेकविषयौ प्रत्ययौ चित्तस्य मनसो यदि स्तस्तदैकाग्रता परिणाम एकाग्रतयैकविषयतयापरिणामः समाधिः संप्रज्ञातनामा जायत इत्यर्थः। सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ स्वाभाविकी या रजोगुणेन जायमाना चित्तस्य सर्वार्थता तस्या रजोगुणरोधकप्रयत्नेन योगिकृतेन क्षयो भवति, ततश्च चित्तस्यैकाग्रताया ऐकाग्र्यलक्षणस्य स्थैर्यस्यो-

दयो भवति, तदा चित्तैकाग्र्यस्य परिणामोऽतिस्थैर्यं समाधिरित्यभिधीयते, सोऽसंप्रज्ञात इत्यर्थः । अस्य समाधेर्यमादीनि पञ्च बहिरङ्गसाधनानि पराण्यन्तरङ्गानि ज्ञेयानि ॥ १३ ॥

एवं द्विविधं समाधिं प्रतिपाद्येदानीं तयोराद्यस्य सहेतुकान्भेदानाह ।

वितर्केण विचारेणानन्देनास्मितया तथा ।
अनुस्यूतः समाधिस्तु संप्रज्ञातश्चतुर्विधः ॥ १४ ॥

वितर्केणेति । संप्रज्ञातस्तु संप्रज्ञातनामा समाधिरपि ध्येयाकारपरिणामरूपो वितर्केण परोक्षतया विशिष्टतर्केण ध्येयं गोचरीकृत्य तदाकारपरिणाम एकः, विचारेण विवेकेन ध्येयं गोचरीकृत्य तदाकारपरिणामः समाधिर्द्वितीयः, आनन्देन स्वानन्दप्रतीत्याविर्भावे तदाकारपरिणामस्तृतीयः, अस्मितयाऽऽत्मसत्त्वप्रतीत्या तदाकारपरीणामरूपः समाधिश्चतुर्थः । तदेव स्पष्टमाह अनुस्यूत इति । एतैश्चतुर्भिरनुस्यूतोऽन्वित इति हेतुगर्भं विशेषणमत एव स समाधिश्चतुर्विधश्चतुःप्रकारोऽस्तीति शेषः ॥ १४ ॥

इदानीमसंप्रज्ञातभेदं वक्तुमसंप्रज्ञातलक्षणमाह ।

यत्र न ज्ञायते किञ्चित्सोऽसंप्रज्ञात उच्यते ।
द्विधा भवप्रत्ययवानुपायप्रत्ययश्च सः ॥ १५ ॥

यत्रेति । यत्र समाधौ किञ्चिद्ध्यातृ ध्यानं वा ध्येयं वा किमपीत्यर्थः, न ज्ञायते न प्रतीयते सोऽसंप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातनामा समाधिरुच्यते कथ्यत इत्यर्थः, तस्यापि भेदमाह द्विधेति, सोऽसंप्रज्ञातनामा समाधिर्भवप्रत्ययवान्भवत्यस्मादिति भवः प्रकृतिर्वा महत्तत्त्वं वा तस्य प्रत्ययोऽनुभवः स प्रत्ययो वि-

ध्यते यत्र सूक्ष्मरूपेण स तथोक्त एकः, उपायप्रत्ययस्तूपैति अनेनेत्युपायः स्वप्रापकः स च प्रत्ययोऽनुभवो यत्र स तथोक्त आत्मस्वरूपप्रापकानुभववानित्यर्थः, सोपि एवं द्विधा द्विप्रकारो ज्ञेय इति शेषः ॥ १५ ॥

तयोराद्यमुदाहृत्य स्पष्टं दर्शयति ।

मूढानामपि जायेत तपोदार्ढ्यान्मनोलयः ।
प्रकृतौ वा महत्तत्वे भवप्रत्यय एव सः ॥१६॥

मूढानामिति । मूढानामपि अज्ञानिनामपि तपोदार्ढ्यात्त-पसो दार्ढ्यं निरन्तराचरणेन दृढता ततः प्रकृतौ गुणसाम्याव-स्थारूपायां महत्तत्वे वा सत्वगुणवति प्रकृतिविकारे वा मनो-लयो मनसोन्तःकरणस्य लयो नाशो जायेतोत्पद्येत स भव-प्रत्यय एव भवप्रत्यनामा समाधिरसम्प्रज्ञात एव ज्ञेयः ॥ १६ ॥

नन्वयं समाधिः कस्य जात इत्याशङ्क्यात्रोदाहरणं दर्शयति।

त्रैलोक्यराज्यकामस्य हिरण्यकशिपोर्यथा ।
शरीरं क्रिमिभिर्भुक्तं वल्मीकेनापि संवृतम् ॥१७॥

त्रैलोक्येति । त्रैलोक्यराज्यकामस्य त्रैलोक्यस्य यद्राज्यं त-स्मिन्काम इच्छा यस्य तस्य हिरण्यकशिपोर्दैत्यस्य यथा येन समाधिप्रकारेण शरीरं देहः क्रिमिभिः कीटकैः भुक्तं भक्षितं व-ल्मीकेन संवृतमपि अवरुद्धं च तत्तेन न ज्ञातं स तस्य समा-धिर्भवप्रत्ययनामाऽसंप्राज्ञात इति भावः ॥ १७ ॥

एवं भवप्रत्ययनामानमसंप्रज्ञातसमाधिं प्रदर्श्येदानीमुपायप्र-त्ययमसंप्रज्ञातं दर्शयति ।

श्रद्धावीर्यस्मृतिप्रज्ञाकामवर्जनपूर्वकम् ।

मनोलयो मुनीन्द्राणामुपायप्रत्ययस्तु सः ॥१८॥

श्रद्धेति । श्रद्धावीर्यस्मृतिप्रज्ञाकामवर्जनपूर्वकं श्रद्धा च गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासः, वीर्यमिन्द्रियदमन उत्साहः प्रापञ्चिकसुखप्रतीतावपि अनुद्वेगश्च शीतादि सहिष्णुत्वमपि, स्मृतिर्गुरुमुखाच्छ्रुतस्य श्रुतिस्मृत्युदितार्थस्याविस्मरणं, प्रज्ञा वैराग्यादि संस्कारपूर्विका शुद्धा महावाक्यार्थनिष्ठा बुद्धिः, कामवर्जनं चात्मज्ञानं वा समाधाने कामनापूर्वकमितरकामनिवृत्तिरित्यादि पूर्वं साधनभूतं यस्य स मनोलयो मुनीन्द्राणां श्रेष्ठमुनीनां मनसोन्तःकरणस्य लयो नाशो यो भवति स तूपायप्रत्यय उपायप्रत्ययनामा समाधिर्ज्ञेयः ॥ १८ ॥

एवं षड्विधं समाधिं प्रदर्श्येदानीं समाध्युत्थितानां पुनः समाधिं प्रविविक्षतां तत्सिद्ध्यर्थमुपायमाह ।

उक्तं व्युत्थितचित्तानां समाधानमभीप्सताम् ।

तपश्च वेदपाठश्च सर्वकर्मार्पणं हरौ ॥ १९ ॥

उक्तमिति । व्युत्थितचित्तानां वासनोद्बोधेन समाधितो व्युत्थितमागतं संसारे चित्तं मनो येषां तेषां समाधानं निरोधापरपर्यायमसंप्रज्ञातसमाधिमीप्सतामिच्छितवतां तपश्च विचारोपि एकः 'तप आलोचन' इत्यनुशासनादुपायोस्तीति भावः, तथा वेदपाठश्चोपनिषदादीनामर्थविचारपूर्वकं पठनमपि द्वितीय उपायः, तथा हरौ सर्वद्वैतहरणस्वभावे ब्रह्मणि सर्वकर्मार्पणं सर्वेषां समर्पणसहितानां समर्पणं 'नान्योतोस्ति द्रष्टा नान्योतोस्ति श्रोते'त्यादिश्रुतिदर्शितदृशा कर्तृत्वादित्रिपुटीबाधरूपं तृतीय उपायः, एतैरुपायैः पुनश्चित्तस्थैर्यं स्यादिति भावः॥१९॥

एवं पुनः समाधिप्रवेशोपायं प्रदर्श्येदानीं पुरुषस्य ध्येयं दर्शयितुं पुरुषादीश्वरे वैलक्षण्यमाह सपादेन।

क्लेशकर्मविपाकैश्च चित्ररूपैस्तदाशयैः।
अपरामृष्ट एवैकः कश्चित्पुरुष ईश्वरः॥ २०॥

क्लेशेति। क्लेशकर्मविपाकैः क्लेशाः पञ्चाविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः। कर्माणि सञ्चितप्रारब्धक्रियमाणाख्यानि अशुक्लकृष्णानि योगिनामितरेषां शुक्लकृष्णलोहितानि वा; अस्मिन्नर्थे पतञ्जलेः सूत्रं, 'कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषा'मिति। विपाका आयुर्जातिभोगाख्याः कर्मफलरूपास्तैः सर्वैः। चित्ररूपैस्तदाशयैर्विषयवैचित्र्येण चित्राणि परस्परं विलक्षणानि रूपाणि येषां तैस्तदाशयैस्तेषां क्लेशकर्मविपाकानामाशया वासनास्तैरपि अपरामृष्टोऽस्पृष्टः कश्चित्कोपि वस्तुतःपुरुषाद्भिन्नत्वेनाभिन्नत्वेन वा भिन्नाभिन्नत्वेन वा वैलक्षण्याभावान्निर्देशानर्हः पुरुष एव विशेषः पुरुष एवेत्यर्थः। ननु पुरुषत्वावैशिष्ट्ये कुतो विशेषत्वं तदभावे च कुतो ध्येयत्वं सामान्यपुरुषे च ध्यातृत्वं चेत्याशङ्क्य तमेव विशेषं दर्शयति एक इत्यादिविशेषणैः, एकः पुरुषस्तु व्यवहारेऽनेकोऽयं ध्येयो विशिष्टपुरुषो एक भेदरहितः। ननु ध्यातृरूपः पुरुषस्तत्ततो भिन्न एवेत्याशङ्क्याह स ईश्वरो नियन्ता सर्वेषां पुरुषाणामीशनादिशक्तिमानित्यर्थः, अयं पुरुषस्तस्य नियम्य इति भावः॥ २०॥

नन्वेतस्यापि नियम्यत्वं न वास्तवमित्याशङ्क्य विशेषान्तरमाह।

स सर्वज्ञः स्वभावेन प्रणवस्तस्य वाचकः।
तदयं भावनापूर्वं तज्जपो मोक्षसाधनम्॥ २१॥

स इति। स विशिष्टः पुरुषः स्वभावेन स्वत एव सर्वज्ञः

सर्वं सामान्यतो विशेषतश्च जानातीति सर्वज्ञः, तस्य स्वतः सर्वज्ञत्वमेतस्य तु साधनसाध्यमित्ययं भेदोस्तीति स एवात्र योगेषु ध्येयो विषय इति भावः, एवं ध्येयस्वरूपं निर्णीय तदर्थप्रतिपादकं मन्त्रं जपायाह ।

प्रणव इति, तस्य ध्येयतया विशिष्टपुरुषस्येश्वरस्य वाचको नाम प्रणव ओङ्कारस्तदयं प्रणवो मन्त्रो ज्ञेयः, तज्जपस्तस्य प्रणवस्य जप उपांश्वावृत्तिरूपो भावनापूर्वं तदर्थविचारपूर्वं प्रेम्णा यथा तथा कार्य इति शेषः, स च मोक्षसाधनं मोक्षस्य प्रपञ्चनिवृत्तिरूपाया मुक्तेः साधनमुपायोस्ति, ततो मोक्षः स्यादिति भावः ॥ २१ ॥

इदानीं योगोपदेशकशास्त्रस्य चातुर्विध्यं दर्शयितुं दृष्टान्तमाह ।

यथा रोगस्तन्निदानं भेषजं चाप्यरोगता ।
विवेचनीयभेदेन चिकित्सास्ति चतुर्विधा ॥ २२ ॥

यथेति । यथा यादृग्रोगो रोगस्वरूपनिर्णायकप्रकरणविभागः, तन्निदानं तस्य रोगस्य निदानं मूलकारणं तत्प्रतिपादको ग्रन्थविभागो, भेषजं च तन्निवर्त्तकमौषधं तत्प्रतिपादकमपि, अरोगता फलं तत्प्रतिपादकं प्रकरणम् । एवं विवेचनीयभेदेन विवेक्तुं पृथक्कृत्य दर्शयितुं योग्यस्य विषयस्य भेदेन भिन्नत्वेन चिकित्सा चिकित्साशास्त्रं चतुर्विधा चतुःप्रकाराऽस्ति वर्त्तते ॥ २२ ॥

दार्ष्टान्तिकमाह ।

जन्मदुःखं तथा मोहो विज्ञानं च विमुक्तता ।
विवेचनीयभेदेन योगशास्त्रं चतुर्विधम् ॥ २ ॥

जन्मेति । तथा तद्वज्जन्मदुःखं जन्मनो दुःखरूपत्वप्रतिपादकं

योगप्रकरणं, मोहो मूलाज्ञानं तत्स्वरूपप्रतिपादकं प्रकरणं च, विज्ञानं च विज्ञानप्रतिपादकं तत्साधनप्रतिपादकं च प्रकरणजातं, विमुक्तिता विमुक्तिः स्वस्वरूपेणावस्थानं तस्य प्रतिपादकं शास्त्रम्, एवं विवेचनीयभेदेन चतुर्विधत्वेन योगशास्त्रं चतुर्विधं योगप्रतिपादकं शास्त्रं चतुःप्रकारं ज्ञेयमिति शेषः ॥ २३ ॥

इदानीं मोहस्वरूपं तस्य दुःखफलत्वं च तन्निवर्त्तकज्ञान[1] स्वरूपं तत्फलभूतां दुःखनिवृत्तिं च क्रमेण दर्शयति ।

अविवेकः पुंप्रकृत्योः स मोहो दुःखकारणम् ।
समत्वपुरुषान्यत्वख्यातिबोधेन नश्यति ॥ २४ ॥

अविवेक इति । यः पुंप्रकृत्योः पुरुषस्य प्रकृतेश्चाविवेकः पृथगज्ञानं स स एव मोहयति स्वाधीनं पुरुषमिति मोहोऽज्ञानं स एव दुःखकारणं जन्ममरणस्वरूपभूतस्य दुःखस्य कारणं हेतुरस्ति, स च मोहः समत्वपुरुषान्यत्वख्यातिबोधेन समत्वं गुणसाम्यरूपत्वं प्रकृतेस्तस्य, पुरुषोऽसङ्गाद्वयनित्यानन्दस्वरूपस्तस्य चान्यत्वं वैलक्षण्येन पृथक्त्वं तस्य ख्यातिः ख्यायते प्रकथ्यते ऽनया सा ख्यातिरुभयोर्भिन्नत्वप्रतिपादिका सांख्ययोगस्मृतिवाग्वेदान्ताविरोधिनी तस्या बोधेन ज्ञानेन नश्यति नष्टा भवति, ततो दुःखमपि नश्यति छत्रापाये छायापायन्यायेनेति भावः ॥ २४ ॥

एवं ससाधनं योगं सफलं प्रतिपाद्येदानीं तदभ्यासिनां विघ्नरूपासु सिद्धिषु नादरः कार्य इत्याह ।

योगाभ्यासप्रसक्तस्य सिद्धयो भोगदायिकाः ।
आयान्ति नादरः कार्यो ह्यन्तराया मता यतः॥ २५॥

---

१ तन्निवर्तकविज्ञानप्रतिपादकं तत्साधन प्रतिपादकञ्च ।

योगेति । योगाभ्यासप्रसक्तस्य मुक्तीच्छयोक्तलक्षणस्य योगस्याभ्यासः पुनः पुनरावृत्तिस्तस्मिन्प्रसक्तः सस्नेहस्तस्य पुरुषस्य भोगदायिका भोगं दत्वा तल्लोभेन योगभ्रंशहेतुभूताः सिद्धयः दूरश्रवणदूरदर्शनाकाशगमनादय आयान्ति प्राप्नुवन्ति, तासु योगिनाऽऽदरः प्रीतिर्न कार्यो न कर्त्तव्यः, कुत इत्यत आह हीति, यतो हेतोरन्तराया योगस्य विघ्नरूपा मता ज्ञाता योगिभिरिति शेषः । अत्र पतञ्जले सूत्रं 'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय' इति ॥ २५ ॥

ननु ताः सिद्धयो लक्षणतः कारणतः कार्यतश्च निरूपितव्या इत्याशङ्क्यानुपयोगान्न निरूपणं तासामत्र क्रियते इत्याह ।

धारणाध्यानवैचित्र्यात्सिद्धिभेदो य ईरितः ।
अत्यन्तानुपयोगित्वात्स तु नात्र निरूपितः ॥२६॥

इतिपातञ्जलो योगः ।

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे योगदीक्षाचिन्तामणौ पातञ्जलयोगः ।

धारणेति । यः पातञ्जले धारणाध्यानवैचित्र्याद्धारणानां ध्यानानां च यद्वैचित्र्यं वैलक्षण्यं तस्मात्सिद्धिभेदः सिद्धीनामाकाशगमनादीनां भेदः पार्थक्यमीरित उक्तः, स तु स चात्यन्तानुपयोगित्वादत्यन्तं निरन्तरमनुपयोगित्वादुपयोगाभाववत्वेनात्रास्मिन्ग्रन्थे न निरूपितो न प्रोक्तः ॥ २६ ॥

इतीति पातञ्जलः पतञ्जलिना प्रोक्तो योग इति संपूर्ण इत्यर्थः ।

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ योगदीक्षाचिन्तामण्यर्थप्रकाशे पातञ्जलयोगार्थप्रकाशः प्रथमः ॥ १ ॥

एवं पातञ्जलं योगं निरूप्येदानीं शैवयोगनिरूपणं प्रति जानीते ।

अथ शैवयोगः ।

योगः शैवो निरूप्यते
मन्त्रो लयो हठो राजयोगो योगश्चतुर्विधः ॥ १ ॥

अथ मन्त्रयोगः ।

योग इति । हे शिष्य शैवः शिवेन प्रोक्तः 'तेन प्रोक्तमि'ति तद्धितोऽण्, योगो योगसाधनप्रतिपादकं शास्त्रं निरूप्यते कथ्यते त्वं शृणु, एतस्य भेदानाह मन्त्रो मन्त्रयोगः, लयो लययोगः, हठो हठयोगः, राजयोगः । एवं योगो योगसाधनं चतुर्विधश्चतुःप्रकारमित्यर्थः ॥ १ ॥

एवं शैवयोगान्नामभेदेन चतुरः प्रदर्श्य तत्र तावत्प्रथमं प्रधानमन्त्रोदाहरणेन दर्शयति त्रिभिः ।

नारायणाष्टाक्षरवासुदेवद्वादशाक्षरौ ।
नृसिंहरामगोपालमन्त्रास्ते तापिनीस्तुताः ॥ २ ॥

नारायणेति । नारायणाष्टाक्षरवासुदेवद्वादशाक्षरौ नारायणस्य जलशायिनो जीवान्तर्यामिणो वा सर्वजगत्साक्षिणो वाऽष्टाक्षरोऽष्टावक्षराणि वर्णा यस्मिन्स नारायणाष्टाक्षर ॐनमो नारायणायेत्येवं रूप एको मन्त्रः, तथा वासुदेवस्य वसुदेवपुत्रस्य सर्वभूतनिवासस्य यद्वा वा विकल्पेनासून्प्राणाद्युपाधीन्दीव्यति प्रकाशयतीति वासुदेवो जगतोऽसत्वादप्रकाशकस्तत्सत्वेन प्रकाशकश्चेत्यर्थः, तस्य जगत्प्रकाशकत्वाप्रकाशकत्वाभ्यां लक्षितस्य परमात्मनो वा द्वादशाक्षरो द्वादशाक्ष-

राणि वर्णा यत्रेति स तथोक्त ॐनमो भगवते वासुदेवायेति मन्त्रो द्वितीयः, तथा नृसिंहरामगोपालमन्त्रा नृसिंहस्य रामस्य गोपालस्य च मन्त्रा ये सन्ति ते तापिनीस्तुतास्तापिनीषु स्तुताः प्रोक्तास्तापनीयोपनिषत्सु प्रतिपादिता इत्यर्थः ॥ २ ॥

शैवानपि प्रधानान्मन्त्रानाह ।

शिवपञ्चाक्षरी श्रेष्ठा दक्षिणामूर्त्तिरुत्तमा ।
यतीनां तु महावाक्यं केवलः प्रणवस्तथा ॥ ३ ॥

शिवेति । शिवस्य परमानन्दरूपस्य पञ्चाक्षरी पञ्चानामक्षराणां वर्णानां समाहारः पञ्चाक्षरी नमः शिवायेति विद्या मन्त्ररूपा श्रेष्ठोत्तमा शैवमन्त्रेष्वित्यर्थः, तथा तेष्वेव दक्षिणामूर्त्तिर्दक्षिणामूर्त्तेरुपासना मन्त्रावृत्तिरूपोत्तमा श्रेष्ठेत्यर्थः, उक्तेषु मन्त्रेषु सर्वाधिकारः, नियमितानाह यतीनां तु संन्यासिनामेव केवलं महावाक्यं तत्त्वमसीत्यादिरूपं मन्त्रः, तथा केवल एकः प्रणव ॐकार एव मन्त्रः ॥ ३ ॥

एवं मन्त्रान्प्रदर्श्येदानीं तदुपसंहारपूर्वकं तत्फलं चाह ।

इत्यादयो महामन्त्राः पुरश्चर्यादिभिः क्रमैः ।
सिद्धा देवप्रसादेन सद्यो मुक्तिप्रदा मताः ॥ ४ ॥

इति श्रीनरहरिविरचिते बोधसारे योगदीक्षाचिन्तामणौ मन्त्रयोगः।

इत्यादय इति । इत्यादय इति एवं निरूपिता मन्त्रा आदयः प्रमुखा येषां ते सर्वे सात्विका अतो महामन्त्राः श्रेष्ठामन्त्रास्ते पुरश्चर्यादिभिः क्रमैः पुरश्चर्याः पुरश्चरणानि आदीनि येषां ध्यानादीनां तैश्च क्रमैरनुष्ठानैः सिद्धाः स्वाधीनीभूताः सन्तः देवप्रसादेन देवस्याराध्यस्य कृपया सद्यस्तत्क्षणं मुक्ति-

प्रदा मोक्षदा भवन्तीति मता अङ्गीकृता मुनिभिरिति शेषः ॥ ४ ॥

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ योगदीक्षाचिन्तामण्यर्थप्रकाशे मन्त्रयोगार्थप्रकाशो द्वितीयः ॥ २ ॥

अथ हठयोगः ।

एवं मन्त्रयोगं प्रतिपाद्येदानीं हठयोगाख्यमेकोनविंशति-श्लोकं प्रकरणमारभते, तत्र तावद्धठयोगमुख्यक्रियां तत्फलं चाह ।

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम् ।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १ ॥

गङ्गेति । गङ्गायमुनयोर्गङ्गात्रेडानाम्नी नाडी वामनासा-पुटवर्त्तिनी वायुसञ्चरणाय सूक्ष्मा धमनीव स्थिता, यमुना च पिङ्गलानाम्नी नाडी दक्षिणनासापुटवर्त्तिनी वायुप्रचाराय सूक्ष्मा धमनीव स्थिता, तयोर्मध्ये मध्यदेशवर्त्तिनीं तपस्विनीं-प्रकाशबहुलां बालरण्डां बालः केशः स इव सूक्ष्मां रण्डां वा-युसञ्चारवतीं सुषुम्णां नाडीमित्यर्थः, बलात्कारेण प्राणाया-माद्यभ्यासेन गृह्णीयाद्वशीकुर्यात्तत्तस्या वशीकरणमेव वि-ष्णोर्व्यापनलक्षणस्य परमात्मनः परमं केवलं मायातत्कार्याभ्या-मस्पृष्टं पदं स्वरूपं ज्ञेयं, सुषुम्णावशीकार एव फलं हठयोग-स्येति भावः ॥ १ ॥

तदेतस्मिन्योगे गोरक्षसंमतिमाह ।

तत्रगोरक्षः ।

तत्रेति । तत्रोक्ते हठयोगे गोरक्षो गोरक्षोप्याहेत्यर्थः, त-च्छ्लोकं पठति ।

एतद्विमुक्तिसोपानमेतत्कालस्य वञ्चनम् ।
यद्व्यावृत्तं मनो भोगादासक्तं परमात्मनि ॥ २ ॥

एतदिति । यन्मनोन्तःकरणं भोगाद्विषयजन्यसुखाद्व्यावृत्तं निवृत्तं सत्परमात्मनि कार्यकारणाभ्यामतीत आत्मनि-आसक्तं स्थिरं जातं तदित्यध्याहार्यं, तदेतदिदं, विमुक्तिसोपानं विमुक्तेर्मोक्षस्य सोपानमारोहणमार्गः, तथैतदिदं कालस्य मृत्योर्वञ्चनं जयसाधनमेतेनोपायेन मृत्युरपि निवृत्तः स्यादिति भावः ॥ २ ॥

इदानीं साधनान्याह ।

परमं यदि वैराग्यमाहारस्तु यथोदितः ।
नित्यमेकान्तवासश्चेद्धठयोगो न दुर्लभः ॥ ३ ॥

परममिति । परमं ब्रह्मपदान्ते वैषयिकसुखे काकविष्ठायामिव वैतृष्ण्यं वैराग्यमरुचिर्यदि स्यात्तर्हि, किञ्चाहारश्च यथोदित आहारो भोजनमपि यथोदितो यादृगुक्तः शास्त्रेष्विति शेषः, तच्चोक्तं 'द्वौ भागौ पूरयेदन्नैर्जलेनैकं प्रपूरयेत् । शेषं वायोः प्रचारार्थं भागं शिष्येत वै बुध' इति, तथा नित्यं निरन्तरमेकान्तवासो जनसम्बाधरहितस्थाने वासः स्थितिर्यदि स्यात्तर्हि हठयोगो दुर्लभो लब्धुमशक्यो न न भवति ॥ ३ ॥

मुख्यं साधनमाह ।

परन्तु गुरुदीक्षाभिर्लभ्यते नान्यथा स्वयम् ।
व्यतिक्रमे महान्दोषः क्रमलाभे महान्गुणः ॥ ४ ॥

परं त्विति । परन्तु वैराग्यादिसाधनेषु सत्स्वपि अयं हठ-

योगो गुरुदीक्षाभिर्गुरुभिः कृता दत्ता दीक्षा गुरुदीक्षा म-ध्यमपदलोपी समासः, ताभिः कृत्वा लभ्यते प्राप्यतेऽन्यथा तु गुरुदीक्षां विना न न प्राप्यते इत्यर्थः, व्यतिक्रम उक्ताहारा-दिवैपरीत्ये सति महान्दोषो मरणान्तोनर्थः स्यात्, क्रमलाभ उक्तसाधनक्रमेण लाभे हठस्य प्राप्तौ सत्यामित्यर्थः, महान्गुणः सर्वदुःखनिवृत्तिरूपः श्रेष्ठो गुणः स्यात् ॥ ४ ॥

अस्य प्रामाण्यसिद्धये संप्रदायज्ञानाय चाचार्यमाह ।

अनन्तविस्तारमयो हठः प्रोक्तः पुरारिणा ।
सारं तु बन्धत्रितयं तावता सिद्धिराप्यते ॥ ५ ॥

अनन्तेति । पुरारिणा त्रिपुरशत्रुणा त्रिपुटीलक्षणत्रिपुर-नाशकेन वा स्थूलसूक्ष्मकारणाख्यत्रिपुरसंहर्त्रा वोक्तलक्ष-णत्रिपुरनाशायैवानन्तविस्तारमयो न विद्यतेन्तः पारो यस्य स विस्तारस्तेन प्रचुरो हठो हठयोगः प्रोक्तो वर्णितः, तत्र तु सारं मुख्यं बन्धत्रितयं बध्यन्ते रोध्यन्ते प्राणा एभिस्ते ब-न्धास्तेषां त्रितयं त्रयं प्रोक्तं तावता तु तावन्मात्रेणैव सिद्धि-र्मुक्तिरथवा यस्य येप्सिताऽऽकाशगमनादिका सापि आ-प्यते प्राप्ता भवति ॥ ५ ॥

तदेव बन्धत्रितयं स्थानतो नामतश्च दर्शयति ।

मूले तु मूलबन्धः स्यान्मध्ये स्यादुडियानकः ।
कण्ठे जालन्धरस्तेन सिद्धो भवति मारुतः ॥ ६ ॥

मूलेत्विति । मूलबन्धस्तु मूलं मूलाधारं बध्यते रोध्यते-नेनेति मूलबन्धः स च मूले मूलाधारे स्याद्भवेत्, उडियानक एतन्नामको बन्धो मध्ये स्वाधिष्ठानादौ स्याद्भवेत्, कण्ठे वि-

शुद्धिचक्रादिस्थाने जालन्धरो जालं मुखनासानेत्रकर्णच्छिद्राणां जालमिव प्राणवायोः सञ्चारद्वारं धरति अवरोधयतीति जालन्धर एतन्नामा बन्धः स्याद्भवेद्, एतेषां फलमाह तेन बन्धत्रयेण मारुतो वायुः सिद्धः स्वाधीनो भवति जायते ॥ ६ ॥

इदानीं स्वाधीनीभूतवायोर्ब्रह्मरन्ध्रं नीतस्य फलंदर्शयति ।

कुण्डलिन्याः सुषुम्णायां प्रविष्टो ब्रह्मरन्ध्रतः ।
मूलस्थाने स्थिता शक्तिर्ब्रह्मस्थाने सदाशिवः ॥७॥

कुण्डलिन्या इति । स एव मारुतो कुण्डलिन्याः कुडलिनीं प्रविश्यानन्तरं सुषुम्णायां सुषुम्णाख्यनाड्यां प्रविष्टः प्रवेशं कृत्वा ब्रह्मरन्ध्रतः ब्रह्मरन्ध्राख्ये सप्तमे चक्रे प्रविष्टो भवति; तस्मिंश्च तत्र स्थिरे सति किं फलं तत्राह मूलेति, शक्तिः कुण्डलिनी मूलस्थाने मूलाधारे स्थिता तिष्ठति, ब्रह्मस्थाने ब्रह्मरन्ध्रस्थाने सदाशिवः सर्वदा सुखरूपः कूटस्थः परमात्माऽस्ति, तयोः समायोगो वायोः स्थैर्यफलमिति भावः ॥ ७ ॥

शिवशक्तिसमायोगहेतुत्वेनाजपाजपं विधत्ते ।

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
तस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ८ ॥

अजपेति । अजपा नाम स्वयमेवोच्छ्वासनिश्वासरूपेण प्रयत्नं विना प्रवर्त्तमानत्वादजपेति प्रसिद्धा गायत्री हंसः सोहमित्येवं सकारेण शक्तिवाचकेन हकारेण शिववाचकेन चोभयोः सामानाधिकरण्येन शिवशक्त्यैक्यमनुसन्धाय गायन्तमुच्चरन्तं त्रायते रक्षतीत्यतो गायत्री, यद्वा गायत्री प्रकृतित्वादपि गायत्रीव जपार्हा सा जप्ता चेद्योगिनां योगाभ्यासवतां योगसिद्धिं दत्वा मोक्षदायिनी संसारान्मुक्तिदायिनी मुक्तिदात्री

स्यादतस्तस्या अजपाया सङ्कल्पमात्रेण केवलं सङ्कल्पेनैव सर्वपापैः समस्तपातकैः रागद्वेषादिरूपैः कर्तृभिः सङ्कल्पकर्त्ता मुच्यतेऽत्यन्तं त्यज्यते किं पुनस्तस्या अनुसन्धानपूर्वकजपेन मुच्यत इति वक्तव्यमिति भावः ॥ ८ ॥

इदानीं प्राणस्थैर्यार्थं द्वारभूतानि चक्राण्याह द्वाभ्याम् ।

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं तथैव च ।
मणिपूरं तृतीयं स्याच्चतुर्थकमनाहतम् ॥ ९ ॥

आधारमिति । आधारमेतन्नामकं चक्रं स्थानं प्रथममाद्यं भवति, स्वाधिष्ठाननामकं स्थानं च तथैव द्वितीयमित्यर्थः, तथा मणिपूरमेतन्नामकं स्थानं तृतीयं स्याद्भवेद्, अनाहतमनाहतसंज्ञं चक्रं चतुर्थकं तुरीयं भवति ॥ ९ ॥

विशुद्धिः पञ्चमं चक्रमाज्ञाचक्रं तु षष्ठकम् ।
सप्तमं ब्रह्मरन्ध्रं स्याद्भ्रमरस्य गुहा हि सा ॥१०॥

विशुद्धिरिति । विशुद्धिनामकं चक्रं स्थानं पञ्चमं भवति, आज्ञाचक्रं तु आज्ञाचक्रनामकं स्थानं च षष्ठकं षष्ठं भवति, ब्रह्मरन्ध्रं ब्रह्मरन्ध्रनामकं स्थानं सप्तमं स्याद्भवेत्, तस्यैव ग्रन्थभेदे नामान्तरमाह भ्रमरस्येति, सा हि भ्रमरस्य सैव भ्रमं राति मोहमादत्ते जीवभावेनेति भ्रमरः परमात्मा तस्य गुहा गुहत आवृणुते परमात्मा शुद्धजीवस्त्वंपदलक्ष्यो यस्यां सा गुहा स्थानं तदित्यर्थः ॥ १० ॥

इदानीं सत्स्वन्येष्वासनेषु मुख्यत्वेन सिद्धासनं लक्षयति ।

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव नियतं कृत्वा समं विग्रहम् ।

स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन्भ्रुवोरन्तरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदनकरं सिद्धासनं प्रोच्यते॥११॥

योनीति । अङ्घ्रिमूलघटितं पादमूलेनामर्दितं योनिस्थानकं शिश्नस्थानं कृत्वाऽऽवद्ध्य, अथानन्तरं मेढ्रे वृषणमूल एकं द्वितीयं पादं चरणं नियतमेव नित्यमेव दृढं गाढं यथा भवति तथा विन्यसेत्संस्थापयेत्, ततश्च विग्रहं शरीरं समं समानग्रीवाद्यवयवं कृत्वा संयमितेन्द्रियो नियमितबाह्येन्द्रियः स्थाणुः स्थाणुश्छिन्नवृक्षमूलं तद्वत्स्थिरश्च भूत्वा, अचलदृशा स्थिरतारया दृष्ट्या भ्रुवोर्भ्रुकुट्योरन्तरं मध्यं पश्यन्सन्, एतदित्यादिलक्षणैर्लक्षितं हि प्रसिद्धमेतद्धठयोग इत्यर्थः, मोक्षकपाटभेदनकरं मोक्षस्य मुक्तेः कपाटमिवावरकमज्ञानं यद्वा मोक्षस्य शिवशक्तिसमायोगाख्यस्य साम्यस्थितिरूपस्य च कपाटानि मूलाधारादि ब्रह्मरन्ध्रान्तानि चक्राणि तेषां पूर्वोक्तकपाटसहितानां भेदनं भेद उद्घाटनं तस्य करं कर्तृ सिद्धासनं सिद्धासननामकं प्रोच्यते कथ्यते योगिभिरिति शेषः ॥ ११ ॥

एवमासनं प्रदर्श्येदानीं शक्तिप्रबोधनप्रकारं निरूपयति द्वाभ्यां।

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु सिद्धासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चुबुकं ध्यानं ततश्चेतसि ।
वारं वारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सार्य सन्धारय-
न्प्राणं मुञ्चति बोधयंश्च शनकैः शक्तिप्रबोधो भवेत्॥१२॥

कृत्वेति । पूर्वमुक्तलक्षणमेव सिद्धासनं दृढतरमतिगाढं बध्वा प्रसाध्य करौ हस्तौ ततोनन्तरं सम्पुटितौ सम्पुटाकारौ कृत्वा चुबुकं तु मुखाधोगलादूर्ध्वमवयवश्चुबुकस्तमपि वक्षसि

कण्ठादधोभागे वक्षोमध्ये गाढं दृढं सन्निधाय संस्थाप्य ततस्तदनन्तरं चेतसि चित्ते ध्यानं ध्येयानुसन्धानं सन्निधाय कृत्वाऽपानमनिलधोवर्तिनमपाननामानं वायुमप्युपरितने देशे वारं वारं पुनः पुनः प्रोत्सार्य प्रचार्य प्राणं प्राणवायुं सन्धारयन्नवरुन्धन्सञ्छनकैश्चिरेण शक्तिं कुण्डलिनीं प्रबोधयन्व्युत्थापयन्सन्, एवं शक्तिप्रबोधः शक्तेः कुण्डलिन्याः प्रबोधो व्युत्थानं भवेत्स्यात्, एवं कृते सा मुञ्चति स्थानं मूलाधारमित्यर्थः ॥१२॥

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तां प्रबोधयेत्सुधीः ।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते बलात् ॥१३॥

पुच्छ इति । सुधीर्गुरुशिक्षया स्वतश्च कुशलमतिः सुप्तां निद्रितां संसारस्वप्नवतीमविद्यानिद्रावतीं वा पुच्छे मूलाधारस्थितपुच्छे प्रगृह्य सन्धार्य प्रबोधयेत्संसारविमुखत्वं सम्पाद्य शिवसंमुखत्वं सम्पादयेत्, ततः सा शक्तिः कुण्डलिनी निद्रां प्रपञ्चसंमुखतां स्वरूपाज्ञानतां वा विहाय त्यक्त्वा बलाद्वेगेनोर्ध्वं ब्रह्मरन्ध्रप्रदेशमुत्तिष्ठत ऊर्ध्वमुखी भूत्वा चलति ॥ १३ ॥

ननु वायुलयस्य किंफलं तत्राह ।

ऊर्ध्वं निलीनप्राणस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ।
योगेन सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥ १४ ॥

ऊर्ध्वमिति । ऊर्ध्वं ब्रह्मरन्ध्रे निलीनप्राणस्य निःशेषं लीनो नष्टः प्राणो यस्य तस्याऽत एव त्यक्तनिःशेषकर्मणस्त्यक्तानि निःशेषाणि समस्तानि कर्माणि येन स तथोक्तस्तस्य योगेन शिवशक्तिसमायोगेन सहजावस्था सहजास्थितिर्जीवन्मुक्तिरित्यर्थः, स्वयमेव स्वत एवेत्यर्थः, प्रजायत उत्पद्यते प्राप्ता भवेदित्यर्थः ॥ १४ ॥

ननु 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते' इत्यादिश्रुत्या मोक्षस्य ज्ञानसाध्यत्वमुक्तं किं शिवशक्तिसमायोगेन तत्साधनभूतहठयोगेन वेत्याशङ्क्य मनोनाशस्य हठयोगजत्वात्तेन विना तन्नाशाभावे ज्ञानाभावान्मोक्षो न स्यादित्याशयेन शिवपार्वतीसम्वादश्लोकमुदाहराति।

ज्ञानं कुतो मनसि जीवति देवि याव-
त्प्राणो न नश्यति मनो म्रियते न तावत्।
प्राणो मनो द्वयमिदं प्रलयं प्रयाति
मोक्षं स गच्छति नरो न कदाचिदन्यः ॥ १५ ॥

ज्ञानमिति। हे देवि हे पार्वति मनसि अन्तःकरणे जीवति विद्यमाने सति ज्ञानं जीवब्रह्मैक्यज्ञानं कुतो न कुतोपि स्यादित्यर्थः, तर्हि मनो नाशः कदा स्यात्तत्राह प्राण इति, यावत्प्राणो जीवोपाधिभूतो मनसश्चाञ्चल्यहेतुवायुर्न नश्यति नष्टो न भवति तावत्तावत्कालं मनोन्तःकरणं न म्रियते नैव नश्यतीत्यर्थः, अतः प्राणो मनश्चाञ्चल्यहेतुः पवन मनश्च प्राणजीवनहेतुभूतमधिष्ठानसहितमन्तःकरणप्रतिबिम्बितं चैतन्यं सङ्कल्पधर्मीदं द्वयमेतद्युग्मं यस्य योगाभ्यासवतो हठेन प्रलयं प्रयाति नाशं प्राप्नोति स नरः स पुरुषो मोक्षं मुक्तिसाधनभूतं ज्ञानं गच्छति प्राप्नोति अन्य उभयलयरहितः पुरुषः कदाचित्कस्मिन्नपि काले न ज्ञानं न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

समस्तमुद्रासु शाम्भव्याः श्रैष्ठ्यात्तामेव सलक्षणामाह।

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्त्तते
दृष्ट्यानिश्चलतारया बहिरिदं पश्यन्नपश्यन्नपि।

मुद्रेयं किल शाम्भवी भगवती या स्यात्प्रसादाद्गुरोः
शून्याशून्यविलक्षणं मृगयते तत्त्वं पदं शांभवम्॥ १६॥

अन्तरिति । योगी योगाभ्यासी यदा यस्मिन्कालेऽन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनोन्तरभ्यन्तरे यल्लक्ष्यं शिवशक्तिसमायोगरूपं जीवब्रह्मैक्यं च तस्मिँल्लीनौ चित्तपवनौ चित्तं मनः पवनः प्राणश्च यस्य तथोक्तः स सन्निश्चलतारया स्थिरकनीनिकया दृष्ट्या दृशा बहिर्बाह्यमिदं दृश्यं जगत्पश्यन्नालोकयन्नपि स न पश्यन्नालोकयन्संन्वर्त्तते वर्त्तमानो भवति, सेयं प्रत्यक्षा भगवती भगमणिमाद्यैश्वर्यमस्यामस्तीति भगवती शांभवी शम्भुना पार्वत्यै प्रोक्ता तस्येदमित्याणि च शम्भुसम्बन्धिनी वा साधकानां शम्भवत्यस्याः सा शाम्भवी वा सर्वसाधकानां सुखदात्रीत्यर्थः, मुद्राऽवस्थारूपा या गुरोर्देशिकस्य प्रसादाद्गुरुकृपातः स्याद्भवेत्, किं फलं तस्या इत्यत आह शून्येति, ययेत्यध्याहार्यं, यया मुद्रया शून्याशून्यविलक्षणं जगतोऽसत्त्वं शून्यं तत्सत्त्वंचाशून्यं ताभ्यामसतः सत्ताप्रदत्वाच्छून्याज्जगतोऽशून्यरूपांदपि विलक्षणमुभयलक्षणहीनं शाम्भवं शम्भुः शिवस्तत्सम्बन्धि तत्स्वरूपभूतमित्यर्थः, भेदव्यपदेशस्तुराहोः शिरोवत्, तत्त्वमनारोपितं पदं स्वरूपं मृगयते शोध्यत इदमेव फलमेतस्या इत्यर्थः ॥ १६ ॥

उक्तं सफलं हठमुपसंहरति ।

प्राणवृत्तौ विलीनायां मनोवृत्तिर्विलीयते ।
शिवशक्तिसमायोगो हठयोगेन जायते ॥ १७ ॥

प्राणवृत्ताविति । हठयोगेन हठाख्ययुक्त्या प्राणवृत्तौ प्रा-

णाख्यवायोर्वृत्तिः श्वासोच्छ्वासरूपा तस्यां विलीनायां लयं प्राप्तायां सत्यां मनोवृत्तिर्मनसोन्तःकरणस्य वृत्तिः संकल्पविकल्परूपा विलीयते नष्टा भवति, ततश्च शिवशक्तिसमायोगो ब्रह्मरन्ध्रस्थितस्य शिवस्य मूलाधारस्थितायाः शक्तेश्च समायोगः संयोग ऐक्यमित्यर्थः, जायते भवति ॥ १७ ॥

उक्तहठप्ररोचनायावान्तरफलप्रदर्शनपूर्विकामाचार्यपरिपाटीमाह ।

गोरक्षचर्पटिप्राया हठयोगप्रसादतः ।
वञ्चयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डं विचरन्ति हि॥ १८॥

गोरक्षेति । गोरक्षचर्पटिप्रायाः प्रायःशब्दोत्र प्रभृतिवाचको गोरक्षश्च चर्पटी चैतौ द्वौ प्रायावादी येषां ते तथोक्तास्ते हठयोगप्रसादत उक्तहठयोगस्य हठाख्ययुक्तेः प्रसादतस्तत्साधनेनैव सार्वविभक्तिकस्तसिरत्र, कालदण्डं कालस्य जगत्कलयितुरीश्वररूपस्य दण्डो मृत्युरूपस्तं वञ्चयित्वाऽनादृत्य ब्रह्माण्डं मृत्युक्रीडास्थानं ब्रह्माण्ड इत्यर्थः, विचरन्ति प्रारब्धभोगान्भुञ्जते गच्छन्ति च हि प्रसिद्धमेतदित्यर्थः ॥ १८ ॥

एवं सफलां हठक्रियां निरूप्य तस्याः वेदान्तानुकूल्याय मनसो गुणसाम्ये गुणसाम्यस्य च स्फुरणविषयत्वसम्पादने च तयोर्लयलक्षणं शिवशक्तिसमायोगं कुर्यादित्याशयेनाह ।

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् ।
शिवशक्तिसमायोगं कुर्वन्ति हठयोगिनः ॥ १९ ॥

इति श्रीनरहरिविरचिते बोधसारे योगदीक्षाचिन्तामणौ हठयोगः॥३॥

शक्तीति । मनः साम्यस्फुरणरूपं तत्संकल्पविकल्परूपाद्वृत्तिः

शक्तिमध्ये साम्यकारणभूतायां चिच्छक्तौ कृत्वा शक्त्यभिन्नम-
नुभूय शक्तिं साम्यस्फूर्तिकारणरूपां चिच्छक्तिं मानसमध्यगां
साम्यसंकल्पविकल्परूपमनःकल्पितत्त्वात्तन्मध्ये विद्यमानां त-
दभिन्नामित्यर्थः, कृत्वाऽनुभूय हठयोगिनो हठाख्यक्रियाभ्या-
सिन एवं शिवशक्तिसमायोगं शिवस्यात्मनः शक्तेर्गुणसाम्य-
रूपप्रकृतेश्च समायोगमैक्यानुभवरूपं कुर्वन्ति विदधतीत्यर्थः ॥१९॥

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ
योगदीक्षाचिन्तामण्यर्थप्रकाशे हठयोगार्थप्रकाश-
स्तृतीयः ॥ ३ ॥

अथ शिवशक्तिपराक्रमः ।

एवं सफलं हठं प्रतिपाद्यानन्तरं लये क्रमानुरोधेन नि-
रूपितव्ये तं त्यक्त्वा व्युत्क्रमेण शैवमतं राजयोगं निरूपयितुं
शिवशक्तिसमायोगप्रसङ्गेन शिवशक्तिपराक्रमाख्यं चतुर्दशश्लोकं
प्रकरणमारभते, तत्र तावच्छिवशक्तिपराक्रमनिरूपणं प्रतिजानीते।

अथ वक्ष्ये स्तुतिव्याजाच्छिवशक्तिपराक्रमम् ।
शोधिते सूक्ष्मया दृष्ट्या यस्मिन्निर्विस्मयो भवेत्॥ १॥

अथेति । अथ हठयोगनिरूपणानन्तरं तत्प्रसङ्गेनैव स्तु-
तिव्याजात्स्तवनमिषेणैव शिवशक्तिपराक्रमं शिवस्य परमान-
न्दरूपस्य परमात्मनो या शक्तिर्जगज्जननसामर्थ्यं तस्याः परा-
क्रमं प्रतापं चरित्रमित्यर्थः, वक्ष्ये कथयिष्यामि त्वं शृण्विति
शेषः, नन्वेतच्छ्रवणस्य किंफलं तत्राह शोधित इति, सूक्ष्म-
या विचारसंस्कारेण सूक्ष्मीभूतया दृष्ट्या बुद्ध्या यस्मिञ्छि-
वशक्तिपराक्रमे शोधिते विचारिते सति विचारको निर्विस्मयः
शक्तेरघटितघटनापटीयस्त्वज्ञानादाश्चर्यभूतबुद्धिरहितो गर्वर-

अनुसंधानं स्फुरणा स्वात्मस्फुरणमित्यर्थः, न खण्डितं न भग्नं यदि तर्हि सा स्वात्मानुसंधानरूपा संध्येति प्रपञ्चसाक्षिणः प्रपञ्चोद्भवस्य च सन्धिभवत्वात्स्वात्मानुसन्धानवृत्तेः सन्ध्यात्वमित्येवं बुधैर्विवेकिभिरुच्यते कथ्यते ॥ ४ ॥

इति श्रीन० मुनी० मुनीन्द्रप्रात सन्ध्यानिर्णयार्थप्रकाशो नवमः ॥ ९ ॥

अथ प्राणायामनिर्णयः ।

एव मुनीन्द्राणां सन्ध्यां निर्णीयेदानीं तेषामेव प्राणायामं निर्णेतुं प्राणायामनिर्णयाख्यं षोडशश्लोकं प्रकरणमारभमाण माह

अथ प्राणायामनिर्णयः ।

अथेति । अथ प्रातःसन्ध्यानिरूपणानन्तरं प्राणायामो मुनीन्द्राणां प्राणायामो निर्णीयत इतिं शेषः । तमेव निर्णयमाह ।

शरीराभ्यन्तरो वायुः प्राणापान इतीरितः ।
स एव गतिभेदेन संज्ञादशकमागतः ॥ १ ॥

शरीरेति । शरीराभ्यन्तरः शरीरस्य वपुषोऽभ्यन्तरः शरीरावच्छिन्नो वायुर्मारुतः प्राणापानः प्रकर्षेणानिति जीवयति देहेन्द्रियादिसंघातं स प्राणोऽपानिति निःसृत्य बहिः पारयति देहेन्द्रियादिसंघात सोऽपान इत्येवं नाम्नेरितः कथितः, ननु शारीरस्य वायोर्दशविधत्वं तत्र तत्र शास्त्रेषु दृष्टं तत्कथमत्र द्वैविध्यमेवोच्यते तत्राह स एवेति, स एव प्राणापानाख्यः शारीरो वायुरेव गतिभेदेन गतिर्गमनं तस्या भेदेनोर्ध्वाध इत्यादिस्थानैश्चलनभिन्नत्वेन संज्ञादशकं संज्ञानां नाम्नां दशकं दशत्वमागतः प्रातः प्राणापानव्यानोदानसमाननागकू-

---

१ मारयतीति वा पाठः ।

मेकृकरदेवदत्तधनंजयाख्यौ प्राप्त इत्यर्थः ॥ १ ॥

ननु तर्ह्यत्र द्वैविध्यमेव कुत उक्तं तत्राह ।

ऊर्ध्वाधोगतिमुख्यं द्विरूपं तस्य गतिद्वयम् ।

ऊर्ध्वं गच्छन्भवेत्प्राणस्त्वपानः स्यादधश्चलन् ॥ २ ॥

ऊर्ध्वाध इति । तस्य शारीरस्य वायोरूर्ध्वं चाधश्चोर्ध्वाध ऊर्ध्वाधश्च ते गती च गमने ते मुख्ये प्रधाने यस्य तत्तथोक्तं गतिद्वयं गत्योर्गमनयोर्द्वयं युग्मं द्विरूपं द्वयो रूपयोः समाहारो द्विरूपमस्तीति शेषः, ननु कया गत्या किं नाम तस्येत्यत आहोर्ध्वमिति, ऊर्ध्वमुपरि गच्छश्चलन् सन् स शारीरो वायुः प्राणः प्राणनामा भवेदुपरितनभागे नासाग्रसमवर्तिषोडशान्तस्थाने चलन्प्राणो भवेदित्यर्थः, तथा स एव शारीरो वायुरधः षोडशान्तादधो हृदयकमलान्तं चलन्गच्छन्सन्नपानोऽपाननामा स्याद्भवेत् ॥ २ ॥

ननु प्राणरूपेणापानरूपेण वा शरीर एव कुतस्तिष्ठति बहिः कुतो न गच्छति तत्राह ।

अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति ।

अनयोः शृङ्खला देहे तेन जीवो न निश्चलः ॥ ३ ॥

अपान इति । अपानोऽधोगत्युपलक्षितः शारीरो वायुविशेषः प्राणमूर्ध्वगमनशीलं शारीरं वायुं कर्षति आकर्षति ततः प्राणः प्राणनामा वायुरपानमपाननामानं वायुं चापि कर्षति आकर्षति, नन्वधऊर्ध्वगतिमतोर्वाय्वोः परस्परमाकर्षणं परस्परकृतं कथं सम्भवतीत्याशङ्क्याहानयोरिति, अनयो प्राणापानयोर्देहे शरीरे शृङ्खला शृङ्खलेव परस्परं बन्धनं ग्रन्थिरि-

त्यर्थः, अस्तीति शेषः; तयोः परस्परं शृङ्खलासत्त्वे चिन्हमाह तेनेति, तेन प्राणापानशृङ्खलासत्त्वेन जीवो जीवोपाधिश्चित्तं ननिश्चलो न स्थिरो भवति अतः प्राणापानयोर्बन्धनमस्तीति निश्चेतव्यमिति भावः, अतः प्राणापानावरोधं विना चित्तस्थैर्यं न स्यादिति भावः ॥ ३ ॥

तत्रापि मतभेदमाह ।

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ।
चित्ते चले चलः प्राणो निश्चले निश्चलो भवेत् ॥ ४ ॥

चल इति । वाते प्राणवायौ चले चञ्चले सति चित्तमन्तःकरणं जीवोपाधिभूतं चलं चञ्चलं भवेत्स्यात्तस्मिन्नेव प्राणवायौ निश्चले स्थिरे सति चित्तमन्तःकरणं निश्चलं स्थिरं भवेत्स्यादिति केषांचिन्मतं । तथा केषांचिन्मते चल इति, चित्ते जीवोपाधिभूतेऽन्तःकरणे चले संकल्पविकल्परूपेण चलायमाने सति प्राणः शरीरावच्छिन्नो वायुश्चलश्चञ्चलो भवेत्स्यात्तस्मिन्नेव जीवोपाधिभूतेऽन्तःकरणे निश्चले संकल्पविकल्पत्यागेन स्थिरीभूते सति स एव शारीरो वायुर्निश्चलः स्थिरो भवेत्स्यादित्येवं केषांचिन्मतं ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

मतभेदमेव किंचित्स्पष्टीकुर्वन्नाह ।

कश्चित्प्राणजयेनैव मनोनिश्चलतां भजेत् ।
कश्चिन्मनोजयेनैव प्राणनिश्चलतां भजेत् ॥ ५ ॥

कश्चिदिति । कश्चित्कोपि हठयोगीत्यर्थः, प्राणजयेनैव प्राणः शरीराभ्यन्तरो वायुस्तस्य जयः स्थैर्येण स्वाधीनीकरणं तेनैव केवलं मनोनिश्चलतां मनसोन्तःकरणस्य निश्चलतां स्थैर्यं भजेत्प्राप्नुयात्तथाऽन्यः सांख्यः पातञ्जलश्चेत्यर्थः, मनोजयेनैव मनसो

ऽन्तःकरणस्य जयः स्थैर्यसम्पादनं तेनैव केवलं प्राणनिश्चलतां प्राणस्य शरीरावच्छिन्नस्य वायोर्निश्चलतां स्थिरत्वं भजेत्प्राप्नुयात् ॥ ५ ॥

अन्यदपि मतमाह ।

कश्चिद्द्वयजयेनैव मनोनिश्चलतां भजेत् ।
इति योगगतिज्ञानां त्रिविधा योगिनां गतिः ॥६॥

कश्चिदिति । कश्चित्कोपि मुनिर्मननवान्वेदान्तीत्यर्थः, द्वयजयेनैव द्वयं मनःप्राणयोर्द्वयं युग्मं तस्य जयः स्वाधीनीकरणं स्थैर्यसम्पादनमित्यर्थः, तेनैव निश्चलतां स्वात्मनि स्थैर्यं भजेत्प्राप्नुयाद्, उक्तं मतभेदमुपसंहृत्य निगमयतीतीति, इत्येवं प्रकारा योगगतिज्ञानां योगस्य जीवब्रह्मैक्यज्ञानस्य गतिः प्राप्तिस्तां जानन्ति विदन्ति ते तथोक्तास्तेषां योगिनां योगवतां गतिर्गमनं योगप्रापकं साधनमित्यर्थः, त्रिविधा त्रिप्रकाराऽस्तीति शेषः, अन्तःकरणशुद्धिद्वारा जीवब्रह्मैक्यकारणं त्रिप्रकारं ज्ञेयमिति भावः ॥ ६ ॥

नन्वेतानि केषां मतानीति ज्ञानापेक्षायामाह ।

प्राणद्वारा मनः साध्यं मतं हि हठयोगिनाम् ।
मनसैव मनः साध्यमिति विज्ञानयोगिनाम् ॥७॥

प्राणद्वारेति । प्राणद्वारा प्राणावरोधनद्वारभूतेन प्राणायामादिरूपेण हठेन मन स्वान्तं साध्यं स्थिरत्वेन स्वाधीनं कार्यं हि एतद् हठयोगिनां हठयोगवतां मतं निश्चितमस्तीति शेषः, तथा मनसैव विवेकरूपेण मनोंशेनैव केवलं मनः संकल्पविकल्परूपो मनोंशः साध्यं संकल्पविकल्पलयेन स्थिरं कार्यमिति एवं रूपं मतं निश्चितं विज्ञानयोगिनां पातञ्जलसांख्यादीनामस्ति । तत्र

केवलविवेकेनैव मनःस्थैर्यं न भवति किन्तु प्राणावरोधेनैव योगिष्वेत्र तत्स्थैर्यस्य दृश्यमानत्वादिति हठमतं, केवलप्राणायामादिना कृतेपि प्राणावरोधे मनोमौढ्यावशेषाद्बीजरूपेण मनोवशिष्टमिति सुप्तिमूर्छादिष्विव न मनोलयरूपः पुरुषार्थः सिद्ध्यतीति विवेकेनैव केवलं मन्तव्यमिथ्यात्वप्रतीतौ दृढतरायां सत्यां मनसः शैथिल्येन क्रमाल्लयरूप पुरुषार्थः सिद्ध्येदिति ज्ञानिनां मतमिति विवेक. ॥ ७ ॥

वेदान्तमतमाह ।

मनःप्राणद्वययुजस्ते तु श्रेष्ठतराः स्मृताः ।
चेच्छुष्कहठिनो मूढास्ते भण्डा न तु योगिनः॥८॥

मन·प्राणेति । ये तूक्तोभयविलक्षणा इति तुपदार्थ, तदेव वैलक्षण्यमाह मन इति, मनश्चान्तःकरणं प्राणश्च शारीरो वायुस्तयोर्द्वयं युग्मं तद्युञ्जन्ति लीनं स्वात्मनि कुर्वन्तीति ते तथोक्तास्ते श्रेष्ठतरा अतिश्रेष्ठा इत्यर्थः, स्मृता उक्ता मुनिभिरिति शेष·, विनैव गुरुदीक्षां स्वबुद्ध्या हठे प्रवृत्तान्निन्दति चेदिति, मूढा हठक्रियाज्ञानशून्या गुरुशिक्षारहिता इत्यर्थ·, अत एव शुष्कहठिनो निष्फलहठाभ्यासरताश्चेद्यदि भवन्ति तर्हि ते शुष्कहठाभ्यासिनो भण्डा हठक्रियाविनोदिन एव ज्ञेया, तु पुनस्ते योगिनो हठयोगाभ्यासिनो न न भवन्ति हठमिषेण ते लोकवञ्चका ज्ञेया इति भाव· ॥ ८ ॥

इदानीं सिद्ध्यनादरेण मुक्तावादरं विधातुं सिद्धिकामेन हठेप्रवृत्तानां क्षुद्रत्वं दर्शयति ।

ते त्वर्धयोगिनः प्रोक्ताः क्षुद्रसिद्ध्यर्थयोगिनः ।
पिङ्गलेडा सुषुम्णा च मुख्यास्तिस्रस्तु नाडिषु॥९॥

ते स्विति । ये तु तुपदेन गुरुशिक्षया हठाभ्यासिषु पूर्वेभ्यः श्रैष्ठ्यं सूचितं, क्षुद्रसिद्ध्यर्थयोगिनः क्षुद्रास्तुच्छाः परकायप्रवेशाकाशगमनादिका मोक्षविघ्नभूता याः सिद्धयस्ता एवार्थः प्रयोजनं तस्मै तत्प्राप्तुं योगिनो योगाभ्यासिनो भवन्ति तेऽर्थयोगिनोऽलौकिकसिद्धिकारणयोगवत्त्वाद्योगिनोऽपि प्रधानफलभूतमोक्षाभावात्तेषां क्षुद्रत्वाच्चार्थयोगिनः प्रोक्ताः कथिता मुमुक्षुभिस्तत्रादरो न कर्तव्य इति भावः, अत्र पतञ्जलिरप्याह 'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय' इति । अस्यार्थः, याः सिद्धयोऽन्तर्धानादयस्ते समाधौ मुक्तावुपसर्गा विघ्नभूता भवन्ति, ननु समाधावन्तःकरणलये सति कथं सिद्ध्यनुभवस्तत्राह व्युत्थान इति, समाधितो व्युत्थानेन प्रपंचोद्भवे सति य एव सिद्धयः सिद्धिशब्दवाच्योऽर्थ इत्यर्थः, स एव विघ्नभूतो ज्ञेय इति, अतः सिद्ध्यादरं परित्यज्य मुक्तिहेतुकं योगमभ्यसितुं योगाङ्गभूतं प्राणायामं निरूपयिष्यन्तदुपोद्घातत्वेन नाडीभेदमाह पिंगलेति, नाडिषु द्वासप्ततिसहस्रसंख्यासु देहान्तर्वर्तिनीषु नाडिषु मध्ये मुख्याः प्रधानास्तिस्रस्तु त्रिसंख्याका नाड्यो भवन्ति तदधीनत्वात्सर्वासामिति भाव, तुपदेन द्वासप्ततिसहस्रनाडीभ्यस्तिस्रोऽतिविलक्षणा इति सूचितं, ता एव नामतो निर्दिशति पिङ्गलेति, पिङ्गला पिङ्गलानाम्न्येकेडेडानाम्नी द्वितीया सुषुम्णा च सुषुम्णानाम्न्यपि तृतीया भवति ॥ ९ ॥

स्थानतोपि ता निर्दिशति ।

इडा वामा पिङ्गलान्या सुषुम्णा मध्यवर्तिनी ।
वामदक्षिणमार्गेण सदा वहति मारुतः ॥ १० ॥

इडेति । वामा वामभागे प्रवर्तमानेडेडानाम्नी ज्ञेया, अन्या दक्षिणा दक्षिणभागे प्रवर्तमाना नाडी पिङ्गला पिङ्गला-

नाम्नी भवति, तथा मध्यवर्तिनी मध्ये प्रवर्तमाना नाडी सुषुम्णा सुषुम्णानाम्नी ज्ञेया, यदर्थं नाडीभेद उक्तस्तमाह वामेति, मारुतः शारीरो वायुर्वामदक्षिणमार्गेण वाम सव्यो दक्षिणोऽपसव्यो मार्गो नाडीच्छिद्रं तेनैडापिङ्गलानाडीभ्यामित्यर्थः, सदा नित्य वहति चलति ॥ १० ॥

तर्हि सुषुम्णायां कदा चलतीत्यत आह ।

यदा द्वावपि रुध्येते प्राणमार्गौ सुयोगिना ।
तदान्यत्सर्पवत्प्राणो रन्ध्रमाविशति स्वयम् ॥ ११ ॥

यदेति । सुयोगिना सम्यग्योगाभ्यासवता पुरुषेण द्वावपीडापिङ्गलानामानावुभावपि प्राणमार्गौ प्राणस्य शरीरावच्छिन्नस्य वायोर्मार्गौ पन्थानौ रुध्येते रुद्धौ भवतो यदा यस्मिन्काले तदा तस्मिन्काले प्राणः शारीरो वायुः सर्पवद्यथा सर्पः सर्वेषु च्छिद्रेषु रुद्धेषु सत्सु तदन्यत्सूक्ष्ममपि च्छिद्रं प्रविशति तद्वदन्यदिडापिङ्गलाभ्यां भिन्नं रन्ध्रं छिद्रं तृतीयं सुषुम्णाख्यं स्वयं स्वत एवाविशति प्रविशति, इडापिङ्गलारोधनमेवापेक्षितं न तु ततोन्यः सुषुम्णायां वायोः प्रवेशने प्रयत्नोऽपेक्षित इति भावः ॥ ११ ॥

सुषुम्णाप्रवेशनक्रममेवाह ।

स्थिता कुण्डलिनी मूले जीवशक्तिरनुत्तमा ।
तामुत्थाप्य तया सार्धं सुषुम्णां प्राण आविशेत् ॥ १२ ॥

स्थितेति । मूले मूलाधाराख्यचक्रे गुदस्थान इत्यर्थः, अनुत्तमा न विद्यत उत्तमा श्रेष्ठा यस्याः सा तथाभूताऽतिश्रेष्ठेत्यर्थः, जीवशक्तिर्जीवस्य साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासस्येत्यर्थः, शक्तिः सामर्थ्यरूपा कुण्डलिनी कुण्डलिनीनाम्नी

जाग्रदादिमोक्षपर्यन्तजीवसंसारजनयित्रीत्यर्थः, स्थिता वर्तमाना-ऽस्तीति शेषः, अस्तु किं तत इत्यत आह तामिति, प्राणः शारीरो वायुः प्राणायामाभ्यासेनावरुद्धस्तां कुण्डलिनी-मुत्थाप्यान्तर्मुखीं कृत्वा जीवस्य यत्पारमार्थिकं शिवस्वरूपं तदभिमुखीं कृत्वेत्यर्थः, तया जीवशक्त्या सार्धं सह सुषु-म्णां ब्रह्मनाडीमाविशेत्प्रवेशं कुर्यादेवं प्राणस्य सुषुम्णा-प्रवेशक्रमो ज्ञेयः ॥ १२ ॥

ततः किमित्यत आह ।

सुषुम्णावाहिनि प्राणे ब्रह्मरन्ध्रं गते सति ।
तत्र निश्चलतां याते मनो निश्चलतां व्रजेत् ॥ १३ ॥

सुषुम्णेति । प्राणे प्राणवायौ सुषुम्णावाहिनि सुषुम्णा ब्रह्मनाडी तस्यां वाहिनि प्रवेशवति सति ततस्तया नाड्या ब्र-ह्मरन्ध्रं भ्रमरगुहानामकं स्थानं प्रति गते प्राप्ते सति ततश्च तत्र ब्रह्मरन्ध्रे निश्चलतां स्थिरतां याते प्राप्ते सति ततो मनः सङ्क-ल्पविकल्पात्मकं जीवोपाधिभूतमन्तःकरणं निश्चलतां स्थैर्यं व्रजेत्प्राप्नुयात् ॥ १३ ॥

एवं हठक्रमेण मनोलयप्रकारमुक्त्वेदानीं ज्ञानक्रमेणापि तमाह ।

मनो यदि निरुध्येत केवलं ज्ञानयोगिना ।
प्राणापानौ नश्यतस्तु मनोनाशेन तत्क्षणात् ॥ १४ ॥

मन इति । ज्ञानयोगिना ज्ञानयोगाभ्यासवता केवलं प्रा-णोपाधितो विविक्तं सद्यदि यर्हि विवेकेन मनः सङ्कल्पवि-कल्पात्मकमन्तःकरणं सङ्कल्पविकल्परूपांशं संत्याज्य निरुध्येता-वरुध्यात्तर्हि तदा मनोनाशेन सङ्कल्पविकल्पांशमनसो नाशेन क्षयेन तत्क्षणात्सद्य एव प्राणापानौ प्राणापाननामानौ वायू

नश्यतो नष्टौ भवतो निद्रामूर्च्छादौ मनोलये सति प्राणापानप्रवाहस्य विद्यमानत्वेपि बाधादर्शनादिति मनोलयेनैव तयोर्नाश इति भावः॥ १४॥

एवमुभयमतं निरूप्येदानीं मुमुक्षुग्राह्यं वेदान्तमतमाह।

तस्मात्सिद्धान्त एवैको हठविज्ञानयोगिनोः।

शास्त्रोक्तमिति विज्ञाय निर्णयं प्राणचेतसोः॥ १५॥

तस्मादिति। हठविज्ञानयोगिनोर्हठयोगज्ञानयोगाभ्यासवतोस्तस्मान्मनोलयस्यैवोभयत्र साध्यत्वाद्धेतोः सिद्धान्तो निश्चय एक एव सम एव भवतीत्येवं शास्त्रोक्तं वेदान्तशास्त्रोक्तं प्राणचेतसोः शरीरावच्छिन्नस्य वायोर्मनसश्च निर्णयं सिद्धान्तं विज्ञाय ज्ञात्वा॥ १५॥

प्राणायामं मुनिः कुर्यान्मनोलयसमन्वितम्॥ १६॥

इतिश्रीन० बो० मुनीन्द्र० प्राणायामनिर्णयो दशमः॥ १०॥

मुनिर्मननवान् सन् विवेकपूर्वकमित्यर्थः, प्राणायामं प्राणानां शारीरवायूनामायाममवरोधनं मनोलयसमन्वितं मनसः सङ्कल्पविकल्पात्मकवृत्तेर्लयो नाशस्तेन समन्वितं सहितं यथा भवति तथा कुर्यात्क्रियतामित्यर्थः, केवलप्राणायामेन प्राणस्थैर्येपि विवेकाभावेन बीजनाशाभावान्मनोनाशाभावः केवलविवेकेन मनोनिरोधे प्राणायामाभावात्पुनः पुनस्तदुदयान्मनोनाशाभाव इति मनोमलनिवृत्त्यै प्राणायामोपेक्षितस्ततो विवेकेनोत्पन्नेन मनोलयो भवतीति निश्चयोयं मुमुक्षुभिर्ग्राह्य इति भावः॥ १६॥

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाक० बो० मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे प्राणायामनिर्णयार्थप्रकाशो दशमः॥ १०॥

किञ्च तेषां मते कल्पनालाघवं साध्यते तदपि तेषां कल्पनागौरवमेव सिध्यति, वेदान्ते तु मायाङ्गीकारे कल्पनालाघवं सिध्यत्यतस्तेषामपि मायातत्त्वाङ्गीकार इष्टएवेति वेदान्ताङ्गीकारः कर्त्तव्य इत्याशयेनाह ।

कल्पनागौरवं दोषः कल्पनालाघवं गुणः ।
इति यत्तार्किकैरुक्तं तदेव मम रोचते ॥ ७ ॥

इति० बो० मु० अष्टा० वैशेषिकनिर्णय ॥ ३ ॥

कल्पनेति । कल्पनागौरव कल्पनानां गौरवमाधिक्यं दोषोऽचातुरी कल्पनालाघवं कल्पनानां लाघवं न्यूनत्वं गुणश्चातुर्यमित्येवं यत्प्रसिद्धं तार्किकैरुक्तं न्यायशास्त्रविद्भिः कथितमेव केवलं न तु अङ्गीकृतं मायाङ्गीकारं विना तत्र न सिध्यतीति भावः, मम तु मायातत्त्वाङ्गीकर्तुस्तदेव कल्पनालाघमेव रोचत इष्ट भवति अतस्तर्कवैशेषिकमतावरं परित्यज्य वेदान्त एवादरो विधेय इति भावः ॥ ७ ॥

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशेऽष्टादशविद्यास्थाननिर्णयार्थप्रकाशान्तर्गतो वैशेषिकनिर्णयार्थप्रकाश स्तृतीय. ॥ ३ ॥

अथ सांख्यनिर्णय ।

एवं वैशेषिकनिर्णयमभिधायेदानीं प्रसङ्गप्राप्तं साख्यनिर्णयाख्यं चतुःश्लोक प्रकरणमभिदधान आह ।

अथ सांख्यनिर्णयः ।

अथेति । अथ वैशेषिकनिर्णयानन्तरं सांख्यनिर्णयः सांख्यस्य सांख्याभिधशास्त्रस्य निर्णयो विचारः क्रियत इति शेषः, तत्र

तावत्प्रथमं संख्यातीतस्य ब्रह्मणः केवलतत्त्वसंख्यामात्रनिर्णा-यकसांख्यविषयत्वाभावात्सांख्यस्य निष्फलश्रमत्वं दर्शयति ।

असंख्याः सांख्य तत्त्वानां संख्याः संख्यातवानसि ।
किं सांख्य सख्यया ब्रह्म संख्यातीतं विचिन्तय ॥१॥

असंख्या इति। हे सांख्य सम्यक्ख्यायन्ते प्रकथ्यन्ते त-त्त्वान्यस्मिन्तत्सांख्यं तद्वेत्ति अधीते वा सांख्यस्तस्य सम्बो-धने हे सांख्य त्वं तत्त्वानां प्रकृतिपुरुषादीनामसङ्ख्या न-विद्यन्ते सङ्ख्या गणना यासां तास्तथोक्ताः सङ्ख्या गणनाः पञ्चविंशतिषड्विंशत्यादिरूपाः सङ्ख्यातवान्निरूपितवानसि वि-चसे तर्हि साङ्ख्यसङ्ख्यया साङ्ख्यशास्त्रनिरूपितया सङ्ख्यया गणनया किमस्माकं मुमुक्षूणां किं फलं न किमपि फलमि-त्यर्थः, अतः साङ्ख्यस्यापि निष्फलश्रमत्वात्साङ्ख्यादरं परि-त्यज्य ब्रह्मचिन्तने प्रवर्तितव्यमिति साङ्ख्यं प्रेरयति ब्रह्मेति, त्वं ब्रह्म देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदरहितमात्मवस्तु विचिन्तय स्मर, ननु साङ्ख्यविचारेणापि ब्रह्मैव चिन्त्यत इति चेन्नेत्याह सङ्ख्यातीतमिति, सङ्ख्यातीतं साङ्ख्योक्तसङ्ख्यया विषयीकृतं न भवति ब्रह्माऽतः साङ्ख्यस्य निष्प्रयोजनश्रममात्रत्वात्तत्त्यक्त्वा परं ब्रह्मैव चिन्तनीयमिति भावः ॥ १ ॥

ननु तत्त्वज्ञानं मोक्षसाधनत्वेन भवतामपीष्टं साङ्ख्यं च तत्त्वज्ञानप्रतिपादकं तत्कुतः साङ्ख्यं नाङ्गीक्रियते भवद्भिरि-त्याशङ्क्याह ।

तत्त्वज्ञानं त्वया प्रोक्तं तत्त्वज्ञानं मतं मम ।
तत्त्वातीतस्य विज्ञानं तत्त्वज्ञानं हि मुक्तये ॥२॥

तत्त्वज्ञानमिति । हे साङ्ख्य त्वया भवता तत्त्वज्ञानं तत्त्वानां

प्रकृतिपुरुषादीनां ज्ञानं बोधनं प्रोक्तं कथितं मम मे मुमुक्षो-स्तत्त्वज्ञानं तत्त्वबोधनमेव मतामिष्टं तथापि त्वत्प्रतिपादितं तत्त्वज्ञानं न मोक्षसाधनं तर्हि तत्कीदृशं मोक्षसाधनं तत्त्वज्ञानं तत्राह तत्त्वातीतस्येति, तत्त्वातीतस्य तत्त्वेभ्यो भवदुक्तप्रकृतिपुरुषादितत्त्वेभ्योऽतीतस्य भिन्नस्य तत्त्वास्पृष्टस्येत्यर्थः, विज्ञानमनुभवस्तत्त्वज्ञानं तत्त्वस्यानारोपितस्वरूपस्य जीवब्रह्मैक्यलक्षणस्य ज्ञान बोधनमस्माकमिष्टं तदेव मुक्तये मुक्त्यर्थं भवति न त्वत्प्रोक्तं मुक्तये तत्त्वज्ञानं भवतीत्यर्थः, अतस्तन्नाङ्गीक्रियतेऽस्माभिरिति भाव· ॥ २ ॥

ननु तत्त्वविवेचन पुरुषज्ञानार्थमस्माभिः कृतमित्याशङ्क्याङ्गीकरोति ।

पुरुषस्य परीक्षार्थं मया संख्या निरूपिता ।
सांख्य एवं यदि प्राह तर्हीदं मम संमतम् ॥ ३ ॥

पुरुषस्येति । पुरुषस्य प्रकृतिविकृतिविलक्षणस्यासङ्गस्यात्मनः, तदुक्तं ।

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' इति ॥

परीक्षार्थं ज्ञानार्थं मया साङ्ख्यशास्त्रप्रणेत्रा सङ्ख्या तत्त्वानां प्रकृत्यादीनां पञ्चविंशतिषड्विंशत्याद्या निरूपिता प्रतिपादितेवमनेन प्रकारेण यदि यर्हि साङ्ख्यः साङ्ख्यशास्त्रप्रणेता कपिलस्तदध्ययनवान्तज्ज्ञो वाऽन्यः कोपि प्राह वक्ति तर्हि तदेदं वचनं साङ्ख्यापसिद्धान्तापातेन त्वंपदार्थशोधनमात्रोपयोगितया च मम मुमुक्षोः संमतमिष्टं भवति भवान्साङ्ख्यसिद्धान्त परित्यज्य वेदान्त आगत इति भावः ॥ ३ ॥

तर्हि तत्त्वसङ्ख्यायाः पुरुषपरीक्षामात्रोपयोगित्वाङ्गीकारे

तत्रैवाभिनिवेशो न कर्त्तव्य इत्याह ।

पुरुषान्नपरं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ।
पुरुषं पश्य रे सांख्य संख्यया किं प्रयोजनम् ॥ ४ ॥

इ० बो० मु० अष्टा० सांख्यनिर्णयश्चतुर्थः ॥ ४ ॥

पुरुषादिति । पुरुषादसङ्गसच्चिदानन्दपरिपूर्णरूपादात्मनः परं श्रेष्ठं किञ्चित्किमपि न न विद्यते सैव काष्ठा सर्वसुखावधिरूपा सोक्तलक्षणा परोत्कृष्टा गतिः स्थितिर्ज्ञेया, अरे साङ्ख्य सङ्ख्यायामभिनिवेशित्वान्नीचसम्बोधनं त्वं पुरुषं परिपूर्णरूपमात्मानं पश्यावलोकय तं त्यक्त्वा सङ्ख्यया तत्त्वानां गणनया किं प्रयोजनं किं फलं न किमपीत्यर्थः, अतः सङ्ख्याभिनिवेशेन व्यर्थश्रमो न कर्त्तव्य इति भावः ॥ ४ ॥

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीपौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशेऽष्टादशविद्यास्थाननिर्णयार्थप्रकाशान्तर्गत सङ्ख्यनिर्णयार्थप्रकाशश्चतुर्थः ॥४॥

अथ पातञ्जलनिर्णयः ।

एवं साङ्ख्यनिर्णयमभिधायेदानीं पातञ्जलयोगं निर्णेतुं पातञ्जलनिर्णयाख्य दशश्लोक प्रकरणमभिदधान आह ।

अथ पातञ्जलनिर्णयः ।

अथेति । अथ साङ्ख्यनिर्णयानन्तरं पातञ्जलनिर्णयः पतञ्जलिना प्रोक्त पातञ्जल शास्त्रं तस्य निर्णयो विचारः क्रियत इति शेषः, पातञ्जलमित्यत्र 'तेन प्रोक्तमि'तिसूत्रेणाण्, तत्रादौ योगसिद्धिप्रसक्त्या श्रमहेतुत्वे मुमुक्षूणामादरं जनयितुं पातञ्जलस्य दर्शयति ।

योगसिद्धिप्रसक्तोयं पातञ्जलपरिश्रमः ।
कलाकौशलमेवेदं न स्वरूपस्थितिर्हि सा ॥ १ ॥

योगसिद्धीति । अयं पतञ्जलिप्रोक्तो योगाख्यः परिश्रमः सर्वकालं श्रम एव यतो योगसिद्धिप्रसक्तो योगानां धारणाविशेषाणां सिद्धय आकाशगमनाद्यास्तासु प्रसक्तोऽत्यासक्तोऽतः पातञ्जलपरिश्रमः पातञ्जले पतञ्जलिप्रोक्ते शास्त्रे परिश्रम एव केवलं ज्ञेयो न तत्रोक्तसाधनैर्मोक्ष इति भावः, तर्हि किं तत्रससाधनैर्भवतीत्याशङ्क्याह कलेति, इदं पातञ्जलं कलाकौशलमेव कलासु योगसिद्धिषु कौशलं कुशलत्व चातुर्यमात्रं केवलमित्यर्थः, सा कुशलता न स्वरूपस्थितिः स्वस्यात्मनो रूपे तस्य स्थितिस्तदाकारा स्थितिरित्यर्थः, न न भवति हि एतद्विवेकिनां प्रसिद्धम् ॥ १ ॥

कायव्यूहसिद्धिप्रसक्त्या योगाभ्यासप्रसक्तं प्रत्याह ।

रे योगसिद्ध जीवानां कायव्यूहो न दुर्लभः ।
विदेहमुक्तता सिद्धिः कायव्यूहो न सिद्धये ॥२॥

रे योगसिद्धेति । रे योगसिद्ध रे इति नीचसम्बोधने योगसिद्धिप्रसक्तत्वान्नीचत्वं हे योगसिद्ध्यासक्त जीवानां जीवत्वं प्राप्तानां कायव्यूहः कायानां देहानां व्यूहः समूहो न दुर्लभो न दुःप्रापः किन्तु सुलभ एवेत्यर्थः, ननु योगाभ्यासे न विना जीवानां कायव्यूहो दुर्लभ एवेति चेन्न भ्रमजन्यस्वाप्नमानोरथिकप्रपञ्चादावनन्तदेहानां तदीयत्वेन दर्शनाज्जाग्रत्प्रपञ्चस्यापि विचारदृष्ट्या हिरण्यगर्भस्वप्नत्वात्तैजसहिरण्यगर्भयोरभिन्नत्वस्य पारमार्थिकत्वात्स्वप्नत्वस्य तुल्यत्वे कायव्यूहत्वसिद्धेः सुलभत्वं कायव्यूहस्य जीवानामिति भावः,

ननु तर्हि तत्र तत्र वेदान्ते तत्त्वज्ञानात्सिद्धिरवाप्यत इत्युच्यते तत्कथं सिद्धिर्निन्द्यते भवद्भिरिति चेत्तत्राह विदेहेति, विदेहमुक्तता देहराहित्त्वेन ब्रह्मरूपतया स्थितिरेव सिद्धिः सिद्धिशब्देनाभिहिता वेदान्ते कायव्यूहः शरीरसमूहधारणेनानेकभोगभोगो न सिद्धये मुक्तये न भवतीति तत्र तत्र वेदान्ते निश्चितमिति भावः ॥ २ ॥

एवं कायव्यूहसिद्धिं विदूष्येदानीं परकायप्रवेशरूपां सिद्धिं दूषयन्परकायप्रवेशसिद्धीच्छया योगाभ्यासासक्तं प्रत्याह ।

हे योगसिद्ध जानासि परकायप्रवेशनम् ।
परं तु नैव जानासि परकायप्रवेशनम् ॥ ३ ॥

हे योगसिद्धेति । हे योगसिद्ध हे योगधारणया सिद्धंमन्य त्वं परकायप्रवेशनं परेषामन्यप्राणिनां कायेषु देहेषु प्रवेशनं प्रवेशयुक्तिं जानासि वेत्सि तथाप्ययमभिमान एव तव परकायप्रवेशनं नैव वेत्सि कुत इत्यत आह परं त्विति, परन्तु तथापि त्वं परकायप्रवेशनं परं परमात्मानं कायति वक्ति भागलक्षणयोपदिशतीत्यर्थः, तत्परकायं महावाक्यजातं तत्त्वमस्यादिरूपं तस्मिन्दृढमोक्षेच्छया प्रवेशनं तदर्थावगाहनं, यद्वा परकायेन महावाक्योपदेशेन प्रवेशनं प्रवेशोऽर्थादात्मनीत्यवगन्तव्यं तन्नैव जानासि नैव वेत्सीति मन्येहम् ॥ २ ॥

ननु मास्तु महावाक्यद्वारात्मनि प्रवेशनमन्यशरीरप्रवेशरूपा सिद्धिस्तु वर्त्तत एव ममेत्याशङ्क्याह ।

भूतादयोपि जानंति परकायप्रवेशनम् ।
सा सिद्धिर्नैव बन्धः सा यद्धि कायप्रवेशनम् ॥२॥

भूतादय इति। भूतादयो भूताः पिशाचा आदयो मुख्या येषां ते रोगज्वरादयोऽप्यादिशब्देन ग्राह्यास्ते परकायप्रवेशनं परेषामन्यप्राणिनां कायेषु प्रवेशनं प्रवेशयुक्तिं जानन्ति विन्दन्ति तद्योनिप्रापकेन क्षुद्रकर्मणापि तादृशयोनिप्राप्त्या सा स्यादेवाऽतस्तदर्थं महांश्चित्तावरोधयोगरूपः प्रयासो नैवापेक्षितोऽतस्तयैव न कृतार्थतेति भावः, ननु परकायप्रवेशरूपा सिद्धिर्योगफलमेवातः कुतो भवद्भिर्निन्द्यत इति चेत्तत्राह सेति, यत्प्रसिद्धं कायप्रवेशन काये शरीरे प्रवेशनं प्रवेश इति सा कायप्रवेशरूपा नैव सिद्धिर्नैव मुक्तिर्भवति किन्तु सा परकायप्रवेशरूपा बन्धो बन्धनमेव भवति हि प्रसिद्धमिदं सर्वशास्त्रेषु विवेकिषु चातः परकायप्रवेशसिद्धसाधनभूतयोगधारणासक्तिं परित्यज्य मोक्षसाधनभूते वेदान्तश्रवणादावेव प्रवर्त्तितव्यमिति भावः ॥ ३ ॥

एव परकायप्रवेशादरं परित्याज्य चिरजीवितसिद्धिकारणभूतयोगधारणासक्तं प्रत्याह।

अवश्य मरणं तर्हि कीदृशी चिरजीविता।
जन्ममृत्युजराध्वंसि त्वं विज्ञानामृतं पिव ॥ ५ ॥

अवश्यमिति। हे योगसिद्ध यत्र चिरजीवनेऽवश्यं निश्चयेन मरणं मृत्युर्भवति तर्हि तदा सा चिरजीविता बहुकालं जीवनता कीदृशी कथं सिद्धा न कथमपीत्यर्थः, यथा जन्मतो मरणान्त रुग्णस्य समाशतं जीवनमपि न तज्जीवनत्वेन गृह्यते विवेकिभिरैहिकपारलौकिकभोगसाधनकर्माचरणाशक्त्या मरणतुल्यत्वात्तथा मरणभीत्या योगधारणायां स्थितः सन् चिरजीवित्वं साधितं तत्राप्यन्तेऽवश्यं मरणे सिद्धे चिरन्तरं

तत्प्रतीत्या तद्भयेन निरन्तरं धारणायामेव स्थितस्यैहिकभोगसाधनव्यवहारे प्रवृत्त्ययोगेन भोगाभावाद्योगधारणायाश्च चिरजीवित्वसिद्धिफलकत्वे चरितार्थत्वात्तस्या अन्यलोकभोगफलकत्वाभावाच्च तदन्यधर्मादिसाधनाचरणासिद्धेश्च पारलौकिकभोगाभाववत्त्वं तस्या मोक्षसाधनश्रवणाद्यनुष्ठानासिद्धेश्चैतादृशचिरजीवित्वस्य चिररुग्णत्वसाम्याच्चिरमरणमेव तदितिज्ञात्वा तस्मिंस्तद्धारणायां चानादरो मुमुक्षुभिः कर्त्तव्य इति भावः, ननु तर्हि मरणनिवृत्तेरेव मोक्षत्वान्मोक्षस्य च भवतामपीष्टत्वाच्चिरजीवित्वं भवतामपीष्टमतः कुतो निन्द्यते तत्राह जन्मेति । त्वं भवाञ्जन्ममृत्युजराध्वंसि जन्म सदद्वैतानृतद्वैतयोरन्योन्यस्मिन्नन्योन्यारोपरूपमन्योन्यधर्मारोपरूपं चेति लक्षित जन्म तथा मृत्युरपि विवेकेन सदद्वैतानृतद्वैतयोर्विवेचनेन पृथक्त्वावलोकनरूपं मरणमिति लक्षितो मृत्युर्लोकप्रसक्षे जन्मप्रकरणे वा जरा वार्धक्य तेषां विध्वंसि नाशकं विज्ञानामृत विज्ञानं जीवब्रह्मैक्यसाक्षात्काररूपं तदेवोभयलक्षणमरणनिवर्त्तकत्वादमृतमिवामृतं मोक्षरूपं तदेवास्माकमिष्टं तत्त्वं पिब माशयाङ्गीकुर्वित्यर्थः, मुमुक्षूणामिष्टो मरणनिवृत्तिरूपो मोक्षो ज्ञानेनैव साध्यः स एवात्यन्तमरणनिवृत्तिरूपः परमपुरुषार्थरूपः, ननु एकदेशिकया कयाचिद्योगधारणया चिरजीविताऽतस्तदादरं परित्यज्य मुमुक्षुभिर्वेदान्तश्रवणादिष्वेवादरः कर्तव्य इति भावः ॥ ५ ॥

एवं चिरजीवित्वसाधनभूतयोगधारणां विदूष्येदानीं परचित्तस्थितवस्तुज्ञतारूपसिद्धिसाधनधारणारतं प्रत्याह ।

परचित्तस्थितं वस्तु त्वया ज्ञातं ततश्च किम् ।

स्वचित्तसंस्थितं वस्तु परं ब्रह्म विलोकय ॥ ६ ॥

परेति । त्वया हे योगिन्भवता धारणावता परचित्तस्थित परेषामन्यप्राणिनां चित्तान्यतःकरणानि तेषु स्थितं चिन्त्यतया वर्त्तमानं वस्तु पदार्थजात ज्ञातमवबुद्ध ततश्च ततो ज्ञानादपि तत्र किं किं फलं न किमपीत्यर्थः, परमात्मनोन्यत्कल्पितं चित्तं तत्रस्थं वस्त्वपि कल्पितमतस्तत्सर्वेषामप्यस्ति अतस्तावन्मात्रेण कृतार्थता नैवं मंतव्या तदर्थ महान्योगरूपः प्रयासश्च नैव कर्त्तव्य इति भावः, तर्हि किंकर्त्तव्यमित्यत आह स्वेति, स्वचित्तसस्थितं स्वस्य चित्तमन्तःकरणं तत्र संस्थित वस्तु सत्यरूप परं ब्रह्म कार्यकारणत्वरहितं देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्मात्मस्वरूपं विलोकय साक्षात्पश्य स्वतः पृथक्तया भ्रान्तिसिद्धं समष्टिव्यष्ट्यन्तःकरणं तत्र स्थितभ्रमरूपजगद्विषयकज्ञानस्यापि भ्रमरूपत्वादस्माकं तेनापि प्रयोजन नास्ति तर्हि तदेकदेशव्यष्ट्यन्तःकरणस्थपरचित्तस्थितवस्तुज्ञानरूपसिद्ध्या प्रयोजनं नास्तीति किं वक्तव्यमतस्तत्रादरं परित्यज्य स्वचित्तबाधेन स्वचित्तस्थितब्रह्मसाक्षात्कारसाधनेषु वेदान्तश्रवणादिष्वेवादरो मुमुक्षुभिः कर्त्तव्य इति भावः ॥ ६ ॥

इदानीं दूरश्रवणदर्शनाख्यसिद्धिसाधनभूतधारणाभ्यासरतं प्रत्याह ।

निकटस्थस्यात्मनश्चेन्न स्याच्छ्रवणदर्शनम् ।
का सिद्धिः सा तु या सिद्धिर्दूरश्रवणदर्शनम् ॥७॥

निकटेति । अत्यन्ताव्याव्यवहितत्वान्निकटस्थस्यातिसमीपवर्तिन आत्मनः स्वात्मनः स्वात्मवस्तुनः श्रवणदर्शनं श्रवणमित्युपलक्षण मननिदिध्यासनयोः, तद्द्वारा दर्शनं च साक्षा-

त्कारस्तयोः समाहार एकवद्भावः, न स्याचेन्न भवेद्यदि तर्हि या तु योगशास्त्रे प्रसिद्धा दूरश्रवणदर्शनं दूरस्थपुरुषाद्युच्चारितशब्दानां श्रवणं तथा दूरस्थितपदार्थानां दर्शनमवलोकनं चेति सिद्धिर्विभूतिरस्ति सा का न सा सिद्धिर्गणनार्हेत्यर्थः, दूरश्रवणदर्शनरूपसिद्ध्योरनात्मविषयत्वेन मिथ्यात्वात्तदभ्यासस्य च व्यर्थश्रमत्वात्तदादरं परित्यज्यात्मविषयकवेदान्तश्रवणमनननिदिध्यासनेष्वेव प्रयत्नः कर्त्तव्यो नान्यत्रेति भावः ॥ ७ ॥

एवं दूरश्रवणदर्शनाख्ये सिद्धी प्रत्याख्यायेदानीमाकाशगमनाख्यसिद्धीच्छया तत्साधनभूतयोगधारणाभ्यासासक्तं प्रत्याह।

भवन्ति वायसादीनामपि खेचरतादयः।
सिद्धिभिर्नैव सिध्येत सिद्धिभिः किं प्रयोजनम् ॥८॥

भवन्तीति। खेचरतादयः खेचरताऽऽकाशगतित्वमादिर्येषामन्तर्धानप्रभृतीनां तास्तथोक्तास्ताः सिद्धयो वायसादीनामपि वायसः काक आदिर्येषां श्येनभासगरुडादीनां तेषामपि विना योगधारणां भवन्ति प्राप्नुवन्ति काकादीनामपि विना योगधारणमाकाशगमनसिद्धेरपिशब्दाद्भूतादीनामपि विना योगधारणामन्तर्द्धानादिसिद्धेः प्रत्युत तेषां योनिप्राप्तेरविहितकर्मफलत्वेन तुच्छत्वान्न तत्रादरो मुमुक्षुभिर्विधेय इति भावः एवमेव सर्वसिद्धीनामपि निष्प्रयोजनत्वं दर्शयति सिद्धिभिरिति, सिद्धिभिः पातञ्जलोक्ताभिराकाशगमनादिरूपसिद्धिभिर्नैव सिद्ध्येत नैव निश्चयेन मुच्येत तर्हि मुमुक्षूणामस्माकं सिद्धिभिः परकायप्रवेशादिरूपाभिः सिद्धिभिः किं प्रयोजनं किं फलं न किमपीत्यर्थः ॥ ८ ॥

ननु योगसिद्धिरेव मुक्तिः सा तु भवतामपीष्टातः कुतः सा निन्द्यत इत्याशङ्क्याह ।

न सिद्धिर्योगसिद्धिर्हि बलवीर्यादिसिद्धिकृत् ।
एतेन योगः प्रत्युक्त इति वेदान्तभाषितम् ॥९॥

नेति । हि यस्मात्कारणाद्योगसिद्धिर्योगधारणाभिर्या सिद्धिर्जायते सा न सिद्धिर्न मुक्तिर्वेदान्ते मुक्तिरेव सिद्धिपदेनोक्ता नाकाशगमनादिरूपोक्ता सिद्धिशब्देनेत्यर्थः, सा योगसिद्धिस्तु योगधारणया या सिद्धिर्जाता सा बलवीर्यादिसिद्धिकृद्बलं च शरीरदार्ढ्यं वीर्यं च शुक्रभूयस्त्वं मतापभूयस्त्वं च ते आदिनी येषामन्तर्धानोर्ध्वगतस्त्वादीनां तेषां सिद्धिः प्राप्तिस्तस्याः कृत्कर्त्री भवति न तु मुक्तिकृदित्यर्थः, अतो मुमुक्षुभिस्तत्रासक्तिर्नैव कार्येति भावः, ननु योगप्रत्याख्यानं स्वकपोलकल्पितत्वादप्रमाणमित्याशङ्क्य तत्र श्रीबादरायणसूत्रं प्रमाणयति एतेनेति, 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' एतेन साङ्ख्यप्रत्याख्यानेन योगो योगसिद्धान्तः प्रत्युक्तः प्रत्याख्यातो न पृथक्प्रयासः कर्त्तव्य इति भावः, इति एवं वेदान्तभाषितं वेदान्त उपनिषदर्थसंग्राहके शारीरकसूत्रेषु मध्ये भाषितं कथितमस्तीति शेषः, अतो योगमतखण्डनमिदं मुमुक्षुभिः प्रमाणपूर्वमस्तीति ज्ञेयमिति भावः ॥९॥

नन्वात्मज्ञानमेव सिद्धिपदवाच्यं योगशास्त्रे प्रतिपादितमन्यसिद्धयस्तत्साधनभूतधारणाविशेषाश्च तत्तज्ज्ञानपूर्वकं तत्त्यागार्थैवेत्याशङ्क्यैतच्च मतं वेदान्तानुकूल्यादस्माकमिष्टमेवेति योगसिद्धान्तापहतिरित्याशयेनाह ।

सिद्धिरात्मपरिज्ञानमन्तरायास्तु सिद्धयः ।
इति चेद्योगवित्प्राह मतमस्माकमेव तत् ॥ १० ॥

इ० बो० मु० पु० अष्टा० पातञ्जलनिर्णय पञ्चमः ॥ ५ ॥

सिद्धिरिति । आत्मपरिज्ञानमात्मनो ब्रह्माभिन्नस्य प्रत्यगात्मनः परिज्ञानं बोधः स एव सिद्धिः सिद्धिशब्देनोक्तः सिद्धयस्तु तदन्याऽकाशगमनादिरूपाः सिद्धयोऽन्तराया आत्मज्ञानस्य विघ्नरूपाः सन्ति अतस्तास्तत्र तज्ज्ञानपूर्वं तत्त्यागायैवाभिहिता इति भावः, इत्येवं योगविद्योगतात्पर्यवेत्ता कश्चित्प्राह वक्ति चेद्यदि तर्हीदं तदिदं मतं मम वेदान्तिनः संमतमिष्ट न तु योगसिद्धान्तः स इति भावः ॥ १० ॥

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे पुराणश्रवणनिर्णयेऽष्टादशविद्यास्थाननिर्णयप्रकाशान्तर्गतः पातञ्जलनिर्णयार्थप्रकाश. पञ्चम ॥ ५ ॥

अथ मीमांसानिर्णय ।

एवं पातञ्जलनिर्णयमभिधायेदानी मीमांसानिर्णयमभिधातुं मीमांसानिर्णयाख्यं सप्तश्लोकं प्रकरणमभिधास्यन्नाह ।

अथ मीमांसानिर्णयः ।

अथेति । अथ पातञ्जलनिर्णयानन्तरं मीमांसानिर्णयो मीमांसाया निर्णयो विचारः क्रियत इति शेषः, तत्र तावत्प्रथमं तन्मताग्राह्यत्वज्ञापनाय तन्मौढ्यं दर्शयति ।

कष्टं कर्मेत्ययं न्यायो मतो मीमांसकस्य चेत् ।
आत्मनः क्लेशभागित्वं तेनैवांगीकृतं तदा ॥ १ ॥

कष्टमिति । कष्टं कर्मेत्यय कर्म क्रिया कष्टं दुःखरूपमस्तीति शेषः, अयमुक्तः प्रत्यक्षो न्यायः सिद्धान्तो मीमांसकस्य मीमांसाशास्त्रज्ञस्य जैमिनेर्मतं इष्टश्चेद्यदि भवेत्तदा तर्हि आत्मनः स्वस्य कर्मकर्तृत्वाभिनिवेशवतः क्लेशभागित्वं दुःखभोक्तृत्वं तेनैव मीमांसकेनैव कोशकारक्रिम्यादिनेवाङ्गीकृतं भवेदिति वा

बुद्धिरहङ्कारश्चितं चेत्यन्तः करणानि चत्वारि । तेरैव व्यवहारः ''स्वप्नः'' । तज्जनकः प्रकाश स्तृतीय हल्लेखास्थकामकलया बोध्यः ।।'

द्वितीय कूट के लकार को भी वैसा ही समझना चाहिए । 'स्वप्नावस्था' की केन्द्रीय शक्ति है 'ह्रीं' में स्थित ईकार स्वरूप 'कामकला' ।। ३८ ।।

आन्तरवृत्तेर्लयतो लीनप्रायस्य जीवस्य ।
वेदनमेव सुषुप्तिश्चिन्त्या तार्तीयबिन्दौ सा ।। ३९ ।।

(सुषुप्ति का स्वरूप)

तृतीयकूट के बिन्दु में उस सुषुप्ति की भावना करनी चाहिए जो कि सुषुप्ति का कारण है और जिसमें समस्त अन्तःकरण एवं जीव निद्रामग्न हैं ।। ३९ ।।

*** प्रकाश ***

विवरणमत आत्मसुखाज्ञानविषयिकास्तिस्रोऽविद्यावृत्तयः स्वीकृता इत्यत आह— आन्तरवृत्तेरिति । अन्तःकरणपरिणामरूपवृत्तेरित्यर्थः । वार्त्तिकमते वृत्तिसामान्याभाव एव सुषुप्तिः । तार्तीयबिन्दौ ललाटस्थाने ।। ३९ ।।

*** सरोजिनी ***

'सुषुप्ति'—जिस समय अपने व्यापार-सहित बुद्धि अपने कारण अज्ञान में विलीन हो जाती है उसी को विज्ञ पुरुषों ने 'निद्रा' कहा है ।[१] सुषुप्ति-काल में घोर निद्रा में सकल इन्द्रियाँ एवं मन, बुद्धि इत्यादि तथा इनकी वृत्तियाँ अपने उपादान कारण अविद्या में विलीन हो जाती हैं और उस समय आत्मा की जाग्रत-स्वप्न अवस्थाओं के अभाव होने के कारण विश्व तैजस आदि संज्ञा नहीं रहती, उस समय तो वह तमावृत अपने स्वरूप सुख का बिना किसी साधन की सहायता के ही स्वयं भोग करता है ।[२]

वृत्तियाँ एवं सुषुप्ति—

(१) विवरणकार का मत—आत्मसुख के अज्ञानविषयिक तीन अविद्या वृत्तियाँ हैं । अन्तःकरण का परिणाम रूप ही वृत्तियाँ हुआ करती हैं ।
(२) वार्तिककार का मत—वृत्ति सामान्य का अभाव ही सुषुप्ति है ।

तुर्यावस्था चिदभिव्यञ्जकनादस्य वेदनं प्रोक्तम् ।
तद्भावनार्धचन्द्रादिकं त्रयं व्याप्त कर्तव्यः ।। ४० ।।

(तुरीयावस्था का स्वरूप)

चैतन्य को अभिव्यक्त करने वाली जो नादावस्था है (वह अवस्था जिसमें 'नाद' पूर्ण चैतन्य को अभिव्यक्त करता है) 'तुरीयावस्था' कहलाती है । उसकी

१. वराहोपनिषद

भावना अर्द्धचन्द्र एवं (उसके आगे के) वर्णत्रय तक की जानी चाहिए ।। ४० ।।

*** प्रकाश ***

अर्धचन्द्ररोधिनीनादेषु व्याप्तस्तुर्यावस्थाप्रकाशो भाव्यः ।। ४० ।।

*** सरोजिनी ***

ज्ञान की सात भूमिकायें

शुभेच्छा | विचारणा | तनुमानसा | सत्वापत्ति | असंसक्ति | पदार्थ भावना | तुरीयगा

ज्ञान की सात भूमिकायें हैं । उनमें अन्तिम भूमिका है 'तुरीयगा' । 'शुभेच्छा प्रथमा भूमिका भवति । विचारणा द्वितीया तनुमानसी तृतीया । सत्वापत्तिस्तुरीया । असंसक्तिः पञ्चमी । पदार्थ भावना षष्ठी । तुरीयगा सप्तमी ।।'

(१) अकार, उकार, मकार एवं अर्धमात्रा वाली प्रणवात्मिका भूमिका होती है ।

(२) उन अकार, उकारादि चार मात्राओं के प्रत्येक के स्थूल, सूक्ष्म कारण एवं साक्षी भेद से चार-चार प्रकार के होते हैं । उसमें भी अकारादि के जो स्थूलादि चार भेद हैं उनके प्रत्येक के जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय—ये चार भेद से अवस्थायें होती हैं । आत्मा के भी चार भेद हैं—विश्व, तैजस, प्राज्ञ, तुरीय । 'तदवस्था जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति तुरीयाः ।'

अकार का स्थूल अंश में—जाग्रत-विश्व, उनके सूक्ष्म अंश में जाग्रत तैजस, उसके बीज अंश में जागृत-प्राज्ञ एवं उसके साक्षी अंश में जागृत-तुरीय है ।

उकार के स्थूल अंश में स्वप्न-विश्व, उसके सूक्ष्म अंश में स्वप्न-तैजस, उसके बीजांश में स्वप्न-प्राज्ञ एवं उसके साक्षी अंश में स्वप्न-तुरीय है । प्रणव की तृतीय मात्रा मकार के स्थूल अंश में सुषुप्ति-विश्व, उसके सूक्ष्म अंश में सुषुप्ति-तैजस उसके बीजांश में सुषुप्ति-प्राज्ञ एवं उसके साक्षी अंश में सुषुप्ति-प्राज्ञ और उसके साक्षी अंश में सुषुप्ति-तुरीय हैं । प्रणव की चौथी अर्धमात्रा के स्थूल अंश में तुरीय-विश्व उसके सूक्ष्म अंश में तुरीय तैजस, उसके बीज अंश में तुरीय-प्राज्ञ एवं उसके साक्षी अंश में तुरीय-तुरीय है ।

(३) अकार के स्थूलांश से तुरीयांश तक जो चार अवस्थायें हैं, उनमें तीन भूमिकायें हैं—प्रथमा—'शुभेच्छा', द्वितीय—'विचारणा', तृतीय—'तनुमानसा' ।

उकार के स्थूलांश से लेकर तुरीय तक—चौथी 'सत्त्वापत्ति' भूमिका होती है । मकार के स्थूलांश से लेकर तुरीयांश तक पाँचवी अंससक्ति नामक भूमिका होती है । अर्धमात्रा के स्थूलांश से लेकर उसके तुरीयांश तक छठवीं 'पदार्थभावना' नामक 'भूमिका' होती है । इन समस्त भूमिकाओं के अनन्तर जो अवस्था होती है । वही सप्तमी 'तुरीयगा' भूमिका है ।

'ज्ञानभूमिः शुभेच्छास्यात्प्रथमा समुदीरिता ।
विचारणा द्वितीया तु, तृतीया तनुमानसा ।
सत्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसाक्तिनामिका ।
पदार्थभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगास्मृता ॥'

'तुरीयगा' का स्वरूप क्या है?

यत्र नासन्त सद्रूपो, नाहं नाप्य न हंकृतिः ।
केवलं क्षीणमनन आस्तेऽद्वैतेडित निर्भयः ॥

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्य कुंभइवाम्बरे ।
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्ण कुंभ इवार्णवे ॥ १८ ॥

मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव ।
भावना मखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह ।
दर्शन प्रथमाभासमात्मानं केवल भज ॥[१]

१. वराहोपनिषद

वाक्चतुष्टय (मातृका)

आनन्दैकघनत्वं यद्वाचामपि न गोचरो नृणाम् ।
तुर्यातीतावस्था सा नादान्तादिपञ्चके भाव्या ॥ ४१ ॥

(तुर्यातीतावस्था का स्वरूप)

(वह) आनन्दैकघन अवस्था जो मनुष्यों की वाणी से परे है 'तुर्यातीतावस्था' (कहलाती) है । उसकी 'नादान्त' आदि पञ्चवर्णों में भावना करनी चाहिए ॥ ४१ ॥

*** सरोजिनी ***

इस श्लोक में 'तुर्यातीतावस्था' के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है ।

(१) 'तुर्यातीतावस्था' आनन्दैकघन, अवांमनसगोचर अवस्था है ।

(२) 'तुर्यातीतावस्था' नादान्त आदि पाँच वर्णों में स्थित है ।

अवस्थापञ्चकं निरूप्य शून्यषट्कं निरूपयति—

तार्तीयीके रेफस्थाने बिन्दो च रोधिन्याम् ।
नादान्तव्यापिकयोश्चन्द्रकतुल्यानि पञ्च शून्यानि ॥ ४२ ॥
उन्मन्यां नीरूपं षष्ठं चिन्त्यं महाशून्यम् ।

क्रमात् प्राप्तानि सप्त विषुवन्त्याह—

प्राणात्ममानसानां संयोगः प्राणविषुवाख्यः ॥ ४३ ॥

(बिन्दु एवं पञ्चशून्य-अन्तर्संबंध)

तृतीयकूट के रेफ, बिन्दु, रोधिनी, नादान्त एवं व्यापिका स्थानों में पञ्च शून्यों की, मयूर के पङ्ख में स्थित चन्द्र के रूप में, भावना करनी चाहिए ॥ ४२ ॥

(महाशून्य की भावना एवं 'प्राणविषुव' का स्वरूप)

'उन्मनी' में रूप शून्य छठे (शून्य) महाशून्य की भावना करनी चाहिए । प्राण, आत्मा एवं मन के संयोग का नाम 'प्राणविषुव' है ॥ ४३ ॥

*** प्रकाश ***

चन्द्रको मयूरपिच्छाग्रगतं चन्द्राकारं शून्यम् । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

'शिखिपक्षचित्ररूपैर्मण्डलैः शून्यपञ्चकम् ।
ध्यायतो ऽनुत्तरे शून्यं परं व्योम तनुर्भवेत् ॥'

इति । यद्यपि

'अग्न्यादिद्वादशान्तेषु त्रींस्त्रींस्त्यक्त्वा वरानने ।

शून्यत्रयं विजानीयादेकैकान्तरितं प्रिये ।
शून्यत्रयात् परे स्थाने महाशून्यं विभावयेत् ॥'

इति पूजासङ्केते रेफादिमहाबिन्द्वन्तेषु द्वादशसु स्थानेषु मध्ये त्रयं त्रयं त्यक्त्वा, एकैकमन्तरितं मध्यस्थितं शून्यत्रयं विजानीयादित्यर्थादर्धचन्द्रशक्तिमहाबिन्दुषु शून्यत्रयं तदूर्ध्वं चतुर्थमित्यर्थः; अथ वा, आदावन्ते च त्रयं त्रयं त्यक्त्वा मध्यस्थे ऽर्धचन्द्रादि-व्यापिकान्तषट्क एकैकव्यवधानेन शून्यत्रयं तत्परे चतुर्थमित्यर्धचन्द्रनादशक्तिषु त्रीणि शून्यानि व्यापिकायां महाशून्यमिति वार्थः स्पष्टं प्रतीयते; तथापि

'शून्यषट्कं सुरेशानि अवस्थापञ्चकं पुनः ।
विषुवत्सप्तरूपं च भावयन्मनसा जपेत् ॥'

इत्युपक्रमविरोधादन्यथार्थः । तथा हि—अग्न्यादीति भिन्नं पदं शून्यत्रये ऽन्वेति । अन्तशब्दश्चरमावयववाची । अर्थाच्चरमहल्लेखासंबन्धिषु द्वादशस्ववयवेषु हकारा-द्युन्मनान्तेषु, अग्न्यादि रेफमारभ्य शून्ययोस्त्रयं शून्यषट्कं विजानीयात् । तच्च न रेफादिसांतत्येन, किं त्वेकैकव्यवधानेनेति । अत आह—एकैकान्तरितमिति । प्रथम-शून्यस्य रेफस्थानीयत्वे कथिते व्यवधानमर्थाद्धकारेकारार्धचन्द्रनादशक्तिसमनाभिः षड्भिरिति सिध्यति । तदेवाह—त्रींस्त्रीनिति । द्विगुणतांस्त्रींस्त्यक्त्वेत्यर्थः । शून्यत्रयात् शून्ययोस्त्रयस्य, तत्षट्कस्येत्यर्थः । 'सुपां सु—' इति सुपो ङस आदादेशः । निर्धारणे षष्ठी । तेषां मध्ये परे चरम उन्मन्यां महाशून्यमिति । एतद्विभावनस्य परमरहस्यत्वादित्थं क्लेशेनोक्ति- रित्यन्वयितव्यम् ॥ ४२ ॥

क्रमात् प्राप्तानि सप्त विषुवन्त्याह—

ककारात्मकवायुः प्राणः । आत्मा प्राणा मनश्चेत्येतेषामैक्यं प्राणविषुवसंज्ञमिति केचित् । यथाश्रुतमन्ये ॥ ४३ ॥

* सरोजिनी *

पञ्चदशाक्षरी मन्त्र के तृतीय कूट—'स क ल ह्रीं' के रेफ, बिन्दु, रोधिनी, नादान्त एवं व्यापिका में पाँच शून्य अवस्थित हैं । ये उसी प्रकार स्थित हैं जैसे कि मोर के पङ्खों में चन्द्राकार आकृति ।।

'स क ल ह्रीं' के 'रेफ', 'बिन्दु', 'रोधिनी', 'नादान्त' एवं 'व्यापिका' में ५ शून्यों की अवस्थिति ।

महानाद या नादान्त—ये ब्रह्म का प्रथम क्रियात्मक विकास कहा जा सकता है। 'नाद' वह स्वरूप है जो सारे विश्व को नादान्त से भरे हुए हैं । यह नादान्त की पूर्णावस्था है । निरोधिनी नाद की वह अवस्था है जिसमें बिन्दु को विकसित करने की क्षमता रहती है । नाद की सूक्ष्मावस्थायें भी हैं—इनमें निष्कल उन्मनी अन्तिम है—

नाद की अवस्थायें

प्रथमा-वस्था	द्वितीया-वस्था	तृतीया-वस्था	चतुर्थ अवस्था	पञ्चम अवस्था	छठवीं अवस्था	सातवीं अवस्था	आठवीं अवस्था	नवीं अवस्था
'बिन्दु'	'अर्धचन्द्र'	'रोधिनी'	'नाद'	'नादान्त'	'शक्ति'	'व्यापिका'	'समना'	'उन्मना'

बिन्दु के बाद शक्तियाँ सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप धारण करती चली जाती हैं और अन्त में उन्मनी अवस्था (अनुत्पन्न निस्पंद वाक्) आ जाती है । 'उन्मनी' = कारणरूपा शक्ति की अवस्था है । इस अवस्था में—काल, कला, देवता आदि किसी का भी आभास नहीं रह जाता । यह 'स्वनिर्वाणपदं' है—निर्विकल्प निरञ्जन शिवशक्ति है ।[1] "Unmani is Nirākār and Nirucchār soundless and without ulterance defined by any adjective, being beyond mind and speech and universe"[2] यह अवाङ्मनसगोचरा, निराकार, निरुच्चार, निरूप अवस्था है ।

कुछ तांत्रिकों ने बिन्दु से भी ३ नादों की उत्पत्ति बतायी है—ये निम्न है—(१) 'सूक्ष्मवाद' (२) 'अक्षरनाद' (३) 'वर्णनाद' । (क) 'सूक्ष्मनाद' = अचिन्त्य, अभिधेय बुद्धिका कारण एवं बिन्दु का प्रथम प्रसार है । (ख) 'अक्षरनाद' = यह सूक्ष्मनाद का कार्य है और परामर्श ज्ञान समन्वित है । (ग) 'वर्णनाद' = इसकी उत्पत्ति आकाश एवं वायु से होती है । कुण्डलिनी भी नादरूपा है । नाद-बिन्दु । बिन्दु = वेदान्त का ईश्वर । 'नाद' शक्ति का एक रूप है । बिन्दु भी शक्ति का एक रूप है । नाद-बिन्दु में क्रिया शक्ति है ।

१-२. गारलैण्ड ऑफ लेटर्स (आर्थर एवेलॉन)

नाद-बिन्दु—जगत् की सृष्टि ।[१]

नाद, बिन्दु और कला—'बिन्दु' शिवात्मक है और 'बीज' शक्त्यात्मक है तथा 'नाद' दोनों (बिन्दु एवं बीज) के समवाय से उत्पन्न होने के कारण उभयात्मक हैं। नादोत्पत्ति—बिन्दु + बीज—'नाद'

'सच्चिदानन्द विभवात् सकलात् परमेश्वरात'—(१) आसीच्छक्तिः (२) ततो नादो (३) नादाद् बिन्दुसमुद्भवः ।। सच्चिदानन्द सकल परमेश्वर—शक्ति—नाद—बिन्दु ।।

'शक्ति' क्या है? परमेश्वर का 'स्पन्द' ही 'शक्ति' है । इसी 'बिन्दु' से (१) बिन्दु (२) बीज (३) नाद उत्पन्न होते हैं । 'बिन्दु' का फटना—बिन्दु, बीज एवं नाद ।। 'बिन्दु'—रौद्री । 'नाद'—ज्येष्ठा । 'बीज'—वामा ।। 'बिन्दु नाद कला ब्रह्मन् विष्णु महेश देवताः ।।'' (योगशिखोपनिषद ६-७०) । विष्णु = 'बिन्दु' । ब्रह्मा = 'नाद' । रुद्र (ईश) = 'कला' ।।

'श्रीचक्र' = भगवती का स्थूल शरीर । पञ्चदशाक्षरी मन्त्र' = भगवती का सूक्ष्मशरीर 'बीज' = शक्त्यात्मिका कला ।।

शिव (पर बिन्दु)—शक्ति—सदाख्यशिव (नाद)—ईश्वर (बिन्दु)—शुद्धविद्या (बिन्दु) ।।

शुद्धविद्या	नाद-ज्येष्ठा ।।	ब्रह्मा-इच्छा ।।	ब्राह्मी-क्रिया ।।	सूर्य-प्राण ।।
	बीज-वामा ।।	विष्णु-क्रिया ।।	वैष्णवी-ज्ञान ।।	अग्नि-चिति ।।
	बिन्दु-रौद्री ।।	रुद्र-ज्ञान ।।	गौरी-इच्छा ।।	चन्द्र-मन ।।

बिन्दु—रौद्री । नाद—ज्येष्ठा । बीज—वामा । बिन्दु—ज्ञान । बीज—क्रिया । नाद—इच्छा ।। नाद = सूर्य । बीज = अग्नि ।। बिन्दु = चन्द्रमा ।। इच्छा, क्रिया एवं ज्ञान = गौरी, ब्राह्मी वैष्णवी ।। बीज = शक्त्यात्मिका कला ।।

हल्लेखा के उच्चारण होने पर अनुनासिक ध्वनि उक्त ९ स्तरों से होती हुई उन्मनी में समाप्त हो जाती है । नौ स्तर निम्न हैं—

शिव (पर बिन्दु)
↓
शक्ति
↓
सदाख्यशिव (नाद)
↓

---

१. गारलैण्ड ऑफ लेटर्स (राघव भट्ट : 'शारदातिलक')—नाद-बिन्दु शक्ति की वे अवस्थाएँ हैं जो सृष्टि को जन्म देने के लिए उत्सुक रहती हैं । 'बिन्दु' एक घनावस्था है । बिन्दु में शून्यता + गुण दोनों की प्रतिष्ठा है । (कालीचरण : ष.च.नि. की टीका)
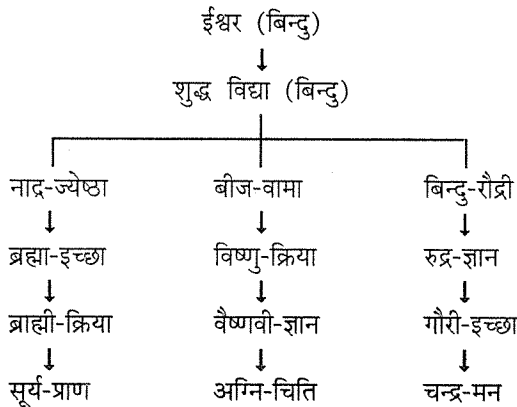
(१) ब्रह्म को बिन्दु, शक्ति को कला एवं जीव को नाद समझकर ५ प्रकार का ऐक्य भी स्थापित किया जाता है।

(क) जीव—ब्रह्मैक्य भाव । (ख) ब्रह्म—सृष्टि-प्रभव ।
(ग) तृतीय—देहाध्यास । (घ) चतुर्थ—प्रलय ।
(ङ) पञ्चम—जीवोत्पत्ति ।

बिन्दु से नाद का सम्बंध न बताने का अभिप्राय यह है कि ब्रह्म कभी जीव नहीं बनता, आत्मा सदा ब्रह्मस्वरूप है, जीवभाव एक मिथ्या प्रतीति मात्र है ।

(१) हल्लेखा के उच्चारण होने पर जो अनुनासिक ध्वनि उक्त ९ स्तरों से होती हुई उन्मनी में समाप्त हो जाती है । उसके उच्चारण काल की मात्रा उत्तरोत्तर आधी होती जाती है ।

(२) सभी के योग का काल १/२ मात्रा होता है जो बिन्दु की आधी मात्रा सहित पूरी एक मात्रा बनती है अर्थात्—

$$\frac{१}{२} + \frac{१}{४} + \frac{१}{४} + \frac{१}{१६} + \frac{१}{३२} + \frac{१}{६४} + \frac{१}{१२८} + \frac{१}{२५६} + \frac{१}{२५६} = १ \text{ मात्रा}$$

(३) पञ्चदशी के ३ अनुस्वार ३ बिन्दु हैं ।

(४) हल्लेखा, नाद एवं १५ अक्षर १५ कलायें हैं ।

(५) नाद, बिन्दु, कला = 'त्रिबिन्दु'

(६) श्रीचक्र त्रिधा विभक्त—नाद । बिन्दु । कला ।

(७) बिन्दु को शिवशक्ति भेद से दो प्रकार का माना जाय तो शक्त्यात्म बिन्दु ही 'बीजि' है । दोनों से शब्दब्रह्म, नादोत्पत्ति एवं शब्द से कला (अर्थात्मक सृष्टि) की उत्पत्ति होती है ।। ४२ ।।

'प्राणविषुवाख्य:'—प्राणविषुव नामक ।। 'प्राणविषुव' क्या है?

प्राण, आत्मा एवं मन के पारस्परिक योग को 'प्राणविषुव' कहते हैं । 'योग: प्राणात्ममनसां विषुव प्राणसंज्ञितम् ।।'[१]

अमृतानन्दनाथ इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—'प्राणस्य हकारात्मनो वाटवात्मनो यष्टुर्मनसश्च संयोग: प्राणविषुवमित्युच्यते ।।[२] 'शैवतन्त्र' में कहा गया है—'शिष्यात्म प्राणमनसां संयोगं प्राणकं बिन्दु: ।।' आचार्य भास्कर इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—'वस्तुतस्तुमूलाधारे ब्रह्मेति प्रसिद्धस्य खस्य वायु कुण्डली संयोगात्तदव्युत्पत्ति: स एव खो नाभिपर्यन्तमागत्य पवनेन मनसा च युज्यते । स एव हृदयमागत: पवनेन बुद्धया च संयुज्यते । अत: स एव स्थानत्रये परा-पश्यन्ती-मध्यमेति नामत्रयं क्रमेण मजत इति सौभाग्यभास्करे कर्णितमस्माभि: । इदमेव प्राण-विषुवपद वाच्यमिति स्थानत्रये मिलित्वैका भावनेति ज्ञेयम ।।'

'उन्मन्यां नीरूपं षष्ठं चिन्त्यं महाशून्यम्'[३]—उन्मनी षष्ठ शून्य है । यह 'महाशून्य' कही जाती है ।

स्वच्छान्दागम के मतानुसार शून्यों की स्थिति इस प्रकार है—(१) 'ऊर्ध्व शून्य'—शक्तिप्रद जहाँ नादान्त तक नि:शेष पाश प्रशान्त हो गए हैं । (२) 'अध: शून्य' = हृदयक्षेत्र; जहाँ अभी तक प्रपञ्चोल्लास नहीं हुआ है । (३) 'मध्यशून्य' = कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट एवं ब्रह्मरंध्र ही शक्तिस्थान है । व्यापिनी चतुर्थ शून्य है । तीन शून्य चल एवं हेय है । 'समना' में पञ्चम शून्य एवं 'उन्मना' में षष्ठ् शून्य है । ये भी चल एवं हेय हैं । उन्मना में भी यत्किंचित चलत्व है । परमशिवाधिष्ठित होने से सभी शून्य सिद्धिप्रद है । स्वच्छन्द शास्त्र के अनुसार ६ शून्यों का त्याग करके सातवें में प्रवेश आवश्यक है । वही वास्तविक परमपद है । ६ शून्य अवस्थायें हैं—सातवाँ ही योगियों का लक्ष्य है—'अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते । अभाव: स समुद्दिष्ट: यत्र भावा: परं गता: ।।' यह सप्तम शून्य ही अखण्ड महासत्ता महाशून्य है ।

मन्त्रविषुवमाह—

प्राथमिककूटनादे त्वनाहताद् ब्रह्मरन्ध्रान्ते ।
व्यष्टिसमष्टिविभेदाद् बीजचतुष्कस्य च स्वस्य ।। ४४ ।।
ऐक्येन नादमयताविभावनं मन्त्रविषुवाख्यम् ।

('मन्त्रविषुव' का स्वरूप)

प्रथम कूट के नाद एवं व्यष्टि-समष्टि के भेद से अनाहत से आरंभ करके ब्रह्मरंध्र तक उत्पन्न होने वाला नाद एवं चारों बीज तथा आत्मा के नादमय विभावना की 'मन्त्रविषुव' संज्ञा है ।। ४४, ४४- ।।

---

१. योगिनीहृदय (१८२) २. दीपिका
३. सेतुबन्ध (श्लो० १८५)

*** प्रकाश ***

प्राथमिककूटनादे बीजचतुष्कस्यैक्यम्, स्वस्यात्मनस्त्वाधारोत्थितनादेन सहैक्यं च प्राथमिकेनानाहतादारब्धेन सह,

'आधारोत्थितनादे तु लीनं बुद्ध्वात्मरूपकम् ।
संयोगेन वियोगेन मन्त्रार्णानां महेश्वरि ॥
अनाहताद्याधारान्तं नादात्मत्वविचिन्तनम् ।
विषुवम् .... ॥'

इति कादिमतीयवचनात् । संयोगेन समष्ट्या । वियोगेन व्यष्ट्या । चतुर्विधानामिति शेषः । आधाराणामन्तो ब्रह्मरन्ध्रम् । आधारान्तान्तमिति तन्त्रेणान्तपदद्वयसत्त्वाद्-ब्रह्मरन्ध्रान्तमित्यर्थकत्वेन व्याचक्षते । आ आधारान्तादित्यर्थक आङ्प्रश्लेषे तु सर्वं सुस्थम् ॥ ४४, ४४- ॥

*** सरोजिनी ***

मन्त्र सङ्केत एवं मन्त्र के विविध अर्थ—'योगिनीहृदय' के 'मन्त्र-सङ्केत' नामक द्वितीय पटल में 'मन्त्रसङ्केत' के नाम से मत्रार्थों का निरूपण किया गया है। 'मन्त्रसङ्केत' के ६ प्रकार हैं—

(१) मन्त्रसङ्केतस्तस्या नानाकारो व्यवस्थितः ।

(२) षड्विधस्तं तु देवेशि कथयामि तवानघे ।

(३) (क) भावार्थ (ख) सम्प्रदायार्थ (ग) निगर्मार्थ (घ) कौलिकार्थ (ङ) सर्वरहस्यार्थ (च) महातत्त्वार्थ ॥ योगिनीहृदय (मन्त्रसङ्केत निरूपणम्)

मन्त्रविषुव का तात्पर्य है अभिव्यज्यमान नाद को जापक की अपनी आत्मा मानकर भावना करना ॥

'योगिनीहृदय दीपिकाकार' कहते हैं—मूलाधारस्थित वाग्भव शिखरवर्तिनं नादं हृदयपर्यन्तमुच्चार्य तत्र स्वयं लीनो भूत्वा स्वात्मनस्तन्मयतानुनुसंधानं मन्त्रविषुव-मित्यर्थः ॥'[1] मूलाधारस्थित वाग्भवशिखरवर्ती नाद को हृदयपर्यन्त उच्चारित करके वहीं स्वयं लीन होकर अपनी आत्मा की उसके साथ की गई तन्मयता का अनुसन्धान करना 'मन्त्रविषुव' है ।[2] 'शैवतन्त्र' में कहा भी गया है—

आत्मना नादमध्ये तु लयं सञ्चार्य तत्त्वतः ।
अकारोकार वर्णादिसंयोगेन वियोगतः ।
हृदयादि बिलान्तं च विषुवमन्त्र संशकम् ॥[3]

हृदय से ब्रह्मरंध्रपर्यन्त इसकी व्याप्ति है—"हृदयाद ब्रह्मरंध्रान्तं विषुवमन्त्र संज्ञकम् ॥" भास्कराचार्य कहते हैं—'नादं वाग्भवान्त्यस्थानमारभ्य हृदयस्थं कामराज-

---

१-२. अमृतानन्द योगी—'दीपिका' ३. शैवतन्त्र

कूटान्त्याक्षरपर्यन्त मुद्‌गतं विभाव्य तस्मिन् स्वजीवात्मनो लयं विचिन्त्य ततः कवलित जीवात्मानं नादमूर्ध्वमुदगमय्य ब्रह्मरंध्रान्तं प्राप्तं विचिन्तयेत् । तदिदं मन्त्र विषुव-मुच्यते ॥'[१]

नाडीविषुवमाह—

आधारोत्थितनादस्योच्चाराद् ब्रह्मरन्ध्रान्तम् ॥ ४५ ॥
षट्चक्राणां ग्रन्थीन् द्वादश भिन्दन् सुषुम्णयैव पथा ।
नाडीनादार्णानां संयोगो नाडिकाविषुवम् ॥ ४६ ॥

(नाडिकाविषुव' का स्वस्वरूप)

मूलाधार चक्र से उठने वाले नाद के उच्चारण से ब्रह्मरंध्रपर्यन्त षट्चक्रों की द्वादश ग्रन्थियों को सुषुम्णा के पथ से ही ग्रन्थि उद्‌भेदन करता हुआ नाड़ी नाद एवं वर्णों के संयोग की 'नाड़िका विषुव' कहते हैं ॥ -४५, ४६ ॥

*** प्रकाश ***

मूलाधारादिचक्रषट्कस्याप्यध ऊर्ध्वं चैकैको ग्रन्थिरिति द्वादश ग्रन्थयः । तद्-भेदनमार्गेणैव सुषुम्णानाडी मूलाधाराद् ब्रह्मरन्ध्रं व्याप्नोति । तेनैव मार्गेण नादस्य वर्णपङ्क्तेश्च नाडीसंयुक्तत्वेन भावनयोच्चारणं नाडीविषुवमित्यर्थः ॥ -४५, ४६ ॥

*** सरोजिनी ***

'नाड़ीविषुव' किसे कहते है? 'मूलाधारोत्पन्न' नाद का सुषुम्णा नाड़ी में प्रवेश करके द्वादशग्रन्थियों का भेदन करते हुए मन्त्र के वर्णों के साथ संयोग होना ही 'नाड़ी-विषुव' कहलाता है । मूलाधार से ब्रह्मरंध्र तक बीज शिखरवर्ती नाद के उच्चारित होने से नाड़ीविषुव स्पर्श उद्‌भूत होता है । 'योगिनीहृदय' में इसका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—'आधारोत्थित नादे तु लीनं बुद्ध्यात्मरूपकम् । संयोगेन वियोगेन मन्त्रार्णानां महेश्वरि ॥ १८३ ॥ अनहताद्या-धारान्त नादात्मत्वविचिनम् । नादसंस्पर्शना-तस्यनाड़ी विषुवमुच्यते । द्वादशग्रन्थिभेदने वर्णानामन्तरे प्रिये ॥[२]

शैवतन्त्र में कहा गया है—'मूल मन्त्रत्रिशूलेन भित्वा ग्रन्थीननुक्रमात् । नादनाड़ीसमायोगान्नाड़ीविषुव भावनम् ॥ (१८३-८५) अमृतानन्दयोगी इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—'वर्णाद बीजत्रयशिखरवर्तिनो नादस्य कामकलाक्षराद् द्वादशग्रन्थि भेदेन मूलादिषट्चक्र द्वादश ग्रन्थीन् भित्वा तेन नाड्यन्तरे सुषुम्ना मध्यमार्गे नाद संस्पर्शात् त्रिबीजशिखरवर्तिनो नादस्य मूलादि ब्रह्मरंध्रान्तमुच्चारतः 'संस्पर्शोम्नाडी-विषुवमुच्यते ॥'

श्रीभास्कराचार्य कहते हैं कि इस प्रकार के नाद का द्वादशग्रन्थिभेदन पूर्वक जो

---

१. सेतुबन्ध (श्लो० १८५) २. योगिनीहृदयदीपिका (श्लो० १८४)

यह सुषुम्णा नाड़ी में प्रवेश हैं वही नाड़ी विषुव है—'अथेदृशस्य नादस्य द्वादशग्रन्थिभेदनपूर्वकं योऽयं सुषुम्णानाड़ी-प्रवेशः स एव नाड़ी विषुवमुच्यते ।।[१]

'आधारोत्थित' = आधार चक्र से ऊपर उठने वाले ।। 'आधार' क्या है— आधार पद्मं सुषुणास्य लग्नं, ध्वजाधोगुदोर्द्ध्वं चतुःशोणपत्रम् । अधोवक्त्रमुद्यत्सुवर्णा-भवर्णैर्वकारादि सान्तैर्युतं वेदवर्णैः ।। अमुष्मिन धरायाश्चतुष्कोण चक्रं समुदभासित शूलाष्टकैरावृतं वत् । लसत्पीतवर्णां तडित्कोमलागे तदङ्के समास्ते धरायाः स्वबीजम् ।।[२]

'नाद'—समस्त प्राणियों के मूल चक्र में विद्यमान कुण्डलिनी शब्द ब्रह्म के रूप में अवतरित होकर वर्णों के रूप में प्रकट होती है और अव्यक्त ओङ्कार ध्वनि करती है वही नाद है—

तत्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां मूलचक्रगम् ।
वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः ।। २७ ।।[३]

'नाद'—नाडयाधास्तु नादो वै भित्वा सर्वमिदं जगत् ।
अधः शक्त्या विनिर्गत्य ऊर्ध्वशक्त्यवसानकः ।।[४]

'नाडीनादवर्णानां संयोगो'—नाड़ी में उद्भूत अनाहत नाद एवं पञ्चदशी मन्त्र के वर्णों का संम्मिलन ।

उपरोक्त नादतत्त्व को आगे पृष्ठ १९४ पर चित्रित किया गया है ।

'षट्चक्राणां'—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत विशुद्धाख्य एवं आज्ञाचक्र नामक ६ चक्रों की । पिण्डस्थ ६ चक्र एवं उनकी स्थिति पृ० १९५ पर चित्रित है ।

'षट्चक्राणां ग्रन्थीन्'—६ चक्रों के ग्रन्थियों को ।

(१) **'अनाहत चक्र'**—'ब्रह्मग्रन्थि'—ब्रह्मग्रन्थि का भेदन—हृदयाकाशरूप शून्य में भूषणों के कणन की अनाहत ध्वनि का प्रवण—दिव्यदेह, दिव्यगंध, आरोग्य ।।

(२) **'विशुद्धाख्य चक्र'**—'विष्णु गंन्थिः'—परमानन्द (ब्रह्मानन्द)—कण्ठाकाश में भेरी का नादोत्थान ।

(३) **'आज्ञाचक्र'**—'रुद्रग्रन्थि'—वेणु के शब्द के तुल्य ध्वनि ('हठयोग प्रदीपिका'—स्वात्माराम मुनीन्द्र)

प्रथम—प्राण का ब्रह्मरंध्र में प्रवेश—समुद्र, मेघ, भेरी, झर्झरी

मध्य में—प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश—मर्दल, शङ्ख, घण्टा, काहल

अन्त में—प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश—किंकिणी, वंशी, वीणा, भ्रमट के समान नादोत्थान ।

---

१. सेतुबन्ध (पृ० ३२२, श्लो० १८५) २. श्रीतत्त्वचिन्तामणि (६।७)
३. चक्रकौमुदी ४. स्वच्छन्दतन्त्र

नाद तत्व
सामरस्य
शिव
(प्रकाश)
प्रकाश + विमर्श
प्रकाशांश
अम्बिका
वामा
ज्येष्ठा
रौद्री
विमर्शांश
शान्ता
इच्छा
ज्ञान
क्रिया
प्रकाशांश और
विमर्शांश का सामरस्य
वाणी
प्रकाशांश
विमर्शांश
अम्बिका
शान्ता
परावाक्
प्रकाशांश
विमर्शांश
वामा
इच्छाशक्ति
पश्यतीवाक्
प्रकाशांश
विमर्शांश
ज्येष्ठा
ज्ञानशक्ति
मषयमावाक्
प्रकाशांश
विमर्शांश
रौद्री
क्रियाशक्ति
वैखरीवाक्
परब्रह्म
शब्दब्रह्म
ॐ
जगत
निःशब्द परब्रह्म
वैखरी
मषयमा
पश्यती
परा
शब्दब्रह्म
निःशब्द→परा→
पश्यन्ती→मध्यमा
→वैखरी
शिव
प्रकाशांश
विमर्शांश
(१) अम्बिका और (१) शान्ता का सामरस्य → 'परावाक्'
(२) वामा और (२) इच्छाशक्ति का सामरस्य → 'पश्यन्तीवाक्'
(३) ज्येष्ठा और (३) ज्ञानशक्ति का सामरस्य → 'मध्यमावाक्'
(४) रौद्री और (४) क्रियाशक्ति का सामरस्य → 'बैखरीवाक्'

षट्चक्रमूर्त्तिः
(THE NATURE OF THE SIX PLEXUS)
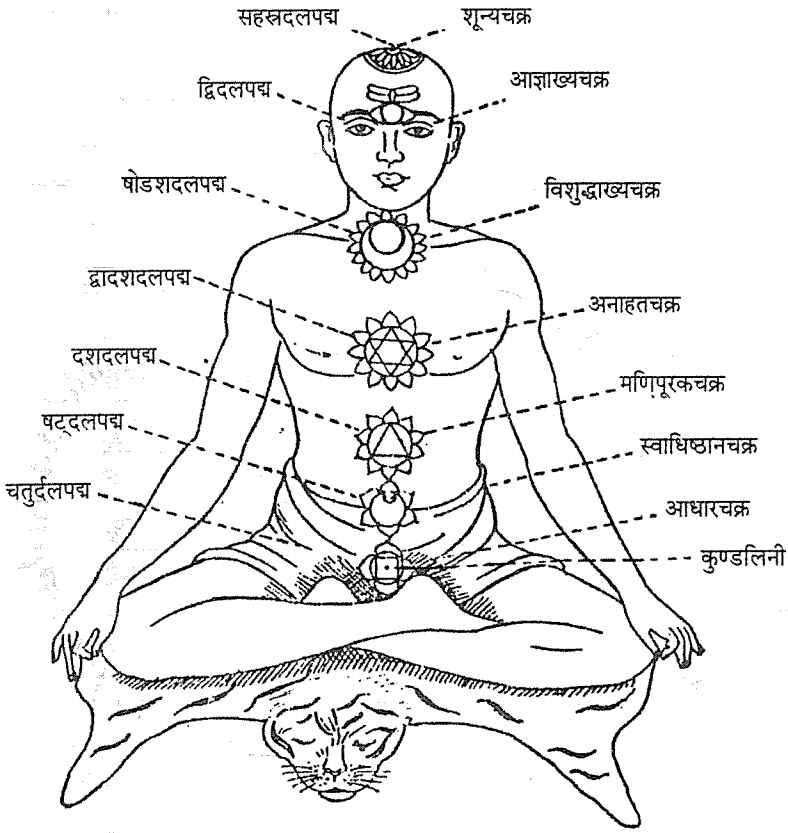
१२ **ग्रन्थियाँ : 'ग्रन्थीन् द्वादश'**—माया, पाशव, ब्रह्म, विष्णु रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, इन्धिका, दीपिका, **बैन्दव,** नाद, शक्ति—(ये पाश भी हैं।)—(नेत्रतन्त्र)

"मूलाधारादिचक्रषट्कस्याप्यध ऊर्ध्व चैकैको ग्रन्थिरिति द्वादश ग्रन्थयः । तद्भेदनमार्गेणैव सुषुम्णानाड़ी मूलाधाराद् ब्रह्मरन्ध्र व्यापनोति । तेनैव मार्गेण नादस्यवर्ण पंक्तेश्च नाडीसंयुक्तत्वेन भावनयोच्चारणं नाड़ी विषुवमित्यर्थः ।।" (भास्कराचार्य—'प्रकाश') ।।

'ब्रह्मरंध्र'—सुषुम्ण के मध्य-वज्रा, वज्रा के मध्य चित्रिणी, चित्रिणी के मध्य ब्रह्मनाड़ी, ब्रह्मनाड़ी का मुख द्वार 'ब्रह्मद्वार' । सहस्रार में ब्रह्मरंध्र है—महावायुं ततो ध्यायेत ब्रह्मरंध्रन्ततः परम् ।।

* पिण्डस्थ चक्र श्री चक्र एवं अधिष्ठात्री देवी *

चक्र	स्थान	दल	श्रीच्रक	अधिष्ठात्रीशक्ति
अकुल (अरुण सहस्रदल कमल)	सुषम्नामूल	१००० दल	त्रैलोक्यमोहन चक्र	त्रिपुरा
मूलाधार चक्र	वह्निआधार	चतुर्दल ४ दल	सर्वाशा परिपूरक चक्र	त्रिपुरेशी
स्वाधिष्ठान चक्र	शक्ति	छ दल	सर्वसंक्षोभण चक्र	त्रिपुरसुन्दरी
मणिपूरक चक्र	नाभि	१० दल	सर्वसौभाग्य दायक	त्रिपुर वासिनी
अनाहत चक्र	हृदय	१२ दल	सर्वार्थसाधकचक्र	त्रिपुराश्री
विशुद्ध चक्र	—	१६ दल	सर्वरसाकरचक्र	त्रिपुरमालिनी
—	लम्बिकाग्र	८ दल	सर्वरोगहरचक्र	त्रिपुरासिद्धि
आज्ञा चक्र	भ्रूमध्य	२ दल	सर्वसिद्धिप्रदचक्र	त्रिपुराम्बिका
(इन्दु में ललाट के बिन्दु में स्थित चक्र		—	सर्वानन्दमय चक्र	महात्रिपुरसुन्दरी

"अकुलादिषु पूर्वोक्त स्थानेषु परिचिन्तयेत् । चक्रेश्वरी समायुक्तं नवचक्रं पुरोदितम् ॥"[१]

'सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद' के तृतीयखण्ड में (१) आधारचक्र (२) स्वाधिष्ठानचक्र (३) नाभिचक्र (४) हृदयचक्र (५) कण्ठचक्र (६) तालुचक्र (७) भ्रूचक्र (८) ब्रह्मरंध्रचक्र (९) आकाशचक्र—९ चक्र बताए गए हैं ।

आधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूर-अनाहत-विशुद्धि-आज्ञाचक्र से 'श्रीचक्र' युक्त है—'आधार स्वाधिष्ठान मणिपूरानाहतविशुद्धयाज्ञाचक्रात्मकं श्रीचक्रं त्रिखण्डं सोमसूर्य नलात्मकम् ॥' 'श्रीचक्र' त्रिखण्डात्मक है—(क) 'सोमखण्ड' (ख) 'सूर्यखण्ड' (ग) 'अनलखण्ड'

(१) प्रथमखण्ड — मूलाधार-स्वाधिष्ठान : २ चक्र ।
(२) द्वितीयखण्ड — मणिपुर-अनाहत : २ चक्र ।
(३) तृतीयखण्ड — विशुद्धि-आज्ञा : २ चक्र ।

१. योगीअमृतानन्द—योगिनीहृदयदीपिका

प्रथमखण्ड के ऊपर — अग्निस्थान : 'रुद्रग्रन्थि'
द्वितीयखण्ड के ऊपर — सूर्यस्थान : 'विष्णुग्रन्थि'
तृतीयखण्ड के ऊपर — चन्द्रस्थान : 'ब्रह्मग्रन्थि'

प्रथम खण्ड के ऊपर—वह्नि अपनी ज्वालाओं से प्रथम खण्ड को ढके हुए हैं ।

द्वितीय खण्ड के ऊपर—स्थित सूर्य—अपनी किरणों से द्वितीय खण्ड को ढके हुए है ।[1]

तृतीय खण्ड के ऊपर—स्थित चन्द्रमा अपनी कलाओं से तृतीय खण्ड को ढके हुए है ।
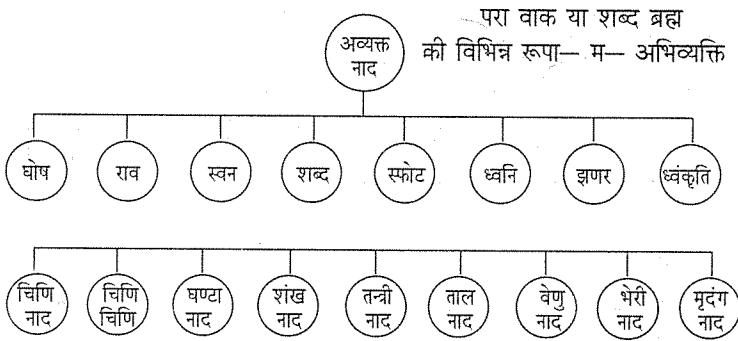
स्वात्माराम मुनीन्द्र के मतानुसार नादों के अनेक स्तर हैं और उनमें स्तरानुकूल सूक्ष्मता की कोटि बढ़ती जाती है । इसीलिए स्वात्माराम कहते हैं—'तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ।।' (हठयोग प्रदीपिका) ।।

प्राथमिक अवस्था में श्रूयमाण नाद—जलधि-जीमूत-भेरी-झर्झर । मध्यमावस्था में श्रूयमाण नाद—मर्दल, शङ्ख, घण्टा काहल । अन्तिमावस्था में श्रूयमाण नाद—किंकिणी, वंश, वीणा, भ्रमरनिःस्वनः

"आदौ जलधि भीमूत भेरी झर्झर संभवाः । मध्ये मर्दल शङ्खोत्था घण्टाकाहलास्तथा । अन्ते तु किंकिणीवंशवीणा भ्रमरनिःस्वनाः । इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः ।।"

योग की आरंभावस्था—ब्रह्मग्रन्थि का भेदन—हृदयाकाशरूप शून्य में 'क्वणक' (आभूषणों की ध्वनि) की अनाहत ध्वनि ।।

योग की घटावस्था—विष्णु ग्रन्थि का भेदन—अतिशून्य रूप कण्ठाकाश में विमर्द एवं भेरी की ध्वनि ।।

---

१. स्वच्छन्दतन्त्र

योग की निष्पत्ति अवस्था—वेणु के समान ध्वनि ।।[१]

"झिञ्झी नाद-वंशीनाद-मेघ, झर्झर, भ्रमरी, घण्टा, कांस्य नाद—तुरी, भेरी, मृदङ्ग, आनक, दुंदुभी नाद[२]

'प्रथमं झिञ्झीनादं च वंशीनादं ततः परम् । मेघझर्झरभ्रमरीघंटाकांस्यं ततः परम् । तुरीभेरीमृदङ्गादिनिनादानकदुंदुभिः ।।" एवं नानाविधं नादं जायते नित्यमभ्यसात् ।।"

'आधारोत्थित नादस्य'—मूलाधार चक्र से निःसृत नाद का ।। यहाँ 'नाद' का क्या अर्थ है? भास्कराचार्य का कथन है कि 'नाद' ९ हैं और उनका स्वरूप निम्नांकित है—

बिन्दु	अर्द्धचन्द्र	रोधिनी	नाद	नादान्त	शक्ति	व्यापिका	समना	उन्मना

"बिन्द्वादीनां नवानां तु समष्टिर्नाद उच्यते"[१]

नादबिन्दु—तन्त्रशास्त्र में 'नाद-बिन्दु' शब्द अहं + इदं के अर्थों में भी गृहीत है ।[३] कुछ तन्त्रों में 'नाद'—सृष्टि-विधायिनी विराट शक्ति कहा गया है ।[४] कुछ तांत्रिकों के अनुसार—सच्चिदानन्द विभव सकल परमेश्वर से 'शक्ति' एवं उससे नाद—बिन्दु का आविर्भाव हुआ । कुछ तांत्रिकों (भेदवादी तांत्रिकों) के मतानुसार—दो तत्त्व हैं (क) शिव (ख) शक्ति । 'शिव' विमर्श शक्ति में प्रवेश करता है और बाद में बिन्दु का रूप धारण कर लेता है । बिन्दु का प्रथम विकास ही 'नाद' है ।[५] कुछ भेदवादी तांत्रिक शिवशक्ति को समवाय रूप से परिव्याप्त एक तत्त्व मानते हैं एवं बिन्दु को दूसरा तत्त्व मानते हैं ।[६] बौद्ध तन्त्रों में = 'बिन्दु' = अपरिवर्तनीय ज्ञान का प्रतीक है ।[७] उनसे 'बिन्दु' = हठयौगिक ज्योति के अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है ।[८] शैवतन्त्रों में 'नाद-बिन्दु' = शिव-शक्ति के प्रतीक भी माने गए हैं ।[९] बौद्धतन्त्रों में नाद-बिन्दु = प्रज्ञा + उपाय के प्रतीक माने गए हैं ।

---

१. हठयोगप्रदीपिका (प्राण के ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचने पर वेणु की ध्वनि श्रुतिगोचर होती है ।)
२. घेरण्ड संहिता
३. सर्पेण्ट पावर—जान वुॅडरफ
४. तन्त्राज़—देयर फिलासफी एण्ड आकल्ट सीक्रेट्स
५. कलेक्टेड वर्क्स आफ आर०जी०भण्डारकर
६. गोपीनाथ कविराज—'तान्त्रिक दृष्टि' : 'साधनांक'
७-८. इन्ट्रोडक्शन टू तान्त्रिक बुद्धिज्म़
९. प्रिंसिपल्स आफ तन्त्र—आर्थर एॅवेलान

तन्त्रों एवं हठयौगिक ग्रन्थों में—'बिन्दु' शब्द के अर्थ में—रसना, सूर्य, रवि, प्राण, शमन, काली, यमुना, रज, पुरुष, नाद, व्यञ्जन शब्दों का, 'नाद' शब्द के अर्थ में—ललना, चन्द्रा, शशि, अपानु, धमन, अली, गङ्गा, शुक्रा, तमस्, अभाव, प्रकृति, ग्राहक एवं स्वर शब्दों का प्रयोग मिलता है ।[१]

'ध्यानबिन्दूपनिषद' आदि में—'हठयोग प्रदीपिका' में नाद बिन्दु का प्रयोग—'नाद' = परब्रह्म + अनाहत नाद ।। 'बिन्दु' = जीवात्मा + वीर्य ।। (४।७२;४।१०५)

तन्त्र मन्त्र के अनुसार शिव-शक्ति का प्रथम विकास 'नाद' के रूप में मिलता है ।[२] शिव-शक्ति का संयोग एवं उन दोनों का पारस्परिक संबंध नाद है ।[३] 'नाद' क्रिया रूप है । तात्विक क्षेत्र का सदाख्य तत्त्व ही मन्त्र क्षेत्र में—'नाद' है ।[४] अतंरात्मा 'नाद' के रूप में प्रस्फुटित होती है वही जीवों में प्राणवायु से पैंरित होकर अक्षरों का रूप धारण कर लेती है ।[५]

प्रशान्तविषुवमाह—

रेफे कामकलार्णे हार्दकलायां च बिन्द्वादौ ।
नादान्तावधि नादः सूक्ष्मतरो जायते तत्र ॥ ४७ ॥
शक्तेर्मध्ये तल्लयचिन्तनमुदितं प्रशान्तविषुवाख्यम् ।

(प्रशान्तविषुव' का स्वरूप)

रेफ में कामकला (ई) एवं बिन्द्वारब्ध तथा ह्रीं के नादान्त में समाप्त (अवयवों में) एक सूक्ष्मतर 'नाद' उत्पन्न होता है । वहाँ इस सूक्ष्मनाद की शक्ति में लय होने के चिन्तन का नाम 'प्रशान्तविषुव' है ।। ४७, ४७- ।।

* प्रकाश *

तृतीयकूटस्थरेफादिषु सप्तसु स्थानेष्वाधारादारब्धस्य नादस्य तत्र सूक्ष्मतरता-दशा, अभिघातादुत्तरोत्तरक्षणेषु कांस्यतालध्वनिवत् । तस्य शक्तौ लयो भाव्य इत्यर्थः ॥ ४७, ४७- ॥

* सरोजिनी *

'प्रशान्त विषुव'—नादान्त पर्यन्त मन्त्रावयवों की शक्ति से लय भावना 'प्रशान्तविषुव' है ।[६]

---

१. इन्ट्रोडक्शन टू तान्त्रिक बुद्धिज़्म
२. तन्त्राज़—देयर फिलासफी एण्ड आकल्ट सीक्रेट्स
३. भास्कराचार्य—'वरिवस्यारहस्यम्'
४. गारलैण्ड़ आफ लेटर्स—आर्थर एवेलॉन
५. प्रयोगसार
६. योगिनीहृदय

तृतीयकूट में स्थित रेफ आदि वर्णों में, सात स्थानों में, मूलाधार चक्र से प्रारंभ होने वाले नाद की सूक्ष्मतर दशा है। रेफ एवं कामकला (ई) एवं बिन्दु से आरंभ करके ह्रीं के नादान्त तक एक सूक्ष्मतर नाद उत्पन्न होता है। इस सूक्ष्मनाद का शक्ति के साथ विलय 'प्रशान्तविषुव' कहा जाता है।

रेफ (र), कामकला (ई) एवं बिन्द्वारब्ध एवं हार्धकला के नादान्त में पर्यवसित बिन्दु के उच्चारण से एक अत्यन्त सूक्ष्म नाद उत्पन्न होता है।

'योगिनीहृदय' में 'प्रशान्तविषुव' का स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया गया है—'नादयोग: प्रशान्तं तु प्रशान्तेन्द्रियगो चरम्। वह्निं मायां कलां चैव चेतनामर्धचन्द्रकम्। रोधिनी नादनादान्तान् शक्तौ लीनान् विभावयेत्॥'[१]

'शैवतन्त्र' में भी इसकी परिभाषा इसी प्रकार दी गई है—

> अकारोकारवर्णौ च मकारो बिन्दुरेव च।
> नादनादान्त संज्ञे तु त्यक्त्वा ब्रह्मादिभि: क्रमात्।
> सप्तमे शक्तिमध्ये तु शिष्यात्मानं विचिन्तयेत्॥
> प्रशान्तं तद्विजानीयात् प्रशान्तेन्द्रियगोचरम्॥[२]

'शक्ति' के मध्य सञ्चरित नाद 'समना' तक सञ्चार करता है—'शक्तिमध्यगतो नाद: समनान्तं प्रसर्पति।'

भास्कराचार्य प्रशान्तविषुव की परिभाषा देते हुए कहते हैं—'नादयोगो नाड़ी सम्बद्धो नादो यस्मात् कारणाच्छक्तौ प्रशान्तो लीनो भवति तत्तस्मात् करणादिदं—'प्रशान्तविषुवमित्युचते॥[३] अमृतानन्दनाथ कहते हैं—अर्धचन्द्र-निरोधिनी-नाद-नादान्तांश्चा पूर्वोक्तलक्षणायांशक्तौ लीनान् विभावयेत्। यतोऽयं नादो यष्टुस्तदीतशक्ति-लयलक्षण:, अत: प्रशान्तेन्द्रियगोचरं सकलेन्द्रियातीत विषये, तत्प्रशान्ते विषुव-मित्यनुषङ्ग:॥'[४] 'प्रशान्तविषुवं प्रशान्तेद्रियाणां नियमितेन्द्रियाणां गोचरो विषय:'॥

अन्य सम्प्रदायों से तुलनीय नाद-प्रपञ्चीकरण आगे पृ० २०१ पर चित्रित है।

शक्तिविषुवमाह—

शक्त्यन्तर्गतनादं समनायां भावयेल्लीनम्॥ ४८॥
समनागतमुन्मन्यामेत द्वे शक्तिकालविषुवाख्ये।

('शक्तिविषुव' एवं 'कालविषुव' का स्वस्वरूप)

शक्ति के अन्तर्गत स्थित नाद की समना में लय होने की भावना करनी चाहिए। समना एवं उन्मनी में लयीभूत नाद की इन दोनों अवस्थाओं की क्रमश: 'शक्तिविषुव' एवं 'कालविषुव' संज्ञा है॥ ४८, ४८-॥

---

१. शैवतन्त्र २. सेतुबन्ध (श्लो० १८५)
३. अमृतानन्दनाथ—'योगिनीहृदयदीपिका' ४. सेतुबन्ध

विस्तार और व्यापकता की दृष्टि से शब्द-स्तर (नाद-स्तर)
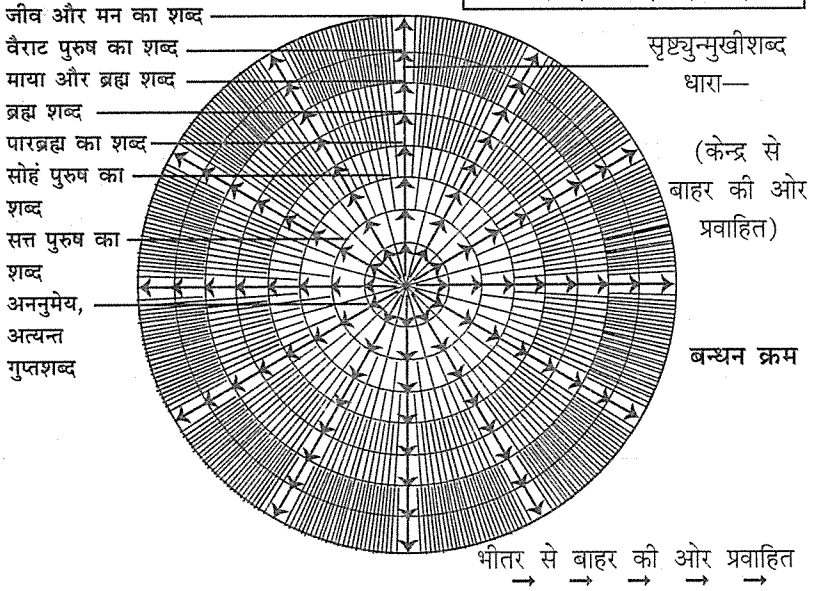
सूक्ष्मता और अन्तर्मुखता की दृष्टि से शब्द-स्तर (नाद-स्तर)
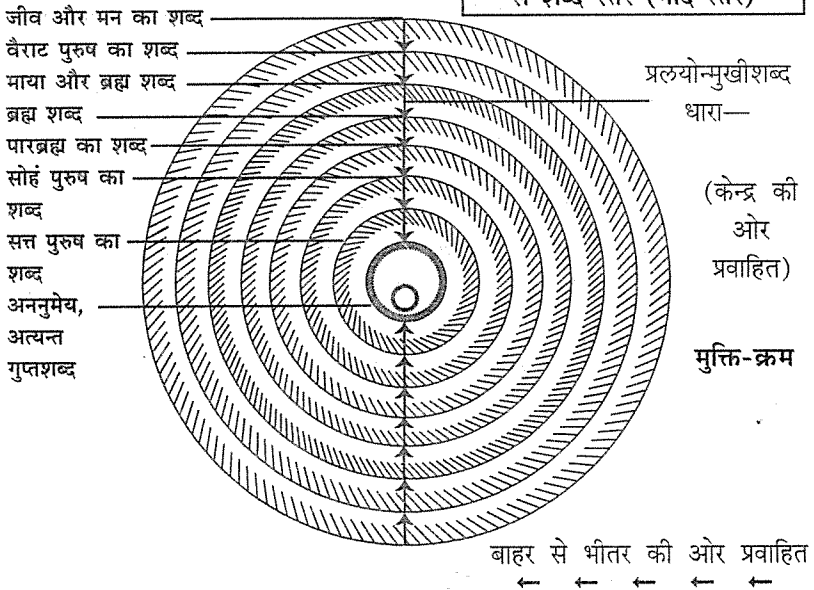
*** प्रकाश ***

शक्तिस्थानादूर्ध्वं पुनरुज्जीवितस्य नादस्य सूक्ष्मतमस्य व्यापिकामुल्लङ्घ्य समनायां लयः शक्तिविषुवमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

*** सरोजिनी ***

शक्तिविषुव काल विषुव—प्राण, आत्मा एवं मन के परस्पर योग को 'प्राणविषुव' एवं नाद को अपनी निजी आत्मा समझकर भावना करना 'मन्त्रविषुव' कहलाता है । शक्तिमध्यागत नाद के समना पर्यन्त चिन्तन को 'शक्तिविषुव' कहते हैं । शक्ति में नादान्त पर्यन्त मन्त्रावयवों की लय भावना 'प्रशान्तविषुव' है । कालातीत उन्मनापर्यन्त नाद के चिन्तन को 'कालविषुव' कहते हैं ।

'शैवतन्त्र' में 'शक्तिविषुव' एवं 'कालविषुव' की व्याख्या करते हुए कहा गया है—'शक्तिमध्यगतो नादः समनान्तं प्रसर्पति । तच्छक्तिविषुवं प्रोक्तमुन्मन्यां कालसंज्ञितम् ॥'[१]

आचार्य भास्कर 'शक्तिविषुव' एवं 'कालविषुव' को इस प्रकार परिभाषित करते हैं—'अथ लीयमानस्य दीपादेः सूक्ष्मीभूय पुनः स्थूलीभावदर्शनान्तदनुसारेण शक्तौ लीनस्य नादस्य पुनरुज्जीवनेन व्यापिकामुत्क्रम्य समनायां लय चिन्तनं शक्तिविषुवम् । ततः पुनरुज्जीव्योन्मन्यांलयः 'कालविषुवः' ।[२]

आचार्य अमृतानन्दनाथ 'शक्तिविषुव' एवं 'कालविषुव' को परिभाषित करते हुए कहते हैं—तदूर्ध्वं शक्तेरुर्ध्वं समनान्तं नादस्य विचिन्तनं 'शक्तिविषुवं । तदूर्ध्वं समनाया अप्यूर्ध्वम् । 'नात्र काल कलाभानम्' इति स्वच्छन्दसंग्रहोक्तरीत्या कालातीतोन्मनान्तं नादस्य विचिन्तनं कालविषुवं ॥[३]

'योगिनीहृदय' में 'शक्तिविषुव'—'कालविषुव' की इस प्रकार परिभाषा दी गई है—

'विषुवंशक्तिसंज्ञं तुदूर्ध्वं नाद चिन्तनम् ।
तदूर्ध्वं कालविषुवमुन्मनान्तं महेश्वरि ॥'[४]

शक्ति के मध्यगत नाद से समनापर्यन्त चिन्तन को 'शक्ति विषुव' कहते हैं । यहाँ तक काल की क्रीड़ा है क्योंकि समना तक ही काल की सीमा है उसके आगे 'उन्मना' में नहीं ।

कालविषुव के बाद 'तत्त्वविषुव' अङ्गीकृत होता है । नाद ही तत्त्व का अभिव्यञ्जक है । लेकिन जब तक नाद का वास्तविक अन्त नहीं होता तब तक तत्त्व बोध नहीं होता । नादान्त तो दूर की बात शक्ति में या समना में भी नाद का अन्त नहीं होता । शाक्त योगी उन्मना को भी नाद का अन्त स्वीकार नहीं

---

१. शैवतन्त्र
२. भास्कराचार्य—सेतुबन्ध श्लो० १८७
३. अमृतानन्दनाथ—'योगिनीहृदयदीपिका'
४. योगिनीहृदय

करते । उन्मना के ऊपर—उन्मना को भेद करने के साथ-साथ नाद लीन होता है। उस स्थिति में तत्त्वबोध या आत्मसाक्षात्कार स्वभावतः होता है । अतः 'तत्त्वविषुव' को ही चैतन्य का अभिव्यक्ति स्थान कहना सङ्गत है । ६ शून्यों, ५ अवस्थाओं एवं ६ विषुवों से परे है—विश्व की परम विश्रान्ति या परम शिव की अवस्था । उन्मना तक सभी मन्त्रावयव १०८१७ बार उच्चरित होने से नाद का अन्त एवं तत्त्वज्ञान का उदय होकर परमपद की प्राप्ति होती है ।

समनोर्ध्वं पुनरुज्जीवितसयात्यन्तं सूक्ष्मतमस्य नादस्योन्मन्यां लयः कालविषुव-मित्याह—

समनागतमुन्मन्यामेते द्वे शक्तिकालविषुवाख्ये ।
श्रीविद्याकूटावयवेषु ककारादिषून्मनान्तेषु ॥ ४९ ॥

अकुलादिकोन्मनान्तप्रदेशसंस्थेषु सकलेषु ।
अध्युष्टनिमेषोत्तरसप्तदशाधिकशतत्रयत्रुटिभिः ॥ ५० ॥

उच्चरिते नादे सति तस्यान्ते तत्त्ववेदनं भवति ।
तदिदं चैतन्याभिव्यक्तिनिदानं तु तत्त्वविषुवाख्यम् ॥ ५१ ॥

('तत्त्वविषुव' का स्वरूप)

समना एवं उन्मनी में लयीभूत नाद की इन दोनों अवस्थाओं की आख्या क्रमशः 'शक्तिविषुव' एवं 'कालविषुव' है । ककार से लेकर उन्मना तक एवं अकुल से लेकर उन्मना तक प्रदेशों में विद्यमान श्रीविद्याकूटों के भागों (अङ्गों) को व्याप्त करके समस्त ३१७ त्रुटियों एवं साढ़े तीन निमेषों को व्याप्त करता हुआ नाद तत्त्वज्ञान का कारण होता है । वह यह शुद्ध चैतन्य की अभिव्यक्ति का मूल हेतु 'तत्त्वविषुव' नाम वाला है ॥ ४९-५१ ॥

*** प्रकाश ***

उक्तेषु द्वात्रिंशत्पद्मेष्वधस्तनद्वयं चरमं चाकुलपद्मानि । शेषाणि कुलपद्मानि । तेषु यद्यपि मूलाधाराख्यात् कुलपद्मादेव विद्याक्षराणामारम्भः, तथापि चक्रराजस्य सकलाख्यभावनाया अधस्तनसहस्रदलकमलमारभ्यैव 'अकुले विषुसंज्ञे च' इत्यादिना चतुःशत्यामुक्तत्वात् कुलाकुलविद्ययोरभेदेन श्रीविद्याया अपि तत आरम्भोक्तिस्तन्त्रेषु । अध्युष्टं सार्धत्रयम् । निमेषो लोचनस्पन्दकालः । तस्य त्रिसहस्रतमो ऽंशस्त्रुटिः,

'स्वस्थे नरे समासीने यावत् स्पन्दति लोचनम् ।
तस्य त्रिंशत्तमो भागस्तत्परः परिकीर्तितः ।
तत्परस्य शतांशस्तु त्रुटिरित्यभिधीयते ॥'

इति वचनात् । एवं च (१०८१७) अयुतोत्तराष्टशतोत्तरसप्तदशत्रुटिपर्यन्तं विद्यावयवस्थानसंलग्नतापूर्वकं नादोच्चारणे कृते सति, तत्त्वस्य स्वसंविदभेदस्य बोधो भवति । तदिदमुच्चारणं तत्त्वविषुवम् ॥ -४९-५१ ॥

* सरोजिनी *

'योगिनीहृदय' में 'तत्त्वविषुव' इस प्रकार व्याख्या है—'मुनिचन्द्राष्टदशभिस्त्रुटितभिर्नादवेदनम् । चैतन्यव्यक्तिहेतुश्च विषुवं तत्त्वसंज्ञितम् ।। १८८ ।। परं स्थानं महादेवि निसर्गानन्दसुन्दरम् ।।'[1]

आचार्य अमृतानन्द 'तत्त्वविषुव' की व्याख्या करते हुए कहते हैं—अनन्तरोक्तरीत्या चैतन्यस्य स्वात्मतत्त्वस्य व्यक्तेः प्रकाशस्य हेतुस्तत्त्वविषुवम् ।[2] कोऽर्थः । उन्मनोर्ध्वेऽनन्तरोक्तसंख्यावत्त्रुटिभिर्नादलयात् स्वात्मामनुसन्धानं तत्त्वविषुवम् ।।[3]

'शैवतन्त्र' में कहा गया है—'स्वाधिकारे परे धाम्निविषुवं तत्त्वसंज्ञकम् ।।'[4]

आचार्य भास्कर की व्याख्यानुसार 'तत्त्वविषुव' का स्वरूप इस प्रकार है—'अथायमेव नादो यद्यविच्छिन्नतया सार्धनिमेषत्रयोत्तरं सप्तदशाधिक शत त्रय त्रुटि परिमित काल पर्यन्तश्चेत्तदन्ते चैतन्याभिव्यक्तिर्भवति । तदिदं तत्त्वविषुवं तत्त्वव्याप्तिकारित्वात् ।।'[5]

कालविषुव के बाद 'तत्त्वविषुव' अङ्गीकृत होता है । नाद ही तत्त्व का अभिव्यञ्जक है । लेकिन जब तक नाद का वास्तविक अन्त नहीं होता तब तक तत्त्व बोध नहीं होता । नादान्त तो दूर की बात शक्ति में या समना में भी नाद का अन्त नहीं होता । शाक्त योगी उन्मना को भी नाद का अन्त स्वीकार नहीं करते । उन्मना के ऊपर—उन्मना को भेद करने के साथ-साथ नाद लीन होता है । उस स्थिति में तत्त्वबोध या आत्मसाक्षात्कार स्वभावतः होता है । अतः 'तत्त्वविषुव' को ही चैतन्य का अभिव्यक्ति स्थान कहना सङ्गत है । ६ शून्यों, ५ अवस्थाओं एवं ७ विषुवों से परे है—विश्व की परम् विश्रान्ति या परम् शिव की अवस्था । उन्मना तक सभी मन्त्रावयव १०८१७ बार उच्चरित होने से नाद का अन्त एवं तत्त्वज्ञान का उदय होकर परम्पद की प्राप्ति होती है ।

उपसंहारपूर्वकं जपं लक्षयति—

एवमवस्थाशून्यविषुवन्ति चक्राणि पञ्च षट् सप्त ।
नव च मनोरर्थांश्च स्मरतोऽर्णोच्चारणं तु जपः ।। ५२ ।।

(जप का लक्षण)

(मन्त्रगत) वर्णों की अवस्थाओं (अर्थात् ५), शून्यों (अर्थात् ६) विषुवों (अर्थात् ७) एवं चक्रों (अर्थात् ९) का स्मरण रखते हुए, (जो कि संख्या में क्रमशः) पाँच, छः, सात एवं नौ हैं—एवं मन्त्र के अर्थ का चिन्तन करते हुए (मन्त्रगत) वर्णों का उच्चारण करना 'जप' (कहलाता) है ।। ५२ ।।

---

१. योगिनीहृदय — २-३. अमृतानन्द—'दीपिका'
४. शैवतन्त्र — ५. भास्कराचार्य—'सेतुबन्ध'

* प्रकाश *

अवस्थादिचतुष्टये संख्याचतुष्टयस्य क्रमादन्वयः । नादत्रयस्य चक्रत्रयात्मकत्व-भावनं प्रागुक्तम् । चक्रसङ्केते त्वन्यदपि त्रयमुक्तम्—चक्रभावनं त्रिविधं सकलं निष्कलं सकलनिष्कलं चेति । अकुलसहस्रारं मूलाधारादिपञ्चकं सूक्ष्मजिह्वा भ्रूमध्यं बिन्दुस्थानं चेति नवसु स्थानेषु त्रैलोक्यमोहनादिचक्रनवकभावनं सकलम्, बिन्द्वाद्युन्मन्यन्तं तद्भावनं द्वितीयम्, महाबिन्दावेव तद्भावनं तृतीयमिति । मनोर्मन्त्रस्यार्थाननुसंदधानस्य विद्याया अर्णानामक्षराणामष्टपञ्चाशतो मध्य आद्यकूटद्वितयबिन्द्वादिनवकद्वयप्रहाणेनावशिष्टानां चत्वारिंशतोऽक्षराणामुच्चारणं जपो जपपदवाच्यमित्यर्थः ॥ ५२ ॥

* सरोजिनी *

'अवस्था'—अवस्थायें पाँच हैं—(१) जाग्रत (२) स्वप्न (३) सुषुप्ति (४) तुरीय, (५) तुरीयातीत । **'शून्य'**—प्रणव रूप मन्त्र के बारह अङ्गों में प्रति द्वितीय अङ्ग शून्य कहलाता है । **'विषुवन्ति'**—सात विषुव हैं । यथा—'प्राणविषुव', 'मन्त्रविषुव', 'नाड़ीविषुव', 'प्रशान्तविषुव', 'शक्तिविषुव', 'कालविषुव' एवं 'तत्त्व-विषुव' । 'चक्र' नौ हैं—(१) त्रैलोक्यमोहन (२) सर्वाशापरिपूर्ण (३) सर्वसंक्षोभण (४) सौभाग्यदायक (५) सर्वार्थसाधक (६) सर्वरक्षाकर (७) सर्वरोगहर (८) सर्वसिद्धिप्रद (९) सर्वानन्दमय चक्र ॥

'चक्राणि' = १. 'सकल' २. 'निष्कल' ३. 'सकलनिष्कल' ॥ अकुल सहस्रार, मूलाधारादिपञ्चक, सूक्ष्मजिह्वा, भ्रूमध्य बिन्दु स्थान—नौ स्थानों में—त्रैलोक्यमोहनादि चक्र नवक भावन तो 'सकल' हैं । बिन्द्वादि उन्मन्यन्त चक्रों में उनका भावन 'निष्कल' है । महाबिन्दु में उनका भावन 'सकलनिष्कल' है । मन्त्रार्थानुसंधानपूर्वक 'वर्णों' (अक्षरों), का उच्चारण 'जप' कहलाता है किन्तु उसके साथ अवस्था, शून्य, विषुव एवं चक्रों का भी ध्यान रखना, आवश्यक होता है ।

'अर्थांश्च'—मन्त्रार्थ के प्रकार पन्द्रह हैं—(१) प्रतिपाद्यार्थ (२) भावार्थ (३) संप्रदायार्थ (४) निगर्भार्थ (५) कौलिकार्थ (६) रहस्यार्थ (७) महातत्वार्थ (८) नामार्थ (९) शब्दरूपार्थ (१०) नामैकदेशार्थ (११) शाक्तार्थ (१२) सामरस्यार्थ (१३) समस्तार्थ (१४) सगुणार्थ (१५) महावाक्यार्थ ॥

'जप'—'योगिनीहृदय' में भी जप-विधान है—'पुष्पाञ्जलिं ततः कृत्वा जपं कुर्यात् समाहितः ॥'[१] इस 'जप' का लक्षण क्या है? 'समाहितो नियतेन्द्रियों नादरूपमन्त्रोच्चारणलक्षणं जपं कुर्यात् ॥' 'मन्त्र' नादरूपात्मक है । अतः नादोत्थानपूर्वक मन्त्राक्षरों का उच्चारण ही 'जप' है ।[२]

'योगिनीहृदय' में जप-विधान में भी शून्यषट्क, अवस्थापञ्चक एवं विषुव सप्तक के योग को महत्व दिया गया है—

---

१. योगिनीहृदय २. अमृतानन्द—'दीपिका'

अथ श्रीक्रमः

ब्राह्ममुहूर्तकृत्यम्

मन्त्रमहार्णवश्रीविद्यार्णवनित्योत्सवादिषु प्रतिपादितम् ।

ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय निद्रास्थानाद्बहिर्निर्गत्य हस्तौ पादौ मुखं च प्रक्षाल्याचम्य रात्रिवस्त्रं परित्यज्य शुद्धवस्त्रं परिधाय शुद्धासन उपविश्याज्ञाचक्रे कोटीन्दुप्रकाशे स्वगुरुं ध्यायेत्––

ओं आनन्दमानन्दकरं प्रसन्नं ज्ञानस्वरूपं निजबोधरूपम् ।
योगीन्द्रमीड्यं भवरोगवैद्यं श्रीमद्गुरुं नित्यमहं भजामि ।।

'ऐं ह्रीं श्रीं ह्स्ख्फ्रें हसक्षमलवरयूं स ह क्ष म ल व र यीं ह्सौः स्हौः स्वरूपनिरूपणहेत्वमुकाम्बासहितश्रीगुरुपादुकां पूजयामि'

'स्वच्छप्रकाशविमर्शहेत्वमुकाम्बासहितश्रीपरमगुरुपादुकां पूजयामि'

'स्वात्मारामपञ्जरविलीनचेतस्कामुकाम्बासहित श्रीपरमेष्ठिगुरुपादुकां पूजयामि' इति गुरुपरमगुरुपरमेष्ठिगुरुपादुकां पूजयेत् ।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुस्साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

प्राणानायम्य तच्चरणयुगलविगलदमृतरस-विसरपरिप्लुताखिलाङ्गमात्मानं भावयेत् ।

ततश्च सर्वचैतन्यात्मिकां जाग्रदाद्यवस्थात्रयावभासिकां सर्वाधिष्ठानरूपां प्रत्यक्चैतन्याभिन्नब्रह्मात्मिकां सर्वचैत्यविवर्जितामखण्डां चितिं भावयेत् ।

आमूलाधारादा ब्रह्मबिलं विलसन्तीं तडिल्लतासदृशाकृतिं तरुणारुणपिञ्जरां तैजसीं ज्वलन्तीं कुण्डलिरूपां सर्वाधिष्ठानभूतां परां संविदं भावयेत् ।

नियमितपवनस्पन्दो मूलाधारे चतुर्दलपद्मे त्रिकोणात्मकं पीठस्थितज्योतिर्लिङ्गमावेष्ट्यावस्थितां सार्धत्रिवलयां ओं हूं बीजेनोत्थिताम् 'ऐं ह्रीं श्रीं' इति मन्त्रं च जपन् कुण्डलिनीं ध्यायेत् ।

कुण्डलिनीमन्त्रः

वाग्भवं भुवनेशी च श्री बीजन्तु तथैव च ।
त्र्यक्षरो मन्त्र आख्यातः कुण्डलिन्यास्सुसिद्धिदः ।।१।।

ऋषिश्शक्तिस्समाख्यातो गायत्रीच्छन्द ईरितम् ।
चेतना कुण्डली शक्तिर्देवतात्र समीरिता ।।२।।

वाग्भवं बीजमाम्नातं शक्तिः श्रीबीजमुच्यते ।
हृल्लेखाकीलकं प्रोक्तं कुण्डलिन्यास्तु चिन्तने ।।३।।

विनियोगस्समाख्यातः सर्वागमविशारदैः ।
बीजत्रयद्विरावृत्या षडङ्गन्यास ईरितः ।।४।।

ध्यानं वक्ष्यामि कुण्डल्यास्सावधानतया श्रृणु ।
मूलाधारे त्रिकोणे तु सूर्यकोटिसमत्विषि ।।५।।

प्रसुप्तभुजगाकारां सार्धत्रिवलयस्थिताम् ।
नीवारशूकवत्तन्वीं तडित्कोटिसमप्रभाम् ।।६।।

सूर्यकोटिप्रभां दीप्तां चन्द्रकोटिसुशीतलाम् ।
शिवशक्तिमयीं देवीं शंखावर्तक्रमात्स्थिताम् ।।७।।

सुषुम्नामध्यमार्गेण यान्तीं परशिवावधि ।
ह्रींकारबीजरूपेण चिन्तयेद्योगवर्त्मना ।।८।।

सिन्दूरारुणविग्रहां त्रिनयनां माणिक्यमौलिस्फुर-
त्तारानायकशेखरां स्मितमुखीमापीनवक्षोरुहाम् ।
पाणिभ्यां मणिपूर्णरत्नचषकं रक्तोत्पलं बिभ्रतीं
सौम्यां रत्नघटस्थसव्यचरणां ध्यायेत्परामम्बिकाम् ।।

कुण्डलिनीस्तुतिः

मूलोन्निद्रभुजङ्गराजसदृशीं यान्तीं सुषुम्नान्तरं
भित्वाधारसमूहमाशु विलसत्सौदामिनीसन्निभाम् ।
व्योमाम्भोजगतेन्दुमण्डलगलद्दिव्यामृतौघैः पतिं
सम्भाव्य स्वगृहागतां पुनरिमां सञ्चिन्तयेत्कुण्डलीम् ।।

हंसं नित्यमनन्तमद्वयगुणं स्वाधारतो निर्गता
शक्तिः कुण्डलिनी समस्तजननी हस्ते गृहीत्वा च तम् ।
याता शम्भुनिकेतनं परसुखं तेनानुभूय स्वयं
यान्ती स्वाश्रममर्ककोटिरुचिराध्येया जगन्मोहिनी ।।

अव्यक्तं परबिम्बमञ्चितरुचिं नीत्वा शिवस्यालयं
शक्तिः कुण्डलिनी गुणत्रयवपुर्विद्युल्लतासन्निभा ।
आनन्दामृतकन्दगं पुरमिदं चन्द्रार्ककोटिप्रभं
संवीक्ष्य स्वगृहं गता भगवती ध्येयानवद्या गुणैः ।।

मध्ये वर्त्म समीरणद्वयमिथस्सङ्घट्टसंक्षोभजं
शब्दस्तोममतीत्य तेजसि तडित्कोटिप्रभाभास्वराम् ।
उद्यन्तीं समुपास्महे नवजपासिन्दूरसान्द्रारुणां
सान्द्रानन्दसुधामयीं परशिवं प्राप्तां परां देवताम् ।।

गमनागमनेषु जाङ्घिकी सा
तनुताद्योगफलानि कुण्डली ।
मुदिता कुलकामधेनुरेषा
भजतां वाञ्छितकल्पवल्लरी ।।

आधारस्थितशक्तिबिन्दुनिलयां नीवारशूकोपमां
नित्यानन्दमयीं गलत्परसुधावर्षैः प्रबोधप्रदैः ।
सिक्त्वा षट्सरसीरुहाणि विधिवत्कोदण्डमध्योदितां
ध्यायेद्भास्वरबन्धुजीवरुचिरां संविन्मयीं देवताम् ।।

हृत्पङ्केरुह भानुबिम्बनिलयां विद्युल्लतामन्थरां
बालार्कारुणतेजसा भगवतीं निर्भर्त्सयन्तीं तमः ।
नादाख्यं परमर्धचन्द्रकुटिलं संविन्मयीं शाश्वतीं
यान्तीमक्षररूपिणीं विमलधीर्ध्यायेद्विभुं तेजसाम् ।।

भाले पूर्णनिशाकरप्रतिभटां नीहारहारत्विषा
सिञ्चन्तीममृतेन देवममितेनानन्दयन्तीं तनुम् ।
वर्णानां जननीं तदीयवपुषा संव्याप्य विश्वं स्थितां
ध्यायेत्सम्यगनाकुलेन मनसा संविन्मयीमम्बिकाम् ।।

मूले भाले हृदि च विलसद्वर्णरूपा सवित्री
पीनोत्तुङ्गस्तनभरनमन्मध्यदेशा महेशी ।
चक्रे चक्रे गलितसुधया सिक्तगात्री प्रकामं
दद्यादद्य श्रियमविकलां वाङ्मयी देवता नः ।।

आधारबन्धप्रमुखक्रियाभिः समुत्थिता कुण्डलिनी सुधाभिः ।
त्रिधामबीजं शिवमर्चयन्ती शिवाङ्गना वः शिवमातनोतु ।।

निजभवननिवासादुच्चलन्ती विलासैः
पथि पथि कमलानां चारु हासं विधाय ।
तरुणतपनकान्तिः कुण्डली देवता सा
शिवसदनसुधाभिः दीपयेदात्मतेजः ।।

सिन्दूरपुञ्जनिभमिन्दुकलावतंसमानन्दपूर्णनयनत्रयशोभिवक्त्रम् ।
आपीनतुङ्गकुचनम्रमनङ्गतन्त्रं शम्भोः कलत्रममितां श्रियमातनोतु ।।

वर्णैरर्णवषट्दिशा रविकलाचक्षुर्विभक्तैः क्रमा-
त्सान्तैरादिभिरावृतान् क्षहयुतैष्षट्चक्रमध्यानिमान् ।
डाकिन्यादिभिराश्रितान् परिचितान् ब्रह्मादिभिर्दैवतैः
भिन्दाना परदेवता त्रिजगतां चित्तेषु दत्तां मुदम् ।।

आधाराद्गुणवृत्तशोभिततनुं निर्गत्वरीं सत्वरं
भिन्दन्तीं कमलानि चिन्मयघनानन्दप्रबोधोद्धुराम् ।
संक्षुब्धध्रुवमण्डलामृतकरप्रस्यन्दमानामृत-
स्रोतःकन्दलितामनन्दतडिदाकारां शिवां भावये ।।

मूलाधारे त्रिकोणे तरुणतरणिभाभास्वरे विभ्रमन्तं
कामं बालार्ककालानलजरठकुरङ्गांककोटिप्रभाभम् ।
विद्युन्मालासहस्रद्युतिरुचिरलसद्बन्धुजीवाभिरामं
त्रैगुण्याक्रान्तबिन्दुं जगदुदयलयैकान्तहेतुं विचिन्त्य ।।

तस्योर्ध्वे विस्फुरन्तीं स्फुटरुचिरतटित्पुञ्जभाभास्वराङ्गी-
मुद्गच्छन्तीं सुषुम्नामनु सरणिशिखामा ललाटेन्दुबिम्बम् ।
चिन्मात्रां सूक्ष्मरूपां जगदुदयकरीं भावनामात्रगम्यां
मूलं या सर्वधाम्नां स्फुरति निरुपमा हूँकृतोदञ्चितोरः ।।

नीता सा शनकैरधोमुखसहस्रारारुणाब्जोदरे
च्योतत्पूर्णशशांकबिम्बमधुनः पीयूषधारास्रुतिम् ।
रक्तां मन्त्रमयीं निपीय च सुधानिःष्यन्दरूपा विशे-
द्भूयोऽप्यात्मनिकेतनं पुनरपि प्रोत्थाय पीत्वा विशेत् ।।

योऽभ्यस्यत्यनुदिनमेवमात्मनोऽन्त-
र्बीजांशं दुरितजरापमृत्युरोगान् ।
जित्वासौ स्वयमिव मूर्तिमाननङ्गः
सञ्जीवेच्चिरमातिनीलकेशजालः ।।

इति तद्रश्मिनिकरभस्मितसकलकश्मलजालो मूलं मनसा दश-वारमावर्तयेत् ।

अथ षट्शताधिकैकविंशतिसाहस्रिकां निःश्वासोच्छ्वासरूपिणीं मूलाधारादिब्रह्मरन्ध्रान्तसप्तचक्रनिवासिनीभ्यो देवताभ्यो निवेदयामि, तथा––

मूलाधारे चतुर्दलपद्मे वं शं षं सं चतुरक्षरे चतुष्कोणयन्त्रे ऐरावत-वाहने लं बीजे स्थिताय शुद्धबुद्धिसहिताय कुंकुमवर्णाय महागणपतये षट्सहस्रमजपागायत्रीजपं निवेदयामि,

बं भं मं यं रं लं षडक्षरे स्वाधिष्ठानचक्रे षट्दलपद्मेऽर्धचन्द्रे मकरवाहने वं बीजे स्थिताय सरस्वतीशक्तिसहिताय सिन्दूरवर्णाय ब्रह्मणे षट्सहस्रमजपाजपं निवेदयामि,

मणिपूरकचक्रे दशदलपद्मे डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं दशाक्षरे त्रिकोणयन्त्रे मेषवाहने रं बीजे स्थिताय लक्ष्मीशक्तिसहिताय नील-वर्णाय विष्णवे षट्सहस्रमजपाजपं निवेदयामि ।

अनाहतचक्रे द्वादशदलपद्मे कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञँ टं ठं द्वादशा-क्षरे षट्कोणयन्त्रे हरिणवाहने स्थिताय पार्वतीशक्तिसहिताय हेमवर्णाय परमशिवाय षट्सहस्रमजपाजपं निवेदयामि ।

विशुद्धिचक्रे षोडशदलपद्मे अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं लॄं एं ऐं ओं औं अं अः षोडशाक्षरे शून्ययन्त्रे हस्तिवाहने स्थिताय प्राणशक्ति-सहिताय शुद्धस्फटिकसंकाशाय जीवाय सहस्रमेकमजपाजपं निवेदयामि,

आज्ञाचक्रे द्विदलपद्मे श्वेतवर्णे हं क्षं द्व्यक्षरे लिङ्गयन्त्रे नरवाहने स्थिताय ज्ञानशक्तिसहिताय विद्युद्वर्णाय गुरवे सहस्रमेकमजपाजपं निवेदयामि,

ब्रह्मरन्ध्रे सहस्रदलपद्मे चित्रवर्णे अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं लॄं एं ऐं ओं औं अं अः कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञँ टं ठं डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं बं भं मं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं इति विंशतिवारोच्चारिते सहस्राक्षरे विसर्गयन्त्रे बिन्दुवाहने पूर्णचन्द्रमण्डले आनन्दमहासमुद्र-मध्ये चिन्मयमणिद्वीपे चित्सारचिन्तामणिमयमन्दिरे कल्पवृक्षाधस्तले अव्याकृतब्रह्ममहासिंहासने स्थिताय नानावर्णाय वर्णातीताय चिच्छक्ति-सहिताय परमात्मने सहस्रमेकमजपाजपं निवेदयामि इति निवेदयेत्।

अथ कतिचित् क्षणान् हंसः सोऽहमिति श्वासोच्छ्वासेषु भावयेत्।

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंसोऽतिपरमं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।।

इति ध्यात्वा मानसैरुपचारैस्सर्वान् देवान् पूजयेत्।

लं पृथिव्यात्मकं गन्धं समर्पयामि (कनिष्ठिकांगुष्ठाभ्याम्)।

हं आकाशात्मकं पुष्पं -(अंगुष्ठतर्जनीभ्याम्)।

यं वाय्वात्मकं धूपमाघ्रापयामि (तर्जन्यंगुष्ठाभ्याम्)।

रं वन्ह्यात्मकं दीपं दर्शयामि (अंगुष्ठमध्यमाभ्याम्)।

वं अमृतात्मकं नैवेद्यं निवेदयामि (अंगुष्ठानामिकाभ्याम्)।

सं सर्वात्मकं ताम्बूलादिसर्वोपचारान् समर्पयामि। (साङ्गुष्ठा-भिस्सर्वाभिः)।

आमूलाधारादाब्रह्मबिलं विलसन्त्यां बिसतन्तुतनीयस्यां विद्युत्पुं-जपिंजरायां विवस्वदयुतप्रकाशायां कुण्डलिन्यामेव निम्नांकितेषु चक्रेषु श्रीचक्रस्थितां देवतां भावयन् पूजयेत्।

तद्यथा--मूलाधारादधोगते अकुलसहस्रारे देहश्रीचक्रयोरभेदेन भूपुरस्थिताः अणिमादिदेवीः पूजयामि। तदुपरि स्थिते विषुवन्नाम्नि रक्तवर्णषड्दलषोडशदलगतकामाकर्षिण्यादिदेवीः पूजयामि।

मूलाधारे चतुर्दलेऽष्टदलगतानङ्गकुसुमादि देवीःपूजयामि।

स्वाधिष्ठाने षट्दले चतुर्दशारगतसर्वसंक्षोभिण्यादिदेवी: पूजयामि ।

मणिपूरे दशदले बहिर्दशारगतसर्वसिद्धिप्रदादिदेवी: पूजयामि ।

अनाहते द्वादशदलेऽन्तर्दशारगतसर्वज्ञादिदेवी: पूजयामि ।

विशुद्धे षोडशदलेऽष्टारगतवशिन्यादिदेवी: पूजयामि ।

लम्बिकाग्रे रेखात्रये त्रिकोणगतमहाकामेश्वर्यादिदेवीश्च पूजयामि ।

आज्ञायां द्विदले बिन्दुगतश्रीत्रिपुरामहात्रिपुरसुन्दरीं कामेश्वरांकनिलयां देवीं पूजयामि इति ।

श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्यां सचक्रावयवान्यावरणानि विलीनानि विभाव्य मध्यत्र्यश्राग्रे स्थितजीवात्मना सहितां देवीं हृदयं नीत्वा स्वाञ्जलिगतकुसुमैस्तां सम्पूज्य ततोऽकुलेन्दुगलितामृतधारारूपिणी: चन्दनकुसुमधूपदीपनैवेद्यशालिकरकमला:पीतासितश्यामरक्तशुक्लवर्णा: भूवियदनिलानलजललक्षणा: पञ्चभूतमयी: सर्वावयवसुन्दरी: पञ्च देवता देव्यग्रे संस्मृत्य ताभि: चन्दनधूपाद्युपचारान् देव्यै समर्पितान् स्मारंस्मारं पञ्चोपचारमुद्राश्च प्रदर्शिता भावयेत् ।

ततो देव्या नासायां गन्धदेवता, श्रोत्रे पुष्पदेवता, नाभौ धूपदेवता, नयने दीपदेवता, जिह्वायां नैवेद्यदेवता इति क्रमेण ता विलीना विभाव्य मूलविद्यामुच्चरन् जीवात्मानं देवीपादमूले लीनं विभाव्य हृदयगतदेवीरूपं मध्यत्र्यस्रसहितं तथैव केवलं ज्योतिर्मयतामापन्नं ध्यायन् संक्षोभिण्यादिमुद्रा भावयित्वा क्षणं न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।

रश्मिमालामन्त्रा:

ततो रश्मिमालाप्रवर्तनम् । रश्मिमालामन्त्रेषु वैदिकान्मन्त्रान् सस्वरान् पठेत् ।

'ओं भूर्भुवस्स्व:, तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो न: प्रचोदयात्' इति गायत्री मूलाधारे ।।१।।

(सावित्र्या विश्वामित्र ऋषि: नृचिद्गायत्रीच्छन्द: सविता देवता, तत्प्रीत्यर्थे जपे विनियोग: । ध्यानम्—

मुक्ताविद्रुमहेमनीलधवल छायैर्मुखैस्त्रीक्षणै-
र्युक्तामिन्दुनिबद्धरत्नमकुटां तत्त्वार्थवर्णात्मिकाम् ।

[नवमः पटलः]

[आत्मसंक्रान्तिः][1]

अथ विद्यास्त्रविद्धीरः शिवाग्निगुरुपूजकः । निमित्तमशुभं दृष्ट्वा गजवाजिरथादिषु ॥ १ ॥
अस्त्राणामप्रसादं वा भृशं वा शक्त्यवीक्षितः । दीर्घानारोग्यसंतप्तो [2]गृहीतो वाथ भूभृता ॥ २ ॥
तथा पञ्चात्मकं देहं विद्यामन्त्रात्मसंस्कृतम् । महाभूतानि ज्ञानाग्नौ जुहुयादस्त्रसंभवे ॥ ३ ॥
महीतले शुचिर्भूत्वा मन्त्रयुक्तेन चेतसा । शरदर्भान्परिस्तीर्य रुद्रं ध्यात्वास्त्रविग्रहम् ॥ ४ ॥
जगत्संहारकर्तारं ब्रह्मास्त्रमपराजितम् । ध्यानी विज्ञानयोगेन [3]चास्त्रं ध्यात्वा विचक्षणः ॥ ५ ॥
आसनं रुचिरं बध्वा स्वस्तिकं पद्ममेव वा । ऊर्ध्वकाय ऋजुग्रीवो बध्वाधः करकच्छपम् ॥ ६ ॥
दन्ताग्रं पीडयेद्दन्तैर्नेत्रे [4]चार्धनिमीलिते । विषयोरगसंरुद्धां विगृह्येन्द्रियवाहिनीम् ॥ ७ ॥
निरुद्धप्राणसंचारो नाभेरूर्ध्वं वितस्तितः । बालसूर्यप्रतीकाशं हृदयं संप्रकाशते ॥ ८ ॥
मण्डलं तत्र सूर्यस्य तन्मध्ये सोममण्डलम् । सोममण्डलमध्ये तु विमलं वह्निमण्डलम् ॥ ९ ॥
वह्निमण्डलमध्यस्थं शुद्धस्फटिकसन्निभम् । व . . . . . . कं विद्याद्रक्षार्थं तु महेश्वरम् ॥ १० ॥
तस्मिन्साधकचैतन्यं विद्यास्त्रपदगोचरम् । तनोत्यस्त्रमय वह्निदग्धां वेगेन हृद्गुहाम् ॥ ११ ॥
अस्त्रं शिरः कपालं च भित्त्वा सूर्यं प्रपद्यते । निश्चलं मूर्ध्नि [5]देवस्य ज्योतिः परममन्त्रवित् ॥ १२ ॥
अस्त्रमायासमाकृष्टो रौद्रीशक्त्येकवीरयोः । मूर्ध्नि सन्धानयेद्योगधारणाभिश्च निष्क्रमेत् ॥ १३ ॥
निष्क्रम्य पादयोरग्निः पुनर्मूर्धानमाश्रयेत् । [6]मूर्धनि तु ततो लोकालोकं बध्वा प्रभिद्य च ॥ १४ ॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव सूक्ष्मतेजोमयो महान् । सर्वभूतात्मको भूत्वा विशेत्सूक्ष्मं महेश्वरम् ॥ १५ ॥
देहस्य [7]देहि दर्भास्त्रं वस्त्रेणाप्यथवासनम् । संहारायेति भूतानि हिरण्येति शिरः स्पृशेत् ॥ १६ ॥
विद्याधिपेन होमे च ध्यायीत विधिरात्मकः । एवमस्त्रसमायोगान्मुच्यते नात्र संशयः ॥ १७ ॥

इति रौरवसूत्रसंग्रहे आत्मसंक्रान्तिपटलो नवमः[8]

---

[1] Voir *Niśśvāsakārikā*, *paṭala* 33 pour les détails du *ātmasaṅkrānti*.

[2] गृहीत्वा—ms.

[3] अस्त्रं pour चास्त्रं— ms.

[4] चार्धं निमीलिते—ms.

[5] देहस्य—ms.

[6] मूर्धानि—ms.

[7] देवदत्तास्त्रं ?—ms.

[8] समाप्तः pour नवमः—ms.

[सप्तमः पटलः]

[धारणाविधिः][1]

अथातः संप्रवक्ष्यामि ध्यानमार्गविधिक्रमम् । सकलो निष्कलश्चैव द्विविधस्तु शिवः स्मृतः ॥ १ ॥
सद्यो वामश्च घोरश्च पुरुषेशान एव च । कला ह्येताः समाख्याता निधनेशस्य सूरिभिः ॥ २ ॥
निष्कलस्तु परो देवो व्योमव्यापी महेश्वरः । प्रधानपुरुषेशानः परात्परतरः स्थितः ॥ ३ ॥
सर्वज्ञः सर्वकर्ता च सर्वगः सर्वतोमुखः । सर्वभूतात्मभूतस्थः शिवो ध्येयोऽथ शाश्वतः ॥ ४ ॥
[2]प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा । तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥ ५ ॥

[आग्नेयी]

[3]प्रथमा धारणाग्नेयी नाभिमध्ये तु धारयेत् । तस्यां वै धार्यमाणायां पापं निर्दहति क्षणात् ॥ ६ ॥

[सौम्या]

[4]हृदये धारयेद्विद्वान् सौम्यां सोमसुतां कलाम् । तस्यां वै धार्यमाणायां सर्वत्राप्यायनं भवेत् ॥ ७ ॥

---

[1] Pour *dhāraṇāvidhi* voir *Kiraṇa, yogapāda, paṭala* 1 et *Svāyambhuva, yogapāda, paṭala* 36.

[2] cf. *Mataṅga, yogapāda*, p. 208, *Kiraṇa*, IV, 1, 3, et *Niśśvāsakārikā*, ms. p. 2

[3] cf. *Kiraṇa*, IV, 1, 18-21:

संसिद्धयोगिनो मुख्यं धारणानां चतुष्टयम् । वह्निसौम्यामृता चाख्या पराख्या धारणास्तु ताः ॥
मूलं रेफपुटान्तस्थं पञ्चमस्थं च बिन्दुगम् । चलार्णसंयुता दीप्ता धारणा पावका मता ॥
सर्वोद्धारेऽरिहिंसादिपापः प्रागेव संक्षयेत् । त्रिकोणमण्डलस्थोऽयं कूटो वह्निस्स्वयं भवेत् ॥
वायुवेष्टितसर्वाङ्गो बीजदाहादिकृत्परः ॥

[4] cf. *Svāyambhuva*, 36, 3:

हृदये धारयेत्सौम्यां सदा सोमसमाश्रये । आप्याययति सर्वाणि यया योगपदस्थितः ॥

cf. *Kiraṇa*, IV, 22-23*a*:

पूर्वोक्तवारिसंयुक्तस्सौम्ये बिन्दुयुतस्स्वयम् । तोयमण्डलमध्यस्थः परितस्तेन वेष्टितः ॥
शान्तिपुष्टिकरी चेयमुपसर्गविसर्जनी ॥

[ऐशानी]

[1]ऐशानीं धारयेन्मूर्ध्नि सर्वसिद्धिकरीं नृणाम्। यया प्रयान्ति वै क्षिप्रं शिवस्य परमं पदम् ॥ ८ ॥

[अमृता]

[2]अमृता धारणा या तु व्यापिनी तु शिवंकरी। आप्याययति सर्वत्र सर्वं ज्ञानामृतेन च ॥ ९ ॥
ओंकारपूर्विका ह्येता नाभीहृदयसंस्थिताः। मूर्धन्या च तथा चान्या चामृता सर्वगा शुभा १० ॥

[धारणामन्त्राः]

ओं ज्वलद्दीप्तसहस्रे ज्वालामालिनि वस स्वैरं दीप्य दीप्य पशुपतिः। आग्नेयीधारणामन्त्रः ॥

ओं श्री ओं नमः शिवाय प्लावय अमृतायामृतयोनये। सत्ये सत्ये शान्तब्रह्मण्ये वरिष्ठयोगं धर धर प्लावयामृतेन। सौम्यां हृदि धारयेत् ॥

ओं ओं श्रीयोगरूपायानाश्रिताय सर्वप्रभवे ज्योतीरूपाय नमः ठ ठ। ऐशानीं शिरसि धारयेत् ॥

ओं नमः शिवाय अमृताय पशुतत्त्वानुग्रहकरायामृतायामृतरूपिणे अमृतीकुरु स्वाहा। अमृता सर्वव्यापिनी ॥

इति रौरवसूत्रसंग्रहे [धारणापटलः सप्तमः]

---

[1] cf. *Svāyambhuva*, 36, 4-5:

धारयेन्मूर्ध्नि चैशानीं सर्वेशानीं विचक्षणः। यया तु योगिनः सर्वे प्रयान्ति परमं पदम् ॥

cf. *Kiraṇa*, IV, 1, 25-26:

अकारबिन्दुसंयुक्तो नादशक्तिसमन्वितः। बिन्दुरक्षितसर्वाङ्गो ललाटस्थानसंश्रितः ॥
तदा तत्स्थितो योगी भवेन्मृत्युबहिष्कृतः ॥

[2] cf. *Svāyambhuva*, 36, 5:

अमृता धारणा या तु सा सर्वत्र व्यवस्थिता ॥

cf. *Kiraṇa*, IV, 1, 23b-24:

स एवामृतसंयुक्तः प्रणवेनोर्ध्वयोजितः। बिन्दुगो बीजदाहादित्रिस्वरेण निवेष्टितः ॥
अमृतेयं सदा मूर्ध्नि व्यापिनी जीवकाद्भुवा ॥

त्रैलोक्य रक्षणरतां मंगलां प्रणमाम्यहं ॥

गुह्यकाली मंगला च सिद्धिकाली जयेश्वरी ।
चर्चिका त्रिपुरेशी च कालि च भुवनेश्वरी ॥

श्रीमंगलामहाकाली निर्वाण पददायिनी ।
राज्यदा धनदा नित्यं दशवक्त्रां परां भजेत् ॥

इति श्रीहाहारावमहामंत्रे षत्त्रिंशत् साहस्त्रे महाथर्वणसंहितायां
शिवपार्वती सामरस्ये श्रीगुह्यकालिका देव्याः सहस्त्रनामपटलः ॥

अथ तुरीयभावना ॥

पार्वत्युवाच ॥

देवदेव महादेव भक्तानाम भयप्रद ।
तुरीयं तु न जानामि भक्तानां हितकाम्य या ॥

श्रीशिव उवाच ॥

धन्यासि कृत पुण्यासि तुरीया भक्त पार्वति ।
यथा श्रुत्वा मयादेवि कथयामि तवाग्रतः ॥

चतुर्दश भूपर्यन्त स्थावरं जंगमाचरं ।
ब्रह्मविष्णुमहेशानं न पूजां तं चराचरं ॥

वरुणश्चानलं वायुं चन्द्रसूर्य हुताशनं ।
पृथ्वंतरीक्ष आकाशं प्रलयं गतधारिणं ॥

तुंरी रूपा महादेवि स्वयं तेजो ज्योतिर्मयं ।
एकाकिनी जगन्मूर्तिर्द्वितीयं परमं गता ॥

दृष्ट्वा लोमशं महादेवि मार्कण्डे यस्ततो गता ।

मार्कण्डेय प्रतिलोमश उवाच ॥

व्यक्ताव्यक्त स्वरूपाय नमस्ते पुंजरूपिणे ।

तुरीयायै नमस्तेस्तु नमः पुरुषवर्जिता ॥

परमतुरीय उवाच ॥

वरं शृणुष्व भद्रं ते यत्ते मनसि वर्त्तते ।
योगलक्ष्मीं यदीच्छेत ददामि तेन संशयः ॥

ऋषिरुवाच ॥

नमस्तैस्तु महामूर्तिं कथयामि जुषस्वते ।

तुरीयोवाच ॥

मुनिवर्ग महाभाग सावधानं शृणुष्वहि ।
अस्मद्विभूति वक्ष्यामि उत्पत्ति प्रकृते स्वयं ॥

मल्ललाटाश्ते?ब्रह्मा श्रवणात्पंचदेवता ।
नासाग्रात्सलिलं चैव मुखादग्निरजायत ॥

रसनात् सरस्वती देवी नेत्राभ्यां ह्यमरात्रजन्।
कंठान्नीला महादेवी भुजे दुर्गारिमर्दिनी ॥

स्तन मध्ये कंदर्पं च कुक्षौ सप्तसमुद्रकं।
करमध्येन्य देवं च पापपुण्यं वक्षस्थले ॥

४८अ)

हृदये चन्द्रमा देवां नाभौ च गरुडध्वजः।
वामपार्श्वे स पितरं दक्षिणे शक्र राजकं ॥

गुह्ये गणपतिर्देव उरौ च कालमृत्युकं।
पृष्ठे नक्षत्र देवं च लिङ्गे चैव सदाशिवं ॥

रुर्मेशमनसादेवी अस्थि च शिरपां तथा।
रुधिरं पर्वतो देवो जंघौ च धर्मदेवता ॥

गुदेशं त्वेक देवं च ऋषि उरुदेशयोः।
दैत्यराक्षसनरयो जिह्वा यावन्तं देवता ॥

देहमध्ये कुबेरदेवं ते विभूति मुनिवर्गः।
एवं विभूति योगं गोपनीयं प्रयत्नतः॥

ऋषि पार्वत्युवाचः॥

शृणु देव जगन्नाथ संसारार्णवतारकं।
तव वासः कुतस्तेषां कथयामि तवाग्रतः॥

तुरीय उवाच॥

साधु साधु महादेवि प्रसन्नोस्मि तव प्रिये।
रहस्यं कथयिष्यामि गोपनीयं प्रयत्नतः॥

सकलजीवमहं तुरीयं स्थावरं स चराचरं।
नाभि पश्चिम मार्गे च पाताललोक शेषकं॥

नाभ्यग्रं कंठपर्यन्तं मर्त्यलोक समुद्रकं।
कंठाग्राच्छीर्षपर्यन्तं स्वर्गलोकं महेश्वरि॥

पार्वत्युवाच ॥

कूटस्थानं कूटचक्रं नादबिन्दुश्च गोचरं ।
उन्मनेः कुत्र संस्थानं न अगोचरं कुत्र व्यापि ॥

कुत्र ब्रह्मा कुत्र विष्णुः कुत्र देवस्सदाशिवः ।
त्रयोदश कमलं च कुत्र शांभवि निर्वणं ॥

निरंजनः सदाशिवो महाविष्णुर्महेश्वरी ।
इडापिंगला सुषुम्ना षट्चक्रं कुत्रस्थितिः ॥

कुंडली हंस अजपा निराकारस्य पद्मकं ।

तुरीय उवाच ॥

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि सावधानश्च ब्राह्मण ।
प्रथमे अरूचक्रं च द्वादशपद्मसंयुतं ॥

प्रणवक्षस्थि तिष्तःअन्तु शक्तितिष्ठति नित्यशः ।

द्वितीयं नाभिचक्रं तु षोडशनिर्वाणं तथा ॥

तन्मध्ये विष्णु देवं च लक्ष्मी शक्तिः सुमंडितं ।
कुण्डली तत्र तिष्ठंति सर्पाकारांग शापिनी ॥

तृतीये हृदयं चक्रं पंचाशत् कोणसंयुतं ।
तन्मध्यसंस्थितं ब्रह्मा सावित्री शक्ति शोभितं ॥

चतुर्थे कंठचक्रं च वर्गा देवी विभूषितं ।
तन्मध्ये भास्करं देवं स्वनक्षत्रो परिस्थितं ॥

पंचमे जिह्वाचक्रं च षट्दलपद्मसंयुतं ।
मध्ये तु शांभवी देवी महाविष्णुर्निरंजनं ॥

हंसनिर्वाण शिवं च उन्मनि स्थान एव च ।
एते षट्दल पद्मं च देवशांभवि संयुतं ॥

तदूर्ध्वं तालुचक्रं च अष्टदलं तु मंडितं ।
पृथिवी आपतेस्तेजो वायुराकाशमेव च ॥

४८ब्)

न ज्ञातविवयं मध्ये स्वर्णपंकजशोभितं ।
तन्मध्ये भावयेद् देवीं कोटीसूर्यसमप्रभां ॥

तस्य शब्दस्य अजयासोहं हंस इत्युच्यते ।
पूर्वभागे त्रिप्रवाहं हंसं गमं प्रणववीजगं ॥

इडा च वामभागे च रक्तरूपं जलोदरं ।
गंगा चैव इडादेवि यमुना पिङ्गला तथा ॥

कृष्णरूपी यमुना च मत्स्यकच्छप पूरितां ।
सुषुम्ना सूक्ष्मवर्ण च सरस्वतीं च भावयेत् ॥

पुण्यजलस्नानं नित्ययोगेश्वरेण भावयेत् ।
अष्टदलं तन्मध्ये च षट्दलमध्ये तुरीयका ॥

तन्मध्ये पद्मकोणे च षडाम्नायो परिस्थितिः ।
पूर्वपत्रे पूर्णदेवी उत्तरे दक्षिणकालिका ॥

पश्चिमे कुब्जिका देवी दक्षिणे च सरस्वती ।
अध्वश्च वडवादेवी ऊर्ध्वं त्रिपुरसुन्दरी ॥

स्ववाहनं स्वशक्तिश्च षडाम्नायेन पूरितम् ।
ततः परं सहस्रं च पद्मं चैव सुशोभितम् ॥

निराकारजवीजं च रन्ध्रे दशमद्वारके ।
सहस्रदल पद्मं च अग्रे फणि विवेष्टितम् ॥

अष्टपत्रं सहस्राक्षं ब्रह्मविष्णवीन्द्र सेवितम् ।
मध्ये ज्योतिः पंकजं चांगुष्ठ प्रमाणपूरुषम् ॥

तन्मध्ये ध्यायते देवि योनि लिंगविवर्जितम् ।
ज्योतिरूपं महा उग्रं त्रिगुणं च विवर्जितम् ॥

एतेद् ध्यानं तुरी ब्रह्म स्थूलध्यान प्रकाशितम् ।
षट्पत्रं च षडाम्नायं यस्य देवस्य रूपकम् ॥

पार्वत्युवाच ॥

शृणु शिवमहावाक्यं कथयामि य देवतम् ।
तस्य लक्षणं व्रवीत् ममानुग्रहकारक ॥

शिव उवाच ॥

पर्वते ग्रहणे गुहायां एकान्ते देव सन्निधौ ।
तत्रवासं प्रकुर्वन्ति साधकः स्थिरमानसः ॥

भैरवं स्थापयेत् तत्र त्रिसन्ध्यं नियतः शुचिः ।
दृढबुद्धिर्जितेन्द्रियोमकारपञ्चकं प्रिये ॥

एकसन्ध्या भोजनं च बहुजल्पनता श्रुतम् ।
उच्चशद्वं ततः कृत्वा अल्पनिद्राद्युभोजनम् ॥

पद्मासनं साधयामि इष्टदेवं च भावयेत् ।
नासाग्रे चिन्तयेन्नित्यं शिखापर्यन्तभावना ॥

षण्मासाज्जायते सिद्धिः सत्यं सत्यं न संशयः।

ऋषिरुवाच ॥

किं सिद्धिर्यंत्रमंत्रं किं जापं जपति नित्यशः ॥

४९अ)

तुरीय उवाच ॥

कुमारीमंत्रं मया प्रोक्तं विदिध्यानेन संयुतम्।
विशेषं ब्रह्मयामले सिद्धि लक्षणं वक्ष्यामि ॥

तुरीया सिद्धिदानीया साधकः शिवतां व्रजेत्।
अन्ते ब्रह्ममयं यान्ति तदन्ते विष्णुदैवतम्॥

महाप्रलयमासाद्य तुरीयोपासनाकरः।
मंत्रश्रवणमात्रेण योनिद्वारं न पश्यति ॥

तीर्थयाग व्रतं पुण्यं साधकस्य तु दर्शनात्।

अन्तर्ध्यानं तुरीयं च विप्रं गच्छति निजालयम्॥

इति ते कथितं देवि रहस्यं सारमुत्तमम्।
गुह्याद्गुह्यतरं देवि तव प्रीत्या प्रकीर्तितम्॥

गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं प्रयत्नतः।
शिष्याय भक्तियुक्ताय साधकाय प्रकाशयेत्॥

खलाय भ्रष्टशिष्याय देवीपद्विमुखाय च।
पुस्तकं योनरोदद्यान् मृत्युरेव न संशयः॥

इति श्रीहाहारावतंत्रे अथर्वणसंहितायां गुह्यकालीप्रस्तारे अष्टमखण्डे
तुरीयं पटलं सम्पूर्णम्॥

४९ब्)

भैरव उवाच॥

सृणु देवी प्रवक्ष्यामि कालिकायाः सुपूजितं।
महाकर्मार्चणं वक्ष्ये दुर्लभं भुवनत्रये॥

देव्युवाच

कालोदयं मयाज्ञातं अंशकानि विशेषतः।
अधुनाश्रोतुमिछामि वंच(ध)नं च यथा भवेत्॥

विपरीत न चारयोगे आत्मानं संक्रमते यथा।
चक्रस्थं तं बीजानीयाद् ध्यानधारणयोगतः॥

p. 38b)

श्रीभैरव उवाच

यत्नात् पूर्वं मयाख्यातं शक्त्योर्द्ध्वं अंशकत्रयं।
महानिलयं तस्योर्द्ध्वे (तस्योर्द्ध्वे तु महानीलं) त्रिपथं वरवर्णिनि॥

पच्य(ख)ते तत्र मध्ये तु विष्णुरुद्रप्रजापतिः।
उत्पन्नं तत्र मध्ये तु बीजभूतं वरानने॥

पृथिव्यायस्तथा तेजो वायुराकाश निष्कलं।
बीजमध्ये स्थिता ह्येते पृथग् भिन्ना क्रमेण तु॥

यदासौ निर्मले क्षेत्रे पतितं बीज रोहणं।

तदाभिद्यन्ति भूतानि स्वकीयगुणपञ्चकैः ॥

तत्रत्रिपथमध्ये तु सूक्ष्मभूताव्यवस्थिताः ।
ऊर्णातन्तु निभाकारा गतासानाभि मण्डले ॥

चतुरङ्गुलमानेन अष्टधा कुटिलं गताः ।

प्रसूता नाभि मध्ये तु शाखैः शाखमनेकधा ।
दशनाद्यावृ(धृ)तं चक्रं नाभिस्थाने प्रतिष्ठितम् ॥

इडा च पिंगला चैव सुषुम्ना च तृतीयका ।
उर्द्धभागे स्थिता ह्येता त्रिभिर्देवैर्व्यवस्थिता ॥

गान्धारि हस्ति जिह्वा च पूषा चैव वरानने ।
अधोमार्ग गता ह्येता वृहत् शाखा प्रलम्बिता ॥

यथा(जया) अलंवुषा चैव दक्षिणस्था भवन्ति हि ।
वाममार्ग प्रयोगेन संस्थिता कुहुशंखिनी ॥

नाभेरूर्द्ध गतानाडी एकात्रितयरूपिणी ।

सा प्रसूता वरारोहे ब्रह्मावर्तेनसंस्थिता ॥

नाडी संचारयोगेन संस्थितं पद्मया दृशम् ।
तमहंसंप्रवक्ष्यामि शृणुष्वेकाग्रमानसः ॥

पंचपंच पुनः पंच पंचपुनः पुनः पञ्च ।
पंचमालासमाख्याता संस्थिता पंचविंशकम्(तिः) ॥

p. 39a)

ग्रन्थिस्थानप्रयोगेन नाडीसंचारसंथिता ।
पूर्वमालादि उत्पन्नं द्वितीयस्य द्वितीयके ॥

विश्रान्ता तत्र मध्ये तु गतापूर्व तृ(द्वि)तीयके ।
पूर्वबिन्दु द्वितीयस्य प्रथमस्य द्वितीयकं ॥

ग्रन्थितं नाडियोगेन तृतीयस्य द्वितीयकम् ।
द्वितीयस्य द्वितीयेन तृतीयादि विभेदयेत् ॥

तृतीयस्य्य द्वितीयेन चतुर्थे आदियोजितम् ।
तृतीयादिं चतुर्थस्य द्वितीयं ग्रन्थितं कुरु ॥

चतुर्थस्य द्वितीयेन पंचमादिन्नियोजयेत्।
(पंचमस्य द्वितीयेन चतुर्थापि योजयेत्॥)

चतुर्थस्य द्वितीयेन पंचमस्य तृतीयकम्।
ग्रंथितं पूर्वयोगेन नाडीसंचारभेदितम्॥

चतुर्थस्य तृतीयं च पंचमस्य द्वितीयकम्।
पंचमस्य चतुर्थे च चतुर्थे पञ्च योजितम्॥

चतुर्थस्य चतुर्थेन पंचमं तु प्रयोजितम्।
पंचमान्त चतुर्थस्य चतुर्थस्थान योजितम्॥

(पञ्चमस्य चतुर्थेन चतुर्थान्तं नियोजयेत्।
वरानने पूर्वे चतुर्थ योगेन द्वितीयान्ते विभेदितम्।
द्वितीयस्य चतुर्थेन द्वय(पंच)मस्य तृतीयकम्।
भेदितं नात्रसंदेहो यथा पूर्वन्तथैव च॥
तृतीयेन द्वितीयस्य)?????

चतुर्थान्तं तृतीयस्य चतुर्थस्थान योजितम्।
चतुर्थस्य चतुःस्थानं तृतीयान्तेनसंयुतम्॥

तृतीयान्तं द्वितीयस्य चतुर्थस्थानसंस्थितम्।

तृतीयस्य चतुर्थेन द्वितीयान्तं नियोजयेत् ॥

पूर्वान्तेन चतुर्थं च द्वितीयस्य प्रथमस्य चतुर्थकं ।
ग्रंथितं पूर्ववद्देवि अत उर्द्ध्वमतः शृणु ॥

प्रथमस्य द्वितीयेन द्वितीयस्य तृतीयकम् ।
एकत्र ग्रंथितं कुर्याद् ये चान्ये द्वे तथैव हि ॥

p. 39b)

नाडीचक्रमिदं शूक्षमं मष्ट(सप्त)पत्रं व्यवस्थितम् ।
शून्यरूपं स्थितं तत्र मध्यस्थं परमेश्वरम् ॥

तद्बाह्ये षोडशाकारं षोडशकलसंयुतम् ।
चन्द्रादित्यमयं सर्वं नाडीचक्रं व्यवस्थितम् ॥

एषा प्रकृतिराख्याता पंचविंशसमुद्भवा ।
अत्रमध्ये स्थितं देवं जीवाख्यं परमेश्वरम् ॥

सत्वंरजस्तमैश्चैव वेष्टितं त्रिविधेन तु ।
अष्टपत्रस्य मध्यस्थं दलेषु यादृशं शृणु ॥

इन्द्रो अग्निर्यमश्चैव नैर्-ऋत्यं वरुणानिलं ।

कौबेरमीशपर्यन्तं दलेषुसंस्थितानि च ॥

शब्दस्पर्शश्च रूपं च रसोगंधं च पंचमः ।

मनोबुद्धिरहंकारो दलेधः संस्थितानि च ॥

कामं क्रोधन्तथा लोभं मदं मात्सर्यमेव च ।

मोहं दंभं च पैशून्यं एकैकस्य पृथक् पृथक् ॥

यो सौ अचिंत्यमित्याहुः सर्वज्ञः परमेश्वरः ।

मध्यस्थं तं विजानीयाद् रूपमव्यक्तसंस्थित ॥

प्रेरकन्तस्य देवेशि मनोनामकमात्मनः ।

येन येन हि भावेन मनः संयुज्यते नृणां ॥

तस्य तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ।

चतुर्विंशति तत्त्वानि पत्रे पत्रे व्यवस्थिताः ॥

प्रकृतिं च विजानीयात् पुरुषे बन्धनात्मिकां ।

मुक्तिन्तेन विना देवि निष्कलं च तदा भवेत् ॥

सकलं तत्र मध्यस्थं निष्कलं तेन वर्जितम्।

अत्र मध्य गतं विद्यात् कालं कालोदयानि च॥

प्रकृतिं योन जानाति चतुर्विंशात्मरूपिणीं।

वृथापरिश्रमं तस्य मुक्तिस्थानं न गच्छति॥

p. 40a)

अथातः संप्रवक्ष्यामि तिथिसंख्या यथा भवेत्।

दिनमेकेन देवेशि ये दिनाः काय संभवाः॥

प्राणा पानस्य चारेण दिनं रात्रिर्विधीयते।

एकविंशसमाख्याताः सहस्राः षट्च्छताधिकाः॥

सप्तविंशोत्तराज्ञेया संक्रान्तिषु शतानि च।

विषुवाः षष्टि समाख्याता(विज्ञेया) अमावस्या च पूर्णिमा॥

यो सौ त्रिकालरूपेन अष्टसंग्रहसंस्थितम्।

विंशोत्तरशतं यावद् भ्रमते चन्द्रमण्डलम्॥

यदाजानाति तत्त्वज्ञः सोमग्रहमुपागतम्।

अमृताशनस्थितो योगी पूजयेत् तत्त्वनायकम् ॥

सर्वदेव मयंशंभुं सर्वविश्वेश्वरं प्रभुं ।
ज्योतिरूपं परंशातं अव्यक्तं निर्म्मलं च यत् ॥

जीवाख्यं परमं शुद्धं निर्मले मलनाशनं ।
तस्य पूजाप्रकर्त्तव्या प्लावितममृतेन तु ॥

येगता(पशुयो)तिर्यग्योनीषु * नरके चाति दारुणो ।
उद्धरेत् तत् कुलं सर्वं दशपूर्वं दशापरम् ॥

रस्मिज्वाला कुले दीप्तं भानुविंवंसुनिर्मलं ।
ग्रंथि(ग्रसि)तं पंचवाराणि अहोरात्रेण दृश्यते ॥

पितृयानस्य पूर्वेण या कलादैविकी मृता ।
तां कलां तर्पयेद् देवि सूर्यग्रहसु पा गते ॥

देवया तस्य पूर्वेण पितृयानस्य चोत्तरे ।
सेतुबंधस्य मध्ये तु भूत्वा भूयो न जायते ॥

पूजितव्यं प्रयत्नेन हृदिस्थं परमेश्वरं।
दिव्यधारामृतेनैव भानुग्रासं यदा भवेत्॥

p. 40b) देवदानवसिद्धानां गन्धर्वो रगराक्षसां।
तृप्यन्ति सर्वभूतानि विकला तर्पिता यदि॥

यदा भवति संक्रान्तिर्विषु वा पिण्डमध्यतः।
तुर्यस्थानसमारूढः पूजयेत् तत्त्वनायकम्॥

गुरुपदेशयोगेन स्थानं परमुदुर्ल्लभं।
त्वरितं तद्विजानीयाच्छीघ्रं सिद्ध्यति मानवः॥

येनज्ञातं सुरेशानि तूर्यस्थानस्य तर्पणं।
अश्वमेधस्य यागस्य क्षिप्रलभति तत्फलम्॥

न योगात् सदृशं मन्त्रं न योगात् सदृशं तपः॥

न योगात् सदृशं तीर्थं त्रिषुलोकेषु दृश्यते।
ब्रह्माविष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः॥

तद्भावभावितात्मानं चिन्तयन्ति परापरं।
इन्द्राद्या देवताः सर्वे चन्द्रसूर्यादयोग्रहाः॥

महर्षयः सप्तपूर्वं मवादय अशेषतः।
अष्टाशीति सहस्राणि वा लखित्पादयोपि च॥

अनेनैव तु योगेन सिद्धास्ते वरवर्णिनी।
इतिखलुपुङ्गलाकारं नाडीसञ्चारमण्डले॥

मुख्यं कथितमिहसिद्धि हेतोर्बोद्धव्यं यत्नतः।
सिद्धिः एत देवि परंगुह्यं निर्वाणं परमं पदम्॥

शरीरस्थं परं दिव्यं न देयं यस्य कस्यचित्।

देव्युवाच

नैव जानाम्यहं नाथ उदयास्त मनं यथा।
विषुवं नैवजानामि ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोः॥

राशिसंक्रमणं चैव सकलं निष्कलं कथं।

को वेत्ति अत्रमध्यस्थः सुखदुःखानि यानि च ॥

कस्य धर्म्मञ्च पापं च को गतः कोत्र तिष्ठति ।
p. 41a) चन्द्रसूर्यादि भेदेन कथमात्माप्रतिष्ठितः ॥

ज्ञायते केन योगेन इन्द्रियं विषयानि च ।
अनीता नागतं चैव वर्त्तमानार्थमेव च(बोधकम्) ॥

अनिमादि गुणोपेतं साधनं च कथं भवेत् ।
निर्वाणं मोक्षमार्ग च विविधं कालवंचनम् ॥

अनेनैव शरीरेण यथाभवति तद्वद ।

श्रीभैरव उवाच

यो सौ देवि मयाख्यातं चक्रं प्रकृति संभवं ॥

तत्रमध्यगतं देवं सर्वज्ञं परमेश्वरम् ।
तद्ब्रह्म च महादेवं तद्विष्णुं परमं पदं ॥

तच्चन्द्रसूर्यमित्याहुरिन्दु वरुणमेव च।
तं कालं भवमित्युक्तं तं वायुं तं खगेश्वरम्॥

सर्वदेवमया सो हि तत् शून्यं भरितं स्थितम्।
चैतन्यं सर्वगं नित्यं सर्वप्राणि हृदि स्थितम्॥

विषयस्थमतीतं च वायुसंयोगसंस्थितम्।
भ्रमते चक्रमध्यस्थं मनः पवनसंयुतम्॥

दक्षिणचारुयोगेन पिंगलं भानुमारुतम्।
प्राणापाणप्रयोगेन नीयते च शनैः शनैः।

यस्य पत्रस्थ मध्यस्थं तिष्टते परमात्मनः।
तस्यतन्मयतां भावं धारयेन्नात्रसंशयः॥

अन्य पत्रस्य मध्यस्थं यदासंक्रमते तु सः।
संक्रान्तिं तद्विजानीयात् तैः षड्भिश्चोत्तरायणं॥

विषुवं द्वादशं चैव या राशिं संक्रमेषु च।
अब्दैर्द्वादभिश्चैव ग्रहणो भास्करस्य च॥

षण्मासदिनयोगेन चन्द्रस्य ग्रहणं भवेत्।

p. 41b) समाधिस्थो महायोगी रविचन्द्रस्य मध्यगः(त) ॥

प्रत्यक्षं दृश्यते ग्रा(श्वा)संस्थानभेदेन या दृशां।

चन्द्रमण्डलमध्यस्थं आत्मानं कुरुते यदा ॥

ग्रहणं तस्य जानामि सोमस्थं पश्यते ध्रुवं।

चन्द्रसूर्यस्य चक्राणि सृष्टिसंहारकारकाः ॥

पारंपर्यक्रमेणैव गुरुवक्रात्तु लभ्यते।

यस्य चक्रस्य मध्यस्थं आत्मानं क्रमते लयं ॥

चन्द्रसूर्यप्रयोगेन ज्ञायते नात्रसंशयः।

धर्माधर्मं च मोक्षं च ज्ञानं वैराग्यमेव च ॥

कामं क्रोधं च लोभं च यत्र(चक्र)स्थं कुरुते ध्रुवम्।

मरुतस्थं विजानाति संयोगे वामदक्षिणे ॥

प्राणापानस्य मध्यस्थं नासिकाग्रे व्यवस्थितम्।

ऊर्द्ध्वं ह्यग्नि दधश्चापतिर्यगश्च प्रभञ्जनः ॥

मध्ये तु पृथिवीं विंद्यान्नस्तश्चैव तु सर्वगः ।
भूतान्ते विषुवं चारं सुषुम्नाभिन्नमस्तकं ॥

यदा भवति मध्यस्थ मात्मानं वरवर्णिनि ।
वहतिनात्रसंहेहो योगं विषुवमूत्तमम् ॥

कोलचिह्नानि सर्वाणि उक्तानि यन्मया पुरा ।
वंचनं तेषु देवेशि यथा भवति तच्छृणु ॥

चन्द्रादित्य मयं सर्वं त्रैलोक्यं स चराचरम् ।
मार्गं च तद्विजानीयाद मार्गन्तेषु वर्जितम् ॥

संचारं कथयिष्यामि प्रकृतिस्तस्य चात्मनः ।
वृषभं तत्र मध्ये तु मैथुनस्थं च वायसं ॥

रुद्रमानं सदातिष्ठेत् महाशब्दमनाहतम् ।
सत्वंरजस्तमश्चैव तस्य वंधत्रयं भवेत् ॥

सोमसूर्याग्नि चारेण त्रिपादास्तत्रसंस्थिताः ।

अधस्तात् तु विजानीयाद् ब्रह्मादि अंशकेषु च ॥

पृथिव्यापस्तथा तेजश्चतुर्थं वायुसंस्थितम् ।

ऊर्द्धभागे स्थिता ह्यते(क्षेत्रे) शृंगाश्चत्वारि यानि च ॥

सार्द्धं त्रीणि स्थिता वामे पुनरेत्तानि दक्षिणे ।

नाडीसञ्चारभेदेन अस्थिरूपा व्यवस्थिताः ॥

एतानि सप्तहस्तानि द्वौशीर्षौ चन्द्रसूर्ययोः ।

यो सौ मध्यगतो देवि रचते च अनाहतम् ॥

मैथुनेन विना तस्य नशब्दो नैव जीवितम् ।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मैथुनस्थं सदाकुरु ॥

मैथुने मोक्षमाप्नोति मैथुनमायुवर्द्धनम् ।

सर्वसिद्धिकरं देविमैथुनं परिपठ्यते ॥

तस्य देवाधि देवस्य प्रकृतिस्थस्य सुन्दरि ।

मोचनं संप्रवक्ष्यामि आत्मनो वंचनस्य च ॥

उत्पत्तिस्तत्रमध्ये तु कालं कालोदयेषु च।
एते त्रीणि समाख्याता वृषपादांशकेषु च॥

तत्रस्थं कारणं योज्यं नीयते च शनैः शनैः।
संकोच्य सप्तहस्तानि नाडीस्थं यत्समीरणं॥

द्वे शीर्षे चतुःशृङ्गानि त्रिबन्धं प्रकृतिता सह।
गुरुवक्र शते नैव करणे वरवर्णिनि॥

सव्यस्थं क्रमयोगेन चतुर्विंशात्मकं कुरु।
संकोचमिति विख्यातं पिण्डस्थं च तदा भवेत्॥

हृदि ह्याकाशमध्यस्थं दीपाकारं व्यवस्थितम्।
दह्यते हृदिमध्यस्थं इन्द्रिया विषयानि च॥

p. 42b)

सावित्री यस्य कायस्थाः कालानलसमप्रभा।
यक्षदीप्ति गतो वह्निः शुष्कमार्द्धं च निर्दहेत्॥

तथा दहति कर्माणि योगिशो अत्र संस्थितः।

यदा सौ शिखिरूपेण सर्वं संकोच्यतिष्ठति ॥

तदामुक्तं समाख्यातं सर्वमार्गेषु गच्छति ।
पितृयानस्य पूर्वेण देवयानस्य चोत्तरे ॥

सेतुबन्धपूर्वे तु नीयते च शनैः शनैः ।
या सा वायु(म) कलासूष्मात्रिभिर्देहैर्व्यवस्थिता ॥

एकासंवरणीनाम द्वितीया च विसर्जनी ।
कला चैव तृतीया च अन्तेष्टिर्नामविश्रुता ॥

विसर्जनीं समाश्रित्य अभ्यासेन मुहुर्मुहुः ।
नीयते बंधयोगेन सा च संवरणी कला ॥

अन्तेष्टि पद(क्ष)मध्यस्थं विलोमेन प्रवेशयेत् ।
ब्रह्मस्थानं परित्यज्य विष्णुरुद्रेश्वरं पदम् ॥

शंखिणी द्वारभेदं च कुंचिको दद्याटयेद्विलम् ।
या सा नाडी परासूक्ष्मा सुषुम्ना नामविश्रुता ॥

विभिद्य मूर्द्धिर्नमार्गन्तु प्रतिष्ठा तत्र मध्यतः ।

मार्गेन तेन गन्तव्यं स्थानं चैव निरामयं ॥

प्रथमं च द्वितीयं च सुशिरमस्थिमध्यगम् ।

तृतीयं च समाश्रित्य लयं कृत्वा सुयत्नतः ॥

वंचनं च समाख्यातं कालस्य वरवर्णिनि ।

न तत्र भिद्यते जन्म न कालक्षयमेव च ॥

धर्माधर्मौ परित्यज्य लीयते परमे पदे ।

तत्रस्थाने यदालीनं प्राणापानः क्षयं गतः ॥

आगतं च गतं चैव नोस्वासं स्वासमेव च ।

p. 43a) न शृणोति च शब्दानि मुक्ता चैव मनाहतम् ॥

रूपं चैव नज्जानाति वर्णानि यादृशानि च ।

नवसंसा ते जिह्वा शीतोष्णं स्पर्शमेव च ॥

घ्राणश्चैव न गृह्णाति गन्धं दुर्गन्धमेव च ।

बुद्धि दृश्यमिदं सर्वं त्रैलोक्यम् स चराचरम् ॥

य स? चाह्य?मनेबुद्धिस्तदा द्वैतं न विद्यते।
एकीभूतं यदात्मानं सर्वैन्द्रिय विवर्जितम्॥

चैतन्यं चेतनं चेता न कालक्षयमेव च।
एतद्देवि परंब्रह्म निर्वाणं परमाक्षरम्॥

ज्ञायते गुरुवक्रस्थं मुक्तिस्थानं सुनिर्मलम्।
अन्यत्पुरप्रवेशं च कुरुते साधकेश्वरः॥

या सा देविमयाख्याता कलानामविव(स)र्ज्जनी।
हस्तमात्रप्रमाणेन पुष्पं करतले स्थितम्॥

अन्ते वंधं प्रकुर्वीत कलासंवरणी तु या।
नीतं पुष्पस्य मध्यस्थं मारुतं च शनैः शनैः॥

तं पुष्पं चलितं दृष्ट्वा द्विगुणं च समभ्यसेत्।
द्विहस्तमात्रयोगेन पुष्पसंक्रमणं यदा॥

सिधयते नात्रसंदेहः पंचहस्तप्रमाणतः।

पुष्पं च चलितं दृष्ट्वा वज्रक्षीरं विभेदयेत् ॥

विभेदिते वज्रवृक्षे परकायलयं कुरु ।
परस्य हृदिमध्ये तु पंकजस्थं यदा भवेत् ॥

तदा भिद्यन्ति भूतानि स्वकीय गुणपंचकैः ।
रूपे रूपं विजानाति श्रवणे शब्दं शृणोति च ॥

नासिकाग्रस्थितो वायुः प्राणं गृह्णाति या दृशम् ।
सर्वं जानाति चैतन्यः शीतोष्णं स्पर्शमेव च ॥

p. 43b)

स्थाने स्थाने विसर्पन्ति इन्द्रिया विषयानि च ।
पूर्वोक्ता यादृशी विद्या तत्सर्वं वदते ध्रूवम् ॥

परकायप्रवेशश्च उक्तं देवि सुदुर्ल्लभं ।
द्विपदे चतुष्पदे चैव अपदे पदसंकले ॥

संक्रमेन्नात्रसंदेहो अस्य योगप्रभावतः ।
अथ उत्कान्तिमिच्छन्ति वैराग्यो पहता नराः ॥

तसहं संप्रवक्ष्यामि सद्य उत्क्रमणं यथा ।
पूर्वं संकोचयोगेन लयं याति परे पदे ॥

उत्क्रमेन्नात्रसंदेहः पुनर्जन्म न विद्यते ।
सर्वं देविमयाख्यातं यत्सुरैरपि दुर्लभं ॥

आत्मसंविन्निभेदेन किमन्यत् परिपृच्छसि ।

इति पारमेश्वरीमते गुह्ये आत्मसंवित्तिभेदश्चतुस्त्रिंशतिमः पटलः ॥

देव्युवाच

अत्रैव मेरुमध्ये तु या स्थिता कुलनायिका ।
त्रिपुरामन्त्रविख्याता वक्रांशाबान(गादिषु)संयुता ॥

सप्तविंशति योगिन्यः पंचमुद्रा तथैव च ।
वक्तुमर्हसि देवेश सामर्थं पूजने विधिं ॥

चतुष्के च महातन्त्रे उत्तरे षट्ककेषु च ।
रुद्रयामलमध्ये च पूर्वोक्तं तन्मया श्रुतम् ॥

ज्ञानं भूतागारं च द्विरद तत्त्वमैश्वर्यं मीने कृष्णम् ॥

न ए ञ पूर्वन्तु जयतु दिशि चित्राणि गात्रपीठानि ।
सर्वेषु मन्त्रविद्याषु न्यासोऽयं कामदायकः ॥

मातृकां विन्यसेद्देहाभान्तरे विधिनामुना ।
अन्तर्यागं तथा योगं वायुं कुर्याद्विचक्षणः ॥

भूतशुद्धिं पुराकुर्यात् विधिनानेन दोहकः ।
यादिवान्तैर्विधानेन पूरककुम्भकरेचकैः ॥

इडया पुरयेद्वायुं श्वासनाड्याः शनैः शनैः ।
मात्रया षोडशेनैव ततः कुर्याच्च कुम्भकम् ॥

यंमन्त्रेण चतुःषष्ट्या यथा कुम्भं ततः परम् ।
सुषुम्नायां कुम्भयित्वा पिङ्गलायान्तु रेचयेत् ॥

चतुर्धाचन्द्र सह जप्त्वा रंवीजेनैव प्लावनी ।
श्वाससंहरणा नाड्या त्यजेद्वायुं शनैः शनैः ॥

पुरा कुक्षिगतः पापं चिन्तनीयो मनीषिभिः।
(p. 10) ब्रह्महत्या शिरङ्कञ्च स्वर्णस्तेय भुजद्वयम्॥

सुरापानहृदा युक्तं गुरुतल्पकटिद्वयम्।
तत् संसर्गात् पदद्वन्य्द्व मङ्गप्रत्यङ्गपातकम्॥

उपपातकरोमाणं रक्तश्मश्रुविलोचनम्।
खड्गचर्मधरं वामाङ्गुष्ठपरिमाणकम्॥

अधोमुखः कृष्णवर्णं वामकुक्षौ विचिन्तयेत्।
एषु ये ऋषयः प्रोक्तास्तान् प्रवक्ष्याम्यनुक्रमात्॥

पुरकादिषु देवेशि ऋषयः सर्वसम्मताः।
किस्कन्दः कश्यपश्चैव हिरण्यगर्भस्ततः परम्॥

अस्य पापस्य देहस्य अन्तर्यामी ऋषिः स्मृतः।
एवं द्यात्वा वह्निनाडी दाहयेत् सकलां तनुम्॥

प्राणायामं ततः कुर्यात् भूतशुद्धिरनन्तरम्।
भूतानां शोधनं कृत्वा भावना तु तथा दिशेत्॥

आपादमुर्द्धिन पर्यान्तं भावयेद्देहमात्मनः।

पञ्चाशद्वर्णबीजाढ्यं महाभूतादिसंयुतम्॥

गन्धं रसं तथा स्पर्शं रूपं शब्दं ततः परम्।

भावयेदात्मनो देहं सहस्रं कमलं यतः॥

सहस्रारे महापद्मे ध्यायेद्देवीं सनातनीम्।

सदाशिवेन संयुक्तां विपरीतरतस्थिताम्॥

भूतानि च महापूर्वसंलीनानि विधानतः।

स्थापयेत् तत् पदाम्भोजे तदा वर्णादि चिन्तयेत्॥

क्षकारादि अकारान्तं प्रतिलोमेन देशिकः।

संहारचक्रं समुद्दिष्टं सर्वतन्त्र समन्वितम्॥

षट्चक्रं चिन्तयेद्देहे विधिनानेन देशिकः।

मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतम्॥

आज्ञा विशुद्धं शुद्धाख्यं क्रमेणैव स्वदेहके।

सहस्रारं महापद्मं विशुद्धाख्यं प्रकीर्तितम्॥

मूलाधारं तथोपस्तं नाभिदेशं ततः परम्।
हृदयं कण्ठदेशञ्च भ्रूयुग्मं तदनन्तरम्॥

सहस्रारान्तकं प्रोक्तं सप्तचक्रं सदेहके।
डाकिनी हाकिनी चैव राकिनी लाकीनि तथा॥

काकिनी शाकिनी चैव षट्चक्रस्य च देवताः।
हाकिनी देवता प्रोक्ता सहस्रारे सुरेश्वरी॥

पत्रवर्णात्मकं तत्र क्रमेण चिन्तयेद्धिया।
चतुःपत्रं मूलाधारं वादिसान्तं महेश्वरी॥

वादिलान्तञ्च षट्चक्रं स्वाधिष्ठानं विचिन्तयेत्।
मूलाधारं गुदे चैव स्वाधिष्ठानञ्च लिङ्गके॥

दशपत्रं डादिफान्तं नाभिदेशं विचिन्तयेत्।
मणिपूरं महाचक्रं शब्दब्रह्मविभूषितम्॥

विशुद्धं द्विदलं प्रोक्तं हक्षवर्णविभूषितम् ।
सर्ववर्णात्मकं पत्रं पद्मना परिकीर्तितम् ॥

दक्षिणावर्तयोगेन लिखनं चिन्तयेद्धिया ।
अनुलोमः सृष्टिकाले संहारे प्रतिलोमकः ॥

एवं विचिन्त्य स्वदेहं जीवात्मानं विचिन्तयेत् ।
मूलाधारे स्थितं जीवं कुण्डलीरूपसंस्थितम् ॥

बिद्युदग्निसमुद्भूतं तडित्कोटिसमप्रभम् ।
हूङ्कारेण समुच्चार्यं मूलाधारात् तदा पुनः ॥

निर्वात् इव दीसोऽपि यथा देहसमन्वितः ।
सोऽहं मन्त्रमयं देहं जीवात्मानं विचिन्तयेत् ॥

(p. 10b) ध्यानेन ध्यानयोगेन चिन्तयेच्च शनैः शनैः ।
एवं विचिन्त्य स्वदेहं प्राणायामं ततः परम् ॥

देवता च तथा जीवं समभारं विचिन्त्य च ।
अकारादिक्षकारान्तं पुरकं कुम्भ(क) रेचकम् ॥

वारत्रयं ततः कुर्यात् विधिनानेन देहिकः।
अकारादि क्षकारान्तं पुरयेदिडया शनैः॥

एवं विचिन्त्य स्वदेहं प्राणायामः ततः परम्।
कादिमास्तैः कुम्भयेच्च सुषुम्नायां विधानतः॥

पिङ्गलायां रेचयेच्च यादिफान्तैः शनैः।
प्राणायाममिदं प्रोक्तं सर्वतन्त्रसमन्वितम्॥

त्रिः पठेदायतः प्राणः प्राणायामः प्रकीर्तितः।
कुम्भयित्वा समातृका मातृका चानुलोमतः॥

पञ्चभूतं महाभूतं स्वजीवञ्च विचिन्तयेत्।
स्वजीवं गुणसंयुक्तं विन्यस्य प्राणमुच्चरेत्॥

संपुटय स्वरवर्णेन सर्वगेण हृदादिषु।
प्राणप्रतिष्ठां कूर्ध्वीत हृदये तनुसंयुतम्॥

दक्षस्य तनुसंयुक्तं कथितं मन्त्रवेदिना।

आननं बिन्दुसंयुक्तं अर्द्धचन्द्रविभूषितम् ॥

लज्जाबीजमिदं प्रोक्तमक्षोभ्येन सुरेश्वरि ।
ब्रह्मा बिन्दुसमायुक्तं वह्निबीजसमन्वितम् ॥

एषोदशस्वरेणाद्यं अङ्कुशं परिकीर्तितम् ।
प्राणप्रतिष्ठामन्त्रस्य देवता ब्राह्मणादयः ॥

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ऋषयः परिकीर्तिताः ।
ऋग्यजुश्चैव सामानि च्छन्दांसि च तदा भवेत् ॥

याद्याः सप्तसकारान्ता अत्रिमेत्रसमन्विताः ।
शिरोऽर्द्धदन्तसंयुक्तं हंसमन्त्रसमन्वितम् ॥

कुण्डलीं तां समानीय तेन मार्गेण साधकः ।
मूलाधारे स्थापयित्वा हंसमन्त्रं जपेद्बुधः ॥

पञ्चाशद्वर्णबीजानि बिन्दुयुक्तानि चिन्तयेत् ।
मम प्राणा इह प्राणा मम जीव इह स्थितः ॥

सर्वेन्द्रियाणि धातुनि सत्वानि परिचिन्तयेत्।
भूतानि चैव तत्वानि विचिन्त्य विधिनामुना॥

इहागत्य सुखं चिरं तिष्ठस्तु वह्निसुन्दरी।
एष प्राणमनुः प्रोक्तः सर्वतन्त्रसमन्वितः॥

नृसिंहस्य च बीजेन प्राणप्रवेशनं स्मृतम्।
तदा प्राणस्य ध्यानञ्च संम्मरेत् प्रयतः शुचिः॥

वाह्यदेवतायाः प्राणमन्त्रं दिशेच्च सुन्दरी॥ ॥

इति श्रीविश्वसारतन्त्रे देहोत्पत्तिर्नाम प्रथमः पटलः॥ १॥

द्वितीयः पटलः।

अथ योगं प्रवक्ष्यामि शृणुष्व कमलानने।
ब्रह्मणा भाषितं पूर्वे नारदाय कृते युगे॥

तत् शृणुष्व महेशानि मन्त्रमूर्तिविशुद्धये।
पञ्चभूतस्य विज्ञानं प्रधानं योगमुत्तमम्॥

तेषां गतिं विचिन्त्याथ इष्टदेवीं विचिन्तयेत्।
भूतानाञ्च गतिं वक्ष्ये स्वदेहे शृणु पार्वति॥

(p. 11) तदा तत् कालकालदासा गतिः शुभदायिनी।
योगशास्त्रं महेशानि साङ्गं मोक्षप्रदायकम्॥

जीवात्मपरमात्मनोरैक्यं सञ्चिन्तयेद्धिया।
समाधिः परमं योगं सर्वतन्त्रसमन्वितम्॥

विशुद्धं निर्मलं नित्यं सदसद्भाववर्जितम्।
मनसा वचसा चैव कायिकेन विचिन्तयेत्॥

तदेव परमं योगं शिवेन भावितं पुरा।
शुद्धं शुद्धगुणं देवं चिन्तयेत् तमहर्निशिम्॥

सदाशिवं शक्तियुक्तं सहस्रदलसस्थितम्।
मनसा भावशुद्धेन समाधौ चिन्तयेत् सदा॥

मन्त्रवर्णात्मकं देवं मन्त्रवर्णात्मिकां शिवाम्।

मनसाभ्यासयोगेन चिन्तयेत् साधकः सदा ॥

निश्चेष्टो निरहङ्कारो निर्द्वन्द्वा निस्परिग्रहः।
गो-काक-मृग-चर्चायां यदाचरति देशिकः॥

भावयेद्विधिनानेन सर्वकालेषु सर्वदा।
सर्वतत्वेषु तं देवं तां देवीं सुरपूजिताम्॥

नित्यां विशुद्धां शुद्धाद्यां सदसद्भाववर्जिताम्।
सर्वकालक्षयकरीं सर्वमन्त्रेषु संस्थिताम्॥

अस्त्रविद्यात्मिकां नित्यां नानास्वर निवासिनीम्।
न जरा मरणं तत्र चिन्तयेद्दक्षजात्मिकाम्॥

ज्योतिर्ब्रह्मात्मिकां देवीं चिन्तयेद्ध्यानयोगतः।
जित्वा दारात्मनः शत्रुन् कामक्रोधादिकं प्रिये॥

कामं क्रोधं तथा मोहं लोभहिंसादयस्तथा।
इन्द्रादयश्च तान् सर्वान् ध्यानेन विधिना मुना॥

ध्यायेन्मानसपद्मस्थां शक्तिं शिवसमन्विताम्।
नानालङ्कारसंयुक्तां नानागुणसमन्विताम्॥

षड़ुर्मयन्तदा जिह्वा चिन्तयेज्जगदम्बिकाम्।
कामादयन्तु देवेशि दुःखानि कथितानि ते॥

योगाष्टाङ्गैरिमां जित्वा योगिनो युगमाप्नुयात्।
अपश्यदात्मनो देहे सहस्रारे शिवं स्मरेत्॥

तदेवं पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्।
एवं चिन्तयित्वाथ समाधिं योगमभ्यसेत्॥

दाहशक्तिं यथाङ्गारे आश्रयं वाप्य तिष्ठति।
यमाद्यागमसस्पद्मे स एव श्रीसदाशिवं॥

तस्य चाङ्गविभागेन शास्त्रमेतत् प्रकीर्त्यते।
यमं नियममासनं प्राणायामस्तत परम्॥

प्रत्याहारं धारणञ्च ध्यानञ्चैव समाधिकम्।
अष्टाङ्गयोगमित्युक्तं सर्वतन्त्रसमन्वितम्॥

अहिंसा सत्यमन्तयं ब्रह्मचर्यकृपार्जवम्।

क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचञ्च दमनं तथा॥

एते यमा महेशानि सर्वतन्त्रसमन्विताः।

तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानं देवस्य पूजनम्॥

सिद्धान्तश्रवणं नित्यं ह्रीर्मतिश्च जपो हृदम्।

दशैते नियमाः प्रोक्ताः सरतन्त्रसमन्विताः॥

पद्मासनं स्वस्तिकाख्यं तथा।

बीरासनमिदं प्रोक्तं पञ्चकं क्रमतः सुधीः॥

उर्वो भद्रवज्रासनं रुपरि विन्यस्य सम्यक् पादयुगं प्रिये।

अङ्गुष्ठौ च निबद्धयात् व्युत्प्रमेणैव पृष्ठके॥

पद्मासनमिदं प्रोक्तं सर्वतन्त्रसमन्वितम्।

(p. 11b) जानुनोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले पुनः॥

ऋजुकायो विशेद्योगी स्वस्तिकासनमीरितम्।

सीमान्याः पार्श्वयोर्न्यसेद् गुल्फयुग्मं सुनिश्चितम् ॥

वृषाधः पार्श्वपादौ तु पाणिभ्यां परिलाञ्छयेत् ।
भद्रासनमिदं प्रोक्तं योगिनां हृदयङ्गमम् ॥

उर्वाः पादौ क्रमान्नस्य जान्वोः प्रत्यङ्मूखेऽङ्गुली ।
करौ निदध्याद्देवेशि वज्रासनमुदाहृतम् ॥

एक्पादमधः कृत्वा विन्यस्योरौतथेतरम् ।
ऋजुकायो विशेद्योगी वीरासनमुदाहृतम् ॥

आसनानि वहुन्येव सन्ति वेदेषु पार्वति ।
सर्वेषां श्रेष्ठमित्व्युक्तं स्वस्तिकाख्यं सुखावहम् ॥

इडया पुरयेड्वायुं यं जप्त्वा षोडशमात्रया ।
धारयेच्च सुषुम्नायां चतुःषष्ट्या तु तं स्मृतम् ॥

पिङ्गलायां त्यजेद्वायुं द्वात्रिंशत्तेन मात्रया ।
भूतशुद्धयात्मकं प्राहूः सर्वतन्त्रविदो जनाः ॥

रंमन्त्रंअ प्रितलोमेन पूरककुम्भकरेचकम् ।
तेनैव विधिना कृत्वा ठंमन्त्रं प्रज्पेत् ततः ॥

तेनैव विधिना जप्त्वा पापे भष्मनि संत्यजेत् ।
लंमन्त्रे चिन्तयेद्देहं पञ्चाशद्वर्णसंयुतम् ॥

धराबीजेन तं देहं दृढीकृत्य स्वयं ततः ।
मात्रावृद्धिक्रमेणैव जपेद् द्वादश षोडश ॥

जपेन्न्यासादिकं कृत्वा सर्वसिद्धिं लभेन्नरः ।
क्रमादभ्यसतस्तस्य न्वोदगमा * * * धमः ॥

मध्यमं कल्पसंयुक्तो भूमित्यागं ततः परम् ।
उत्तमस्य गुणावाप्तिर्यावत् शीलनमीष्यते ॥

इन्द्रियाणां विचरतं विषयेषु द्विधा कृताम् ।
वलादाहरणं तेभ्यः प्रत्याहारः समहृतः ॥

अङ्गुष्ठगुलफजानुरुर्मनसि लिङ्गनाभिषु ।
हृच्छिरः कण्ठदेशेषु लम्बिकायास्तथ नसि ॥

भ्रूमध्ये मस्तके मूर्द्धिर्न द्वादशान्ते तथा विधिः।
धारणं प्राणमरुतो धारणा परिकीर्तिता॥

समाहितेन मनसा चैतस्यान्तरवर्तिना।
आत्मन्यभीष्ठदेवानां ध्यानं ध्यानविदो विदुः॥

समत्वभावनानित्यं जीवात्मपरमत्मानोः।
समाधिः कथितो देवि सर्वतन्त्रसमन्वितः॥

ध * * * वत्यङ्गुलायां शरीरमुभयात्मकम्।
गुदधवान्ते तु * स्कन्धमुत्सेधं द्वाङ्गुलं विदुः॥

तस्य द्विगुणविस्तारं वृत्ताकारेण संस्थिताम्।
नाडयन्तत्र समुद्भूता मुख्यान्तिस्त्रः समीरिताः॥

इडा वामे स्थिता नाडी चित्र सा योगिनां शुभा।
ब्रह्मरन्ध्रं विदुस्तस्यां पद्मसुत्रनिभं प्रिये॥

आधारञ्च विदुस्तत्र सर्वतन्त्रसमन्वितम्।

दिव्यमग्निर्मिदं प्राहरमृतानन्दलक्षणम् ॥

इडायां चिन्तयेच्चन्द्रं पिङ्गलायां दिवाकरम् ।
सुषुम्नायान्तु देवेशि तावुभौ चिन्तयेत् तनौ ॥

अग्निसोमात्मिका नाडी सुषुम्ना तन्त्रसम्मता ।
आधारपद्ममध्यह्वं? त्रिकोणमतिसुन्दरम् ॥

ज्योतिषां निलयं तच्च कथितं पद्मयोनिना ।
तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता ॥

परिष्कृरति देहेऽस्मिन् सुप्ताहिसदृशाकृतिः ।
(p. 12) विभर्ति कुण्डली देहमात्मानं हंसमन्त्रतः ॥

हङ्कारवर्णसम्भूता कुण्डली कुलनायिका ।
गमनागमने मन्त्रं हङ्कारं लङ्करेण च ॥

कथितं बीजमन्त्रस्य कुण्डस्यास्तत्र सम्मतम् ।
हंसप्राणाश्रयो नित्यं प्राणनाडी पथाश्रयं ॥

आधाराद्वहते वायुर्यथावत् सर्वदेहिनाम् ।
देहं प्राप्य सुनाडीभिः प्रयाणं कुरुते वहिः ॥

द्वादशङ्गुलमात्रेण प्राणस्य पुरुषस्ततः ।
वायुरूपेण जीवोऽसौ सर्वज्ञो व्यापकः स्मृतः ॥

मुलाधारात् सहस्रारं व्याप्य तिष्ठति कुण्डली ।
सुषुम्ना मध्यदेहे च सुक्ष्मात् सुक्ष्मस्वरूपिणी ॥

वायुस्वरूपा सहिता वायुमास्थाय तिष्ठति ।
आयाति याति सततं कुण्डली परदेवता ॥

रम्ये मृद्वासने पुण्ये पटाजिनकुशोत्तरे ।
स्वस्तिकासनमास्थाय योगमार्गपरो भवेत् ॥

ज्ञात्वा भूतोदयं देहे यथावत् प्राणवायुना ।
शक्तिरूपां ध्यायेद्वामे पार्श्वे नाभौ सदा प्रिये ॥

पिङ्गलाया महेशानि शम्भुरूपं दिवाकरम् ।
चन्द्ररूपां वामनाड्यां शिवानीं चिन्तयेद्धिया ॥

भूतात्मके तु देहेऽस्मिन् सर्वभूतोदयं शृणु।
चिन्तयेद्वायुनानेन सर्वसिद्धाप्तये सुधीः॥

किं राज्यैरसदालापैर्षत्रायुर्वायतामियात्।
श्वाससंहरणान्नाड्या गतिं तेषां विचिन्तयेत्॥

ध्यात्वात्मकमिदं देहं पोषयेच्छम्बुगेहिनी।
दण्डाकारगतिर्भूमेस्तोस्वस्य पु* कामता॥

ऊर्द्धगतिः पावकस्य वायोतिर्यक् गतिः स्मृता।
गतिर्व्योम्नोर्भवेन्मध्या सर्वतन्त्रसमन्विता॥

ध्यात्वात्मकमिदं देहं पोषयेद्वायुरूपिणी।
त्वचि स्थिता महामावा असृक् स्थिता शिवा शुभा॥

तथा मांस स्थितां देवी तथा मेदं स्थिता सती।
अस्थि स्थिता शिवपत्नी सा मज्जारां शम्भुसुन्दरी॥

शुक्रस्था वायुरूपा च तथा प्राणात्मिका स्मृता।

जीवप्रापात्मिका नित्या सर्वक्षेत्रेषु संस्थिता ॥

मारणादिं प्रकूर्वीत भूतानामुदये सुधीः ।
विचिन्त्य चात्मानो देहे गतिस्तस्य प्रिये सदा ॥

वरणेरुदये कुर्यात् स्तम्भनं सर्वसम्मतम् ।
शान्तिकं पौष्टिकं तोयस्य समये प्रिये ॥

मारणं कुरुते शत्रोरग्नेरुदययोगतः ।
वायोस्तु उदये कुर्यात् स्तम्भनं सर्वसम्मतम् ॥

अथ उच्चाटनं कुर्यात् सर्वतन्त्रसमन्वितम् ।
क्षेत्रादिनाशनं कुर्यात् आकाशस्योदये सुधीः ॥

आसुर्योदयमारभ्य यावद्वै घटिकाद्वयम् ।
एवं क्रमेण विज्ञाय षट्कर्मषु विचिन्तयेत् ॥

आधाय वायुनक्षत्रं योगमेवं विचिन्तयेत् ।
मारुतं चिन्तयेद्देहे ध्यानयोगेन देहिकः ॥

ध्यात्वा वायुं स्वदेहे तु चिन्तयेत् परदेवताम्।
नादः संजायते क्षेत्रे वायुना परमेश्वरि॥

मत्तभृङ्गसमश्चादौ तथा वंशीधवनिं श्रुतः।
तदा घण्टास्वनो जातस्तदा मेघस्वनन्ततः।

(p. 12b) एवमभ्यसतस्तस्य नास्ति शोकादिदोषजम्।
भयं तस्य भवेत् सिद्धिः सर्वसिद्धिरनुत्तमा॥

नादो भवेत् ततो बिन्दुश्चन्द्रसुर्यात्मकः स्मृतः।
बिन्दुं नादात्मकं केचिद्वदन्ति मुनिमत्तमाः॥

बिन्दुनादात्मकं सर्वं चराचरमिदं जगत्।
बिन्दुः पुमान् भवेन्नादः स्त्रीरूपः सर्वसम्मतः॥

जगतां कारणं नादः कथितः पद्मयोनिना।
बिना मैथुनधर्मेण न सिद्धिः स्यात् कथञ्चन॥

हंसौ तत्र समुद्भूतौ पुंस्त्रियौ तन्त्रसम्मतौ।
हंमन्त्रे पुरुषः प्रोक्तः सकारः प्रकृतिः स्मृता॥

तविमौ सकलं विश्वं व्याप्तौ तत् कुण्डकेन च।
तदा तद्भावमाप्नोति तदा सोऽहमिति स्मृतः॥

स एव परमं ब्रह्म कुटस्थो जगदङ्कुरः।
सर्वे देवास्तथावेदा दिग्वाताद्यादरन्तथा॥

त्रुट्यादिकालकल्पाश्च तत्तद्देवस्तदात्मकः।
यस्मिंश्च प्रणयं यान्ति विनाशं जगदीश्वरि॥

यस्मिन् सृष्टिः सदोद्भूतिर्यस्मिन्नद्यापि जायते।
स एवं परमं ब्रह्मसोऽहस्तावेन जायते॥

सहवर्णो बिन्दुपाथसक्तिवर्णं दिशेस्मुदा।
प्रणवं सर्वतन्त्रेषु कथितं पद्मयोनिना॥

परानन्दमयं ब्रह्म शब्दब्रह्मविभूषितम्।
आत्मनो देहमध्ये तु सर्वतन्त्रात्मकं प्रिये॥

चिन्तयेद्विधिनानेन ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम्।

जगतां कारणं प्रोक्तं वेदमन्त्रस्य कारणम् ॥

गायत्री प्रणवश्चैव सर्वतन्त्रेष्वयं विधिः ।
गायत्री प्रणवस्याथ मन्त्रार्थं ब्रह्मणा पुरा ॥

चतुर्वेदेषु शास्त्रेषु न निष्ठातः पुरोगतः ।
समाधियोगमेतद्धि कथितं पद्मयोनिना ॥

समाधौ चिन्तयेद्देवीं भूतशुद्ध्यादिकं दिशेत् ।
न्यासजालं विधायाथ समाधौ पूजयेत् सदा ॥

समाधौ यादृशं कुर्यात् पूजनं जलतर्पणम् ।
वाह्ये तु तादृशं कुर्यात् शङ्करेण च भाषितम् ॥ ॥

अतः परं कर्मयोगं वक्ष्यामि शृणु शङ्करि ।
आश्रमं विविधं तत्र कथितं पद्मयोनिना ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः सर्वतन्त्राधिकारिणः ।
कर्माधिकारिणस्ते तु सर्व तन्त्राधिकारिणः ॥

तत्प्रसादाद्भवेन्मुक्तिः संसारभवबन्धनात्॥ ८६ ॥

इति निश्वासकारिकायां दीक्षोत्तरे तन्त्रावतारः चतुर्थः पटलः।

देवी -

भगवन् श्रोतुमिच्छामि किञ्चित्कौतूहलान्विता।

तत्वमाचक्ष्व देवेश यदि स्याद्वरदो मम॥ १॥

बिन्दुनादं तथा शक्तिनाडीत्रयमिदं शुभम्।

यत्र तत्वञ्च देवेश उत्क्रान्तिसिद्धिसाधनम्॥ २॥

पृ। ८३८)

एकादशविधञ्चैव नवात्मे सर्वमाश्रितम्।

तेन सर्वमिदं कार्यं तेन सर्वमिदं ततम्॥ ३॥

दृश्यते च कथं बिन्दुः कतिरक्षरयोजितः।

कस्मिन् कस्मिन् प्रदेशे तु द्रष्टव्यं बिन्दुमीश्वरम्॥ ४॥

करण एव कथं तस्य येन दृश्यते तत्वतः।

नादश्चैव तथा शक्तिः हृल्लक्षस्य च दर्शनम् ॥ ५ ॥

सर्वमेतद्यथा न्यायं कथयस्व प्रसादतः ।

ईश्वरः -

शृणु देवि परं गुह्यं रहस्यमिदमुत्तमम् ॥ ६ ॥

तदहं संप्रवक्ष्यामि साधकानां हितावहम् ।

पृ। ८३९)

नवात्मकेन सर्वेशि यथा भवति तच्छृणु ॥ ७ ॥

वर्णाष्टकं धृवं देवि बिन्दुव्यापक उच्यते ।
नादं तस्य शिखा प्रोक्ता शक्तिस्तु परमं स्थिता ॥ ८ ॥

एकादश पदार्थन्तु कारणं परमस्ति च ।
गुरुवक्राच्च लभ्येत यथा तेनैव चोदितः ॥ ९ ॥

अकार उकार भेदेन मकारेण तथैव च ।

यथा कर्माणि कुरुते कथयामि तवाखिलम् ॥ १० ॥

सर्वज्ञानपरं सूक्ष्मं सर्वज्ञानं सुदुर्लभम् ।
अनादिपरमं ज्ञानं अनादि परमव्ययम् ॥ ११ ॥

बिन्दुनादं तथा शक्तिं सूक्ष्मं परमव्ययम् ।

पृ। ८४०)

यथा प्राप्स्यसि तन्नादं बिन्दुश्च भुवि दुर्लभम् ॥ १२ ॥

न मया कस्यचित्ख्यातं तत्ते वक्ष्यामि सुव्रते ।
भ्रुवोर्मध्ये समाख्यातं देवदेवं महेश्वर ॥ १३ ॥

शुद्धस्फटिकसङ्काशं सर्वतत्वप्रकाशकम् ।
वर्जितं दर्शतत्वैश्च दर्शतत्वप्रकाशकम् ॥ १४ ॥

दृश्यते च तदा तेजो ज्वलन्तं स्वेन तेजसा ।
दीपौ तस्य समाख्यातौ उभौ तौ शशि भास्करौ ॥ १५ ॥

अवस्था स्थिता चेताख्यातयन्तौ सन्ततः।
इडा दृश्यति वामेन सुषुम्ना दक्षिणेन तु॥ १६॥

ताभ्यां मध्ये परं स्थानं यत्र बिन्दुर्व्यवस्थितः।

पृ। ८४१)

घटमध्ये यथा दीपः तद्घटं वै प्रकाशते॥ १७॥

उपदेशविहीनस्तु परं तत्वं न दृश्यते।
यथादर्शो मलैर्ग्रस्तः प्रतिबिंबं न दृश्यते॥ १८॥

तद्वद्योगविहीनस्य प्रत्यक्षं न च दृश्यते।
उभयोरपि पाणिभ्यां धारसंस्थाप्य बुद्धिमान्॥ १९॥

उपदेशसमायोगात् दृश्यते बिन्दुरीश्वरः।
नासा श्रोत्रं तथा चक्षुः उभयोरपिच्छादयेत्॥ २०॥

षड् द्वाराणि च संस्थाप्य पश्यते बिन्दुमीश्वरम्।
छादनात् त्यज्यते बिन्दुः शुद्धस्फटिकनिर्मलः॥ २१॥

विधुं निर्मलं बिन्दुं स बिन्दुं तेजसान्वितम्।

पृ। ८४२)

शब्दनादविनिर्मुक्तं ध्यातव्यं परमं शिवम्॥ २२॥

बिन्दुलीनमनः कृत्वा ध्यायेद्बिन्दुसुयन्त्रितः।
यथा सर्वगतो वायुं पीठस्थो न च दृश्यते॥ २३॥

एवं सर्वगतो बिन्दुः योगहीनो न दृश्यते।
अरणिस्थो यथा वह्निः विद्यमानो न दृश्यते॥ २४॥

योगहीनस्तथा बिन्दुः न तु दृश्यति सुन्दरि।
संयोगेन तथा बिन्दुः प्रत्यक्षो दृश्यते तदा॥ २५॥

सर्पिः क्षीरे यथाव्यक्तं विद्यमानं न दृश्यते।
तद्वत् सर्वगतो बिन्दुः योगहीनो न दृश्यते॥ २६॥

यथा सर्पि च अग्निश्च प्रयोगेण तु सुन्दरि।

पृ। ८४३)

प्राप्यते च तथा बिन्दुः योगिनाञ्च महात्मनाम्॥ २७॥

तोयकान्तो मणिर्यद्वत् प्रक्षिप्तोपि महाह्रदे।
प्रकाशयति तत्तोयं आत्मक्रीडेन तेजसा॥ २८॥

उद्धृतेन मणिर्यद्वत् जलमग्नौ प्रकाशके।
तद्वद्योगविहीनस्य बिन्दुश्चैव न दृश्यते॥ २९॥

ध्यानात्सा जायते बिन्दुः संयोगाद्दृश्यते पुनः।
ध्यानं योगं समाख्याय पश्यते बिन्दुमीश्वरम्॥ ३०॥

योगिनां प्रत्ययो बिन्दुः प्रत्ययात्प्राप्यते परम्।
परत्वादपरं नास्ति नित्ययुक्तं सदा भवेत्॥ ३१॥

कारणेन तु संप्राप्तिः प्रयोगाच्चैव सुन्दरि।

पृ। ८४४)

कथितं स रहस्यन्तु ज्ञातव्यं योगिभिस्सदा ॥ ३२ ॥

दृष्ट्वा बिन्दुर्ज्वलन्तं तु नेत्र मध्ये व्यवस्थितः ।
विज्ञेया च सदा देवि शिखा तस्यैव मध्यतः ॥ ३३ ॥

दृश्यते तत्परं सूक्ष्मं बिन्दुकोटिसमप्रभम् ।
तल्लयस्सततं योगी लक्षयेत्सुसमाहितः ॥ ३४ ॥

शृणुष्वावहिता देवि नादञ्च बिन्दुदुर्लभम् ।
नव तत्वानि देवेशि यान्युक्तानि नवात्मके ॥ ३५ ॥

तेषां मध्ये यकाराद्याः सप्तबीजाः समाहिताः ।
आदिहुङ्कारसंयुक्तः सप्तैते भुविदुर्लभाः ॥ ३६ ॥

फट्कारेण समायुक्ताः सद्योद्भ्रमण विश्रुताः ।

पृ। ८४५)

सद्यस्सङ्क्रामणन्त्येते एकमेव नियोजिताः ॥ ३७ ॥

षष्ठञ्च यत्परं बीजं वर्गान्ते च व्यवस्थितः।

हाकाररूपसंयोगात् चिन्त्यमानस्तु सोत्क्रमात्॥ ३८॥

एवमन्ये समाख्याताः पञ्चबीजं समासतः।

अकारादिमकारान्ता मकारोकारयोजिताः॥ ३९॥

सद्योत्क्रामकराह्येते कथितास्तव शोभने।

एतास्सप्तसमाख्याताः क्षुरिकाः प्राणहारिकाः॥ ४०॥

लक्षञ्जपेन्न सन्देहः सत्यं देवि वदाम्यहम्।

सप्तानान्तु समाख्यातमष्ट ओङ्कार उच्यते॥ ४१॥

हुंफट्कारसमायुक्ताः सद्य उत्क्रामयेत्प्रभुः।

प्। ८४६)

ओङ्कारं सर्वदेवत्यं सर्वव्यापी परश्शिवः॥ ४२॥

त्र्यक्षरञ्च त्रिदेवत्यं त्रिमात्राद्यधिकं तथा।

तत्र चोत्पद्यते शंभुः शब्दातीतस्तु निष्कलः॥ ४३॥

परस्सूक्ष्मतरो देवः सर्वपाशविमोचकः।
नानामार्गस्थितो व्यापी सर्वलोकस्य दुर्लभः॥ ४४॥

त्रीणि स्थानानि देहेस्मिन् यत्र नादो व्यवस्थितः।
हृदये चैव कर्णे च भ्रुवोर्मध्ये तथैव च॥ ४५॥

यत्र सूत्राकृतिः सूक्ष्मं शुद्धस्फटिकसप्रभम्।
तुर्यद्वारमिति प्रोक्तं देवयानमिति स्मृतम्॥ ४६॥

मार्गत्रयमिति प्रोक्तं नाडीत्रयमिति स्मृतम्।

पृ। ८४७)

देवतानां त्रयञ्चैव शक्तित्रयमिति स्मृतम्॥ ४७॥

फलत्रयमिति ख्यातं देहेस्मिन् परमेश्वरि।
सर्वगः सर्वतो व्यापी सर्वमापूर्यतिष्ठति॥ ४८॥

अकारं हृदि मध्ये तु जागर्तीत्यवस्थितः।

पद्मस्य कर्णिकामध्ये ब्रह्मा तत्र व्यवस्थितः ॥ ४९ ॥

उकारं कर्णमाश्रित्य ब्रह्मस्थानं तदुच्यते ।
तालुजिह्वमिति ख्यातं द्वितीयं स्थानमुच्यते ॥ ५० ॥

अकारन्नेत्रमाध्ये तु सुषुप्तपदमुच्यते ।
लवं कस्य तु तत्स्थानं कथितं तव शोभने ॥ ५१ ॥

अर्धमात्रपदे तस्य तुर्यब्रह्मपदे स्थितः ।

पृ। ८४८)

मूर्ध्नि स्थानं परं सूक्ष्मं मोक्षमार्गप्रदायकम् ॥ ५२ ॥

तुर्यातीतं परं देवि सुसूक्ष्मपदमव्ययम् ।
तं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुः भवेत्संसारबन्धनात् ॥ ५३ ॥

तुर्यातीतमिति प्रोक्तं यत्र गत्वा न शोचति ।
एवं व्याप्तमिदं सर्वं वाङ्मयं स चराचरम् ॥ ५४ ॥

एतेषां नादमध्ये तु शिवं तत्र व्यवस्थितः।

हृदयं देहमध्ये तु तत्र पद्मं व्यवस्थितम्॥ ५५॥

कर्णिकापद्ममध्ये तु अकारं तस्य मध्यतः।

तस्य मध्ये विनिष्क्रान्तं नादं परमदुर्लभम्॥ ५६॥

उकारञ्च मकारञ्च भित्वा नादो विनिर्गतः।

पृ। ८४९)

तुर्यद्वारविनिष्क्रान्तं द्वयन्तस्य विचिन्तयेत्॥ ५७॥

अकारे तु समुत्थाय ब्रह्मद्वारसमुद्गतम्।

एष शब्दस्समाख्यातो मोक्षमार्गप्रदायकम्॥ ५८॥

एतद्ध्यानवरं दिव्यं सेवितव्यं प्रयत्नतः।

ध्यानेन तु किमन्येन तपसोग्रेण वा पुनः॥ ५९॥

किं तीर्थगमनैर्वापि ध्यानैर्वापि सुपुष्कलैः।

विदन्ते नादसद्भावे बिन्दुदेवे च शोभने॥ ६०॥

यद्येकं विदितं नादं सूक्ष्ममेकं परापरम्।
अथापि दीपदेहस्तु आकाशे तु यथा शिवा॥ ६१॥

लीना सर्वगता तद्वत् न दृश्यति चांबरम्।

प्। ८५०)

एवं सूक्ष्माति सूक्ष्मस्य नादतत्वस्य निर्णयः॥ ६२॥

एष नादः समुद्दिष्टः सर्वतन्त्रेषु चोत्तमः।
सूर्यरश्मिसहस्राभा मध्ये नाडी प्रकीर्तिता॥ ६३॥

सहिता सर्वतत्वैश्च शक्तिना सह संयुता।
सा नाडी सर्वशब्दानां तत्वानाञ्चैव शोभने॥ ६४॥

सङ्गृह्य समुदायेन शिवतत्वे तु लीयते।
सूक्ष्मा च सर्वगा चैव ज्ञात्वा ज्ञानी विमुच्यते॥ ६५॥

हित्वा सूर्यञ्च सोमञ्च सर्वगः स शिवो भवेत्।
* * * * * * * * * * * * ?

तु लीयते ॥ ६६ ॥

* * * * * * ? सा तु नादं तस्यां तु लीयते ।

पृ। ८५१)

सूर्यमण्डलमध्ये तु अकारस्तु व्यवस्थितः ॥ ६७ ॥

तत्र चोत्पद्यते शब्दो विश्रमेच्छशिमण्डले ।

स्वयं विष्णुस्समुत् * * * * * * * * *

* ? ॥ ६८ ॥

* * * * ? परं स्थानं वह्निमण्डलमुत्तमम् ।

मकारेति च विख्यातो भित्वा नादो लयं स्थितः ॥ ६९ ॥

पिङ्गलामार्गमापन्ना तुर्यद्वारेति विश्रुता ।

अर्धमात्रा तु * * * * * * * * * *

* ? ॥ ७० ॥

ध्यायेत्तु परमं नादं तुर्यद्वारेण योगवित् ।

लयं तस्य तु देवेशे यत्रासौ परमश्शिवः॥ ७१॥

तदेव निष्कलं तत्वं चिन्त्यते मोक्षवादिभिः।

पृ। ८५२)

* * * * * * * ? न्ते शिवतत्वविदो जनाः॥ ७२

॥

देव्युवाच -

मण्डलानाञ्च देवानां तत्वानाञ्च महेश्वर।
हृल्लक्षः परमो ज्ञेयो योगिनाञ्च तथैव हि॥ ७३॥

तस्मिन् प्रवर्तते सिद्धिः योगञ्च भु * * * * ?।
* * * * * * * * * * * *
* ? मर्हसि॥ ७४॥

ईश्वरः -

सबीजनिर्बीजविभागेन नवमात्मा परिकीर्तितः।

ह्यसह्यसविभागेन नानासिद्धिफलप्रदा ॥ ७५ ॥

षडक्षरपरञ्चैव पञ्चाक्षरपरं शुभम्।

पृ। ८५३)

चतुरक्षरं विजानीयात् * * * * * * * ? ॥ ७६ ॥

* * * * * ? देवेश अङ्गानि कथितानि तु।
संपूर्णः शिव इत्युक्तः स एव परमेश्वरि ॥ ७७ ॥

एकैकहृसिता ये तु बिन्दुरुकारयोजिता।
हृदयादि समुद्दिष्टा ज्ञातव्यास्तु वरानने ॥ ७८ ॥

* * * * ? एते सर्वे उद्य उत्क्रमणा स्मृताः।
हृल्लक्षदर्शनं देवि अचिरादेव जायते ॥ ७९ ॥

इदमन्यत्परं देवि कथिताम्यनु * * * ?।
* * * * * * * * * * * ?
श्च तथैव च ॥ ८० ॥

यकार उकारसंयुक्तं वर्णत्रयविवर्जितम्।

पृ। ८५४)

ध्यायमानो वरारोहे बीजदीपेन बोधितः॥ ८१॥

सप्तरात्रेण पश्येत हृल्लक्षं परमेश्वरि।

विष्णुलिङ्गानि सङ्का * * * * * * * * *

? ॥ ८२॥

* * * * * ? ते योगी पीतनीलान्यनेकशः।

कृष्णशुक्लांस्तथा चान्यान् पश्यते रक्तवर्णकान्॥ ८३॥

निजैर्दीपितहृल्लक्षं संहरेत्सप्तमेहनि।

ज्वलते हृदि पद्मे तु निजदीपसुबो * * ?॥ ८४॥

* * * * * * * * * * * * ?

स पश्यति।

ज्वलते दीप्तवद्देवि हृदयं निजदीपितम्॥ ८५॥

हृल्लक्षमेवं विख्यातं ज्ञातव्यं योगिभिस्सदा।

पृ। ८५५)

नाभेरूर्ध्वं वितन्तुकम् * * * * * * * *

? ॥ ८६ ॥

* * * * * * * * * * * *

* * * * ? ।

कर्णिकापद्ममध्ये तु बिन्दुस्तस्यैव मध्यतः।

ज्वलते भगवान् बिन्दुः दीपस्योर्ध्वशिखोपमः॥ ८७ ॥

हृदयं षडक्षरं प्राप्तं बीजं परमदुर्लभम्।

* * * * * * * * * * * ? त्तो

यथा कविः॥ ८८ ॥

एवमन्येपि ये प्रोक्ता वेदितव्या हितैषिभिः।

कथितं ते महाज्ञानं सर्वज्ञानेषु चोत्तमम्॥ ८९ ॥

इदं तत्परमं * * * * * * * * *

* ? ।

सुवर्णेन सहैकत्वं गच्छते नात्र संशयः ॥ ९० ॥

पृ। ८५६)

ज्ञानसिद्धिस्तथा देवि पशुर्याति परं पदम्।
शिवेन च सहैकत्वं गच्छते * * * * * ? ॥ ९१ ॥

* * * * ? दशाहाद्वा पश्यते नात्र संशयः।
दशाहान्नपरं लङ्घेत् पश्यते नात्र संशयः ॥ ९२ ॥

एतल्लक्षपरं दिव्यं सेवितव्यं प्रयत्नतः।
हिताय स * * * * * * * ? तव शोभने ॥ ९३ ॥

नवशक्तिसमायुक्तं धर्मज्ञानसमन्वितम्।
आसनं कल्प्य देवेशि तत्र न्यासन्तु कारयेत्॥ ९४ ॥

पूजयेत्सकलं देवि पञ्चब्रह्म समन्वितम्।
एकनावरणेनैव पूजनीयो महेश्वरः ॥ ९५ ॥

पृ। ८५७)

सर्वसिद्धिकरो देवः पूज्यमानो दिने दिने।

एवं पूज्य यथा न्यायं जपेध्यायेत्प्रयोगवित्॥ ९६॥

दशलक्षेण देवेशि मनसा यद्यदीप्सितम्।

तत्तत्प्राप्नोत्ययत्नेन साधको नात्र संशयः॥ ९७॥

इति निश्वासकारिकायां दीक्षोत्तरे बिन्दुनादयोगप्रकरणे पञ्चमः पटलः

-

देव्युवाच -

भगवन् श्रोतुमिच्छामि यजनञ्चानुपूर्वशः।

येन विज्ञातमात्रेण सिध्यते नात्र संशयः॥

प्। ८५८)

ईश्वरः -

प्रकृतिश्चादितः कृत्वा शिवतत्वमपश्चिमम्।

आद्यमध्ये तु ये तत्वाः कथयामि यथाक्रमम्॥ २॥

आदिवक्रं लिखेत्पद्मं केसरालं स कर्णिकम्।

सर्वसंहितसामान्यं कथितन्तु तवाखिलम्।
इति निश्वासकारिकायां दीक्षोत्तरे दशमः पटलः।
देव्युवाच -

भगवन् श्रोतुमिच्छामि मातृकाध्वानमुत्तमम्।
निस्संशयकरञ्चैव निर्वाणफलसाधनम्॥ १॥

ईश्वरः -

प्। ९६६)

शृणु देवि परं गुह्यं कथयामि तवाखिलम्।
तेन विज्ञातमात्रेण प्राप्नोति परमं पदम्॥ २॥

मातृकायान्तु होतव्यमध्वानन्तु यथाक्रमम्।
षकारं शतरुद्रे तु दशधा परिकल्पयेत्॥ ३॥

पञ्चाष्टके शकारन्तु वकारो योनिरष्टके।
योगाष्टके यकारस्तु सुशिवेरं प्रभुस्मृतः॥ ४॥

पङ्क्तित्रये यकारस्तु मकारं पञ्चविंशके ।
भकारस्संहितस्साध्ये बकारश्शिवसङ्करे ॥ ५ ॥

असाध्ये तु फकारो वै वकारो हरिरुद्रके ।
दशघाते नकारस्तु पञ्चशिष्ये च य स्मृतः ॥ ६ ॥

पृ। ९६७)

महादेवे दकारस्तु थकारो गोपति स्मृतः ।
शिवब्रह्मपदे तन्तु णकारो नन्दहेमके ॥ ७ ॥

ढकारस्याद्दृषिकुले महामाया दृढप्रभुः ।
वागेशान्ते ठकारस्तु टकारः प्रतिपाधिपः ॥ ८ ॥

साधुस्थाने तृकारस्तु झकारो विमले स्थितः ।
ध्यानाहारे झकारो वै विज्ञेयं साधकोत्तमैः ॥ ९ ॥

दमने फस्तु विज्ञेयं चकारश्चैव रुद्रके ।
धातारो वै दकारश्च घकारं भस्ममीश्वरे ॥ १० ॥

प्रणवाष्टगकारन्तु महविद्याष्टके च खम्।
ककारो मूर्तिरष्टासु ओष्ठान्तो रूपकं विदुः॥ ११॥

पृ। ९६८)

शक्तित्रये बिन्दुयुतं द्वे विद्ये औ तु कीर्तितम्।
ओङ्कारोप्यस्त्रमित्युक्तमैङ्कारं कवचं विदुः॥ १२॥

ए शिखा तु समाख्याता शिरं ॡकार उच्यते।
हृदयन्तु ऌ विज्ञेयं ॠ सावित्री निगद्यते॥ १३॥

गायत्री तु ऋकारन्तु धर्मादि ऊ प्रकीर्तितम्।
आसने उ इति ज्ञेयं विज्ञेयं ई ति कर्णिका॥ १४॥

इकारः शक्तिसंसक्तः आकारं पञ्चमीश्वरे।
सदाशिवं विजानीयादकारः परमश्शिवः॥ १५॥

पञ्चाशदक्षरैर्ह्येतैः अध्वानं यस्तु विन्दति।
स ज्ञानात् स शिवस्साक्षात् स योगी स शिवं विदुः॥ १६॥

पृ। ९६९)

पञ्चपञ्चभिराहुत्यैर्दशभिर्दशभिस्तथा।
विंशविंशतिभिश्चैव पञ्चविंशतिभिस्तथा॥ १७॥

पञ्चाशच्च शतश्चैव ज्ञात्वा शक्तिबलाद्बलम्।
दीक्षाकार्या तु मन्त्रज्ञः पशूनाञ्च यथेच्छया॥ १८॥

निष्कले चतुराहुत्या शून्ये चैव त्रयं पुनः।
प्रशान्तेन द्वयं दद्यात् तत्तु एकाहुतिं हुनेत्॥ १९॥

सर्वाध्वानमशेषस्य एष एव विधिस्मृतः।
एतद्रहस्यं परमं गोपितं न प्रकाशितम्॥ २०॥

दीक्षिताय प्रशान्ताय अभिषिक्ताय धीमते।
गुरुप्रियाय दातव्यं शिवभक्तिरताय च॥ २१॥

पृ। ९७०)

अन्यथा नैव दातव्यं शिवभक्तिरताय च।

अन्यथा नैव दातव्यं दीक्षाज्ञानमिदं शुभम्॥ २२॥

सर्वसंहितसामान्यं सर्वतन्त्रेषु चोत्तमम्।
विदित्वा ज्ञानविज्ञानं मोचयेन्मुच्यतेति च॥ २३॥

विस्तरं कथितं यत्तु सकलेन तु होमयेत्।
वर्णमन्त्रपदेनैव कलया च चतुर्विधम्॥ २४॥

भुवनाध्वा कलाध्वा च तत्वाध्वा च वरानने।
ज्ञानाध्वा च पदाध्वा च वर्णाध्वा च यथा पुनः॥ २५॥

षट् प्रकारमिदं देवि अध्वानं परिकीर्तितम्।
एषामेकदशं शोध्यं देशिकेन महात्मना॥ २६॥

प्। ९७१)

पूर्णाहुतिस्तु दातव्या योजनाय परे शिवे।
वसोर्धारप्रयोगेन दातव्यं देशिकेन तु॥ २७॥

मन्त्रद्रव्यप्रयोगेन युज्यते पशु तत्पदे।

तस्मान्मन्त्रञ्च तत्वञ्च महिमानञ्च शोभने ॥ २८ ॥

देवतानां परित्यागं स्वशरीरे यथाक्रमम् ।
बिन्दुनादलयञ्चैव लयातीतं परं पदम् ॥ २९ ॥

एवं क्रमेण देवेशि योजयेत्परमं पदम् ।
अतः संक्षेपतो देवि कथयामि तवाखिलम् ॥ ३० ॥

न रजो नाधिवासञ्च न भूक्षेत्रपरिग्रहः ।
यत्र यत्र प्रदेशे तु पूजयित्वा महेश्वरम् ॥ ३१ ॥

प् । ९७२)

अध्वानं मनसा ध्यात्वा आचार्यस्तन्त्रपारगः ।
भुवनाध्वा तु यः प्रोक्तो मया तु तव सुवृते ॥ ३२ ॥

तं ध्यात्वाह्यात्मदेहे तु पशुदेशे तथैव च ।
होमयेत्तन्त्रवित्प्राज्ञः तत्वमार्गविचक्षणः ॥ ३३ ॥

आहुतीनां सहस्रन्तु अमनस्केन देशिकः ।

सहस्रेण तु युध्येत अमनस्केन शोभने ॥ ३४ ॥

भुवनाध्वैष विख्यातः शिवेन परमात्मना ।
स्रुवानुपूरणं यावत्तावत्कालं समादिशेत् ॥ ३५ ॥

अमनस्केन संयुक्तो देशिकः परमेश्वरि ।
सर्वमन्त्रमयः प्रोक्तः सर्वतत्वमयस्तथा ॥ ३६ ॥

प्। ९७३)

सर्वदेवमयश्चैव सर्वभूतमयस्सदा ।
एतं हुत्वा तु पातव्यं पूर्णाहुत्या तु शोभने ॥ ३७ ॥

अन्ते तु योजनं कृत्वा शिवसायुज्यमिच्छता ।
एवं हुत्वा महादेवि लभते शाश्वतं शिवम् ॥ ३८ ॥

सर्वदीक्षामयं सारं शोभनं गोपितं मया ।
अन्याया कथिता दीक्षा एकाहुत्या तु शुध्यति ॥ ३९ ॥

एकाहुत्यापि देवेशि नियुज्येत्परमे पदे ।

किं पुनर्बहुधा हुत्या शुध्यतेति किमद्भुतम् ॥ ४० ॥

आहुतीनां सहस्रेण शुध्यते नात्र संशयः ।
अत एवं पुनर्वक्ष्ये संक्षेपं शृणु सुव्रते ॥ ४१ ॥

पृ। ९७४)

परमाक्षरेण होतव्यं सर्वाध्वानमशेषतः ।
पूर्णाहुतिशतेनैव शुध्यते च शिवाध्वरे ॥ ४२ ॥

एवं विधेन देवेशि दीक्षा निर्वाणगामिनी ।
निष्कलेन मया ख्यातं शून्येनैव तथा पुनः ॥ ४३ ॥

प्रशान्तेन समाख्यातं तत्वेनैव तथैव च ।
अकथ्येयमिदं शुद्धं गोपनीयं प्रयत्नतः ॥ ४४ ॥

एवं वै यो न जानाति न हि मोचयते पशुम् ।
न चासौ देशिकः प्रोक्तो न च योज्यः शिवाध्वरे ॥ ४५ ॥

इति निश्वासकारिकायां दीक्षोत्तरे शिवयागपटलः एकादशः ।

तेन तुष्टेन तुष्टास्तु अशेषभुवनाधिपाः।
शिववत्पूजयेद्देवि आचार्यं तत्वपारगम्॥ १२९॥

यथाहं तादृशस्सोहि गुरुस्तत्वविशारदः।

इति निश्वासकारिकायां दीक्षोत्तरे अधिवासनः पटलः चतुर्दशः।

पृ। १०४१)

ईश्वरः -

शरीरं सर्वजन्तूनां सर्वदेवमयं स्मृतम्।
वेदितव्यं प्रयत्नेन साधकैस्तत्वचिन्तकैः॥ १॥

तत्वानि चोदितान्यादौ मया तु तव शोभने।
शरीरे तानि सर्वाणि ज्ञातव्यानि विपश्चितैः॥ २॥

इडा चैव सुषुम्ना च पिङ्गला च तथैव हि।
नासां सञ्चारयोगं वै ज्ञातव्यं तत्ववेदिभिः॥ ३॥

कलानाञ्चैव सर्वासां नाडीनां वायुभिस्सह ।
सञ्चारं ह्येष तत्वानां भोक्ता भोज्यं तथैव च ॥ ४ ॥

पृ। १०४२)

कालवेलविभागानि सङ्क्रमानि तथैव हि ।
ज्ञात्वा सर्वमशेषेण साधकस्सविधीयते ॥ ५ ॥

दक्षिणेन सुषुम्ना तु यदा वहति सुवृते ।
विज्ञेयस्स सदा तज्ज्ञो उत्तरायणमुत्तमम् ॥ ६ ॥

इडायान्तु यदा देवि तिष्ठते परमेश्वरः ।
दक्षिणायनमित्येव कथितं तव सुवृते ॥ ७ ॥

मध्यस्थन्तु यदा देवि पिङ्गलायां व्यवस्थितः ।
विषुवं स तु विज्ञेयं योगकालः प्रकीर्तितः ॥ ८ ॥

सुषुम्नायां स्थितो ब्रह्मा अकाराक्षरसंयुतः ।
आदित्यः स तु विज्ञेयो ज्येष्ठा शक्तिः प्रकीर्तिता ॥ ९ ॥

पृ। १०४३)

ज्ञानशक्तिरिति ज्ञेया सत्वस्थं तं विनिर्दिशेत्।
सांग्रत्स्थानं स विज्ञेयं दक्षिणेन व्यवस्थितः॥ १० ॥

इडायां संस्थितो विष्णुरीकाराक्षरसंयुतः।
सोमस्य तु स तु ज्ञेयो वामा शक्तिः प्रकीर्तिता॥ ११ ॥

क्रियाशक्तिः स विज्ञेयो राजसं गुणलक्षणम्।
स्वप्नस्थानं स विज्ञेयं वामतस्तु व्यवस्थितम्॥ १२ ॥

मध्यमं रुद्रमित्याहुः उकारः परिकीर्तितः।
रौद्री तन्तु विजानीयादिच्छाशक्तिः प्रकीर्तिताः॥ १३ ॥

वह्निस्थानं हि यत्प्रोक्तं सुषुप्तं परिकीर्तितम्।
तामसन्तु विजानीयात् मध्यमे तु व्यवस्थितम्॥ १४ ॥

पृ। १०४४)

त्रिकालविषयं ज्ञानमेभ्यो देवि प्रकीर्त्यते।
भूतं ब्रह्म विजानीयात् भविष्यं वैष्णवे पदे॥ १५ ॥

वर्तमानं हि रुद्रत्वे सर्वशास्त्रे प्रतिष्ठिते ।

त्रिकालमेकतो देवि बिन्दुदेवं व्यवस्थितम् ॥ १६ ॥

सार्वकालं स*? वोक्तं ज्ञानकालस्वत स्मृतः ।

तस्यातीतं भवोन्नादं देवदेवं सदाशिवम् ॥ १७ ॥

त्रिकालज्ञानसंयुक्तं ज्ञात्वा भवति साधकः ।

पञ्चधा पञ्चदेवत्यं सकलं व्याप्य संस्थितम् ॥ १८ ॥

अनन्तमादितः कृत्वा प्रधानान्ते तु सुवृते ।

ब्रह्माणमाधिपत्येन वेदितव्यं प्रयत्नतः ॥ १९ ॥

पृ। १०४५)

पौरुषमादितः कृत्वा कालतत्वमपश्चिमम् ।

ज्ञातव्यं हि तत्वज्ञैः विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ॥ २० ॥

ग्रन्थिन्तु आदितः कृत्वा विद्यातत्वमपश्चिमम् ।

विज्ञेयं तत्सदा तज्ज्ञैः रुद्रस्तत्राधिदैवतम् ॥ २१ ॥

ईश्वरमादितः कृत्वा यावत्तत्वं सदाशिवम्।
ज्ञातव्यन्तु वरारोहे ईशस्तत्राधिदैवतम्॥ २२॥

उपरिष्टाच्छिवं तत्वं तत्र देवं सदाशिवम्।
एतत्सर्वमशेषेण ज्ञातव्यं देशिकेन तु॥ २३॥

सर्वेषामेव तत्वानां शिवो व्याप्य व्यवस्थितः।
ज्ञात्वा सर्वमशेषेण आचार्यस्स विधीयते॥ २४॥

पृ। १०४६)

निवृत्तिः कथितो ब्रह्मा प्रतिष्ठा विष्णुरुच्यते।
विद्या रुद्रस्समाख्यातः शान्तिरीश्वर उच्यते॥ २५॥

शान्त्यतीतन्तु देवेशि देवदेवं सदाशिवम्।
नादस्यैव क्रमेणैव देवता कथिता मया॥ २६॥

इण्डिका दीपिका चैव रेचिका मोचिका तथा।
*? नास्तु पञ्चमो ज्ञेयो निष्कलस्तु सदाशिवः॥ २७॥

ब्रह्माणमादितः कृत्वा ज्ञातव्यानि वरानने।
सूक्ष्मान्यायेन मया प्रोक्ता देवता ते प्रकीर्तिताः॥ २८॥

एताः कलाः समाख्याताः देवता नाडयस्तथा।
ज्ञातव्यं तत्वतो देवि साधकेन महात्मना॥ २९॥

पृ। १०४७)

कलानां देवतानाञ्च व्यापयित्वा व्यवस्थितः।
सञ्चारं कुरुते देवि स तु आत्मा विजानतः॥ ३०॥

अष्टतत्वा स्मृता देवि यैर्व्याप्तमखिलं जगत्।
तस्मिंस्तैस्तु समायुक्तसञ्चरेत् परमेश्वरः॥ ३१॥

तिर्यङ्मृगनराख्येषु तत्वभावेन्द्रियेषु च।
इष्टसेत्सर्वभूतेषु तत्वैर्युक्तो न संशयः॥ ३२॥

गमागमं ततो देवि विदित्वा साधको भवेत्।
अविदित्वा न सिध्येत न च याति परं पदम्॥ ३३॥

भोज्यं भोक्ता च दाता च तत्वैर्युक्तः करोति यः।

देव्युवाच -

पृ। १०४८)

भगवन् श्रोतुमिच्छामि भोक्ता भोज्यञ्च शङ्कर॥ ३४॥

पानं पिबति कस्तत्र स्वादं गृह्णाति कः पुनः।
को वा क्षिपति गर्भे तु ग्रासं गृह्णाति कः प्रभो॥ ३५॥

रसानां विविधानान्तु विचारयति कः पुनः।
एतत्सर्वमशेषेण कथयस्व प्रसादतः॥ ३६॥

ईश्वरः -

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि समासात्साधकस्य तु।
येन विज्ञातमात्रेण अन्नदोषे न लिप्यते॥ ३७॥

दाता भोक्ता च मन्ता च सादाख्यपदमाप्नुयात् ।
अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः ॥ ३८ ॥

प्۔। १०४९)

स्थितस्सर्वशरीरेषु भुङ्क्ते चैव ददाति च ।
यो विजानाति कर्तारं भोक्ता भोज्यञ्च हे प्रिये ॥ ३९ ॥

श्वपचेष्वपि भुञ्जानो न स पापे न लिप्यते ।
तत्वानि मनसा चिन्त्य स्वशरीरे यथाक्रमम् ॥ ४० ॥

कर्णौ च चक्षुषी चैव नासायां वदने तथा ।
दक्षिणे श्रवणे चैव खमलः परिकीर्तितः ॥ ४१ ॥

वामे चैव कलाढ्यन्तु श्रवणे परिचिन्तयेत् ।
सकलं निष्कलञ्चैव नासायां परिकल्पयेत् ॥ ४२ ॥

क्षपणं क्षयमन्तञ्च चक्षुषी तौ विचिन्तयेत् ।
शून्येन पश्यते चान्नं वेदितव्यं प्रयत्नतः ॥ ४३ ॥

पृ। १०५०)

ग्रासं गृह्णाति देवेशो कण्ठोष्ठः परमेश्वरः।
ब्रह्मा च विष्णुश्श्रवणे रुद्रमीश्वरचक्षुषी॥ ४४॥

घ्राणे वक्त्रे स्थितो नित्यमुक्तिश्चैव सदाशिवः।
नासाशक्तिं विजानीयाद्वक्त्रे देवं सदाशिवम्॥ ४५॥

षण्मुख एककरणं कथितं तव शोभने।
एवं तत्वमयं ध्यात्वा शिवं परमकारणम्॥ ४६॥

शिवोहमिति सञ्चिन्त्य भुञ्जमानो न लिप्यते।
षण्मुखेनैव यागेन भुञ्जते सततं प्रभुः॥ ४७॥

त्रिविधेन प्रयोगेन सलिलं पिबते सदा।
खण्डखाद्यैश्च भुञ्जानः क्षपणे गृह्णते सदा॥ ४८॥

पृ। १०५१)

बध्यते सकलेनैव निष्कलेन तु स्वाद्विति।
ऊर्ध्वमुत्क्षिपते ग्रासन्न विद्यात्खमलं कृतम्॥ ४९॥

अन्तस्थो मुच्यते ग्राहिं नात्र कुर्याद्विचक्षणः।

शून्येनैव अन्नाद्य ग्रन्थेते सततं पुनः॥ ५०॥

भोजनश्चैव अन्नस्थो अन्नश्चैव विचारति।

लेह्यं शोष्यञ्च पेयञ्च अन्नानि विविधानि च॥ ५१॥

कण्ठोष्ठं परमेशानो वेदितव्यं प्रयत्नतः।

एवं तत्वमयं दिव्यमाचार्यच्छिन्नसंशयः॥ ५२॥

सकृद्भोजितमात्रेण कोटिर्भवति भोजितः।

अथ तत्वविदश्चैव एवं भुञ्जते प्रिये॥ ५३॥

पृ। १०५२)

परिसंख्या न विद्येत इत्याह भगवान् शिवः।

अतत्वप्रतिबुद्धस्य ज्ञानिने कोटिरुच्यते॥ ५४॥

ज्ञानितत्वविदश्चैव परिसंख्या न विद्यते।

द्विजानां वेदविदुषां कोटिं संभोज्य यत्फलम्॥ ५५॥

ज्ञानिने शान्तिचित्ताय सकृत् भुङ्क्ते तु तत्फलम् ।
भोज्यं मायात्मकं सर्वं कर्ता देवो महेश्वरः ॥ ५६ ॥

भोक्ता चैव शिवस्साक्षात् एवमेव न संशयः ।
एवं वै यो विजानाति देशिकस्तत्वपारगः ॥ ५७ ॥

तं दृष्ट्वा गृहमायान्तं क्रीडन्त्योषधयो गृहे ।
एवं भोज्यविधिं सम्यक् न तु सर्वत्र व्यापयेत् ॥ ५८ ॥

पृ। १०५३)

पुत्रस्यापि न दातव्यं ये नराः पापबुद्धयः ।
एवं वै यो विजानीयादज्ञानीचान्यथा भवेत् ॥ ५९ ॥

आभुङ्क्ते सततं देवि अन्नपाने न संशयः ।
ऊर्ध्वेन वहते प्राण आपानोधः प्रवर्तते ॥ ६० ॥

एवं ज्ञात्वा तु भोक्तव्यं मुच्यते सर्वकिल्विषैः ।
तेन भुक्तेन देवेशे दातरोऽस्य कुलानि तु ॥ ६१ ॥

मुच्यन्ते यातना क्षिप्रं सुचिरं नरकार्णवात्।

इति निश्वासकारिकायां दीक्षोत्तरे देवतातत्वभोज्यविधिः पञ्चदशः पटलः।

पृ। १०५४)

देव्युवाच -

पुर्यष्टकसमायुक्त आत्मा सर्वत्र युज्यते।
तदहं श्रोतुमिच्छामि भगवन् वक्तुमर्हसि ॥ १ ॥

सुकृते कर्मभोक्तृत्वे दुष्कृते च तथैव हि।
पुर्यष्टके यदाह्यात्मा वायुभूतो व्यवस्थितः ॥ २ ॥

विद्यमानेपि तद्देहे प्रत्यक्षेण तु दृश्यते।
श्रूयते यातना तस्य नरकेषु अनेकधा ॥ ३ ॥

स्वर्गे च विविधं भोगमणिमाद्या महेश्वर।
तनुभूतश्शरीरात्मा भोगान् भुञ्जति शङ्कर ॥ ४ ॥

सर्वाज्ञा लङ्घने चैव अन्त्येष्टि होमयेत्ततः ॥ ३७ ॥

ज्ञानविज्ञानसंपन्नः आचार्यस्तत्वपारगः ।
कालचक्रविधानज्ञः कालज्ञस्स विधीयते ॥ ३८ ॥

स वै मोचयतेजन्तु द्वारज्ञो नात्र संशयः ।

इति निश्वासकारिकायां दीक्षोत्तरे षोडशः पटलः ।

१०६२)

देव्युवाच -

भगवन् श्रोतुमिच्छामि कालचक्रमनुत्तमम् ।
कस्मात्प्रवर्तते कालः कथं कालो निगद्यते ॥ १ ॥

किमर्थं वर्तते कालः कः कालः प्रेरकस्तु कः ।
येन सञ्चोद्यमानस्तु कालः कलयते प्रभो ॥ २ ॥

कस्मिन् कस्मिन् प्रदेशे तु चरते काल ईश्वरः ।
लौकिकाध्यात्मिकश्चैव कथं विज्ञायते प्रभो ॥ ३ ॥

गृहारिक्षास्तथांशाश्च होरादेक्काणधस्तथा।
विनाविनावयश्चैव मुहूर्तानां तथैव च॥ ४॥

वायव्यो नाडयश्चैव स्वराश्चैव कलास्तथा।

पृ। १०६३)

घटिकानां समाख्या हि तत्वानाञ्च यथाक्रमम्॥ ५॥

दक्षिणोत्तरसङ्क्रान्त्यो अयनं विषुवं तथा।
लौकिकाध्यात्मिकञ्चैव कथयस्व प्रसादतः॥ ६॥

शृणु देवि परं गुह्यं यत्त्वया परिपृच्छ्छितम्।
तदहं संप्रवक्ष्यामि यत्सुरैरपि दुर्लभम्॥ ७॥

लौकिकाध्यात्मिकञ्चैव यथा वै कालसञ्चरः।
यथा वै ज्ञायते देवि लौकिकं कालमुत्तमम्॥ ८॥

आध्यात्मिकं यथा कालं कथयामि विशेषतः।

एतत्कालविधानज्ञो लभते शाश्वतं पदम् ॥ ९॥

सिध्यते नात्र सन्देहः कालज्ञस्तु महामते।

पृ। १०६४)

लौकिकाध्यात्मिकं कालं यो वेत्ति निखिलेन तु ॥ १० ॥

स कालज्ञस्मृतो देवि लौकिके ख्यातिं च गच्छति।
शुभाशुभञ्च देवेशे लोकस्यैव हिताहितम् ॥ ११ ॥

कथयेत्सर्ववृत्तान्त आश्चर्य अनेकधा।
कालचक्रं समाख्यातमादित्यात् संप्रवर्तते ॥ १२ ॥

मुहूर्ता तिथयश्चैव अहोरात्रायनानि च।
ऋतुर्मासस्तथा पक्षो गृहऋक्षाथराशयः ॥ १३ ॥

सर्वमेतन्महादेवि आदित्यात् संप्रवर्तते।
अंशास्सन्ध्यस्तथा तारा होराद्रेक्काणयस्तथा ॥ १४ ॥

उदिते भास्करे चैव सर्वमेतत्प्रवर्तते ।

पृ। १०६५)

स एष कथितः कालः लौकिकः परमेश्वरि ॥ १५ ॥

लौकिकेन तु कालेन यथा नाम व्यवस्थितम् ।
तथा ते कथयिष्यामि शृणुष्वायतलोचने ॥ १६ ॥

भास्करे उदिते चैव गृहचक्रं प्रवर्तते ।
भास्करेण समास्सर्वे राशयश्च न संशयः ॥ १७ ॥

भास्करः प्रथमः प्रोक्तः केतुरन्ते व्यवस्थितः ।
ग्रहान् पत्रेषु संस्थाप्य पूर्वादिदलसंस्थितान् ॥ १८ ॥

सोममादिक्रमेणैव केतुरन्ते वरानने ।
गृहचक्रं स्मृतो ह्येष ज्ञातव्यं कालवेदिना ॥ १९ ॥

सोमस्तु पूर्वदिग्भागे भौममाग्नेयदिग्दले ।

प्। १०६६)

रजपुत्रं न्यसेद्देवि दक्षिणे सुसमाहितः॥ २०॥

शनैश्चरन्तु नैरृत्यां विन्यसेत यथाक्रमम्।
बृहस्पतिं न्यसेन्नित्यं पश्चिमे सुसमाहितः॥ २१॥

राहुं वायव्यतस्थाप्य शुक्रमुत्तरतो न्यसेत्।
केतुमीशानस्थाप्य ततो मन्त्राः प्रकल्पयेत्॥ २२॥

ब्रह्मस्थानन्तु यत्प्रोक्तं भास्करं तत्र विन्यसेत्।
सकलं निष्कलञ्चैव शून्यतत्वं तथैव च॥ २३॥

कलाढयं खमलञ्चैव क्षपणं क्षयमन्तकम्।
कण्ठोष्ठयञ्चैव देवेशे गृहाद्येते प्रकीर्तिताः॥ २४॥

सकलञ्चादितः कृत्वा यो जप्यानि वरानने।

प्। १०६७)

पराक्षरं परं देवं ब्रह्मस्थानेन विन्यसेत्॥ २५॥

ब्रह्मस्थाने स्थितो नित्यं भास्करं सुरसुन्दरि ।

कर्णिके देवतान्यासं कर्तव्यं कालवेदिना ॥ २६ ॥

एवं गृहाणि विन्यस्य तत्र चारं समभ्यसेत् ।

सकलादिक्रमेणैव कथयामि समासतः ॥ २७ ॥

अयुते द्वे सहस्रञ्च षट्शतानि यथाक्रमम् ।

एते प्राणा स्मृता देवि विभजेत यथाक्रमम् ॥ २८ ॥

एकैकस्य तु कालज्ञस्सहस्रद्वयमेव च ।

शतानि सप्तविज्ञेयमेकैकस्य वरानने ॥ २९ ॥

गृहचारं समाख्यातं संक्षेपान्न तु विस्तरात् ।

पृ । १०६८)

पत्रे पत्रे तु संस्थाप्य गृहान् सर्वान् वरानने ॥ ३० ॥

तत्क्रमानि तथा देवि कालज्ञः प्रविचारयेत् ।

दीप्ताङ्गारिणि धूमा च स्थानत्रयमुदाहृतम्॥ ३१॥

कर्णिकास्थस्थितस्सूर्यः त्रीणि पत्राणि लोकयेत्।
आत्मना सह संयुक्तः कर्णिकास्थः प्रभु स्मृतः॥ ३२॥

पूर्वे होमं विजानीयात् सौम्यं कर्म समारभेत्।
रौद्रमाग्नेयदिग्भागे शान्तिं वै दक्षिणेन तु॥ ३३॥

नैरृत्योच्चाटनार्थाय श्रीकामः पश्चिमेन तु।
वायव्यां क्षिप्रनाशाय धनलाभाय चोत्तरे॥ ३४॥

ईशान्यां ज्ञानलाभाय कथितं कालवेदिना।

पृ। १०६९)

शान्तिके पौष्टिके चैव एवमादिक्रमेण तु॥ ३५॥

ये च रन्ध्रोपरन्ध्राश्च पत्रान्ते च व्यवस्थिताः।
अशुभमेकतः प्रोक्तं द्वितीयस्मिन् शुभं वदेत्॥ ३६॥

यद्विरोधायते देवि साधकस्य गृहोत्तमः।
तद्गृहं पूजयेन्नित्यं कर्णिकास्थं यदा बुधः॥ ३७॥

तदा सौनुग्रहं याति स गृहो नात्र संशयः।
एकैकस्य गृहो देवि होरात्राणि प्रकीर्तिताः॥ ३८॥

तत्रापि चरते ह्यात्मा कथयामि समासतः।
एकैकस्य तु होरायां शतानि नवसंख्यया॥ ३९॥

प्राणानां देवदेवेशि ज्ञातव्यं कालवेदिना।

पृ। १०७०)

एतत्ते चारमाख्यातं शिवेन परमात्मना॥ ४०॥

एतच्चारविधानज्ञः कालज्ञो नावसीदति।
गृहहोरबलेनैव वक्तव्यन्तु शुभाशुभम्॥ ४१॥

पापे पापमतिं विद्यात् शुभेन शुभमादिशेत्।
एवं बलाबलं ज्ञात्वा आत्मनस्य परस्य वा॥ ४२॥

कथनात्पुण्यमाप्नोति कालज्ञो नात्र संशयः।

देहस्थं कथितं देवि होरचारमनुत्तमम्॥ ४३॥

अतः परतरं वक्ष्ये राशिसञ्चारमुत्तमम्।

राशौ राशौ यदाह्यात्मा चरते कथयाम्यहम्॥ ४४॥

संवत्सरमयञ्चेति द्वादशारं सुशोभने।

प्।१०७१)

अकारः प्रथमो देवि मेषराशिः प्रकीर्तितः॥ ४५॥

एवमादिक्रमेणैव वेदितव्यं प्रयत्नतः।

तत्रस्थश्चरते ह्यात्मा यथावत्तन्निबोधमे॥ ४६॥

एकैकस्य तु देवेशि शतान्यष्टादश क्रमात्।

एष चारः समाख्यातः राशौ राशौ न संशयः॥ ४७॥

योगमुत्पद्यते तस्य कालयोगविदस्य तु।

यत्पत्रे पश्यते दोषं तन्मासे दोषमादिशेत् ॥ ४८ ॥

शस्त्रापातसुभिक्षञ्च दुर्भिक्षं नरकं तथा ।
क्षेममारोग्यार्थलाभं वदते कालयोगवित् ॥ ४९ ॥

राशौ राशौ पुनस्सर्वं द्रेक्काणन्तु समासतः ।

पृ । १०७२)

तद्द्रेक्काणे नवे राशौ चारं तेषां ददाम्यहम् ॥ ५० ॥

एकैकस्य तु द्रेक्काणे शतानि षट् प्रकीर्तिताः ।
एकैकोदयस्थावज्ञः सिध्यते नात्र संशयः ॥ ५१ ॥

योगमुत्पद्यते तस्य अचिरादेव योगिने ।
उत्तिष्ठे चादधाने च पादलेपेञ्जने तथा ॥ ५२ ॥

सिध्यते नात्र सन्देहः कालज्ञानविदस्य तु ।
गृहोपरागवन्मासे हृत्पद्मे तु स पश्यति ॥ ५३ ॥

चन्द्रसूर्योपरागे च सर्वं पश्यति योगिनः।
शुभाशुभन्तु द्रेक्काणैः कथयेत वरानने॥ ५४॥

अंशस्त्रयस्तु पञ्चैक एकैकस्य समासतः।

पृ। १०७३)

अंशाद्रेक्काणहोरैश्च एकैकस्य समासतः॥ ५५॥

अंशाद्रेक्काणहोरैश्च ग्रहराश्यादयो नव।
तारचन्द्रबलेनैव शुभाशुभं न संशयः॥ ५६॥

ताराचन्द्रबलेनैव शुभाशुभं न संशयः।
वदते योगिनः श्रीमान् लोकस्यैव हिताहितम्॥ ५७॥

एतेषु चरतेह्यात्मा तन्मे निगदतः शृणु।
सहस्रद्वयं विज्ञेयं शतानि चतुरेव तु॥ ५८॥

ताराणाञ्चारमाख्यातमंशानान्तु यथा शृणु।
ताराणां यावती संख्या अंशानां तावती स्मृताः॥ ५९॥

एष ते चारमाख्यातं चक्रे संवत्सरात्मिके।

पृ। १०७४)

ज्ञानेन मुच्यते देवि नात्र कार्या विचारणा॥ ६०॥

एवं वै यो न जानाति कालज्ञानीत्थं भवेत्।
आत्मा तु कथितः काल ईश्वरस्स तु कथ्यते॥ ६१॥

तेन ज्ञातेन देवेशि कालज्ञो नावसीदति।
अतः परं प्रवक्ष्यामि कालचक्रमनुत्तमम्॥ ६२॥

नाडीवायुकलैस्सार्धं स्वरैश्चरससंयुतम्।
तदहं संप्रवक्ष्यामि याथातथ्येन मे शृणु॥ ६३॥

द्वात्रिंशमंशकां कृत्वा लिखेच्चक्रं समासतः।
कला तु देवदेवेशे षोडशैव तु विन्यसेत्॥ ६४॥

पूषा यशा च सुमना प्रीतितुष्टिरिति धृतिः।

पृ। १०७५)

तथा चक्रधृतिकरी सौमरी चिच्छुभं तथा॥ ६५॥

शशिनीत्वङ्गिरा चैव छाया संपूर्णमण्डला।
दशपञ्च कला ज्ञेया अमृता चैव षोडशी॥ ६६॥

कलाह्येतास्समाख्याता नाड्यो वै शृणु सांपृतम्।
ज्वालिनी तु शमा धूम्रा कामदा विजया तथा॥ ६७॥

अमृता य हुला पक्षित्वचवाहात्यलंबुषा।
तालुजिह्वोपजिह्वा च तथा जिह्वावहा च या॥ ६८॥

बुद्धिवाहा प्राणवाहा तथा चामृतवाहिनी।
षोडशैतास्समाख्याताः मरुतादिरलङ्कृता॥ ६९॥

कृकरो देवदत्तश्च पौण्डरीको धनञ्जयः।

पृ। १०७६)

वेपथुस्संभ्रमश्चैव विभ्रमो भ्रम एव च ॥ ७० ॥

प्राणोपानसमानश्च उदानो व्यान एव च ।
ऋषयो नागकूर्मश्च षोडशैते महानिलाः ॥ ७१ ॥

अकाराद्या स्वरा देवि ते त्वया विदिताः पुरा ।
बिभज्य कथयेत्प्राणान् कलादीनां यथाक्रमम् ॥ ७२ ॥

सहस्रैकं समाख्यातमेकैकस्य वरानने ।
शतत्रयञ्च ज्ञातव्यं प्राणाः पञ्चाशदेव तु ॥ ७३ ॥

कलाध्वरं तथा वायुः नाडयश्च समासतः ।
एकोदयेन ज्ञातव्यं देशिकेन महात्मना ॥ ७४ ॥

नाडीवायुकलैस्सार्धं कथितं तव शोभने ।

पू। १०७७)

अतः परं प्रवक्ष्यामि ऋक्षेषु चमरे यथा ॥ ७५ ॥

तथा ते कथयिष्यामि तन्मे निगदतः शृणु।

शतानि सप्त विज्ञेयाः * *? प्राणास्तथैव च॥ ७६॥

प्राणमेकादशश्चैव निमेषैकं तथैव च।

लवमेकञ्च ज्ञातव्यं कालज्ञेन महात्मना॥ ७७॥

तृटिश्च सप्तभागेन नक्षत्रे कथितं तव।

अंशाध्वा दशमाख्याता ऋक्षाणां वरवर्णिनी॥ ७८॥

शतमेकञ्च ज्ञातव्यं कालज्ञेन महात्मना।

एभ्यश्चरति आत्मा तु कथयामि समासतः॥ ७९॥

ऋक्षे ऋक्षे वरारोहे अंशाश्चत्वारि कीर्तिताः।

पृ। १०७८)

यथा चरति विश्वात्मा शृणुष्व कथयामि ते॥ ८०॥

प्राणाश्शतं समाख्यातं प्राणायतिस्तथैव च।

प्राणा द्वादश विज्ञेया निमेषद्वय संयुतम्॥ ८१॥

लवद्वयं तथैवोक्तं शिवेन परमात्मना ।

द्वा नवति शतैकन्तु प्राणसंख्या प्रकीर्तिताः ॥ ८२ ॥

निमेषत्रयञ्च विख्यातं त्रिभागेन तृटिद्वयम् ।

तृटे शृङ्गाग्रमाख्यातं ज्ञातव्यं सुसमाहितैः ॥ ८३ ॥

सप्तविंशति नक्षत्रां शाह्यष्टोत्तरं शतम् ।

अशीति चतुरंशन्तु सर्वत्र परिकीर्तितम् ॥ ८४ ॥

कालं मध्यन्दिने देवि अवीची परिकीर्तिताः ।

पृ। १०७९)

कृत्तिकादिषु रत्नेषु ज्ञातव्यं कालवेदिना ॥ ८५ ॥

सर्वेषु सिद्धिदा देवी ची **? परिकीर्तिता ।

यस्यै तच्छुभऋक्षेण वीचायां व्रजते नरः ॥ ८६ ॥

सर्वसिद्धिमवाप्नोति धनिको नात्र संशयः ।

न तस्य अशुभं किञ्चित् व्याभीच्यां व्रजते तु यः ॥ ८७ ॥

एष ते चारमाख्यातं कालचक्रमुपासिनाम् ।
अहोरात्रेण ज्ञातव्यं कालज्ञेन महात्मना ॥ ८८ ॥

एतच्चारविभागज्ञो लभते शाश्वतं पदम् ।
दिने दिने स्थिरेद्यस्तु इदं चक्रं समाधिना ॥ ८९ ॥

स लोके पूज्यतां याति परत्र च शिवान्तिकम् ।

प्। १०८०)

नैव पुण्यं भवेत्तस्य नैव पापं कथञ्चन ॥ ९० ॥

दर्शनात्तस्य कर्तव्यं ये केचित्पापकर्मिणः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि फलसंख्या यथैव च ॥ ९१ ॥

तत्परा कथिता षष्टिं विदुषः परिकीर्तिताः ।
विदुषाणि तथा षष्टिं बिन्दुरेकं प्रचक्षते ॥ ९२ ॥

षष्टिबिन्दुफलं प्रोक्तं कथितं तव शोभने।
फलस्य एषा संख्योक्ता कालं वै लौकिकस्य तु॥ ९३॥

पुनरेव प्रवक्ष्यामि अध्यात्मेन वरानने।
तरुणस्य प्रधानस्य निरुद्धः प्राणिनः स तु॥ ९४॥

षट् प्राणास्तु समाख्याता विना प्रीतिं समादिशेत्।

प्।१०८१)

षष्टिमिर्वी नाड्येका घटिका कथिता तु सा॥ ९५॥

घटिकास्तु तथा षष्टि अहोरात्रं प्रचक्षते।
मुहूर्ता स्त्रिंशदाख्याता अहोरात्रविदो विदुः॥ ९६॥

अहोरात्रेण मर्त्यानां मुहूर्तास्त्रिंशत्कीर्तिताः।
एतान्येकैव संख्यातं मातस्य सुरसुन्दरि॥ ९७॥

मुहूर्ता नवशता ज्ञेयं कालज्ञेन महात्मना।
द्वादशे गणितं मासं संवत्सरमिहोच्यते॥ ९८॥

संवत्सरे मुहूर्तानि यावन्ति कथयामि ते ।
सहस्राणि दशप्रोक्ता स्तथाह्यष्टशतानि तु ॥ ९९ ॥

मुहूर्तानि वरारोहे मया ते कथितानि तु ।

पृ। १०८२)

मुहूर्ते नवये देवि तथैव कथयामि ते ॥ १०० ॥

शतानि सप्तदेवेशे विंशतिश्च न संशयः ।
एषचारं मया प्रोक्तं वेदितव्यं हितैषिभिः ॥ १०१ ॥

अनेन क्रमयोगेन जपसिद्धिमवाप्नुयात् ।
त्रिकालविषयं तस्य जायते जापिनस्य तु ॥ १०२ ॥

घटिका पञ्चदेवेशे राशौ राशौ न संशयः ।
घटिका पञ्चदेवेशे अकारस्योदयस्मृतः ॥ १०३ ॥

एवमादिक्रमेणैव वेदितव्यं प्रयत्नतः ।

लौकिकं प्रहरश्चैव षट्भागं परिकीर्तितम् ॥ १०४ ॥

षण्मासास्तु समाख्याता उत्तरस्तु प्रचक्षते ।

पृ। १०८३)

दक्षिणे तावती ज्ञेया कालज्ञेन महात्मना ॥ १०५ ॥

यद्राशौ वर्तते कालः तस्यैव कथयामि ते ।
उदयं प्रथमो देवि राशिभिः कथितस्तव ॥ १०६ ॥

यस्मिन् राशौ स्थितो ह्यात्मा मासमादि करोति सः ।
मकरः कुंभमीनश्च मेषश्च वृषभस्तथा ॥ १०७ ॥

मिथुनः कथितो षष्ठो राशयः षण्मासकीर्तिताः ।
कर्कटस्सिंह कन्यश्च तुलावृश्चिकमेव च ॥ १०८ ॥

धनुषी च समाख्यातो दक्षिणे ऋतवास्त्रियः ।
मासि मासि समाख्यातो यथावच्छृणु सुव्रते ॥ १०९ ॥

शतानि चैव चत्वारि प्राणाः पञ्चदशैव तु ।

पृ। १०८४)

मासि मासि समाख्यातो यथावत्तव शोभने ॥ ११० ॥

उत्तरे वर्तमानस्तु यदा दक्षिणतो व्रजेत् ।
यावन्तं क्रमते देवि मध्ये तु विषुवं स्मृतम् ॥ १११ ॥

एषा सङ्क्रान्तिराख्याता दक्षिणोत्तरतस्थिता ।
इन्द्रियार्थं परित्यज्य व्योमावस्थो भवेद्यदा ॥ ११२ ॥

विषुवन्तं विनिर्दिष्टं वेदितव्यं हितैषिभिः ।
यदा ऊर्ध्वत्वमायाति देवदेवो जगद्गुरुः ॥ ११३ ॥

अह एवं विनिर्दिष्टं सर्वतन्त्रेषु भाषितम् ।
अधोभागे स्मृता रात्रिः मध्ये तु अयनं भवेत् ॥ ११४ ॥

निश्चलोर्ध्वमधश्चैव मध्यस्थन्तु विजृंभिभिः ।

प्। १०८५)

हिक्कामुदाहृता चिक्का अष्टधा तु क्रमेण तु ॥ ११५ ॥

ऊनरात्रं भवेद्धिक्का अधिमास्यो विजृंभिका ।
ऋणस्तु भवते कस्सो निश्वासो धन उच्यते ॥ ११६ ॥

एष चारः समाख्यातः कालचक्रमुपासिनाम् ।
एवञ्चारविधानज्ञो लभते शाश्वतं पदम् ॥ ११७ ॥

प्रेरितः शक्तिना देवि नाना चेष्टानि कारयेत् ।
चारसंयोगयोगेन आत्मानमुपचर्यते ॥ ११८ ॥

एतच्चारमिति प्रोक्तं शिवेन परमात्मना ।
सकालं कल्पनामन्तु शक्तिनां परमेश्वरि ॥ ११९ ॥

विकारित्वमुपायाति स चारैरुपचर्यते ।

प्। १०८६)

अकालकलमित्युक्तं वादिनोपि द्विधोद्धृतम् ॥ १२० ॥

स्वयं साक्षात् स्मृतः कालो देवदेवस्सदाशिवः।

नित्यावस्थमिदं कालं ब्रह्मादीनां वरानने॥ १२१॥

तदेव चारयोगेन सञ्चारैरुपचर्यते।

नित्यावस्थोन्यथा कालः केन तदुपचर्यते॥ १२२॥

अनेन उपचारेण कालमेवमुपास्यते।

चारेण ज्ञायते कालं चारात् सिद्धिर्न संशयः॥ १२३॥

चारे भुक्तिश्च मुक्तिश्च चारज्ञो नावसीदति।

तस्माच्चारमिदं देवि वेदितव्यं प्रयत्नतः॥ १२४॥

स बाह्याभ्यन्तरं कालं यो विजानाति कालवित्।

पृ। १०८७)

न कालज्ञस्स विज्ञेयो भवेन्नक्षत्र सूचकः॥ १२५॥

ज्योतिर्ज्ञानमिदं देवि मया ख्यातं समासतः।

वेदितव्यं प्रयत्नेन कालज्ञैस्स तु वेदिभिः ॥ १२६ ॥

अहर्वृद्धिक्षयं रात्रौ रात्रौ वृद्धिक्षयेहनि ।
अनेन उपचारेण लौकिकमुपचर्यते ॥ १२७ ॥

न रात्रिर्न दिवा यस्य अयनं विषुवं तथा ।
नित्यं नित्यस्थितो देवि स्वयं साक्षान्महेश्वरः ॥ १२८ ॥

इच्छा तस्य महादेवि उपचारैरुपचर्यते ।
एवं कालमिति प्रोक्तं सर्वतः संप्रवर्तते ॥ १२९ ॥

इति निश्वासकारिकायां दीक्षोत्तरे कालचक्रप्रकरणं नाम सप्तदशः पटलः ।

पृ । १०८८)

देव्युवाच -

भगवन् श्रोतुमिच्छामि प्रसादात्कथयस्व मे ।
त्वन्मुखामृतसारन्तु पीतं ज्ञानामृतं मया ॥ १ ॥

कलाकलितसन्तानं जगज्जन्मलयोद्भवम् ।

श्रुतमेतन्मया सर्वं त्वत्प्रसादात् सुदुर्लभम् ॥ २ ॥

अधुना श्रोतुमिच्छामि प्रसादं कुरु शङ्कर ।

आयुः प्रमाणं यद्भोगं मनुजानां महेश्वर ॥ ३ ॥

विज्ञानं मरणं तेषां कथं ज्ञास्यन्ति मोहिताः ।

उत्पन्नस्य विनाशोस्ति कृतिरेषा तु कीर्तिताः ॥ ४ ॥

तद्विनाशे तु किं रूपं छिन्नं कालक्रमं यतः ।

पृ। १०८९)

अत्र मृत्युसमीपस्थं कथं विज्ञायते प्रभो ॥ ४ ॥

एतत्सर्वं समासेन कथयस्व प्रसादतः ।

ईश्वरः -

साधु साधु पुनस्साधु प्रश्नमेतत्सुदुर्लभम् ॥ ५ ॥

पृष्टोस्मित्वत्प्रसन्नार्थं श्रूयतान्तु वरानने ।
यथा चासन्नमृत्युस्तु जायते तु परस्य तु ॥ ६ ॥

दिवसमुदासिदाद्धन्तु मुहूर्तं सद्य एव च ।
येन येन च चिह्नेन लक्ष्यते तु शृणुष्व मे ॥ ७ ॥

स च वै द्विविधो लक्ष्यो बहिरभ्यन्तरे नृणाम् ।
ऋक्षाचक्रं गृहैश्चैव अङ्गारिष्टा विपर्ययात् ॥ ८ ॥

पृ। १०९०)

बहिर्लिङ्गन्तु विज्ञेयं अन्तर्लिङ्गन्तु नादजम् ।
बहिर्लिङ्गानि वक्ष्यामि समासात्तु वरानने ॥ ९ ॥

नवकोष्ठं कृतं चक्रं कृत्वा तु गणयेद्बुधः ।
तत्रैव कोष्ठे कोष्ठे तु लिखेन्नक्षत्रमण्डलम् ॥ १० ॥

कृत्तिकादि भरण्यन्तं लक्षयेत गृहा हितम् ।
रिक्षात्रयस्मृतो जन्म तथा संपद्विपर्ययौ ॥ ११ ॥

क्षेमञ्च प्रत्यरञ्चैव साधनं नैधनं तथा ।

मैत्रं परममैत्रञ्च ताराचक्रं शुभाशुभम् ॥ १२ ॥

तं वै क्रूरग्रहाक्रान्तं जन्मादौ लक्षयेद्बुधः ।

आधानं कर्म जन्मैस्तु भौमादित्यशनैश्चरैः ॥ १३ ॥

पृ। १०९१)

एते क्रूरग्रहा देवि यस्य तिष्ठन्ति सो हतः ।

एते ग्रहा विरुद्धास्तु स नरो हि हतोध्रुवम् ॥ १४ ॥

एकोपि सौम्यसंपृक्तो भवते कृच्छ्रजीवनः ।

सौम्यद्वये कपालस्थ संपदस्तु पदे पदे ॥ १५ ॥

सौम्यत्रयेपि सुमना नित्यतुष्टो भवेन्नरः ।

यथा जन्मत्रये देवि क्रूरास्सौम्यशुभाशुभाः ॥ १६ ॥

वदन्त्येवं तथान्येपि वद्यन्तां तारसङ्गमम् ।

पापघ्नास्संपदस्थास्स्युपीपत्स्था पदकारकाः ॥ १७ ॥

क्षेमघ्ना क्षेमदाश्चैव प्रत्यरे बहुदोषजाः।
विद्यासिद्धिञ्च कार्यञ्च साधकस्य भवन्ति ते॥ १८॥

प्।१०९२)

देहनाशं प्रकुर्वन्ति निधनस्थान संस्थिताः।
मैत्रे तु मैत्रतां कुर्युः यद्यस्यान्यापि क्रौर्यता॥ १९॥

गृहा हिंसन्ति भार्याञ्च गृहाः परममैत्रगाः।
सौम्याः शुभं प्रयच्छन्ति एकद्वित्रिगुणोदयाः॥ २०॥

गुणक्रमाच्छुभं क्रूरा प्रयच्छन्ति गृहा यदा।
एवं गृहगतिं बुध्वा आत्मनश्च परस्य वा॥ २१॥

प्रबुध्यन्ति नरा देवि आत्मनश्च शुभाशुभम्।
अङ्गारिष्टं प्रवक्ष्यामि शृणु देवि यथा स्फुटम्॥ २२॥

शुष्ककण्ठोष्ठतालुश्च अकस्माद्रुधिरच्छविः।
स्कन्धोपि वक्रतामेति विनाशं वत्सरान्तिके॥ २३॥

पृ। १०९३)

अग्निलमण्डलं व्योम्नि पश्यते च दिने दिने।

सितं हरितकृष्णञ्च वत्सरार्धायुषो हि सः॥ २४॥

यदादित्यं विरश्मिञ्च चन्द्रं लाञ्च्छनवर्जितम्।

सुषुम्णान्तारकाज्योति सोपि षाण्मासिकायुषः॥ २५॥

हिरण्यवर्णं पुरुषं स्वप्ने वा कृष्णपिङ्गलम्।

पश्यते वा शिरच्छायां ऋतुत्रयं स जीवति॥ २६॥

तैलपानं तथाभ्यङ्गरक्तमाल्यांवरस्त्रजा।

खरोष्ट्र्यानमासीनगृध्रकाकशिवादिभिः॥ २७॥

पश्येत्प्रेतपिशाचांश्च उद्वाहश्चाङ्गभक्षणम्।

स्वप्ने च लप्स्यते चैव सो दैकं यदि जीवति॥ २८॥

पृ। १०९४)

शङ्खावर्तभुजे नृत्तज्ञोममेधा गुल्फसन्धिषु।

यदा निष्पन्दतां याति सोवश्यं वधमाप्नुयात्॥ २९॥

अरुन्धतिधृवश्चैव सोमार्कज्योतिमण्डलम्।

न पश्य* * *? धानं सोवश्यं म्रियते नरः॥ ३०॥

अरुन्धती भवेज्जिह्वा न पश्येद्वर्षायुषः।

अल्पायुर्नैव पश्येत नासिकाग्रन्थि वा स्मृतम्॥ ३१॥

दु**? पाणिजैः कान्तै वक्ष्यले ज्योतिमण्डले।

पश्येदर्कसोममण्डलं चतुर्मासायुषो हि सः॥ ३२॥

तालुरन्ध्रगतं धूमं तन्म **? न मुच्यते।

न तु पश्यति मूढात्मा ऋतुमेकं स जीवति॥ ३३॥

पृ। १०९५)

अकस्माज्जायते स्थूलो अकस्माच्च कृशो भवेत्।

अतिभीतोति सं* * *? र्षमेकायुषो हि सः॥ ३४॥

लोहदण्डेन पाणिं कृष्णं कृष्णांबरच्छदम्।

पुरुषञ्चाभिमुखं स्वप्ने ऋतुध्या * * * *? ॥ ३५ ॥

*? यं वै स्नातमात्रस्य हृदयञ्चैव शुष्यति ।
अनुष्णञ्च भवेद्गात्रं द्वौमासायुर्गतायुषः ॥ ३६ ॥

अमेघविद्युदं पश्येद्दि * * * *? नुर्निशि ।
दृष्टे देशेपि दिग्दाहो मासत्रयपरायुषः ॥ ३७ ॥

न शृणोति स्फुटं शब्दं चक्षुषी श्रूयते सकृत् ।
गन्धमाघ्राति चाण्धान्य * * *? विगतायुषः ॥ ३८ ॥

पृ। १०९६)

पश्य जिह्वा भवेत्कृष्णा रक्तपद्मोत्पलं मुखम् ।
वर्णञ्च विविधाङ्गेषु उदयं रुदते सकृत् ॥ ३९ ॥

नाभिकंपो **? शोश्च सोर्धमासाद्विपद्यते ।
नाभिज्ञाय श्रीजिह्वं दीपमाघ्रानि पाषिषा *? ॥ ४० ॥

काकैश्च कृतमासीन चतुर्मासायुषो नरः ।

हिक्का * * *? ते नित्यं वक्ररन्ध्रानुगो मरुत्॥ ४१॥

लंबकर्णैव पश्येत मासार्धे विगतायुषः।
एवं विधैर्बहुलिङ्गैः बोद्धव्यं मृत्युचोदितैः॥ ४२॥

अधुनान्तर्गता देवि योगिनां नादजं शृणु।
इदं त्रिनेत्र संप्रोक्तं योगिनो भास्करोदये॥ ४३॥

पृ। १०९७)

तत्काले चात्मनो मृत्युं जीवितव्यं विचारयेत्।
ततो योगी शुचिर्भूत्वा धीरो योगासने स्थितः॥ ४४॥

बुध्यमानोत्मजन्नादं सुषुम्नान्तर्गतं बुधः।
अप्रमत्तस्सदा तिष्ठेत् युक्तो नादैकतां गतः॥ ४५॥

एकैकस्य तु नाड्यायाः प्राणान्नव शतं वहेत्।
नवशक्तीति सङ्क्रान्ति काले वै कलयेत्सदा॥ ४६॥

नाड्यावस्थः स्थितोह्यात्मा प्रकृत्या वहतीश्वरः।

ये तु सङ्क्रान्तिके प्राणा सुषुम्ना तु स्थितो वहेत्॥ ४७॥

विषु *? प्रवहे नाथ बुध्वा कालं समादिशेत्।
अहोरात्रेण चाब्दैकं योगी जीवितुमिच्छमि॥ ४८॥

प्.। १०९८)

अहोरात्रद्वयेनैव जीवेत्संवत्सरद्वयम्।
**? रब्दन्तु विज्ञेयश्चतुर्भिश्चतुरब्दिकम्॥ ४९॥

भवेत् पञ्चाब्दिकं मृत्युर्यस्य पञ्चाहनिर्गमम्।
षट्सप्ताष्टदिने व्यूढे तावद्वर्षाणि जीवति॥ ५०॥

अहोरात्रेणैव कालः कलयतेश्वरः * *?।
कदाचिच्छकलेशानः सप्तप्रहरनिर्गमम्॥ ५१॥

षण्मासायुर्भवेद्देवि त्रिमासं षट्प्रहारिकम्।
पञ्चकोह्यर्ध * * *? चतुर्भिर्मासजीविनः॥ ५२॥

अर्धमासायुषो मन्त्री प्रहरत्रयनिर्गमम्।

प्रहरद्वयं तथा व्यूढं दिनान्यष्टौ स जीवति ॥ ५३ ॥

पृ। १०९९)

व्युढं प्रहरमेकन्तु जीवेत् * *? चतुष्टयम्।

प्रहरार्धं वहेद्यस्य स जीवति दिनद्वयम् ॥ ५४ ॥

सद्यो मृत्युमवाप्नोति यस्य द्वित्रिपथं गतः।

यं वा कालं समारुह्य प्रवहेत् * * * * ? यम् ॥ ५५ ॥

मासार्धाह्नसमालक्ष्येत्तत्काले निश्चयो भवेत्।

उत्तरायणजे काले कथितं तव शोभने ॥ ५६ ॥

अथवान्योपि देवेशि * * * ? योगिभिस्सदा।

श्रोत्रमार्गकृताङ्गुष्ठौ घोषं न शृणुते नरः ॥ ५७ ॥

षण्मासाभ्यन्तरे देवि मारणं तस्य निर्दिशेत्।

घोरमध्ये * * * * * * * *? न

कारवम् ॥ ५८ ॥

पृ। ११००)

न शृणोति सदा तस्य प्राप्यमासं म्रियेत सः।

उत्पाद्यञ्च तथाकर्ण्य मृत्युयोगं तथैव च॥ ५९॥

लक्ष्येत्सततयुक्तन्तु यो * * *? स्य चिन्तकः।

योगी वक्रान्तनिवहं कालसङ्क्रान्तिपञ्चकम्॥ ६०॥

उत्पाद्यमानमपर * * * * * ? रन्नयेत्।

द्रव्यहानिर्मनोद्वेगं कुर्याद्रोगविवर्धनम्॥ ६१॥

गृहभेदं सुहृन्नाशं तेजोहानिर्विवर्धनम्।

नासिकादक्षिणपुटे दक्षिणायनजीविते॥ ६२॥

सङ्क्रान्त्यष्टौ यदा याति करणयोगोदयो हि सः।

कानल * * * * * * ? न ग्रन्थिभङ्गन्दरम्॥

६३॥

पृ। ११०१)

स्फोटिका शूलरोगांश्च उरो दोषः प्रकोपनम्।

वामघ्राणपुटान्तस्थं सङ्क्रान्त्याह्यष्टपञ्चकम् ॥ ६४ ॥

ज्वररोगशिरोर्ति वा शूलसंस्तंभनोरिषा ।
नीरोग प्रमेहञ्च मूत्रकृच्छ्रकापयेत् ॥ ६५ ॥

श्रेष्मलाव्याधिमर्धासंस्थो महेश्वरः * * *? ।
यत्काले वहते वायुः तत्काले दिवसे परे ॥ ६६ ॥

व्याधिभिः पीड्यते जन्तुर्वामयामे त *? नरे ।
अतोर्ध्वस्पर्शभं लक्षं नासाधस्ताच्चु **? रि ॥ ६७ ॥

ऊर्ध्वेन ऊर्ध्वं विशशे तरुदोषाः पूर्वचोदिताः ।
दक्षिणे दक्षिणे स्पर्शि वा *? क्रोशपराभवम् ॥ ६८ ॥

पू। ११०२)

मध्ये मध्यस्फुटस्पर्शि पराभिभवनं ययुः ।
साङ्क्रान्त्येको बहुधा प्रवहन्ते इतस्ततः ॥ ६९ ॥

तस्य ला * * * * * * * * * ? पू

जनितम् ।

यदा तु मन्दं चारिस्यान्निबीजस्था समाश्रितः ॥ ७० ॥

धर्मैश्वर्याभिलाभं कुर्यात्प्रियसमागमम् ।

यदा द्वादश * * * * * * * * * *?

द्वये ॥ ७१ ॥

संवत्सरेण म **? प्राप्तवान्योगिनस्सदा ।

* *? रकविच्छेदान्मासैकैकन्तु छन्द * * ? ॥ ७२ ॥

नवशीति तु * * * * * ? प्राणक्षयो भवेत् ।

दिवसैकैकविच्छेदाद्यावत्त्रिंशत्समागताः ॥ ७३ ॥

प् । ११०३)

यदा पूर्वेद्यु वेलायां मृत्युः प्रवर * * *? ।

* * * * * * * * * ? लमृत्युं

समादिशेत् ॥ ७४ ॥

इडा सुषुम्नगेत्येवं बोद्धव्यं कालसञ्चरम् ।

दक्षिणायनजं कालं क* * * * * * * ? ॥

७५ ॥

**? नां योगकाले तु शुद्धस्सप्राणगश्शिवः ।

सुषम्ना दक्षिणे प्राणे तद्वहे चैव * * *? ॥ ७६ ॥

* * * * * * * * * * * ?

मयनस्मृतम् ।

त्रिरुच्छ्वासव *? ताभ्यां ते चैव विषुवायनम् ॥ ७७ ॥

मकरं कुंभमीनञ्च मेषञ्च मिथुनं तथा ।

सुषुम्ना * * * * * * *? यचोत्तरायणा ॥ ७८

॥

पृ। ११०४)

कर्कसिंहकन्या च तुलावृश्चिर्धनुस्तथा ।

इडयान्तर्महादेवि राशयो दि * * * * ? ॥ ७९ ॥

**? नाड्योदये देवि तत्कर्कपरिकीर्तितः ।

मकरमादिसङ्क्रान्त्यै कैकेया बुधः ॥ ८० ॥

आदित्यादि भवे * * * * * * ? चतुर्दश ।
विज्ञेयः प्राणविक्षेपः प्रबुध्यन्ते च ते क्रमात् ॥ ८१ ॥

दिवाचारो भवेद्यस्य वेत्ता तस्य द्वयं भवेत् ।
प्र* * * ? मतिकालं समीपरार्धकल्पितम् ॥ ८२ ॥

पूर्वोदयात्समारभ्य प्राणसप्तदश क्रमात् ।
प्राणाष्षष्टिस्समाख्याता प्राणाश्चैकादशं पुनः ॥ ८३ ॥

प् । ११०५)

निमेषैकं लवं ह्येकं तृटिमेकादश न्यूनकम् ।
कृत्तिकाद्या भवेच्चारं भरण्यान्तानि मोदिताः ॥ ८४ ॥

एवं शरीरजञ्चाररिक्षेषु कथितं तव ।
ज्ञात्वा योगी जपेन्मृत्युं ध्यात्वा दे* *? लक्षरम् ॥ ८५ ॥

स एव भगवान् काल अजयः कृष्णपिङ्गलः ।
नाडिकाग्रहसंस्थो हि कालः कलयते प्रभुः ॥ ८६ ॥

तत्र चित्तं समाधाय कालबीजं विचिन्तयेत्।
शंभुमम्बुजपादञ्च बीजं कालेश्वरं स्थितम्॥ ८७॥

नाडिकाग्रहसंस्थाने वृध्या तन्तु जपेत्कलम्।
तदा प्रवर्तते तस्य त्रिकालज्ञानमुत्तमम्॥ ८८॥

पृ। ११०६)

भूतं कथयते योगी भविष्यद्वर्तमानकम्।
षण्मासाभ्यन्तरे युक्तः कालज्ञानं प्रवर्तते॥ ८९॥

त्रिकालज्ञानसंसिद्धिः जायते योगिनस्य तु।
कालात्मा जपतो देवि यतो वा वा महेश्वरि॥ ९०॥

न तस्य कलयते कालः काले स्वच्छां वृजेत् *?।
हतमृत्युजरारोहि सर्वरोगविवर्जितः॥ ९१॥

दूराच्छ्रवणविज्ञानं मननञ्चावलोकनम्।
जायते नात्र सन्देहो योगी कालजयेषिणः॥ ९२॥

एकचित्तस्समापन्नो नासिकारन्ध्रमाश्रितः।

जायते योगिनस्सर्वं कालमृत्युर्महद्भयम्॥ ९३॥

पृ। ११०७)

जपते ध्यायते योगी नात्र कुर्याद्विचारणाम्।

मन्त्रं वा जपते यस्तु पञ्चाक्षरं महामतिः॥ ९४॥

शतञ्च विंशतिं वापि पञ्चाष्टकशतानि च।

जपतो मन्त्रराजानः ओं जूंसश्शिवाय नमः॥ ९५॥

एतन्मृत्युजयं श्रेष्ठं सर्वदुःखापहं परम्।

नानेन सदृशो मन्त्रः त्रिषु लोकेषु विद्यते॥ ९६॥

इदं पञ्चाक्षरं मन्त्रं सर्वदेवनमस्कृतम्।

पूजितं त्रिदशैह्येतं मन्त्रराजं सुदुर्लभम्॥ ९७॥

तस्यादौ तु त्रयो देवाश्चतुर्थमीश्वरं परम्।

पञ्चमं देवदेवेशं सदाशिवं परं पदम्॥ ९८॥

पृ। ११०८)

एतत्पञ्चात्मकं देवं जपितं सर्वदेवतैः।

हुतञ्च सततं तैस्तु मृत्युजित् स तु ते सुराः॥ ९९॥

अस्य मन्त्रप्रसादेन देवैर्मृत्युर्जितः पुरा।

जरारोगविनिर्मुक्ताः परमैश्वर्यसमन्विताः॥ १००॥

सर्वकामसमृद्धास्तु पाशानुग्रहकारकाः।

निर्द्वन्द्वा निरहंकाराः प्रलये भिन्नदेहजाः॥ १०१॥

न तेषां पुनरावृत्तिः गतास्तु परमां गतिम्।

एतन्मन्त्रवरं प्राप्यात्मानं पठते सदा॥ १०२॥

त्रिधा चैव बहुधा चैव पशुज्ञानाभिमानिनः।

आत्मानं प्राकृतं तत्वं अन्तरात्मा तु पौरुषम्॥ १०३॥

पृ। ११०९)

परमात्मा भवेद्विष्णुः योगी नारायणेश्वरः।

आत्मा तु कर्मणः कर्तान्तरात्मा तु कारकः ॥ १०४ ॥

परमात्मेत्वुदासीनं धृवं ते गुणयोगिनः ।

अणिमादिगुणैर्युक्तः परमात्मा महेश्वरः ॥ १०५ ॥

ध्यायन्ति नित्ययुक्ता वै सनकाद्यास्तु योगिनः ।

मोक्षं जानन्ति योगीनां व्याख्यातं तव शोभने ॥ १०६ ॥

वेदवादिनमप्येवं सकलस्यमुपासिनः ।

ओङ्कारवाक्यरूपेण ब्रह्मविद्यावदन्ति हि ॥ १०७ ॥

ब्रह्मविष्णुस्तथा रुद्रः त्रयो देवास्समेकतः ।

सत्वं रजस्तमश्चैव गुणत्रयमुदाहृतम् ॥ १०८ ॥

प्। १११०)

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तञ्च पदत्रयमुदाहृतम् ।

ऋग्यजुस्सामवेदाश्च त्रयो वेदास्स एव तु ॥ १०९ ॥

एष वै परमोङ्कारस्सर्वदेवमयं विदुः ।

आनन्दं परमं ब्रह्म साम्यावस्थं तमोमयम् ॥ ११० ॥

अग्निरग्नौ यदा क्षिप्तं तोये तोयमिव स्थितम् ।
मृत्पिण्डदण्डपाषाणन्निस्सुखं निष्प्रचेतनम् ॥ १११ ॥

निर्वाणं परमानन्दमेवं वेदविदो धृवम् ।
अधुना संप्रवक्ष्यामि सादरं शृणु सुवृते ॥ ११२ ॥

उपास्यते यथा देवं सकलं सर्वतो मुखम् ।
प्रद्युम्नमनिरुद्धञ्च तथा सङ्कर्षणो महान् ॥ ११३ ॥

प्। ११११)

वासुदेवेति भगवान् सर्वावासो नरो हरिः ।
प्रद्युम्नकारको नाम कामो वै कामरूपिणः ॥ ११४ ॥

अनिरुद्धो निरुद्धा अहङ्कारः प्रपठ्यते ।
सङ्कर्षणो भवेद्बुद्धिः प्राणापानमयी पुरी ॥ ११५ ॥

वासुदेवेति प्रकृतिः गुणसाम्ये तमोमयी ।

गुणसाम्ये स्थिता यस्मात् निर्विकल्पे निरामयः ॥ ११६ ॥

* * * *? क्षेत्रज्ञानां तत्परं वास उच्यते ।

प्रधानकिमहोरात्रमुषित्वा प्राणिनस्तथा ॥ ११७ ॥

भूय एव व्रजन्त्ययं सृष्टिसंहारचोदिताः ।

वसन्ते सर्वभूतेषु स्वभावगुणवासना ॥ ११८ ॥

पृ। १११२)

वासनाद्वासना चैव वासुदेवेति गीयते ।

नासौ देवदेवेति पठ्यते पाञ्चरात्रके ॥ ११९ ॥

अकारोकारभेदेन मकारं माररूपिणम् ।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यैः सत्वराजसतामसैः ॥ १२० ॥

रूपैरेतैस्समाख्याता वेदयोगमनीषिणः ।

तेषां यस्तुर्यनामानं तस्याधः प्रकृतिस्थिता ॥ १२१ ॥

सांख्यानां पुरुषस्यैव प्रागेवोक्तं मयानघे ।

एतत्ते कथितं सर्वं किं भूयः परिपृच्छसि ॥ १२२ ॥

वैमलाकारकाश्चैव तथा पाशुपता च ये ।
वैमलानां ध्रुवं देवं कारकाणां ततोपरि ॥ १२३ ॥

प्।११११३)

ग्रन्थिध्रुवं मायीनां शिवसृष्टेरवस्थिता ।
तेषां तत्परमं स्थानं दीक्षाध्वानविशोधितम् ॥ १२४ ॥

ईश्वरं पाशुपत्यानां स्थानञ्चैवमुदाहृतम् ।
चर्याध्वानविशुद्धात्मा गच्छते नात्र संशयः ॥ १२५ ॥

अस्ति नास्ति तथास्तीति अर्हन्ता पुद्गलेति च ।
जीवाख्ये नियतं देवमुपास्यन्ते नात्र संशयः ॥ १२६ ॥

एष देवि समाख्यातं साक्याचारहतैस्सह ।
न्यायवैशेषिकाश्चैव नैश्रेयपदवादिनः ॥ १२७ ॥

पुराणपुरुषेत्येवमितिहासेषु गीयते ।

पुराणे कविरित्येवं पुरुषं परमेश्वरम् ॥ १२८ ॥

पृ। १११४)

देवं विश्वपतिं शुद्धमीश्वरं विश्वतोमुखम्।
एकधा बहुधा चैव तथा शतसहस्रधा ॥ १२९ ॥

गीयते येतितत्वज्ञा देवदेवं महेश्वरम्।
बहुभिर्नामभेदैस्तु ऋषिभिः परिगीयते ॥ १३० ॥

जीवं केचिद्वदन्त्येवं पुरुषेति तथा परे।
प्राणिनः केचिदित्येवं पुद्गलं पशुरेव हि ॥ १३१ ॥

सूक्ष्मं सर्वगतेत्येवमजमन्ये मनीषिणः।
आत्मानमन्तरात्मानं परमात्मा तथा परे ॥ १३२ ॥

* * * * * * * ? नमनन्ये धृतिकीर्तिताः।
अतः परतरेणैव पातालानि यथाक्रमम् ॥ १३३ ॥

पृ। १११५)

कथयामि समासेन तन्निबोध वरानने ।

आभासतालसुतालञ्च श्रीतालञ्चगभस्तिकम् ॥ १३४ ॥

शिलोच्चयं समाख्यातं पातालं हेमसंज्ञकम् ।

एतेषामुपरिष्टाच्तु भुवनास्सप्त कीर्तिताः ॥ १३५ ॥

भूलोकः प्रथमः प्रोक्तः यस्मिन् संस्कारमिष्यते ।

चतुर्दशविधश्चैव यस्मिन् संसारमण्डलम् ॥ १३६ ॥

उद्धरेत वरारोहे तथैव कथयामि ते ।

ब्रह्माणमादितः कृत्वा पैशाचान्तन्तु शोभने ॥ १३७ ॥

पशुस्तु प्रथमः प्रोक्तो मृगश्च तदनन्तरम् ।

पक्षिणश्च तथा प्रोक्ता तथा चैव सरीसृपः ॥ १३८ ॥

पृ। १११६)

स्थावरं पञ्चमं प्रोक्तं मानुष्यञ्च तथा पुनः ।

चतुर्दशविधं देवि ज्ञेयं संसारमण्डलम् ॥ १३९ ॥

एभ्यस्संसारतोह्यात्मा संसारी तेन स स्मृतः।
मानुष्येषु पुनः पश्चात् जातिरुद्धरणं स्मृतः॥ १४० ॥

अन्त्यजः प्रथमः प्रोक्तः शूद्रत्वं तदनन्तरम्।
वैश्यक्षत्रं तथा ब्रह्मजातिरुद्धरणं कुरु॥ १४१ ॥

ब्रह्मत्वे तु तथा योज्य कुर्यात् संस्कारकर्मणि।
गर्भाधानादितः कृत्वा अन्त्येष्टिन्तु पश्चिमम्॥ १४२ ॥

पूर्वमेव मया प्रोक्तं भूलोके चैव कारयेत्।
क्रतुभिश्शुद्धदेहे तु भूलोके तु नियोजयेत्॥ १४३ ॥

पृ। १११७)

भूलोकोथ भुवर्लोको स्वर्लोकोथ महत्तथा।
जनस्तपस्तथा सत्यं क्रमेण पुनरुद्धरेत्॥ १४४ ॥

लोकैश्शुद्धैस्तथा देवि ब्रह्मविष्णवासने तथा।
रुद्रासनं तथा प्रोक्तं ब्रह्माण्डाभ्यन्तरे तथा॥ १४५ ॥

नागाश्च गरुडाश्चैव सुराः किं पुरुषास्तथा ।
अग्निकुमारकाश्चैव मयश्चैव बलिस्तथा ॥ १४६ ॥

सप्तैते कथिता देवि पातालेषु व्यवस्थिताः ।
बलोह्यतिबलश्चैव बलवान् बलविक्रमः ॥ १४७ ॥

बलश्च बलनन्तश्च बलोग्रश्चैव कीर्तिताः ।
एतैस्सप्त समाख्याताः भुवनीशा महाबलाः ॥ १४८ ॥

पृ। १११८)

एतैश्शुद्धैरिमे शुद्धाः पातालास्सप्त एव तु ।
शर्वो रुद्रस्तथा भीमो भव उग्रस्तथैव च ॥ १४९ ॥

महादेवस्तथैशानो रुद्रलोकाधिपास्त्विमे ।
कापालीशोप्यजो बुद्धो वज्रदेहप्रमर्दनः ॥ १५० ॥

विभूतिरव्ययः शास्ता पिनाकी त्रिदशाधिपः ।
दशरुद्रास्समाख्याता पूर्वायाः दिशि संस्थिताः ॥ १५१ ॥

अग्निरुद्रो हुताशी च पिङ्गलो खादको हरः।

ज्वलनो दहनो बभ्रुः भस्मान्तकः क्षयान्तकः॥ १५२॥

आग्नेय्यां दिशि रुद्रास्तु कथितास्तव शोभने।

यो धूम्रहरो धाता विधाता कर्त एव च॥ १५३॥

प्। ११११)

कालरुद्रश्च विख्यातो धर्मो धर्मपतिस्तथा।

संयोक्ता च वियोक्ता च इत्येते कथिता मया॥ १५४॥

याम्यायां दशरुद्रास्तु कथिताह्यनुपूर्वशः।

नैरृतो मारणो हन्ता क्रूरदृष्टिर्भयानकः॥ १५५॥

ऊर्ध्वकेशो विरूपाक्षो धूम्रलोहितदंष्ट्रवान्।

नैरृते दशरुद्रास्तु कथिताह्यनुपूर्वशः॥ १५६॥

बलोह्यति बलश्चैव पाशहस्तो महाबलः।

श्वेतोथ जयभद्रश्च दीर्घबाहुर्जलान्तकः॥ १५७॥

बडवामुखो भीषणेशो वरुणराज्ञा सुपूजिताः ।
वारुण्यां दशरुद्रास्तु कथिता ह्यनुपूर्वशः ॥ १५८ ॥

पृ। ११२०)

शीघ्रो लघुर्वायुवेगः सूक्ष्मस्तीक्ष्णः क्षयान्तकः ।
पञ्चान्तकः पञ्चशिखः कपर्दी मेघवाहनः ॥ १५९ ॥

वायव्यां दशरुद्रास्तु कथिताह्यनुपूर्वशः ।
निधीशो रूपवान्धन्यः सौम्यदेहो जटाधरः ॥ १६० ॥

लक्ष्मीधृक् रत्नधृक् श्रीधृक् प्रसादश्च प्रकाशनः ।
उत्तरां दिशमाश्रित्य दशरुद्रा महाबलाः ॥ १६१ ॥

विद्याधिपोथ सर्वज्ञो ज्ञानभुक् वेदपारगः ।
सुरेश्वरश्च सर्वेशो भूतपालो बलिप्रियः ॥ १६२ ॥

सर्वविद्या विधाता च सुखदुःखकरस्तथा ।
ईशान्यां दशरुद्रास्तु कथिता ह्यनुपूर्वशः ॥ १६३ ॥

प्। ११२१)

वृषो वृषधरोनन्तो क्रोधनो मरुताशनः।
उग्रसेनोधिवीरश्च फणीन्द्रो वज्रदंष्ट्रवान्॥ १६४ ॥

अधस्ताद्दशरुद्रास्तु कथिताह्यनुपूर्वशः।
शंभुर्विभुर्गुणाध्यक्षः स्त्र्यक्षस्त्रिदशवन्दितः॥ १६५ ॥

संवाहश्च विवाहश्च नभोलिप्सुर्विचक्षणः।
ऊर्ध्वां दिशं समाश्रित्य दशरुद्रा महाबलाः॥ १६६ ॥

भूर्लोके तु यदा प्राप्य कुर्यात् संस्कारकर्मणि।
स्थावरं प्रथमं शोध्यं ततश्शोध्यं सरीसृपम्॥ १६७ ॥

पक्षिणश्च मृगाश्चैव पशवश्चेत्यनुक्रमात्।
देवयोनिर्पुनश्शोध्य एवमेव विपश्चितैः॥ १६८ ॥

प्। ११२२)

संसारोद्धरणं कृत्वा जातिरुद्धरणं कुरु।
अन्त्यजः प्रथमं प्रोक्तश्शूद्रश्च तदनन्तरम्॥ १६९ ॥

वैश्यक्षत्रक्रमेणैव ब्रह्मान्तमुद्धरेत् क्रमात्।
सद्यादिवक्रपर्यन्तैश्शोधयेत यथाक्रमम्॥ १७० ॥

अन्त्यजस्थमीशमन्त्रेण गायत्र्या देवयोनयः।
ध्येयञ्च विविधं यत्तद्विद्याङ्गैश्शोधयेत् क्रमात्॥ १७१ ॥

ब्रह्मत्वे योजयित्वा तु कुर्यात् संस्कारकर्मणि।
गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तं जातकर्मणि॥ १७२ ॥

नामनिष्क्रमणञ्चैवान्नप्राशनमेव च।
चूडोपनयनञ्चैव वृतबन्धं तथैव च॥ १७३ ॥

पू। ११२३)

मेखलादन्तकाष्ठञ्च अजिनञ्च त्रियायुषम्।
**? मग्निरुपासञ्च व्रतानि पुनरेव तु॥ १७४ ॥

भूतेशं पाशुपत्यञ्च गणञ्चैव तृतीयकम्।
गणेश्वरं चतुर्थन्तु उत्तमञ्चाधिसाककम्॥ १७५ ॥

सप्तं * * * * * *? अपूर्वेण प्रकीर्तिताः।
ऐष्टिकं दार्थकञ्चैव भौतिकं सौमिकं तथा॥ १७६॥

देवव्रतास्समाख्याताश्चत्वारोह्यनुपूर्वशः।
गोदानन्तु ततः कृत्वा पत्नीसंयोजनं तथा॥ १७७॥

अष्टकापर्वणि श्राद्धं श्रावण्याश्रयणी तथा।
चैत्री चाश्वयुजी चैव पाकयज्ञाः प्रकीर्तिताः॥ १७८॥

पृ। ११२४)

आधेयञ्चाग्निहोत्रञ्च दर्शञ्चैव ततः पुनः।
पौर्णमासीति विज्ञेया सौत्रामणी ततः परम्॥ १७९॥

हविर्यज्ञा स्मृता ह्येते ज्ञातव्यास्तु यथाक्रमम्।
अग्निष्टोमोत्यग्निष्टोममुथ्ययज्ञकृतीयकः॥ १८०॥

चतुर्थी षोडशी ज्ञेया वाजपेयोथ पञ्चमः।
त्रिरात्रं षष्टमित्युक्तं अप्तोर्यामञ्च सप्तमः॥ १८१॥

सोमसंस्थास्समाख्याताः सप्तचैव क्रमेण तु ।
हिरण्यपादः प्रथमो हिरण्यगुह्यमतः परम् ॥ १८२ ॥

हिरण्यमेढ्रं तृतीयन्तु हिरण्यपाणिश्चतुर्थकम् ।
हिरण्यगर्भस्तथा प्रोक्ता पञ्चमः परमेश्वरि ॥ १८३ ॥

पृ। ११२५)

हिरण्यश्रोत्रं तथा देवि षष्ठमेतत् प्रकीर्तितम् ।
हिरण्यत्वक् समाख्यातं हिरण्याक्षं तथाष्टमम् ॥ १८४ ॥

हिरण्यजिह्वो नवमो दशमोथ हिरण्यधृक् ।
आसहस्रस्य यज्ञस्य दशयज्ञाः परः स्मृताः ॥ १८५ ॥

एकैस्तु परिवारास्तु शतेन परिवारिताः ।
दशयज्ञोपरिष्टात्तु अश्वमेधन्तु होमयेत् ॥ १८६ ॥

एवं गृहस्थो भवति वानप्रस्थं तथा पुनः ।
पारिव्राज्यं ततो योज्य अन्त्येष्टिन्तु ततो हुनेत् ॥ १८७ ॥

अन्त्येष्टिन्तु ततो हुत्वा ऊर्ध्वं कृत्वा तु योजयेत्।

पुर्यष्टकसमायुक्तं पश्चात्तत्वेषु योजयेत्॥ १८८॥

प्। ११२६)

जलानलानिलव्योम अहङ्कारं तथैव च।

बुद्धिर्गुणस्तथाव्यक्तं क्रमशः कथयामिते॥ १८९॥

अमरेशं प्रभासञ्च नैमिषं पुष्कलं तथा।

अषडिञ्चैव दण्डिञ्च भारभूतिञ्च लाकुलम्॥ १९०॥

गुह्याष्टकमिदं प्रोक्तं शिवेन परमात्मना।

हरिश्चन्द्रश्श्रीशैलं जल्पेश्वरमतः परम्॥ १९१॥

आम्रातिकेशं महाकालं तथा मध्यमकेश्वरम्।

केदारं भैरवञ्च अतिगुह्याष्टकं स्मृतम्॥ १९२॥

गयाञ्चैव कुरुक्षेत्रं खलं नाखलं तथा।

विमलञ्चाट्टहासञ्च महेन्द्रं भीममष्टमम्॥ १९३॥

पृ। ११२७)

गुह्याद्गुह्यतरं ह्येतत् कथितन्तु मया तव।
वस्त्रापदं रुद्रकोटिमविमुक्तं महालयम्॥ १९४॥

गोकर्णं भद्रकर्णञ्च स्वर्णाक्षं स्थाणुमष्टकम्।
पवित्राष्टकमेतद्धि कथितं ह्यनुपूर्वशः॥ १९५॥

फटलञ्च द्विरण्डञ्च माकोटं मण्डलेश्वरम्।
कालञ्जरवनञ्चैव शङ्कुकर्णं स्थलेश्वरम्॥ १९६॥

स्थूलेश्वरं तथा प्रोक्तं सर्वेषामुपरि स्थितम्।
स्थानाष्टकमिदं ज्ञेयं अहङ्कारे व्यवस्थितम्॥ १९७॥

पैशाचं राक्षसं याक्षं गान्धर्वञ्चैन्द्रमेव च।
सौम्यन्त्वथ प्रजेशाञ्च ब्राह्मञ्चैवाष्टमं स्मृतम्॥ १९८॥

पृ। ११२८)

देवयोन्यष्टकं ह्येतत् बुध्यावरणमाश्रितम्।

संवर्त एकवीरश्च कृतान्तो जननाशनः ॥ १९९ ॥

मृत्युहन्ता च रक्ताक्षो महाक्रोधश्च दुर्जयः ।
एते क्रोधेश्वराः प्रोक्ताः अनुपूर्वं यथाक्रमम् ॥ २०० ॥

तेजोष्टकं पुनर्वक्ष्ये कथ्यमानं मया शृणु ।
लोकाध्यक्षगणाध्यक्षं त्रिदशे त्रिपुरान्तकम् ॥ २०१ ॥

सर्वरूपश्च शान्तश्च निमेषो मेषणस्तथा ।
तेजोष्टकं समाख्यातं अनुपूर्वेण ते मया ॥ २०२ ॥

तेजोष्टकोपरिष्टात्तु स्थितं योगाष्टकं पुनः ।
अकृतञ्च कृतञ्चैव भैरवं ब्राह्ममेव च ॥ २०३ ॥

प्। ११२९)

वैष्णवन्त्वथ कौमारभौमं श्रैकण्ट्यमेव च ।
योगिनः कथिता ह्येते यथावदनुपूर्वशः ॥ २०४ ॥

एतेषामुपरिष्टात्तु सु शिवा द्वादश स्मृताः ।

वामो भीमस्तथा रुद्र भवे * * * * * *? ॥ २०५

॥

*? व एक विराट् चैव प्रचण्डश्च तथैव च।

ईश्वरोथ अजेशश्च अनन्तैकशिवस्तथा॥ २०६॥

सुशिवा द्वादशा ह्येते अनुपूर्वेण कीर्तिताः।

सुशिवादुपरिष्टात्तु वीरभद्रः प्रकीर्तितः॥ २०७॥

मण्डलाधिपतिश्चैव * * * * * * * * ?

।

वामदेवोद्भवश्चैव तथा चैव भवोद्भवः॥ २०८॥

प्। ११३०)

एकपिङ्गेक्षणेशान कथिता अनुपूर्वशः।

अङ्गुष्ठमात्रसहिता महादेवाष्टकं स्मृतम्॥ २०९॥

एतेषामुपरिष्टात्तु गुरुपङ्क्तित्रयं स्मृतम्।

शिवप्रभु * * * * * * * ? व प्रतापनः॥

२१० ॥

प्राणदः शिवभीमश्च करालः पिङ्गलस्तथा ।

महेन्द्रो दिनकृच्चैव प्रदोदक्षण एव च ॥ २११ ॥

करेवरं तथा प्रोक्तं अनुपूर्वें यथाक्रमम् ।

कण्ठघण्टा बृहन्ता च नादाश्वेत एव च ॥ २१२ ॥

यजुर्वेदसमा * * * * * * * * * *

? ।

आचार्यश्शिवरूपश्च ज्येष्ठे नारायणस्तथा ॥ २१३ ॥

पृ। ११३१)

विप्रगण्डे दरश्चैव मयमाली तथैव च ।

गहनेशः पीडनश्चैव * *? पङ्क्तिरिष्यते ॥ २१४ ॥

श्वेतदामस्सुदामश्च लोका * * * * * * ।

अक्षसूत्र एकपादञ्च तथा गृध्रशिवेश्वरः ॥ २१५ ॥

* * * * * * * * * * * ?

हुस्तथैव च।

ऋषभश्चैव गोकर्णः तथा देवो गुहेश्वरः॥ २१६॥

गुहावासी शिखण्डी च तथा च जटमायिनः।

उग्रो भस्मशिखी शूली सुगीतिश्च तथैव हि॥ २१७॥

सुफलोत् गहासश्च कारको लाङ्गविस्तरः।

तथा त्रिदण्डी शवनं साज्यं लकुलीशं तथैव च॥ २१८॥

पृ। ११३२)

द्वितीया पङ्क्तिराख्याता अनुपूर्वं यथाक्रमम्।

देवा चरणा दीर्घं वा हरिभूश्चैव यथाक्रमम्॥ २१९॥

रितिभूतिस्समाख्याता स्थाणुश्चैवमतः परम्।

सद्योजातस्तथा रुण्डी षण्मुखश्चतुराननः॥ २२०॥

चक्रपाणिस्तथा कूर्म अर्धनारीश्वरस्तथा।

मेषसंवर्तकश्चैव भस्मेशः कामनाशनः॥ २२१॥

कपाली भूर्भुवश्चैव वषट्कारस्तथैव च ।

बुध्या घ्राणेन्द्रियः प्रोक्तो पृथिव्यान्ते ॥ २२२ ॥

* * * * * * * * * * * * ?

तु शोधयेत् ।

आपे तु रसतन्मात्रं विषयं रसमेव च ॥ २२३ ॥

प् । ११३३)

कर्मेन्द्रियं ततः पायु बुध्य जिह्वेन्द्रिय स्मृतः ।

आपे तु शोधनीया तु अनुपूर्वं यथाक्रमम् ॥ २२४ ॥

तेजे तु रूपतन्मात्रं विषयं रूपसंज्ञकम् ।

कर्मेन्द्रिय स्मृतः पादः बुध्या चक्षुः प्रकीर्तितः ॥ २२५ ॥

तेजोवारणमेतत्तु शोधनीयं यथाक्रमम् ।

वायौ तु स्पर्शतन्मात्रं विषयं स्पर्शसंज्ञितम् ॥ २२६ ॥

कर्मेन्द्रियः स्मृतं पाणि बुध्या चैव त्वगीन्द्रियम् ।

वायुतत्वे तु संशोध्या अनुपूर्वेण देशिकः ॥ २२७ ॥

आकाशे शब्दतन्मात्रं विषयं शब्दसंज्ञितम्।
कर्मेन्द्रियं स्मृतो वाचा बध्वा श्रोत्रेन्द्रिय स्मृतः॥ २२८॥

पृ। ११३४)

आकाशे शोधनीयास्तु अनुपूर्वेण मन्त्रवित्।
रोमाणि लोहितं मांसं मातृकर्तृक उच्यते॥ २२९॥

मज्जास्थिशुक्लसङ्घातं पैतृकं तृक उच्यते।
अन्नपानं मनश्चैव क्रमेण परिकीर्तिताः॥ २३०॥

पृथिव्यादिषु तत्वेषु एकैकेषु यथाक्रमम्।
शोधनीयं यथान्यायं प्रकृत्यायान्तु या विधी॥ २३१॥

एवं हुत्वा यथान्यायं हुनेद्योगाष्टकं पुनः।
गुरुपङ्क्तित्रयं हुत्वा प्रधानन्तु ततो हुनेत्॥ २३२॥

अतः परतरञ्चैव श्रूयतां सुरसुन्दरि।
पौरुषे चैव तत्वे तु कथयाम्यनु पूर्वशः॥ २३३॥

पृ। ११३५)

अंभा च सलिला चैव तुषावृष्टिस्तथैव च।
सुतारा च सुपारा च सुनेत्रा च तथैव हि॥ २३४॥

सुमारी उत्तमांभा चतुष्टयः परिकीर्तिताः।
ताराद्या अधुना वक्ष्ये प्राप्यमान निबोधमे॥ २३५॥

तारा चैव सुतारा च तरयन्ती तथैव च।
प्रमोदा प्रमुदिता चैव मोदमाना तथैव च॥ २३६॥

रम्यका च समाख्याता सदा प्रमुदिता च या।
सिद्धिरष्टविधा ख्याता ज्ञातव्या देशिकेन तु॥ २३७॥

अणिमा लधिमा चैव महिमा प्राप्तिरेव च।
प्राकाम्यमीशितत्वञ्च वशित्वञ्च तथैव हि॥ २३८॥

पृ। ११३६)

सर्वकामावसायित्वमैश्वर्यं कथितं मया।
एतेषामुपरिष्टात्तु नाड्यो विद्याष्टकं हुनेत्॥ २३९॥

इडा च चन्द्रिणी चैव गौरी शान्तिकरी तथा।
माला च मालिनी चैव स्वहा चैव स्वधा तथा॥ २४०॥

नाडी विद्या समाख्यातं वेदितव्यं प्रयत्नतः।
अत एव उपरिष्टात्तु कथितं विग्रहाष्टकं॥ २४१॥

अनुग्रहार्थं लोकानां संस्थितं सर्वदेहिषु।
कार्यञ्च कारणञ्चैव सुखं दुःखं तथैव च॥ २४२॥

पुरुषत्वं स्मृता ह्येते ज्ञातव्यास्तु विचक्षणैः।
अन्ये ये कथिता देवि भुवनाध्वेन ये पुरा॥ २४३॥

पृ। ११३७)

देहपाशाह्यनेकानि वेदितव्यानि देशिकैः।
पौरुषस्योपरिष्टात्तु * * * * * * * * ?॥
२४४॥

* * * * ? भवेत्पाशं नियन्तं परमेश्वरि।

सुखपाशो दुःखपाशन्तु शुक्लकृष्णावुभावपि ॥ २४५ ॥

अस्य तत्वे तु ये रुद्रा कथयामि निबोध मे ।
वामदेवोद्भवश्चैव तथा चैव भवोद्भवः ॥ २४६ ॥

* * * * * * * * * * * *
* ? व स्मृतः ।
धातारः क्रमशश्चैव विक्रमश्च तथैव च ॥ २४७ ॥

प्रभेशानस्समाख्यातस्सुप्रभेशान एव च ।
नियत्यां संस्थिता ह्येते दशरुद्रास्समासतः ॥ २४८ ॥

पृ। ११३८)

अतोर्ध्वं संस्मृतः काल येस्मि रुद्र * * * *? ।
* * * * * * * * * * * *
रमाक्षरः ? ॥ २४९ ॥

शिवश्च सुशिवश्चैव ध्रुवमक्षरमेव च ।
दशैते तु समाख्याता अनुपूर्वं यथाक्रमम् ॥ २५० ॥

कालतत्वे स्थिता * * * * * * * * * *

? ।

मातृका प्रक्षेपः विद्यते * * * * * * * ?

॥ २५१ ॥

* * * * * * * ? ह्येते ममान्यत्पलालवत् ।

नाडीत्रयमिदं देवि या प्रोक्तास्तत्र योक्षराः ॥ २५२ ॥

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च त्रय स्मृताः ।

इच्छाज्ञानक्रिया चैव परं शक्तित्रयं स्मृतम् ॥ २५३ ॥

पृ। ११३९)

वामा ज्येष्ठा च रौद्री च अधिकारात्मिका त्रयः ।

गार्हपत्यो दक्षिणाग्निराहवनीयं तृतीयकम् ॥ २५४ ॥

यज्ञाधिकारिका ह्येते अग्नयस्त्रीणि कीर्तिताः ।

गुणत्रयन्तु त्रैरेव पदत्रयमुदाहृतम् ॥ २५५ ॥

त्रैलोक्यं व्यापितं तैस्तु ब्रह्मविष्णुमहेश्वरैः ।

ईश्वरं हि चतुर्थन्तु पञ्चमन्तु सदाशिवम्॥ २५६ ॥

नमस्कारं भवेच्छक्तिः सर्वमन्त्रप्रबोधिनी।
एष सर्वमयो देवि मन्त्रं परमदुर्लभम्॥ २५७ ॥

जपतस्सिद्धिमायाति कालमृत्युजयो भवेत्।
जपतस्तृप्तिमायाति अमृतीशसमो भवेत्॥ २५८ ॥

प्। ११४०)

एतद्देवि समाख्यातं कालमृत्युजयेषिणः।
कथितं सरहस्यन्तु कालचक्रं समासतः॥ २५९ ॥

सततं जपमानस्तु न मृत्युवशगो भवेत्।
ध्यायते सततं यस्तु अमृतं मृत्युनाशनम्॥ २६० ॥

अचिरेणैव कालेन सि मृत्युं विजयिष्यति।

इति निश्वासकारिकायां दीक्षोत्तरे अष्टादशः पटलः -
ईश्वर उवाच -

दशद्वादशभिष्षड्भिः त्रिभिर्वर्णामनुत्तरात् ।
अथवा सत्य एव स्यात् विदिताराधि तोर्यदा ॥ १७० ॥

पृ। ३७)

* * * * * * * * शिववत्वं विनिर्दिशेत् ।
न लिखेत्पुण्यपापेभ्यो सत्यं देवि उदाहृतम् ॥ १७१ ॥

चिच्छत्त्यागमेचोक्तं विधिनानेन सुवृते ।
सर्वे ते प्रणवा ज्ञेयाः काममुक्तिफलप्रदाः ॥ १७२ ॥

एष ते मातृकायागः कथितस्तव शोभने ।
येन इष्टो इष्टं वा अ * * * * * * * * ॥ १७३ ॥

इति निश्वासकारिकायां ज्ञानकाण्डप्रकरणे द्वादशः पटलः ।

ईश्वरः

हृत्पद्मं संप्रवक्ष्यामि दशग्रन्थिष्ववस्थितम् ।

यथा सा साधना तत्र मातृका * * * * * * ॥ १ ॥

प्। ३८)

* * * * मसद्भावं सर्वव्यापीति विश्रुतम्।
स एवं संस्थितो नित्यं देही देहत्वमागतः॥ २॥

आपादतलमूर्धान्तं स्वेच्छया यः प्रवर्तते।
स एव नालमित्युक्तं आधारं सर्वदेहिनाम्॥ ३॥

अष्टपत्रं भवेत्पद्मं षोडशाच्छदमेव वा।
अभयोरेव जानीयात् संपुटं परमं महत्॥ ४॥

पूर्वपत्रात्समारभ्य आदिवर्गन्तु विन्यसेत्।
एकैकमक्षरं विद्यात् पत्रे पत्रे यथाक्रमम्॥ ५॥

ककारादिभकारान्तान् केसरान्तान् विनिर्दिशेत्।
मकारं कर्णिका ज्ञेया तस्य पद्मस्य मध्यतः॥ ६॥

प्। ३९)

यकारादि क्षकारान्तान् पुष्करान्तान् विनिर्दिशेत्।
एष पद्मविधिप्रोक्तो हृत्पद्मस्य विशेषतः॥ ७॥

अङ्गुष्ठाद्यावन्मूर्धान्तमेवमेव विधिस्मृतः।
विधिमेव सकृत् ज्ञात्वा न भूयो जन्मतां व्रजेत्॥ ८॥

षट्पदास्वादलोभेन यथा पुष्पाणि जिघ्रति।
एवं सर्वेषु पद्मेषु हृदिस्थो याति नित्यशः॥ ९॥

यदेतद्धृतिपद्मन्तु अधोमुखमवस्थितम्।
तस्य मध्ये तु चात्मानमधश्चोर्ध्वमवस्थितम्॥ १०॥

अहर्निशास्तु देवेशि मध्यस्य क्रीडते प्रभुः।
भुङ्क्ते तु विविधान् भोगान् धर्माधर्मेष्ववस्थितः॥ ११॥

पृ। ४०)

घटीयन्त्री यथा कश्चित् एकत्स्थः पूरयेद्बहून्।
तद्वद्देहस्थितो देही पूरके रेचकेपि च॥ १२॥

योसौ ज्ञेयमिति प्रोक्तं सर्वेषां श्रूयते महत्।

स एव चेतनात्मस्थः चेष्टा ह्येतानि कारयेत्॥ १३॥

स जीव इति विज्ञेयस्सर्वेषाञ्च व्यवस्थितः।

प्रेरकः सर्वभूतेषु इन्द्रियैश्च विशेषतः॥ १४॥

शुभाशुभेषु सर्वत्र उभयोरपि धावति।

धर्मिष्ठानान्तु धर्मिष्ठः पापिष्ठानान्तु पापकृत्॥ १५॥

अविज्ञातः पशुस्सोहि विज्ञातः पति रेव सः।

एवं पशुपतिश्चायं सर्वप्राणिषु संस्थितः॥ १६॥

पृ। ४१)

शुद्धस्फटिकसंकाशं तारकेण तु लक्षयेत्।

खद्योतमिव नाभाति प्रमाणमिच्छया स्मृतम्॥ १७॥

स जीवः स पशुश्चैव स शिवो ज्ञेयमेव च।

मनश्च चेतनश्चैव स एव परिगीयते॥ १८॥

देव्युवाच

जीवं कथय देवेश पशुञ्च शिवमेव च।
ज्ञेयं मनश्च चेता च कथयस्व विभागतः॥ १९॥

ईश्वर उवाच

शुभाशुभेषु सर्वेषु जीवः संयुज्यते यदा।
जीवन्ते सर्वभूतानि जीवस्तेनेह कीर्तितः॥ २०॥

पृ। ४२)

तमादि कालरुद्रान्तं पाशानैकस्तु पाशितम्।
भ्रमते भ्रममाणस्तु पशुस्तेनैव कीर्तितः॥ २१॥

अविज्ञातः पशुस्सोहि विज्ञातश्शिव एव हि।
ध्यायते पूज्यते यस्मात् तस्माच्छिव इति स्मृतः॥ २२॥

अगृह्यस्सर्वभूतेषु नामभिश्च विवर्जितः।
अस्तीति भावना यस्मात् तस्मात् ज्ञेयमिति स्मृतम्॥ २३॥

शुभाशुभेषु कर्मेषु सङ्कल्पं कुरुते सदा ।
मानयोन्द्रे यान्यस्ता * * * * * * * * * ॥

२४ ॥

* * * * इति स * * * भावे व्यवस्थिता ।
प्रेरकस्तेषु सर्वेषु मनस्थः परमेश्वरः ॥ इति ॥ २५ ॥

पृ। ४३)

चितिस्वरूपपिण्डेषु चेतना भावमानतिः ।
स्पर्शितं वेदते यस्मात्तस्माच्चेता इति स्मृतः ॥ २६ ॥

देव्युवाच

अधोमुखन्तु यत्पद्मं कथमूर्ध्वमुखं भवेत् ।
अङ्गुष्ठाद्यावमूर्धान्तं नीत्वा शिवपदं व्रजेत् ॥ २७ ॥

तदहं श्रोतुमिच्छामि यथावत्त्वत्प्रसादतः ।

ईश्वरः

अष्टमेन हि तत्वेन जातवेदो द्वयेन च ॥ २८ ॥

अधोर्ध्वगतसंयुक्तमायतेन शिवं व्रजेत् ।
अधोमुखन्तु यत्पद्मं वर्त्तते नित्यमेव हि ॥ २९ ॥

पृ। ४४)

अभेद्यं सर्वयोगीनां गुरुवाक्य बहिष्कृतम् ।
यथा च भेदमायान्ति अधः पद्मो वरानने ॥ ३० ॥

तदहं संप्रवक्ष्यामि भेदामृतमनुत्तमम् ।
दशग्रन्थि विभेदन्तु क्षुरिकातो यदा भवेत् ॥ ३१ ॥

अथ ते कथयिष्यामि भेदं तस्य परापरम् ।
भास्करप्रभवे मार्गे ध्यातव्यं ज्योतिमण्डलम् ॥ ३२ ॥

तदेव संमुखो मन्त्री मरणं परिकीर्तितम् ।
तत्तेजोन्तर्हितं कृत्वा स्वमार्गं पूरकेण तु ॥ ३३ ॥

मुखनासापुटे कर्णौ चतुष्टौ तु निमित्तकौ ।
शिखापञ्चसमोपेतं ध्यातव्यं योगिभिस्सदा ॥ ३४ ॥

पृ। ४५)

स्रवन्तममृतं दिव्यं शिखामध्ये विचिन्तयेत् ।
निर्धूमाग्नौ पतत्येव शिष्यते च मुहुर्मुहुः ॥ ३५ ॥

एवं ते शोषमायान्ति अधः पद्मसमन्ततः ।
आपूर्य कुंभकेनैव चित्राकारं विचिन्तयेत् ॥ ३६ ॥

सुषिरं दृश्यते तत्र बीजं दीपस्य बोधिता ।
ततस्तेनैव मार्गेण शनैरेचक सुव्रते ॥ ३७ ॥

ततस्तु प्रथमां ग्रन्थिच्छेदयेच्छेदकेन तु ।
एवं क्रमेण देवेशि यावन्मूर्ध्नि समाहतम् ॥ ३८ ॥

ततो हुंकारं कुर्वीत ऊर्ध्वं वायुं सुरेचयेत् ।
वेगेनाक्षिपतस्तत्र मूर्छा कंपश्च जायते ॥ ३९ ॥

पृ। ४६)

पतते मोहमापन्नो लब्धचेताश्च योगवित्।
पुनराप्यायनं कुर्यात् मूर्छाकंपं विनाशयेत्॥ ४० ॥

अमृतस्यन्दिनी बिन्दुरीढायाः प्रवहेन तु।
चिन्तयेत्प्लावयत्येवं तत आप्यायतेद्ध्रुवम्॥ ४१ ॥

अधोमुखेन पद्मेन परिवृत्या च दीपिकाः।
सिध्यते येन यो भिन्नं मार्गविद्विजचिन्तकः॥ ४२ ॥

अधोमुखेन तत्वेन सकलेन वरानने।
एवमभ्यासतो देवि द्विमार्गं प्रवहेन तु॥ ४३ ॥

एवमभ्यसतः शोष एवमाप्यायकेन तु।
यदा निर्वेदमापन्नो दृष्ट्वा चञ्चलमात्मनः॥ ४४ ॥

पृ। ४७)

अनेकेन प्रकारेण आयामान्ते तु च्छेदयेत्।

तदा निर्वाणमभ्येति छिन्नपाशनिबन्धनः ॥ ४५ ॥

इदं देवि न दातव्यं प्रयोगामृतमुत्तमम् ।
सप्ताहात्तु क्रमेद्वश्यं नात्रकार्या विचारणा ॥ ४६ ॥

निश्चितेन तु देवेशि शतायुरपि मुत्क्रमेत् ।
हृच्छिकारसमायुक्त उत्क्रमन्नात्रसंशयः ॥ ४७ ॥

कर्णान्निष्पीड्य हिक्कायां जिह्वा च परिवर्तयेत् ।
एष अन्ते प्रकुर्वीत अन्यथा न कदाचन ॥ ४८ ॥

अभ्यासं पूर्ववत्कृत्वा ज्ञात्वा उपरमेत्ततः ।
मृत्युलिङ्गं यदा ज्ञातं तदा एतत्प्रयोजयेत् ॥ ४९ ॥

पृ। ४८)

क्रुद्धलब्धावमानेन कुर्या * * * * * * ।
विद्याभावाथ गच्छेताः स * * * * वर्तयेत् ॥ ५० ॥

पद्मसूत्राणि सूक्ष्मन्तु नालं तस्य विचिन्तयेत् ।

अङ्गुष्ठाद्यावन्मूर्धान्तं तावत्पदमनामयम् ॥ ५१ ॥

ईश्वरेण सहायेन गन्तव्यं शङ्कितेन तु ।
मूर्तिध्यानं समाश्रित्य त्वा * * * * * * * ॥ ५२ ॥

प्र * * * यदा प्राप्तं सखायं परमं महत् ।
जीवन्तमयतां स्थाप्य गच्छेत्पदमनामयम् ॥ ५३ ॥

सूत्रेणेव मणिर्यद्वत् वेधयेत्कश्चिन्मानवः ।
तद्वत्तदात्मको योगी बिन्दुर्मणिरिव ग्रथेत् ॥ ५४ ॥

पृ। ४९)

यत्तद्धित्रामितं सूक्ष्मं हृत्पद्मन्तु अधोमुखम् ।
पूरितं कुंभकेनैव तदा चोर्ध्वमुखं भवेत् ॥ ५५ ॥

ऊर्ध्ववत्वं भावयेद्योगी शिखातालुप्रभेदिनी ।
सूर्यमण्डलमध्यस्था सोमश्चाग्नेश्च मध्यगाः ॥ ५६ ॥

स्थूलास्सूक्ष्मास्सुसूक्ष्माश्चान्तः करणवर्जिताः ।

स्थूलञ्चाक्षररूपेण सूक्ष्मं बिन्दुसमाश्रितम् ॥ ५७ ॥

सुसूक्ष्मं नादमित्युक्तं स नादोयं त्रिधा स्थितः ।
नादान्तर्निहिता शक्तिः शक्त्यतीतस्तु निष्कलः ॥ ५४ ॥

क्षरतेक्षरभोगेन बीजसृष्टिरनेकधा ।
अक्षरप्रकृतिर्ज्ञेया तदतीतस्तु निष्कलः ॥ ५९ ॥

पृ। ५०)

या सा कुण्डलिनी प्रोक्ता मया पूर्वमुदाहृता ।
निपतन्ति त्रिधाभूता प्रकृतिः सा परा परा ॥ ६० ॥

साणुमात्रा हृदिस्थाने कर्णस्था द्विरणुस्मृता ।
जिह्वाग्रे त्रिरणं विद्धि निसृतां मातृकां विदुः ॥ ६१ ॥

चतुर्विधा या देवेशि लिख्यते याग्रकुण्डली ।
लिख्यते पठ्यते नैव अणुनादेन वेष्टितः ॥ ६२ ॥

स्वरार्द्धस्पर्शार्धञ्च शक्तिनाथोथ बिन्दुकम् ।

शिवतत्वन्तु बोद्धव्यं वर्णे वर्णे व्यवस्थितम् ॥ ६३ ॥

चारणात्स्पर्शनाच्चैव स्वस्वरं समनादितम् ।
शक्तिश्च शान्तता चैव बोद्धव्यमनुपूर्वशः ॥ ६४ ॥

पृ । ५१)

उच्चारे कथितो ब्रह्मा अक्षरक्षरसंभवः ।
आत्मतत्त्वागतो येन आकरस्तेन चोच्यते ॥ ६५ ॥

स्पर्शे विष्णुस्समाख्यातो विद्यातत्वसमाश्रितः ।
मायया मोहयत्येष मकारस्तेन चोच्यते ॥ ६६ ॥

सकलस्तु भवेद्रुद्रो वर्णरूपीह्यधस्थितः ।
प्राणो भूत्वा हरत्यूर्ध्वं हकारस्तेन चोच्यते ॥ ६७ ॥

मदलोलेंपहीनस्तु झर्झरत्वं प्रपद्यते ।
बिन्दुहीनास्तथा वर्णा सुस्वरन्न प्रकाशयेत् ॥ ६८ ॥

हृत्कर्णतालुमूर्धान्तं नादस्थानं प्रकीर्तितम् ।

तत्रस्थं चिन्तयेद्योगी शिखां तालुप्रभेदिनीम्॥ ६९॥

पृ। ५२)

बिन्दुमध्यगतो नादः स तु नादः परापरः।
शिवतेजोद्भवा शक्तिः वर्णे वर्णे व्यवस्थिता॥ ७०॥

तेन दीप्तप्रभावञ्च वर्णा सिद्धिस्तु कामिकी।
तत्वेन वितातास्सर्वे तन्तुभिस्तु यथा परः॥ ७१॥

क्षीरभूते भवेद्वर्णा बिन्दुर्घृतमिव स्थितम्।
घृतमध्यसमो नादः शक्तिर्वीर्यमिव स्थितः॥ ७२॥

तेजो भूतं परं तत्वं सर्वदोषविवर्जितम्।
व्यापकस्सर्व * *? नां गुरुवक्त्रात्तु लभ्यते॥ ७३॥

देवी स्वरार्धं स्पर्शार्धं सुस्वरं समनादितम्।
अनया देवि विज्ञातं परेण सह संयुतम्॥ ७४॥

पृ। ५३)

देवतानान्तु यत्स्थानं वर्णे वर्णे व्यवस्थितम्।
तदहं श्रोतुमिच्छामि तत्वतो ज्ञातुमर्हसि॥ ७५॥

ईश्वर उवाच

स्वरार्धे कथितो ब्रह्मा स्पर्शार्धेन तु केशवः।
सुस्वरे च समाख्यातः तत्र रुद्रो व्यवस्थितः॥ ७६॥

समशब्दे स्थितो गीशः स तु बिन्दुरुदाहृतः।
आयते देवदेवेशि नादाख्यः स सदाशिवः॥ ७७॥

शक्तिः परतरस्तस्य परेण सह संयुता।
भागमेकं शिवस्थाने अङ्गेष्वेव द्वितीयकम्॥ ७८॥

तृतीयं निष्ठमं तस्य येन वर्णास्फुटो भवेत्।

प्।५४)

चतुर्थन्तु ततो बाह्ये पञ्च षष्ठं तथैव च॥ ७९॥

वर्णा देहं समाख्यातं यत्र सर्वे प्रतिष्ठिताः।

अधुना देहगं देवि कथयामि यथा स्थिता॥ ८०॥

स्वरोहं हृदयो देवि स्पर्शः कण्ठे समाश्रितः।

तालुमध्ये समाख्यातं सुस्वराख्यं वरानने॥ ८१॥

समत्वं यन्मया ख्यातं ललाटान्ते महेश्वरी।

तस्योपरि शिखा व्योम नादाख्यस्स सदाशिवः॥ ८२॥

स्वशक्तिकिरणैर्देवः परस्सर्वत्र संस्थितः।

स्वदेहे देवि ज्ञातव्या देवता भवनाशना॥ ८३॥

अर्धार्धेन विभागेन ज्ञात्वा मुह्यति बन्धनात्।

पृ। ५५)

एवं षट् त्रिविधं ज्ञात्वा पञ्च व्योमा परा स्थिता॥ ८४॥

परस्तु परतो देव शक्तिभावं प्रकाशकम्।

तस्य स्थानं न वक्तव्यं स सर्वत्र व्यवस्थितः॥ ८५॥

त्यक्त्वा सर्वमिदं भावं संस्थितो गुरुवर्त्मनि ।

पञ्चव्योमपदातीतं यदा प्राप्यति तत्पदम् ॥ ८६ ॥

तदा व्याप्ता च भोक्ता च तेषां देवि भविष्यति ।

यदा गुरुमुखाद्देवि विज्ञातं पारमेश्वरम् ॥ ८७ ॥

तदा वर्णाश्च देवाश्च न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।

चिन्ताहीनश्च यो देवि स सर्वत्र व्यवस्थितः ॥ ८८ ॥

तेन युक्ताश्च देवाश्च नानासिद्धिफलप्रदा ।

पृ। ५६)

तेन हीना न सिध्यन्ति न च यान्ति परं पदम् ॥ ८९ ॥

तस्मात्तन्तु वरारोहे वेदितव्यं प्रयत्नतः ।

न च तेन विना सिद्धिः पूजयाध्वरकर्मणि ॥ ९० ॥

एवं सिद्धिप्रदो देवः स एव मुक्तिदस्सदा ।

पञ्च व्योमात्मके देहे शक्तिरूपेण भाव्यते ॥ ९१ ॥

देवी

पञ्चव्योमेति देवेश न मया यच्च धारितम् ।
तदहं श्रोतुमिच्छामि भगवन् वक्तुमर्हसि ॥ ९२ ॥

ईश्वरः

बीजयोनिसमायोगात् वर्ण इत्यभिशब्द्यते ।

प्। ५७)

योनिः पृथक् पृथक् बीजं व्योम इत्यभिधीयते ॥ ९३ ॥

पृथक् पृथक् स्वरूपेण व्याप्य स्वस्थानमात्मनि ।
स्थितास्ते व्योमवद्देवि तेन व्योमेति कीर्तिताः ॥ ९४ ॥

सर्वेषां व्याप्य देवेशि बहिरन्तश्च संस्थिताः ।
तेन सा देवि आख्याता व्योमव्यापी परश्शिवः ॥ ९५ ॥

एवं ते ज्ञानिनः सर्वे परेण सह संयुताः ।

(एवं ते ज्ञानिनस्सर्वे परेण सह संयुताः ॥)

तादृशं वर्णरूपेण देवदेवमुपास्यते ॥ ९६ ॥

तेन ते देवतास्सर्वे काममुक्तिफलप्रदाः ।

वर्णयोगं यदा ख्यातं तत्स्थानालय भोगभुक् ॥ ९७ ॥

पृ। ५८)

सदेवावयवयुक्तस्तु विलयं दैवतैस्सह ॥ ९७ १/२ ॥

इति निश्वासकारिकायां ज्ञानकाण्डे हृत्पद्मप्रकरणे त्रयोदशः पटलः ॥

देव्युवाच

भगवन् श्रोतुमिच्छामि मन्त्रस्यानित्यनित्यताम् ।

संयोगात्मैकमन्त्रेण कथं मोक्षो विधीयते ॥ १ ॥

ईश्वरः

अर्धनारी विभक्ताङ्गो तदा ते सकलस्मृतः ।
लीनांशनात्मयोगेन तदा सा निष्कलस्मृतः ॥ १५६ ॥

इति निश्वासकारियां पञ्चदशः पटलः

देव्युवाच

भगवन् श्रोतुमिच्छामि नादशब्दस्य निर्णयम् ।
स्थूलसूक्ष्मविभागेन द्विप्रकारं प्रकीर्तितम् ॥ १ ॥

कथं स्थूलं भवेन्नादस्सूक्ष्मं वापि महेश्वर ।
कथं शरीरे ज्ञातव्यं तत्वतः कथयस्व मे ॥ २ ॥

ईश्वरः

शृणु देवि परं गुह्यं यत्त्वया परिपृच्छितम् ।
तदहं ते प्रवक्ष्यामि नादज्ञानमनुत्तमम् ॥ ३ ॥

योसौ घोषस्सुसंपूर्णः श्रूयते देहमध्यतः।
प्रकृतिस्तत्र संभूता महाजालपरिच्छदा ॥ ४ ॥

तस्य घोषस्य मध्ये तु स्थितं तत्र निवेदयेत्।

पृ। ९८)

पुरुषस्तत्र सञ्जातो गुणातीतो निरञ्जनः ॥ ५ ॥

तृतीयन्तु महच्छब्दं स्थितं घण्टानिनादवत्।
तस्मिन् रुद्रस्समुत्पन्नः प्रभुस्त्रैलोक्यनायकः ॥ ६ ॥

योसौ शान्तस्समाख्यातश्शब्दः परमकारणम्।
कोपिप्रदण्डप्रतीकाशा ज्योत्स्नाकरमिव स्थितः ॥ ७ ॥

तस्मिन्नीशस्समुद्भूतस्तेजो राशिर्महात्मनः।
योसौ सिद्धः शिवस्सूक्ष्मः सुशान्तस्सर्वतोमुखः ॥ ८ ॥

अप्रमेयोह्यनुच्चार्यो नादात्मा स तु कीर्तितः।
लयस्थानन्तु तत्त्वज्ञैः स एव परिकीर्तितः ॥ ९ ॥

लयातीतं परो देवो निरूपाख्यो निरामयः।

पृ। ९९)

ज्ञात्वैवं मुच्यते ज्ञानी भुञ्जानो विषयानपि ॥ १० ॥

एतत् ज्ञानं परं गुह्यं नाख्यातं यस्य कस्यचित्।

देव्युवाच

कोसौ नादः किं प्रमाणः किं रूपः क्षरितः कुतः ॥ ११ ॥

किमर्थं केन चैवायं ईरितः संप्रवर्तते।

ईश्वर उवाच

ममैषा परमा मूर्तिः नादसंज्ञा वरानने ॥ १२ ॥

चिन्त्यते योगिभिर्नित्यं अपुनर्भवकाङ्क्षिभिः।

नास्य प्रमाणं व्यापित्वान्मुक्तेः समुपलभ्यते ॥ १३ ॥

अनादित्वात्संभवश्च नित्यत्वान्नियतिर्न च ।

पृ। १००)

यथा संवेत्यनुच्चार्य शब्दाक्षरविवर्जितम् ॥ १४ ॥

संप्राप्यते सुखेनैव तदुपायं ब्रवीमि ते ।
अङ्गुष्ठाभ्यां छादयित्वा साधकश्रवणावुभौ ॥ १५ ॥

ततश्शृणोति तन्नादमंबुदप्रतिमस्वनम् ।
अस्य संश्रवणाद्देवि नादस्यायतलोचने ॥ १६ ॥

परमभ्येति निर्वाणं छिन्न पाशनिबन्धनः ।
ममात्मीयमिदं सूक्ष्मं शरीरं नादसंज्ञितम् ॥ १७ ॥

पशोः पाशोपनोदाय प्रकाशीकृतमद्भुतम् ।
ततः परतरध्येयं योन्यः प्रत्युपदिश्यते ॥ १८ ॥

न चैतदप्रसन्ने तु मयि देव्युपलभ्यते ।

प्। १०१)

परमेतस्य वीर्यं यत् अनुच्चार्यमनामयम् ॥ १९ ॥

सम्यक् यस्संविजानाति तन्मयत्वं स गच्छति ।
एष ते कथितः सम्यक् नादः परमदुर्लभः ॥ २० ॥

सांप्रतं शृणु यत्रायं लयमायात्यनिन्दितम् ।
पदमेतदतिक्रम्य चतुर्थं तुर्यसंज्ञितम् ॥ २१ ॥

पञ्चमं पदमाकाशं लक्षयेत्समवस्थितम् ।
तच्चाचलमनिर्देश्यमनन्तमजमव्ययम् ॥ २२ ॥

अनादिमध्यनिधनमेकमप्रतिवृत्तिमत् ।
निष्प्रपञ्चमनस्वान्तमतीन्द्रियमनामयम् ॥ २३ ॥

विस्तीर्णमव्यवच्छिन्नमध्यान्तं सर्वतोमुखम् ।

प्। १०२)

निष्तूयं विमलं वृत्तमुत्तुङ्गव्यापिनद्धुवम्॥ २४॥

सदाशिवाख्यमाकाशमीदृग्गुणमुदाहृतम्।
जगद्बीजमिदं सूक्ष्मं परमाकाशमव्ययम्॥ २५॥

नादोत्र लयमायाति निवृत्तं कार्यसंक्षये।
पदमेतीच्छान्तिलयं गतोह्यत्रापि संख्ययः॥ २६॥

तदिच्छया भवन्त्येते पुनश्शब्दशरीरिणः।
ततस्ते शब्दतनवोश्चक्रवर्ति पदे स्थिताः॥ २७॥

लोकानुग्रहकर्तृत्वं प्रकुर्वन्ति पतीच्छया।
तेधिकारं ततः कृत्वा कालस्यास्य परिव्ययात्॥ २८॥

अप्राप्यमात्मकं भावं यान्ति शून्यमदं पुनः।

प्। १०३)

इति निश्वासकारिकायां षोडशः पटलः॥

न चैवावाप्यते कश्चिन्न च कश्चिन्निवेश्यते ॥ ६७ ॥

निरुध्यते न देवेशि सान्निध्यं क्रियते न च ।
व्यापी मन्त्रस्वरूपेण चिन्तयन्ति परं शिवम् ॥ ६८ ॥

तदा वाहनमित्युक्तं क्षमस्वेति विसर्जनम् ।

इति निश्वासकारिकायां एकत्रिंशत्पटलः ।

देव्युवाच

मनो हि चलते नित्यं प्रवह्वञ्चलते बलात् ।
समाधिस्थोपि देवेश कथं तिष्ठति निश्चलः ॥ १ ॥

ईश्वरः

प् । २१९)

कर्मसन्यासयोगञ्च मतियोगं महत्तथा ।
योगः पञ्चविधः प्रोक्तः पुनरावृत्तिलक्षणः ॥ २ ॥

पुनरावृत्तियोगेन ये सत्ता वरवर्णिनी ।
तेषां हि चलते नित्यं कर्मासक्तमनस्सदा ॥ ३ ॥

देव्युवाच

कर्मयोगञ्च संयासं मतियोगं महत्तथा ।
एतेषां श्रोतुमिच्छामि भगवन् वक्तुमर्हति ॥ ४ ॥

ईश्वरः

अभिमानात्मकं योग कर्मशब्दाभिशब्दितम् ।
तदेवं कृतकृत्यः सन् न्यस्ते सन्यास उच्यते ॥ ५ ॥

पृ। २२०)

सह तैश्चैव वैराग्यं संयोगः प्रकृतेर्जयः ।
अतीत्य प्रकृतौह्यष्टौ वर्तन्ते पुरुषेश्वरा ॥ ६ ॥

चत्वारः कथिता योगा महद्योगं यथा भवेत् ।

उपर्युपरि वर्तन्ते योगिनो योगवर्धनौ ॥ ७ ॥

तथैव च प्रलीयन्ते योगधर्मास्वकर्मसु ।
द्वैतभावार्थसंसिद्धा पुनः सृष्टिं व्रजन्ति ते ॥ ८ ॥

अणिमादिगुणा लक्षाद्रूपादिग्रहणात्मिकाः ।
निरोधाद्योगसंसिद्धिः मोक्षस्तेषां न विद्यते ॥ ९ ॥

अणिमादिगुणान् प्राप्य अङ्गविङ्कान् महेश्वरान् ।
नासौ सायुज्यमाप्नोति न भवेद्यावदेकता ॥ १० ॥

पृ। २२१)

ओंकारतत्पराधे तु रेचके पूरके स्थिताः ।
न तेषां तु परं स्थानं आत्मेन्द्रियनिषूदनात् ॥ ११ ॥

प्रणवो वायुरधो नाडी उदानोर्ध्वं व्यवस्थितम् ।
एतत्संशययोगीनां गतानां पुनरागमः ॥ १२ ॥

गमागमनसंयुक्त निरुद्धाग्रन्थिपञ्जरे ।

विद्या योगात्मिका देवि विद्याभावाधिगच्छतः ॥ १३ ॥

भवान्तरयुगापेक्षि सविद्यस्योपजायते ।

अवश्यावेश्ययोगित्वात्ते तु व्याप्यमुदाहृतम् ॥ १४ ॥

ये केचित्कारणाभावान्न ते मुक्तास्तदात्मकाः ।

न योगी युञ्जकः कश्चिन्न च चक्षुर्निमीलितम् ॥ १५ ॥

प्। २२२)

नासाग्रवीक्षणञ्चैव न तु योगं प्रशस्यते ।

देव्युवाच

सावलंबेह्यनित्यत्वं निरालंबेपि शून्यता ॥ १६ ॥

पक्षद्वयेपि दोषोस्ति किं तद्ध्यायन्ति योगिनः ।

ईश्वरः

यथा शिशुरकिञ्चिज्ज्ञो मूढोप्युक्ता न शायितः ॥ १७ ॥

परतत्त्वमजानन्तः पुरुषा बालकोपमाः ।

अज्ञायमाने तज्ज्ञानं ज्ञाते सत् ज्ञेयमिष्यते ॥ १८ ॥

ज्ञेयोद्भवश्च विज्ञानं विज्ञानं तत्तदात्मकम् ।

देवी

प्। २२३)

यथा तज्ज्ञेययोगेन मनस्थास्यति निश्चलम् ॥ १९ ॥

एतन्मे निश्चितं ब्रूहि अत्र मे संशयो महान् ।

ईश्वरः

मनस्तु कथयिष्यामि चतुर्भेदसमायुतम् ॥ २० ॥

यन्न कस्यचिदाख्यातं तदद्य कथयामि ते ।

सात्विकं राजसञ्चैव तामसञ्च विशेषतः॥ २१॥

कथयामि समासेन योगभेदक्रमेण तु।
चतुर्थन्तु महद्योगं अनौपम्यमनामयम्॥ २२॥

तानि प्रवक्ष्यामि मनसं मनसे चेष्टितानि तु।
येन विज्ञातमात्रेण उन्मनत्वं स गच्छति॥ २३॥

पृ। २२४)

संशिष्टश्च स्वलीनश्च विक्षिप्तो गतिरागतिः।
मनश्चतुर्विधं प्रोक्तं भेदं तस्य इमं शृणु॥ २४॥

न मनो नापि मन्तव्यो नमन्ता च न विभाव्यते।
स्वलीनो विषयैर्मुक्ता एकीभूतस्सुषुप्तवत्॥ २५॥

विषयान् गृह्णमानोपि ज्ञेयत्वमधिगच्छति।
न च तैर्युज्यते ज्ञातस्सं शिष्टस्स तु उच्यते॥ २६॥

अज्ञानात् गच्छते ज्ञानं ज्ञानादज्ञानमेव च।

चलते यस्य दौर्बल्यात् तस्यासौ गतिरागतिः ॥ २७ ॥

ज्ञानेन शिष्यते यस्मात् इन्द्रियार्थ परायणः ।
त्रिकालमातलो नित्यं स तु विक्षिप्त उच्यते ॥ २८ ॥

पृ। २२५)

स्वलीनश्चोत्तमस्तत्र गुणातीतो निरामयः ।
मध्यमस्स तु विज्ञेयो संशिष्टस्सात्विकः स्मृतः ॥ २९ ॥

अधमश्च फलक्षुद्रो राजसो गतिरागतिः ।
तामसः स तु विक्षिप्तः चतुर्थोह्यधमो मतः ॥ ३० ॥

गुणात्मकः समुद्दिष्टो मनः प्रायश्च देहिनाम् ।
निर्गुणत्वेधिकत्वेन यत्र लीनो भविष्यति ॥ ३१ ॥

एकीभावगतश्शान्ते स्वकालेनैव गृह्यते ।
सुषुप्तादधिकत्वेन चेति नात्र विशेषणम् ॥ ३२ ॥

न शक्यन्ते तदाख्यातुं न च तस्य तु धारणा ।

न चान्यो ज्ञापकस्तत्र यावन्नस्वतस्वयम् ॥ ३३ ॥

पृ। २२६)

मनसश्च सुलीनश्च यत्सुखं ह्यात्मसाक्षिकम्।
योगावस्था परा ह्येषा प्राहुर्योगविदो जनाः ॥ ३४ ॥

यदा मनः परे तत्वे लब्धलक्षो निलीयते।
तदाह्यशेषविज्ञानं विनाशमुपगच्छति ॥ ३५ ॥

यस्य सर्वगतो भावः स बाह्याभ्यन्तरे स्थितः।
चलितोपि मनस्तस्य चलित्वा यास्यते कुतः ॥ ३६ ॥

ज्ञानं तत्वार्थसंबोध आत्मध्यानप्रकाशता।
ज्ञेयं सर्वसमत्वञ्च ध्यानान्निर्विषयं मनः ॥ ३७ ॥

निराधारो निर्विकल्पः सर्वालयविवर्जितः।
निर्गुणो लक्ष्य रहितः शिवयोगः प्रकीर्तितः ॥ ३८ ॥

पृ। २२७)

मतः कोष्ठिणतो यस्य अन्तस्थः सुसमाहितः।

यथा वायुः सुशीघ्रोपि मुक्त्वाकाशं न गच्छति॥ ३९॥

ज्ञेयं विक्षिप्तचित्तस्य विषस्थोपि निश्चलः।

भुङ्क्ते तु विषयान् सर्वान् नासौ लेह्यलेपकः॥ ४०॥

यस्य सर्वगतो भावो ज्ञेयावस्थो निरन्तरः।

कायानुबन्धिचलिते नासौ चलति निश्चलः॥ ४१॥

यस्या ज्ञेयमिदं सर्वं मनस्त्वभ्यस्य निश्चलः।

एवं योनिर्जितो धीरैस्स गत्वा किं करिष्यति॥ ४२॥

क्षीरक्षये यथा वत्सः स्तनान्मातुर्निवर्तते।

रागक्षये तदा पुंसां मनश्शीघ्रं निवर्तते॥ ४३॥

पृ। २२८)

चलाचलशरीरार्थं चित्तवृत्तिरपेक्ष्यते।

स च त्यागी शरीरस्य सुरुद्धो न भविष्यति॥ ४४॥

इच्छाद्वेषौ सुखं दुःखं विरागो ज्ञानमेव च ।
त्रयोदश विधस्तेन करणं निश्चलीकृतम् ॥ ४५ ॥

स्वभावाच्चलमन्यत्तु चलं वा केन चाल्यते ।
निश्चलं न कदाचित् स्यात् अयुतस्य युतस्य वा ॥ ४६ ॥

देव्युवाच

प्राणाद्या वायवः पञ्च (देहस्था) मनः पञ्च च देवताः ।
पुर्यष्टकं च तन्मात्रं बुध्यहंकारमेव च ॥ ४७ ॥

एभिस्तु व्याकुली भूत्वा वायवो मनसा युताः ।

प्। २२९)

चलते तु सदा देवि सुखदुःखेन मोहिताः ॥ ४८ ॥

सुखदुःखमयो मोह अनेन चलते मनः ।
यस्य तुल्यसुखं दुःखं मनस्तस्य सुनिश्चलम् ॥ ४९ ॥

देव्युवाच

अक्ष्णान्निमीलनञ्चैव नासाग्रस्य तु वीक्षणम्।
न योगी युञ्जकश्चैवार्थतस्तु त्वया विभो ॥ ५० ॥

सावलंबं निरालंबं न योगमुभयात्मकम्।
कथं योगं महादेव ज्ञेयस्य कथयस्व मे ॥ ५१ ॥

ईश्वरः

न योगकरणश्चात्र आधारालंबनं न च।

पृ। २३०)

हृच्चातिनासिकाग्रस्य वीक्षणान्न निमीलनम्॥ ५२ ॥

किञ्चिदाभासमात्रन्तु ज्ञात्वा तु परमां तनुम्।
प्रतिपूरितवद्वायुः सूक्ष्मेण सुषिरेण तु ॥ ५३ ॥

गता न ज्ञायते यद्वत् ज्ञेययोगं तथैव हि।

देव्युवाच

वायुपूर्णशरीरन्तु दृतिवल्लक्ष्यते प्रभो ॥ ५४ ॥

कृतकेन तु कर्तव्यं किं बाह्यकृतकात्मकम् ।
कृतकस्य तु अध्वानं ज्ञातव्यं सर्वथा विभो ॥ ५५ ॥

ज्ञेयस्य कृतकं नास्ति अध्वानं न च कल्पना ।
एतन्मे संशयं देव यत्त्सत्यं तद्ब्रवीहि मे ॥ ५६ ॥

पृ। २३१)

ईश्वरः

अनाख्ये यस्य तत्त्वस्य निर्गुणस्य यशस्विनी ।
गुणवद्ग्रहणं कृत्वा कथयेत्परमेश्वरम् ॥ ५७ ॥

किञ्चिदाभासमात्रन्तु क्रतू कथयेच्छिवम् ।
प्रक्रमाध्वानमार्गन्तु उच्चारकरणानि च ॥ ५८ ॥

स्थातव्यन्तु वरारोहे परित्याज्यमशेषतः।

एवं स निर्जितो तिष्ठेत् मनो दुर्जयचञ्चलम्॥ ५९॥

चलते न कदाचित् स्यात् ज्ञेयावस्थो भवेत्सदा।

अनिर्जितो यथा मल्लो दर्पणीकुरुते बहून्॥ ६०॥

निजितं तिष्ठते धीरः तथा ज्ञेयविदां मनः।

पृ। २३२)

न हि गन्ता भवेत्कश्चित् गन्तव्यञ्च न विद्यते॥ ६१॥

गमागमननिर्मुक्तो घटाकाशेव तिष्ठति।

घटसंवृतमाकाशं नीयमानमितस्ततः॥ ६२॥

घटो निर्याति नाकाशं शिवोह्येवं नभोपमः।

कदलीसारवद्देहं वृतं तत्वदलैस्स्थितम्॥ ६३॥

तस्मात्तत्वदलत्यागी व्ययवद्भवते तदा।

निराकारात्मविज्ञाने भावनागतचेतसः ॥ ६४ ॥

मोक्षोल्पीयस्य नोत्कण्ठः स मोक्षमधिगच्छति ।
मोक्षो नाम स विख्यातो स शरीरो निराकृतिः ॥ ६५ ॥

अचिन्त्यो निर्गुणो मोक्षो न तु मोक्षो लयान्वितः ।

पृ। २३३)

न मोक्षस्य भवेत्तस्मात् न चाध्वानं कदाचन ॥ ६६ ॥

सर्वत्र विगता दृष्टिः स मोक्षो मोक्षवादिनाम् ।
बाहुशो यस्तु वैराग्यं आत्मा निर्व्यापितस्तु यैः ॥ ६७ ॥

तेषामन्योपि नास्त्यत्र गत्वा निरुपपत्तिकम् ।
एवमन्येपि ये केचित् निर्वाप्यन्ते विरागिताम् ॥ ६८ ॥

तथा तेपि गमिष्यन्ते निर्वाणं प्रथमं यथा ।
यथा शिलाश्रितं तोयं क्षपितं सूर्यरश्मिभिः ॥ ६९ ॥

तथा निर्वापितोह्यात्मा गतो निरुपपत्तिकम्।
न तत्तोयगतं भूम्या न च तत्रैव तिष्ठति॥ ७०॥

न च तत् केनचित् पीतं गतो निरुपपत्तिकम्।

पृ। २३४)

एवं ग्राह्यात्मवैराग्यं यदुक्तं गुरुणा हितम्॥ ७१॥

गताध्वानमयं भावं तदेकन्तु सनातनम्।
का ह्याशा मोक्षवादीनां यत्र सर्वे क्षयं गताः॥ ७२॥

एतदत्यन्तवैराग्यमपि सत्वसुखावहम्।
यन्नास्ति तत्र सन्तोषं प्रायः कश्चित्करिष्यति॥ ७३॥

स मुक्तो निर्विकल्पस्तु स विकल्पस्तु बध्यते।
नदीनां सागरं प्राप्य नामरूपं निवर्तते॥ ७४॥

ते तत्र न विजानन्ति परस्परविशेषणम्।
न चान्यो जायते तत्र उदकस्य विशेषणम्॥ ७५॥

तत्र क्षयं गता नद्यस्सदप्येको महोदधिः।

पृ। २३५)

एवं नद्युपमो देही निर्वाणं सागरोपमम्॥ ७६॥

निर्ममास्ते तु तिष्ठन्ति सागराश्रित सिन्धवः।
तिष्ठते निश्चलत्वं हि तृप्तिस्थं तस्य जायते॥ ७७॥

सुखदुःखं न संवेत्ति गृह्णाति शिवजान् गुणान्।
अभावे भावमालंब्य भावं कृत्वा निराश्रयम्॥ ७८॥

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।
अभावे भावमाश्रित्य भावलीनोप्यशङ्कितः॥ ७९॥

विभुरिति समन्तव्यो नात्र कार्या विचारणा।
अभावस्य कुतो भावः निष्कलस्य महात्मनः॥ ८०॥

अमने अव्यवस्थानं निर्वाणं तस्य तत्पदम्।

पृ। २३६)

यस्य जाग्रे प्रलीयन्ते सर्वे भावास्सुषुप्तवत्॥ ८१॥

पर्याप्तं तस्य विज्ञानं त्रिपदं ते न लङ्घितम्।
पूर्वकोह्यक्षरो ज्ञेयः सुरेचितमनक्षरम्॥ ८२॥

कुंभकेन तदा ज्ञेयं क्षराक्षरपरश्शिवः।
सर्वं त्यक्त्वा समाधिस्थ अन्तःकरणगोचरम्॥ ८३॥

ततस्तु पश्यते नित्यं योगिभिस्तदुपास्यते।
गुरूपदेशनिर्दिष्टं संप्रदायं यथा स्थितम्॥ ८४॥

स बाह्याभ्यन्तरे सूक्ष्म अनादि शिव अव्ययः।

देव्युवाच

पितृयानपथं देव देवयानं तथैव च॥ ८५॥

प्। २३७)

निश्चयं श्रोतुमिच्छामि पथद्वय विशेषणम्।

ईश्वरः

पितृयानेन गच्छन्ते इष्टापूर्तरता दिवि॥ ८६॥

ते तत्र अनुभुंजन्ते यदत्र सुकृतं कृतम्।
कृतक्षये निवर्तन्ते पुनर्जायन्ति भूतले॥ ८७॥

पानरोधक्षये पत्रं यथा गत्वा निवर्तते।
पथं चान्द्रमसं सर्वं मिडा तस्य तु सारथिः॥ ८८॥

पितृयानेति विज्ञेयं स पथे यज्ञयाजिनाम्।
क्षीयते वर्धते चन्द्र अस्थिरो विषमश्चलः॥ ८९॥

पितृयानप्रपन्नस्य गतिस्तस्यापि ईदृशी।

प्। २३८)

देवयानपथे सूर्यः सुषुम्ना तस्य सारथिः॥ ९० ॥

तं भित्वा गच्छते योगी दक्षिणेनानिवर्तकः।
सर्वभूतात्मभूतानां साधूनां तत्वदर्शिनाम्॥ ९१ ॥

सर्वकामान्निवृत्तानां स पथोभ्यासयोगिनाम्।
न ते भूयो निवर्तन्ते देवयानेन योगिनः॥ ९२ ॥

तस्मात्सर्वं परित्यज्य दक्षिणेन प्रपद्यथा।
एवं पथं विदुर्देवि पितृयानं समासतः॥ ९३ ॥

देवयानात्पथो नास्ति श्रूयतां येन हेतुना।
पथेन गम्यते यत्र यत्किञ्चित्परिकल्पितः॥ ९४ ॥

अत्र धातामनिर्देश्यं पथो भवति कीदृशः।

प्।२३९)

यथाध्वानञ्च योगञ्च सर्वतन्त्रं न विद्यते॥ ९५॥

शिष्यप्रबोधनार्थाय एवं शास्त्रेषु चोदितम्।

तन्मानार्थमिदं वाक्यं देवयाने यथा तथा॥ ९६॥

सर्वव्यापित्वगमनं पथ्या भवति कीदृशः।

यत्र गम्यति तन्नास्ति न च तत्र पथा क्वचित्॥ ९७॥

नास्ति योगगतिस्तत्र सर्वलक्षात्परं पदम्।

गतिर्नावर्तते वश्यं सुदूरेष्वपि योगतः॥ ९८॥

देवयाने पथे नास्ति तेनासौ न निवर्तते।

यः कश्चित्पितृयानेन पथेन तु गतो नरः॥ ९९॥

निवर्तते सुदूरोपि यत्र यानं समाश्रितः।

प्। २४०)

देवयानेन सो गत्वा सर्वपापैर्विवर्जितः॥ १००॥

भोक्तव्यञ्चैवमैश्वर्यमाशापाशविवर्जितम्।

करणञ्चैव संज्ञा च अहङ्कारं तथैव च॥ १०१॥

निवर्तते यतस्सर्वं कथं तत्र विभज्यते।

ऐश्वर्यं चोदितं शास्त्रे अल्पसत्वमनौपमम्॥ १०२॥

निराभासे तथैश्वर्यं न कदाचिद्भविष्यति।

यस्येश्वरोपि नैराश्यं निराशं संप्रशस्यते॥ १०३॥

त्यक्तं येन जगत्सर्वं आत्मा भोक्तव्य एव च।

आत्मार्थे सर्वकार्याणि आशाभूतः प्रवर्तते॥ १०४॥

आत्मत्यागः कृतो येन तस्याशा कस्य कारणे।

पृ। २४१)

तावद्बध्यति संसारे यावदाशा न मुञ्चति॥ १०५॥

आशाच्छेदः कृतो येन स मुक्तः सर्वबन्धनैः।

अतीतानागतञ्चैव वर्तमानं तथैव च॥ १०६॥

अथात्मा स्थावरान्ततत्वसर्वज्ञानादि कृत्रिमम्।

जातं नास्ति तथावश्यं अजातञ्च विशेषतः ॥ १०७ ॥

एवं नैराश्यभावेन महामोहं त्यजिष्यति ।

अजातत्वादजो नास्ति जातं नास्त्यविनाशकम् ॥ १०८ ॥

चतुर्विधञ्च यज्ज्ञानं तदेव कृतकं स्मृतम् ।

काममूलो महावृक्षः संसारस्तीक्ष्णकण्टकः ॥ १०९ ॥

सिच्यते रागतोयेन फलग्राहेण वर्धते ।

प् । २४२)

कामरागन्न * * * * स जिष्यति पण्डितः ॥ ११० ॥

वृक्षोपमन्तु संसारं सर्वमुन्मूलयिष्यति ।

प्रागुक्ताङ्गबलं सर्वं विद्युद्दर्शनसन्निभम् ॥ १११ ॥

योह्यज्ञः पर्युपासीत स मृत्युः पर्युपास्यते ।

तस्माच्छिद्रं पवित्रञ्च क्षेममङ्गुलमेव च ॥ ११२ ॥

स्वस्ति शान्ति शिवं तस्य हृदयं यस्य निष्प्रभम्।
पातालस्सप्तलोकान्तः सर्वमेतद्विभीषिका ॥ ११३ ॥

भगनाशा शून्यमंत्रेण ते स्मृता मन्त्रवादिनः।
न हुतं न च वा दत्तन्न परत्र नचैहिकम्॥ ११४ ॥

नचात्र बध्यते कश्चित् न च कश्चिद्विमुच्यते।

पृ। २४३)

बन्धव्यो बन्धनञ्चैव तथा चैवान्यबन्धकः॥ ११५ ॥

दाता प्रतिगृहीता च तथा दातव्यमेव च।
अग्निदर्भाश्च मन्त्राश्च होता होतव्यमेव च ॥ ११६ ॥

यत्र शून्यन्निराभासं कुतस्तत्र इमे स्मृताः।
अग्निहोत्रादयो यज्ञा वेदाश्च ऋषयस्तथा ॥ ११७ ॥

असुराः पितरो देवाः सर्वेह्यपरमार्थिकाः।
सर्वे मन्त्रात्मका देवा देवो मन्त्रगणस्मृतः ॥ ११८ ॥

दैवं पैत्रञ्च यज्ञाश्च सर्वे तिष्ठन्ति मन्त्रतः ।
तत्र मन्त्राणि वर्तन्ते तत्र ज्ञेयं सुनिष्कलम् ॥ ११९ ॥

तस्मात् मन्त्रोदितं सर्वं विद्यादपरमार्थिकम् ।

पृ। २४४)

सर्वे धर्मा विरुध्यन्ते परमार्थस्य निश्चयात् ॥ १२० ॥

नैतद्ग्राह्यं गृहस्थानां ज्ञानमेतत्तु नैष्ठिकम् ।
न च नास्ति क्रिया यज्ञा अस्तित्वे च फलप्रदाः ॥ १२१ ॥

फलश्चात्मा प्रियैस्त्यक्तः तेषां तेनास्ति सुन्दरी ।
ना पृष्ठः कस्यचिद्ब्रूयात् न चान्यायेन पृच्छितः ॥ १२२ ॥

अन्यायैः पृच्छिते यस्तु न ब्रूयात्तस्य पृच्छतः ।
विदितो योगसद्भावे तदाक्षमपुनर्गृही ॥ १२३ ॥

अपुनर्गृह्वासेति येनोक्तं तस्य भाषयेत् ।

विरागे निश्चयो यस्य ज्ञेयस्य प्राङ् निवेदयेत्॥ १२४ ॥

पुत्रदारकुटुंबेषु सक्तं सर्वमिदं जगत्।

पृ। २४५)

तस्य त्यागः कृतो येन तद्विरागस्य लक्षणम्॥ १२५ ॥

अनैष्ठिकेन वक्तव्यं गोष्ठिकामे कुटुंबिने।
सस्पृहे चावरक्ते च दुष्टचित्तेजितेन्द्रिये ॥ १२६ ॥

तव देवि मम ख्यातं मम भक्तेति सुन्दरि।
तस्मात्सन्यासिनं मुक्त्वा नाख्येयं कस्यचित्त्वया ॥ १२७ ॥

देयुवाच

मत्सरीत्वं महादेव समत्वं यन्न पश्यति।
सिद्धान्ते ब्रूहि को दोषो गृहस्थानां प्रकाशते ॥ १२८ ॥

श्रुतिस्मृत्युदितो मार्गो धर्मकामार्थसंयुतः।

सिद्धान्ते केवलं ज्ञानं धर्मकामार्थवर्जितम् ॥ १२९ ॥

पृ। २४६)

धर्माद्यास्तत्र हीयन्ते तेषाञ्चैव प्रकाशते।
न सिध्यते च तत्कार्यं तस्यारंभो निरर्थकः ॥ १३० ॥

दद्याद्यो विमलं वेद्या अदत्त्वामलशोधनम्।
ओषधीन्नैव सिध्येत मतिग्रस्तस्य देहिनः ॥ १३१ ॥

तद्वद्दोषो भवेद्देवि गृहस्थानां प्रकाशते।
न दोषोयमियद्ब्रूहि श्रूयतां केन हेतुना ॥ १३२ ॥

ऐहिकामुष्मिकान् भोगान् यो भुङ्क्ते तु वरानने।
कदाचिद्यजते यज्ञं तेन यज्ञो विदूषितः ॥ १३३ ॥

अभोज्यं भोक्तुकामस्य अनर्थकमिदं भवेत्।
विधियज्ञ प्रमाणस्तु सस्पृहस्य न युज्यते ॥ १३४ ॥

पृ। २४७)

त्यागात्संसिध्यते ज्ञेयः सस्पृहस्तु न सिध्यति।

गृहस्थस्य परित्यागो न कदाचिद्भविष्यति॥ १३५॥

ऐहिकामुष्मिकान् तृष्णान् त्यक्त्वा त्यागी भविष्यति।

गृहस्थोपि परित्यक्तुं ऐहिकं नैव शक्यते॥ १३६॥

वित्तहीने गृहस्थत्वं न कदाचित्प्रसिध्यति।

उपादानन्तु वित्तस्य सर्वोपायेन कारणम्॥ १३७॥

तृष्णाञ्चाशेषतः त्यक्त्वा वैराग्येन यदा स्थितः।

पञ्चसु नादृतैर्दोषैः गृहीणां गृह्यते तदा॥ १३८॥

गृहस्थत्वं भयं घोरं लोभा * * * जेष्यति।

न स त्यजति संसारलोभमोहतमो व्रतः॥ १३९॥

पृ। २४८)

यथा सर्वं परित्यज्य तथेदं श्रुतिरब्रवीत्।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगतां जगत्॥ १४०॥

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा माहृथाः कस्यविद्धनम्।

तद्गृहस्थस्य किं बाह्यमस्मिन् लोकेप्यवस्थितम्॥ १४१॥

यत्रासक्तो दयां त्यक्त्वा भूतग्रामं जिघांसति।

तस्मात्सुन्दरि तस्यापि गृहे मुक्तिर्न दृश्यते॥ १४२॥

न च संयासयोगेन इच्छाद्वेषस्य वर्जनात्।

न माया मत्सराद्युक्तो गृहस्थोपि न सिध्यति॥ १४३॥

त्यागहीना न सिध्यन्ति पक्षद्वयविडंबकाः।

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च द्विविधं कर्म कीर्तितम्॥ १४४॥

पृ। २४९)

अन्तःकरणहीनस्य न किञ्चिदपि सिध्यति।

लोकस्य सर्वतो मौनी समश्शान्तः समाहितः॥ १४५॥

सर्वमात्मवशं पश्येत् भूतग्रामे चतुर्विधे।

देव्युवाच

नोपकाराय यत्किञ्चित् न चान्यो जायते गुणः ॥ १४६ ॥

मौनभावेन देवेश तस्मान्मौनं निरर्थकम् ।

ईश्वरः

उपकारकृतस्तेन परेषां हितकाम्यया ॥ १४७ ॥

येन निर्वापितो ह्यात्मा वैराग्यं गृह्यते यतः ।
अनेन हेतुना दुःखं शरीराद्विनिवर्तते ॥ १४८ ॥

येन निर्वापितो ह्यात्मा वैराग्यं गृह्यते यतः ।
अनेन हेतुना दुःखं शरीराद्विनिवर्तते ॥ १४९ ॥

प् । २५०)

परेभ्यः कुरुते दुःखं यं यं वाचा समीहते ।

देव्युवाच

अस्य वैराग्ययोगस्य किं भवेत्सिद्धि वा न वा ॥ १५० ॥

एतदिच्छामि विज्ञातुं भगवन् वक्तुमर्हसि ।

ईश्वरः

शृणु देवि परं गुह्यं तस्यसिद्धिमनौपमाम् ॥ १५१ ॥

न रूपं न च वर्णञ्च न च तस्यैव भावना ।
सकलं निष्कलञ्चैव करणाधारवर्जितम् ॥ १५२ ॥

न चोच्चारविभक्तिश्च वर्णरूपविवर्जितः ।
अमनस्थ महायोगं सर्वसिद्धिप्रदायकः ॥ १५३ ॥

पृ। २५१)

गुरुप्रसादमात्रन्तु पारंपर्यं वरानने ।
तं लब्ध्वा लब्धमात्रस्तु यथा सिद्धिं लभेन्नरः ॥ १५४ ॥

समुदायमिदं ज्ञानं न पृथक्त्वं कदाचन।

स्वरवर्णविहीनस्तु सर्वसिद्धिप्रदं शुभम्॥ १५५॥

तेन ज्ञेयमिति प्रोक्तं यस्माद्भ्रान्तिर्न जायते।

भ्रान्ति निर्नाशनं ह्येतत् सर्वज्ञानार्थ साधकम्॥ १५६॥

सर्वज्ञानमिति ज्ञेयं सर्ववर्णप्रसाधकम्।

एतद्देवि महाज्ञानं विज्ञानं शून्यमव्ययम्॥ १५७॥

बिन्दुमात्रा विनिर्मुक्तस्वरवर्णविवर्जितम्।

ज्ञेयमेतत्समाख्यातं जरामृत्युविनाशनम्॥ १५८॥

पृ। २५२)

सर्वव्याधिहरश्चैव सर्वपापान्तकं तथा।

अचिन्त्यं सूक्ष्ममाकाशमशेषव्यापकं परम्॥ १५९॥

ईषत्प्रसार्य वक्रन्तु जिह्वाकाशे नियोजयेत्।

तस्मिंस्थाने तु यत्किञ्चित् स्पर्शमीषद्विभावयेत्॥ १६०॥

भवितव्यन्तु योगीभिः सिध्यर्थमिदमुत्तमम् ।
अस्यैव कथयेद्देवि योगस्य विधिमुत्तमम् ॥ १६१ ॥

विज्ञप्तेन तु कुर्वीत सत्यं देवि वदाम्यहम् ।
न देवा नासुरा यक्षा न नागा न च राक्षसाः ॥ १६२ ॥

किन्नराप्सरसश्चैव पिशाचा न च भूतले ।
न वसुः न च विद्या च विद्याधरगणेन च ॥ १६३ ॥

प्। २५३)

लोकपालान नक्षत्रा चन्दसूर्यौ न चैव हि ।
न वायुस्सलिलश्चैव न वृक्षा न च पर्वताः ॥ १६४ ॥

न मेरुर्गिरिराजानो न चैव विषयस्तथा ।
न ब्रह्मा न च वै विष्णुः नाहं देवि त्वया सह ॥ १६५ ॥

अनन्तं सर्वमेतत्तु स किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।
एवं यो भावयेद्योगी विततं शून्यमव्ययम् ॥ १६६ ॥

न यमो मयतो वापि न कार्यं तस्य वर्तते ।
दष्टो यदि महानागैरनन्तगुलिकादिभिः ॥ १६७ ॥

न विषं क्रमते तस्य यस्तु शून्यं विचिन्तयेत् ।
अपरञ्च परञ्चैव सर्वमस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥ १६८ ॥

पृ। २५४)

शून्यध्यानमिदं देवि मयोक्तं विधिवत्त्वया ।
धर्माधर्मक्षयं कर्म जन्मव्याधि विनाशनम् ॥ १६९ ॥

ईदृशज्ञानसद्भावं न दद्याद्यस्य कस्यचित् ।
दीक्षयित्वा महादेवि दातव्यं सुपरीक्षिते ॥ १७० ॥

इदञ्चारमिदञ्चारमिह देहस्यगोचरे ।
इदं तत्वमिदं तत्वमिदं ज्ञानमिदं सर्वज्ञमेव च ॥ १७१ ॥

इदन्नाडीसुसञ्चारमेवं ज्ञात्वा विमुच्यते ।
एवं वदन्ति बहव अन्योन्यज्ञानगर्विताः ॥ १७२ ॥

एवञ्च निश्चितं ज्ञात्वा न तु तत्वं प्रकाशयेत्।
ब्रह्मचारीति वक्तव्यमहो शान्तेति वा पुनः॥ १७३॥

पृ। २५५)

एवं वा तोषयित्वा तु तूष्णीं भूतस्समाचरेत्।
शृणु देवि परं गुह्यं स मुद्राभिनयमुत्तमम्॥ १७४॥

एतद्विज्ञानमात्रेण अभावं पदमाप्नुयात्।
सव्यहस्तेन कर्तव्यं मुद्राबन्धमनुत्तमम्॥ १७५॥

सर्वेषां ज्ञानिनामेतत् सर्वदर्पापहं महत्।
यदि स्यात् ज्ञानिनः कश्चित् ज्ञानिनो गृहमागतः॥ १७६॥

दर्शयेभिनयं देवि येन विज्ञायते श्रमम्।
एवं ज्ञानी यदा ज्ञानं पृष्टव्यं पुनरेव हि॥ १७७॥

कथयेद्यस्य मुद्राया देवतामनुपूर्वशः।
तदा तस्य पुनर्देवि पृष्टव्याः गुरवः क्रमात्॥ १७८॥

पृ। २५६)

गुरू शास्त्रक्रमञ्चैव ज्ञात्वा तद्वद्विशारदः।
तदा तत्पूजयेद्देवि शिववच्छिवसंमतः॥ १७९॥

तस्य लक्षणतो ब्रूहि मुद्राया वरवर्णिनी।
येन विज्ञातमात्रेण न पुनर्जन्म चाप्नुयात्॥ १८०॥

कनिष्ठायां स्थितो ब्रह्मा अनामायाञ्च केशवः।
मध्यमायां स्थितो रुद्रः तर्जन्यामजमीश्वरः॥ १८१॥

सदाशिवस्थितोङ्गुष्ठे कथितन्तु समासतः।
तर्जन्यङ्गुष्ठकौ लग्नौ नीतोर्ध्वं विसृजेत्पुनः॥ १८२॥

संमुखेन तु देवेशि सकृतत्वप्रकीर्तितः।
मध्यमानामिका चैव कनिष्ठाया समन्वितः॥ १८३॥

पृ। २५७)

प्रसृतादि सदा देवि मुद्रयाभिनयं शुभम्।
ज्ञातेनानेन मुद्राया मुच्यते पाशबन्धनात्॥ १८४॥

कुलकोटिशतं साग्रं नरकात्तार इष्यति ।

इति निश्वासकारिकायां द्वात्रिंशत्पटलः ॥

देव्युवाच

ज्ञात्वा ज्ञानं परं दिव्यं योगसद्भावमुत्तमम् ।
कृताञ्जलि पुटाभूत्वा देवी वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

देव्युवाच

तत्वविज्ञानयोगञ्च शक्तिनादन्तथैव च ।
बिन्दुदेवस्य विज्ञानमष्टभेदस्य शङ्कर ॥ २ ॥

पृ। २५८)

योगसद्भावविज्ञानं ज्ञातं मे त्वत्प्रसादतः ।
न यत्र सूत्रे देवेश पतिसद्भावमुत्तमम् ॥ ३ ॥

एकस्मिन् कथितास्सर्वे विदितास्त्वत्प्रसादतः।
पुनश्च श्रोतुमिच्छामि भगवन् वक्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

प्रकृतिमादितः कृत्वा नाडीं वायु समन्विताम्।
कथयस्व महेशान प्रश्नं गुह्यतरं प्रभो ॥ ५ ॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि परं गुह्यं योगसद्भावमुत्तमम्।
सर्वसंहितसामान्यं कथयामि महाफलम् ॥ ६ ॥

प्रत्याहुस्तथा ध्यानं प्राणायामोथ धारणा।

प्। २५९)

तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥ ७ ॥

चित्तं चेता तथा चिन्ता पञ्चधा कथितं मया।
योगस्य करणान्येते कथितानि मया तव ॥ ८ ॥

एवमुत्पद्यते योगो धारणा सुकृतश्रमः।

देव्युवाच

ध्यानधारणचिन्ताभिः योगारंभक्रियादिभिः॥ ९॥

कालेन यदि सिध्येत भगवन् किं कृतं त्वया।
यदात्मपीडारहितं विना क्लेशैरवाप्यते॥ १०॥

ज्ञानं कथय देवेश सद्यः फलविभूतिदम्।
पुराणे सांख्ययोगे च यादृशं कथितं प्रभो॥ ११॥

प्।२६०)

अत्रापि तादृशं प्रोक्तं किं विशेषमुदाहृतम्।
योगधारणसंयुक्ता वेदाद्याः परमेश्वर॥ १२॥

महाज्ञानं विनैव किंमत्र भवता कृतम्।
अनाख्येयमनिर्देश्यं भगवन् कथितन्तु यत्॥ १३॥

तन्मया विदितं देव गृहीतजीवितं दृढम्।
प्रकृतिं पुरुषञ्चैव नियतिं कालमेव च॥ १४॥

मायाविद्येशमीशञ्च सद्योगं कथयस्व मे।
विना तु करणैर्देवो ध्यानधारणवर्जितः॥ १५॥

तदहं श्रोतुमिच्छामि भगवन् वक्तुमर्हसि।

ईश्वरः

प्। २६१)

अहं ते कथयिष्यामि योगसद्भावमुत्तमम्॥ १६॥

यत् ज्ञात्वा तत्क्षणादेव कृतार्थो जायते नरः।
येतदत्यन्तसुखदमशेषफलभूषितम्॥ १७॥

देवतानामृषीणाञ्च ज्ञानञ्चैतत्प्रकाशितम्।
यदेतदमृतं ब्रह्म जनस्सर्वोधिगच्छति॥ १८॥

तदा विमुच्यते लोके शून्या च पृथिवी भवेत्।
सर्वे धर्माः प्रलीयन्ते वेदयज्ञतपः क्रियाः॥ १९॥

नश्यन्ति चाग्निहोत्राणि मर्यादाश्च पृथग्विधाः।
यान्ति देवा अदेवत्वमध्या तप विवर्जिताः॥ २०॥

एतस्मात्कारणाद्देवि गोपितं कथितं मया।

प्।२६२)

योगधर्मार्थ शास्त्राणि विस्तीर्णगहनानि च॥ २१॥

दृष्टान्योन्यविरोधीनि तेषु निष्ठा न विद्यते।
विदेह्चक्रमारूढमेवं भ्राम्यति वै जगत्॥ २२॥

परस्परविरोधेन वर्तन्ते सर्वयोगिनः।
त्वया दुर्ललितेनाहं पृष्टो भक्त्या प्रचोदितः॥ २३॥

ग्राहेणैव गृहीतोस्मि अवश्यं कथयामि ते।
न ब्रह्मा न च वै विष्णुः उतान्ये सुरसत्तमाः॥ २४॥

वक्तुमेवं विधं प्रश्नं त्वदृते तु वरानने।
तस्माच्छृणुष्व सद्भावं निस्संदिग्धमविस्तरम्॥ २५॥

दि लक्षणगुणावाप्तिं क्षणादायासवर्जिताः।

पृ। २६३)

सिद्धिदा मोक्षदा चैव तुष्टिदा पुष्टिवर्धना॥ २६॥

ज्ञानदा प्रीतिदा चैव आयुरारोग्यदा तथा।
घोषिणी पिङ्गला चैव वैद्युती बिन्दुमालिनी॥ २७॥

चान्द्री मनोनुगा चैव सुकृता च तथा परा।
सौम्या निरञ्जना चैव निरालंबा च कथ्यते॥ २८॥

नाड्यस्त्वेता विनिर्दिष्टा मरुतादितृलंकृता।
पूर्वमात्मा तु मेधावी शिवेन परमेण तु॥ २९॥

कृत्वा पूर्वमशेषन्तु पश्चाद्ध्यानं समारभेत्।

एकाग्रमनसो भूत्वा जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ॥ ३० ॥

चतुर्विंशति मे तत्वे मात्रा नाम्ना तु घोषिणी ।

पृ। २६४)

द्वितीया पिङ्गला नाम्ना सा तत्वे पञ्चविंशके ॥ ३१ ॥

षड्विंशके समाश्रित्य संस्थिता वैद्युती सदा ।
सप्तविंशति मे तत्वे विज्ञेया बिन्दुमालिनी ॥ ३२ ॥

अष्टाविंशति मे तत्वे मात्रा तिष्ठति चन्द्रिणी ।
एकोनत्रिंशतितमे मात्रा तिष्ठेन्मनोनुगा ॥ ३३ ॥

ततस्त्रिंशति मे तत्वे तामाहुः सुकृतेति च ।
एकविंशत् समाश्रित्य सौम्या मात्रा व्यवस्थिताः ॥ ३४ ॥

द्वित्रिंशके समाश्रित्य स्थिता मात्रा निरञ्जना ।
त्रयस्त्रिंशे निरालंबा तस्या लक्षं न विद्यते ॥ ३५ ॥

त्रयस्त्रिंशतिकः पुरुषे नवमात्रावलंबकः।

पृ। २६५)

तेषु लक्षणदिन्यानि लक्षितव्या विपश्चितैः॥ ३६॥

देव्युवाच

यान्येतानि च तत्वानि नवमात्राश्रयाणि तु।

तेषामवाप्तिं गमयन् कथं सद्योपलभ्यते॥ ३७॥

सामान्ययोगशास्त्रेषु अनेकाकारवागुरैः।

सीदन्त्यायासबहुलैः मृगाः कूटेव संस्थिताः॥ ३८॥

वायुरोधं विना देव ध्यानधारणवर्जितम्।

सद्योपलब्धिसुखदं तन्मे ब्रूहि महेश्वर॥ ३९॥

ईश्वरः

शृणुष्वावहिता देवि अश्राव्यमकृतात्मनाम्।

पृ। २६६)

यं प्राप्य सद्यश्शिवतां लभन्त्यायासवर्जिताः ॥ ४० ॥

यत्र तत्राश्रमरताः यत्र तत्र निवासिनः ।
लीयन्ते तु यथा लक्षे निमेषाध्ये तु ? ॥ ४१ ॥

स्रोत्रराद्धौ तथाङ्गुष्ठौ घ्राणमङ्गुलिभिस्तथा ।
ततोस्य सर्वतो व्यापी ध्वनिरूर्ध्वं विजृम्भते ॥ ४२ ॥

भुक्तं भुक्तं पचत्यग्निः शरीरेषु शरीरिणाम् ।
तस्य तेन प्रयोगेन शब्दमाहुरकृत्रिमम् ॥ ४३ ॥

चतुर्विंशति तत्वस्य स्रुत्वा पापैः प्रमुच्यते ।
तस्मात् षड्जादयस्सप्त स्वयंभुरसृजत्पुरा ॥ ४४ ॥

यैरिदं सततं सर्वं सदेवासुरमानुषम् ।

पृ। २६७)

सप्त स्वरास्तु संभूता ध्वनिमभ्यसतस्सदा ॥ ४५ ॥

ततोस्य मासमात्रेण * क पिण्डीकृतो नलः ।
रजस्तमं ततो भित्वा ज्योतिरन्ते प्रकाशते ॥ ४६ ॥

बाह्यतोपि यथा दृष्टं पश्यत्यन्ते तथैव सः ।
त्रिभिर्मासै स्वतन्त्रश्च शिवत्वं तस्य जायते ॥ ४७ ॥

एषा ते प्रथमा मात्रा कथिता देवि घोषिणी ।
लक्षेस्मिन् मनसा ज्ञानं नावज्ञां कर्तुमर्हसि ॥ ४८ ॥

एवं वै यो विजानाति स पापेन न लिप्यते ।
श्वपचेष्वपि भुञ्जानाः पद्मपत्रमिवांभसि ॥ ४९ ॥

इति ते कथिता देवि प्रथमा त्रातु घोषिणी ।

पृ। २६८)

अतः परं प्रवक्ष्यामि लयमायासवर्जितम् ॥ ५० ॥

स्वदेहादुत्थितां सद्य शृणुमात्रान्तु पिङ्गलाम्।
सूर्यातपे बहिस्थित्वा किञ्चित् भक्तिसमाश्रितः॥ ५१॥

लक्षयेदात्मनो धूमं तालुं भित्वा विनिर्गतम्।
यथा यथा तु चैतस्मिन् मनो लक्षे समादधे॥ ५२॥

तथा तथास्य महती वर्त्ति धूमस्य वर्द्धते।
एवं मासप्रयोगेन मूध्निचारमपावृतम्॥ ५३॥

तुर्यान्ते पिङ्गला मात्रं लयं तस्योपलक्षयेत्।
देवयानपथं दृष्ट्वा पश्यतात्मानमात्मनि॥ ५४॥

लोकालोकांश्च सकलान् सहाह्याभ्यन्तरे स्थितान्।

पृ। २६९)

धूमानुमार्गाञ्ज्योतींषि तां दृष्ट्वा न भृतं पदम्॥ ५५॥

विमुक्तस्सर्वपापेभ्यो निर्द्वन्द्वं पदमाप्नुयात्।
एवं ते पिङ्गलालक्षं मनसा परिलक्षितम्॥ ५६॥

आत्मानं पश्यते तत्र शिवञ्चैव परापरम्।
अनेन विधिना देव तेजसा परिसंवृतः॥ ५७॥

सतताभ्यासयोगेन षण्मासेनैव सिध्यति।
चिन्तितं मनसा सर्वं संपादयति लीलया॥ ५८॥

देहपाते व्रजत्याशु शिवस्य परमं पदम्।
पञ्चविंशति मे तत्वे लक्षमेतत्प्रकीर्तितम्॥ ५९॥

कथितन्तु रहस्यन्तु मोक्षमार्गविशोधनम्।

पृ। २७०)

पञ्चविंशतिमं लक्षं कथितं तव शोभने॥ ६०॥

अथ षड्विंशके तत्वे वैद्युतीं शृणु सुवृते।
योगारंभं विनायामं लीलामार्गोपशोभितम्॥ ६१॥

रात्रौ शयनकाले तु प्रविश्याभ्यन्तरं विना।

विना दीपान्धकारे तु उद्धृत्य नयने स तु ॥ ६२ ॥

ततस्तान् नेत्रजान् दीप्तिं तटद्वलयसन्निभाम् ।
सौदामिनीव चपलां दृष्ट्वा द्रष्टृ प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

प्रयोगमेतत् सततं कृत्वा कृत्वा तु विश्रमेत् ।
स्थित्वा कालान्तरं किञ्चित् तान्येवाभ्यसतः पुनः ॥ ६४ ॥

यथा यथा तु चाभ्यासं कुरुते साधको निशि ।

पृ। २७१)

तथा वर्धति तत्तेजस्तैलबिन्दुरिवांभसि ॥ ६५ ॥

पश्यतेन्यावृतं व्योम स्फुलिङ्गा इव काञ्चने ।
तानेव तु गृहान् विद्वान् पश्यते च न संशयः ॥ ६६ ॥

दशार्धमासयोगेन ज्योतिरन्ते प्रकाशते ।
दृष्ट्वा ज्वलनं सर्वत्र दिव्यं चक्षुःप्रवर्तते ॥ ६७ ॥

तत स्वतन्त्रतामेति विशते च परे शिवे।
एतत्ते कथितं लक्षं सुषुम्नायां व्यवस्थितम्॥ ६८॥

कथितं ते यथा न्यायं गूढं सङ्गोपितं मया।
ततस्वच्छन्दतामेति शिवतत्वेन संशयः॥ ६९॥

सप्तविंशति मे तत्वे या स्थिता बिन्दुमालिनी।

पृ। २७२)

तस्योपलब्धिं तस्यापि लक्षन्तु कथयामि ते॥ ७०॥

शुचिर्भूत्वा बहिर्ग्रामात् तरुच्छायां समाश्रितः।
किञ्चिदुन्नम्य वक्रन्तु शुद्धमालोक्येन्नभः॥ ७१॥

तस्मिन् स लाय चैतन्यं पश्यत्याकाशसातपम्।
ज्योतिस्फटिकसंकाशा निपतन्त्युत्पतन्ति च॥ ७२॥

इडयास्तद्भवेद्रूपं देवानान्ते च विद्युषा।
यथा यथा हि योगेन तस्मिन् लक्षं स सन्दधे॥ ७३॥

तथा तथा दिशस्सर्वा बहिः पूर्णैरिवा वृताः।
अनेकाकारवश्ये तु स बाह्याभ्यन्तरे स्थिताः॥ ७४॥

दृष्ट्वात्मना तदा योगी पुण्यपापैर्न लिप्यते।

प्। २७३)

त्रैलोक्ये सर्वभूतानां सुभगः प्रियदर्शनः॥ ७५॥

जायते नात्र सन्देहः ततो नामाधि गच्छति।
एष ते कथिता मात्रा सौम्याख्या बिन्दुमालिनी॥ ७६॥

मुच्यते सर्वरोगैश्च देहपाते शिवं व्रजेत्।
सप्तविंशति मे तत्वे लक्षमायासवर्जितम्॥ ७७॥

अष्टाविंशति मे तत्वे मात्रा नाम्ना तु चान्द्रिणी।
योगारंभं विनायासं मन्त्रोच्चारविवर्जितम्॥ ७८॥

यत्र यत्र स्थितो देशे यत्र तत्राश्रमे रतः।

पूर्वमध्या परा हेतुः अभ्यसेल्लक्षमुत्तमम् ॥ ७९ ॥

श्वेता रक्ता तथा पीता कृष्णा चैव यथाक्रमम् ।

पृ। २७४)

वर्चसं स्फटिकाभन्तु लक्षयेत्परमाणवम् ॥ ८० ॥

किञ्चिदुन्नम्य वक्रन्तु निर्मले तु नभस्थले ।
एकैकाभ्यासयोगेन सिध्यते साधकेश्वरः ॥ ८१ ॥

वायव्याः कृष्णवर्णास्तु आद्ये शेषविनाशने ।
उच्चाटने यथोन्मत्ते योजयेद्योगवित्सदा ॥ ८२ ॥

एवमादीनि चान्यैस्तु ताडनं स्तंभनादि च ।
आप्यायनञ्च पुष्टिश्च शान्तिकादि क्रमेण च ॥ ८३ ॥

कुरुते योगविच्छ्रीमान् एकैकाभ्यासयोगतः ।
प्रतिमासप्रयोगेन एभिः कर्माणि कारयेत् ॥ ८४ ॥

षण्मासा ध्यानयोगेन त्रैलोक्यं यत्प्रवर्तते ।

पृ। २७५)

प्रत्यक्षं जायते तस्य सिध्यन्ते च शिवो भवेत् ॥ ८५ ॥

पञ्चमः सर्वकर्माणि कुरुते परमाणवः ।
पञ्चरूपधरं ह्येतत् पञ्चमं यत्प्रकीर्तितम् ॥ ८६ ॥

ध्यात्वात्मैवं विधं योगी सर्वकर्माणि कारयेत् ।
तेषां मध्ये पुनर्योगी पश्यते ऊर्मिसङ्कुलाम् ॥ ८७ ॥

वीचीतरङ्गकुटिलां विद्युद्रेखासमप्रभम् ।
सभोग भोगिसङ्काशामिन्द्रायुधसमप्रभाम् ॥ ८८ ॥

यथा यथा तु चैतन्यस्तस्मिन् लक्षे समादधे ।
तथा तथा तु संपश्य ऊर्मिरेवतिरन्तरम् ॥ ८९ ॥

एतां दृष्ट्वा तु योगीन्द्र पुण्यपापक्षयो भवेत् ।

पृ। २७६)

सतताभ्यासयोगेन सिध्यते नात्र संशयः॥ ९० ॥

द्वादशार्धार्धमासेन क्षुत्तृष्णा परिवर्जितः।
दिव्यदृष्टितनुर्दिव्या जायते नात्र संशयः॥ ९१ ॥

संवत्सरेण युक्तात्मा योगीन्द्रः सुसमाहितः।
दूराच्छ्रवणविज्ञानं मनश्चावलोकनम्॥ ९२ ॥

प्रत्यक्षं जायते तस्य त्रैलोक्यं यत्प्रवर्तते।
अन्तर्धानो तथा कर्षो पादचारे तथैव च॥ ९३ ॥

वायव्येन च कर्तव्यं के च वैहायसादयः।
आग्नेयैः शोषणं कुर्यात् ताडनं मारणानि च॥ ९४ ॥

स्तंभनं मूकताञ्चैव पार्थिवेन तु कारयेत्।

पृ। २७७)

आप्यायनादितः कृत्वा वारुणेन तु कारयेत्॥ ९५ ॥

पञ्चमं सर्वकार्येषु प्रयोज्यं योगिना सदा।

अष्टाविंशति मात्रस्य लक्षह्येताः प्रकीर्तिताः॥ ९६॥

एकोनत्रिंशके तत्वे मात्रा तत्र मनोनुगा।

लक्षितव्या प्रयत्नेन यदिच्छेत्सिद्धिमात्मनः॥ ९७॥

एकान्ते विजने गत्वा दिव्ये चाक्ष्णौ निमीलयेत्।

आत्मा तु काञ्चनच्छाया अक्ष्णी आवृत्य तिष्ठति॥ ९८॥

तस्मिन् सन्धाय चैतन्यं निनादस्संप्रविश्यति।

सितरक्तपीतकृष्णमिन्द्रायुधसमप्रभम्॥ ९९॥

अन्योन्यवेधिनां वर्णा दृष्ट्वा दृष्ट्वा पुनः पुनः।

पृ। २७८)

लक्षयीत पुनस्तान्तु राजिकापरिवर्त्तुलाम्॥ १००॥

छायामध्ये तु लक्ष्यन्ते चित्रास्सर्वगताश्शुभाः।

सर्वदेवमयो देवि देवानाञ्च पृथक् पृथक् ॥ १०१ ॥

तानि रूपाणि पश्यन्ते बिन्दुरूपाणि सुन्दरी ।
तयोर्योगी दिवारात्रौ नान्यं पश्यति चक्षुषा ॥ १०२ ॥

मासेनाल्पपुरीषत्यं क्षुत्तृष्णापरिवर्जितः ।
सुगन्धास्य तनुर्दिव्या जायते तृप्तिरेव च ॥ १०३ ॥

मासद्वयानुबन्धेन दिव्यचक्षुः प्रजायते ।
नश्यन्ति पुण्यपापानि तमः सूर्योदये यथा ॥ १०४ ॥

सतताभ्यासयोगेन त्रिभिः मासैर्न संशयः ।

पृ। २७९)

एकोनत्रिंशके तत्वे तुल्यमेतद्वरानने ॥ १०५ ॥

नाडी वै सुकृता नानामा महापातकनाशिनी ।
तस्य लक्षमिदं देवि शृणु एकमना मम ॥ १०६ ॥

अप्रयोगमनायास मात्रा बिन्दुर्विनाकृतिः।

कण्ठताल्वोष्ठरहितं मन्त्रोच्चारविवर्जितम्॥ १०७॥

सुनिष्णातो नरस्तस्मिन् अमृतत्वाय कल्पते।

अप्रयोगमनारंभमनायासोपलक्षितम्॥ १०८॥

येन सर्वमिदं पूर्णमाकाशं सर्वगेन तु।

तस्य यत्नात् शृणु देवि आकाशे मनसं दधेत्॥ १०९॥

यत्र तत्र स्थितो वापि शुचिर्वाप्यथवाशुचिः।

पृ। २८०)

चित्तं श्रोत्र समाधाय बाह्यशब्दविवर्जितम्॥ ११०॥

निवाते स्वल्पवाते वा घण्टानामिव ताडिता।

यवनिकाकर्णयेद्देवि पुण्यपापक्षयङ्करीम्॥ १११॥

कांसस्य सुविशुद्धस्य सुप्रभारहितस्य च।

सदृशं शब्द आकर्ण्य अमृतत्त्वाय कल्पते॥ ११२॥

तेन सर्वमिदं पूर्णं आकाशं सर्वगेन तु।

तस्याभ्यासेन सततं चिद्रा पश्यति मेदिनीम्॥ ११३॥

मासार्धं येन योगीन्द्रो व्याधिभिश्च न पीड्यते।

प्राप्नोति सुभगत्वञ्च देहपाते शिवं व्रजेत्॥ ११४॥

आदितस्त्र्यक्षरो योसौ त्रिविधो यः प्रकीर्तितः।

पृ। २८१)

शिवस्य वै स विज्ञेयः सामान्यत्वात्प्रकाशकः॥ ११५॥

द्वितीयः प्रणवो देवि हंसाकारसमन्वितः।

बिन्दुना सहितेनैव रुद्राकारः प्रकीर्तितः॥ ११६॥

अकामाद्याः प्रवर्तन्ते व्यापकत्वोपलक्षिताः।

स्वच्छन्दवृत्तिः सूक्ष्मोयं निधानोङ्कार उच्यते॥ ११७॥

हकारा उकारसंयुक्तमोंकारेण समन्वितः।

बिन्दुना सहितो देवि तृतीयः परिकीर्तितम्॥ ११८॥

आब्रह्मपथमोंकारस्स तु सूतिः प्रकीर्तितः।
श्रीकण्ठादिमनन्तान्तं रुद्रोङ्कारस्स उच्यते॥ ११९॥

तस्योपरिष्ठाद्विज्ञेयं तृतीयं प्रणवस्मृतम्॥

प्। २८२)

शान्तिविद्याधिका सिद्धिः निधने निधनान्तिका॥ १२०॥

शब्दाकाशे व्यतीता तु गतिस्तस्यैरनुत्तमा।
त्रिभिन्नमेतत्सकलमध्वानं परिकीर्तितम्॥ १२१॥

सकलः पञ्चतत्त्वस्तु त्रयस्सकलनिष्कलः।
उच्चारेण यदा हीनो बिन्दुं निष्कलतां गतः॥ १२२॥

शिवेच्छयानुगृह्णाति साधको मुक्तिमिच्छति।
सौम्यनाडीति विख्याता महापातकनाशिनी॥ १२३॥

किं स स्वरादतिक्रम्य घण्टाशब्दादिलक्षणः ।
यश्शब्दः श्रूयते देवि रुद्रोंकारस्स उच्यते ॥ १२४ ॥

सर्वकर्मकरं दिव्यं अणिमादिफलप्रदम् ।

पृ। २८३)

एकत्रिंशद्विजानीयात् शिवोङ्कारस्तु तत्परः ॥ १२५ ॥

द्वात्रिंशत् तत्समाख्यातं तन्मात्रगुणवर्जितम् ।
व्यापकेन समायुक्ता नाडी प्रोक्ता नरञ्जना ॥ १२६ ॥

शिवोङ्कारा परं दिव्यं ओङ्कारममलं विदुः ।
सतताभ्यासयोगेन साधकानां प्रयच्छति ॥ १२७ ॥

मासार्ध दशभिश्चैव अणिमादि गुणाष्टकम् ।
दूरश्रवणविज्ञानं सर्वलोकेषु भाषितम् ॥ १२८ ॥

पश्यते च महातेजः सर्वत्र समवस्थितम् ।
व्याप्नोति कामरूपित्वं सर्वज्ञत्वं तथैव हि ॥ १२९ ॥

देहपातो व्रजन्त्याशु शिवस्य परमं पदम्।

पृ। २८४)

घण्टानादविरामान्ते शिवोङ्कारं निगद्यते॥ १३०॥

शिखा सा लक्षणेनोक्ता विमला परिकीर्तिता।
कालतत्वः स एवोक्तो नाडीप्रोक्ता निरञ्जना॥ १३१॥

विमलाख्या वरारोहे परमाक्षरसंयुता।
निरालंबं प्रवक्ष्यामि नवतत्वफलप्रदम्॥ १३२॥

पराक्षरपरोच्चार्यं बिन्दुतत्वमनुस्मरेत्।
पश्चात्तु परमेतत्तु न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ १३३॥

त्रयस्त्रिंशत् स्मृतं तत्वं विमलन्तु वरानने।
द्वात्रिंशकस्समाख्यातो निरालंबे परे स्थितः॥ १३४॥

त्रयस्त्रिंशत् परो यस्तु निर्देश्यो नाम वर्जितः।

पृ। २८५)

तं ज्ञात्वा देवि सिद्ध्यन्ते लक्षैतत्परिकीर्तितम्॥ १३५॥

एवं बहुविधं प्रोक्तं तत्वमेकं शिवेन तु।
सिद्धिदं मोक्षदञ्चैव दिष्टन्तत्तु विचिन्तयेत्॥ १३६॥

ज्ञात्वैवं ज्ञानसर्वस्वं विचरस्व यथा सुखम्।
एतन्न कस्यचिद्देयं ज्ञानामृतमिदं शुभम्॥ १३७॥

एतत्सर्वं समाख्यातं तत्वध्यानं सुनिर्मलम्।
परं तावदिदं देवि तत्त्वानां परिकीर्तितम्॥ १३८॥

एतेषां यदपरो निरूपाख्यो निरामयः।
सर्वेषान्धारकस्सोहि स वै चाधार वर्जितः॥ १३९॥

न च तस्येदृशं ध्यानं तव देवि प्रकीर्तितम्।

पृ। २८६)

इति निश्वासकारिकायां त्रयस्त्रिंशतपटलः।

देवि

आचार्यः शिवतन्त्रन्तु शिवज्ञानं शिवस्य च।
वेत्तिसर्वमशेषेण लोकहेतु विवर्जितः॥ १॥

विरक्तो लौकिके शास्त्रे शिवज्ञानैक रागवान्।
तेषाञ्च उत्तरं वाच्यं येनोपायेन ईश्वरम्॥ २॥

तदहं श्रोतुमिच्छामि त्वत्प्रसादान्महेश्वर।

ईश्वर उवाच

यो ब्रूयात् कश्चित् करुशब्दो विनाशित्वेन पठ्यते॥ ३॥

पृ। २८७)

इतस्तस्य पुनर्ब्रूयात् तच्छृणुष्व वरानने।
त्रिगुणः पुद्गलो वायुराकाशस्याथ वा गुणः॥ ४॥

आशापाशैर्विमुक्तोयं अमृतं पर्युपासते ।

इति निश्वासकारिकायां ज्ञानकाण्डे

सर्वज्ञार्चनसिद्धान्तज्ञानज्ञेयलक्षणन्नाम चत्वारिंशत्पटलः ।

देव्युवाच

पञ्चभूतात्मके पिण्डे कस्मिन् के देवता स्थिताः ।

पादौ च जानौ जङ्घायां ऊरुयुग्मे च के स्थिताः ॥ १ ॥

लिङ्गे च देवदेवेश स्फिजौ कटिके स्थिताः ।

नाभिःप्रदेशपार्श्वे च पृष्ठवंशे तथैव च ॥ २ ॥

आन्त्रे मज्जे च देवेश रुधिरे कफपित्तयोः ।

रोमकूपे च के चोक्ता हस्तौ पादौ * * * * ॥ ३ ॥

* * * * * * * * * * * * च के

स्थिताः।

चुबुके चक्षुषोश्चैव ललाटे मस्तके चके॥ ४॥

वाचां नाडी देवेश अहङ्कारे च के स्थिताः।

इन्द्रियाणां च के देव विदिते यत्फलं भवेत्॥ ५॥

एतन्मे देवदेवेश प्रसादाद्वक्तुमर्हसि।

ईश्वर उवाच

पृ। ३६१)

शृणु देवि परं गुह्यं यत्त्वया परिपृच्छितम्॥ ६॥

तदहं संप्रवक्ष्यामि त्वत्प्रियार्थं वरानने।

सत्त्वञ्च आदितः कृत्वा प्रवक्ष्यामि निबोधत॥ ७॥

सत्त्वं प्रधानमित्युक्तं स ब्रह्मा तु निगद्यते।

रजो विष्णुस्तमो रुद्रो बुद्धिरष्टगुणाः शृणु॥ ८॥

धर्मज्ञानञ्च वैराग्यमैश्वर्यञ्च तथा परा।
अधर्मश्चैव विज्ञेयं अज्ञानञ्च तथैव हि॥ ९॥

अवैराग्यमनैश्वर्यं योगीशानां क्रमेण तु।
ब्रह्मादि देवता बुद्धेर्धर्माद्यास्शक्रदेवताः॥ १०॥

अहङ्कारे स्थितो रुद्रः शून्ये शब्दः प्रतिष्ठितः।

प्। ३६२)

स्पर्शे वायुस्समाख्यातो रूपे वह्निः प्रकीर्तितः॥ ११॥

तस्य तन्मात्रे वरुणो गन्धे तु पृथिवी स्थिता।
प्रजापतिः पृथिव्यां वै द्रवे सोमः प्रतिष्ठितः॥ १२॥

सूर्यस्तु संस्थितस्तेजे मारुतस्पर्शने स्थितः।
शिवतत्वं परं गुह्यमाकाशे संप्रतिष्ठितम्॥ १३॥

श्रोत्रेन्द्रिये महादेवि दिशः सर्वाः प्रतिष्ठिताः।
त्वगिन्द्रिये तु मरुतः चक्षुर्भ्यां हुतभुक् स्थितः॥ १४॥

जिह्वेन्द्रिये सदा देवि भुवशक्तिः सरस्वती।
घ्राणेन्द्रिये तु वै ज्ञानं पादयोर्विष्णुरेव हि॥ १५॥

क्रियाशक्तीति निर्दिष्टा मित्रो वायुश्च गृह्यते।

प्।३६३)

ज्येष्ठा प्रजापतिर्लिङ्गे वामा रौद्री च वचया॥ १६॥

जलेन्दुर्मनसि ज्ञेया वाक् सवित्री हृदि स्थिता।
गौरी वागीश्वरी कर्णे ललाटे विमलारि तु॥ १७॥

स्नायुवर्गे स्थितोनन्तः सूक्ष्मः शुक्ले व्यवस्थितः।
शिवोत्तमोत्तमो देवः स्थितोस्थि निचये सदा॥ १८॥

एकनेत्रस्थितो मांसे एकरुद्रस्तथापरे।
रुधिरे संस्थितो नित्यं त्रिमूर्तिः कफपित्तयोः॥ १९॥

श्रीकण्ठो रोमसङ्घाते मूत्रेषु च सदा स्थितः।

शिखण्डी च परो रुद्रो नखेषु सर्वतस्थितः॥ २०॥

तन्महेशस्थितो देहे ऋषयश्चापि सन्धिषु।

पृ। ३६४)

पृष्ठवंशे च चण्डीशः पार्श्वेषु च संस्थितः॥ २१॥

अङ्गुलीषु स्थिता नागा बाहौ पितरस्संस्थिताः।
नाभौ वह्नि स्थितः साक्षात् सर्वेषामेव देहिनाम्॥ २२॥

विद्याधरास्तथा यक्षाः रोमकूपेषु संस्थिताः।
हस्तयोरिन्दुदेवत्यो जानुजङ्घे तथाश्विनौ॥ २३॥

ऊरुयुग्मौ स्थितौ देवौ मित्रावरुणविश्रुतौ।
नेत्रयोर्गन्धयोश्चैव ग्रीवायां चिबुके स्थिताः॥ २४॥

सप्तगृहास्ससपस्संस्थिताश्चाधिदैवताः।
नक्षत्रमण्डलं दिव्यं मुक्तनानु केनु संस्थिताः॥ २५॥

एवं वै यो विजानाति सर्वदेवैरधिष्ठितम्।

पृ। ३६५)

शरीरं सर्वजं ज्ञानं न पापेन विलिप्यते॥ २६॥

एतन्यासपरं देवि योभ्यसेत दिने दिने।
स श्रियं लभते देवि ईश्वरेण समो भवेत्॥ २७॥

न पापं न च वै पुण्यं न भयेषु भयं भवेत्।
मुच्यते किल्बिषैर्घोरैः सप्तजन्मकृतैरपि॥ २८॥

सेवितव्यं प्रयत्नेन योगिनां मुक्तिमिच्छता।
नवोपायं मयाचोक्तं तेन त्वामृतसंस्थिताः॥ २९॥

सर्वेषां यः परो देवः सर्वव्यापी व्यवस्थितः।

इति निश्वासकारिकायां ज्ञानकाण्डे सर्वदेवशरीरन्यासे
एकचत्वारिंशत्पटलः॥

नारौ जयस्तु विज्ञेय सारे सिद्धिर्न संशयः।

इति निश्वासकारिकायां एकपञ्चाशत्पटलः।

देव्युवाच

विज्ञप्ते किं प्रमाणन्तु ज्ञातव्यं देशिकेन तु।
निस्सते किं प्रमाण स्यात् प्रविशेपि महेश्वर॥ १॥

अन्तरे चायनस्यैव एतदिच्छामि वेदितुम्।

ईश्वरः

महत्पुण्यमिदं देवि न पृष्टं केनचित्पुरा॥ २॥

तदहं संप्रवक्ष्यामि साधकानां हितावहम्।
प्राणस्यैव निरोधेन स्थातव्यं देशिकेन तु॥ ३॥

एवं क्रमेण देवेशि अविच्छिन्नस्तु साधकः।
तावत्तक्षणमात्रेण स सिद्धेनैव साधकः॥ ४॥

पृ। ६०७)

भवते नात्र सन्देहः सत्यं देवि वदाम्यहम्।
यदा प्राणनिरोधस्तु भवते साधकस्य तु॥ ५॥

तदासौ ज्ञातविज्ञेया ज्ञेयं तस्य कृतो भवेत्।
ऊर्ध्वभागे चरे यावदधश्शून्यं विनिर्दिशेत्॥ ६॥

ऊर्ध्वशून्यमधश्शून्यं मध्ये तु जयनं भवेत्।
उत्कर्षणी कला सूक्ष्मा सु सूत्रे च द्वितीयका॥ ७॥

अधोभागे स्थिते चैते ज्ञातव्ये तत्ववेदिना।
ऊर्ध्वं सञ्चरतस्तस्य कले दक्षिणतः स्थिते॥ ८॥

तदहस्संप्रबुद्धस्तु सर्वसिद्धिप्रदश्शुभः।
अधोमुखे प्रयातस्य कले द्वे वामतस्थिते॥ ९॥

पृ। ६०८)

निशान्तन्तु विजानीयाच्चारङ्गे कथितं तव।
यावद्दक्षिणतो याति तावद्वामेन शोभने॥ १०॥

तावच्छ्रून्यं विजानीयात्त्रीण्येव वरवर्णिनी।
मध्ये तु निश्चलं शून्यमयनं तं विनिर्दिशेत्॥ ११॥

तस्य संस्पर्शभावेन यदा युज्यति साधकः।
तदा निर्वाणतां याति नात्र कार्या विचारणा॥ १२॥

तस्य संस्पर्शभावस्तु कथितस्तव शोभने।
शून्यस्थानानि वक्ष्यामि शृणुष्वावहिता प्रिये॥ १३॥

येन विज्ञातमात्रेण अभावपदमाप्नुयात्।
निवृत्तिमध्यभागे तु प्रतिष्ठा तिर्यगुत्तरे॥ १४॥

पृ। ६०९)

विद्या दक्षिणतः प्रोक्ता शान्तिः पूर्वदिगाश्रिता।
नादस्तु पञ्चमो ज्ञेयः स शिवः परिकीर्तितः॥ १५॥

कलाश्चतस्त्रो या प्रोक्ता नादसञ्चरणात्मकाः ।

पञ्चमस्तु शिवः प्रोक्तः सुसूक्ष्मः कथितस्तव ॥ १६ ॥

नादपूजां करोत्येवमनुध्यानेन सुवृते ।

जीवस्तु नाद इत्युक्तः स्पर्शशक्तिमयस्मृतः ॥ १७ ॥

जीवस्पर्शविनिर्मुक्तो गुरुवक्त्रे प्रतिष्ठितः ।

द्विविधेन तु देवेशि कर्तव्योनुग्रहस्सदा ॥ १८ ॥

एतद्देवि न दातव्यं ज्ञानं ज्ञेयमिदं शुभम् ।

देयञ्च गुरुभक्ताय शिवभक्ताय धीमते ॥ १९ ॥

प् । ६१०)

अन्यथा दुष्टमर्त्यानां श्रेयस्सिद्धि निपातयेत् ।

इति निश्वासकारिकायां द्विपञ्चाशतपटलः ॥

देव्युवाच

शीघ्रगं सलिलं यद्वत् जलं दहति पावकः ।
मारुतः प्रवहं ब्रूते मन्त्रिणं मोक्षकस्तथा ॥ १ ॥

केन मात्राविभागेन येन च च्छिवकृद्भवेत् ।
एतदिच्छामि विज्ञातुं भगवन् वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

ईश्वरः

त्रिभेदं कथयिष्यामि अक्षरस्यैव सुवृते ।

पृ। ६११)

येन विज्ञातमात्रेण मुच्यते नात्र संशयः ॥ ३ ॥

एकारेण यदा सान्तं संभिन्नं वरवर्णिनी ।
बिन्दुनादेन ज्ञातव्यं शीघ्रगं सलिलं नदेत् ॥ ४ ॥

श्रुत्वा पापैः प्रमुच्यन्ते नात्र कार्या विचारणा ।
तेन विज्ञातमात्रेण अमृतत्वाय कल्पते ॥ ५ ॥

ह सुकारसमायुक्तो ज्वलन्निव समं नदेत् ।
आकारेण यदा भिन्नं देवदेवं सदातने ॥ ६ ॥

मारुतः प्रवहं ब्रूते मया पूर्वमुदाहृतम् ।
सीतकंपेन ह्रस्वेन मुखेनैव करोति यः ॥ ७ ॥

एवं वेद्यस्वदेहे तु ज्ञात्वा पापक्षयो भवेत् ।

प्। ६१२)

ढ उकारविभागेन श्रुत्वा पापैर्विमुच्यते ॥ ८ ॥

ह आकारविभागेन ज्ञात्वा मुच्येत बन्धनात् ।
आकारेण तु विन्यस्य ध्यानादुत्क्रमते ध्रुवम् ॥ ९ ॥

संहतप्राणिकरणं संमुखं पर्यवस्थितम् ।
अधस्ताद्वायुना दीप्तमीकारं वह्निदेवतम् ॥ १० ॥

सप्ताहमभ्यसेद्देवि ज्योत्स्ना भावं स पश्यति ।

शृणोति विविधान् नादान् मासादभ्यन्तरेण तु ॥ ११ ॥

सिद्धगन्धर्वदेवांश्च तिर्यग्वायुपथे स्थितः ।
त्रिभिर्मासैस्स पश्येत प्रत्यक्षं सर्वतः स्थितम् ॥ १२ ॥

यदा संहरते मानं योगी प्राणमशेषतः ।

प्। ६१३)

अभ्यासेन तु देवेशि निश्चलः संप्रजायते ॥ १३ ॥

एष ते कथितो देवि आदिभिन्नस्य सुवृते ।
षण्मासानभ्यसेद्यस्तु उच्चामरपुरं व्रजेत् ॥ १४ ॥

इच्छया संहरेत्प्राणानिच्छया विकिरेत्पुनः ।
संवत्सरेण मुक्तात्मा भवेत्स्वच्छन्दमृत्युकः ॥ १५ ॥

उत्तिष्ठमादितः कृत्वा सर्वं सिद्ध्यति नान्यथा ।
ह्स्वकारविभिन्नस्य शृणुष्व सुरसुन्दरि ॥ १६ ॥

रश्मिनाकर्षणं कुर्यात् स्वदेहेनैव योगवित्।
उदरे रक्तवर्णन्तु मध्याह्ने तेजमालिनम्॥ १७॥

तृतीये शीतरश्मिञ्च ध्यायेन्नित्यं स्वदेहतः।

पृ। ६१४)

अहन्यहनि चाभ्यासं कर्तव्यं योगिना प्रिये॥ १८॥

अभ्यासमासमात्रेण पश्यते त्रिविधं पुटम्।
योगमुत्पद्यते तस्य अचिरादेव योगिनः॥ १९॥

रक्तेनाकर्षणं कुर्याद्देवदैत्यवराङ्गनाः।
एवमादीनि चान्यानि कुर्यादाकर्षणानि च॥ २०॥

चित्तमाकर्षणञ्चैव सालभक्षास्तथैव हि।
चित्तगृहाणि रम्याणि वाहिनीश्च तथैव च॥ २१॥

शरीरव्याधि निर्नाशकुष्ठव्याधिक्षयं महत्।
षण्मासयोगयुक्तस्य इत्येतत्समुदाहृतम्॥ २२॥

संवत्सरेण योगीन्द्र उच्चावचपरा वपुः ।

पृ। ६१५)

स्थूलात्स्थूलतरो भूत्वा सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरः पुनः ॥ २३ ॥

स तनुर्वितनुश्चैव जायते नात्र संशयः ।
ह्रस्वका विभिन्नस्य कथितं तव शोभने ॥ २४ ॥

षड्वर्णेन विभिन्नस्य शृणु देवि वदाम्यहम् ।
सकृत्प्रभावविशदं चन्द्रार्कग्रहणं स्थितम् ॥ २५ ॥

विमनस्कं परं शान्तं केवलं तच्छिवात्मकम् ।
शून्यमाकाशभूतन्तु जरामृत्युविनाशनम् ॥ २६ ॥

अभ्यासमासमात्रेण शृणु देवि वदाम्यहम् ।
क्षुत्पिपासा विनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वच्छिन्न संशयः ॥ २७ ॥

देवगन्धर्वसिद्धाश्च त्रिभिर्मासैः स पश्यति ।

प्। ६१६)

देवैश्च सततं याति षण्मासाभ्यन्तरेण तु ॥ २८ ॥

संवत्सरेण युक्तात्मा योगिनस्सुसमाहितः।
पश्यते देवि भूतेशं गणेशपरिवारितम् ॥ २९ ॥

स्वभावस्मरणाद्देवि कालक्षेपस्समुक्तिदः।
ध्याननिर्मथनाद्देवि सिद्धिरुत्पद्यते ततः ॥ ३० ॥

एतत्त्रिभेदभिन्नस्य ज्ञानसिद्धिर्न संशयः।

देव्युवाच

दूरस्थश्च समीपस्थः पीठस्थः पीठवर्जितः ॥ ३१ ॥

मलिनो निर्मलश्चेति त्वया पूर्वमुदाहृतः।
किं दूरमन्तिको वापि दूराद्दूरतरन्तु किम् ॥ ३२ ॥

पृ। ६१७)

सन्निकृष्टं ततो देव भेदानि कथयस्व मे।

ईश्वरः

अतिगुह्यतरं प्रश्नं केनचिन्नापि पृष्टवान्॥ ३३॥

तदहं संप्रवक्ष्यामि साधकानां हिताय वै।
दूरस्थं कथयिष्यामि सर्वयोगिहितावहम्॥ ३४॥

येन विज्ञातमात्रेण आत्मा वै योग्यतां व्रजेत्।
दशरूपा मया ख्याता सर्वे दृश्यन्ति शोभने॥ ३५॥

विद्यातत्वेन ते प्रोक्ता बिन्दुतत्वे वरानने।
खड्गेन गच्छतस्तस्य द्रष्टव्यं लक्षमुत्तमम्॥ ३६॥

शीतरश्मिर्यथा सौम्यमभ्यासाज्जायते प्रिये।

पृ। ६१८)

बीजद्वयसमायोगाज्जायते नात्र संशयः॥ ३७॥

रूपं तत्र मया देवि पूर्वन्तु कथितं तव।
एतद्वारं मया ख्यातं ज्ञातव्यं तत्वचिन्तकैः॥ ३८॥

समीपं दीपदृष्ट्या तु व्याख्यातं तव शोभने।
तत्त्वया विदितं सर्वं मयापि कथितं तव॥ ३९॥

पीठस्थं चक्षुषा ख्यातं मयापि कथितं पुरा।
त्वया देवि तथा ज्ञातं किमन्यत्कथयामि ते॥ ४०॥

दूरस्थं दिव्यमित्याहुः समीपं दिव्यसंज्ञितम्।
पीठस्थं नयनं प्रोक्तं बिन्दुतत्वं समासतः॥ ४१॥

देहस्थं मलिनं प्रोक्तं सर्वतत्वेषु शोभने।

पृ। ६१९)

ज्ञातव्यं योगिभिर्नित्यं अधमं योगिसिद्धिदम्॥ ४२॥

निर्मलो देहहीनस्तु ज्ञाते सिद्धिर्न संशयः ।

सर्वकर्माणि कर्तव्याण्याशु सिद्धिमवेप्सता ॥ ४३ ॥

निर्मलन्तु विनिर्दिष्ट सर्वतन्त्रेषु शोभने ।

शक्तिचेष्टाविकाराणि कुरुते नित्यमेव च ॥ ४४ ॥

सकलस्तु स विज्ञेयः शक्तिचेष्टा अदेहतः ।

दृश्या शक्तिरिति ख्याता त्वयापि विहिता तथा ॥ ४५ ॥

विज्ञानमपि शो ब्रूयान्नशोभमुपयात्यसौ ।

यथा बिन्दुर्मया ख्यातः शक्तिस्तु विदिता तथा ॥ ४६ ॥

प्रत्यक्षं भवते सूक्ष्मं सुसूक्ष्मं दिव्यमुच्यते ।

प्। ६२०)

उच्चारं दूरमित्युक्तं कथितं तव शोभने ॥ ४७ ॥

दूराध्यातमिति प्रोक्तं कथितन्तु मया तव ।

एतत्तस्मिन् मया ख्यातं परस्यैवापरस्य च ॥ ४८ ॥

त्वयापि विदितास्सर्वे सकलाः परमेश्वर ।
एतद्देवि रहस्यन्तु मया ख्यातं समासतः ॥ ४९ ॥

वेदितव्यं प्रयत्नेन गुरुमाराध्य यत्नतः ।
एतत्प्रश्नपरं देवि सर्वेषामपि चोत्तमम् ॥ ५० ॥

परीक्षा पूर्वमेवोक्तं दातव्यं तादृशाय तु ।

देव्युवाच

शक्तिचेष्टाविकारे तु यत्त्वयोक्तं महेश्वर ॥ ५१ ॥

पृ। ६२१)

तेन युक्तानि चेष्टानि कुरुते कथयस्व मे ।

ईश्वरः

एतत्प्रश्नं परं देवि सर्वेषामपि चोत्तमम् ॥ ५२ ॥

तदहं संप्रवक्ष्यामि तदेकाग्रमनाः शृणु ।
आधारो नाद इत्युक्तः स जीवः परिकीर्तितः ॥ ५३ ॥

तेजस्पर्शमृता शक्ति नादं व्याप्य व्यवस्थिता ।
स नादो बिन्दुमाश्रित्य शक्तिना प्रेरितो यदा ॥ ५४ ॥

तदा तत्क्षोभमायाति बिन्दुशक्त्या प्रचोदितः ।
बिन्दोर्वर्णाः समुद्भूताः यतः शास्त्रञ्च वाङ्मयम् ॥ ५५ ॥

शक्ता समरसी भूत्वा बिन्दुनादे व्यवस्थिताः ।

पृ। ६२२)

सुषुप्त इव चात्मानं सुखदुःखं न बाधते ॥ ५६ ॥

बिन्दुदेवं तथैवेह ज्ञातव्यश्चैव देहिना ।
सर्वज्ञानता शुद्धा शिवकायाद्विनिर्गता ॥ ५७ ॥

बिन्दुनादस्तत्वेषु चेष्टते परमेश्वरि ।

बिन्दुनादस्य या चेष्टा तत्वानाञ्चैव सुवृते ॥ ५८ ॥

ज्ञातव्या सा सदा तज्ज्ञैः शिवशक्तिसमन्विता ।
शक्तेः समरसो देवि कथितश्चानुपूर्वशः ॥ ५९ ॥

बिन्दो रूपप्रकाशस्तु नादशब्दस्तु यत्स्मृतः ।
तत्सर्वं शक्तिना व्याप्तं वेदितव्यं प्रयत्नतः ॥ ६० ॥

बिन्दुनादो वरारोहे यदा शक्तिसमन्वितः ।

पृ। ६२३)

त्रिभिरेव तु संयुक्तः स जीव इति कीर्तितः ॥ ६१ ॥

शिवशब्दो वरारोहे त्रिभिरेभिः प्रकीर्तितः ।
ईषत्स्पर्शसमायुक्त मुखनासापुटस्य तु ॥ ६२ ॥

सा शक्तिः कथिता देवि शिवतत्वे प्रकीर्तिताः ।
इति ते कथितं देवि शक्तेस्समरसं तथा ॥ ६३ ॥

परीक्षा पूर्वमेवोक्ता दातव्या तादृशाय तु।

देव्युवाच

प्रणवत्त्रयन्तु देवेश योगाध्याये यदुक्तवान्॥ ६४॥

तदहं श्रोतुमिच्छामि भगवन् वक्तुमर्हसि।

ईश्वरः

प्।६२४)

देहस्थं यजातान्तेषां व्योमस्थञ्च तथैव हि॥ ६५॥

योगकाले च देवेशि प्रणवेन यजेत्सदा।
अधस्तात्पञ्चतत्वानि ब्रह्मोङ्कारेण पूजयेत्॥ ६६॥

विद्यातत्वे स्थिता ये तु रुद्रोङ्कारेण पूजयेत्।
शिवतत्वे स्थिता ये तु निधनेन प्रपूजयेत्॥ ६७॥

मानसं योगकाले तु पूजनीयः परः शिवः।
शिवपूजाविधौ पश्चाद्योगं सेवेत योगवित्॥ ६८॥

तत्वाद्या मया प्रोक्ता ब्रह्माद्यैश्च समायुताः।
तेषां स्थलं पवित्राद्यं प्रणवेन तु दापयेत्॥ ६९॥

देव्युवाच

पृ। ६२५)

रूपस्पर्शादिशब्देभ्यः स्थिरकालास्सर्वतस्थिताः ?।
यस्मिन् पूर्वाणि देवेश कस्मिन् स्पर्शः प्रतिष्ठितः॥ ७०॥

शब्दं कथय देवेश एतदिच्छामि वेदितुम्।

ईश्वरः

जीवस्य भूतसंस्थस्य त्रिस्थाने शृणु दर्शनम्॥ ७१॥

येन ज्ञातेन दृष्टेन श्रुतेन वरवर्णिनी।

मुच्यते नात्र सन्देहः सिद्धिश्चैव न संशयः ॥ ७२ ॥

शुद्धस्फटिकसङ्काशं हृत्पद्मे तु विचिन्तयेत् ।
अङ्गुष्ठपर्वमात्रन्तु पञ्चवक्त्रं महेश्वरम् ॥ ७३ ॥

पूर्वोक्तविविधा रूपाः शिवस्य कथिता मया ।

प् । ६२६)

एतद्रूपं मया ख्यातं सर्वतन्त्रेषु सुवृते ॥ ७४ ॥

स्पर्शो च शृणु देवेशि कथयामि न संशयः ।
दिवारात्रविभागेन अयने विषुवे तथा ॥ ७५ ॥

सङ्क्रान्त्यादिषु देवेशि स्पर्शस्तु समुदाहृतः ।
उच्चारं स्पर्शमित्येते केचिदाहुर्मनीषिणः ॥ ७६ ॥

स्पर्शमन्ये वदन्त्येवं बिन्दुमन्ये तथैव च ।
इदं तेनाभिजानन्ते विवदन्ति परस्परम् ॥ ७७ ॥

शब्दाशयमिति ज्ञेयं तस्मिन् पक्षास्तु ये स्मृताः ।
तस्मिन् स्थितः शिवस्साक्षात् कथितं तव सुवृते ॥ ७८ ॥

एतत्ते पूर्वमाख्यातं त्रिभेदमनुपूर्वशः ।

प्। ६२७)

ना शिष्याय प्रदातव्यं रहस्यमिदमुत्तमम् ॥ ७९ ॥

देव्युवाच

व्योमनाभदिशापत्रं न मया च न धारितम् ।
तदहं श्रोतुमिच्छामि भगवन् वक्तुमर्हसि ॥ ८० ॥

ईश्वरः

व्योमेत्याकाशमित्युक्तं व्योमसूर्यः प्रकीर्तितः ।
व्योमपद्ममिति प्रोक्तं व्योमप्रोक्तः सदाशिवः ॥ ८१ ॥

कलाश्चतस्रो याः प्रोक्ताः कण्टकास्ते प्रकीर्तिताः ।

व्योमनालस्मृताकाशं दिशा पत्राः प्रकीर्तिताः ॥ ८२ ॥

कर्णिकास्तु स्मृतास्सूर्यः कर्णिकास्थः सदाशिवः ।

पृ। ६२८)

दिशा पत्रेषु देवेशि विद्येशान् परिकल्पयेत् ॥ ८३ ॥

नवकालाग्निरुद्रस्तु अधस्रोते व्यवस्थितः ।
शिखादूर्ध्वमुखास्तस्य व्यापकन्ति व्यवस्थिताः ॥ ८४ ॥

जलबुद्बुदसङ्काशं तत्र देवस्सदाशिवः ।
स्वच्छं सुनिर्मलं तेजः सुषिरज्योतिरुत्तमः ॥ ८५ ॥

पुष्करास्तु मया ख्यातां केसरास्तु तत्तैव च ।
एतच्च बिन्दुयोगन्तु कथितं तव शोभने ॥ ८६ ॥

पुरुषत्रयविज्ञानं तत्क्रियादर्शनं तथा ।
अत्र पद्मे तु विज्ञेयं योगिभिस्तत्र चिन्तकैः ॥ ८७ ॥

शिवशास्त्रस्य सद्भावमस्मिन् पद्मे प्रकीर्तितम्।

प्।६२९)

प्रत्यक्षं दृश्यते देवि तत्वा ये पूर्वचोदिताः॥ ८८॥

स्वेन स्वेन तु रूपेण सर्वतन्त्रे व्यवस्थिताः।
तां दृष्ट्वा योगविच्छ्रीमान् सर्वज्ञत्वं प्रपद्यते॥ ८९॥

लीयते तस्य मध्ये तु स्वशरीरेण योगिनः।
एतद्रहस्यं परमं कथितं तव शोभने॥ ९०॥

सुपरीक्ष्य च दातव्यं न च नास्तिकनिन्दिते।
इदं ते कथितं देवि तारकं ज्ञानमुत्तमम्॥ ९१॥

देव्युवाच

चिन्ताध्यानमिदं देव न मया वेदितं पुरा।
एतदिच्छामि विज्ञातुं भगवन् वक्तुमर्हसि॥ ९२॥

प्। ६३०)

ईश्वरः

यदृश्यध्यानमित्युक्तं चिन्ता मानस उच्यते।
मानसं मनसालोक्य यद्दलं प्रतिपादयेत्॥ ९३॥

चित्तचैतन्यसंयोगात् स वै मानस उच्यते।
ध्यायेल्लक्षवरं दिव्यं पूर्वदृष्टं वरानने॥ ९४॥

चैतन्यं तद्गतेनैव ध्यानमेतत्प्रकीर्तितम्।
एतद्देवि समाख्यातं ध्यानमानसमेव तु॥ ९५॥

द्विविधोत्पाद्यमर्थन्तु सदा तेनैव युज्यते।
तदा योगमिति प्रोक्तं युक्तस्य वरवर्णिनी॥ ९६॥

देव्युवाच

प्। ६३१)

सन्धानं श्रोतुमिच्छामि भगवन् वक्तुमर्हसि।

कस्मिन् सन्ध्या कथं संज्ञो भगवन् कथयस्व मे ॥ ९७ ॥

ईश्वरः

साधु पृष्टं त्वया भद्रे तथा ते कथयाम्यहम् ।
त्वदीयं पद्मकं देवि न दृष्टं केनचित्पुरा ॥ ९८ ॥

केचित्त्रितत्वसन्धानमिच्छन्ति वरवर्णिनी ।
अन्येव पशुसन्धानं कथयन्ति वरानने ॥ ९९ ॥

तादृशं तत्वसन्धानं वदन्ति गुरवो बहुः ।
ईदृशं तत्वसन्धानं न विज्ञातन्तु देशिकाः ॥ १०० ॥

पूर्वमात्मनि मेधावी शिखां कृत्वा स्वकां तनुम् ।

प्। ६३२)

तदा कर्मसमर्थन्तु भवते साधकेश्वरः ॥ १०१ ॥

आत्मनञ्च पशुञ्चैव एकीकृत्य विचक्षणः ।

तदा तत्वे तु संयोज्य विधिं कुर्यादशेषतः ॥ १०२ ॥

पूर्वाहुत्या तु दातव्या तदन्ते चोद्धरेत्क्रमात् ।
उद्धृत्यचात्मसंस्थन्तु कृत्वा तत्वविदं शुभम् ॥ १०३ ॥

पृथिवीं तु तथोद्धृत्य आप्येन सह योजयेत् ।
विलीनामापमध्ये तु आप भूतां विचिन्तयेत् ॥ १०४ ॥

एवमभ्यस्तथा तेजो वायुरा * * * तथा ।
एवं वै सर्वतत्वानि कर्म कृत्वानु संशयेत् ॥ १०५ ॥

तत्वसन्धानमित्युक्तं अस्मिन् तन्त्रे वरानने ।

पृ। ६३३)

एवं संस्थितस्तत्र पशुनालोक्येत्तदा ॥ १०६ ॥

सर्वध्यानसमाप्तौ तु शृणु देवि यथा पुनः ।
तत्वनीलं नयेत्तत्वं तत्वे तत्वे नियोजयेत् ॥ १०७ ॥

तत्वसिद्धिं यदा तत्वं दीक्षानिर्वाणगामिनी ।
सर्वतन्त्रेषु सामान्यं विधिमेतत्समारभेत् ॥ १०८ ॥

एवं वै यो न जानाति न हि नोच्छ्रयते पशून् ।

देव्युवाच

किं तत्वं प्रथमं देव द्वितीयञ्च तथैव च ॥ १०९ ॥

तत्वे लीनतु कर्तृत्वं तत्वसिद्धिस्तु क स्मृतः ।

ईश्वरः

पृ। ६३४)

तत्वन्तु प्रथमाचार्यः तव देवि उदाहृतः ॥ ११० ॥

तत्वनीलन्तु यत्प्रोक्तं पशुतत्वं समासतः ।
पशुतत्वेषु संयोज्य पृथिव्यादिष्वनुक्रमात् ॥ १११ ॥

त्रितत्वापरशुद्धिन्तु आचार्यस्तत्वपारगः।
विद्यातत्वास्पदं कृत्वा योजयेत्परमे पदे ॥ ११२ ॥

युक्ते यद्धर्मसंज्ञो वै स धर्मः कथितस्तव।

देव्युवाच

भूतात्मा तत्र बाह्यात्मा अन्तरात्मा तु इन्द्रियः॥ ११३ ॥

परमात्मा स्थिता देवि मनोहङ्कारबुद्धिषु।
भूतात्मा इन्द्रियात्मा च परमात्मा तथैव च ॥ ११४ ॥

पृ। ६३५)

चतुर्थश्चैव देवेशि एतेषां व्यापकश्शिवः।
भूतात्मा संस्थितो भूतैः इन्द्रियात्मा तथेन्द्रियैः॥ ११५ ॥

परमात्मा स्थितो देवि मनोहङ्कारबुद्धिभिः।
त्रिरात्मानं विनिर्मुक्तं चतुर्थं परमेश्वरि ॥ ११६ ॥

निरात्मा स तु विज्ञेयः स जीवः परिकीर्तितः ।
तस्य सादात्मकं देहं कृत्वा चैव विभागतः ॥ ११७ ॥

तदात्त्वनुग्रहं कुर्याद्योगं स्थाप्य शिवं तथा ।
एतत्समासतो देवि रहस्यं कथितं तव ॥ ११८ ॥

इति निश्वासकारिकायां त्रिपञ्चाशत्पटलः ॥

निर्विकल्पां तृतीयां वाशां कारणमन्त्यमः ॥ २० ॥

प्। १५)

ज्ञान सिद्ध्यागमः।

मध्याद्भवं सूक्ष्मं कारेकः पश्यन्ति सम्भवम्।
उकारे मध्योत्पन्नमकारे वैखर्योदितम्॥ २१ ॥

ग्रर्तिसंयुक्तं हंकारोकारमकारम्।
बिन्दुतत्व प्रतीकाशं बैन्दवस्तत्व रूपकम्॥ २२ ॥

बिन्दुमध्योद्भवं सूक्ष्ममकारे पश्यन्ती संभवम्।
एवं वाग्वृत्ति संकेतं वैखर्यादि * र्णमुद्भवम्॥ २३ ॥

उकार उकार मकार बिन्दुनादं च पञ्चमम्।
मनो बुद्धिरहंकारश्चित्त * * * * * * ॥ २४ ॥

बिन्दुमध्योदितं सर्वं तत्कालं बैन्दवं तथा।
लयकालं तटाकुटिला तन्मध्ये प्रणवोदितम्॥ २५ ॥

ओ औ मायात्रयो बन्धं त्रिवृत्ताः कुण्डली तथा।
तत्र कुण्डलिनी मध्ये इडापिङ्गलयोद्भवम्॥ २६ ॥

इडा पिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्नानाम स्वरूपकम् ।
सुषुम्नाभ्यन्तरे सूक्ष्मै चित्र नाटिप्रवेशनम् ॥ २७ ॥

चित्रनाडिस्वमध्यस्थे प्राणापानसमन्वितः ।
प्राणापानद्वयो * * * * परमकारणम् ॥ २८ ॥

हकारं शिवरूपत्वं सकारं शक्तिरुच्यते ।
हकार सकारयोर्मध्ये बिन्दुरूपं परायणम् ॥ २९ ॥

बिन्दु मध्येगतो नादो नाद् मध्ये गतः शिवः ।
शिव मध्ये गतः शान्तं शान्त्यतीतं परात्परम् ॥ ३० ॥

सर्वोदित द्विधा शक्तिर्माया कुण्डलिनी तथा ।
माया कुण्डलिनी भेदा सर्वलोकं चराचरम् ॥ ३१ ॥

प् । १६)

ग्रन्थि जन्यं कलाकालं विद्यारागेन्द्रियादयः ।
गुणधी गर्वचित्ताक्षमात्रा भूतान्य * * * ॥ ३२ ॥

कुण्डलिनी शक्ति माया कर्मानुसारिणी ।
नादबिन्द्वादिकं कार्यं तस्या इति जगत्स्थितिः ॥ ३३ ॥

कलाषोडशयोर्भेदं मूलकुण्डलिनोद्भवम् ।
कलाषोडशयोरूप चन्द्रकान्ते प्रतिष्ठितम् ॥ ३४ ॥

तत्र षोडशयोः शक्तिश्चन्द्रदेहे प्रतिष्ठितम् ।
अन्य मन्त्र कलारूपं प्रासादपरमाक्षरम् ॥ ३५ ॥

अकारश्च उकारश्च मकारोबिन्दुरेव च ।
अर्धचन्द्र निरोधी च नादो * * * * * * * * ॥ ३६
॥

शक्तिश्च व्यापिनी चैव समना चोन्मना तथा ।
समनान्तं पाशजालमुन्मन्यन्ते परं शिवम् ॥ ३७ ॥

प्रस्थारं च विस्तारञ्च निस्थारं च क्रियोद्भवम् ।
स्थैर्यमित्यनुसन्धत्ते प्रासादे पङ्क्तिस्तु पञ्चमाः ॥ ३८ ॥

अकार स्वररूपत्वमुकारापीश रूपकम् ।
मकारं विषरूपत्वं बिन्दुरेव फकाक्षरम् परम् ॥ ३९ ॥

अर्धचन्द्रस्तथाकारं निरोधे तत्त्रिकोणकम् ।
हलबिन्दुद्वयं नादं * * * तत्प्रतीहलम् ॥ ४० ॥

हलमित्राङ्गितश्शक्ति व्यापिनी तत्र शूलकम्।
कुब्जिका व्योमरूपी चा नन्तादि शक्ति षष्ठमाः॥ ४१॥

षड्बिन्दुः चूलिकाकारं तदग्रं तु शलाकया।
तच्छिवं निष्कलं तत्वं प्रस्थारार्थमिति स्थितम्॥ ४२॥

पृ। १७)

मध्ये षडवयव व्याप्तिविस्तीर्णं विस्थरक्रमम्।
एकैक योज्ययोर्भावं निस्तारं निस्थर क्रमम्॥ ४३॥

परान्तं परयोर्दृष्ट्वा स्थैर्यमित्यङ्ग भावनात्मकम्।
तदानुसंन्धान संवृत्ति प्रासादस्त * * *॥ ४४॥

अध्वा षोढा तत्र पदवर्णमन्त्रन्तु सर्गजा।
सर्वस्य शक्तिरूपत्वात् एते वाचक रूपकाः॥ ४५॥

* * * * कला तत्व भुवनानीति यत्र यम्।
वाच्य रूपंत्रिक द्वन्द्वं एतच्छक्ति शिवात्मकम्॥ ४६॥

वाच्यवाचक व्युत्पन्नं बैन्दवं मलसम्भवम्।
आदिकारण मृद्रूपं तच्चक्रं सहकारणम्॥ ४७॥

निमित्तस्य कुलालोक्त त्रियैव मृद्भाण्ड सम्भवम्।
ततोवग्रन्थि मृद्रूपं कुण्डलीचक्र संस्थितम्॥ ४८॥

परदेशं कुलाले * कुरुते तच्चराचरम्।
इच्छाज्ञान क्रियाशक्तिरिति व्याप्तस्य कारणम्॥ ४९॥

सृष्ट्यादिः पञ्चमं कृत्यं ब्रह्मादि * * साधकम्।
सर्वसृष्टिमयं बिन्दु तन्मध्ये वर्णमुद्भवम्॥ ५०॥

अचिन्त्य कुण्डलीशक्तिर्मध्ये सर्वोदितं भवेत्।

कृत्यर्थम्॥

तत्वात्मबन्धय सृष्टि तद्भोक्त स्थिति साधनम्॥ ५१॥

तत्वात्मनः पृथग्भावं तत्संहारं समुच्यते।
कर्म कुर्वन्ति तत्काल स्थिरो भावं तिरोभवम्॥ ५२॥

चतुर्थं कुरुते कृत्यं तदनुग्रह साधनम्।

एवं पञ्चमकृत्यर्थं पञ्चदिव्यादि संस्थितम् ॥ ५३ ॥

सूक्ष्म कृत्यं तु पञ्चैते केवलस्याग * * * ।
बोधनं शोधनं मूढं बन्धनं शंसनं तथा ॥ ५४ ॥

महासंहार काले तु कुटिलांशो ततोदितम् ।
इच्छा ज्ञान क्रियाशक्ति संग्रहं मूर्तिविग्रहम् ॥ ५५ ॥

ज्ञान रूपं शिवाकारं * * रूपन्तु शक्तयः ।
ज्ञानक्रिया समं तत्वं तत्सादाख्य स्वरूपकम् ॥ ५६ ॥

ज्ञानशून्यं क्रियाधिक्यं महेशस्तत्व विग्रहम् ।
क्रिया नूनं योगसिद्धं शुद्ध विद्यार्थ शङ्करम् ॥ ५७ ॥

इच्छाधिके क्रमं विष्णुः ब्रह्मणस्तत्व मुच्यते ।
तस्मादिच्छादयो भेदं ब्रह्म विष्णु स्वरूपकम् ॥ ५८ ॥

रुद्रो विष्णुर्विधानोक्तं कल्पभोगाधिकारकम् ।
बिन्दुशक्तिस्तथामध्ये मायाशक्ति समुद्भवम् ॥ ५९ ॥

मायाशक्ति मध्ये * * * * शक्तिस्तदुद्भवम् ।
काम्यशक्तिस्व मध्यस्थे मायेयं च तदुद्भवम् ॥ ६० ॥

चतुर्मलं तथा भेद्यं तत्तिरोधाधिकं भवेत्।
एवं पञ्चमलः शक्त्याः पाशबन्धस्तदुच्यते॥ ६१॥

एवं विग्रह कृत्यर्थमेवं सत्कृत्य निर्णयम्।
देवदेव महेशान महायोगी महेश्वर॥ ६२॥

यन्मन्त्रंसार संग्राह्यं तन्मन्त्राकारमुच्यते।

शङ्कर उवाच-

बिन्दुषष्ठ्यादिनादेन स्वनादे बिन्दु संभवम्॥ ६३॥

तद्रूपं प्रणवाकारं पञ्च * * र्ण संस्थितम्।

पृ। १९)

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म परमात्म स्वविग्रहम्॥ ६४॥

ओंकारं शिवरूपत्वं तद्भेदं पञ्चमत्रयम्।
मूलकुण्दलिनी व्याप्तमात्म मन्त्रस्ववर्णकम्॥ ६५॥

हंस विद्यामहाविद्या प्रासाद परया सह।

प्रासादपर * * * * * शक्तिस्वविग्रहम्॥ ६६॥

प्रासादपरयोरैक्यं शाम्भवं शिवसम्भवम्।
बिन्दुभिद्यदि नादेन सनादः खेन विद्यते॥ ६७॥

बिन्दुनाद कलारूपं शिवशक्तिस्व विग्रहम्।
आधारं मानसं * * * * धेयं परं शिवम्॥ ६८॥

बिन्दुराधार पीठं च नादलिङ्गं समाचरेत्।
बिन्दुभिद्यं सदाकारभगांशं शक्तिविग्रहम्॥ ६९॥

त्रिकोण मध्ये हौकारं धर्महंसौ हरिं शिवम्।
हंसे बिन्दुगतोनादे हंसमार्गे * * * *॥ ७०॥

नादं लिङ्गमिति प्राहुः बिन्दुपीठं उदाहृतम्।
बिन्दुमध्ये गतोनादो नाद मध्येगतः शिवः॥ ७१॥

शिवमध्यगतः शक्तिः शक्ति मध्ये स्वयं शिवम्।
परहंस प्रभेदं च हकारहौकार इत्यपि॥ ७२॥

हंसः परमहंसञ्च द्विधा हंस प्रभेधकम्।
अहं पृथिव्या अहमापः अहमीश्वरमेव हि॥ ७३॥

अहं पृथिव्या अहं तेजो अहं हरिः।

अहमाकाश सद्भूतं अहमात्मा अहं परा॥ ७४॥

हकारं ब्रह्मरूपत्वं उकारं विष्णुरूपकम्।

पृ। २०)

मकारं रुद्ररूपत्वं बिन्दुरीश्वरमेव हि॥ ७५॥

नादं सदाशिवं प्रोक्तं नादातीतं परं शिवम्।

परतत्वं परं ज्ञेयं परामुक्ति स्वरूपकम्॥ ७६॥

हकारं निष्कलोपेतं सकारं सकलं भवेत्।

हकारं शिवरूपत्वं सकारं शक्तिरुच्यते॥ ७७॥

हकारः सूर्य इत्यर्थः सकारश्चन्द्र इत्यपि।

इकारः पावको रूप इति ज्योतित्रयोदितम्॥ ७८॥

हकारो कारयोर्मध्ये बिन्दुरूपमुदाहृतम्।

बिन्दुमध्यगतोनादं नाद मध्यगतः शिवः॥ ७९॥

बिन्दुभिट्याति नादेन सनादेः खेन भिद्यते।

शिव मध्यगतं तत्वं तत्वमध्ये परात्परम्॥ ८०॥

परं परात्परं सूक्ष्मं परामुक्ति परिग्रहम्।
व्योमाकारं महाशून्यं तुर्यातीतं परं शिवम्॥ ८१॥

तुर्यातीतं चरं स्थानं परव्योम प्रकाशितम्।
तुर्यातीतं पराकारं ओमिति ज्योतिरूपकम्॥ ८२॥

बालवृद्धः सगारूपमाद्यन्त रहित * *।
ज्ञानयोगक्रियाबीजं क्रियाकर्मान्यवर्णकम्॥ ८३॥

ओङ्कारं परमात्मानं पराशक्ति प्रकाशितम्।
तस्मात् ज्ञानमयं ब्रह्ममोमिति ज्योतिरूपकम्॥ ८४॥

ओंकारोदात्तानुदात्त स्वरितः कुटिलस्वरः।
ध्वनिरन्तर्गत ज्योतिः ज्योतिरन्तर्गतं मनः॥ ८५॥

मनस्यान्तर्गतो बुद्धिरन्तर्गतो मम।
ममान्तर्गत * चित्तश्चित्तमन्तर्गतात्मनः॥ ८६॥

पृ। २१)

आत्मान्तर्गतो कालः कालमन्तर्गतः कला।

कालान्तर्गतयो नादनादान्त * * * परा ॥ ८७ ॥

परान्तर्गतयो ज्ञान ज्ञानमन्तर्गतः शिवः ।
सर्वान्तर्गतयाद्ब्रह्म तद्ब्रह्म तत्परात्परम् ॥ ८८ ॥

एवमन्तर्गतस्यार्थ हौ ओं त्रीणि गुरुद्भवः ।
योगाष्टाङ्ग प्रकारोक्तमोंकारं परमाक्षरम् ॥ ८९ ॥

सप्तव्याहृति गायत्र्या सावित्री प्रकृता कृतिम् ।
षडङ्गाश्चतुर्वेदा स्मृति त्यागं ततो मयम् ॥ ९० ॥

मा * * * * * * * * * * * त्म
विवेकः
नानान्त्योत्पन्नय प्राप्तं तन्मायामयीमयम् ।

मायान्त स्थात्मकं बद्धं पाशं पञ्चममाचरेत् ।
पाशं शोधन जीवात्मा पशुतच्छोधनः पराः ॥ ९१ ॥

परा प्रणव संशोध्यं ओंकारान्तं गुरोः परम् ।
गुरोरन्यत् परं नास्ति गुरोरन्यत् शिवं न हि ॥ ९२ ॥

॥ प्रणव विवेकः समाप्तः ॥

॥ अथ लिङ्गोद्भव विवेकः ॥

प्रणवं बिन्दुनादोक्तं कुटिलाकारमुद्भवम् ।

कुटिला * स्वशक्त्यर्थमुदितां कुरवः शिवम् ॥ ९३ ॥

बिन्दुनाद कलाकारं प्रणवं तल्लिङ्गमाचरेत् ।

नादान्तस्य कलापाशमुन्मन्यन्तं तदाधिकम् ॥ ९४ ॥

समनान्तं पाशजालमुन्मन्यन्तं परं शिवम् ।

शुद्धाध्वा वुन्मनीर्यन्तन्तदन्तं चरणोदितम् ॥ ९५ ॥

पृ। २२)

काल भुवन वर्णञ्च मन्त्राध्वा च पदाध्व च ।

तत्वाध्वा इति विज्ञेया षडध्वा सादाख्यरूपकम् ॥ ९६ ॥

कलाध्वा वायवं प्रोक्तं भुवनं रोममेव च ।

त्वग्वर्णा च * * शोणिपदाध्वा च नाड्यः शिराः ॥ ९७ ॥

षड्विंशत्तत्व खण्डोक्तं धातुरूपं सदाशिवम् ।

तद्भेद प्राणयश्शक्ति तत्परा शक्तिरुच्यते ॥ ९८ ॥

शिवमात्म स्वरूपस्थमिदं सादाख्यमुद्भवम् ।
पञ्चकृत्याधिकारस्थं जगद्योनिं सदाशिवम् ॥ ९९ ॥

परमं बीजमध्यस्थे त्रिकोणरेखा स्तनादयः ।
त्रिकोणाकार मध्यस्थे भगाङ्गं लिङ्गमाचरेत् ॥ १०० ॥

भगमध्ये स्थितं लिङ्गं लिङ्ग मध्ये स्थितं भगम् ।
सदाशिवासनं लिङ्गं लिङ्गासनं तु पीठिका ॥ १०१ ॥

पीठिकासन भ्रूमध्ये देशिका ध्यानमासनम् ।
एवं ध्यात्वा तु मनसा पराशक्तिस्तु विन्यसेत् ॥ १०२ ॥

पञ्चभेदन्तु सादाख्यं तद्भेदं षोडशोद्भवम् ।
अष्टाविंशं महेशोक्तन्नटराजं प्रधानकम् ॥ १०३ ॥

परेच्छया शिवसादाख्यं तदादिः पञ्चमोद्भवम् ।
महेश विष्णुरुद्रादि पञ्चभूतस्तु पञ्चमम् ॥ १०४ ॥

सर्वं सादाख्यमुत्पन्नं कारणत्रयमाचरेत् ।
मूर्ता मूर्तिः कर्ममूर्तिः शिव * ?ख्य पञ्चमम् ॥ १०५ ॥

रुद्रोत्पन्न गणेशस्तत्स्वभेदं षोडशं तथा ।

रुद्रोत्पन्न विशाखश्च षट्भेदैक स्वसंग्रहम्॥ १०६॥

प्। २३)

देवासुरा नराशक्ति ऋषिभ्यः किन्नरादिकम्।
सर्वं रुद्रेशरोमस्य मध्योत्पन्नमसंख्यया॥ १०७॥

ब्रह्मादि शिवतत्वान्त दशसादाख्य सम्भवम्।
वेधाः पश्चिमभागे तु हृषीकेशोत्तरस्तथा॥ १०८॥

अघोर दक्षिणे भागं पुरुषं पूर्वयोदितम्।
ईशानस्थानमीशानं दृष्ट्वा मध्यमयोदितम्॥ १०९॥

मध्यमाग्रस्तथा बिन्दुनादं रेखाग्रयशिवम्।
शिवमध्यन्तु शक्त्यर्थमेतत् सादाख्यमुद्भवम्॥ ११०॥

शान्तं पद्मासनस्थं शशिधरमकुटं पञ्चवक्त्रं त्रिणेत्रं।
शूलं वज्रं खड्गं परशुमभयदं वाम दक्ष भागे वहन्तम्॥ १११॥

नासगं पाशं च घण्टां मलनकरयुतं सांकुशं वामभागे।
नानालंकारयुक्तं स्फटिकमणिनिभं सौम्यसादाख्य तत्वम्॥ ११२॥

देवीशिर दक्षिणोत्तर सुपादं गोमुख पादान्तकृतवारि भुजयुक्तम्।

योनिगत मध्य मधु संस्थित लिङ्ग स्थापित सदाशिव-

मनोन्मनि स्वरूपम्। मनश्शक्तिक विज्ञेय उन्मनः परमः शिवः॥ १३॥

मन उन्मन सम्बन्धान्मनोन्मन्यभिधीयते॥ ११४॥

वामाद्यष्ट शक्तीनां मध्यतेजो मनोन्मनी।
मनोन्मनि ग मध्यस्थो सादाख्यं लिङ्गमध्यमम्॥ ११५॥

शिवशक्ति स्थितं लिङ्गं जगद्योन्युद्भवस्तथा।
नवज्ञाङ्ग पद्माङ्गं न चक्राङ्गश्च? गत्त्रयम्॥ ११६॥

लिङ्गांशश्च भगांशश्च तस्मान्माहेश्वराज्जगत्।
मूलाधारं चतुष्पत्रं तन्मध्ये वशषस्सजम्॥ ११७॥

पृ। २४)

तन्मध्ये कुटिलाकारं त्रिकोणाकार संभवम्।
नाडी मूलावृताङ्काभि कुण्डली हंसनिस्वना॥ ११८॥

कुण्डल्याकार मध्यस्थे प्राणं प्रणवसम्भवम्।
प्रणवत्रयमध्यस्थं व्योमाकारं पराक्रमम्॥ ११९॥

पराक्रमं परोत्पन्नं परं सर्वत्र कारणम्।

चिद्घनं मेघतद्व्याप्तं नित्यं सद्योतित प्रभम्॥ १२० ॥

सर्वात्म कारणं शम्भुर्विभुश्शर्वस्व साक्षिकम्।

शम्भोः शिवपरं सूक्ष्मं सर्वव्यापकमीश्वरम्॥ १२१ ॥

सर्व वर्णं तथा मन्त्रं मन्त्रमूर्तिमनेकधा।

सर्वकोटि महामन्त्रं सप्तकोट्यंशि कारणम्॥ १२२ ॥

विज्ञानस्याष्ट विद्येशं मन्त्रमूर्ति प्रधानकम्।

सप्तकोटि महामन्त्रं चित्तव्याकुल कारणम्॥ १२३ ॥

एकेन सहजं मन्त्रं तुर्यातीते परं शिवम्।

नादबिन्दु द्विधाकारं त्रिधावाक् पञ्चमोद्भवम्॥ १२४ ॥

कुटिली कुण्डलीस्तारं बैन्दवैशानमीश्वरम्।

रुद्रविज्ञान काष्टांशं इच्छाज्ञानक्रियात्मकम्॥ १२५ ॥

आणवं माययाकाम्यं पावे?पंच तिरोभवम्।

स्थूल सूक्ष्म महान् प्राणा व्यक्ता पञ्चम कञ्चुकाः॥ १२६ ॥

जीवामेच्छादिषु त्रिंशत् षट्त्रिंशत्तत्वकारणम्।

कारणं कृत्य मूलस्थं माया कुण्डलिनोद्भवम् ॥ १२७ ॥

सर्व तत्वं मयाख्यातं सर्वात्म सृष्टिकारणम् ।
अचिन्त्यं तत्परा शक्तिश्चिन्त्यमाया विकल्पकम् ॥ १२८ ॥

पृ। २५)

अचिन्त्याचिन्त्ययः साक्षिरात्मरूपं परात्परम् ।
सर्वमन्त्रमयं तारन्तारश्चिादयोदितम् ॥ १२९ ॥

ओमिति ज्योतिरूप ज्योतिरूपस्थं सत्यमुक्तम् ।
आसिकाबन्धनं शैवं नासिकाबन्धनं न च ॥ १३० ॥

न यनो नियमश्चैव स्वयमोमिति पश्यतः ।

॥ अर्थितत्व संग्रह विवेकः ॥

क्षित्यादि कुटिलान्तानि षट्त्रिंशत्तत्वरूपकम् ॥ १३१ ॥

शिवेच्छया कुटिलोत्पन्नं नादतत्व प्रधानकम् ।
नादमध्योदितं बिन्दु शिवशक्त्यर्थनामकम् ॥ १३२ ॥

ज्ञानक्रिया समुत्पन्नं शिवशक्ति स्वरूपकम् ।

ज्ञानक्रियोत यस्तत्वं तत्सादाख्य स्वरूपकम्॥ १३३॥

ज्ञाननून क्रियाधिक्यं महेशस्तत्व विग्रहः।
योगेच्छया क्रियान्यून शुद्धविद्याप्रकाशितम्॥ १३४॥

शुद्ध विद्येश सादाख्यं बिन्दुनादाश्च पञ्चधा।
शिवतत्वमिति प्रोक्तं बैन्दवस्तत्र कारणम्॥ १३५॥

बिन्दुशक्तोद्भवं माया मोहिन्यो मोहकारणम्।
अरूपं नित्यैक रूपस्थं व्याप्त्यन्तं स्वनविग्रहम्॥ १३६॥

मायोद्भवस्तथा * * त्रिकृत्यर्थं त्रिभेदकम्।
कालस्योत्पन्ननियति यत्कर्मं तत्सुनिश्चियम्॥ १३७॥

कालो नियतिरुत्पन्न माणविस्तत्र शोधनम्।
किञ्चिदिच्छा क्रियाज्ञान स्वात्ममध्ये प्रकाशितम्॥ १३८॥

कारणत्वे तथा विद्या नाना ज्ञानोद्भवात्मकम्।

प्।२६)

रागा परिमिताशार्थं विद्या तत्वेति षष्ठमम्॥ १३९॥

मूल प्रकृति विकृति कलातत्वोद्भवं तथा ।
त्रिगुणत्वोन्नतत्काल गुणत्वं प्रकृति स्थितम् ॥ १४० ॥

इन्द्रिय ग्र * * * रसाने पुरुष तत्वकम् ।
विषयग्राह्यैन्द्रियः कालेनात्मं पुर्यष्टकं तथा ॥ १४१ ॥

माया व्यक्तं तदव्यक्तं तद्यक्तं तन्महानिति ।
तत्वन्त्वहित यस्तत्वस्तच्चित्तं करणादिकम् ॥ १४२ ॥

अ * * * गुणोत्वञ्च त्रिधाभेदस्तथोच्यते ॥ १४३ ॥

सात्विके तैजसा हन्ताराजसे वैखरी तथा ।
तमसे भूतातिकन्तु तस्माद्भुज त्रयोदितम् ॥ १४४ ॥

तन्मध्ये तैजसाहन्ता मध्ये मानसमुद्भवम् ।
ज्ञानक * * याकारं वैखर्याहनयोद्भवम् ॥ १४५ ॥

शब्दादिः पञ्चमो भेदं भूताहन्तान्ततोद्भवम् ।
शब्दादिः पञ्चतन्मात्रे आकाशादि समुद्भवम् ॥ १४६ ॥

आकाशाद्वायुरुत्पन्नं वायव्येदं मनोभवम् ।
दहने जलवुत्पन्न जले मेदिनिरुद्भवम् ॥ १४७ ॥

चतुरमार्ध चन्द्रञ्च त्रिकोण षट्कोणवृत्तयः।
पृथिव्यादि स्वरूपोक्तं बुद्धिमत्कारणोद्भवम्॥ १४८॥

स्वर्णः श्वेतारुणः कृष्णं धूम्रं प्रव्याधि रूपकम्॥ १४९॥

* * * * ज्ञ मादीनां लवरयह वर्णकम्॥ १५०॥

ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्रमीशमीशान कारणम्।
भूत भेदमिदं प्रोक्तं तज्जन्यं तत्र कारणम्॥ १५१॥

पृ। २७)

पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशं भूतपञ्चमम्।
श्रोत्रं त्वक् चक्षुर्जिह्वा च प्राणञ्चैव तु पञ्चमम्॥ १५२॥

वाक्पाणिपादपायुरुपस्थञ्चैव तु पञ्चमम्॥ १५३॥

वचनागमनादान विसर्गानन्द पञ्चमम्।
तदन्यं पञ्चदश्यर्थं शब्दादिः पञ्चविंशतिः॥ १५४॥

मनोबुद्धिरहङ्कार चित्तज्ञेत्रज्ञ पञ्चमम्।
एवन्तु पञ्चविंशार्थमात्म तत्वं प्रकीर्तितम्॥ १५५॥

रागो नियति विद्या च कला कालश्च मोहिनी।
विद्या तत्वमिति प्रोक्तं षष्ठमं परिकीर्तितम्॥ १५६॥

शुद्धविद्येश सादाख्यः शिवशक्तिस्तु पञ्चमाः।
शिवतत्वमिति प्रोक्तं शुद्धाशुद्धञ्च मिश्रितम्॥ १५७॥

आत्मतत्वं हृदायान्तं विद्यातत्वं भ्रुवान्तकम्।
शिवतत्वं शिखान्तस्थं तत्वन्नात्रमिति स्थितम्॥ १५८॥

सर्वतत्वं कलातीतं पराशक्ति प्रभेदकम्।

॥ ज्ञान सिद्ध्यागमे द्वितीयः शिवलक्षणाधिकारः समाप्तः॥

प्रथमस्तन्त्राधिकारार्थः द्वितीयः शिवलक्षणम्।
मन्त्र तत्वप्रसादार्थं शिवसादाख्य सम्भवम्॥ १॥

इत्थमधिकार संग्रह विवेकम्॥

देव्युवाच-

देव देव जगन्नाथ शिवशूलिन् महेश्वर।
आत्मवर्गं किमुत्पन्नः शृणु देवि वरानने॥ २॥

भग्नेव घटे यथा दीपस्सर्वतः संप्रकाशते ।
देहे पाते तथा चात्मा भाति सर्वत्र सर्वदा ॥ १८ ॥

योग ज्ञानं शिव ज्ञानं शिवं सर्वत्र कारणम् ।
शिवं शान्तं जगद्योनिं शिवमुक्ति प्रकाशकम् ॥ १९ ॥

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्भ्राता गुरुः सुहृत् ।
गुरोस्तु न परं किञ्चिदित्याह परमेश्वरः ॥ २० ॥

न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकम् ।
शिवसाधन यश्शिवशासशासनयश्शिव साशासनयः ॥ २१ ॥

प्रसं प्रदाधिकारः समाप्तः ॥

देव्युवाच-

देवदेव परानन्द शिवश्शूली महेश्वर ।
योग * * * * * र्थं किं प्रकारं तदुच्यते ॥ १ ॥

महेश्वर उवाच-

महेशि देवदेवेशि शृणुदेवि वरानने ।

योग सिद्धि प्रबोधन्तूपदेश क्रमं तथा ॥ २ ॥

योगसिद्धि प्रबोधन्तूपदेश क्रमं तथा ।
उपदेश क्रमं ह्येवं योग सिद्धस्य बोधकम् ॥ ३ ॥

योगमष्टाङ्ग तद्भेदं बाह्यार्थानामनन्तकम् ।

योगभेदः-

यमश्च द्विधमाप्रोक्तमासनं त्रिविधं परम् ॥ ४ ॥

प्राणायाम चतुर्थन्तु प्रत्याहारञ्च पञ्चकम् ।
धारणा ध्यान संकेतं समाध्यष्टाङ्ग उच्यते ॥ ५ ॥

स्वाधारञ्च निराधारं पाशयोगं तृतीयकम् ॥

पृ। ५८)

योगोपरिमितं शास्त्रे सारात् * * * * * * ।
योगेन सिद्धयत्यर्थं हि ज्ञानेन ह्युक्तिरुच्यते ॥ ६ ॥

योगभेदः-

यमं दशविधं यमं दशविधं भवेत् ।

आसना परिमिदं तञ्च तन्मध्ये दशमुत्तमम्॥ ७॥

प्राणायाम प्रभेदार्थश्चतुर्थं पूरकादिकम्।
प्रत्याहारञ्च पञ्चैते धारणाः पञ्चमं भवेत्॥ ८॥

अष्टाविंशति ध्यानं च मध्ये पञ्चम उत्तमम्।
एकं समाधिरित्युक्तं तन्मध्ये परमं पदम्॥ ९॥

यमं दशविधं प्रोक्तं शुद्धं कारुण्य सम्भवम्।
अल्पाहारमितिश्शान्तं सर्वार्थं समचिन्त्यकम्॥ १०॥

सत्यञ्च दृढचित्तं च ब्रह्माचार्यं तदष्टमम्।
न येयु न च * * * यमं दशविधं तथा॥ ११॥

एकैकं तु यथा प्रोक्तं सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं तथा।
यमं दशविधं प्रोक्तं शृणु देवि वरानने।
तपञ्चपयोगश्चैव स दोषास्ति कदाचन॥ १२॥

शिववृत्तं तत्वसिद्धः साधकः शिवपूजकः।
मतिर्लज्ञा तथा प्रोक्ता आसनं दशमं शृणु॥ १३॥

पत्रं गोमुख पद्मं च सिंह स्वस्ति कदाचन।

पञ्चकम् ॥

वीरं सुखास निमुक्तं मयूरं दण्डासनं तथा ॥ १४ ॥

प्राणायामं चतुर्थञ्च शृणु देवि वरानने ।
पूरकं रेचकं चैव कुम्भकं त्रासनं तथा ॥ १५ ॥

एकैक वायुमापूर्य मात्रा दीर्घं तदुच्यते ।
प्रत्याहार प्रभेदार्थं शृणु देवि वरानने ॥ १६ ॥

पृ। ५९)

जितेन्द्रियोपाधिशून्या चैतन्यो भावसम्भवः ।
ज्ञानचक्षुः प्रकाशश्च * * * * * मूढकम् ॥ १७ ॥

एवं पञ्च मयं प्रोक्तं तत्प्रत्याहारमुच्यते ।
धारणं पञ्चका प्रोक्तं शृणु पार्वतिमत् प्रिये ॥ १८ ॥

मूलं लिङ्गेन नाभ्यन्तं हृदयं गलपञ्चकम् ।
नासिका भ्रूशिखामार्गे मरुन्नादोद्भव ध्वनिम् ॥ १९ ॥

प्रभेद सोष्ट भेदन्तु शिखादिं पञ्चमोत्तमम् ।

अन्यथा धारणं प्रोक्तं पृथिव्यादिकमेककम् ॥ २० ॥

तत्तज्ज्ञात क्रमाद्योज्यं दिवौ ग्रन्थिस्तदुज्यकम् ।
ग्रन्थात्मपदे योज्यं तत्परो योज्यधारणम् ॥ २१ ॥

एवमष्टमधो भेदं धारणा सूक्ष्म मुच्यते ।
महेशी मायया देवि * * * * * * * णुः ॥ २२ ॥

निवृत्त्यादि कलापञ्च ध्यानं पञ्चात्मको भवम् ।
आधारं च निराधारं न साधारं न धारकम् ॥ २३ ॥

ऊर्ध्वाधार प्रविश्यार्थं पराशक्ति प्रकाशकम् ।
रूपारूप विदध्यानं रूपारूप द्विभावनम् ॥ २४ ॥

सत्यध्यानं समाध्यर्थं बोधध्यानं प्रबोधनम् ।
जितेन्द्रियं इन्द्रियध्यानं शक्त्या ध्यानमनन्तरः ॥ २५ ॥

वीर ध्यानं पर ध्यानं रक्त शुक्ल द्विमिश्रकम् ।
बोध बोधस्व बोध * परध्यानं परोदितम् ॥ २६ ॥

शिवध्यानात्म भावोक्ता ध्यानयोगमिदं तथा ।
इन्द्रियस्य पदध्यानं पराबोध शिवस्य तु ॥ २७ ॥

एवं * * * * युक्तं न ध्यानं व्यापकं शिवम्।

पृ। ६०)

समाधिर्योग संप्रोक्तं शृणु देवि महेश्वरि॥ २८॥

समाधिः समतावस्था जीवात्म परमात्मयोः।
तमतांश समाध्यर्थं जीवन्मुक्ति पदं परम्॥ २९॥

जीवत्व परयोरैक्यं वेदान्त ज्ञान सङ्गमम्।
वेदान्तार्थ मयं ज्ञानं सिद्धान्तं परमं शुभम्॥ ३०॥

देवस्य विहिताचारं दक्षिणाचारमुच्यते।
विपरीतं वाममन्त्रं शक्त्या ध्यान समाश्रितम्॥ ३१॥

* * सिद्धिस्तथा प्रोक्तं शृणुवेदान्त संग्रहम्।

॥ अष्टाङ्ग योगपटलः॥

अष्टाविंशस्तु ज्ञानांशमेव * * * * * *।
एवं शैव क्रियाभेदं चतुष्पादोद्भवाश्रयम्॥

चर्यादि ब्रह्मचर्यादि सिद्धान्ताश्रममुच्यते।
ऊर्ध्वशैवं महाशैवं मनादि शैवादि शैवकम्॥

भेदा भेद द्वयं शैवगुण शैव * * * *।
अध्व शैवं क्रियाशैवमवान्तरं योगशैवकम्॥

ज्ञानशैवं शिवः शैव शैव भेदश्चतुर्दशम्।
शुद्धशैवं तथा मुख्यश्चतुष्पादा प्रवर्तकम्॥

ज्ञानज्ञेय द्विधा ज्ञातुर्भावं साक्षान्निवर्तकम्।
पञ्चान्त * * * * * * * ज्ञानसाधकम्॥

वेदान्तं शैव सिद्धान्तं नादान्तं बोधमन्तकम्।
योगान्तं पञ्चमान्तस्तु सर्वशास्त्रात्तु सारजम्॥

सिद्धिमुक्तिस्तथा प्रोक्तः साधनं ज्ञान साधनम्।
शुद्ध शैव * * * * शाभवं शाश्वतम् शुभम्॥

सर्व शास्त्रार्थ सारार्थः संग्राह्यं शुद्धशैवकम्॥

प्। ६१)

शुद्धशैव स्वमुक्त्यर्थं शुद्धमुक्तिस्व गोचरम्।

नानासमय भेदार्थं नानामुक्ति स्वभावकम् ॥

नानायोग प्रभेदार्थं नाना सिद्धिप्रवेशनम् ॥

पद * * * * * क्ताः मुक्तारूपा स्वमुक्तिकाः ।
अपिकारस्तथा * * एवं नानात्म मुक्तिकाः ॥

तन्मध्ये सिद्धिमुक्तिश्च शुद्धमुक्तिश्चतुर्द्वयम् ।
शुद्ध शैव स्वसिद्ध्यर्थं शाम्भवी मुद्रिकान्तकम् ॥

शाम्भवं * * * * * * क्षात् योग्यस्व वेधनम् ।
सत्य साम्भव शुद्धाय उग्रशाम्भवमुत्तरा ॥

अनुत्तरः शाम्भवश्चेति शाम्भवं ज्ञान पञ्चकम् ।
शाम्भवी खेचरी ज्ञानमुद्रा त्रितय शाम्भवम् ॥

अष्ट शाम्भव संवेद्यं शुद्धशैवार्थ निर्णयम् ।
योग शाम्भव त * * * * * * * भेदकम् ॥

नाना विध शास्त्रार्थैं * * * * * * * * * ।
अष्टक ज्ञान भेदोक्तं शुद्धशैवस्व शाम्भवम् ।
शैवमार्गे महासिद्धिरन्यं पाशुपतादिकम् ॥

कलाध्वा मध्यमो भागो पञ्चाध्वा * * मोद्भवम् ।
पाशं पशुपति ज्ञेयं शैव सिद्धान्त साधनम् ॥

ज्ञानयोग क्रियाचर्या शैवाश्रम विभेदकाः ।
नाना वेदागमाद्यर्थं नानाशास्त्रार्थ दर्शनम् ॥

नानाशब्द प्रवाहार्थं बैन्दवः कलहोदितम् ।
नानाशब्द प्रवाहार्थं बैन्दवः कलहोदितम् ॥

बैन्दवं कुटिल * * बिन्दुनादोदयोदितम् ।
बैन्दवस्तत्व * * * * * * * कलोदितम् ॥

पृ। ६२)

बिन्दुनाद कलामध्ये अकारोकारयोदितम् ।
अकरोकारमकारं च बिन्दुनादं च पञ्चमम् ॥

कलाध्वा मध्यमो भागो पञ्चा * * वमुद्भवम् ।
अकारो वैखरी जातमुकारे मध्यमोदितम् ॥

मकारे पश्यन्ती जातं बिन्द्वौ सूक्ष्मस्ततोदितम् ।
नादान्त सूक्ष्म वाग्जातं वाक्पञ्चम लोदितम् ।

वाग्भवं वेदशास्त्रार्थं वैखरी वर्ण उद्भवः॥

वैखरी श्रोत्र विज्ञेया * * कल्पा तु मध्यमाः।
निर्विकल्पा तृतीयाया आसांकारण मध्यमाः॥

महासूक्ष्मा च रूपार्थ इति वाक् पञ्चमोद्भवः।
अकारो ब्राह्मणो जातमकारो वैष्णवोद्भवम्।
मकारो रुद्रांश वर्णन्तु बिन्दुरीशोद्भवस्तथा॥

नादः सदाशिव इति नादादि पृथिव्यन्तकम्।
त्रिंशत्तत्व द्विसंभिन्नं कुटिलाशक्तिरुद्भवम्॥

कुटिलं कुण्डली व्याप्तं कुण्डली प्रणवोदितम्।
यातु कुण्डलिनी शक्तिर्माया कर्मानुसारतः॥

* * न्दु द्वादकार्यन्तु तस्य त्रि च जगत्स्थितिः।
मकारः सामनादांशं बिन्द्वाधर्वणमुद्भवम्॥

वेदान्त्योंकार नादान्ते ज्ञानरत्नं तथोद्भवम्।
सर्वमोंकारमुत्पन्नमोमिति ज्योतिरूपकम्॥

निवृत्ति कलांश रूपप्रतिष्ठा भावोदितोपमम्।

बिन्द्वान्तं तटिदाकारं शान्तिदीपक समोपमम् ॥

पृ। ६३)

शुद्धस्फटिक संकाशं शक्त्यन्त तपसोपमम्।
निवृत्त्यादि कलारूपाकारादि कलोदिता ॥

अकारादि कलामध्ये वाचा पञ्चमदेवता।
अकारादि कलारूपं हौकार * * * * * ॥

* * * * ष्टमं बीजं षष्ठमस्वर संयुतम्।
चतुर्दश स्वरोपेतं बिन्दुनाद समन्वितम् ॥

एवं पञ्चकलाप्रोक्तं मूलमन्त्रं तदुच्यते ॥

हकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च।
अर्धचन्द्रो निरोधी च नादो नादान्त एव च ॥

शक्तिश्च व्यापिनी चैव समना चोन्मना तथा।
समनान्तं पाशजालं उन्मन्यन्तं परं शिवम् ॥

उन्मन्यन्ते परा तत्वा तदन्तं शिव मुच्यते।
कलाषोडश विज्ञेयं प्रासादं परमाक्षरम्।

प्रासादयेति प्रासादं प्रासादं शिवमन्त्रकम्॥

* * * * * * * * * शब्दो गतिरुच्यते।
दमत्स्वरूपमेवन्तु त्रिवर्णमभिधीयते॥

कला षोडशयोर्भेदं पञ्चकस्य कलमयम्।
कला पञ्चम मध्यस्थे पञ्चाध्व उद्भवं तथा॥

अकारे तत्वमुत्पन्नं उकारे भुवनोद्भवम्।
मकारे पदमुत्पन्नं बिन्द्वे वर्ण स्थितोदितम्॥

नादेमन्त्रोद्भवं ज्ञेयं जगत्यर्थं ततोदितम्।
हकारादि कलामध्ये पृथिव्यादि समुद्भवम्।
पृथिव्यादि कुटिलान्तं षट्त्रिंशत्तत्वमुद्भवम्॥

आत्मविद्या शिवत्वं च * * * * * * दकम्।
श्रोत्रत्वक् चक्षुर्जिह्वा च ज्ञान इन्द्रिय पञ्चमम्॥

प्। ६४)

वाक्पाणि पायूपस्थं कर्मेन्द्रिय पञ्चमम्।
शब्दस्पर्शरूपं च रसगन्धं च पञ्चमम्॥

वचनागम नादानां विसर्गानन्द पञ्चमम्।
मनोबुद्धिरहंकारश्चित्त क्षेत्रज्ञ पञ्चकम्॥

आत्मतत्वमिति ज्ञेयं भाग्यखण्डमशुद्धकम्।
मायाकालं च नियतिः कला विद्यारागषष्ठमम्॥

अशैव खण्डमित्युक्तं शुद्धाशुद्ध विमिश्रमम्।
शुद्धविद्येश सादाख्यं बिन्दुनादान्त पञ्चमम्॥

शिवतत्वमिति ज्ञेयं प्रेरखण्डं तदुच्यते॥

शिवतत्वं शुद्ध तत्वार्थं तत्त्वातीतं समात्मनम्।
तत्त्वातीतं परं शक्ति तत्वातीतं परं शिवम्॥

तत्वार्थं कुण्डली व्याप्तं जगदुत्पत्ति कारणम्।
कुटिलेच्छादितं भिन्नं तच्छक्ति तत्व विग्रहम्॥

सर्वतत्वमयं व्याप्तं पाशतत्वार्थ कारणम्।
तत्वतीतं पराशक्ति तत्वातीतं परं शिवम्॥

कला पञ्चममध्यस्थे पाशः पञ्च मलोदितम्।
पाशवो बद्धय पाशः पाशबन्धस्तथा पशुः॥

पाशेन पशवो बद्धाः कारणं परमेश्वरः।

पतिर्नाम इति ज्ञातं पाशाभावेन यः पशुः॥

कालावसानात् शक्त्यर्थे तिष्ठन् बोधात् विमुक्तः॥

एवं शाश्वत शैवार्थमेवं सिद्धान्तगोचरम्।

मूलादि द्वादन्तार्थैः संयोज्यं परमाक्षरम्॥

तन्निराधार योगांशं स्वाधारं नव भावितम्।

परायोग्यां परामिश्रमन्वे योग्यं पृथक् तथा॥

योगभेदमिति प्रोक्तं तत्त्रिभेद इति स्थितिः।

कलायोगम् -

अकारे मनसोत्पन्नमुकारे बुद्धिरुद्भवम्॥

प्। ६५)

उकारे हा त्रयोत्पन्नं बिन्द्वौ चित्तस्तदुद्भवम्।

नादे पुराणमुत्पन्नं नादान्ते शक्तिरुद्भवम्॥

शक्त्यन्ते शिवमुत्पन्नं तदन्ते परमं पदम्।
कलापन्न महाभागे जगदुत्पत्ति कारणम्॥

कलातीतं परातीतं परातीतं परं शिवम्॥

॥ तन्त्रावतार पटलः॥

अष्टभेदं स्वसिद्ध्यर्थं शृणुदेवि वरानने।
अष्टभेद प्रभेदार्थे नाना सिद्धिसमुद्भवम्॥

अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा।
प्राप्य प्राकाम्यमीशित्वञ्च शिवत्वं कामरूपकम्॥

निर्मितस्व समर्थार्थ साधकः सिद्धिसम्भवम्।
उद्गतश्वासमात्रार्थं विषमाजात नाशनम्॥

अणिमदि प्रसिद्ध्यर्थं अष्टैश्वर्यं यथा तथा॥

वायुमापूर्य संसिद्धिरन्यथा द्वादशोद्भवम्।
कुण्डली मध्यम स्थाने कृपाकारं त्रिकोणकम्॥

तन्मध्यस्थे चतुर्मात्रा हंसो स्वरति नासिकः।

मार्गेण गम्यतां वायुर्जरामरण कारणम् ॥

हंसं परमहंसं न हंसं सोहं यथा * * ।

उद्गत श्वासयोर्नाशं निर्गतश्वास सिद्धिजम् ।
सन्ततं निर्गतश्वासं मन्त्रयोगस्व साधकम् ॥

सन्ततं निश्वासभावं साधयेद्द्वादशाब्दजम् ।
अन्यथा द्वादशाः सिद्धिरेकैकाब्दस्ततोदितम् ॥

प्रथमार्थाद्य व्याधिर्द्वितीयो जनवर्जितम् ।
तृतीयस्सर्व नाशास्त्रय चतुर्थे वाक्यार्थ सिद्धिजम् ॥

पञ्चमे पुराण श्रवण षष्ठ्यातीतन्तु नागतः ॥

पृ। ६६)

सप्तमे चण्डवेगार्थमष्टमे मरणानि च ।
नवमोनन्द कायस्थं दशं भू त्याग सम्भवम् ॥

एकादशं तथारुद्रा द्वादशद्योगमिष्यति ।
एवं द्वादश सिद्ध्यर्थं वायुमापूर्य उद्भवम् ॥

वायुमापूर्य मार्गस्थे नाना सिद्धिसमुद्भवम्।
इडा पिङ्गलयोर्मध्ये तन्मध्ये नाद सम्भवम्॥

नाद * * * * * * * * न्तं परमः शिवः।
शिवमध्ये गतश्शक्ति शक्तिमध्यगतः शिवः॥

हकारं शिवरूपत्वं सकारं शक्तिरुच्यते।
हकार सकार योर्मध्ये हंसमनूदितम्॥

हंसमार्गस्वयं शक्तिनीलवर्णनिभं तथा।
सोहं शस शरन्तत्र निश्वासो छ्वास तद्विधा॥

सर्वनाडि स्वमध्यस्थे सुषुम्ना नाड्युत्तमं भवेत्।
सुषुम्ना मूलाग्र मध्यस्थे मण्डलत्रय संयुतः॥

मण्डलत्रय मध्यस्थे ज्योतीरूपं परामयम्।
परा वा समया सिद्धिर्जरा मरण नाशनम्॥

हातो विसर्जनैर्युक्तः पराविद्यामयं तथा।
कारश्चञ्चु पुरीकारं शोष्यमाणा निलात्मकम्॥

सदाभावं विशेषार्थं जरामरण नाशनम्।

पराविद्या महाविद्या मूलविद्या समस्तथा॥

परामूलं समाश्रित्य संघटी कृत्यार्थसिद्धिजः।
आधार प्राणसंवेद्यमात्ममन्त्र स्वगोचरम्॥

आधारं षष्ठमं भेदं निराधारं परं शिवम्॥

आधार लक्षणम्-

पृ। ६७)

आधारे लिङ्गनाभौ हृदय सरसिजे तालुमूले ललटे
द्वेवक्रे षोडशारे द्विशत दशदले युते द्वादशार्धे चतुष्के।
वासान्ते बालमध्ये सफकठ सहिते संविर्गेह लक्षे मध्ये हंसं स्वदीप्तं
सकलं कलयुतं वर्णरूप प्रकाशम्॥

सर्व वर्णस्व मध्यस्थे हंसमात्मन्ततोदितम्।
हंसं सर्वत्र वर्णानां आदि मध्यान्त रूपकम्॥

एकं वर्ण स्वरूपं चैक मुद्रार्थ खेचरी।
एकं देव परब्रह्म एकं शक्तिपरामयम्॥

एकविंशत् सहस्राणि षट्शतं तत्र कारणम्।

हंसमार्ग महोरात्रन्नासिमार्गे गमिष्यति ॥

त्रीण्यं शैकांश भोगन्तु तथापूरित मायुकम् ।
निश्वासोश्वास सम्बन्धमेक प्राणावसानकम् ॥

वायुगम्यं यथा नाश तथा गम्यं स्वसिजम् ।
गम्यन्ते वरणावस्था अगम्यं सिद्धिरुत्तमम् ।
मूलमन्त्र प्रतीकाश मूल कुण्डलिनोदयम् ॥

तन्मध्येहंसमुद्योगं तन्मध्ये बिन्दु संस्थितम् ।
अकारोकारमकारं च क्रियाकुण्डलिनोदयम् ॥

कुण्डलीत्रय मध्यस्थे सोमसूर्याग्नि सम्भवम् ।
सोमसूर्याग्निमध्यस्थं सृष्टि स्थित्यन्तकारणम् ॥

नादमार्गं तथा शक्ति ज्ञानान्तं तच्छिवोदयम् ।
शिवोहमस्य प्रकारं सोहमस्मिन् समाश्रितम् ॥

सोहंमार्ग सुषुम्नो हि प्रकाशे साधकोत्तमः ॥

पृ। ६८)

ऋद्धि सिद्धिर्भविष्यन्ति सोहंभावं समाचरेत् ।

मूलारविन्द मध्यस्थे हकारं वह्नि मण्डलम्॥

वह्नि ज्वाला प्रतीकाशं हंस हौवर्णमुद्भवम्।
मूलास्मि नाभिचक्रान्तं सान्तवर्णस्ततोदितम्॥

नाभ्यादि हृदयान्तं च उकार ज्योतिरूपकम्।
* * * * जिह्वान्तस्ये ऋकार ज्योति सङ्गमम्॥

जिह्वादि नासिका मध्याहदान्तं बिन्दुरूपकम्।
भ्रुवादि मध्यगान्तं च नाभिस्थानं विशेष्यकम्॥

मस्तकादि शिखान्तं च नादान्त स्थानमाचरेत्।
तदूर्ध्वे परमाशक्तिस्तदूर्ध्वे परमः शिवः॥

आधारादि शिखान्तस्थे द्वे धनं मन्त्रशोधनम्।
शिखाग्रे द्वादशाङ्गुल्ये शिवं सूक्ष्म परोदितम्॥

प्रासाद परया विद्या साधकः साधकोत्तमः।
प्रासाद परसंघट्टं नवाधारस्तु शोभनम्॥

नवाधारस्य * * * * * * * * दर्शनम्।
प्रासाद परयोर्विद्या सर्वसिद्धिस्ततोदितम्।

॥ इत्यष्टसिद्धिपटलः समाप्तः ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि मूर्त्यंश स्वविधानकम् ।
बिन्दुमध्यगतोनादं नादमध्यगतः शिवः ॥

नादलिङ्गमिति प्रोक्तं बिन्दुपीठमिति स्थितम् ।
बिन्दुनाद समाश्रेयं भगलिङ्गद्वयोदितम् ।
भगस्यान्तर्गतं लिङ्गं लिङ्गस्यान्तर्गतं भवम् ॥

भगलिङ्ग समाश्रेयं शिवशक्तिद्वि संगमम् ।
भगमध्ये स्थितं लिङ्गं लिङ्गमध्ये स्थितं * * ।
* * शिवासनं लिङ्गं लिङ्गासनन्तु पीठकम् ॥

पृ। ६९)

एवं ध्यात्वा तु मनसा पराशक्तिस्तु विन्यसेत् ।
न यज्ञाङ्गं न पद्माङ्गं न चक्राङ्गं जगत्त्रयम् ॥

लिङ्गाङ्गं च जगत्सर्वं तस्मान्माहेश्वरं जगत् ।
देवीशर दक्षिणोत्तर सुपाद गोमुख पदान्त कृतवारि भुजयुक्तम् ।
योनिगतमध्यमयसंस्थितं लिङ्गं स्थापित सदाशिवं मनोन्मनि स्वरूपम्
॥

शान्तं पद्मासनस्थं शशिधरमकुटं पञ्चवक्त्रम् ।
शूलं वज्रं च खड्गं परशु * * * * * न्तम् ॥

नागं पाशं च वर्णामनल करयुतं साङ्कुशं वामभागे
नानालङ्कारयुक्तं स्फटिकमणिनिभं कोपि सादाशिवाख्यम् ॥

पञ्चवक्त्रं पञ्चवर्ण पञ्चदिग्देवतावयम् ।
दशपञ्चक नेत्रांशं दशहस्तदशायुतम् ॥

दशकर्ण समायुक्तमेवं सादाख्यरूपकम् ।
सादाख्यं पञ्चभेदांशं सर्वं बिन्दूद्भवं तथा ॥

कर्मकर्तृ स्वमूर्तिश्च मूर्तिसादाख्य भेदकम् ।
शिवसादाख्य * * * * र्म भागैः प्रवर्तकम् ।

ईशान स्फटिक नं यत् कुंकुमाभं मुखं पूर्वं तत्पुरुषं
यदञ्जननिभं याम्यं च घोराननम् ।

औदीच्यं विलसज्जपाकसदृशं वक्त्रं तु वामं भवेत्
सद्योजातमुखं तु पश्चिममदां गोक्षीर तुल्यप्रभम् ॥

एवं सादाख्यरूप स्वमनोन्मनि सहितः शिवम् ।
वामाद्यष्टमशक्तीनां मध्यतेजो मनोन्मनीम् ॥

पृ। ७०)

नवशक्तिक विज्ञेयमुन्मनः परमः शिवः ।
मन उन्मन सम्बन्धान्मनोन्यभिधीयते ॥

* * * * * यं शक्तिः सम्बन्धं भोगरूषितम् ।
तन्म* * * * * * न्तर्मध्ये भोगसाधनम् ॥

तन्मध्ये रिद्धि सिद्ध्यर्थं तन्मध्ये मुक्तिवेधकम् ।
तन्मध्ये सर्वमूर्त्यर्थं तस्मात् सर्वत्र कारणम् ।
हकारोकार लिङ्गञ्च सर्वलिङ्गमयं तथा ॥

मकारं विद्यामयं प्रोक्तं लिङ्गसूत्र प्रधानकम् ।
लिङ्गसूत्रं सुषुम्नांशं प्रासादगमनं तथा ॥

बिन्दु पीठं च शक्तिश्च नादलिङ्गं शिवस्तथा ।
बिन्दुनाद समांशस्तु प्रणवाक्षर रूपकम् ॥

प्रणवमक्षरं प्रोक्तं बिन्दुनाद नस्य शिखान्तस्थे बिन्दुनादोत्किरीटम् ।

बिन्दुनाद कलाकारं सर्वमन्त्रात्म रूपकम्।

बिन्दुनाद कलाभेदं सोमसूर्याग्निरूपकम्॥

बिन्दुनाद कलाकारमिच्छज्ञान क्रियात्मकम्।

बिन्दुभिद्य त्रिकोणांशं * ण्डवं तत्त्वरूपकम्॥

रुद्रैशेशान तत्वानि साधनं बैन्दवोद्भवम्।

त्रिकोणं त्रिपुराकारं वाक् कर्म मुक्तिरुद्भवम्॥

तन्मध्ये न परा शक्तिः तन्मध्ये त्रिपुरं तथा।

वाग्भव स्वर्ण * * * * * शाण क्रिया तथा॥

मुक्तिस्फटिक सौत्मेति त्रिपुरा शक्तिकारणम्।

पञ्चमूर्ति स्वरूपस्थं पञ्चशक्ति स्वरूपकम्।

पञ्चपाशमल प्रोक्तं शुद्ध तत्वार्थ पञ्चमम्॥

पृ। ७१)

पञ्च सामाख्य संभिन्नं पञ्च * * * * * *।

पञ्चमाग्नि विधिप्रोक्तं पञ्चकस्य कलामयम्।

पञ्चकृत्यस्तथाकारं पञ्चवाग्वृत्तिकारणम्॥

पञ्चमाक्षर संभिन्नं सर्वं बैन्दवमुद्भवम्।

अर्धं वा षट् कति प्रोक्तं सर्वपञ्च कलामयम्॥

विज्ञानादि त्रिधात्मानं * * * * * कारणम्।
सागरश्शिकरादीनि तरङ्गाद्योदयं लयम्।
तथैव बैन्दवाकारे सर्वतत्वोदितं लयम्॥

खेचरी भूचरी शक्तिः शक्ति दृग्गोचरी तथा।
व्योम वामेश्वरी शक्तिः पञ्चमं बैन्दवोदितम्॥

खे * * * * न्तिर्भूचरीर्य परा * * तथा।
दिक्षरी तन्दिशा शक्तिगोचरी मन्त्रभूमिकाः॥

इच्छा ज्ञान क्रियामाया परा पञ्चाथ देवताः।
अकारोकार मकारं च बिन्दुनाद कलात्मिकाः॥

बिन्दु तत्वोदितं सर्वं सृष्टिकाले प्रकाशितम्।
तत्सर्वं कुटिला तत्वे * * * * * * * * ॥

इडा पिङ्गलयोर्मध्ये कुण्डल्याकार सम्भवम्।
कुण्डलीत्रय मध्यस्थं ज्योतीरूपं परात्परम्॥

देहमस्य स्ववर्णानां मातृका शक्तिरुद्भवम्।

मातृकाशक्ति विज्ञेयं सर्वशास्त्रार्थ निर्णयम् ॥

ओंकारमक्षरं ब्रह्म कलारूपं तरात्परम् ।
ओमिति सर्व बोधार्थमोमिति सर्वकारणम् ।
जातसूतकमुत्पन्न मन्त्रान्ते * * सूतकम् ॥

पृ। ७२)

उभयोरपि दोषं स्यात् तत्सर्वं निष्फलं भवेत् ।
ओंकारादि नमोन्तं च सर्वमन्त्रान्विशेषतः ॥

उच्चारेत्यजनार्थञ्च मन्त्रशुद्धिरुदाहृतम् ।
ओंकार ज्ञानवर्णन्तु वर्णान्यं कर्मरूपकम् ।
तस्माच्छ्रेष्ठमयं बोधं परमात्म प्रकाशकम् ॥

मूल मध्यञ्च सूक्ष्मं च त्रिविधं तारभेदकम् ।
पञ्चप्रणव सम्बन्धं पञ्चतत्वकलामयम् ॥

पञ्चतत्व कलाभेदैः पञ्चाक्षर समुद्भवम् ।
प्रणवादि यकारान्तं पञ्चाक्षर षडक्षरम् ॥

पञ्चाक्षर तत्प्रणवेन युक्तं षडक्षरं मन्त्रमुदीरयन्ती ।
षडक्षरं मन्त्रमुदीरितानां षडध्व भावादिति तल्लयार्था ॥

षडध्व मार्गभेदन्तु क्रियाशैव विधिक्रमम्।
आत्मकर्मार्थ दुर्मार्गसेव्या भोज्यं तथा कुरु॥

अध्वा इत्यर्थ यत्काले तत्काले कर्मनाशनम्।
वर्णकलाभेदं तत्वं मन्त्रो भुवन एव च॥

द्विप त्रितय संग्राह्यं वाच्यवाचकयोर्लयम्।
वाच्यवाचक तद्रूप शिवशक्ति पदोद्भवम्।
शिवः शक्तिपदं व्याप्तं शुक्लरक्त प्रकाशकम्॥

रक्त शुक्लं द्विविधं द्विविधं पादलक्षणम्।
* * त्वत्पादमेवन्तु शुक्लं मत्पादमेव च।

रक्तशुक्लञ्च मिश्रञ्च समोद्योगं शिवं परम्।
तत्तच्छुक्लद्विमध्यस्थे ऋद्धिसिद्धि द्वयोर्मिथः।
वृथा दीक्षा वृथा ज्ञानं वृथा योगं वृथा जपः॥

पृ। ७३)

शिवशक्ति स्वरूपेण शैवं शाक्तं मयोदितम्।
शिव सम्बन्धयश्शक्ति शक्ति सम्बन्धयश्शिवः॥

षड्वक्त्रैशान सम्बन्धं षट्शक्ति प्राभवोद्भवम्।
षट्शक्ति प्रभवाकारे शैवादिस्समयोदितम्॥

शै * * * मुखोत्पन्नं याम्ये कालामुखं तथा।
पश्चात् पाशुपतश्चैवमुत्तरे तु महाव्रतम्।
तदूर्ध्वे भैरवं प्रोक्तं पाताले वाममुच्यते॥

पातालशक्ति सम्बन्धं तदूर्ध्वे परमं पदम्।
दिशाशक्तिर्दशप्रोक्तं दिक्करी भेदकोदयम्॥

दिक्करी शक्तिमध्यर्थे दिक्पालाष्टमयोदितम्।
ग्रन्थिजन्यं कलाकाल विद्यापरं चन्द्रमातरम्॥

गुणधीगर्व चित्ताक्षि मात्राभूतान्यनु क्रमात्।
पूर्वे त्रिपुरा देवि आग्ने त्रैव पुरी मतः॥

उद * भोगहस्तं स्यान्महालक्षन्तु नैर्-ऋते।
पश्चिमे कुब्जिका शक्तिर्वायव्येपि च चण्डिके॥

उत्तरे काल संकर्षि ऐशान्यं सिद्धिसामरी।
पातालो दन्त शक्त्यर्थः परादूर्ध्वं दिशा भवेत्॥
एतच्छक्तिमयं विश्वं विश्वातीतं परं शिवम्॥

शिवशक्ति द्विमध्यस्थे नादबिन्दुस्ततोदितम् ।
नाद बिन्दु द्विमध्यस्थे पञ्चसादाख्यमुद्भवम् ॥

पञ्चसादाख्य मध्यस्थेष्टाविद्येश्वरोदितम् ।
अष्टविद्येश्वरो मध्ये रुद्र * * * * दितम् ॥

रुद्रभेदैः स्व मध्यस्थे षट्कोटि विष्णुरुद्भवम् ।
षट्कोटि विष्णु मध्यस्थे शतकोटि ब्रह्मणोद्भवम् ॥

तन्न विशिष्ट विषयत्वादस्य। ज्ञानवता क्रियानुष्ठानपरेणाचार्येण भक्त्याद्यनुमितिमलपाकशक्तिपाते चित्तेषु शिष्येषु हौत्र दीक्षाकार्या। अतिपापार्थ मलेत्यन्तयो ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। न्त दरिद्रे च शिष्येऽत्यन्त विविक्तेन योगाभ्यास निपुणेन प्रत्यक्षीकृत शिवादिवस्तु तेनाध्यात्म निष्ठेन ज्ञानदीक्षा कार्या इति।

॥ इति श्रीमल्लक्षद्वयाध्यापक श्रीमदघोरशिवाचार्य विरचितायां श्रीमद्विंशतिकालोत्तरवृत्तौ दीक्षाप्रकरणम् ॥

इत्थं दीक्षितानुष्ठेय काण्डं तद्योगतस्संपातकञ्चाचार्यानुष्ठेय दीक्षा काण्डं त्वाधर्मज्ञानकाण्डमुच्यते। त ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ चार्य साधकयोः काम्य विषये भावं नोपयोगाय प्रथमं नाडी चक्रोपदेशः।

नाडी चक्रमिदं सूक्ष्मं प्रवक्ष्याम्यनु पूर्वशः।

इदं वक्ष्यमाण नाडीचक्रं सूक्ष्मान्त ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ यथा व्यवस्थितं

p. 39) कन्दादिक्रमेण वक्ष्यामि। तदेवाह -

नाभेरधस्ताद्यत्स्कन्दं प्रवालाङ्कुरसन्निभम् ।
आधारः सर्वनाडीनां हंसेन समधिष्ठितः ॥ इति

तस्मिन्नङ्कुरा इव देहपादपस्य वृत्तिहेतुत्वान्नाड्यः सुषिरत्नपा
वायुरसंशोणितप्रवाहाय अधीताशयास्थास्तस्मान्निर्गतास्सत्या नाभि
मध्ये स्थिता । नाभिश्च सर्वत एतच्छरीरं रोमकूपान्तं व्याप्तम्
ऊर्ध्वं ॥ ॥ । यानवहाभिरेवाधश्च रेतोमूत्रपुरीष वहाभिः तिर्यक्कर
शोणितादिवभाभिर्व्याप्तं नासु च मध्याच्चक्रवत् संस्थिताः ह्येताः
प्रधानादशनाडयः । नाड्यो नाड्योवेत्युभयया प्रयोगो दृश्यते इत्याह -

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयका ।
गान्धारी हस्ति जिह्वा च पूषा चैव यथा तथा ॥

कूर्मा कूर्म उन्मीलवेमुपलक्षणं विनिमीलनस्या ॥ ॥ ॥ ॥ क्षुदितं
क्षुतममृतशरीरे धनञ्जय एवनाहं कार प्रयत्नसहकृतप्राणाद्या
इत्यर्थः । अथ वायू ॥ ॥ ।ॠइ इत्येतद्वायुवृन्दं हृदिनिहितं नाडी चक्र
प्रतिष्ठं निश्वासोच्छ्वास कासैश्च श्वसन उर अथः कम्पिता चूर्णितैश्च ।
नित्या नित्याल्प जन्मा व्यसनयति युवा यौवने बालभावे चक्रान्तो वायुरेके
वियूधिनेन मरणैः क्रीडते सर्वतत्वैः । (श्लोकः)

यदेतद्वायु बृन्दं पूर्वं नाड्याञ्चक्रस्थिते नाडी चक्रे प्रतिष्ठित

मुक्तं। तन्नाडी चक्रप्रतिष्ठितमेव सद्धृति हृदनिहितं पीतलातारे
तस्मिन्नपि प्रसृतमित्यर्थः। किञ्च उर

p. 40) अध इत्युरथो यच्छान्दसत्कार विन्ध्या भावश्च तत्रश्वसितीति श्वसनः
प्रधान भस्तत्प्रभुत्वेन प्रागुक्तोयो वायुः प्राणाख्यः स नित्यमेवाल्प
जन्मवदाहुः। उच्छ्वासावधयः प्राणा इति। तथाऽप्यसौ युवमेव स्वं
कर्मसु न जीर्यतीत्यर्थः। अयञ्च नित्यमविनाशिनं पञ्चात्मानं यौवने
बालभावे॥ ॥ ॥ ॥। र्थको च निश्वासोच्छ्वासकासैः कम्पिता घूर्णितैश्च
व्यसागतिकापि तमकस्माच्छरीरचलनं घूर्णितं भ्रमणं निभृतो
सावाक्रान्तः कर्मभिस्सहकारिभिः अचेतनत्वाच्छिव शक्त्या च सर्वसत्वैः
क्रीडति किंभूतैः विधुनन मरणैः मरणशब्दसाहचर्यात् विधुनन
विशेषकम्पन हेतुः योनि संकट निर्गमात्मकं ज॥ ॥ ॥ ॥ ॥ तन्त्रे विधुनन
मरणे विद्येते येषां तैर्मरणयुक्तैरित्यर्थः। इत्थं प्रासङ्गिकं वायु
वायु वृन्दमुपसंहृत्य प्रकृतमनुसरति -

नाडी चक्रं यथावस्थं कथयामि तवाखिलम्।
दशारञ्चक्रमेकन्तु विभागोच्छ्रायते यथा॥

एतद्धा प्रधान दशनाद्यारब्धकत्वाद्दशारमेव चक्रमस्य च विभागे
यथा ज्ञा॥ ॥ ॥ ॥ ॥ क्ष्या त्यर्थः। तत्र चतक्रवद्भ्राम्यत्वतः जीवे

दशस्थानेष्वनु क्रमात् आत्मनो व्यापकत्वेन गमना सम्भवात् जीवन
शब्देनात्माधिष्ठित पुर्यष्टकाख्यसूक्ष्मदेह उच्यते। स चास्य चक्रस्य
दिगष्टकनिविष्टेष्टासूर्ध्वाधोगामिनोश्च द्वयोः निरत्येव दशासु
नाडीस्थानेषु चक्रवद्भ्राम्यते क्रमवृत्ति॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥

p. 41) ॥ ॥ क्तो भवेदिति एषोत्क्रान्तिः ज्ञातव्या। एष एव च
विषुवाख्यसमन्त्रोच्चरस्य संक्षिप्तः प्रयोगो विज्ञेयः। ततः प्रकृते
किमुच्यते -

आयामं क्रियते तस्य नान्यतस्तु कदाचन।
स जीवो जीवलोकस्य मया प्रोक्तः समासतः॥

तस्या हि कार वृत्तैः प्राणाख्यस्यान्तरस्य त्वं क्षिप्त प्रयोगो विज्ञेयः।
ततः प्रकृते किमुच्यते -

आयामः क्रियते तस्य वायोरायामः क्रियते न बालस्य शारेव्यात्मनो वास्तु
तत्कर्ता प्राणविभागेन पुर्यष्टकविष्ट आत्माजीवलोकस्य जीवोमयाप्रोक्तः
प्रागेव। इदानीं प्रान्त प्रसङ्गापेक्षित बाह्यसाधनं योगिनानुक्तं
जपविधिमाह -

उच्चारयति स्वयं यत्स्यात् स्वदेहावस्थितः शिवः।
तस्मात्तत्व विदाना तु स एव जप उच्यते॥

यस्मादस्य देहावस्थितोऽपि शिवः पद्मदलजलबिन्दुवच्छुद्धो न पुरुषः स्वयमेव सामग्र्यन्तरानपेक्षः प्रागुक्तसूक्ष्मनाद स्वरूपाभिव्यक्तः स्वयमुच्चरति तस्मात्तत्व विदान्तर्जपस्वरूपवतांस एव जीवः उक्तः। तस्यैव प्राणकलावच्छिन्नस्याहोरात्रमाससंख्या -

माह -

अयुते द्वि सहस्रैकं षट्शतानि तथैव च।
अहोरात्रेण योगीन्द्रो जपसंख्यां करोतियः॥

प्राग्गमागमस्याध्यात्मिक सूक्ष्मात्मा होरात्रत्वात् तेषां षष्ठ्यधिक शतत्रयेण घटिकायाः संवत्सरत्वाच्च तत्वष्ट्यां वाह्याहोरात्र व्यवस्थेति। तस्मात् षट् घ?ताधिकैक विंशति सहस्राणि प्राण प्रवाहस्य संख्येति जपत्यां व्याप्ति तत्संख्यासिद्धिः॥

p. 42) इति लक्षद्वयाध्यापक श्रीमदघोरशिवाचार्य विरचितायां द्विशतिकालोत्तरवृत्तौ नाडी चक्रप्रकरणम्॥

अथातः संप्रवक्ष्यामि ज्ञानसद्भावमुत्तमम्।
येन विज्ञानमात्रेण गृह्णाति न पुनस्तनुम्॥

अत्र ज्ञायते अनेनेति ज्ञानशब्देन प्रासादस्तावदुच्यते।
वाच्यवाचकयोरभेद विवक्षया शिवो विज्ञान शब्देनोक्तः। ज्ञप्तिरूपश्च
ज्ञानमिति तेनात्मापि विवक्षितः। ततस्तेषामात्मप्रासाद शिवानासंभवं
परमार्थं प्रवक्ष्यामि। येन ज्ञातमात्रेण पुनस्तनुं न गृह्णाति।
एतत्परिज्ञानान्मुक्तिरविघ्नेन दीक्षितानां सिद्ध्यतीत्यर्थः॥

ननु ज्ञानमात्रात् ज्ञानेव्याप्ति दीक्षितस्यैवाधिकारात्। किञ्च
मलस्य द्रव्यत्वाच्चक्षुषः पटलस्येव ज्ञानमात्रनिवृत्तिरित्युक्तं।
त्रयाणामप्येषां सकलनिष्कल भेदेनावस्थान द्वयमाह -

देहस्थः सकलो ज्ञेयः निष्कलो देहवर्जितः।
आप्तोपदेश गम्योऽसौ सर्वतः किमपि स्थितः॥

पुरुषोऽपि यावद्देहं संविदव्यवस्थिता तावत्सकलामवपशुर्मावदा
प्रासादाः स ते प्रेरण नाद शिवा वृत्या द्वादशानेऽवस्थितः
सर्वतोऽनावच्छिन्न संविद्भवति तदानिष्कलः शिवस्समान

धर्मोपाशच्छेदादि कर्तुंसमर्थो भवतीत्यर्थः। यद्वक्ष्यति -

प्रासादाब्जशिखान्तस्थो यस्तु दीक्षां करोति सः।
आचार्यः सहशिष्यैश्च शिवसायुज्यतां त्य(व्र?)जेत्। इति ॥

तच्च निष्कलं तस्य स्वरूपमाप्तोपदेशादागमादेव गम्यते।

p. 43) बद्धदशायामत एव प्रासादोऽपि देहावस्थितो वक्ष्यमाणाकारादि मात्रा च व्यक्तः सकलातीतः क्रमत्परित्यक्त स्वेच्छयाकारः किमपि केनापि रूपेणा न व्यपदेशो नानावच्छिन्न स्थितः। स यो भयरूपोऽप्यागमेन ज्ञायते। यद्येवं सकलो निष्कलश्च भगवान् केन कथञ्चिद् ज्ञेयः। अत आह -

हंस हंसेति यो ब्रूयाद्धंसो देवः सदा शिवः।
गुरुवक्त्राच्चु लभ्येत प्रत्यक्षं सर्वतो मुखम्॥

प्राण गमागमस्य हंकारो प्राणवृत्यात्मना सकारेण चापानवृत्तिरूपेणान्वय वाग्वृत्त्यविनाभावसिद्धेः तद्गमागम वृत्त्यैव प्रतिक्षणं प्रागुक्त जपक्रमोहंस हंसेत्यामन्त्रण प्रकारेण यो ब्रूयादिति संभावनार्थे। यदाहुः -

संकोचे च विकासे च हंस ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ द्वयम् । इति । तेन विनष्टेन वागात्म
प्राणशक्तिद्वयं जप ज्ञानवता पुरुषेणाहंकारेण शिववाचिना
सकारेण शक्तिवाचिना वाच्यत्वाद्धं सा ख्यादेव सदाशिवशक्तिः शरीरः
सकलं तावल्लभ्यते । यदाहुः - आम्नायतः प्रसिद्धं चक्रयोऽस्य प्रचक्षते
॥ इति । योगबलात्प्रत्यक्षमेव लभ्यते । यदुक्तं अनुभवस्तत्वे - तं
विविक्तधिषणा समाधिना निश्चयात्कृत वे ॥ ॥ ॥ ॥ । ॥ ॥ ॥ । त्वाकारेण निवृत्त
भावनो भावयच्च्यनुभवैः अकृत्रिमैः इति । यद्वा - स्वगुणोर्वक्रांत्स्व
बीजयोगो पदे ॥ । रेण भवरूपः शिवः प्रत्यक्षं लभ्यते । अस्तस्मिन् शरीरे
प्राणगमाधिष्ठातृतया न केवलं पुरुषः स्थितः । अपि तु स्वतन्त्रत्वात्
तत्प्रयोजकत्वेन शिवोऽपि स्थित इत्याह -

तिलेषु च यथा तैलं पुष्पे गन्धः समाश्रितः ।

p. 44) पुरुषस्य ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । स वाह्याभ्यन्तरे स्थितः ॥

प्रकृतत्वाच्छिव इत्यनुवर्तते । अत एव ज्ञानवतः शरीरादा(दे?)वात्म
प्रतिपत्तिं विलीनेति भावः ।

अथ निष्कल ध्यानोदये न? तदुद्यायभूत सकलज्ञानविज्ञान ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ।

प्रविलीयत इत्याह -

उल्काहस्तो यथा कश्चिद्द्रव्यमालोक्यतान्त्यजेत्।
ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य तथा ज्ञानं परित्यजेत्॥

ज्ञायते अनेनेति ज्ञानं सकलविषयमुपायत्वात्तृणपुञ्जगृहीत ज्वाल॥॥॥।
पयं निष्कलं लोके च निष्कलः सूक्ष्मच्छाया गन्धादि रूपेयस्तत्प्राप्य
उपाय भूतं पुष्पादि सकलं विद्यात्। गन्धस्तस्यैव निष्कलः वृक्षस्तु
सकलं स्कन्धच्छायात॥॥॥ ष्कला। लोके च निष्कलः सूक्ष्मच्छाया
गन्धस्सकलत्वेन व्यवस्थितः। न सा भवे॥॥॥॥॥ दि रूपे यस्तत्प्राप्य उपाय
भूतं पुष्पादि सकलं त्वमेवेत्यर्थः। एवञ्च सकलाकलभावेन
सर्वत्रैव॥॥। शिवोऽहं सर्वचेतनाचेतनेषु बहिश्चान्तश्चतत्तदर्थ
साधकतया सकलत्वेन निष्कलत्वेन व्यवस्थितः।

न सा भाव कला काचित् सन्तान भयवर्तिनी।
व्याप्तिः शिवकला य॥॥॥॥ धिष्ठात्री न विद्यते॥ इति॥

ततश्च सकले सकलं विद्वान्निष्कले निष्कलं तथा। वक्ष्यमाण वदाकारादि
मात्रायुक्ते सद्योजातादि मन्त्रकलापादाने च सकले प्रासादे च सकलमेव
वाच्यतया स्थितम्॥॥॥॥॥॥ ष्कले तु तदतीते प्रयत्न प्रमाण ध्वनिवर्तते निष्कले

च विद्यात्। अतश्च सकलाद्युपाये सकलप्रासादोपायतां प्रयाति निष्कले निष्कलसिद्धिमुक्त्यर्थं नामित्यव

p. 45) ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ तथाहि त्रिमात्रस्तु द्विमात्रस्तु एकमात्रस्तथैव च ॥ अर्धमात्रोपरः सूक्ष्मः तस्याऽप्यर्धं परात्परम्॥ इति ॥

ततस्त्रिमात्राकारस्वरोऽष्टकलेजाग्रदवस्वस्ति प्रयत्नतः। प्राणनादिभिर्व्यङ्ग्यः स्तम्भ मोहातिकारः द्विमात्रश्चोकारः त्रयोदशकलाः स्वमावस्थं तीव्र प्राणाद्यभिव्यङ्ग्यं ताप्याधानादि कर्ता एक मात्रोऽपि मकार अष्टकलः सुषुप्तावन्तस्थो मदप्राणादि लक्षणो वश्याकर्षणादि जनकः। एवमर्ध मात्रश्चतुष्कस्तु यावत्स्थो विन्दुः मन्दतर प्राणाद्यभिव्यक्तोभ्रमोज ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। दोच्चाटनादि हेतुः तदर्धमर्धमात्रस्तु यतो दशार्ध कीकलोनादाख्यो योगकैवल्याद्युपायः एताश्चाप्सत दीर्घप्लुत दीर्घह्रस्व व्यञ्जना ह्रस्वमात्रा उच्यन्ते। च कारादिभिः प्रणवाक्षरैः प्रासादाक्षराणि युञ्ज्यन्ते। एवञ्च सार्धं च षण्मात्र उच्चार्यमाणः सकल प्रासादकमाध्वनिरूपतयार्धमात्रो भवति ततो निष्कली भवन्तच्चार हृत्यः परमोपादाने कुण्डलिन्याख्ये लीयते। तत्स्वरूपं परमो पादानत्वात् पर शिवशक्ति क्षोभत्वाच्च परमिति परापर मुक्तम्।

एताभ्याश्च क्रमात् सकल निष्कलोपेयः शिव रुरूपप्रतिपत्तिरित्युन्तम्। न केवलमुक्तमात्रक्रमेण यावदाकारादि स्वरात्मिक ब्रह्मादि कारणपरित्याग क्रमेणापि सकल निष्कलेत्युक्त भाव उच्यते -

ब्रह्माविष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च शिवः स्तथा।
पञ्च सा पञ्चदैवत्यः सकलः परिपठ्यते॥

ब्राह्मणो हृदयं स्थानं कण्ठे विष्णुः समाश्रितः।
तालु मध्ये स्थितो रुद्रो ललाटे तु महेश्वरः॥

नासाग्रे तु शिवं विद्यात्तस्यान्ते तु परात्परम्॥

p. 46) परात् परतरं नाऽस्ति इति शास्त्रस्य निश्चयः॥

एतानि च स्थानानि क्रमेण जाग्रदादि रूपाणि प्रोक्तानीति प्रासादस्य सकलस्योच्चारणात् पश्चात्स्थान स्पर्शः सिद्धः। एवन्निष्कलं भावं च तस्य परात्परत्वेनोक्तस्य द्वादशान्ते तदुच्चारयितुः शुद्धसंविदुदय प्रा॥॥॥। पदप्राप्ति हेतुत्वमप्यत्र ज्ञाप्यते। तत्र भ्रूमध्यात् प्रयाति ब्रह्मरन्ध्रस्य नासाग्रस्य च समानत्वान्नासाग्रशब्देन ब्रह्मवित्वमुच्यते। तत्र शिवोऽधिकारावस्थः स्थितः ततश्च तदन्त स्थानि

क्रमेण जाग्रदादि रूपाणि प्रोक्तानीति प्रासादस्य सकलस्योच्चारणात् पश्चात्
स्थानस्पर्शः सिद्धवन्निष्कली भावश्च तस्य परात्परत्वेनोक्तस्य त
उच्चारयितुः शुद्धसंइदुदय प्राप्तेः पर ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ भ्रूमध्यात्प्रयाति
ब्रह्मरन्ध्रस्य नासाग्रस्य च समानत्वान्नासाग्रशब्देन ब्रह्मविलमुच्यते
। तत्र शिवोऽधिकारावस्थः स्थितः। ततश्च तदनन्तरस्यात् तत्समीपस्थात्
परा ॥ ॥ ॥ ॥। नान्यत्किञ्चित् तत्वमस्ति। अपि तु प्रापामेव परमपदं विद्यते ततः
परतरं न किञ्चिदन्यदस्ति। तस्यैव सर्वाधिष्ठातृत्वा ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। शैः
संयोगाविभागा वा सादयति। एवमपि नाडी स्थानेषु सुयोगविभागात्मिका
वृत्तिरासादयतीत्यर्थः। केनाऽसौ भ्राम्यत इति चेत् कर्म सहकारिण्या
शिवशक्त्या तत्स्थानेषु ॥ ॥ ॥ ॥। ना जायते। यदुक्तं समानतन्त्रे -

प्राग्दलसंस्थो नृपावलेऽपि स्यात्।
तेजसि च वुभुक्षा विडायाञ्जायते ॥

अ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। याम्यो भावे नैर्-ऋतो निर्-ऋतौ विनिर्दिष्टाः।
वारुणपत्रे वरुणो मारुत पत्रे मरुद्भावः ॥

p. 47) सौम्ये सौम्यो भावः त्वीशे त्वीशः समाख्यातः।
यां यां दिशमभिगच्छति तद्भावं निखिलमायाति ॥ इति।

स जीवो जीवलोकस्य बुद्ध्यते नैव मोहितैः। स एवास्य जीवलोकस्य पृथिव्यादि

कलान्त भुवनज शरीररूपस्य जीवो ज्ञेयः। तथाऽपि मलावृतत्वान्मोहि ॥ ॥ ॥ ॥

कादिभिःस्सजीवः पुर्यष्टकाधिष्ठातृत्वेनोक्तः। आत्मा शरीरादि व्यतिरेकेण

न ज्ञायते। उक्तमेवार्थं स्पुटयति -

दशधा गच्छते येन तेन चक्रं प्रकीर्तितम्।

नाडी चक्रमिति ज्ञातं यत्र संक्रमते ह्यसौ ॥

येन कारणेन तत्र जीवो दशधा गच्छति। स्थानात्स्थानान्तरं संक्रामति

तेन चक्रवच्चक्रमुच्यते। यत्र चाधारभूतेऽसौ जीवः संक्राममेति

तदिदं नाडी चक्रमिति ख्यातं व्याख्या ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। हारः।

एवं सामान्येन प्राण सञ्चारात्मना

लिङ्गेनानुमेयत्वमस्मत्कर्तुर्जीवस्य सूचितम्। इदानीं तस्यैव विशेष

जिज्ञासया प्रश्नः -

स जीवो जीवलोकस्य तत्वतो ज्ञायते यथा।

संशयो मे महानत्र प्रसादी भव शङ्कर ॥

अथाऽत्र प्रतिवचनम्। जीवस्य पुरुषाख्यस्य दर्शनं शृणु षण्मुख।

कथयामि न सन्देहः पुत्र स्नेहाद्विशेषतः ॥

शरीरेन्द्रियादि व्यतिरिक्तस्यात्म ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । दृश्यते अनेनेति लिङ्गचक्रं शृणु । अयं देहो यथा भवति तथा यैर्द्विगैरसौ ज्ञायते तानि कथयामीति । अत्र च यथा लौकिकैः पुष्पविशेषाद्यनुमितैः संक्रान्त्यादिभिः कालविशेषैस्तत्र तत्र संक्रमेत् । सूर्यो ज्ञायते एवमाध्यात्मिकानां कालभेदानामिति प्राणसञ्चार विशेषात्मकत्वात्

p. 48) तद् ज्ञानेन तत्कर्ता जीवः सुखेन ज्ञायत इति तानेवात्र लिङ्ग ॥ ॥ ॥ ॥ नोह

संक्रान्तिविषुवं चैवा होरात्रायनानि च ।
अधिमास भ्रणश्चैव औमरात्रमिति वा ॥

पुमादपादबाहु कलविशेषेषु यद्विहितं तन्निषिद्धं चक्रं कतदेवा ध्यात्मगतेषु प्राणवृत्यात्मकेषु दशसु कालविशेषेषु तथैवाऽनुष्ठेयमिति दर्शयितुं नामभिर्निर्देशः । यदाहुः - नाम्ना धर्मातिदेश इति अथैषामेव स्वरूपकथनम् । औमिरात्रं भवेद्धि ककाटधिमासो विजृम्भिका । जणश्चात्र भवेत् ॥ ॥ ॥ ॥ । सोहि श्वासो धनमुच्यते ॥

औमशब्दस्यात्र न्यूनार्थतया विवक्षितत्वादूनरात्रिर्यस्मिन् न

किञ्चित्क ॥ ॥ । यमित्यर्थः । यतो दीक्षा प्रतिष्ठादौ विना विर्षा इति श्रूयते ।

एवमधिमासो मासवृद्धिः स चात्र जृम्भैव त भ्र ।वक्ष्यमाण

प्राणापान प्रत्यात्मकं मनकार्यम् । यदुक्तं श्रीमत्त्रयोदश शतिके

तिथिच्छेदे ऋणं ज्ञेयं वृद्धौ चैतद्धनं भवेत् । इति ।

अतश्चात्र धनमति निश्वासः प्राणायामात्मकः ॥ ॥ ॥ ॥ । पलत्वात्तस्मिन्

कर्मकर्तव्यम् ॥

अथायनादि लक्षणम् ॥

उत्तरं दक्षिणं ज्ञेयं वाम दक्षिण संज्ञकम् ।

॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । प्रोक्तं पुटद्वय विनिःसृतम् ॥

दक्षिणं पिङ्गलावर्ति दक्षनासापुटाश्रयम् ।

प्राणप्रवाह रूपं तत् देयानाख्यमुत्तरायणम् ज्ञेयम् ॥

वर्धन्यावर्तवामनासाश्रयं प्राणप्रवाह वर्त्मवृथा दक्षिणायन

संज्ञामध्ये सुषुम्नागामिनासापुटद्वयेन प्रवर्तकं प्राणस्वरूपं

शिवयानवर्ति

p. 49) विषुवमुद्धते। एषु च यथात्मगुणं कर्मानुष्ठेयम्। यदुक्तं समान तन्त्रे -

सौरस्स ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। चन्द्रमसश्चेतरः समाख्यातः।
धन्योऽभिषेक इन्दु सौरः खलु वह्निसन्धाने ॥

ध्यानाद्यो विषुवति चेति ॥ श्रीमन्निश्वासकारिकायामपि -

अह्नौशौ परिमृज्य मध्यदेशे यथा स्थितम्।
विषुवन्त द्विजानीयात्तद् ज्ञात्वा मोक्षदो भवेत्॥

स वृत्तः सो यदा तिष्ठेत् देव देवो जगत्पतिः।
उत्तरायणमेतद्धि ज्ञात्वा शिवपदं व्रजेत्॥

शशाङ्केन सहैकत्वे यथा तिष्ठो महेश्वरः।
जानीया ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। दक्षिणायनसंज्ञितम्॥

क्रमं करा ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ यद्ध स्वात्रिं त्यत्तवा हिमालयम्।
जलाद्वह्निं पुनर्गच्छेत् संक्रान्तिरिति स्मृतम्॥

इन्द्रियार्थान्परित्यज्य परमे व्योम्निसंस्थितः।
निश्चलश्च ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ स्तु विषुवं तद्विनिर्दिशेत्॥ इति।

अथ संक्रान्ति लक्षणम् -

संक्रान्तः पुनरस्यैव स्वस्थानात्स्थान योगतः॥

स्वस्थानाद्दक्षिणादेव स्वस्थान एव नाडन्तरे योगात् प्राणस्य संक्रान्तिर्भवति। तत्प्राणस्य स्थानं यत्र संक्रान्तिरुक्ता अह आह -

इडाचैव सुषुम्ना च अमया च समन्विता।
सुषुम्ना मध्यमेद्-ह्यङ्गे इडा वामे प्रतिष्ठिता।
अमावै दक्षिणे स्कन्द एषु ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। तिरुच्यते॥

अमासंज्ञयाऽत्र पिङ्गलोक्ता। अधुनाऽध्यात्मिक सूक्ष्मतरं काल स्वरूपं दधन् अहोरात्र लक्षणमाह -

p. 50) ऊर्ध्वप्राणे ह्यधश्चैव अपानो रात्रिरेव च।

ऊर्ध्वस्वरस्सा हि प्राणादित्यः समुदायाह ॥ ॥ ॥ ॥क्तः आपन

वृत्यात्वस्तमयाद्रात्रि ततश्च त्रिंशता

संक्रान्तिरशीत्यधिकरणशतेनोत्तरायण दक्षिणायने वेति प्रधानादिकं

षष्ठ्यधिकेन प्राणशतत्रयेण संवत्सर इति अहोरात्रेण बाह्येन षष्ठ्यब्दो

भवति। यदुक्तं समानतन्त्रे

अथवा तु महासेन संक्षेपात् कथयामिते।

षष्ठिसंवत्सराः प्रोक्ताः अहोरात्रेण योगिनाम्॥

शतत्रयं षष्ठ्यधिकं प्राणानां तु षडानन।

यावद्वा घटिका प्रोक्ता तावत्संख्याप्रकीर्तिता।

एवं संवत्सरः प्रोक्तः बाह्येऽत्र घटिका तु या॥

प्राणापानावहोरात्रम्। इति॥

एतांश्च विभागान् दश प्राणस्य योवेत्येव स देववित्।

एवं संक्रान्त्यादि दशप्राण भेदान्यो वेत्ति स वेदवित्॥ इति॥

वेद्यन्त इति वेदाः आत्म शिवशक्तयः तान् वेत्ति। तथा च श्रुतिः प्रमाणं

तस्य च प्राणस्य हृत्पद्मे कुम्भकाख्यं आयामः सोमग्रहणं

तत्पुण्यं कालसमद्वादशान्तेष्वादित्यग्रहणमित्युक्तं समान तन्त्रे -

आयामो देह मध्यस्थः सोमग्रहणमिष्यते ।
देहातीतं तु तं विद्यादादित्य ग्रहणं बुधः ॥ इति ।

अतश्चेभिर्दशभिर्लिङ्गैरात्मा ज्ञेय इत्युक्तम् ॥

इत्यमाध्यात्मिकं काल विभागमुक्त्वाऽधुना प्राण एव जीव इति
भ्रमावनुक्तये तद्विविक्त जीव ज्ञानाय प्राणायामोपदेशः ।

प्राणायामं समासेन कथयामि तवाऽधुना ॥

p. 51) पूरकादिभिः वक्ष्यामि । अस्य च सगर्भ रूपत्वान्मन्त्रोच्चार तद्वाच्य
ध्यानोपेतं पूरकमाह -

उच्चारयेत्तु प्रणवं स्वरेणैकेन योगवित् ।
उदरं पूरयेत्तावत् वायुना यावदीप्सितम् ॥

प्राणायामो भवेदेष पूरको देहपूरकः ॥

प्रथमं नाडीं संशोध्य द्वादशान्ताभि ध्यानप्राणशिवमन्त्रता

यावच्छक्त्युदरं पूरयेत्। प्रणवञ्चैकश्रुत्योच्चारयेत्।

प्राणायामवरोधञ्च इति श्रुतेः। यज्ञ कर्माणि चोदात्र एव स्यात्। केचित्तु -

प्रासाद प्रणवाभ्यां तु नान्तरं परिकल्पयेत्॥ इति श्रुत्या प्रणव

शब्देन प्रासाद उक्तः। तमेकस्यरेण विच्छिन्नो नाद्यमेति नत् चारयेदित्याहुः

। एष च देहपूरक त्वात् पूरकः। अथ कुंभकः -

(पि?) विधाय सर्वद्वाराणि निश्वासोच्छ्वास वर्जितः।

संपूर्ण कुम्भवत्तिष्ठेत् प्राणायामस्तु कुम्भकः॥

रेचकस्तु

मुञ्चेद्वायुं ततस्तूर्ध्वं श्वासेनैकेन मन्त्रवित्।

हृदय पद्मादूर्ध्वं एकनासा पुटेन वायोः प्रेरणं रेचकः। किञ्च-

उच्छ्वास योग युक्तस्तु वायुमूर्ध्वं विरेचयेत्।

रेचकस्त्वेष विख्यातः प्राण संशयकारकः॥

उच्छ्वासेन वायोर्मध्यनाड्ये ऊर्ध्वप्राण प्रवृत्त्यात्मना योगेन मन्त्रोच्चारान्वित सदाशिव ध्यानोपेतः ततो हृदयपुण्डरीकस्थं वायुमूर्ध्वं ब्रह्मरन्ध्रेण विरेचयेत्। अयन्तु विशिष्ठो रेचकः शिवागमे विशेषेण ख्यातः। प्राणसंसयकारक इति मन्दाभियोगस्य जीवित सन्देहमपि जनयतीत्यर्थः।

p. 52) अथैषां प्रयोजनमाह -

योऽसौ हृदि स्थितः पद्ममथोमुखमवस्थितम्।
विकस्यति स वै पद्मं पूरकेण तु पूरितम्॥

हृत्पद्मं सर्वदा यो मुख्य विकसितमेव पूरकेण विकासमेति ततश्च ऊर्ध्व स्रोतो भवेत्पद्मं रेचकेन तु रेचितम्। रेचकेन तु पूर्वाक्षिप्तं सद्यः प्राणहरेण तु विकसितपद्मं कुंभकेन निरोधमुक्तं भग्नमेति रेचकेण प्राणहारत्वेन प्रागुक्तेनाभ्यासतो मध्यनाडी वर्तिना यदा क्षिप्तो रेचितः तदा ऊर्ध्व स्रोत ऊर्ध्वमुखो भवेत्। तदानीं च -

मुक्त्वा हृदय पद्मन्तु ऊर्ध्वस्रोतो व्यवस्थितम्।
रेचितो गच्छति॥ । ॥

भित्वा कपालद्वारन्तु जीवोह्यूर्ध्वं विरेचितः॥

सदा शिवपदं गत्वा न भूयो जन्मचाप्नुयात्। तथा भूतेन स्वसमसम्बन्धिना रेचकेण रेचितो त एव मध्यनाड्यामूर्ध्वमुखो स्थितो शिवोऽहं संवर्त्म हृत्कण्ठ तालु भ्रूमध्यान् भित्वा कपालद्वारं ब्रह्मरन्ध्रं च निर्भिद्य ततोऽप्यूर्ध्वं विशेषेण रेचितः सोमसूर्याग्नि शक्त्यन्तस्थं सदाशिव पदम्॥॥।

p. 53) ना गमागमः कथं तस्य केन वा नीयते तु सः।
संशयोमे महादेव कथयस्व यथार्थतः॥

तस्यात्मनो विभुत्वादमूर्तत्वाच्च गमागमो न संभवतः। अथ पूर्यष्टकद्वारेण तस्य गमागमौ पश्येते तथापि द्वादशान्ते व्यवस्थन्तेऽस्य गमनमभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा विज्ञानकेवलावस्थायामिव तदुपायं विना निष्कल संविद्यनुत्पत्तेः गमेव तस्यास्मिन् बाह्यशरीर विषये सूक्ष्मदेह योगा भाव योगो भावस्थायं प॥॥॥॥ पुनरागमोऽस्ति शरीरे कथमिति प्रश्नः।

(तस्या च सूक्ष्मशरीरस्या चेतनत्वात् पुरुषस्य बायशरीर नयन प्रव

सामर्थ्या भावात् केनाऽसौ नीयते इति द्वितीयः प्रश्नः ॥)?

स्वशक्त्यानीयते जीवः तस्मिन् प्राप्य निवर्तते ॥

शिवशक्त्यधिष्ठितया क्रिया शक्त्या एवासौ नियते नरः पुरुषेण वाऽत्र
नीयते सकृद्द्वादशान्तं प्राप्य तस्मिंस्थाने पुनः निवर्तते। हृदयं
यावदागच्छति अन्यथावस्थायां तु कर्मवशाज्जीवशक्त्यनधिष्ठ ॥ ॥ ॥ ॥ ।
पुरुषस्य वा निवर्तना सामर्थ्यं ततः पञ्चतेत्यदोषः। अधुना प्रागुक्त
संविदः प्राप्यस्थानं परमपदं विशेषेण दर्शयति -

तस्यान्तं संप्रवक्ष्यामि शृणुषण्मुख तत्वतः।

तस्य प्राणहंसस्य विरामस्थानं वक्ष्यामीत्यर्थः -

देहातीतं तु तं विद्यान्नादान्तं द्वादशाङ्गुलम्।
अन्तःस्थं तं विजानीयात्तत्रस्थो व्यापयेत्प्रभुः॥

यत्तद्देहमतीत्यर्थ द्वादशाङ्गुलादूर्ध्वं स्थितः
तदन्तद्वादशान्तानादात्मनः प्राणहंसस्य विराम स्थानं निष्कल ॥ ॥ ।
नं तत्रस्थं संवित्प्रभुराडा व्यापकस्य विदे भवति। इदानीं
साक्षात्परिज्ञानफलं दर्शयति -

p. 54) मनोऽप्यन्यत्र निक्षिप्तं चक्षुरन्यत्र पातितम्।
तथाऽपि योगिनां योगो व्यवच्छिन्नः प्रवर्तते॥

मनश्चक्षुषो रूप लक्षणत्वाद्यपीन्द्रियाश्रितैः अन्यत्र स्वविषये
विवक्षितत्वापि तेषां प्रासाद् शिवस्वरूप ज्ञानिनां व्यापकात्म प्रतिपत्ति
योगः शिवप्रतिपत्ति योगश्चाभ्यासवशादविच्छिन्न एव प्रवर्तते। ततश्च
निर्विघ्न भोगमोक्ष॥ ॥ ॥ ॥ ॥ रित्यभिप्रायः।

वसन्विषयमध्येऽपि न वसत्येव बुद्धिमान्। इति।

तदेवान्यो पादेयत्यानि परमुखेनोपसंहरति -

एतत्तत्परमं गुह्यं एततत्परमं पदम्॥

एतत्तत्परमं ब्रह्म एतत्तत्परमाक्षरम्।
नाऽतः परतरं ज्ञानं नाऽतः परतरं शिवम्॥

नातः परतरं किञ्चिदित्याह भगवान् शिवः॥

वाक्यान्तरे मोक्षस्थानानां सर्वेषामेतत्परं नातः परं किञ्चिदस्तीति भावः। परमेश्वरेणैव तानि सूत्राण्युक्तानि न मयेत्यस्यार्थस्य प्रामाण्यं दर्शयति। तस्यैव च सर्वज्ञत्वात् निर्मलत्वेन परमाप्तत्वात् इति संप्रदाय सिद्धत्वमेव स्वाहा।

शिवज्ञानामृतं प्रोक्तं संक्षेपान्न तु विस्तरात्।
अवाप्तं देवदेवेशात् परमाक्षर निर्णयम्॥

प्रासादः परमाक्षर इति श्रुतेः। परमाक्षरस्य प्रासादस्य न क्षयो यत्र विद्यते। तदिदं परमाक्षर निर्णय शिवज्ञानामृत प्रकरणमुपलक्षणत्वाच्चास्य समस्तमेवेदं ज्ञानं मया परमेश्वरादवाप्तमिदानीं संक्षेपात् कथितं। अत एव -

p. 55) एतद्धि शिवसद्भावं शिववक्त्राद्विनिःसृतम्।
गुह्याद्गुह्यतरं गुह्यं॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। प्रयत्नतः॥

हीति यस्माच्छिवस्य वक्त्रं वचनत्राण रूपाऽऽशक्तिः ततो विनिःसृतं तवाभिव्यक्त शिवसद्भावं शुद्धं शास्त्रं सर्वस्वमेतत् तस्मात्त्वयाऽप्येतदन्त्यन्तं गोपनीयम्। अतश्च -

नाऽपुत्राय प्रदातव्यं नाऽशिष्याय कदाचन।
देवाग्नि गुरुभक्ताय मात्सर्य रहिताय च॥

तस्मै देयमिदं ज्ञानं नाऽस्मै तु कदाचन॥

उक्त विषयादन्यत्र दाने प्रत्यवाय उक्तः। समानतन्त्रे -

दाताऽस्य नरकं याति सिद्ध्यते न कदाचन।
एतच्च॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। प्रोक्तं सत्यं सत्यं मया तव॥

एवं ज्ञात्वा तु मेधावी विचरेत्तु यथासुखम्।
एतच्छिवज्ञानामृतमेवं ज्ञात्वा ह्यस्य ज्ञानजीवन जीवन्मुक्तो
भवेदित्यर्थः। तथा हि

गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
यत्र तत्र स्थितो ज्ञानी परमाक्षरवित्सदा॥

विषयी विषयासक्तो याति देहान्तिके शिवम्।

आश्रम चतुष्टययुक्तेषु परमाक्षरवित्संनिहितं॥ ॥ ॥ ॥ ॥ नितेष्वसक्तो भूत्वा

शरीरस्यान्ते शिवमेव याति। न तु विषयेष्वासक्तोऽपि शिवं यातीति व्याख्येयम्

। शास्त्रविरोधात्। किञ्च -

ज्ञानादेवास्य शास्त्रस्य पापसक्तोऽपि मानवः।

ब्रह्महत्याश्वमेधाद्यैः पुण्यपापैर्न लिप्यते॥

p. 56) यदैवात्राधिकः शास्त्रज्ञो भवति संसारहेतोः मलस्या भावात्

जीवन्मुक्तः स नारब्ध कार्यकर्मवशात् पापेऽस्मिन्नुत्तरतः संभवे

बाह्यशरीरभोक्तृत्वेन स्थि॥ ॥ ॥ ॥ ॥। वद्याख्येयम्। यच्छ्रूयते

आज्ञाविलंघनात् प्रोक्तं क्रव्यादत्वं शतं समाः। इति॥

अत्रप्रसङ्गादाचार्य भेद कथनम् -

चोदको बोधकश्चैव मोक्षदश्च परं स्मृतम्।

इत्येतत्त्रिविध॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। आचार्यस्तु महीतले॥

तेषु च

चोदको दर्शयेन्मार्गं बोधकः स्थानमादिशेत्।

मोक्षदस्तु परं तत्वं यद्गत्वा न निवर्तते॥

चोदकः शुद्धमार्गप्रदर्शकः। कल्याणमित्रादिवसत्याचार्य वक्तव्यः
बोध ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ स्तो पदेशेन हेयोपादेय तत्वोपदर्शकः स मुख्यो गुरुरेव।
मोक्षदस्तु दीक्षादिकर्ता पर गुरुपरतत्वं प्रतिपादयति ॥

इति लक्षद्वयाध्यापक श्रीमदघोरशिवाचार्यविरचितायां श्रीमद्द्विशति
कालोत्तरवृत्तौ ज्ञानामृतप्रकरणम् ॥

इदानीं सिद्धसाधकस्य साधन भूतामाध्यात्मिकीं शुद्धविद्या
सम्बन्धिनीं मन्त्रसृष्टि ध्यानविशेषं च वक्तुमाह -

अग्नि मध्ये रविस्थानं रवि मध्ये ॥ ॥। चन्द्रमाः।
तन्मध्ये चाङ्कुरो दिव्यः ततः सृष्टिः प्रवर्तते ॥

अत्र पाठक्रमादर्थ क्रमस्य बलसत्वादत्र रविमण्डलोपरि सोममण्डलं
तदुपरि वह्निमण्डलमिति ज्ञेयम्। तानि च ब्रह्मविष्णुरुद्राधि

p. 57) ॥ ॥ त्म विद्या शिवतत्व शब्दावधिष्ठातृतया तु शब्दवाच्यानि क्रिया
ज्ञानेच्छाशक्तिना भावकरणानि कुण्डलीशक्तेः कार्यावस्था
विशेषरूपाणि निवृत्त्यादिकलानास्त्रक्ष्वावस्यारूपाणि आत्मकानि

प्रतिपुरुषं भिन्नानि स्थितानि। तन्मध्ये तेषामधिष्ठातृत्वोपदिव्य
प्रकरणात् कुण्डलिन्यादि शब्दवाच्यः परबिन्दुस्थिता स च सृष्टिकाले
पुंसां प्रथमा सम्बध्यते। ततः पुर्यष्टकं। स च व्यापकेन
करणात्मना रूपेण प्रतिपुरुषं भेदेनावस्थितः। तथा सदा चैतन्ये
सत्यमेकत्वेन घटादिवत्करण पूर्वकत्वम्। यतः किञ्चाङ्कुर इव
अंकुरोऽस्य विद्यते मत्वर्थीयः प्रत्ययः। ततोङ्कुरात्मनादादि रूपेण
कार्येण मायेय कलादि रूपेण प्रतिपुरुषमवस्थितमित्युक्तम्। नादाख्यं
यत्परं सर्वं सर्वभूतेष्ववस्थितम् इति। अयञ्च प्रोक्त मण्डलानिकांकुर
युक्तो द्वादशान्तादधोमुखत्वेन ध्येयोऽपि हृत्प्रदेशे पुरुषेण संयुक्तः
शान्त्यादि चतुष्टयपद्मः समाहितः।

स्वदेहं चिन्तयेद्विद्वान् दिव्यरूपमनूपमम्।
यस्य यत्कर्म निर्दिष्टं तस्य तच्चिन्तयेद्बुधः॥

यद्यपि स्थावर जंगमलक्षण साधारणञ्च सर्वं मायीयं जगत्
अग्नीषोमीयात्मकं शिवशक्त्यधिष्ठित त्वादग्नीषोमात्मको नव तथापि
स्वदेहसूक्ष्म स्थूलात्मकं विपरीतं सोमात्मकमेवामृत
पूर्णदिव्यरूपमनुमेयं चिन्तयेत्। तथा यस्य तच्छरीरवर्तिनः
शुद्धाशुद्ध भेदभिन्नस्य नादकलादि पृथिव्यन्तस्य तत्वसमूहस्य
यत्कर्म निर्दिष्टं यदा कर्मेन्द्रियादेः पानभोजनादि तस्य तत्कर्म तदेव।

मृतात्मकमेव चित्तं नयेत्। अथोपसंहारः -

p. 58) इदं योऽभ्यसति ध्यानं अमृतं सर्वतो मुखम्।
अचिरेणैव कालेन स सिद्धफल भाग्भवेत्॥ अन्यथा

सृष्टि न्यासमविज्ञाय कथं युञ्जीतसाधकः।
हस्तमुष्टिभिराकाशं खण्डयन्ति कृषानि च॥ एवं
सृष्टिन्यासमविज्ञायसाधकः सिद्धावस्यां प्रयतते सा शक्त्यनुष्ठाने
विपत्रे कर्मणि प्रवृत्तो भवतीति मद्ज्ञानं साधकस्यावश्यं कर्तव्यमिति।

इति द्विशति कालोत्तरवृत्तौ अग्नीषोमीयं प्रकरणम्॥

इदानीं साधकस्यैव सिद्ध्युपयोगिन जपविधिमाह -

प्रासादं नादमुत्थाप्य सन्ततं तु जपेद्यदि।
षाण्मासात्सिद्धिमाप्नोति योगसिद्धो न संशयः॥

प्रणवादि नमोन्तं प्रासादमनुस्मरन् घण्टानिनादवन्यथा
शक्त्याध्वन्यात्मकं नादमुत्थाप्य तमविरतं जपेत्।
साधकस्सशुद्धविद्याशुद्धिं शीघ्रमाप्नोति। अत्रैव विशेषमाह -

गमागमस्य जापेन सर्वपापक्षयो भवेत्।
अणिमादि गुणैश्वर्यः षड्भिर्मासैरवाप्नुयात्॥

अत्र गमागमो मन्त्रस्य द्वादशान्तं यावदुच्चारणं आगमास्मात्प्रभृति सृष्टिक्रमेण हृदयान्तं यावत् तत्कालानुसन्धानं। एवं गमागमानुसन्धान युक्तस्य जपात् प्रायश्चित्तार्थमनुष्टितात् सर्वपापक्षयो भवेत्।

सिद्ध्यर्थमनुष्ठितादणिमाद्यष्टैश्वर्य प्राप्तिः। केचिदत्र गमागम प्रस्तावात् प्रासाद शतेन हंसमन्त्रोविवक्षितः। ततस्तन्नादमुत्थाप्य

p. 59) प्रयत्नपूर्वं कृतात् जपात् अचिरात्सिद्धिर्भवति। स्वर वाभिनो गमागमस्यानुसन्धानात् पापक्षयादित्याहुः। उभय यथाऽपि गमागमं विदित्वा तु मुच्यते नाऽत्रसंशयः। तल्लयः तन्मतो भूत्वा षाण्मासात्सिद्धिमाप्नुयात्। योऽत्रहंसगमागमा नादो सहोच्चार्यमाणप्रासादागमं वा वेत्ति मुमुक्षुः स मुच्यते। साधकोऽपि तल्लीनस्तन्मयं च तदव्यावृत्तः बुद्धिरचिरेण सिद्धिः।

अत्र गमागमन जापेन सिद्धिरागमा गमनेन मोक्ष इति गुरवः। तदेव

स्थूलः सूक्ष्मः परश्चेति प्रासादः कथितो मया।

यवर्गादष्टमं बीजमित्यादिना स्थूलः प्रासादः कथितः। उच्चरति
स्वयमित्यादिना सूक्ष्मः निष्कलो देह वर्जित इत्यादिना परः। केचित्तु भाष्यो
पांशु मानस जप॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। मोन्तं फल साधकत्वात् स्थूल सूक्ष्मं
परश्च प्रासादः प्रोक्त इत्याहुः। तच्च - प्रासादं यो न जानाति तेन जानन्ति
शंकरम्। उक्तरूप प्रासाद प्रासाद स्वरूपो पोपादान
सहकालफलसहितं येन बुद्ध्यन्ते तद्वाच्यं परमेश्वरं सकलादि
भेदभिन्नं न बुद्ध्यते। यथावदुपाय ज्ञानं विनोपेय ज्ञाना भावात्।
यच्छ्रूयते -

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥

इति लक्षद्वयाध्यापक श्रीमदघोरशिवाचार्यविरचितायां द्विशतिकालोत्तर
वृत्तौ प्रासाद प्रकरणम्॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रासादस्य तु लक्षणम्।

अतः प्रोक्तादन्यल्लक्षणं मन्त्रस्य प्रवक्ष्यामि इति प्रतिज्ञा किं तदित्याह -

ततस्तस्योक्तानि कर्माणि सिद्ध्यन्ति। प्रत्यहं वा जपान्ते होमः
तत्संख्यानुगुणं कार्यम्। अस्मादेव जपात् गुणान्तरयुक्तात्
फलान्तराण्याह –

दश लक्षं जपेद्यस्तु जनस्थान निवासिनः।
वश मायान्ति वै तस्य शास्त्रस्येति निश्चयः॥

लक्षं पञ्चशतं जप्त्वा दशग्रामनिवासिनः।
ते जना वशमायान्ति स्वधनेनात्मनाऽपि च॥

त्रिंश॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥णि जप्त्वातु अमलं वशमानयेत्।
पञ्चत्रिंशज्जपेद्यस्तु पृथिवीं वशमानयेत्॥

॥ इति श्रीमद्द्विशतिकालोत्तरवृत्तौ प्रासादप्रकरणम्॥

अत्र ज्ञान शब्द व्युत्पत्यासन्दि॥ ॥ ॥ ॥ ॥। नस्य कार्तिकेयादेव स्वप्रश्नः।

p. 63) अद्यापि संशयो देव ज्ञानविज्ञानयोः प्रभो।
अयं तद् ज्ञायते ज्ञानं कथं वा ज्ञेयमुच्यताम्॥

यदत्र ज्ञायतेऽनेनेति करणं रूपं यच्चात्मस्वरूपं विज्ञप्त्यात्मकं

विज्ञा ॥ ॥ ॥ ॥ँआपि भेद सर्वानुक्तत्वात् संशयः। किञ्च तदपि कारण रूपं

ज्ञानं ज्ञप्तिरूपं न वा। यदि ज्ञप्ति रूपं तदा शतेन ज्ञानं

ज्ञायन्ते तृप्तिरूपत्वेऽपि कथं तत्तेन ज्ञेय ॥ ॥ ॥ ॥ ।श्चैत्र मैत्र ज्ञानयोरिव

तयोः परस्पर संवेदनमनुपपन्नमिति प्रश्नः। अत्र सिद्धान्तः -

आधारं तु परं ज्ञात्वा पश्चादाधेय कल्पना।

आधाराधेयवित्प्राज्ञः समर्थः सर्वकर्मसु ॥

अधीयते व्यप ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ तेनेत्याधारः करणरूपमुपाय ज्ञानं तच्च

पुराकृत्वा पश्चादाधेयस्य व्यवस्थाप्यस्योपेयस्यात्मनो ज्ञाही रूपस्य

कल्पनाज्ञानं कार्यम्।

यतस्तदुपायं विविच्य ज्ञात्वा सा नित्या ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। कर्मस्यधिनानात्मवित्

पशुः। अथ किं तदुपाय ज्ञानमिति विज्ञप्तिरूपं तन्नयतः

पुरमाधारमित्युक्तमाधेयस्त्वीश उच्यते। चाधारा व्यवस्थापक

ज्ञानात्मकः पुरो बुद्धेः सम्बन्धित्वात् पुरवद्भोगाधि ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ च्च

पुरमित्युक्तम्। तच्च ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं ज्ञप्तिरूपमित्यर्थः। केचिदत्र

पुरशब्देन पुर्यष्टकमेवोच्यत इत्याहुः। आधेयस्तु तद्यवस्थाप्य आत्मनः

तद्भोक्तृत्वादीशस्य उच्यते। तथाहि -

इशान्योऽष्ट चयोऽमुष्मिन् सोऽस्य ईश इति स्मृतः॥

ईशानीशित्वा दीशीति दृक्क्रियाशक्तिः तदधोऽस्मिन् शरीरे-

p. 64) ॥ ॥ । षे भोगसाधन प्रयोक्तृत्वेनासादयति। सोध्यव्यवसायरूपस्य
ज्ञानस्य शोध्यवसाना स्मृतः। ततः

विज्ञायमेधावी यः सदा नन्दति स्वयम्।
पुर्यष्टकसमायुक्तोऽप्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति॥

यो धर्म पुर्यष्टक समायुक्तं सदानन्दतीत्युक्तः तद्बुद्धिभोक्तारं
ईशात्मलक्षणं ज्ञात्वा बुद्धिमान् यः सिद्ध्यर्थमूर्ध्वं
मूर्त्यर्धश्च गच्छति नाऽन्यः। पशुरत्रानधिकारीत्युक्तम्।

अथ तस्य पुर्यष्टकस्य स्वरूपश॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥

शब्दः स्पर्शं च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
बुद्धिर्मनस्त्वहंकारः पुर्यष्टकमिति स्मृतम्॥

अत्र भूतानि पञ्चतन्मात्राणि शब्दादिभिः स्वगुणैरवि शेषोपात्तानीति

कार्यवर्गो द्विविधोनिर्दिष्टः। तथा पञ्चम इत्यनेन पञ्चसंख्यायुक्तं
बुद्धीन्द्रिय कर्मेन्द्रियाख्यं करण वर्गद्वयं बुद्ध्यादिपदैरन्तः
करणवर्गः च शब्दाच्च स्थानीयादत्र गुणव्यक्तात्मकः तत्प्रकृति वर्गो
रागविद्या नियति काल ॥ ॥ ॥ ॥लृइत्मकञ्चुक वर्गो मायारूपश्च परप्रकृति
वर्गाः प्रोक्ताः। एवमस्यां बाह्यदेहादिकायां पुरी वर्गाणुकमष्टकं
स्मृतम्।

ननु पृथिव्यादि कालान्त त्रिंशत्तत्वात्मक एव सूक्ष्मदेहः पुर्यष्टक
तया प्रसिद्धः। शुद्धाशुद्ध भुवन पर्यटन साधनमशुद्धमेतत्
स्वरूपं तथा प्रसिद्धम्। यदुक्तं तत्व संग्रहे

वसुधाद्यस्तत्वगुणः प्रतिपुंनियतः कालान्तोऽयम्।
पर्यटति कर्मपरतो ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। वनज देहेष्वयं च सर्वेषु ॥ इति ॥

p. 65) अत्र तु शुद्धस्वरूपस्य बिन्दु कार्यस्यापि नादद्वारेण
सर्वभूतावस्थितत्वेनोक्तस्य परमुक्त्यपेक्षया हेतुत्वादुत्क्रान्तिकाले
शुद्धाशुद्धः सकलोऽपि तत्ववर्गः सर्वस्य पुर्यष्टक तयोद्देशः।
यद्यप्यसौ दीक्षया सर्वपाशोशेभ्यो मोचितस्तथापि यावदेतैर्न मुच्येत
बन्धनादारब्ध कार्यकर्मभोगोपरोधेन सद्योनिर्वाणदीक्षया ॥ ॥ ॥ ॥ ॥।
तेभ्यः सर्वदानुसृतत्वशताब्दस्य शरीरस्य स्थित्यन्तमसौ बन्ध एव।

ततश्च तेभ्योऽत्यन्त मोक्षायोत्क्रान्त्यादिदावेते ज्ञात्वा त्याज्या एव। अथ तेषामेव त्यागक्रममाह - शब्दस्पर्शं त्यजेदाकाश विषयत्वादस्य शब्दस्य वायोश्च यदायते -

आकाश वायु प्रभवः शरीरात्समुच्चरन्वक्रमुपैति नादः। इति केशवस्थानेन कण्ठेन सन्त्यजेद्रसनेन्द्रियमूलत्वात्तस्य। यदाह पतञ्जलिः -

कण्ठ एव क्षुत्पिपासानिवृत्त ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। स्नाने तालुनि रूपगन्धौ त्यजेत्। रूपगन्धेन्द्रिय मूलत्वात् तस्य तेनाप्युक्तः। तालुनिगन्धं विशेदिति। एवं कार्यवर्गद्वयस्य स्वस्थाने त्याग उक्तः। ब्रह्मण्येव त्यजेदित्यादिवत् संख्येयं तादृशस्य शब्दस्पर्शादि त्यागमस्य ब्रह्मादि देवतात्मकेन्द्रियं विप्लुति परिहारार्थस्य निर्बीजदीक्षया समयाद्वार शुद्धिः। विषुवत्वादस्य च सर्वपाश त्यागरूपस्योत्क्रान्ति विषयत्वादिति बुद्ध्यहंकार इत्युपलक्षण ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ पञ्चवर्गक व्यतीतमीश्वर स्थानमेव त्यजेत्। तस्य माया कार्याधिकारा मन इत्यत्र मायोच्यते।

p. 66) बिन्दुश्च शुद्धप्रकृतितश्च महामायात्मकं वर्गसदा शिवस्थाने ब्रह्मरन्ध्रोर्ध्वं त्यक्त्वा एभिः पापैः मुक्तः शिवसमो भवेत्॥

इति लक्षद्वयाध्यापक श्रीमदघोर शिवाचार्य विरचितायां

द्विशतिकालोत्तरवृत्तौ ज्ञानविज्ञान प्रकरणम् ॥

p. 67) ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । न्ति प्राप्तकालेन कर्तव्या नान्यदेति दर्शयितुं अरिष्टादीनां

ज्ञानाय कालचक्रविधानमाह -

कालचक्रविधानन्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ।

कालचक्रमितिख्यातं येन कालेन बुद्धयते ।

आध्यात्मिकस्य कालस्य विधानं येन प्राणद्वारे तद्विधीयते तं विशेषतो

वक्ष्यामीति । तच्च कालचक्र स्वरूपतः प्रागुक्त काले ख्यातमेवेति येन

कालेन बुध्यते आध्यात्मिकस्य कालस्य विधानं येन नोच्यते । तदाह -

इडा होरात्रचारेण त्रि ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । वति ।

द्महोरात्र प्रचारेण वर्षद्वयं हि जीवति ।

त्र्यहोरात्र प्रचारेण वर्षमेकं स जीवति ॥

यत् प्रागुक्तं - ऊर्ध्वप्राणोह्यधश्चैवापानो रात्रिरेवच । इति ।

तस्याध्यात्मिकस्याहोरात्रस्य प्रवाहयेत् । प्रमाणमुक्तं प्रत्येकं

षोडशत्रुट्यात्मकं तत्र यदे स चैकः प्राणप्रवाहो अस्मागपि

भाववर्णश्चरेत्। नाड्यन्तरे यावदनन्तरं वाहः तदातत्रावधानं

कुर्यात्। संग्रहपरिच्छेदकाय बोधार्धम ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ।वा संग्रहः।

कालवञ्चनया मृतधारणाभ्यासः कार्यः। पिङ्गलयाक्षीणचन्द्रया

परिच्छेदः उत्क्रान्तिः प्रयोगाभ्यासं मध्यममाया तु कामचारः

ततश्चाध्यात्मिकस्याहोरात्रस्य षोडशत्र्युटयात्मनः प्रमाणे

तद्गमरूपोहप्रचारः। ऊर्ध्वप्राणाभिरूपोपानप्रत्यात्मा रात्रिप्रचारो

पाकस्यागपि भवति। स वर्षत्रयं जीवति। यस्य तु तनौ द्विगुणेन मानो स

वर्षद्वयं तं यस्य तु तृतीय गुणेन स वर्षमेवेति मन्तव्यम्।

p. 68) अयञ्चाध्यात्मिक ॥ ॥ ॥ । विदां कालपरीक्षाक्रमोऽभिहितः।

वाच्याहोरात्रादि प्रमाणेन सादि नाडी प्रवाह प्रचारेण सर्वैः काल

परिज्ञानं कार्यमिति केचित् गुरवोमन्यन्ते। तस्य तत्राहि चारात्तत्राऽप्ययं

विशेषतः प्रदर्श्यते। प्रथमं शब्दत्रयमाहुः। अज्ञात्वा य शब्दमिति

वाह्यान्तामेव नाडीं निरूपयेत्। तदानवहेतोः प्रोक्तनाडिक प्रवाहेन

दृष्टकेशमात्रफलं विद्यात्। अथाहोरात्र द्वयं यदि वहे ॥ ॥ ॥ ॥ ।

वर्षद्वयमायुरिति निश्चित्य संगृह्यश्चेन्मृत्यु जिद्धारणे याग काल

वञ्चनं कार्यम्। परिच्छेदश्चेत् सर्वस्वत्यागादिना शेषकालं नीत्वा

स्वेच्छोत्क्रान्तिं कुर्यात् -

अहरेकं चरेद्यव्य रात्रिरेकमथाऽपि वा।

षाण्मासात्तस्य मृत्युः स्यादितिशास्त्रस्य निश्चयः॥

यामद्वयं चरेद्यस्या अहोरात्रं तु जीवति॥

अत्रापि कालपक्षे स्पष्ट एवार्थः। यस्यादह्नः कालं चारकाल एवं
गमागमं विद्यते रात्रिकालेन वा समा॥ ॥ ॥ ॥ ।कं जीवति। यस्तु ततोर्ध्वकाल
एव सोऽहोरात्रमेव जीवति न केवलमिडाप्रवाहेणैतद्ज्ञेयम्। किञ्च यथा
वामा तथा वामा मध्यमा च तथैव च। अन्यतम नाडी प्रचारेणैतत्
ज्ञेयमित्युक्तम्। उपलक्षणञ्चैतच्छास्त्रान्तरोक्तानां न
वेराषाश्रवणादिव (गन्धा?)ग्रन्थाग्रहणदुःस्वप्नादीनामरिष्टानां।
अथोपसंहारः।

कालचक्रं समाख्यातं पुत्रस्नेहाद्विशेषतः॥

॥ इति द्विशति कालोत्तरवृत्तौ कालचक्रप्रकरणम्॥

p. 69) अन्यत्र यथा दम्पत्योः संयोगात् सुखमिति
रहस्यमात्मैकसमाधिगम्यं परस्मैवाचा प्रतिपादयितुं॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । मेवं
शिवादि परिज्ञानमपराधितं बुद्धिगुणविषयजं सुखं स्वसंवेद्यं
नाऽन्य वाचा प्रकाशयितुं शक्यमिति दर्शयितुं वृहत्कुमारी

अकामित्वं मनःस्थैर्यमद्रोहः सर्वजन्तुषु १९
अविवादस्तथा मूढैरमूढैः प्रश्नसत्कथा
विविक्तदेशेऽभिरतिर्महाजनविवर्जनम् २०
सद्भिः सहास्य सततं योगाभ्यासो मितोक्तिता
स्त्रीभर्त्सोत्सवसंलापविवर्जनमवेक्षणम् २१
परयोषिद्विलासानां काव्यालापविवर्जनम्
गीतवादितनृत्तेषु मृदङ्गेष्वपरेषु च २२
असक्तिर्मनसो मौनमात्मतत्त्वावलोकनम्
तपः संतोषः सत्येषु स्थितिर्लोभविवर्जनम् २३
तथा परिग्रहो राजन्मायाव्याजविवर्जनम्
असृङ्मांसादिभूतत्वान्निजदेहजुगुप्सनम् २४
सर्वाण्येतानि भूतानि विष्णुरित्यचला मतिः
तत्रैवाशेषभूतेशे भक्तिरव्यभिचारिणी २५
एते गुणा मयाख्याता मनोनिर्वृतिकारकाः
शैथिल्यहेतवश्चैते कर्मबन्धस्य पूर्थिव २६
एभिः शान्तिं गते चित्ते ध्यानाकृष्टः स्थितो हरिः
शमं नयति कर्माणि सितमिश्रासितानि वै २७
भूयश्च शृणु शास्त्रार्थं संक्षेपाद्वदतो मम
यथा संप्राप्यते मुक्तिर्मनुजेन्द्र मुमुक्षुभिः २८
नित्यनैमित्तिकानां तु निष्कामस्य हि या क्रिया
निसिद्धानां सकामानां तथैवाकरणं नृप २९
सर्वेश्वरे च गोविन्दे भक्तिरव्यभिचारिणी
प्रयच्छति नृणां मुक्तिं मा ते भूदत्र संशयः ३०
इति विष्णुधर्मेषु पापक्षयः

अथाष्टनवतितमोऽध्यायः

शतानीक उवाच
आख्यातमेतदखिलं यत्पृष्टोऽसि मया द्विज
जायते शमकामानां प्रशमः कर्मणां यथा १
किंत्वत्र भवता प्रोक्ता प्रशान्तिः सर्वकर्मणाम्

नात्यन्तनाशः शान्तानामुद्भवो भविता पुनः
निजकारणमासाद्य स्तोकस्याग्नेर्यथा तृणम् २
तदाचक्ष्व महाभाग प्रसादसुमुखो मम
संक्षयो येन भवति मूलोद्धर्तेन कर्मणाम् ३
शौनक उवाच
न कर्मणां क्षयो भूप जन्मनामयुतैरपि
कर्मक्षयमृते योगाद्योगाग्निः क्षपयेत्परम् ४
शतानीक उवाच
तं योगं मम विप्रर्षे प्रणतस्याभियाचतः
त्वमाचक्ष्व क्षयो येन जायतेऽखिलकर्मणाम् ५
शौनक उवाच
हिरण्यगर्भो भगवाननादिर्मुनिभिः पुरा
पृष्टः प्रोवाच यं योगं तं समासेन मे शृणु ६
अनादिकालप्रसृता यथा विद्या महीपते
तथा तत्क्षयहेतुत्वाद्योगो विद्यामयोऽव्ययः ७
तं परंपरया श्रुत्वा मुनयोऽत्र दयालवः
प्रकाशयन्ति भूतानामुपकारचिकीर्षवः ८
देवा महर्षयो राजंस्तथा राजर्षयोऽखिलाः
श्रेयोऽर्थिनः पुरा जग्मुः शरणं कपिलं किल ९
ते तमूचुर्भवान्नित्यं दयालुः सर्वजन्तुषु
सोऽस्मानुद्धर संमग्नानितः संसारकर्दमात् १०
यच्छ्रेयः सर्ववर्णानां स्त्रीणामप्युपकारकम्
यस्मात्परतरं नान्यच्छ्रेयस्तद्ब्रूहि नः प्रभो ११
आदावन्ते च मध्ये च नृणां यदुपकारकम्
अपि कीटपतंगानां तन्नः श्रेयः परं वद १२
इत्युक्तः कपिलः सर्वैर्देवैर्देवर्षिभिस्तथा
नास्ति योगात्परं श्रेयः किंचिदित्युक्तवान्पुरा १३
यथा जन्मायुतैः क्लेशाः स्थैर्यं चेतस्युपागताः
तच्छान्तये तथा योगो बहुजन्मार्जितो भवेत् १४
स एवाभ्यसतां नृणां तीव्रसंवेगिचेतसाम्

आसन्नतां प्रयात्याशु विष्णुः संन्यस्तकर्मणाम् १५
ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्रस्य च पावनम्
शान्तये कर्मणां नान्यद्योगादस्ति हि मुक्तये १६
अभ्यस्तं जन्मभिर्नैकैः शुभजातिभवेषु यत्
योगस्वरूपं तत्तेषां स्त्रीशूद्रत्वे व्यवस्थितम् १७
योगाभ्यासो नृणां येषां नास्ति जन्मान्तराहृतः
योगस्य प्राप्तये तेषां शूद्रवैश्यादिकः क्रमः १८
स्त्रीत्वाच्छूद्रत्वमभ्येति ततो वैश्यत्वमाप्नुयात्
ततश्च क्षत्रियो विप्रः क्रियाहीनस्ततो भवेत् १९
अनूचानस्तथा यज्वी कर्मन्यासी ततः परम्
ततो ज्ञानित्वमभ्येत्य योगी मुक्तिं क्रमाल्लभेत् २०
येषां तु जातिमात्रेण योगाभ्यासस्तिरोहितः
आस्ते तत्रैव मुच्यन्ते जातिहेतौ क्षयंगते २१
असत्कर्म कृतं पूर्वमसज्जातिप्रदायि यत्
तस्मिन्योगाग्निना दग्धे तस्य जातेर्बलं कुतः २२
यथा वातेरितः कक्षं दहत्यूर्ध्वशिखोऽनलः
सर्वकर्माणि योगाग्निर्भस्मसात्कुरुते तथा २३
यथा दग्धतुषं बीजमबीजत्वान्न जायते
योगदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संजायते पुनः २४
अदृष्टा दृष्टतत्त्वानां योगिनां योगविच्युतिः
येषां भवति योगित्वं प्राप्नुवन्तीह ते पुनः २५
सज्जातिप्रापकं कर्म कृतं तेन तदात्मना
जातिं प्रयान्ति विप्राद्या योगकर्मानुरञ्जिताः २६
तत्राप्यनेकजन्मोत्थयोगाभ्यासानुरञ्जिताः
तेनैवाभ्यासयोगेन ह्रियन्ते तत्त्वविद्यया २७
जैगीषव्यो यथा विप्रो यथा चैवासितादयः
हिरण्यनाभो राजन्यस्तथा वै जनकादयः २८
पूर्वाभ्यस्तेन योगेन तुलाधारादयो विशः
संप्राप्ताः परमां सिद्धिं शूद्राः पैलवकादयः २९
मैत्रेयी सुलभा गार्गी शाण्डिली च तपस्विनी

स्त्रीत्वे प्राप्ताः परां सिद्धिमन्यजन्मसमाधितः ३०
धर्मव्याधादयोऽप्यन्ये पूर्वाभ्यासाज्जुगुप्सिते
वर्णावरत्वे संप्राप्ताः संसिद्धिं श्रवणी तथा ३१
पूर्वाभ्यस्तं च तत्तेषां योगज्ञानं महात्मनाम्
सुप्तोत्थितप्रत्ययवदुपदेशादिना विना ३२
तस्माद्योगः परं श्रेयो विमुक्तिफलदो हि यः
विमुक्तौ सुखमत्यन्तं संमोहस्त्वितरत्सुखम् ३३
शौनक उवाच
एतत्ते सर्वमाख्यातं मया मनुजकुञ्जर
श्रेयः परतरं योगात्किंचिदन्यन्न विद्यते ३४
इति विष्णुधर्मेषु योगप्रशंसा

अथैकोनशततमोऽध्यायः

शतानीक उवाच
कथितं योगमाहात्म्यं भवता मुनिसत्तम
स्वरूपं तु न मे प्रोक्तं श्रोतुमिच्छामि तद्ध्यहम् १
शौनक उवाच
द्वैविध्यं नृप योगस्य परं चापरमेव च
तच्छृणुष्व वदाम्येष वाच्यं शुश्रूषतां सताम् २
यो दद्याद्भगवज्ज्ञानं कुर्याद्वा धर्मदेशनाम्
कृत्स्नां वा पृथिवीं दद्यान्न तत्तुल्यं कथंचन ३
क्षयिष्णून्यपराणीह दानानि मनुजाधिप
एकमेवाक्षयं शस्तं ज्ञानदानमनुत्तमम् ४
दानान्येकफलानीह त्रैलोक्ये ददता सताम्
ज्ञानं प्रयच्छता सम्यक् किं न दत्तं भवेन्नृप ५
ज्ञानान्यन्यान्यसाराणि शिल्पिनीव नरेश्वर
एकमेव परं ज्ञानं यद्योगप्राप्तिकारकम् ६
अहं वक्ता भवाञ्श्रोता वाच्यो योगो विमुक्तिदः
प्राणिनामुपकाराय संपदेषा गुणाधिका ७
परेण ब्रह्मणा सार्धमेकत्वं यन्नृपात्मनः

मध्येन त्रिवलीभङ्गभूषितेन च चारुणा
सुपादः सूरुयुगलः सुकटीगुल्फजानुकः २३
वामपार्श्वे गदादेवी चक्रं देवस्य दक्षिणे
शङ्खो वामकरे देयो दक्षिणे पद्म सुप्रभम् २४
ऊर्ध्वदृष्टिमधोदृष्टिं तिर्यग्दृष्टिं न कारयेत्
निमीलिताक्षो भगवान्न प्रशस्तो जनार्दनः
सौम्या तु दृष्टिः कर्तव्या किंचित्प्रहसितेव च २५
कार्यश्चरणविन्यासः सर्वतः सुप्रतिष्ठितः
चरणान्तरसंस्था च बिभ्रती रूपमुत्तमम्
कार्या वसुंधरा देवी तत्पादतलधारिणी २६
यादृग्विधा वा मनसः स्थैर्यलम्भोपपादिका
नृसिंहवामनादीनां तादृशीं कारयेद्बुधः २७
ब्रह्म तस्यां समारोप्य मनसा तन्मयो भवेत्
तामार्चयेत्तां प्रणमेत्तां स्मरेत्तां विचिन्तयेत् २८
तामर्चयंस्तां प्रणमंस्तां स्मरंस्तां च चिन्तयन्
विशत्यपास्तदोषस्तु तामेव ब्रह्मरूपिणीम् २९
संकल्पनक्रियारूढः स्वरूपेण नृपात्मनः
कुर्वीत भावनां तत्र तद्भावोत्पत्तिकारणात्
नान्यत्र मनसानेया बुद्धिरीषदपि क्वचित् ३०
यमैश्च नियमैश्चैव पूतात्मा पृथिवीश्वर
मूर्तिं भगवतः संयक् पूजयेत्तन्मयः सदा ३१
इति विष्णुधर्मेषु मूर्तिलक्षणम्

अथ शततमोऽध्यायः

शतानीक उवाच
यमांश्च नियमांश्चैव श्रोतुमिच्छामि भार्गव
यैर्धूतकल्मषो योगी मुक्तिभागुपजायते १
शौनक उवाच
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ
यमास्तवैते कथिता नियमानपि मे शृणु २

संतोषशौचस्वाध्यायास्तपश्चेश्वरभावना
नियमाः कौरवश्रेष्ठ योगसंसिद्धिहेतवः ३
एभिर्मूलगुणैः सद्भिर्विष्णोर्भक्तिमतस्तथा
श्रद्दधानस्य चान्यानि योगाङ्गानि निबोध मे ४
मध्यमप्राणमचलं सुखदायि शुभं शुचि
योगसंसिद्धये भूप योगिनामासनं स्मृतम् ५
प्राणायामस्त्रिधा वायोः प्राणस्य हृदि धारणम्
कुम्भरेचकपूराख्यास्तस्य भेदास्त्रयो नृप ६
एते निबोध मात्रास्तु नालम्बनगुणान्विताः
सालम्बनश्चतुर्थोऽन्यो बाह्यान्तर्विषयः स्मृतः ७
इन्द्रियाणां स्वविषयाद्बुद्धिः प्रत्येकशस्तु यत्
करोत्याहरणं ज्ञेयः प्रत्याहारः स पण्डितैः ८
शुभे ह्येकत्र विषये चेतसो यच्च धारणम्
निश्चलत्वात्तु सा सद्भिर्धारणेत्यभिधीयते ९
पौनःपुन्येन तत्रैव विषये सैव धारणा
ध्यानाख्या लभते राजन्समाधिमपि मे शृणु १०
अर्थमात्रं च यद्ग्राह्ये चित्तमादाय पार्थिव
अर्थस्वरूपवद्भाति समाधिः सोऽभिधीयते ११
कथितानि तवैतानि योगाङ्गानि कृतैस्तु यैः
उत्कर्षो जायते व्यस्तैः समस्तैर्हेयसंक्षयः १२
योगाङ्गान्यङ्गभूतानि ध्यानस्यैतान्यशेषतः
ध्यानमप्यवनीपाल योगस्याङ्गत्वमर्छति १३
ध्यानमेकव्रतानां तु कुशलाकुशलेषु तत्
अर्थेष्वाशक्तिमभ्येति सर्वदैव नरेश्वर १४
शुभाव्यावर्तितं ध्यानमविवेकस्य जायते
संसारदुःखदं राजन्नशुभालम्बि तद्यतः १५
तदेवाकृष्य दुष्टेभ्यो विषयेभ्यः शुभाशुभम्
सर्वसंसारकान्तारपारमभ्येति मानवः १६
दुःखदाघप्रशमने या चिन्ताहर्निशं नृणाम्
तद्ध्यानमविशुद्धार्थं सुखदानामपालने १७

कथं संसारबन्धोऽयमस्मान्मुक्तिः कथं त्विति
मनोवृत्तिर्मनुष्याणां ध्यानमेतच्छुभं द्विधा १८
शुद्धमप्येतदखिलं लोभकार्यतयानया
सुखाभिलाषो यन्मुक्तौ बन्धुदुःखादिपीडनात् १९
अवाञ्छितफलं लोभमलोभांशविवर्जितम्
शुभाशुभफलं ध्यानमरक्तं द्विष्टमिष्यते २०
दृष्टानुमानागमिकं ध्यानस्यालम्बनं त्रिधा
न हि निर्विषयं ध्यानं मूढवृत्तिरिवेष्यते २१
प्राक् स्थूलेषु पदार्थेषु ततः सूक्ष्मेषु पण्डितः
ध्यानं कुर्वीत तत्पश्चात्परमाणौ महीपते २२
ध्यानाभ्यासपरस्यैवं हेयालम्बनबाधने
तच्छान्तये तद्विपक्षभावनामेव भावयेत् २३
तच्चित्तस्तन्मयो ज्ञानी भवत्यस्मान्न दोषवत्
कुर्वीतालम्बनं काले कस्मिंश्चिदपि पार्थिव २४
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तजगदन्तर्व्यवस्थिताः
प्राणिनः कर्मजनितसंस्कारवशवर्तिनः २५
यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः
अविद्यान्तर्गताः सर्वे ते हि संसारगोचराः २६
पश्चादुद्भूतबोधाश्च ध्याता नैवोपकारकाः
नैसर्गिको न वै बोधस्तेषामप्यन्यतो यतः २७
तस्मात्तदमलं ब्रह्म निसर्गादेव बोधवत्
ध्येयं ध्यानविदां सम्यग्यद्विष्णोः परमं पदम् २८
न तद्यज्ञैर्न दानेन न तपोभिर्न तद्व्रतैः
पश्यन्त्येकाग्रमनसो ध्यानेनैव सनातनम् २९
तच्च विष्णोः परं रूपमनिर्देश्यमजं स्थिरम्
यतः प्रवर्तते सर्वं लयमभ्येति यत्र च ३०
अनिद्रमजमस्वप्नमरूपानाम शाश्वतम्
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति ज्ञानदृश्यं सनातनम् ३१
निर्धूतपुण्यपापा ये ते विशन्त्येवमीश्वरम्
तच्च सर्वगतं ब्रह्म विष्णुः सर्वेश्वरेश्वरः

परमात्मा परः प्रोक्तः सर्वकारणकारणम् ३२
अनन्तशक्तिमीशेशं स्वप्रतिष्ठमनोपमम्
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ३३
यत्र सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ३४
सर्गादिकारणं यस्य स्वभावादेव शक्तयः
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ३५
निर्धूतपुण्यपापा यं विशन्त्यव्ययमीश्वरम्
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ३६
तत्र योगवतः सम्यक् पुरुषस्य नरेश्वर
यदुक्तं लक्षणं तन्मे गदतः श्रोतुमर्हसि ३७
ब्रह्मण्येव स्थितं चित्तं सर्वतः संनिवर्तितम्
नान्यालम्बनसापेक्षं योगिनः सिद्धिकारकम् ३८
संस्थानमविकारेण चेतसो ब्रह्मसंस्थितौ
निवात इव दीपस्य योगिनः सिद्धिलक्षणम् ३९
एवमेकाग्रचित्तस्य पुण्यापुण्यमशेषतः
प्रयाति संक्षयमृते देहारम्भकरे नृप ४०
देहारम्भकरस्यापि कर्मणः संक्षयावहः
यो योगः पृथिवीपाल शृणु तस्यापि लक्षणम् ४१
यत्तद्ब्रह्म परं प्रोक्तं विष्णवाख्यमजमव्ययम्
चेतसः प्रलयस्तत्र योग इत्यभिधीयते ४२
योगसेवानिरोधेन प्रलीने तत्र चेतसि
पुरुषः कारनाभावाद्भेदं नैवानुपश्यति ४३
परात्मनोर्मनुष्येन्द्र विभागो ज्ञानकल्पितः
क्षये तस्यात्मपरयोर्विभागाभाग एव हि ४४
परमात्मात्मनोर्योऽयमविभागः परंतप
स एव परमो योगः समासात्कथितस्तव ४५
यथा कमण्डलौ भिन्ने तत्तोयं सलिले गतम्
व्रजत्यैक्यं तथैवैतदुभयं कारणक्षयात् ४६
यथाग्निरग्नौ संक्षिप्तः समानत्वमनुव्रजेत्

तदाख्यस्तन्मयो भूत्वा गृह्यते न विशेषतः ४७
एवं ब्रह्मात्मनोर्योगादकत्वमुपपन्नयोः
न भेदः कलशाकाशनभसोरिव जायते ४८
प्रक्षीणाशेषकर्मा तु यदा ब्रह्ममयः पुमान्
तदा स्वरूपमस्योक्तेर्गोचरे नोपपद्यते ४९
घटध्वंसे घटाकाशं न भिन्नं नभसो यथा
ब्रह्मणा हेयविध्वंसे विष्णवाख्येन पुमांस्तथा ५०
भिन्ने दृतौ यथा वायुर्नैवान्यः सह वायुना
क्षीणपुण्याघबन्धस्तु तथात्मा ब्रह्मणा सह ५१
ततः समस्तकल्याणसमस्तसुखसंपदाम्
आह्लादमन्यमतुलं कमप्याप्नोति शाश्वतम् ५२
ब्रह्मस्वरूपस्य तदा ह्यात्मनो नित्यदैव सः
व्युत्तानकाले राजेन्द्र आस्ते हेयतिरोहितः ५३
आदर्शस्य मलाभावाद्वैमल्यं काशते यथा
ज्ञानाग्निदग्धहेयस्य सोऽह्लादो ह्यात्मनस्तथा ५४
यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनादिना
दोषप्रहाणं न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा ५५
यथोदुपानकरणात्क्रियते न जलाम्बरम्
सदैव नीयते व्यक्तिमसतः संभवः कुतः ५६
यथा हेयगणध्वंसादवबोधादयो गुणाः
प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हिते ५७
ज्ञानवैराग्यमैश्वर्यं धर्मश्च मनुजेश्वर
आत्मनो ब्रह्मभूतस्य नित्यमेव चतुष्टयम् ५८
एतदद्वैतमाख्यातमेष योगस्तवोदितः
अयं विष्णुरिदं ब्रह्म तथैतत्सत्यमुत्तमम् ५९
पुनश्च श्रूयतामेष संक्षेपाद्गदतो मम
नानाद्वैकत्वविज्ञानस्वरूपमवनीपते ६०
आत्मा क्षेत्रज्ञसंज्ञोऽयं संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः
तैरेव विगतैः शुद्धः परमात्मा निगद्यते ६१
ध्येयं ब्रह्म पुमान्ध्याता उपायो ध्यानसंज्ञितः

यस्त्वेतत्करणेष्वास्ते तद्वर्गे का विभागता ६२
संक्षेपादपि भूपाल संक्षेपनपरं शृणु
पुत्राय यत्पिता ब्रूयात्स्वशिष्यायाथवा गुरुः ६३
न वासुदेवात्परमस्ति किंचिन्न वासुदेवाद्वदितं परं च
सत्यं परं वासुदेवोऽमितात्मा नमो नमो वासुदेवाय नित्यम् ६४
तस्मात्तमाराधय चिन्तयेशमभ्यर्चयानन्तमतन्द्रितात्मा
संसारपारं परमीप्समानैराराधनीयो हरिरेक एव ६५
आराधितोऽर्थान्धनकाङ्क्षकानां धर्मार्थिनां धर्ममशेषधर्मी
ददाति कामांश्च मनोनिविष्टान्मोक्षार्थिनां मुक्तिद एव विष्णुः ६६
इति विष्णुधर्मेषु योगाध्यायः

अथैकाधिकशतमोऽध्यायः

शतानीक उवाच
ममैतत्कथितं सम्यगात्मविद्याश्रितं मुने
यत्त्वन्यच्छ्रोतुमिच्छामि तत्प्रसन्नो वदस्व मे १
येयं मुक्तिर्भगवता प्रोक्ता वर्णक्रमान्मम
तत्रेच्छामि मुने श्रोतुं वर्णाद्वर्णोत्तरोच्छ्रयम् २
शूद्रो वैश्यत्वमभ्येति कथं वैश्यश्च भार्गव
क्षत्रियत्वं द्विजश्रेष्ठ ब्राह्मणत्वं कथं ततः ३
विप्रत्वान्मुक्तियोग्यत्वं यथा याति महामुने
तदहं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तो भार्गवनन्दन ४
शौनक उवाच
त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नः कुरुवर्य शृणुष्व तम्
मयोच्यमानमखिलं वर्णानामुपकारकम् ५
शूद्रधर्मानशेषेण कुर्वञ्शूद्रो यथाविधि
वैश्यत्वमेति वैश्यश्च क्षत्रियत्वं स्वकर्मकृत् ६
विप्रत्वं क्षत्रियः सम्यग्द्विजधर्मपरो नृप
विप्रश्च मुक्तिलाभेन युज्यते सत्क्रियापरः ७
सर्वेषामेव वर्णानां स्वधर्ममनुवर्तताम्
सदोच्छ्रितिर्न्यूनकृतो हानिश्चोत्कृष्टकर्मणः ८

सर्वज्ञानोत्तरम्

त्रन्स्च्रप्त् त्०३३४

चोपिद् फ़्रोम् द्। ५५५० ओफ़् गोंल्। मद्रस्

प्। १)

श्रीगुरुभ्यो नमः

सर्वज्ञानोत्तरम्। योगपादम्॥

नमः शिवायशक्त्यै च विन्दवे शाश्वताय च।

गुरवे च गणेशाय कार्तिकेयाय धीमते॥ १॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि योगमन्त्रकितस्तुतम्।

शान्तस्य * * * * * * * * * * *

* * ॥ २॥

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
उक्त स्वप्नावबोधस्य तत्त्वतः शृणु षण्मुख ॥ ३ ॥

योध्यातायश्च तद्ध्यानं तद्वैर्यान्न प्रयोजनम् ।
सर्वाण्येतानि यो वेत्ति स योगं योक्तु मर्हति ॥ ४ ॥

आत्माध्याता मतोध्यानं ध्येयः सूक्ष्मो महेश्वरः ।
यत्परा परमैश्वर्यमेतद्ध्यान प्रयोजनम् ॥ ५ ॥

मानामानौ समौ कृत्वा सुखदुःखे समे तथा ।
हर्षं भयं विषादं च सत्यजन् योगमभ्यसेत् ॥ ६ ॥

शून्यागारे मठे रम्ये देवतायतने शुभे ।
नदीतीरे विविक्तेन्त गृहे घोरवनेपि वा ॥ ७ ॥

प्रच्छन्ने च विविक्ते च निश्शब्दे जनवर्जिते ।
योगदोष विनिमुक्ते निर्विकल्पे निरातपे ॥ ८ ॥

स्नात्वा शुचि रूपस्पृश्य प्रणम्य शिरसा शिवम् ।
योगाचार्यान्नमस्कृत्य योगं युञ्जीत * * * ॥ ९ ॥

पद्मकं स्वास्तिकं नापि उपस्थाप्यां जलिं तथा ।?
पीठार्धतर्धचन्द्रं वा कर्मतो? भद्रमेव वा ॥ १० ॥

पृ। २)

आसनं रुचिरं वद्ध्वोर्ध्वकायः समं शिरः ।
सर्वसंगान् परित्यज्यात्मसस्थं मनोगुह ॥ ११ ॥

न दन्तैः संस्पृशेद् दन्तान् सृक्विण्या च न जिह्वया ।
किञ्चित् कुञ्चित नेत्रस्तु शिवं सम्यक्तदोच्चरेत् ॥ १२ ॥

*? य स यति तत्वानि तन्मात्राद्यानि देहिनाम् ।
पुनर्विनंशिकश्चैवास्त्र युक्तष्षडानन ॥ १३ ॥

न पृथक् हृदयं तस्य न शिरो न शिखागुह ।
वर्मास्त्र नेत्रसहितं तस्मादेव प्रवर्तते ॥ १४ ॥

प्राणापानौ समौ कृत्वा सुषुम्नान्तर चारिणौ ।
तयोर्वृत्तिर्निरुध्यात्मा शिवं ध्यायेद् विचक्षणः ॥ १५ ॥

अविनाभावसंयुक्तो ज्योतीरूपं सुनिर्मलम् ।
सुसूक्ष्मं व्यापकं नित्यं निर्विकल्पं सदा बुधः ॥ १६ ॥

उत्तमा मध्यमा मन्दास्संसर्गास्त्रिविधाः स्मृताः ।
प्राणायामांश्च तान् कुर्यात् पूरकुम्भक रेचकान् ॥ १७ ॥

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिर्दिस्तुतम् ।
प्राणायामो भवादेय पूरको देहपूरकः ॥ १८ ॥

पिधाय सर्वद्वाराणि निश्वासोच्छ्वासवर्जितः ।
संपूर्ण कुम्भवत् तिष्ठेत् प्राणायामस्सकुम्भकः ॥ १९ ॥

ततोर्ध्वं रेचयेद् वायुं मृतु निच्छ्वास संयुतम् ।
रेचकस्त्वेष विख्यातः प्राणसंशयकारकः ॥ २० ॥

प् । ३)

प्रसार्यचाग्रहस्तं तु जानुं कृत्वा प्रदक्षिणम्।

च्छोटिका ततो दद्यान्मनन्नैष्टा त्वभिधीयते॥ २१॥

मात्रा द्वादश विज्ञेयाः प्रमाणं तालसंज्ञकम्।

तालद्वादशकं ज्ञेयं प्राणायामस्तु आन्यसम्॥ २२॥

मध्यमश्चतविंश ज्येष्ठ * * द्विगुणो भवेत्।

एकैकां वर्धमात्रां प्रत्यहं योगवित्तमः॥ २३॥

नत्वरेण विलम्बेन क्रमेणैव विवर्धयेत्।

प्राणायामोत्तमोयत्त द्विगुणा धारणा मता॥ २४॥

धारणाद्विगुणो योगो योगोपि द्विगुणी कृतः।

योगसिद्धिरिति ज्ञेया शिवेन परमात्मना॥ २५॥

तदानु पश्यते सूक्ष्मं गन्धतन्मात्रमात्मनि।

रसं तेजस्परिशंति च शब्दतन्मात्रमेव च॥ २६॥

पश्यते कर्मयोगेन वर्णभावैः पृथग्विधैः।

अहंकार मनोबुद्धिं गुणमव्यक्त पौरुषम् ॥ २७ ॥

अभिव्यक्तानि जानीयात् स्वधर्मगुण लक्षणात् ।
विद्यां कलां ततः कालं मायां विद्यां ततः पराम् ॥ २८ ॥

दृष्ट्वानु क्रमशः सर्वान् पुनरस्त्रेण भेदयेत् ।
विद्येश्वरं ततस्तत्वं तथा सादाशिवं परम् ॥ २९ ॥

भित्वा तु क्षुरिकास्त्रेण ततः सूक्ष्मं शिवं विशेत् ।
अमृतात्मा शिवः साक्षात् तस्मिन्निष्टस्तु योगवित् ॥ ३० ॥

पृ। ४)

सर्वज्ञस्सर्वगस्सूक्ष्मस्सर्वेशस्सर्वकृद् भवेत् ।
सर्वेष्वेव स शास्त्रेषु ज्ञेयं वस्तु चतुष्टयम् ॥ ३१ ॥

पशुः पाशः पतिश्चैव शिवश्चेति यथाक्रमम् ।
ज्ञात्वा तु तत्व सद्भावं तन्त्रसारं तु दुर्लभम् ॥ ३२ ॥

सर्वथा वर्तमानोपि गृह्णाति न पुनस्तनुम् ॥ ३३ ॥

॥ इति योगपादः समाप्तः ॥

पशुपाशविधानं हि श्रोतुमिच्छामि तत्वतः ।

संयोगं च तथा तेषां कथयस्व महेश्वर ॥ १ ॥

आद्याः पाशास्ततस्तेषां जीव आद्यस्तु किन्तु वै ।

का पाशाः कोमलाः प्रोक्ताः कस्माद्बन्धः पुमानिति ॥ २ ॥

पतिश्च किं विधो ज्ञेयस्साधिकार पदे स्थितः ।

शिवश्च कीदृशः प्रोक्तो योधिकार विवर्जितः ॥ ३ ॥

ईश्वरः

पशुरात्मा स्वतन्त्रश्च चिन्मात्रो मनदूषितः ।

सममूढो नित्यसंसारी किञ्चिद् ज्ञानीश्वरो क्रितः ॥ ४ ॥

ताम्रस्यैव तु हेमत्वमन्तर्लूनं यथा स्थितम् ।

अन्तर्लूनं तथा ज्ञेयं शिवत्वं पुद्गलस्य तु ॥ ५ ॥

XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX
X
X title: nirvaa.nayogottara
X
X copied from manuscript c 4246 of banares hindu university
X
X
X data entered by the staff of muktabodha
X under the supervision of mark s.g. dyczkowski
X
X revision 0: april 7, 2012
X
XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX

वायुना चलते तोयं क्षोभयन्तं पुनः पुनः ।

निश्चलत्वं न चास्तीति तथा चित्तेति दुर्लभम् ॥ १ ॥

ॐ भगवन्देवदेवेश लोकनाथजगत्पते ।

सङ्क्षेपात् कारणं ब्रूहि यत्र चित्ते सुनिश्चलम् ॥ २ ॥

साधु साधु महाप्राज्ञ दृष्टं ते बुद्धि कौशलम् ।

कथयामि न सन्देहः पुत्र स्नेहाद्विशेषतः ॥ ३ ॥

p. 86a) त्रिविधं कारणं प्रोक्तं स्थूलं सूक्ष्मं परं च यत्।
स्थूलेन रञ्जिता देवा महामाया वशी कृताः॥ ४॥

कारणं तु प्रवक्ष्यामि शृणुष्वेक मनागुह।
तालुमध्ये तु करणं निश्श्वासोच्छ्वासवर्जितम्॥ ५॥

नाभिहृद्धाममध्यस्थं कन्दगो वन्दनं मनाक्।
तालुसंज्ञा भवेत् तस्य यतो वा चाप्रवर्तिनम्॥ ६॥

तत्र स्थाने कृता बुद्धिश्चित्रं तत्र सुनिश्चलम्।
निश्चलं तु यदा चित्तं तदा दृष्टिः प्रवर्तते॥ ७॥

सा च दृष्टिः पराज्ञेया त्रैलोक्यं पश्यते क्षणात्।
अगम्यं गम्यते चैव अलक्ष्यं लक्ष्यते तदा॥ ८॥

अनादनादमध्यस्था व्यक्ताव्यक्तं सुनिश्चलम्।
तदा प्रवर्तते निद्रा योगध्यानपरायणा॥ ९॥

p. 86b) आनन्दं भक्षयेद् यस्तु अमृतामृतसम्भवम् ।
प्रवर्तते निरानन्दं निश्चलस्थाववर्जितम् ॥ १० ॥

निरौपम्यं निराभासं ध्यानधारणवर्जितम् ।
शून्यं कृत्वा ततो दृष्टिं शून्यं चैव तु लक्षयेत् ॥ ११ ॥

शून्यं शून्यं पुनः शून्यं त्रिशून्यमुच्यते क्षणात् ।
सर्वं शून्यं निराभास सामरस्यं तदा भवेत् ॥ १२ ॥

घृते घृतं यथा क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं तथैव च ।
केवलत्वं यदा प्राप्तं न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ १३ ॥

निस्कामोच्छ्वासिकांस्त्यक्त्वा पूरकश्चामृती भवेत् ।
कुम्भकं च यदाप्रोक्तं योगिनां योगधारणात् ॥ १४ ॥

निवृत्तिर्यत्र जायेत सर्वं शून्यं प्रवर्तते ।
शून्यमध्यगतं शून्यं स्थितं व्योमनि व्योमवत् ॥ १५ ॥

p. 87a) न रक्तं न च वा पीतं न शुक्लं कृष्णमेव च ।

सर्वैर्गुणैर्विनिर्मुक्तः स्थानातीतं परापरम् ॥ १६ ॥

पूरकं च त्वया प्रोक्तं कुम्भकं च पुनः पुनः ।
नमामि दुर्लभं देवं कथं जानन्ति मानवाः ॥ १७ ॥

वायुना पूरकं कृत्वा कुम्भकं कुम्भवत् पुनः ।
माया ह्येषा कृता वत्स येन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १८ ॥

कुम्भकं च इदं कृत्वा हृत्स्थानं रूपवर्जितम् ।
अन्तः शरीरसंस्थं तु न बाह्यं तु कदाचन ॥ १९ ॥

सर्वं स परमं नाम पूरकं चेदमुच्यते ।
तत्रोत्पन्नं यथाकाशं निश्चलस्थानवर्जितम् ॥ २० ॥

इदं शान्तं तथा पुत्र ब्रूह्येनं च स्वतन्त्रतः ।
नन्दिना क्रियते मुद्रा ओष्ठौ तत्र प्रपीडितौ ॥ २१ ॥

p. 87b) शिवं ध्यात्वा मुनीन्द्रैस्तु न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।
सन्तुष्टोहं महाभोगिर्कथितं ते स्वतन्त्रतः ॥ २२ ॥

मयातीतं परं शान्तं वाग्जाल परिवर्जितम् ।
मद्भावसन्धिमाख्यातं भावयेच्च पुनः पुनः ॥ २३ ॥

अभावे भावना चात्र महार्थ हितलोचनः ।
न शक्नोमि महाभोगिन्यदि जन्मशतैरपि ॥ २४ ॥

भावयेत् परमानन्दं यः स्वं वेदसमुक्तितम् ।
अनन्तं शून्यमित्युक्तं हृच्छून्यं रूपवर्जितम् ॥ २५ ॥

नान्तः शरीरे संस्था तु न बाह्ये तु कदाचन ।
सर्वं समरसं नाम निष्ठाशून्यं प्रवर्तते ॥ २६ ॥

परे शून्ये प्रलीनास्ते स्वरूपं नैव विद्यते ।
मनोबुद्धिरहङ्कारं स्थितं माद्वीकशूलवत् ॥ २७ ॥

p. 88a) इन्द्रियाणि तु शून्यानि परे शून्ये लयं गताः ।
परे शून्ये यदालीनः स्वरूपं नैव दृश्यते ॥ २८ ॥

तूर्यैः पटरुनादैश्च जनकोलाहलैस्तथा।
युक्ति तत्त्वस्य निष्णातो न मनः परिचाल्यते॥ २९॥

मयाबन्धं कृतं वत्स स्थानं ध्यानं चराचरम्।
केवलस्य कुतः स्थानं ध्यानं तस्य न विद्यते॥ ३०॥

धारणादि न चास्तीति सर्वशून्यं च निर्गुणम्।
निर्गुणं च परं भित्त्वा भित्त्वा चैव मया कृतम्॥ ३१॥

स्वेच्छया स रसं नाम अत्युच्छिन्नं समन्ततः।
धनुर्धरो यथा शूर आकर्णं पूरयेच्छरः॥ ३२॥

लक्ष्यं भित्वा ततो लक्ष्यमेवं योगी सताहितः।
न धनुर्न च वा काण्डं लक्ष्यं पुरुषमेव च॥ ३३॥

एवं ज्ञात्वा परं तत्त्वं स्थितं व्योमनि व्योमवत्।
p. 88b) आपूर्यान्यतमं काण्डं स्तम्भ दृष्टि व्यवस्थितम्॥ ३४॥

इदं तत्त्वं यदा प्राप्तं न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।

न चित्तं न च वा बुद्धिर्न स्थानं वर्णमेव च ॥ ३५ ॥

न च ध्यानं न वा ध्येयं न ग्रन्थिर्वायुमेव च ।
न ग्रन्थं न च वा ग्रन्थी न बिन्दुं नादमेव च ॥ ३६ ॥

न लक्ष्यं न च वा लक्षी न शिखा तुर्यमेव च ।
तेदौ मध्यं यदा प्राप्त न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ ३७ ॥

न वायुं न च वा काशं न वह्निं सलिलं तथा ।
न सोमं न च वा सूर्यं न ब्रह्मा विष्णुरेव च ॥ ३८ ॥

न रुद्रं न च वा कालमीश्वरं शिवमेव च ।
अनाख्यं च निराभासं निस्तत्त्वं च निराश्रयम् ॥ ३९ ॥

छन्नं सर्वगतं शान्तं स्थितं व्योमेषु व्योमवत् ।
तदा प्रवर्तते किञ्चित् पश्यमेन पुनः पुनः ॥ ४० ॥

p. 89a) तन्मानं च पुनः कृत्वा स्थूलं शून्ये प्रलीयते ।
सूक्ष्मं शून्यं यदा प्राप्तं परे शून्ये प्रलीयते ॥ ४१ ॥

तस्मिन् स्थाने शुभे प्राप्ते निश्चले निर्गुणे तथा।
तत्रैव धारयेच्चित्तं यदन्योस्तीति कारणम्॥ ४२॥

एषा सा परमाकाष्ठा परं चित्तं तथैव च।
एषा सा परमा बुद्धिः परा चापि प्रवर्तते॥ ४३॥

योगिनस्तु ततः प्रश्नं पतते नात्रसंशयः।
इदं विष्णुर्विजानीयात् पाशः क्रोधेन च्छिद्यते॥ ४४॥

महतां सर्वदेवानां मत्वादेवश्च कीर्तितः।
तारयेच्च प्रजाः सर्वास्तुम्बुरुस्तेन चोच्यते॥ ४५॥

ईश्वरत्वे तथापीष ईश्वरत्वं प्रकीर्तितम्।
हरते सर्वपापानि हरो देवः प्रकीर्तितः॥ ४६॥

लयनं सर्व जातीनां लयनाल्लिङ्गमुच्यते।
एवं सर्वगतं देवं ब्रह्मरूपो न निर्मलः॥ ४७॥

क्रिमिकीटपतङ्गेषु स्थावरे जङ्गमेषु च ।
यत्किञ्चिद्वाङ्मयं सर्वं सृष्टिदेवं पकीर्तितम् ॥ ४८ ॥

तस्य देवातिदेवस्य शक्तिर्नादयते जगत् ।
एवं सर्वगतं शून्यं हृदये तत्र लक्षयेत् ॥ ४९ ॥

यदि सर्वगतं देव शून्यं ब्रूहि किमुच्यते ।
अथ शून्यं परं ब्रह्मलक्षणं ग्रहणं कुतः ॥ ५० ॥

भगवन्देवदेवेश चन्द्रार्धकृतशेखर ।
एतत् प्रश्नं परं गुह्यं प्रसादं कुरु शूलभृत् ॥ ५१ ॥

षडङ्गेन तु योगेन हृद्यं शून्यं तु ग्राहयेत् ।
पूर्णं निवर्तनं तेन पूर्णं भावं च लक्षयेत् ॥ ५२ ॥

पूर्णाहुतिं ततो दद्याद्दीक्षाकाले समाश्रिते ।
p. 90a) भावितात्मा स योगेन सिद्धिः खेचरतां व्रजेत् ॥ ५३ ॥

प्राणायामं तथा ध्यानं प्रत्याहारं च धारणा ।

तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥ ५४ ॥

एतज्ज्ञान मयं प्रोक्तं ज्ञेयं शून्यं प्रकीर्तितम् ।
इन्द्रियाश्च ततः शून्यं चित्तं शून्यं तथैव च ॥ ५५ ॥

बुद्धिशून्यं विजानीयादात्मशून्यं ततः पुनः ।
अग्निशून्यं ततः कृत्वा धर्मशून्यं च निष्कलम् ॥ ५६ ॥

निर्धुमं च परं शून्यं कुम्भमध्ये जलं यथा ।
हिमकाले तु संप्राप्ते विवर्णं निश्चलं भवेत् ॥ ५७ ॥

एवं खंकाष्ठधूस्तद्वत्खतिष्ठे द्विनियोजयेत् ।
इदं तत्वं यदाप्राप्तं पश्यते? जन्म बन्धनात् ॥ ५८ ॥

p. 90b) न प्रवर्तेत चाद्वैतं गृहस्थस्य कदाचन ।
इन्द्रियेभ्यो यतः सक्तः सक्तोमात्सर्य एव च ॥ ५९ ॥

अविद्या ग्राहयेद्रागमतरागं पुनः पुनः ।
तस्मान्निवर्तते तत्वं चित्तं येन न निर्जितम् ॥ ६० ॥

निर्जितं च यदा चित्तं तदा श्रेयः प्रवर्तते ।
शान्तो दान्तो जितक्रोधो भिक्षाशी विगत स्पृहः ॥ ६१ ॥

इदं तु योगिने दृष्ट्वा नन्दनीयः प्रयत्नतः ।
दर्शनान्मोचयेत् पापं स्पर्शनाद्दीक्षितो भवेत् ॥ ६२ ॥

आलापात्गात्र?संपर्काद्भोजनाच्छयनासनात् ।
कुलानद्धरते स्कन्द दशपूर्वान्दशापरान् ॥ ६३ ॥

पक्वं चैव प्रतिज्ञानं घटिका च चतुर्विधाम् ।
प्रथमं धूलि भेदं च द्वितीयं हृच्छेदबन्धनम् ॥ ६४ ॥

p. 91a) तृतीयं ग्रन्थि भेदं च चतुर्थं परमुच्यते ।
चित्तसम्बोधमात्रेण कथं गृह्णन्ति तत्पदम् ॥ ६५ ॥

केन वा गृह्यते चित्तं कस्मिन् स्थाने प्रलीयते ।
देवदेव महादेव सर्वस्तत्त्वार्थभेदक ॥ ६६ ॥

ब्रूहि मे परमं ज्ञानं येन सिद्ध्यन्ति साधकाः॥

खटिका प्रोच्यते मोक्षमुद्धरेत् ग्रन्थि भेदतः।
खमिव परमं ज्ञात्वा खटिकेषा प्रकीर्तिता॥ ६७॥

चित्तं चित्ते तु सङ्गृह्य बुद्धौ बुद्धिं तथैव च।
सा तु बुद्धिः पराज्ञेया तत्वमार्गानु सारिणी॥ ६८॥

शृणु शून्यस्य वै लक्ष्यं धरं विशति तत्क्षणात्।
प्रविष्टे च परे तत्वे समत्वं जायते क्षणात्॥ ६९॥

p. 91b) समत्वं च यदा प्राप्तं परानन्दं प्रजायते।
परानन्दं यदा प्राप्तं न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ ७०॥

प्रविशेत् तन्मयो भूत्वा शिवबीजेन साधकः।
तदा न श्रूयते शब्दं शङ्खभेरी स दुन्दुभिः॥ ७१॥

ताडितं च न बिन्देत ततस्तन्मयतां गतः।
एतत् ते परमं गुह्यं परं ज्ञेयं न संशयः॥ ७२॥

इदं प्रत्ययमापन्नं तत्गुरुः पाशहा भवेत्।
पुष्पं पत्रं फलं तोयं यो दीक्षां कुरुते नरः॥ ७३॥

नवनाभं ततो यागं कृतं तेन न संशयः।
अन्यथा कुरुते दीक्षां तत्गुरुर्ब्रह्महा भवेत्॥ ७४॥

भावनायास्तथा शैव द्वैतं चैवमशेषतः।
क्लिश्यन्ते ते महामूढाः संसारे च पुनः पुनः॥ ७५॥

द्वैतं चैव महाद्वैतं द्वैतैकत्वं तथैव च।
p. 92a) अद्वैतं न च वा द्वैतमतिर्मे परमार्थतः॥ ७६॥

वंशं नाममयाज्ञातं त्वत्प्रसादान्महेश्वर।
महारथं कीदृशं च जटा वै कीदृशी भवेत्॥ ७७॥

भास?नाम किमुत्पन्नं किं वा खट्वाङ्गमुच्यते।
संक्षेपाद्वददेवेश येन मोक्षं ध्रुवं भवेत्॥ ७८॥

भावयेच्चापरं शून्यमनन्तं परिवर्जितम् ।
भवच्छेदकरं शान्तं परं कस्मतदुच्यते ॥ ७९ ॥

जटावत् स्नापयेच्चित्तं जटा ह्येताः प्रकीर्तिताः ।
महास्नानं तदा प्रोक्तं महाव्रतं तदुच्यते ॥ ८० ॥

नास्ति तत्परमानन्दं चित्तकं चित्तवर्जितम् ।
ततः खकाष्टवत्तिष्ठेत् खट्वाङ्गं तादृशं भवेत् ॥ ८१ ॥

p. 92a) एवं गूढं विजानीयात् गुहवासी तथोच्यते ।
न नाम ग्रहणान् मुक्तो न काय तमनाच्छुचिः ॥ ८२ ॥

चित्तं धामयते प्राज्ञो मोक्ष इत्यभिधीयते ।
व्रतस्या चरणं कृत्वा योगं तत्र समभ्यसेत् ॥ ८४ ॥

मयातीते परंब्रह्म लोकत्रयविवर्जितम् ॥ ८५ ॥

व्रतेन सहिता योगाः स्वयं प्रोक्ता महेश्वर ।
योगहीन व्रतामुढा मुद्रा पञ्चक भूषिताः ॥ ८६ ॥

एतन्मे संशयं ब्रूहि येन निस्संशयो भवेत् ॥ ८७ ॥

व्रतेन सहिता योगाः सर्वं सिद्धि प्रदाः शुभाः ।
योगहीनव्रतामूढा न मुच्यन्ति कदाचन ॥ ८८ ॥

व्रतस्य चरणं कृत्वा लोकयात्रा विवर्जितम् ।
p. 93a) निस्पृहो निस्पृहे नित्यं समलोष्टाश्म काञ्चनः ॥ ८९ ॥

शब्दं स्पर्शं रसं रूपं गन्धं चैव तु पञ्चमम् ।
एतामुद्रा महत्यश्च मुच्यते चतुरं जगत् ॥ ९० ॥

इति मुक्तो व्रजेन्मोक्षं यत्र देवो निरञ्जनः ॥

इ * श्री * र्व * द्धा * नि * ण * गो * रं * मा * म् ॥

शिवं भवतु ॥

XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX
X
X title: timirodghaa.tatantra
X
X copied from ngmpp access no. 5/690 reel no: A 1380/9
X folios 34
X script: newari
X material: paper
X
X data entered by the staff of muktabodha under the
X direction of mark s.g. dyczkowski
X
X
X revision 0: april 6, 2012
X
XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX

त केशवार्जुना ॥

संजय उवाच ॥

उभायारथमा * * * * *?सान्तमो? ।

* * * * * * * * क्षरकास्व मनुत्तम * * * * * * ? भ्रां *?वत नियम कृतावुभौ ।

तस्मिं पितृगणं पूज्यनिविष्टौ सुलक्षणौ ॥

एकान्ते च * * * * * ?ल्यते च परस्परम् ।

कृताङ्जलिपुटि * *? अर्जुनावाक्यमब्रवीत् ॥

अर्जुन उवाच ॥

सैन्ययोरुभयोरूढा उद्यतो युद्धपाणयः ।
शङ्खतूर्यैश्च भेरिश्च सिंहनाद ह?तेरधौ ॥

गीतया कथितम्पूर्वं व्याकुलेस्तस्य मे नमे ।
नावधारितया कृष्ण तज्ज्ञेयं ममरं पदम् ॥

पूर्वयुद्धे स्वयमेव पुनः पुनरे? भाषसे ।
च्छिन्दभिन्दवधस्वेति राज्यकुर्याद क *?क ॥

प्रधानशत्रू वाक्येति वधयस्तु मरिन्दमः ।
ज्ञान तेन पुनर्वक्त्य सर्वशत्रु वधे कृते ॥

भगवानुवाच ।

यथा न लिप्यते पार्थ पुनः पापैः कथञ्चन ।
योगयुक्तं स विज्ञानम्पश्चाच्चेत्कथयाम्यहम् ॥

p. 2)

अर्जुन उवाच ॥

हत्वा सहोदरा भ्रातृज्ञातीनाञ्च कुलक्षयम् ।
भीतास्मिं नरकस्येहं ज्ञेयं कथयस्व मे ॥

कथं ज्ञान कथं ज्ञेयं परमात्मा कथम्भव ।
आत्मानम्वै कथञ्चेहमन्तरात्मा कथम्भवेत् ॥

सर्वमेतत् समाख्याहि यथा ज्ञास्यन्ति तत्वतः ।
ये नाहं योगयुक्तात्मा दुष्कृतं तरयाम्यहम् ॥

संसारसागरै घोरे पुत्रदारौहराकुले ।
ज्ञाति वान्धवमीनार्मेरर्थ ग्राहभयावहे ॥?

अगाधे मे प्लब्ध? दुर्गे महापातैस्तु दुस्तर ।
मज्जयानां च मात्रा हि यस्मिं संसारसागरे ॥

कुलालमिव वज्रस्य सुःखदुःखमशेषतः ।
स्वर्गनरके भ्रमच्छीघ्रं चक्रदाताहतं ॥

यथात्वं अब्दस्यपि? वा आगच्छन्ति व्रजन्ति च ।
एवं सर्वजगत्कृष्ण भ्रमन्ति संसारसागरात्? ॥

ज्ञानं मे कथय कृष्ण येन सूयाग?सम्भव ।
ज्ञातं मे कथय कृष्ण येन तूर्या? सम्भव ॥

उप? सं? न हिसां सा हि सरणा * * * * * ॥

ता * * * * * * * * * * * * * * *? ।

p. 2b)

यस्याहं प्रावयिष्यामि प्रसीद मम माधवः ।
यस्य तं लोकनाथस्य सदा तु ग्रहो * * *? ॥

तेन? रहिरंमदुर्ग नात्रकार्य वचारणाः ।?
तद्येवयमिद् * * *? नम्परमदुर्लभम् ॥

ये नाहं पुण्यपापेभ्यो न वध्नीया कदाचन ।

भगवानुवाच ॥

हन्तते कथयिष्यामि * * ? रव सुखावह ।
यथा न लिप्यते कर्मैं पद्मपत्रमिवाम्भसि ॥

शरीरेपि स्थितन्नित्यं न विन्दन्त्य विबोधतः ।
स एव न ततस्यान्त तं ज्ञेयं ममरं पदं ॥

यं प्राप्य लीयते जीवा यं प्राप्यं सृजते पुनः ।

क्षणे क्षणेन कौन्तेय तज्ञेयममरम्पदम् ।
मान्तेषा? क्षीणमेषाष्टा भागोक्षण क्षण द्वयं ॥

तुटि तुटि लवण द्वयोर्निमिषाष्टादशभिः।

प्राणो विनाभिकानां षष्टिं भिन्नांभिका प्रोक्ता षष्टिभिन्ना आवहते निसि।

अ * *? भव देवेशौ न मृयेत्व क्षरेत् पुनः।

स्थावरा जङ्गमा जीवा उपजीवन्ति तं सदा॥

उस्वसं निस्वसं तस्थायं प्रानमिवर्त्तते।

p. 3a)

तेन? हि? *? कजराद्विश्वं व्यापिन्या या स्थितं प्रभुः।

रेमृसमालमङ्कृत्वा जिह्वादन्तान्तरे स्थितः॥

स्वयं मुच्चरिते यस्तु * *? ब्रह्म विष्णु? दुच्यते।

क?तरे स्थूल मे नाभि? क्षरते च पुनः पुनः॥

यासौ परापरा स्वस्थानक्षर व्यापकस्तदा।

लक्षङ्कृत्वा परशान्ते एकचित्तमनंधतुः॥

उच्चार्यन्तेन बाणेन बिन्दुः परमयोगिनः।

यावदुच्चरते ह्यात्मा सकलस्तु कलैस्सह॥

कलाती * *?तस्थायं लयं गच्छति रञ्जते ।
तत्रस्था भूयभूयाप्येक चित्तमनं धनु ॥

क्षणे नैकेन मुच्येत किं पुनः सततं नरः ।
उच्चार्यन्तु परं ज्ञात्वा अभावभावनां कुरु ॥

भ्रमरः कुसुमो सक्तः तथा योगपरायणः ।
दहन्त्यत्तवा व्रजेद्यस्तु सर्वभावान्विभावयेत् ॥

याग युक्तमतिन्द्रि? च? पर?निर्वाणमाप्नुयात् ।?
यस्य गमेन *? तदा पठते ग्रन्थविस्तराः ॥?

नव*विटचे? प्राज्ञः परं सुखमवाप्नुयात् ।?

p. 3b) वेदस्य विन्दनं नाम यो वेत्ति परमं पदम् ।
यस्तं विन्दति वेदज्ञ स भवेद् वेदपारगः ॥

वेदा विन्दति तत्वज्ञ वेदशास्त्र *? तत्पराः ।
परम ब्रह्म इति ज्ञात्वा स भवेद् वेदपारगः ॥

तृस्थानश्च तृमात्रश्च तृब्रह्मश्च तृरक्षरम् ।

अर्द्धमात्रार्द्ध यो वेत्ति स भवेद् वेदपारगः ॥

वेद विदुषस्तु यो विप्रौ ब्रह्मविद्यपरायणः ।
परं वत्तः स विज्ञाय स पूज्यनारये जगत् ॥

यस्मिन् दशेवसद्योगी स देशः परतां व्रजेत् ।
भुञ्जते सकृदप्येवं स कुलम्बा धृतो भवेत् ॥

आगमो ज्ञान नित्या च विज्ञेयश्च तदा गमैः ।

ज्ञेयश्च तत्त्वतो ज्ञात्वा त्यजेत् सत्वमशेषतः ।
ज्ञेयं ज्ञात्वा त्यजेज्ज्ञानं च्छन्दसत्वन्तथैव च ॥?

पलालमिव धान्याधी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः ।?
उल्कहस्तो यथा * स्वि? द्रव्यमालोक्यता व्रजेत् ॥?

p. 4a) ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य ततो ज्ञानम्परित्यजेत् ।
यथामृतेन तृप्तस्य क्षीरणास्ति प्रयोजनम् ॥

एवं तत्व प *? ज्ञात्वा वेदे नास्ति प्रयोजनम् ।
वेदेयाज्ञैस्तप्यैन्दानै कृयाशक्ति न हिन्सया ॥

मोक्षस्तु न भवे तेषां जन्ममृत्यु पुनः पुनः ।
पठित्वा चतुरावेदा धर्मशास्त्राण्यनेकधा ॥

यज्ञेयं नाभि विन्दन्ति सर्वे ते पशवस्मृता ।
आत्मानं येन विन्दन्ति पशुपाशैर्विमोहिताः ॥

भ्रमन्त्यस्तु चिरं कालं यान्योनेनैक सहस्त्रशः ।
अस्वमेधै स्वधैः सन्त्यैः तीर्थैदानैस्समैरपि ॥

परमात्मा विदुर्यस्तु तस्यासनैव पूरयेत् ।
तत्तेव ससतं सा * एकपादहस्तिनोनरः ॥?

एकध्यानेन योगीनां सममेतन्न संशयः ।
अग्नि * *? दिभिर्यज्ञे येन यष्टं स दक्षिणम् ॥

p. 4b) एकध्यानेन योगीनां सममेतन्न संशयः ।
पृथिच्छा? सर्वतो वानस्ततो सुचि समन्ततः ॥

एक * * ? योगीनां सममेतन्न संशयः ।

ब्रह्मचर्यदघ? सत्य अहिन्सा लक्षणेन तु ॥

एकध्यानेन योगीनां सममेतन्न संशयः ।
क्षर *?तानि सर्वाणि कुर्वन्ति गतिरागति ॥

योगिनो तत्व विद्यस्तु न क्षरेत परङ्गतः ।
नात्यन्तु भुक्षितश्चैव नान्यन्तनिमुनेन तु ॥

दुर्मनाव्याकुलो यस्य तस्य योगो न सिध्यति ।
शरीरं सुस्थितं यस्य मनं सोम्य तथैव च ॥

निर्तयोनिरतु क्षारी तस्य यागस्तु सिध्यति ।?

भगवानुवाच ॥

जीवं तृधा स्थितकायेदात्मादुच्चरितस्वयम् ।
नदते परमात्मात्मा कर्षणान्तनात्मनि ॥

p. 5a) पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्व विधीयते ।
यागस्यैतानि नामानि तृधासारमते परः ॥

वायुस्तेजस्तथाकास तृतीय जीव उ * * ? ।
जीवप्राणमिति प्रोक्तं वालाग्रसत कल्पितम् ॥

शब्दमूर्तिमयः प्राणाहृद्याकासेषु मुच्चरै ।
पूरितत्तेन सर्वाङ्ग पूरकस्तु तदुच्यते ॥

आपूयमानमचलं प्रतिष्ठं विस्वरूपेण संस्थितम् ।
निश्चल स्थिर भूतात्मा कुम्भकस्तेन उच्यते ॥

चरितं येन सर्वत्र त्रैलोक्य सचरारम् ।
सर्वभूतात्मकः शम्भुरेवकस्तु विधीयते ॥

ब्रह्माण पूरकम्विद्या कुम्भको विष्णुरुच्यते ।
रेचकै शङ्करश्चैव तृविधाधारणा स्मृतः ॥

पुण्यपाप विनिर्मुक्ता मुक्तिराकाशमात्मिका ।
एक मूर्ति त्रयो भागो ब्रह्मविष्णुमहेश्वरः ॥

सहजागन्तुकैपासैः नैरोधिक समुद्भवैः।

बद्ध समुच्यते नेद्यः तत्वभेद कृतेन तु।

अर्जुन उवाच॥

कथन्ते सहजा पासनैरोधिक कथम्भवेत्।

आगन्तुना? कथं कृष्ण कथमेकस्तु लीयते॥?

भगवानुवाच॥

शब्दस्पर्शश्च रूपश्च रसोगन्धस्तु पश्चमे।

मनोबुद्धिरहङ्कारा अष्टभिर्वै स्थितम्परः।

एतद्गणपरा मुञ्चे न गणात्मञ्च ते परम्॥

भाण्डे बीजं यथा न्यस्तं क्षणमेकं न मुञ्चति।

गर्भते स्वर्ग मध्ये च नरकम्बाम्ब कर्मभिः।

यदा स भवते जन्मतैर्गुणै संहिता भवेत्।

अर्जुन उवाच॥

भिन्न पश्चात्मके देहे गता पञ्च सुपञ्चधा ।
प्राणैर्विमुक्त देहस्य पुण्यपापक्ष तिष्ठति ॥

भगवानुवाच ॥

पृ ।येषु ष्वेषु स्वकृतंमपृयेषु च दुष्कृतम् ॥

विसृष्ट ध्यनयोगीनां ब्रह्ममध्य सनातनः ।
पुण्यपापम * श्चैव व्य?वाम्य पञ्चदेवता ॥

जीवेन सह गच्छन्ति यावदेहे प्रतिष्ठित ॥

कर्मरष्टगणेर्वद्ध तृधाजीवास्तु भाण्डयाः ।
नीयमानस्तुतिः पासैः शुभैर्वाप्य शुभैस्तथा ॥

p. 6a)

बध्यास्तै कर्मपासैस्तु पशवोबन्धने यथा ।
मुच्यते तस्वमात्मानं मोक्षस्तथाम्विधीयते ॥

एषान्ते रु * ? जापासानैरोधानिन्द्रियाणि च।
उदीर्णानि तु सर्वाणि प्रकीर्णानि रमन्ति तु॥

आगन्तुकापि ये पाशा लोभक्रोधसमन्वितम्।
कामराग विकीर्णस्तु शरीरन्तमोहन्ति वै॥

एवं तृविधपाशैस्तु बद्धामूह्यन्ति जन्तव।
भ्रमंत्यनेक जन्मानि शुभा नित्य शुभानि तु॥

आत्मानं यस्तु पश्ये तु योगी तु परमम्पदम्।
विघट्टयत्येक पाशां घनाग्नीव प्रभञ्जनम्॥

अर्जुन उवाच॥

कथं सञ्चरते ह्याषा ग * त *? यथेन तु।
उत्पथेकानि स्थानानि ते स्थानेकात्र तिष्ठति॥

प्राणिनाशुश्वसंकृत्वानिश्वशञ्च मुहुर्मुहुः।
निर्गतस्तु स्वदेहास्तु पुन प्रविसते तु किं ?॥

क्व स्थानं व्रजते तत्र किमथ?ञ्च निवर्तते ।
किन्ता वदात्मनाथायपराथाय मथापि वा ॥

एकाकी सञ्चरते किन्तु अथवा * * * ?वापि वा ।
एतन्मे संशयं कृष्णच्छेतु मर्हस्यशेषतः ॥

भगवानुवाच ॥

जाग्रस्वप्नं सुसुप्ते चैव तुर्य चैव तथा परम् ।
तुर्यावत्किम्वा? स्वतञ्च षट्स्थानानि परस्य तु ॥

जाग्रे तु हृदयस्थानं कण्ठे स्वप्नसमादिशेत् ।
सुषुप्तं नेत्रयाश्चैव तूर्यन्तु मूर्द्धनि स्थितम् ॥

न * * *? तूर्यवस्था तु नासाग्रैतीतमेव च ।
एवं सञ्चरते ह्यात्मा योगिनान्तु सदा स्थितम् ॥

जाग्रे तु ब्रह्मणश्चैव स्वप्ने विष्णु सदा स्थितः ।

स्थित रुद्र सुषुप्तेषु ईश्वरः तूर्यमास्थितं ॥

सदासिवस्तु तूर्यान्ते तस्यातीते परः शिवः ।
आत्मना निर्गम हूत्वाने नैव विशने पुनः ॥

सहपूर्याष्टकै गच्छै सकलस्तु कलैस्सह ।
त्यक्त्वा गमविसे ह्यात्मामममृतस्या प्रकारणा ॥

तस्यागम पक्षन्तु आगच्छ ह्यात्मन प्रति ।
p. 7a) सर्वैः स * * *? भूयाप्राणाना कारणात् ॥?

यातं जननि यागा तु स मुक्तन्सर्व वन्धनः ।?
अज्ञात्वा * *? गर्भ? संसारा पच्यते बहुम् ॥

यावदेतनमुञ्चेत शब्दादिगुणमस्तकम् ।
भूयोपि बध्यते तेभासंसारा पच्यते बहूम् ॥

शब्दस्पर्श स्व * *? सूलमं? गच्छति ब्रह्मणे ।
रूपरसोमनश्चैव विष्णुनीलयतां व्रजेत् ॥

अहङ्कारश्च शन्धश्च? लयं गच्छन्ति सङ्करः।
याशौ परापरालीना अमृतत्व?ञ्च गच्छति॥

पूरक कुम्भकलीनं? कुम्भा?कारेचतं स्पृसेत्।?
रेचकापि परसान्तेय उत्पदमनामयम्॥

यच्छते? * *?जुन? क्षिप्तं क्षीरक्षीर घृते घृतम्।
अविषेयम्भवेतदुत्परमात्मानमात्मनि॥

त्यत्तवाष्ट? गणवर्गन्तु बन्धा मुक्ता व्रजेत्परम्।
मुद्य?पुन * * * * सान्तथा विधीयते॥?

* *?सद्भावज्ज्ञेयन्तु विजित्यनुक्त क्षणेन तु।?

ज्ञानमात्रेण मुच्यन्ते किं पुनः यागधारणा।
परतरं नास्ति वेदैर्यन्तु तदा क्ष?र॥

तत्क्षणं निस्यते सर्वब्रह्महत्यादि वातकैः।
सन्धासन्धक्षणा तु स्वपुण्यपाप विवर्जित?॥

* * ?र्विमुक्तस्तु तत्वभेद कृतेन तु रिति॥ ०॥

अर्जुन उवाच ॥

यत्वया कथितं ब्रह्मज्ञानम्परमदुर्लभम् ।
अरुपञ्चमविज्ञान * * * * * * * ? ॥

ध्यानयोग सदाश्चैव अहन्यहनि योगिनः ।
इहत्र प्रत्ययङ्किञ्चि ब्रूहिमे मधुसदनः ॥

भगवानुवाच ॥

* * * * * * * * * *ग्नि प्रज्वलनन्तथा ।?
तुला पुरुष विज्ञान सट्चाक्रामणमेव च ॥?

गिरिक्षेपिच्छितेभ्यासौ ज्योतिदर्शन तथा ।
* * *? तानि योगानां ब्रह्मविद्याभ्यसे कृते ।
अष्टप्रत्ययोन्यतरं सिद्धिस्तु परदर्शने ॥

सा सिद्धि परमाज्ञेया प्रत्यक्षदर्शनेन तु ।
अन्यपि विना ज्ञानन्तु प्रज्वलयन्ति योगिनः ॥

महाख्याति सत्वस्य अग्निप्रज्वलनम्महत्।
वीजानां संहर तत्वेन पुराहन्ति धापिताम्॥

संहरन्तु तथा चैव पुनर्लघुतरम्भवेत्।

p. 8)

बुद्धिर्मनस्त्वहङ्कार शब्दस्य शञ्चरूपध्याः।
रसगन्धामेव वाष्टो प्राणा * * * * * * ॥?

* * * * * * * * * * * * *? कृतो यथा।
प्रविशेत परदेहलया मृतकस्य तु॥

चालनाज्ञापनङ्कृत्वा पुनः शीघ्रं निवर्त्तया।
स्थिर बुद्धिं च सन्मूढः ब्रह्मविद्ब्रह्मणे॥

स्वेतः पिङ्गलायान्तु वै नाभ्या स्वपुरं प्रविसे पुनः।
परमानेन कर्तव्य प्रवेसो निर्गमस्तथा॥

कदाविलम्ब सा * *?मुहु परपुरं गतः।

त ज्ञाति सीलो भवति तस्माच्छीघ्रं निवर्तयेत् ॥

प्रयाग घटिका कृत्वा जिह्वातल न च्छादयेत् ।
सद्ये * *? भवति स्व * *? यायेन संशयः ॥

स्वकाम भवते मृत्यु न कालवसो भवेत् ।
अनागतमतीते वा स्वच्छन्दो योगिनो भवेत् ॥

* * * * * * * * * *?पद्मासनं शुभं ।
परशान्त लयं गच्छविमुक्तया सवन्धनैः ॥

समाप्ते योगिनां योगे यम्यस्ये स्पृशतेपि वा ।
यस्य सम्भ * * * * * * * * * * * *? ॥

तथा विष्णु सम * तिनासाग्रे निसि दर्शयम् ।
प्रत्तया जायते ह्येवा अग्नेयाधारणा न्यसेत् ॥

विष्णु ज्ञान * * * * ? नासाग्रे योगिनस्य तु ।
महापातक युक्तोपि मुच्यते नात्र संशयः ॥

रेचक पूरकयो मध्ये कुम्भके नैव योगिनाम्।

संहर्षणे क्षिप्ता? वह्नि प्रकाशोच्यन्तराद्बहि ॥

एवं प्रवर्तना मध्य स्त्रद्धया परमाप्नुयः।

सम्वत्सरेण सिद्धतव्याग्नेयीन्धारणा? भ्यसेत्? ॥

* * ?न्नोहहं यस्या सिद्धयते नात्र संशयः।

* प्रसन्ना नमो याव? इहत्र प्रत्ययेन तु ॥

येषा पर्वत धातूनां यवदह्यन्ति धान्यता।

कृत यकृता? दाषादह्यंत प्राण निग्रहा ॥

कृत्वायाप सहस्राणि पश्चा ध्यानपरा भवेत्॥

ध्यानं सोधयते सर्व तु * * * * * * * ।?

* * * * * * * * * * * * * * * * ॥?

* * * * * * * * * * * * * * * * ।?

p. 18) दुष्कृतान्येकसः कृत्वा महापातक जात्येपि ॥

अग्नेयं धारणं ध्यात्वा भग्नी भवतिकास्त?वत्।
ब्रह्महत्या सहस्राणि असम्यायमनानि * * * *? ॥

* नेन योगेन सर्वन्नस्यन्ति तत्क्षणात्।
यथा महासमृद्धाग्नि वारिधारैर्न्नवार्यति ॥

योगिना तत्वविद्यस्तु वर्णावर्णैर्न्ननाश्यते? ।
भक्षयित्वा विषं यद्वद्मन्त्रीणो व जीवति ॥

तथा ब्रह्मविदो नित्यं कुकर्म नरकं वसेत्॥
अगाधे संलले? यद्वनिमज्येद * * * * * * * * ॥?

अभक्षभक्षी तथासौ चीनिमज्ये तत्वभिर्भिन्ना।
काशकारकृमि यद्वदथवत्वाक्षयं व्रजेत्॥

कर्माकर्मैरनेकस्तुरंतवीवध्वावतिष्ठति।
तावत् सत्पञ्चासौ चञ्च जप यजुहुतन्तथा॥

दानाध्ययन तीथञ्च यावद्ब्रह्मन्न विन्दति।

परम्ब्रह्म विदुर्यस्तु सर्वव्यापि भवेतु सः ॥

इतरेसुखदुःखानि भ्रमन्ते नेकजन्मनि ।
ज्ञात्वात्वेकाक्षरो ब्रह्ममात्रारेख विवर्जितम् ॥

आचर सर्ववर्णेषु न तु भक्षम्विचारयेत् ।
न मालिप्यति पापेन पुण्या नैव न लिप्यते ॥

स याति देहपतनं यत्तत्पदमनामयम् ।
तावद्वर्ण विशेषस्तु यावद्ब्रह्म न विन्दति ॥

विदित्वा तु परम्ब्रह्म सत्ववर्णद्विजातयः ।
यं ज्ञानेन हता स्मरन्ति गुरुभ्रातृ सबान्धवात् ॥

चिन्तघ्नीस्तु? वनवासा? वास? * * * * * * ? ।

ब्रह्मविद्या प्रभावेन याग युक्त बलेन च ।
पुण्यपापैर्विमुक्तैस्तु सयाति परमागति ॥

अव्यस्व?तव स्नेहेन कथितन्गुह्यमुत्तमम् ।
आत्मा वै स्वयमेव तु ज्ञानेनैव तु लभ्यते ॥

यं ज्ञाने तु जपं कुर्यान चैवा ज्ञाने नैव लभ्यते ॥

अयुतन्वो? सहस्रे च यच्छतानि तथैव च ।
*? होरात्रेण योगीनां जपसंख्या करोति यः ॥

मनोरन्यत्र निक्षिप्तं चक्षुरन्यत्र भारत ।
तथापि योगिनां योगो * * * * * *? प्रवर्तते? ।

p. 19) एत तत्वस् *? नना? जाप्य अनन्य मनसार्जुनः ।
ज्ञानिनामेष जाप्ययाङ्गजालविमोक्षणा ॥?

स्थिर बुद्धिरसन्मूढा ब्रह्म * * * * * *? ।
स्नातः सुचि जपेयस्तु व्रतनियम परायणा ॥

तत्सर्वं समभागन्तु ज्ञानेन तु कृतं भवम् ।
सृणुयाव समासेन षन्तिधं? यागलक्षणं ॥

स्वयम् प्राप्यैव विमुच्यन्ते सर्वद्वन्द्वे द्विजान्तमैः ।
प्राणायामस्तथा ध्यानं धारणाच्च तथा परा ॥

मुञ्चनाकर्षणाद्वातु नयेध? षष्ठ उच्यते? ।
एते तु षत्त्विधा यागा मुनीनां मोक्षदाः स्मृताः ॥

अनृतं कुभाजनश्चैव क्रोधमोहमहिन्स *? ।
*?धोणा? * * * * * * * * ?दहक *? मनादि विवर्जितः ।

नास्तिक्योपि सुखञ्चैव नराणांते कथञ्चन निति ॥

अर्जुन उवाच ॥

अद्यमे सफलं जन्म * * * * * * * *? ।
प्राप्तोहं भागमोक्षन्तु तत्व भेद कृतेन तु ॥

एव मुक्तो ज्ञानस्तस्य दण्डवत्पतितो भुविः ।
कृताञ्जलिपुटं भूक्ष्यपादयुस्मववन्दिर ॥

p. 10b)

नादा समं गच्छे व्रतचर्या व्रवीहिमे ।

ब्रह्मचारी व्रत * * * * * * * * * * ।?

* * * * * * * * * * * * * * * * * * ॥?

क्षेत्रपरानित्यञ्जपहोम परायणः ।

वा न प्रस्था भव वस्वान पाताद्वृद्धि ग्रास्तता ।?

चतु * * * * * * * * * * * * य ।?

प्राप्यैव विमुच्यन्ते सर्वद्वंद्वै द्विजात्ततैः ॥

ब्राह्मणं भोजयित्वा तु यथा सत्त्या तु दक्षिणा ।

अग्निहोत्रं मा * * * सत्य * * *?वदेत् ॥

सन्यस्तं मया सन्यस्तं मयान्यस्तं मयेति ॥

तृरुपां मुत्त्वा तृरुच्छै अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा चरति यामुनम्? ।

नखस्य? संदु?तेभ्यो अभयं या तु विद्यत इति ॥

सन्यस्त तद्विज दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करम् ॥

कम्पते दासना चन्द्राययापि विमना भवेत् ।?
देवता दैत्य सिद्धाश्च मुनयस्व वदन्ति च ॥

ये चास्य पूर्वकाके चिदुदुरनरकां गतः ॥

यस्य सम्भाषणङ्कुयातत्क्षणा विरम * *? ।
सृणु वकारमुच्यते सर्वपातकैः ॥?

p. 11) चतुर्थास्त्रमपदं प्राप्यं यायति भक्तितो नमे ।
सवन्साकपिलादान तत्फलं प्राप्नोति मान * * ॥?

यस्य वेस्ये सुचि स्रेष्ठेनिविष्टेसौ वितासने ।
सत्मार्जना प्रोक्षणङ्कृत्वा उपलेपनमेव च ॥

सौचिता सनामासाद्ययतीनान्तु निवेदने ।
अग्निहोत्र हुते वर्षफलं प्राप्नोति मानवः ॥

अक्रोधी चामस्चरी? च असठी न अधैस्तनी ।
आर्जवः सर्वत्र तेषु सर्व मे ब्रुहितरन्तः ॥?

ब्रह्मचारी सुचिर्दान्तसौचाचार सदारतः ।

सर्वलि वैश्यैस्तोत्यां? यावदन्धश्च भावसे ॥

एकान्त सुचिरन्नित्यं त* * * * * * व्या मु ।?

जापीनै यावदिच्छाभिर्निर्मलं नलवर्जितम् ॥

विविक्त देशमासाद्य ध्यानयोग सदारतः ।

त * द? तल्लयो भूत्वाध्याय एकान्त * * ॥?

मुक्तस्समाचारः व्रतनियमपरायणाम् ।

यान्ति * * * * * * * * * * * * * * ॥?

कामलोपश्च लोभ * * * * * * * * * ।?

* * * * * * * * * * * * मात्सर्यम् ॥?

सून्या द्वेष्यं सन्यस्तं मन्यसी भवेत् ।

माताश ब्राह्मणी नित्यक्ष * *? भगिनी ममः ॥?

दुकिता वैस्या परिहरन्तव्या बहुपुरुषमल विलिप्ताङ्ग ॥

रजक सिलातल सदृसं वेस्यावदन जघनञ्च ।

एकस्मिन् * * * * * * * * * *? मुत्तमम् ॥

स्वधर्मा यत्र लोकाभावस्त्राधिका भवेत् ।
अन्य भक्ताजना यत्र निन्दा यत्र प्रवर्त्तते ॥

* * * * * * * * * * * * * ? संवसेत् ।
ब्राह्मणानां सहस्रेभ्यो यतिरेको विसिष्यते ॥

ब्रह्माविष्णुस्वरु प्र? स्व? * * * ध्याम्यितरैस्सह ।
* * * * * * * * * रो देवा सवासवा ॥?

सर्वते तृप्तिमायान्ति दशवर्षाणि पञ्च च ।
सूर्य ध्यातयोर्यद्वन्मेरु सर्षपयोस्तथा ॥

अन्तरन्तु? * * * * * * * * * क्षुगृहस्थयाः ।?
तस्मात् स्राद्धे विशेषेषु पुण्येषु देवसेषु च ॥

मम षद्दिस्य दातव्यं यतीनां दन्तमक्षयमिति धा * *? ।

p. 23) यत्रभिक्षुरह तत्र सान्निध्यं जनयर्जुनः ।
पूजितेन तु पूज्याहं पूजिता सर्वदेवताः ॥

अन्त्यजपि तु मद्भक्तः चतुर्थ देविमाधर्मभागस्य हर्तानास्त्यत्र संसयः।
किं पुनः मम लिङ्गस्थं द्विषन्ते मत्परायणाः।

सुष्ककाष्ठ समाज्ञेया तेषां * * *त्य? गर्वयुक्तास्तु अहङ्कार यदुत्वया॥

कुदृष्ट यथमार्गेधो नरकं यान्ति मानवं।
न्यापि मम भक्तास्तु * *? ससाधु कुलजाधीरो ममलोक स गच्छति॥

विष्णुशङ्कर ब्रह्मा च विश्वदेवा पितृद्यपि।
मुखमासाद्य * * * * * * * * * * * ॥?

सकृद्भुक्ते नयति ना सर्वकोटि गुणम्भवत्।
किं पुनः बहुभिर्भुक्तै तेषु सङ्ख्या न विद्यते॥

यतीनां पूज्यना * * * * * * * * * दा।?
अथ मान कृते तेषां सर्वदेवाय मानि *? ॥?

आसनं सयनं यानं यतीच्छ * * वद्यजेत्।?
पादहीन ये यति द्विषन्तिमूढाश्चतुर्थासुमते द्विजम्॥

अन्यानि देवता भक्ता कुदृष्ट सा * * *? सम् ।?

आदिधर्मन्तु दूष्याभि * * * * * * * * ॥?

आदिधर्मामिमम्पुण्यं आसुमादुत्तरान्तरम् ।

यर साक्षात्स्वयम्विष्णु कथमिन्दन्ति मोहिता ॥

दृष्ट्वा कुपष * *? परलोकास्ते गतास्तमराङ्गतिम् ।

यदात्वमूकवधिरा जायते जन्मतः जन्मतः ॥

*? दोषन्निर्भयै * * * * * * * *?यत् ।

कीर्त्यमानेन विभजेत् तस्य यद्दुष्कृतम्प्रति ॥

त * * * ? क्रोधे अपुण्येषु दिवसेषु च ।

मम सुद्धिस्य * * * * * * * क्षयमिति ॥?

कार्तिकेय उवाच ॥

त्वया देव प्रविज्ञातं हन्सपरमनिर्णयं ।

तेनाहं श्रोतुमिच्छामि कथयस्व * * * *? ॥

समुद्दिष्टं किम्वाहन्सस्य लक्षणम् ।

किं प्रणक्षेतिनामानि किं रूपतयाकागति ॥

किं व्याप्ति तस्य देवेश शरीरस्तु * * * * ? ।
p. 24) सर्वं यथान्यायं कथयस्व प्रसादतः ॥

महेश्वर उवाच ॥

खेचरं खड्गसिद्धिं च पाताल पादुकन्तथा ।
अन्तर्ध्वानञ्चक्षुरेकत्र * * * * * * * ॥?

अणिमादिगुणादिनि सर्वहंस न सिध्यति ।
न हन्स रहिता मन्त्रा न शक्तिशिववर्जिता ॥

अनाथन्तु न तिष्ठन्ति अनिला व * * * * ।
निल न विना वह्निस्तु ज्वलन्तेन कदाचनः ॥

तद्वत्मन्तान सिद्ध्यन्ति दिनाहन्स न षट्मुख ।
* * * * * * * * * * * * * * * * ॥

एवं सर्वेषु मन्त्रेषु हन्साव्याप्यवस्थितः ।

तत्वहीना न सिद्ध्यन्ति जप्तकोटिसतैरपि ॥

तस्यान्सर्व * * * * * * * * * * * * ।

क्यनिलानल सप्तस्थं कालरुद्रञ्च भेदितम् ॥

शक्तिप्रवहते ह्येषा स्वतन्त्रायन्त्रवाहका ।

सकृदुब्दारिताद्यं? अ * * * * * * * * ? ॥

* * ?षा सुरापाणस्तय गुर्वायमायमम् ।

सर्वदहन्तिते क्षिपं सकृत्स्नरणमात्रकम् ॥

ययत्तुषारतो नित्यं विना यज्ञ * * * * ।?

* * * * * क दृष्टं सर्वदुःखातुरा शिवः ॥?

आगोपालाङ्गणा वालास्लेच्छास्त्रात्तत भाषिणाः ।

* *?र्जलगता सत्वाय च सत्वास्थला स्थिता ॥

* * * * * * न्धर्वा किन्नराप्सर सा गणा ।?

सिद्धविद्याधरादैत्यायन्य किम्पुरुषादयः ॥

ऋषया अप्सरायत्त्याराक्षसास्वपि सा मुक्ता ।?
भूतावता? योगिन्यो गुह्यकामातृकादयः ॥

सर्व ध्रुवन्ति तत्सर्वं हन्सोहन्स पुनः पुनः ।
न विजानन्तितेे मूढा देहस्थं यन्त्र * * ॥

* * * * *?मिष्यन्ति महामायासु वेष्ठिता ।
तावद्भ्रमन्ति संसारे घोराकारे महाभय ॥

यावन्न सक्तिपातायं सर्वतत्वमय स्विमो ।
मयातुराहितो स्कन्द मम भक्ति प्रचोदिता ॥

विन्दन्ति परमं हन्स सर्वसर्वगं शिवं ।
यथा निर्मष्येदधिषु उद्धृतं सर्पिरुत्तमम् ॥

एवं सर्व प्र?शास्त्रषु निर्मष्य ज्ञानमुत्तमं ।
उद्धृतं परमं हन्सं दिव्यतन्न सदाशिवः ॥

अकृत कर्मणादीञ्च सर्वदेहे व्यवस्थितं ।

गङ्गास्त्रोत्रप्रवाहन्तु विज्ञेय *?रमंशिव ॥

p. 24) स्वस्थ स्वस्थसुनिर्वाण कैवल्यं कलनात्मकम् ।
सु *?स्फटिक सङ्कासं विज्ञेयन्तु परापरं ॥

अनिर्देस्यमनौपम्य अव्युच्छिन्न समन्तति ।
सुनिर्वाणपरं हन्स सर्वतत्व प्रबोधकः ॥

तस्योद्धारम्प्रवक्ष्यामि शृणु षट्मुख तत्वतः ।
व्यापकानां द्वितीयस्य चतुर्थबीजमुत्तम ॥

अमृतबीज समाख्यातं षोडसकलसंयुतम् ।
वाहको दक्षिणे पक्षे सुषुम्ना ससमन्वितम् ॥

अभ्यास समरसोहन्स पञ्चादक्षर संयुतम् ।
क्रीडते कलयान्माघपक्षद्वयसमायुतं ॥

त्रिबिन्दु नेत्रमित्याहु मुखं नादप्रकीर्तितः ॥

स रुद्रस्वरणौ तस्य कल्या? * * *? स्थितम् ।
स एष परमो हन्स सर्वकारण कारणः ॥

सर्वात्मा प्रणवः प्राण सर्वव्यापि महेश्वरः ।
सर्वकृत्सर्वदर्शी च सर्वज्ञा सर्वगध्रुवः ॥

स्वयम्वैद्यो महायागी तारका भिन्नतारका ।
पुराषो पूर्वकः मुद्रायः सु *?तीति पुरन्दरः ॥?

वासवावसवा वासा हाष? देवामहाष्कृति? ।
p. 14b) क्षत्त्रज्ञ प्रणवो जीवाहं साख्येति च कीर्तितः ॥

महाकाल * * *? तेज महाबलपराक्रमाः ।
महावीर्या महाहन्सा महाभैरव रूपधृक् ॥

महादमो महान्साहा महासिद्धि प्रवर्तक इति ।

॥ हन्सनिर्णयन्नामः ॥

ॐ नमो महाभैरवाय ॥

कैलाशशिखरे रण्ये? सिद्धचारणसेविते ।

सिद्धयोगी समाकीर्णे नानाद्रूमसमन्विते ॥

अप्सरोगणा सङ्कीर्णेयक्षगन्धर्वसेविते ।

नाना * ? समाकीर्णे * नात्म?धातुविचित्रिते ॥

अनेक शिखरा कीर्णे गणगन्धर्वसेविते ।

सहस्त्रकिरणोपेते तप्तकांचन स प्रभः ॥

रिषिभिश्चैव * * *? सिद्धगण निषेविते ।

कर्णिकार वनान्तरं पुष्पित चम्पकादिभिः ॥

सर्जार्जुन कदम्बैश्च पाठल्यासौकशोभिता ।

तत्र तस्मिं गिरे रम्ये स्थितः सदृशे? या सह ॥

विचित्र्यरव खचितं आसनाकाण्चनामये ।

कपालमालिनन्देवयञ्च कुञ्च शोभितम् ॥

भुजे षोडश संयुक्तं कल द्वादश लोचने।
p. 26) जटावद्धार्द्ध? मकुटं शशाङ्ककृतशेखरम्॥

पि * *? स महाघोरं ज्वलन्तमेवपावकम्।
नागयज्ञोपवीती च महाघोनास कुण्डल॥

कटाके नागराजेन्द्रके पूरैकटि सूत्रकै।
शोभते देवदेवशं उमा देहार्द्धधारिणां॥

खट्वाङ्गधारिणां देव शूलपाणि भयानकम्।
* *? स?धरं वीरं तथा वज्रसि धारिणां॥

शक्ति परसु हस्ताश्च अक्षमालाविभूषितम्।
महाशवकरे भाजनं सुकृतकर्णि परितं॥

* *? च?र्मान्तरीयरुघण्टा? हस्तभयानकम्।
व्याघ्रचर्मपरीधानादुष्प्रेक्षतृदशैरपि॥

कोटराक्षमहाशम्भुः महा * * *? भूषिता।

लेलिहन्त महाजिह्वा संसारो सृष्टिकारकः ॥

कपालं वामहस्तस्थः तथा डमरुकं करः ।
चक्रपाणिधनुस्वैव सराद्यनेकरेनथा? ॥

प * हन्स? सृष्टीनश्च? तथा भट्टारिकङ्कर ।
हसन्तं किलकिलायन्त महाभीमौद्दहासितम् ॥

भैरवं रूपमाच्छाय महायोगिभिरावृतः ।
एवं सुख *? कालकस्य च अमृतम् ॥

मूर्खस्य शास्त्रे सद्भावं कुमारी स्त्री सुखं यथा ।
तथा पापेज्ञ? पुरुषः कालकस्य परामुख ॥

एव अज्ञानमूढस्तु शास्त्रजाल न मोहिता ।
न जानन्ति परानन्द कुलज्ञाना परामृता ॥

यथेष्ट सिद्धिदन्देवि इच्छाशक्तिरधिष्ठिता ।
येन येन तु वेशेन येन तेन व्रतेन वा ॥

न यत्र नागच्चाङ्कार? द्वैताद्वैतयथेप्सया ।
अवसरे तु यदाहं तदाहञ्चरुकोपमम् ॥

गृहस्था ब्रह्मचारी नासवासा? रूपि वा ।
यथेप्सवर्तमानस्य यत्र तत्र स्थितोपि वा ॥

यथा तथापि देवशि गुरुगुरुतरन्वितम् ।
रुद्रशक्ति सम? * च? सा? कलि? या? न सिध्यति ॥

इति तिमिरोद्घाटनै द्वितीयः पटलः ॥ २ ॥

भैरव उवाच ॥

ग्रन्थर्थे? वदते लोके अन्यथात्मा समाचरे? ।
* * * कार पण्डित्यै गर्विता कुराभिर्गता ॥

अक्षरात्मन सन्तुष्टा वेदसास्त्रार्थ चिन्तता ।
न बिन्दन्ति परं शान्तं मोहितामुर्थपण्डिता ॥

p. 15) तस्य कुतो ज्ञानं ग्रन्थकोटिशतैरपि ।
कर्पूरकुंकुमादीनिखरा वाहिनिरर्थकः ॥

विनया सिद्धातिश्चैव वहवक्षिप्य मोहिता ।
कौलवरानन्दं न विन्दन्ति वरानने ॥

मन्त्रतन्त्रेषु सन्तुष्टा किल्विस्वादित प्रत्ययः ।
अप्राप्य कौलिकज्ञानं सन्तुष्ट विनयनरा ॥

सुक्लपीतादि?ष्ठा अन्यष्वा? कटुकादिकं ।
कुण्डलावर्तुलाकारादहनाप्यायेनन्तथा ॥

एवमादि तथा चान्य भूतशुद्धि तथा परा ।
बिन्दुनाद * था? * सूक्ष्मं? स्वाध्वानमेव च ॥

ज्ञानतत्व विधिज्ञात्वाशैवासन्तुष्टमानवाः ।
कौलिकन्तु सर्वसद्भयागिनीनाश्यहात्मना ॥

* * * * * *? कीटा पशुत्वं परिकीर्तिता ।
सौवर्णमृत्मयावापि राजस्यमशकस्य च ॥

तादृशमतेनन्देवि कौलवैनपि कस्य च ।
गगनेषु पराचन्द्र कं? षुगजं यथा ॥

तथासौकते कौलीशभ्रमन्त पृथिवीतले ।
रञ्जि *?क्षरसंयुक्तं कौलविद्याक्षरान्वितम् ॥

ध्यानचिन्तामणिर्यागं अचिन्त्य चि *?देहे कथम्भवेत् ।
संशयो मे महादेव एतत्कथयस्वरस्वरः ॥

भैरव उवाच ॥

सर्वेषा या तु सा देवि हृदय सर्वदेहिना ।
ज्ञानापदसरन्नन बोधिता स विसुध्यति ॥

योसौ व्यापकरूपेण शिवशक्ति समेकतौ ।
रुद्रशक्तिरियन्देवि आवेश गुरुमुखे स्थितम् ॥

योसौ अचिन्त्यमन्त्याहु शिवं परमकारणः।
तस्यै सा निर्गता शक्ति नादबिन्दु प्रभेदिनी॥

तस्याच्चारितमात्रेण प्रत्ययाश्चोपजायते।
कर्पते * * *? ह पिण्डन्तु तस्यस्तोभ प्रजायते॥

आभ्यासे दिव्यविद्यते दिव्य देवि तत्र स्थितं।
तस्यमासस्तृभिर्देवि योगिनीभिर् * दर्शनम्॥

यस्य? तं दिव्य देवास्वपिमानस्था वरानने।
यथाभ्यास तया देवि यथा सृष्टि प्रवर्तते॥

हृदयं कम्पते पूर्वः तालुकोच्चारमेव च।
शिरश्च भ्रमते तस्य? सृष्टि संक्रान्ति लक्षणम्॥

एकैक भ्रामयेदेहं अङ्गप्रत्यङ्गसन्धिषु।
घूर्मिता सर्वदेहायं कौलविद्या प्रभावतः॥

p. 30) * * * निर्विकाराणि अवस्था कुरुतेप्सया ।
तेषु तेषुवते? भव्यं क्रीडते परमेश्वरी ॥

न च भूतपिसाचां वा तमोहेन च पीडिता ।
न चा * *?विरुद्रेय च पीडाविमुच्यते ॥

इच्छाशक्ति स्वरूपेण गुरुं भवति योगिनः ।
रत्यानन्दकरी देहे सर्वपापहरिम्परा ॥

पुत्रमित्रक * *णि सा *?धनसञ्चयं ।
इष्टा अनिष्टता यान्ति यागस्वादितमानसा ॥

पश्यते दिव्य देवाश्च विमानस्था वरानने ।
मन्त्रतन्त्र कृता* * * *?ष्टमचेतनं ॥

रुद्रशक्ति समावेशं नित्यावेशमचेतनं ।
दिव्यदेवैश्च संयोगा परमानन्दकारणम् ॥

ब्रह्माण्डो * * प्र * *? भुक्ति मु * फलप्रदा ।

रौद्रशक्ति समावेशं शब्दद्दष्टिषु जायते ॥

न जानाति दिवारात्रौ युक्त योगो वरानने ।

क्षुधातृषं न जानन्ति बहुपीडा न * *? वै? ॥

जायते हृष्टि तुष्टिश्च सदात्मानन्दमेव च ।

कुरुते चेतना युक्ता मुद्राबन्धमनेकधा ॥

कम्पनं गेयनृत्यञ्च विकार बहुविधस्तथा ।

कुरुते मलविकारण बहुजन्या स्वयङ्कृतम् ॥

धुनते च मलसर्द्ध? परा * * * *? स्थितम् ।

असत्य? यदि भवे चोक्तं दि *? नैव प्रवर्तते ॥

योगचिह्नन्न पाश्यते न विद्या भ्रमिता क्वचित् ।

भ्रमिता यदि भवे तस्य ततः यस्येति निश्चितम् ॥

अन्यथा शास्त्रकोटिषु एवं विन्न? प्रवर्तते ॥

इति तिमिरोद्धाटने चतुर्थः पटलः ॥ ४ ॥

भैरव उवाच ॥

सृणु देवि अधोद्ध्र्वे न कौल *? ना पदेशिकम् ।
* * * * * * * * *? भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥

यदा संक्रामित ज्ञानं तदा मुक्तिसुनिश्चितम् ।
कुलाल चक्रबद्धे विभ्रमति देहपञ्जरः ॥

* * * * *? ये सत्वाज्ञानवीयां प्रकाशितम् ।
भुञ्जते विधाता सा भुक्तिमुक्ति फलप्रदम् ॥

आकर्षण वशीकरणम् विद्वेषोच्चाटनमारणम् ।
राज *? त्माननञ्चैव स्तोभस्तम्भादिवास्तथा ॥

कुरुते प्रत्ययं हतं व्यव्य? सिद्धिमनेकधा ।
मन्त्र तन्त्रेषु ये चोक्ता तेपि विद्या प्रयच्छति ॥

स कर्मास्त संसिद्धा सर्वकर्मफलप्रदा ।
p. 18) सर्वतन्त्रान्तमा * *? सर्ववर्णेषु भेदिता ॥

मृतसंजीवनी सुभोस्तना?कर्षे तु चारुणा ।
स्तम्भकति पीताभासप्तमोच्चाटने स्मृता ॥

रिपुमृत्युकरा कृष्णा सङ्क्रामे रक्तवर्णिका ।
स्त्रिया विभाति पद्माभा मुक्त्यं कान्ति तेजसा ॥

अणिमा लघिमाश्चैव महिमां प्राप्तिरेव च ।
प्राकाम्य शिवतत्वञ्च वशित्वं यत्र कामताः ॥

स्त्रवणे?दर्शनादूरं अष्टमं परिकीर्तितम् ।
कौलिविद्या प्रभावेन ऐश्वयाष्ट गुणाम्भवेत् ॥

उत्पद्यते गुणा येन तत्प्रियं कथयाम्यहम् ॥

द्वादशानि च * * * * * * * *ता सर्वमर्सनम् ।?
गोपितव्यं प्रयत्नेन लेखकेन न लेखयेत् ॥

द्वादशानि व श्लोकानि सप्ताहेन वरानने ॥

ना पठे दियते त *? कर्णाकर्ण? सञ्चरेत् ।
तं लब्धा तु भवे सिद्धि उर्कर? सृष्टि समरसम् ॥

तत्क्षणावन्न ते मुद्रा खेचरी तु न संशयः ।
एक सृष्टिमयं बीजं एक रुद्रा तु खेचरी ॥

द्वावेतौ ज्ञेय नयनसाधि सान्ध पदे स्थितम् ।?
तत्पदे सस्थिता यागत्रैलोक्यमपि दर्शयेत् ॥

उत्पद्यन्तत्क्षणा देवः तृङ्का? * * कि सङ्भवेत् ।?

इति तिमिरोद्घाटने पञ्चमः पटलः ॥ ५ ॥

देव्युवाच ॥

कासोसंक्रामते शक्तिकानि चिह्नानि दर्शयेत् ।
सतास्ता? भाविकाराणि कुरुते देहसंस्थिता ॥

कथं संक्रमिताज्ञेया सङ्क्रान्ताका विधीयते ।
कथ चाक्रमणरत्ना अर्धोर्ध्व न कथं ब्रजेत्? ॥

*? यति कथं ज्ञेया केन कालेन सिद्धिदा ।
सिद्धस्य कानि चिह्नानि च तत्कथय परमेश्वरः ॥

भैरव उवाच ॥

यासा व्यापकरुपेण ब्रह्माण्डो स चराचरे ।
व्यापयित्वा अद्धोर्ध्वेन सर्वव्यापि तु सा स्मृता ॥

स बाह्याभ्यन्तरे देहे सर्वजन्तुषु संस्थिता ।
सदाचार्या?य देशे परदेहे तु सङ्क्रमे ॥

स्थिति गति अधोर्ध्वेन देह सङ्क्रान्ति लक्षणम् ।
अधसंहारसंक्रान्ति ऊर्ध्वसृष्टि वरानने ॥

स्थितिगति स्थिताने *? तृधायागप्रवर्त्ते ।

p. 32) एवं क्रमेण वेधव्यं त्रिविरेकेन मादिरात्? ॥

देहव्याप्यमधोर्ध्वेन पराशक्ति प्रवेशयेत् ।
यस्यैतानि तु चिह्नानि स गुरु *?क्षदा स्मृता ॥

कृत्वा सर्वोपचाराणि आत्मनेन धनेन वा ।
ग्राह्य तत्पर संज्ञानं गुरुवक्त्रेषु संस्थिता ॥

कौलोपदेशरत्नेन योगिना दिव्यदर्शनां ।
पश्येन्निमीलिताक्षेस्तु पुनर्प्रत्यक्षदर्शनात् ॥

योगिनी प्रथमं च्छायामात्र पुनः पुनः ।
यथाचाभ्यासते योग तथा रूपं प्रवर्तते ॥

पश्येति कृष्णरूपिणी रौद्री वा सौम्यरूपेण ।

नानाभरणभूषिता ।

दृष्टानष्टे स्थिता चैव बहुरूपेण यस्यते ॥

अन्तरिक्ष स्थिता नित्यं सर्व पश्यन्ति मातरम् ।
रौद्रभैरव रूपेण बहुयोगि परिवृताम् ॥

योगेश्वर प्रश्चैव आत्मानं *? स पश्यति ।
कौलिकं योग भवेन सम्प्राप्तेन वरानने ॥

पृथिव्यानां स्थितं द्रव्यं यन्दत्वा निरणी भवेत् ।
कौलोपदेशदातारं दुनृतं गुरुमोक्षदम् ॥

हृदयद्यस्तु संसारं तस्य? देयमतत्पर ॥

कौलज्ञानामृतं दिव्यं बहुते देषु संस्थित ।
तन्मया कथितं स्वल्पं कोटिनेदेषु? *?स्यते ॥

सप्ताविङ्सतिवर्षेषु कथिता सिद्धि खेचरी ।
नित्याभि युक्तो योगीशशीघ्रमेव स सिध्यति ॥

एवं सर्वमयाख्यातं यनया पृच्छितं प्रिये ॥ ० ॥

इति तिमिरोद्घाटने षष्ठः पटलः ॥ ६ ॥

देव्युवाच ॥

कथितन्ते महादेव कौले योगसुविस्तरं ।
क्रमेण * * रूपाणि दृष्ट्वा मोक्षम्कथम्भवेत् ॥

भैरव उवाच ॥

नित्याति युक्त योगीशः त्रैलोक्यम्पश्यतेखिलम् ।
भिन्न पश्यति ब्रह्माण्डं तस्याहः? शिवं व्रजेत् ॥

प्रथमे पश्यति रूपं स्वप्नान्ते चक्षुमीलिते ।
सततो भ्यास योगेन प्रत्यक्ष देवदर्शनम् ॥

वाचापि सृणोति तेषां स्पर्शैः वा गन्धमेव च ।
वलोत्कटस्तु योगीशः सत्याधिष्ठितमानसः ॥

दर्शये दिव्यरूपिणी सर्वलोकस्यचाम्बरे ।
आश्चर्य कारये नेकं? यथेष्टकारये स्वधी ॥

p. 20)

ग्रन्थार्थेन तु संयुक्तं वेदान्तेन तु संयुतम् ।
काव्यं कराति ललितं सालङ्कारमनोहरम् ॥

क्षोभयन्ति जगत्सर्वं रञ्जिकाचाररञ्जितम् ।
स्त्री पुरुषमावेशञ्च गेयं चैव मनोहरम् ॥

दिव्ययोग स्थितं योगीमनात्मानेन पश्यति ।
पाताले नागलोके च देव्या त्रिभुवनानि च ॥

मानुषानि विचित्राणि तृधोगुल्मलतानि च ।
द्विपदश्चतुष्पदश्चैव जलवारीमनेकधा ॥

देशमण्डलरम्यानि ग्रा * *? नगराणि च ।
अक्षराणि विचित्राणि अन्तरिक्षन्तु दर्शयेत् ॥

दीपान्तर समुद्राणि नद्योपवनपर्वता ।

पक्षिण्या विविधाकारं श्वा * * *?च विशेषतः॥

चन्द्रसूर्यविमानानि इन्द्रलोक स पश्यति।
दिशावाला पुरीरम्या ब्रह्मविष्णुपुरीस्तथा॥

दिव्यमानुष्यपाताला व्यापारं यः प्रवर्तते।
दर्शयन्ति परा शक्ति त्रैलोक्यं स चराचरम्॥

रुद्रस्य पुरी सहितं पञ्चवक्त्र? पूरशिवं।
सः सदाशिव परमं पराशक्तिरधिष्ठितम्॥

तस्योपरि शिवः शान्तः अव्यवच्छिन्न व्यवस्थितः।
ब्रह्माण्ड शक्ति * * द्य * * * ? परं व्रजेत्॥

व्योमातिते प * सान्त? मोक्षमुक्तिममवाप्नुः।
एतत्ते कथितं देवि क्रमेणैव परापरम्॥

कौलयाग स्थितन्देवि शीघ्रशान्तपदम्व्रजेत्।

इति तिमिरोद्घाटने सप्तमः पटलः ॥ ७ ॥

देव्युवाच ॥

मन्त्रविद्याक्षरे हीनं धेयधारण वर्जितः ।
कथं विज्ञायते ज्ञानं पञ्चरत्ना पदेशिकम्? ॥

भैरव उवाच ॥

कौल सृष्ट्यवतारन्तु पराग्रन्थार्थलक्षणम् ।
रुद्रशक्त्या पदेशन्तु गुरुवक्त्रेषु लभ्यते ॥

सर्वाणि मन्त्रतन्त्राणि देवता कल्पजल्पनम् ।
महतोपि न सिध्यन्ते रुद्रशक्ति विवर्जितम् ॥

हृदयं सर्वविद्यानां मन्त्रवीर्य परस्मृतः ।
रुद्रशक्ति समावेश यो न वेत्ति न सिद्ध्यति ॥

आलेख्यं कौलिकज्ञानं गुरुवक्त्रेषु संस्थितम् ।

कर्णे कर्णे तु संक्रामे दूरस्थो हि न संक्रमेत् ॥

विद्या ध्यानसमाधिश्च योगनादापदेशिकम् ।
p. 21) पञ्चरत्नापदेशानि ग्रन्थार्थे च तु लेखयेत् ॥

प्रथमं रत्ने तु संप्राप्ते अभ्यासे पलितनाशनं ।
ऊर्द्ध स? ज्वलितं देह परावस्थ? स गच्छति ॥

द्वितीयरत्नप्रभावेन गुरुसिष्येण तोषितम् ।
योगिनीचक्रसंमान्य यत्र तत्र व्यवस्थिताः ॥

तृतीय परदेहन्तु स्वदेहे शक्तिसंक्रमे ।
क्षोभयन्ति पुरः सर्वः समाधिस्थो महाबलः ॥

चतुर्थ भूचरी सिद्धि व्रजित्वा गच्छते पुनः ।
पञ्चमे खेचरी मुद्रा बद्धा चोर्द्धानि गच्छति ॥

उमा महेश्वरी पुरः व्रजित्वा गच्छते पुनः ।
अचिन्तितं भवे ध्यानं समाध्याय मनोन्मनी ॥

तत्र स्थिता महायोगी अखिलम् पश्यति जगत्।
निश्चिता भ्यासतो योगः अटव्यां पर्वते पि वा॥

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः शीघ्रं सिध्यति योगिनम्।
सिद्धविद्यावलोकितं कुरुते ने *? प्रत्ययम्? ॥

दृष्टा?पह मोहश्चैव उन्मादाषो * *?स्तथा।
स्थूलह्रस्वस्तथा दीर्घः वालवृद्धयुवानक॥

विश्वजालाग्नि? मध्ये तु संक्रामम * * * * ।?
* * * * * * * * * * * ग्न सूयवान्त वा॥?

स्तम्भये च महाबिन्दौ? देहर्पसर्गपीडाश्च पसुकाष्व? सङ्क्रमे॥

पशुनाग्रहणं कुर्यात् स्वदेह परिवर्तते।
क्रीडते यागसंसिद्धा अनेकाकारप्रत्ययं॥

लोकालोकगतं सर्वं यद्वृत्तयेन यत्कृतम्।
यद्भविष्यमनागतं भयस्वायत्परासकम्॥

तत्समाधि स्थितन्यस्ये पराशक्ति प्रभावतः।
नित्य योगरतो योगी तत्कालस्य न संशयः॥ ० ॥

इति तिमिरोद्घाटने अष्टमः पटलः॥ ८ ॥

देव्युवाच ॥

कथमुत्पन्न पराशक्तिः त्रैलोक्य व्यापिनी कथम्।
ध्यायन्ति योगिना सर्वमोक्षमार्गप्रदायकः॥

भैरव उवाच ॥

सर्वदेवमयी देवि सर्वलोकापरिस्थितम्।
सर्वव्यापी अनादी च सर्वदेवेषु पूजितम्॥

व्याप्त चतुर्दश भुवना ब्रह्माणोपरिसंस्थितः।
शिवशक्ति स * *? न्तु सर्व * * * * * * ॥

p. 22) पद्मासनोपविष्टास्तु अ * * * *?मण्डलः।

जटा वक्षल * * * ब्रह्म * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * ।?

* * * * * * * * * * य योगमुपासते ॥?

सङ्खचक्रगदाधारी * * * *? मुपासते।

भस्मोद्धुलित खट्वाङ्गी कपालभरणोज्वला ॥

न रूपजटाधारी च हं ह्येव सुलोचने ।?

* *? पश्यति सुस्त्रोते? * * * *? मानसा ॥

ध्यायन्ति परमा शक्तिः ब्रह्मविष्णुमहेश्वरः ।

अन्यपिरिषयः सर्वे स देवासुर योगिनाम् ॥

देवेन्द्र *? न्द्रगुर्वादि ध्यायन्ति परमाकला ।

किंनु देविपुरापृष्टः दानवैश्च? महाबलैः ॥?

* * * * सर्वे मम स * णते गता ।?

मयापिध्यापिवा? शक्ति सर्व * *? तथैव च ॥?

आगता तत्क्षणा देव पराशक्ति मनामया।

* * * * * * * * * * * * * * * * ॥?

* * * * * या मिदं सर्वं * * * * * * ।?

* * * * * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * स्थिता।

योगिनी शतसहस्राणि लक्षकोटिमनेकधा॥

एकपि बहुरूपस्था व्याप्यवस्थपर * * ।

* * * * * * * * * * * * * * यकम्॥?

एका त्रिभेदभिन्ने सा बहु भेदेषु संस्थिता।

त्वत्प्रसादा तु माह्येका जातमात्रा महाबला॥

द्वितीया मध्यमा शक्ति य * *? नां मुखे स्थिता।

विद्या ध्यान समाधिश्च योगनादापदेसिकम्॥

रुद्रशक्ति समावेश ज्ञानसंक्रान्तिकारकम्।

* * * * * * * * ?मध्यमा शक्ति लक्षणम्॥

गुरुपदेशान्संसिद्धि आभ्यासात्वा?क्षदम्पदम् ।
द्वात्रिंशति मातृचक्रेषु तृतीया * * * *? ॥

* * * * ? तु यन्त्रधो किञ्चित्कालेन सर्वथा ।?
न भवन्ति गुणाह्येते दिव्यदर्शनमोक्षदा ॥

शक्ति तृतीय सङ्क्रान्ति कथिता * * * * *? ।
p. 23) सन्मार्गवतरेण योगीषीनां कुलगता ॥

सुखोप * * * * * * * * * * *? स्मृतः ।
तत्वजालपरित्यज्य सञ्तु?लार्थन्तु कौलिकम् ॥

* *? दसि सिद्ध्यार्थं सगुरुं सद्य प्रत्ययः ।
दुर्लभं सगुरुः देवि दुर्लभं गुरुतरं महत् ॥

दुर्लभा प्राप्ति तस्यैव प्राप्त मा * * * * * यः ।?
तस्याह्येवं प्रयत्नेन कौल पीठेपि दुर्लभः ॥

बहु देवे गता कश्चित् क्षेत्रपीठानि पर्यटे ।

वर्षे द्वादमु * * * * * ? नी नैव पश्यति ॥

सुसंस्कृतोपि देवेशि बहुग्रन्थ्यर्थपण्डितः ।
भ्रमे पीठोपपीठानि अकृतार्थानि वर्तते ॥

अ * * * *?मुर्खः सर्वग्रन्थार्थवर्जितम् ।
कौलबीजेन लब्ध्वेन? सिद्धित्रैलोक्यमुज्वला ॥

एवं कौलपरं योगं सर्वतन्त्रान्तमोत्तमम् ।
तं मोक्षदा देवि गोपनीयं पुनः पुनः ॥

इति तिमिरोद्घाटने नवमः पटलः ॥ ९ ॥

भैरव उवाच ॥

गुप्तग्रन्थमिदन्द *? सुप्रियस्यापि गोपयेत् ।
नवाभिन्नरसादेया निन्दकेष्टष्टि न स्वपि ॥

व्यसनी वा वनकुजः क्रोधेन कुनखी शठः ।

चपलखखलश्चैव हीनादुःसूचकक्षयी ॥

व्याधिनस्तार्किकश्चैव नित्याचारोपरव्रती ।
काकसुरो अल्पविद्यामत्सरी समयदूषक ॥

अन्तजः साहासे * *? स्यामदन्ताजितेन्द्रियः ।
गुरुदेव द्विजादीनां निन्दके वृषलीपति ॥

रङ्गोपजीवि? * मुनः? क्षतस्य? कामतत्परम् ।
तार्क्षकणा नास्तिकोवृक? अदः क्रूरौ स्वधर्मपरिवर्जितः ॥

परोधामवकश्चैव पण्य?स्त्रीपरदारकम् ।
* * * * * * * * * * वि स्वापि संस्कृताः ॥?

पुत्रकार्परलिङ्गिता * * * * * * * * ? ।
सुद्धादानो जित क्रोधः * * * * * * * ॥

p. 24) * * * * * * * *? कृतघ्नः समतेन्द्रियः ।
सान्तात्मा शिवसक्ता * * *? वा * दृढ ॥

सहिष्णुश्चौ? जितमिति क्षणद्व * * * * *? ।
मम सर्वेषु भू?तेषु ज्ञातीनि?गतमत्सरः ॥

सदासक्तगुरुदेवः सर्वसास्त्रार्थ कुशली? ।

शिवशासन तत्परं ।

संसार र * * * *? कर्ताकरुणिकस्तथा ।?
मत्तासीगतसङ्ग स्ववितृस्तुस्व्या?कुलोलुपः ॥

सर्वोपवास नियमः सयुक्तात्मा प्रिय * *? ।
* * * * * * * * * * * * द्याव्रत सम्यक् ॥

साधु समयपालकः प्रसान्त ग्रहक्षुद्धीरसुद्धात्मा गुरुपूजकः सुशीलशान्तिका वाघी?
ब्रह्माणो नान्येवर्णकः तृष्कालो भाविनि भूतस्य पञ्चकेषु न दापयेत् ।

सुपरिक्षिते सिष्येषु गुप्तेशु दृढे हितञ्च ।
एतेषु वर्णेषु दापयेत् * तृणवत्मन्यसे द्रव्यं गुरार्थे स्त्री पुत्रादिकं ।
एवं योवर्तयेत्किष् *?सर्वाभ्यार? निवेदयेत् ॥

एतेषां परमन्तत्वं समदिक्षुमवि * *? ।
* त्व प्रियार्थे मयाख्यातं न देयं न परीक्षितम् ॥

मात्मा बहुविधा द्रष्टा परतत्वा * * * *? ।
द्रव्येण मयाया वापि * * * * * * पुनः ॥?

तत्वोपहार कुर्वन्ति नाभिनन्दति तत्वैव आत्मा प्रत्ययकारका ।
ध्यायते यस्तु युक्तात्मा द्वादसाद्वा न तन्द्रितम् ॥

अणिमाद्यादि संयुक्त सर्वज्ञत्वो प्रजायते ।
तृवक्रं पञ्चभिः विप्रैः षट्सप्ताष्टभिः *?न्त्रिये ॥

दशद्वाशभिर्वर्षैः विट्मूत्रद्रेषुदापत्मुपरीक्षित दातव्यं नरनास्तिक निन्दके ।

मायानि न तथा कुरुः न देयं यस्य कस्यचित् ।
यथा अयुक्ति मन्त्री सिष्यं? यदि तु? भिवै? गुरुम् ॥

न तस्य? कर्ण?माख्यातं सद्य एव विभेदयेत् ।
ब्रह्मणोमायवा यस्तु म्लेच्छश्चापि नमायवा ॥

म्लेच्छश्चापि प्रदातव्यं नन्ताया न दापयेत्।
शिवतुल्यस्यमाचार्या लोकचानुग्रहं कुरु॥

द्रव्यलोभपरिप्राप्तेन तु बन्धस्वजनैस्तथा।
गुरु य वा तन्तुयास्यति? संग्रहः अध्यायनरुव्यारव्यानं? गुरु सिष्य प्रबोधकः।

* पू * *? तथा ज्ञेयं दृष्ट्वा च सुचिरं गुरुः।
निवेदये * * * * ?पूजये च तथा गुरुः॥

परा संक्रान्ति यद्देवि न दद्या च स्फुटप्रिये।
अर्थार्थे? किञ्चिन्मे? वेद्यनं द्यात सिष्य सुव्रते॥

अन्येषा * * * *? षा गुह्य गत? प्रकाशते।
तस्मान्नदेयं नारव्यैयं सारग्रन्थर्थ मोक्षदं॥

इति तिमिरोद्घाटने दशमः पटलः॥ १०॥

देव्युवाच॥

कोष्ठयोगामृता योगद्वाभ्यां लक्षणमादिशेत् ।
मोक्षदं सुखसाध्यञ्च तन्मे ब्रूहि गुणादिकम् ॥

भैरव उवाच ॥

पूर्वयागमयाख्यातं षडङ्ग षत्विधं प्रिये ।
अनेकाकारभेदेन ध्यानमन्त्रादिकर्मणि ॥

काष्ठक्रियाधिकन्देवि अमृतयागमचिन्तये ।
गच्छतिष्ठ ततो वापि जाग्रतसुप्तमेव च ॥

कर्माभिरतयुक्तस्य नित्ययोगप्रवर्तते ।
मनोमन्यत्र युण्ठीतं देवि मन्यत्र पातितम् ॥

तथा यो?गिनं योग अव्युच्छिन्नप्रवर्तक ।
न च धारणावधञ्च ना वाहनविसर्जन ॥

सध्वावस्था गतोवापि क्रीडमानापि योगिनः ।

इच्छया वसते रम्य ईच्छया जनसङ्कुले ॥

इच्छया भुञ्जते भास इच्छया व्रतमाचरेत् ।
पत्रणा रहितं यागः सर्वकर्मविवर्जितम् ॥

नातः पूरतरं देवि मया ह्लादकरम्परम् ।
तन्त्रविद्याक्षरै हीनं ध्यानधारणे वर्जितम् ॥

चिन्तयारहितं गुह्यं स सूक्ष्मामृतमुत्तमम् ।
एव योगामृता देवि * * *? लभ्यन्ति कौलिकम् ॥

अमृतसमाधिपराः अभ्यासामोक्षदम्भवत् ।
अभ्यासो परम योगं समाधि स्पृष् *? भवेत् ॥

त्रिमल * न मस्यति ।?

कदम्बकालकाकारं रविकोटि समप्रतम् ।

पश्यते देह मध्यस्थं ॥

विमलाया तु या *? नं दी *? खाक्त? वमवर्णा मूलाम्बाकान्ति तेजसा ।
पश्यते दहमध्यस्थं दिव्ययोगेन योगिनम् ॥

सर्वे देह स्थितम्पश्ये ब्रह्माण *? गतः ।
p. 39) * * * * * * * * ? सर्वव्यापितोर्द्धार्द्धतः? ॥

एक कौलिकविस्तारं दिव्य * * * *? व्रते ।
नान्यत्र पश्यते ह्येतत् सर्वयोग * * *? ॥

कथमानं अमुद्रेयं किमा *? र्यञ्च विस्मयम् ।
पश्येह सर्वतो दिव्यं आत्मासञ्चेत्ति? प्रत्ययम् ॥

ताम्र? भ्रान्त प्रियं ज्ञानं प्रत्यक्षया * *?त्मनि ।?
यं दृष्टे तु प्रत्यक्ष? भ्रान्तिज्ञान विनस्यति ॥

एवम्पश्यति प्रत्यक्षे रुद्रशक्ति गुरुप्रिये ।
यदुक्तं दिव्ययोगेषु सिद्ध्यते नाथा प्रिये ॥

युक्ति? हीने गुरुं प्राप्य सिष्यसिद्धिकुतः प्रिये ।

मूलनष्टद्रूमा देवि कुतः पुष्पफलादिषु ।
रुद्रशक्ति समावेश? गुरुः गुरुतरम्परम् ।

विदितात्मा प्रियद्युक्तः सगुरुः मोक्षदः पदम् ॥

परलोके तु वा सर्वे आगता पुन मोक्षदा ।
प्रत्यक्ष प्र * *? कौल *? ह लोके परत्र च ॥

ऐहिक प्रत्यये यस्तु परलोकमपि साधयेत् ।
ऐहिक प्रत्ययं नास्ति कुतः तत्र पराभवेत् ॥

एवं * * * * * * मं प्रत्यक्षं तु यदा भवेत् ।
गुरोविद्यमात्मान एव?धनान्त * * * *? ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * ।?
* * * * * * * * यदिच्छ सिद्धिमात्मनः ॥?

दिव्योपदेशदातारं आचार्यदेवदुर्लभम् ।
बहवो गुरवा यत्र शून्यवाक्यमप्रत्ययः ॥

* * ? नानि प्रमामीय? मर्मघ्ना केचि योगिनः।
केचितद्भावलोपेन गर्विताज्ञानवर्जिताम्॥

केपि? मन्त्रेण संतुष्टा स्वल्प * * * * * *?।

अधमान्तमथमादौनाचार्य प्रणवे * रा॥
केचिदि शन्ति गुरुदेवि संसारक्षित्ति?कारकः॥

ल? देविहारय * * * * * ?क्ष कथम्भवेत्।
राग क?थ अहङ्कार द्वियद्विषन्ति परस्परौ॥

कौलिकज्ञान सद्भवं कुतः तेषां वरानने।
अ * * * * * * * * * * * * * * * ॥?

असक्तन्न परयुक्तो कुलेन युक्तं जातीषु।
कथ्यन्ते मोक्षदा भवेत्।

* * * * * *? ना देवि दिव्यचक्षु न जा * *॥

p. 40) * * * * * *? तेषा काल धात? महद्भवेत्।

असक्तो यागपठे च योगिनी च गवेस * ? ॥

* * * * * * *? च ताव मोक्ष न विद्यते ।
* * * * * * * * वायु * *? तु कौलिकम् ॥?

जाताधिक तथा योग सर्वैस्वयगुणाधिकम् ।

इति तिमिरोद्धाने एकादशमः पटलः ॥ ११ ॥

देव्युवाच ॥

* * योगावतार तु * योगाक्रमागता ।
लिङ्गपूजा कथन्तेषां मन्त्रतन्त्राक्षरादिषु ॥

भैरव उवाच ॥

सुसंस्कृत्य गुरुं शिष्य कथयत्सकलं परा ।
सूक्ष्मा चैव परम्पश्चा सम्वेद्यय * स *? ॥

स्थूलन्तु तद्भाव घ्रातं? * * * * * * * *? ।

परं मोक्षपदं ज्ञेयं दिव्यंतव्यन्तु पुत्रकै ॥

न ते * * * * * * * * * * * *? काञ्चन ।

न चित्र स * * * * * * * * * * * * * ॥?

लिङ्ग स्वदेहेषु संपूज्यं धर्मपुण्यमहा * *? ।

* * * * * * * * * * * * * न्तु मोक्ष ॥ ?

* * * * * * * * * * * * * योगिनः ।?

तस्य पूज्यमत्वाद्व? * * * * * * * * * ॥?

* * * * * * * * * इच्छासिद्धि करोति इति ।?

योगेश्वरा यथेप्सय? * * * * * * * * ॥?

* * * * * * * * पि भवते मोक्ष * * * ।?

नान्यत्र यदनत्तस्य इति लोक निश्चयं ॥

एवं ब्रह्माण्डोदरस्थं सर्व * * * * * रम् ।?

कुरुते तु प * * * * * * * * ?निष्कलम् ॥

योगिनं लिङ्गं प * सक्तिरधिष्ठितम् ।

आम्तसंवेहि? प्रत्यैक कलनिष्कलश्रितम् ॥

* * * * * * * * *? सर्वदेवतमाश्रिता ।

सर्वांत्रिङ्स?समापन्नं सर्वप्रत्यक्षप्रत्ययम् ॥

दिव्य पदे हि यो देव अन्तरिक्षेति प्र * *? ।

* * * * * मृक्षास्वे लिङ्गप्रतिपमेव? च ।?

मन्तव्य योगिनातैस्तु यस्य पुद्गल लिङ्गकृति ।

दिव्यचक्षु स्थिता योगी पश्यति * * * * * ॥?

p. 29)

किं तस्य प्रक्रि?मारूपैः पश्यदिव्यागति स्थिता ।

पश्यन्ति दिव्यलिङ्गानि त्रैलोक्य ज्ञानमुत्तमम् ॥

किंकरोतिमिति लिङ्ग * * * * * * * ता ।?

ब्रह्माणवेत्ति देहस्था त्रैलोक्यादरसम्भवम् ॥

एतल्लिङ्गमहात्मानं योगेन्द्रे पूजयेत् सदा ।

प्रतिबिम्बञ्च * *? स्तु प्रत्यक्षं * *? ष्वयोगान्तरान्तरम् ॥

अमृतेन विना देवि याधा * * * * * * ।?

गतलज्जा इवा नारी * * * * * * * * * * ॥?

विजने का * *?सं वारमते तु यथेप्सया।

अङ्गनामिवनाङ्गनि * * * * *? लालसा॥

रम * * * * * *? रक्तस्य रत्यानन्दकरी प्रिया।

वैराग्य चैव? गच्छति * * * * * * * *? ॥

* * धिकौलकी ह्येता * * * * * * * *।

* * * * * * * * सद्य प्रत्ययकारकम्।

सर्व * * * * * * * * * * * * * * ॥?

* * * * * * * * * * * * * * * * ।?

सत्यसत्य पुनः * * * * * * * * * * * * ॥?

* * * * * * * * * * * * * * * * ।?

इति तिमिरोद्घाटने द्वादशमः पटलः समाप्तः॥ १२॥

* * * * * * * * * * * * * * * * ।?

* * * * * * * * * * *पु? प्रकीर्तिता।

क्रियाशक्ति स्थितो विष्णुः उमासोमप्रकिर्तिता॥

इच्छा * * * * * * * * * * * * * ।?

शक्ति शिवः * * * *? नाडी वाम प्रकीर्तिता॥

ब्रह्मी चैव सुषुम्ना जेष्ठा शक्तिप्रकीर्तिता।

स्था? पिङ्गला ज्ञेया * * * * * * * * * *।

ज्ञानसूलमिदं प्रोक्तं शक्तित्रयसमन्वितम्।

भित्वा सोमञ्च सूर्यञ्च तृतीयावह्निमण्डलम्।

रेख त्रय त * * * * * * * * * ? व्यवस्थिता॥

तस्य वा सलिले वाथ ज्ञानशूल न विन्यसेत्।

अग्निमध्ये यजेद्यस्तु स्वायम्भु भुवनेश्वरम्॥

p. 42)

* * * * * * * * * *? कृस चराचर।

पातालभन्त्रितहेलं ।?

सोमतीर्थे यजेद्यस्तु स्वयम्भुकाय पालनम् ।
पूजितन्तर सर्वस्या? निष्क? * * * * * * * ॥

पातालञ्च महीचार्द्ध मध्याह्ने चन्द्रमुच्छ्रयम् ।
रत्नानां पूर्णयो दद्या योगिना संसितव्रतं ॥

स्वदेह पुष्येमेके * * * * ? भन्तितच्छालं ।
विसुद्धसन्धिधस्या * प्रजात्रिभुवनेश्वरम् ॥

स्वभावेनजि * * * * ? वैराग्य सदतो * ।
* यन्तं स्तुति कृ *?व रत्नानां पूर्णयादद्या ॥

आचार्य कोति कोटि जि * * * * * * * * ।?
* * देह शिव पुष्प च * * * * * * * ॥?

द्विगुणं गन्ध?संयुक्तं धूपनैव चतुर्गुणम् ।
गन्धपुष्पसुलाभेन * * * * * * * * ॥?

* * * * * * * * * * * * *? व्या हृदय ।

मां * * * * * * * * * * * * * * * ॥?

* * * * * * * ष्ठि * * * * * * * * ।?

* * पिव मन्त्रपदेच्छया * * * * * *? ॥

* * * * * * * * * * ? तं सुनिर्मलम् ।

योजयेत्तत्र माषानन्तन्तु? नासह योगवित् ॥

* * * * * * * * * * * * लम्पिवेत् ।

* * * * * * * * * * * * * * मन्त्र ।

प्राणास्थि * षु नादसति ।

ब्रह्महत्या सहस्राणि हयमेधसतानि च ।

पापेनत्वासह * * * * * * * * * * ॥?

आत्मानं सिद्धभयाज्य? तुल ब्रह्माणि वदन्ति ॥

ॐ नमः शि * वे ॥

देव्युवाच ॥

यदेत निष्क? * * * * * * * * * तनम् ।

निष्कल निर्मलं शान्तं निष्प्रपञ्चमे लक्षणम् ॥

अप्रतर्क्यमविज्ञायम्विनाशोत्पत्ति वर्जितम् ।

कैवल्यं केवलं शान्तं शुद्ध *? करणं योगनिर्मुक्तं हेतु साधन वर्जितम् ।

तत्क्षणादेवमुच्यन्ते तं ज्ञानं ब्रूहि शङ्कर ।

यत्र मुक्ति तदाकाशं देहस्थं देहवर्जित ॥

p. 30)

* * * * कथ देह क देवा देहवर्जितम् ।?

कावे? जीवास्थिता देह जीवजीव प्रकीर्तितम् ॥

केन जीवन्यसौ जीव केन मार्गेण संचर ।

सकलस्तु कथं जीवा वि *? भवेत् ॥

कथं पश्यत्यसौ जीवौ कि * जीवस्य भाजनम् ।

कुत्र वालीयते जीवो जायते कोत्रमेव हि ॥

किं वर्णो किम्प्रमाणन्तु जीवस्य।
सर्वमेतन्समाख्या हि देवदेव महेश्वर॥

भवसागरबन्धा तु आदि मोक्षदविप्रभो।

ईश्वर उवाच॥

वायुस्तेज सुद्धा व * * * * * * संज्ञितम्।
जीवप्राणमित्युक्तम्बा बालाग्र शत कल्पितम्॥

जीव शुक्लस्तु विज्ञेयं *? वस * त संयुतम्।
रजेनं * * * * * * * * * प्रकीर्तितम्॥?

तमेन तु समायुक्तं जीव कृष्णा भवे ध्रुवम्।
जीवं सत्व समायुक्ता * * * * * * * ते॥

रजेन * समाम * * * * * * * * भुः।?
* * * * * ?युक्तो तदा पापे प्रवर्त्तते॥

* * * * * * * * * * * * * * * * ?।

* * * * * * * * * * * * * * * * ॥?

प्राणस्व विज्ञेयं नासाग्रं यावसंस्थितम्॥

तत्रस्था निष्कलैः प्रोक्तः * * * * * * * * ।?

* * * * * * * * * * * * * * * * * * ॥?

तच्छ व्योमी तदालीनताव निष्कलताङ्गतः पुनश्वास तृतीयन्तु जीवस्य परिकीर्तितम्।

हृत्पद्मसु सिरणैव अ * * * * * * ?वम्।

जीव * व समित्युक्तं शिवेन परमात्मना॥

यावननोश्वास देवी ताव निष्कलमुच्यते।

नास्थिस्था निष्कला ज्ञा * * * * * * * * * ॥?

नाभिस्थं सर्वकार्येषु हृदिस्थं कार्य वर्जितम्।

वक्रनासा पुटान्तस्था भुञ्जते विषयां प्रभुः॥

देहस्थम्पश्यते जीवाजिघ्रते च सृणे * * * * * ।?

भुक्ते शुभाशुभं जीवो देह देहे व्यवस्थितः॥

देहं त्यक्त्वा यदा जीवा बहिराकाशमासृतः ।
तदा निर्विषया जीवा भवते * * * * * * * * * ॥?

p. 44)

नव? व? निर्भव? ब्रह्मा तं ध्यात्वा स सदाशिवः ।
ध्यात्वा शिवमजन्नित्यं मुच्यते पापपञ्जरम् ॥

अनन्ता सर्वदेहस्थानासाग्रवस्थितं शिवम् ।
सर्वभूतानां दृश्यन्ते न च लक्षते ॥

नाभिमध्ये स्थितं देवी सिद्धि तत्व सुनिर्मलम् ।
आदित्यमिव दिप्यन्त न स्थितिः प्रज्वलन्ति च ॥

चाष्टमम्बीजं जीवाख्यं देहसंस्थितम् ।
नाभिमध्ये विनिष्क्रान्तं विषया व्याप्यसंस्थितम् ॥

ते नेदं व्याप्ये मलिनं क्षीरवत् शक्ति * * * *? ।
करणेरात्मकै गृह्य प्राण प्राण सदहकैः? ॥

श्वास निश्वास यागेन अधश्चोर्द्धञ्च ली * * वते ।
सुष्क पत्रन्तु वाजिन * * * * * * * * * यथा ॥?

तथा भ्राम्यति जीवाख्या प्राणाप्राणख्योनाकजे ।
प्राणाप्राणसमायुक्तो भीमाध्येव? हृदिस्थितम् ॥?

श्वास नि * * * * * * ? पुण्यपापैसमागतं? ।
अन्तर्यामी शक्त्यातो नाद * * * * * * * ॥?

* * * * * * * * * * * * * * * * I?
* * * * * * * * * * * * * * * * ॥?

सिद्धकौलञ्च विख्यात अधसंचारवर्जितम् ।
सुर * * * * * * * * * * * * * * * ॥?

* * * * * * * * * * * * * * * * * I?
* * * * ?नभाश्चैव पतिताश्च विशेषतः ॥

अजरामर पदं व्याप्तं लभते चक्रमागतम् ।
* * * * * * * * * * * * * * मेव च ॥?

* * मण्डलाधिकारं अकुलं यागमासृताः एक पादुकमेव च ।?
तथैव पूजये नित्यं आत्मानस्तु विचक्षणः ॥

येन कौलार्णव * * * * * * * * क्षदा ? ।
चातुर्युगी प्रतिनाथ कलि पुयात्कथन्तुकः? ॥

तस्य कौलमिदं दिव्यं निर्नाशन्तु कदाचनः ।
येन व्याप्त सदासर्व * * * * * * * * ॥?

एकमेवन्तु मूलस्या शाखा तस्य मनेकधा ।
तस्य मूल प्रभावेन प्ररोहं स चराचरम् ॥

एक बीजन्तु तत्वस्थं चकाकारसमास्थितम् ।
व्यापकं व्योम *? येग? अनन्तम्विमल प्रभुः ॥

कारणन्निर्मलस्यान्ते शाश्वतं रूपनिश्चलः ।
निरात्मेति ना *? कासं निराचारस्वभावतः ॥

षट्वर्णरहितं तत्व निष्कल?म्बिता लम्बकः ।
p. 45) स्वभाव वर्तनिरूप स्वभाव पिण्डमध्यमः ॥

नित्य भक्त्य? सदायोगी साधये पिण्डमुत्तमम् ।

एकास्त्रमे समायुक्तं एक स्थान निवासिनी ॥

न पीठ गमनश्चैव नवति क्षेत्रमेव च ।
देहस्थ पीठ क्षेत्रे तु नान्य क्षेत्रं पर्यटते ॥

वलि वह्निवरं यत्र तत्रासौ कुलसमुद्भवम् ।
कुलाधारङ्कुलम्पीठ अकुलं क्षेत्रपालकम् ॥

न योगिनी मेलकश्चैव न तु चर्या विधिक्रमा ।
शिवशक्ति महामेला दिव्यमेलास उच्यते ॥

* * * याग?पट्वाशं न योगदण्डधारणम् ।
नेकेशे वञ्चनश्चैव मुञ्जमेखलादिकम् ॥

न कौपीनं व्रतश्चैव अ * कुलिङ्गवर्जितम् ।
रसंध्या अग्नि? * * *? न द्रव्यं होमकादिकम् ॥

देहस्थन्तु महाकुण्डं ज्वलन्तन्तेजमण्डलम् ।
कालानल प्रतीकाशं विद्युत्क्रान्ति समप्रभः ॥

समय सत * * * * * * ?जगसासयः ।?

अनाधि क्रमसम्प्राप्तं कुल भेदेन नि * * *? ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * ।?

वज * वा? प्रयत्नेन एकाकार पदस्थितम् ॥

सर्वेषां ता * * * * * * * * * * * *? ।

* * * * * * * * * * * * * न यद्वत् ॥?

महामार्ग यदा दृष्ट्वा सर्वतत्व न संशयः ।

एकाकार स्थितन्ततत्वं व्याप्ति * * * ? संस्थितम् ॥

एतत्कौलमिदं द्रव्य शिवशक्ति समन्वितम् ।

सिद्धाश्च योगिनी चैव सर्वपीठसमाशृताः ॥

पूजयेत्कुलमार्गेणव्योमस्थित येन व्याप्तं समन्त्र प्राप्तमिदं दिव्यं यत्कुलं पीठमुत्तमम् ।

न तस्य यन्त्रमन्त्राणि न क्षुद्रमन्त्रसाधने ।

स पश्यते समरसं कट्मयं? सचराचरम् ॥

समत्वावीतरागन्तु उदार सान्ते च * सा ।
तथा वक्रविनिर्मुक्तं गुरु भक्तिसमाहितम् ॥

समयपालयेन्नित्यं एकाकार पदास्थितम् ।
तदात्मकौलमायान्ति निर्वाणं येन वाप्नुयात् ॥

ताञ्च स्वच्छया योगी निराचारपदस्थितम् ।
स मुक्ति सर्वतत्वेषु मुक्तिसंसारबन्धनात् ॥

अजरामर पदं व्याप्तं तदा मुक्ति न संशयः ।
दिव्य पीठे? भवेद्योगी वलीपलित वर्जितः ॥

p. 33)

पर्यष्टन्ति गगना भागा स देवासुरमानुषां ।
न पुनः वध्यते तेषाम्पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

एतत्तु विमलन्दिव्य *? सू?नान्तिमिरापहम् ।
ज्ञातव्यां सिद्धकौलन्तु सिद्धनाथेन भाषितम् ॥

न चन्द्ररविमध्यस्थं न वह्नि पवनन्तथा।
उपदेशेन तं गम्य गुरुवक्रं व्यवस्थितम्॥

अविकल्पेन गृहीत श्रीमुखेन विनिर्गतः।
अनन्तविमलं शान्त हेतु लक्षण वर्जितः॥

कथितं मीननाथेन तद्याग सुदुर्लभम्।

एते यागसद्भावसमाप्तः॥

भैरव उवाच॥

न नाभि हृदये चैव न कण्ठे नैव तालुके।
न ललाटे वरारोहे घण्टिकाग्रे न विद्यते॥

ब्रह्मरन्ध्रप्रवाहेन न मोक्षनैव साधने।
द्वादशान्तेन चित्तस्य द्वि * * *? भावनम्? ॥

मनसा तत्वरूपेण मे * * * * ? विद्यते ।

बुद्धि नेत्र भवेत् किञ्चि बुद्धिरन्ध्र विकल्पना ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * * * ।?

* * * * * * * * * * * * * * * * * ॥?

मलमाला तथा वर्णे जीवशक्ति वरानने ।

उच्चारये * * * * * * * * * * * * ॥?

सर्वतत्वरूपेण तेषां मोक्षा न विद्यते ।

या सा ग्रन्थि? महाभागे ज्ञानरूप परा *? रम् ॥

* *? ग्रन्थि? महादेवि अन्य * * * * * * ।?

* * श्रोत्र तथा घ्राणवक्र गृह्य सदार्यति ॥

नाडी दिव्यपरेशानि ज्ञात्वा व्याप्तं स चराचरम् ।

पू?रक कुम्भकश्चैव रेचकन्तु तृतीयम् ।

वर्जयेत्तानि देवि यदिमिच्छसि सिद्धिमुत्तमम् ।

अथातसत्प्रवक्ष्यामि यथा तत्वस्य लक्षणम् ।

न रेता न जडाश्चैव गात्म? परस्तथाश्चैव भरितावस्था सम्पूर्ण सर्वज्ञान स्त्रीधारिणी ।

न शून्यं न प्रत्यक्षं न दूरेनापि मध्यमे ।

भरितावस्था सम्पूर्ण सर्वज्ञान श्रीधारिणी ।

न देहे गगने वापि लोलीभूत नैव च ।

एत पक्षविनिर्मुक्तं सा वस्था कौलिका गता ॥

p. 34)

एतावस्था परित्यज्य पूर्णावस्था महासुख ।

भरितावस्था मन्त्रास्तु योजनाति स कौलिकम् ॥

एकाकारगता शान्ती? परापरस्य तत्वस्य ॥

प्रयागवस्या । वाराणस्यां धीमर । कोलाकन्दुबी । अट्टाहासे खटिणी । जयन्त्याया *?म्बिनी । चरित्राच्छिप्पिणी । एकम्बा भलिनी देवीकोटे मालिनी ॥ ० ॥

स्त्रीमदनयाद । श्रीभट्टपाद । स्त्रीकालव्या । श्रीकालश्या? ॥ * * * * *? ।
आनन्दव्वा ॥ श्रीनन्तव्वा । श्रीवनदव्वा । श्रीमच्छन्दपाद । श्रीभाट्टपाद ।
श्रीहरिणपाद । श्रीधवलपाद । श्रीव्याप्यपाद? । आख्या-इ । इला-इ । उहा-
इ । ऋ?षा-इ । * सा-इ । एसा-इ । ढहा-इ । अह्ला-इ । * * * *? । माहेश्वरी ।
कौमारी । इन्द्राणी? । * * *? । वाराही । चामुण्डी । महाभैरव लक्षी । अम * * ।

लानै।

* ।?

जीवाप्येव यदा देवी पुण्यपापैस्तु च? स्थितम्।

ज्ञानविज्ञान योगेन * जुदा॥

* * * * * * * * * * * * * * * * ।?

* * * * * * * * * * * * * * * * ॥?

च्चार्य शिवो देवी लिख्यते न च पठ्यते।

पठ द्वय विनिष्क्रान्ते वायुपुत्रप्रलीयते॥

स मुक्ति तं परं ब्रह्म तं शिवपरमं पदम्।

मुखाध्यय? परमं सूक्ष्मं दृश्यते व्योममव्ययम्॥

नासापुटविनिष्क्रान्ता वायु तत्र प्रलीयते।

तस्तु संस्थं मनकृत्वात? ध्याय सवरारने॥

स शिवस्तुः *?र्ती स मोक्षमोक्षदं स्वसे।

वनि व्योमन्तु यत्प्रोक्तं नासाग्रे तु व्यवस्थितम्॥

निर्वाणकारिका ॥

ॐ नमः श्रीना *? य *? नादिनि *? गुप्तं वर्णाचार विवर्जितम् ।
पारम्पर्यक्रमागत प्रभ * *? निर्मलम् ॥?

एकाकार * *?द्यैलं एकवीरतदुच्यते ।
अकुलान्नमिदं? दिव्यं विमल? * वादहत्त *? समारुतः ॥

p. 35)

निष्कल सत्ता वज्ञेययावद्योम्ने विव * * * ? सकारस्या तुरबीजक्षकारस्या विपञ्चम ॥
एका * संयुक्तं षष्टेन तु समन्वितम् ।

आसनन्तु जगस्यात्कौ शिरेण परमात्मना ॥

सकला ह्येष देव स निष्कलं सृणुपार्वती ॥

द्वाद * त्तन्तु यद्बीजं नवान्तं चैव भाविनी ।
ऊर्द्ध एकादशनवानिर्मुक्तमधवर्जितम् ॥

वर्णान्ते तु यदा हीन तदा निष्कलमुच्यते ।

निलं ह्येतदातव्यं तत्वतत्व न दुर्लभम् ॥

वेद *? वेदना नाम्नि मुक्तानिर्वाण कारिका ।

पृच्छपित्वा ततो देवी गण गद?मृतं यथा ॥

*? तं ज्ञानमेतस्तु शिवेन परमात्मना ।

समासं बोधनांधाय? स्वयमात्मा प्रदर्शितः ॥

साप?वेद सदादेवी पठ्यते मोक्षदं * प *?ताष्ये चैव विकल्प न वर? वीर

जगत्सर्वातिष्टन्ते परमेश्वरः ॥

XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX
X
X title: j~naanasaara
X
X copied from manuscript c 4251 of banares hindu university
X
X
X data entered by the staff of muktabodha
X under the supervision of mark s.g. dyczkowski
X
X revision 0: april 7, 2012
X
XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX

* मः * रा * ये ॥

नाथज्ञानसारो लिख्यते ॥

कथमुत्पद्ते वाक् च कथं वाक् च विलीयते ।

वाच?स्तु निर्णयं ब्रूहि पश्चात् तत्वमुदीरय ॥

श्री * श्व * उ * च ॥

आहारं काङ्क्षयेत् प्राणः प्राणादुत्पद्यते मनः।
मनु स्युत्पद्यते वाक्य? मा? च मनसि लीयते॥

श्री * व्यु * च॥

आहारं काङ्क्षयेत् प्राणो भुञ्जानो पिचकः कथम्।
जागर्ति स्वपते कोसौ सप्तः कोवाप्रबु?ध्यते॥ ३॥

श्री * श्व * उ * च

आहारं काङ्क्षयेत् प्राणो भुङ्क्ते चैव हुताशनः।
p. 174a) जागर्ति स्वपते वायुः सुप्तं तेजो विबुध्यते॥ ४॥

श्री * व्यु * च

को वा करोति कर्माणि को वा लिप्येत पातकैः।
को वा करोति पापानि को वा पापे प्रवर्तयेत्॥ ५॥

श्री * श्व * उ * च

मनः करोति कर्माणि मनो लिप्येतपातकैः ।
मनो हि तन्मयी भूतं न धर्मों न च पातकम् ॥ ६ ॥

श्री * व्यु * च

यदिदं निष्कलं ब्रह्म व्योमातीतं सनातनम् ।
निर्द्वन्द्वं निर्मलं शान्तं निष्पापं समलक्षयेत् ॥ ७ ॥

अप्रतर्क्यमविज्ञेयं विनासोत्पत्ति वर्जितम् ।
कैवल्यकेवलं शश्वच्छुद्धस्फटिकसन्निभम् ॥ ८ ॥

p. 174b) तत्क्षणान्मुच्यते येन तज्ज्ञानं ब्रूहि शङ्कर ।
यदिदं शक्तिराकाशं देहस्थं देहवर्जितम् ॥ ९ ॥

कथं जीवत्यसौजीवो निष्कलस्तु कथं भवेत् ।
केन पश्यत्यसौजीवः किं वा जीवस्य भोजनम् ॥ १० ॥

कुत्र वा लीयते जीवो जागर्ति कुत्र एव वा ।
को जनः किं प्रमाणं तु जीवस्यापि प्रकीर्तितम् ॥ ११ ॥

एतत्सर्वं समासेन ब्रूहि मे परमेश्वर ॥

श्री * श्व * उ * च

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यत्त्वया समुदीरितम् ।
कथयामि न सन्देहः सारात्सारतरं परम् ॥ १३ ॥

वायुर्जीवस्तथा काशस्तृतीयो जीवसंज्ञकः ।
स जीवः प्रभुरित्युक्तो बालाग्रं शत कल्पितः ॥ १४ ॥

p. 175a) जीवश्शुक्लस्तु विज्ञेयो यावत् सत्वेन संयुतः ।
रजस्सत्त्वसमायुक्तो रक्तो जीवः प्रकीर्तितः ॥ १५ ॥

तमस्सत्त्वसमायुक्तस्तदा कृष्णो भवेद्ध्रुवम् ।
सत्त्वेन च समायुक्तो धर्मज्ञाने प्रवर्तते ॥ १६ ॥

रजः सत्त्वसमायुक्तो भुङ्क्ते तु विषयानपि ।
तमस्सत्त्वसमायुक्तस्तदा पापे प्रवर्तयेत् ॥ १७ ॥

नासाग्रं चैव नाभिश्च हृदयं च तृतीयकम् ।
स्थानान्येतानि जीवस्य कलितानि शिवेन तु ॥ १८ ॥

कपलं हृत्स्वरूपं च ह्यधो यावद् व्यवस्थितम् ।
देह स?ङ्ग न मित्युक्तं शिवेन परमात्मना ॥ १९ ॥

यावन्निश्श्वासतो जीवो भवेन्निष्कलतां गतः ।
p. 175b) नासाग्रे निष्कलं ज्ञात्वा मुच्यते जन्म बन्धनात् ॥ २० ॥

सर्वाङ्गः सर्वदेहस्थो नासाग्रे च प्रतिष्ठितः ।
अतर्क्यः सर्वभूतानां दृश्यते न च लक्ष्यते ॥ २१ ॥

नाभिमध्ये स्थितं विश्वं सिद्धतत्त्वं तु निर्मलम् ।
आदित्यमिवतद्दीप्तं रस्मिभिस्तत्क्षणं शिवम् ॥ २२ ॥

आकाराष्टकसञ्जीवं देहोक्तं देहवर्जितम् ।

नाडीरन्ध्राद्विनिष्क्रान्तं विषयान्प्राप्यसंस्थितम् ॥ २३ ॥

तेनेदं निष्कलं विश्वं क्षीरसर्पि समोपमम् ।
करणात्मया?यान्मुक्तो भ्रमते हृदयस्थितः ॥ २४ ॥

गोलकस्थो यथा देवि खेलनाद्दण्डबाह्यतः ।
देष्ठते भ्रमते शीघ्रमविश्रान्तः पुनः पुनः ॥ २५ ॥

कीदृशी खेचरी विद्या चोन्मना वातुं कीदृशी ।
बन्धनं कीदृशं देव कथयस्व महेश्वर ॥ १ ॥

को दण्डमध्यगं देवि सङ्कोचेन त्रिलोचने ।
न सूर्यचन्द्रमार्गेण लम्पिका करणं प्रिये ॥ २ ॥

लोलां रन्ध्रमुखे कृ?त्वा विपथे योजयेत् प्रिये ।
सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ३ ॥

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद्ध्रुवम् ।
मध्यचक्रमिदं भद्रे षोडशारार्धबन्धनम् ॥ ४ ॥

p. 176b) नाभिशक्ति द्वये मध्ये स्थानं देयं पराङ्मुखम्।

मूलचक्रमिदं भद्रे सत्पथव्याधिनाशनम्॥ ५॥

रसनामूर्धगां कृत्वा क्षणाध्वं यदि तिष्ठति।

क्षणेन मुच्यते योगी व्याधिभिस्तु जरादिभिः॥ ६॥

रसनाभ्यन्तरे नित्यं यावद्ब्रह्मबिलंगता।

अमृताग्रसने घ्राणं पीड्यमानं विचिन्तयेत्॥ ७॥

मासार्द्धाज्जयते मृत्युं सत्यं सत्यं महामते।

सर्वव्याधिविनि *?क्तो योगीनाथो न संशयः॥ ८॥

रसना तालु मूलेन वायुं पीत्वा शनैः शनैः।

षण्मासाभ्यन्तरे विश्वे बलीपलित नाशनम्॥ ९॥

घृतास्वादूपमानाश्च ह्यमरत्वं न संशयः।

मधुस्वादूपमानाश्च शास्त्रोत्गीरणता भवेत्॥ १०॥

p. 177a) मृष्टानिखण्डकद्यानि लड्डुकाशोकवर्तिकाः ।
एवं वाराह्यनेके च कामदेवो व्यवस्थितः ॥ ११ ॥

दिव्यकन्यागणेनित्यमाकृष्टिर्जायते सदा ।
हिक्कादद्यात्सदावक्रे प्रायश्चैव विजृम्भिकाम् ॥ १२ ॥

एवमभ्यस्यमानस्तु कामदेवो द्वितीयकः ।
योगिनी गुणसामान्यः सृष्टिसंहारकारकः ॥ १३ ॥

न क्षुधा न च तृण्निद्रा नैव मुर्छा प्रजायते ।
भवेत्स्वच्छन्ददेहस्तु सर्वोपद्रववर्जितः ॥ १४ ॥

अनेन विधिना देवि योगीन्द्रो भूमिमण्डले ।
नभस्य पुनरावृत्तिः पूजितः स्यात्सुरैरपि ॥ १५ ॥

पुण्य पापैर्न लिप्येत भयमुद्रा विदुत्तमः ॥

तालुमध्ये स्थितश्चन्द्रो नाभिमध्ये दिवाकरः ।
अमृतं स्रवते चन्द्रो विषं प्रज्वलितो रविः ॥ १ ॥

सूर्याग्रे वसते वायुश्चन्द्राग्रे वसते नभः।
सूर्याग्र मनुवर्तेत चन्द्राग्रं चैव नित्यशः॥ २॥

चन्द्रसूर्य द्वयोर्मध्ये मुडादद्या? तु खेचरीम्।
निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ ३॥

स बाह्या भ्यन्तरे योगी घटवत्तिष्ठते प्रिये।
बाह्ये वायुस्तथा पृष्ठे चान्ते वायुर्न संशयः॥ ४॥

स्वस्थाने गच्छते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते।
p. 178a) अमृतं प्राप्नुयाद्योगी महाबलपराक्रमः॥ ५॥

वायुवेगेन देवेशि सकलां भ्रमते महीम्।
अष्टधागुणमैश्वर्यं सत्यं सत्यं न चान्यथा॥ ६॥

शङ्खदुन्दु?भिनादेन न शृणोति कदाचन।
काष्टवज्ञायते योगी नोत्पत्त्या वै प्रजायते॥ ७॥

शक्ति द्वयस्य मध्ये तु हीन्द्रियाख्यं तदुच्यते ।
अनेनैव च बन्धेन सद्यमृत्युविनाशनम् ॥ ८ ॥

कायं च भजते क्षेत्रं मूलबन्धेन पार्वति ।
निरालम्बं भवेद्बीजं नान्यथा सिद्ध्यति ध्रुवम् ॥ ९ ॥

ऊर्ध्वाधो बन्धमादाय कृत्वा चिन्ता मनामये ।
सिद्ध्यते नात्र सन्देहो गोपनीयो महामते ॥ १० ॥

p. 178b) अण्डजालजाश्चैव स्वेदजा भेदजास्तथा ।
एक द्वि त्रि चतुष्पञ्चेन्द्रियाणि सर्वजन्तुषु ॥ १ ॥

सर्वेषामेक एवात्मा साधारो बीजरूपवान् ।
शब्दः स्पर्शश्च गन्धश्च रसोरूपं च पञ्चमं ॥ २ ॥

बुद्ध्यहङ्कारसंयुक्तं मनस्तत्रव्यवस्थितम् ।
यथामूले लताबीजं तथा पतन्ति जन्तवः ॥ ३ ॥

सस्यवत्सर्वबीजानां जन्माप्तिश्च पुनः पुनः ।

वाहकश्चैवमात्मापि धर्माधर्मौ तु बन्धनम् ॥ ४ ॥

अन्तरात्मा यथा तिष्ठेत् स्वरूपं पारमेश्वरम् ।
तस्मिन् काले वरारोहे लीयते घटवत्घृतम् ॥ ५ ॥

p. 179a) सर्पिषावात्रयोगेन पृथक्त्वं च न विन्दते ।
उल्का हस्तो यथा कश्चिद्द्रव्यमालोकतां नयेत् ॥ ६ ॥

कर्मशौचं मनःसौचं मनसो ज्ञानमेव च ।
ध्यायेत तु जगत्सर्वं देहिनां देहमाश्रयम् ॥ ७ ॥

यथामृतेन तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम् ।
आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ॥ ८ ॥

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येत कुण्डगम् ।
कायस्थोपि न कायस्थः कायस्थोपि न नश्यति ॥ ९ ॥

भुङ्क्ते भोगांश्च कायस्थः कायस्थोपि न वध्यते ।
यथाखरश्चन्दनभारवाही भारस्य वा हीन तु चन्दनस्य ।

तथैव मूर्खो बहुशास्त्रपाठी शास्त्रस्य पाठी न तु निश्चयस्य ॥ ११ ॥

p. 179b) आहारनिद्राभयमैथुनानि समानमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषास्ते नैव हीनः पशुभिः समानः ॥ १२ ॥

यावद्बिन्दु सहस्राणि कोटिबिन्दुशतानि च ।
सर्वथाभस्मतां यान्ति यत्र देवो निरालयः ॥ १३ ॥

ह्यन्यते मुष्टिना काशं क्षुधार्ता खण्डयेत्तुषम् ।
ब्रह्मदण्डं न जानाति न मुक्तिः स्याद्वरानने ॥ १४ ॥

शास्त्रं ह्यनन्तं बहुधा च विद्या अल्पश्च कालो बहवश्च विघ्नाः ।
यत्सारभूतं तदुपासितव्यं हंसो यथा नीरमिवाम्बु मध्ये ॥ १५ ॥

तद्ध्यानस्तत्गतिस्थोपि कृत्वा पापशतान्यपि ।
लिप्यतेन स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १६ ॥

इदं शास्त्रमिदं ज्ञानं यः सर्वं ज्ञातुमिच्छति ।
अपिवर्षसहस्रायुः शास्त्रान्तं नाधि गच्छति ॥ १७ ॥

XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX
X
X title: vij~naanabhairava
X
X copied from manuscript c.n. 4245 of banares hindu university
X
X
X data entered by the staff of muktabodha
X under the supervision of mark s.g. dyczkowski
X
X revision 0: april 7, 2012
X
XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX

विज्ञानभैरवभट्टारकोयं लिख्यते ।

ॐ नमः परम भैरवाय ॥

श्रुतं देव मया सर्वं रुद्रयामलसम्भवम् ।

त्रिकभेदमशेषेण सारात्सारविभागशः ॥ १ ॥

अद्यापि न निवृत्तं मे संशयः परमेश्वर ।
किं नवात्मक भावेन भैरवे भैरवाकृतौ ॥ २ ॥

p. 73a) त्रिशिरो भेदभिन्नात्मा किं वा शक्ति त्रयात्मकम् ।
नादबिन्दु मयं वापि किं चन्द्रावनिरोधकम् ॥ ३ ॥

चक्रारूढमनस्कं वा किं वा शक्ति स्वरूपकम् ।
परापरायाः सकलमपरायाश्च वा पुनः ॥ ४ ॥

पराया यादि तद्वत् स्यात् पुरत्वं तद्विरुद्धयते ।
न हि वर्णविभेदेन देहभेदेन वा भवेत् ॥ ५ ॥

परत्वं निष्कलत्वेन सकलत्वेन तद्भवेत् ।
प्रसादं कुरु मे नाथ निश्शेषं च्छिन्दिसंशयम् ॥ ६ ॥

साधु साधु त्वया पृष्टं तन्त्रसारमिदं प्रिये ।
गूहनीयतमं भद्रे तथापि कथयामिते ॥ ७ ॥

यत्किञ्चित् सकलं रूपं भैरवस्य प्रकीर्तितम् ।

तदसारतया देवि विज्ञेयं चक्रजालवत् ॥ ८ ॥

मायास्वप्नोपमं चैव गन्धर्वनगरभ्रमम् ।
ध्यानार्थं भ्रान्तबुद्धीनां क्रियाडम्बरवर्तिनाम् ॥ ९ ॥

केवलं वर्णितं पुंसां विकल्पनिहतात्मनाम् ।
तत्त्वतो न नवात्मासौ शब्दराशिर्न भैरवः ॥ १० ॥

न चापि त्रिशिरा देवो न च शक्तित्रयात्मकः ।
न चक्रक्रमसं भिन्नं न च शक्तिस्वरूपकः ॥ ११ ॥

अप्रबुद्धमतीनां हि एताबालविभीषिकाः ।
मातृमोदकवत्सर्वं प्रवृत्यर्थमुदाहृतम् ॥ १२ ॥

दिक्कालकलना मुक्ता देशोद्देशां विशेषिणी ।
व्यपदेष्ट्रसुशक्त्यासानशक्त्यापरमार्थतः ॥ १३ ॥

अन्तः स्वानु भवानन्दा विकल्पोन्मुक्तगोचरा ।
p. 74a) यावस्थभरिताकार्या भैरवी भैरवात्मनः ॥ १४ ॥

तद्वपुस्तत्त्वतो ज्ञेयं विमलं विश्वपूरणम् ।
एवं विधे परे तत्त्वे कः पूज्यकश्च तृप्यति ॥ १५ ॥

एवं विधा भैरवस्य यावस्था परिगीयते ।
सा परापररूपेण परादेवी प्रकीर्तिता ॥ १६ ॥

शक्ति शक्ति मतो यस्मादभेदः सर्वदा स्थितः ।
अतस्तद्धर्मधर्मित्वात् पराशक्तिः परात्मनः ॥ १७ ॥

न वह्नेर्दाहिकाशक्तिर्व्यतिरिक्ता विभाव्यते ।
केवलं ज्ञानसत्तायां प्रारम्भेयं प्रवेशने ॥ १८ ॥

शक्त्योवस्थां प्रविष्टस्य निर्विभावेन भावना ।
तदासौ शिवरूपीस्याच्चैवीमुखमिहोच्यते ॥ १९ ॥

यथा लोके न दीपस्य किरणैर्भासकरस्य वा ।
p. 74b) ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वद्भत्त्या शिवः प्रिये ॥ २० ॥

देव देव त्रिशूलाङ्क कपालकृतभूषण ।
दिग्देशकालशून्या च व्यपदेशीववर्जिता ॥ २१ ॥

या शक्तिर्भरताकारा भैरवः सोपलभ्यते ।
कैरुपायैर्मुखं तस्य परादेवी कथं भवेत् ॥ २२ ॥

यथा सम्यगहं वेद्मि तथा मे ब्रूहि भैरव ॥

ऊर्ध्वप्राणो ह्यधोजीवो विसर्गात्मासरोच्चयेत् ।
उत्पत्ति द्वितयं स्थाने भरणाद्भवित स्थितिः ॥ २४ ॥

सरतोन्तर्बहिर्वापि विद्याद्युग्मनिवर्तनात् ।
भैरव्या भैरवस्येत्थं भैरवि व्यज्यते वपुः ॥ २५ ॥

न व्रजेन्न विशेच्छक्तिर्मरुद्रूपाविकासते ।
p. 75a) निर्विकल्पतयामध्ये तथा भैरवरूपधृत् ॥ २६ ॥

कुम्भितारे चितावापि पूरिता वा यथाभवेत् ।
तदन्ते शान्तनामासौ शक्ताचान्तः प्रकाशते ॥ २७ ॥

आमूलात्किरणाभासं सूक्ष्मासूक्ष्मतरात्मिकम् ।
चिन्तयोन्ते द्विषट्कान्ते शाम्यन्ते भैरवादयः ॥ २८ ॥

उद्गच्छन्ती तडिद्रूपां प्रतिचक्रं क्रमात् क्रमम् ।
ऊर्ध्वं मुष्टित्रयं यावत् तावदन्ते महोदयः ॥ २९ ॥

भ्रमद्वादशकं सम्यग् द्वादशाक्षरभेदितम् ।
स्थूलसूक्ष्मपरिस्थित्या मुक्त्वा मुक्त्वा ततः शिवः ॥ ३० ॥

तया पूर्यास्तु मूर्द्धान्तं भक्ष्याभृक्षे पसेत्तना ।
निर्विकल्पं मनः कृत्वा सर्वोद्ध्र्वे सर्वगोद्गमः ॥ ३१ ॥

शिखिपक्षैश्चित्तरूपैर्मण्डलैः शून्यपञ्चकम् ।
p. 75b) ध्यायतोनुत्तरः शून्ये प्रविशो हृदये भवेत् ॥ ३२ ॥

ईदृशेन क्रमेणैव यत्र यत्रापि चिन्तयेत् ।
शून्ये वक्रे परे पात्रे स्वयं लीना वरप्रदा ॥ ३३ ॥

कपालान्तर्मनोन्यस्य तिष्ठेन्मीलित लोचनः।
क्रमेण मनसो दाढर्याल्लक्षते लक्षमुत्तमम्॥ ३४॥

मध्यनाडी मध्यसंस्था विससूत्रावसू त्रया।
ध्याताात्तयो महादेव्या तया देवः प्रकाशते॥ ३५॥

कररुद्ध दृगस्तेन भ्रूभेदाद्द्वाररोदनात्।
दृष्टे बिन्दौ क्रमालीने तन्मध्ये परमास्थितिः॥ ३६॥

धामान्तः क्षोभसम्भूता सूक्ष्माग्नि तिलका कृतिः।
बिन्दुं शिखान्ते हृदये लयान्ते ध्यायते लयः॥ ३७॥

p. 76a) अनाहते पात्रकर्णे भग्नशब्दपरिश्रुते।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधि गच्छति॥ ३८॥

प्रणवादि समुच्चारात् प्लुतान्ते शून्यभावनात्।
शून्यया परया शक्त्या शून्यता चेति भैरवि॥ ३९॥

यस्य यस्यापि वर्णस्य पूर्वान्तावनु भावयेत्।

शून्यया शून्य भूतोसौ शून्याकारः पुमान्भवेत् ॥ ४० ॥

तन्त्र्यादि वाद्यशब्देषु दीर्घेषु क्रमसंस्थितः ।
अनन्यचेताः प्रत्यन्ते परंव्योमवपुर्भवेत् ॥ ४१ ॥

पिण्डमात्रस्य सर्वस्य सूक्ष्ममन्त्रक्रमेण तु ।
अर्धेन्दुबिन्दुनादान्तः शून्योच्चाराद्भवच्छिवः ॥ ४२ ॥

निजदेहे सर्वदिक्कं युगपद्भावयेद्द्वयम् ।
निर्विकल्पमनास्तस्य वियत्सर्वं प्रवर्तते ॥ ४३ ॥

p. 76b) पृष्ठशून्यं मूलशून्यं युगपद्भावये च यः ।
युगपन्निर्विकल्पत्वान्निर्विकल्पोनयस्ततः ॥ ४४ ॥

तनूद्देशे शून्यतया क्षणमात्रं विभावयेत् ।
निर्विकल्पं निर्विकल्पे निर्विकल्पा स्वरूपभाक् ॥ ४५ ॥

सर्वदेहगतं द्रव्यं नि * द्याप्तं मृगेक्षणे ।
विभवेयद्यतस्तस्य भावना सा स्थिरी भवेत् ॥ ४६ ॥

न किञ्चिदन्तरं तस्य ध्यायन्नध्येय भाग्भवेत्।

हृद्याकाशविलीनाक्षः पद्मसंपुटमध्यगः ॥ ४७ ॥

अनन्य चेताः सुभगे परं सौभाग्यमाप्नुयात्।

सर्वतः स्वशरीरस्य द्वादशान्तं मना नयेत्॥ ४८ ॥

दृढबुद्धिर्दृढीभूतं तत्त्वलक्षं प्रवर्तते।

p. 77a) यथा यथा यत्र यत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत्॥ ४९ ॥

प्रतिक्षणं क्षीणवृत्तेर्वै लक्षण्यं दिनैर्भवेत्।

कालाग्निना कालपुरादुर्थि तेन स्वकं पुरम्॥ ५० ॥

प्लुष्टं विचिन्तयेदन्ते शान्ताभासस्तदा भवेत्।

एवमेव जगत्सर्वं दग्धं ध्यात्वा विकल्पितः॥ ५१ ॥

अनन्यचेतसः पुंसः पुंभावः परमो भवेत्।

स्वदेहे जगतो वापि सूक्ष्मसूक्ष्मतराणि च ॥ ५२ ॥

तत्त्वानि यानि निरयं ध्यात्वान्तर्व्यथते परा।

पीनां च दुर्लभां चैव ध्यात्वा द्वादशगोचरे॥ ५३॥

प्रविश्य हृदये ध्यायन्युक्तः स्वातन्त्र्य माप्नुयात्।

भुवनत्वादि रूपेण चिन्तयेत्तपसोखिलम्॥ ५४॥

सूक्ष्मस्थूलपरित्यागं यावद्दत्ते मनोलयः।

अस्य सर्वस्य विश्वस्य पर्यन्तेषु समन्ततः॥ ५५॥

p. 77b) अध्वप्रक्रियया तत्त्वं देवं ध्यात्वा महोदयः।

विश्वमेतन्महादेवि शून्यभूतं विचिन्तयेत्॥ ५६॥

तत्रैव शमनोलीनं ततस्तल्लयभाजनम्।

निर्वृक्षगिरिभित्त्यादि देशे दृष्टिं विनिक्षिपेत्॥ ५७॥

विलीने मानसे भावे वृत्तिक्षीणा प्रजायते।

उभयोर्भावयोर्ज्ञाने ध्यात्वा मध्यं समाश्रयेत्॥ ५८॥

युगपश्च द्वयं त्यक्त्वा मध्ये तत्त्वं प्रकाशते।

भावे त्यक्ते निरुद्धा चेन्नैव भावान्तरं व्रजेत्॥ ५९॥

तदातन्मध्यभावेन विकसत्यति भावना।
सर्वदेहे तन्मयं हि जगद्वा परिभावयेत्॥ ६०॥

युगपन्निर्विकल्पेन मनसा परमोद्भवः।
वायु द्वयस्य सङ्घट्टादन्तर्वा बहिरन्ततः॥ ६१॥

p. 78a) योगी स तत्त्वविज्ञानं समुत्गमनभाजनम्।
सर्वं जगत् स्वदेहं वा स्वानन्दभरितं स्मरेत्॥ ६२॥

युगपत् स्वादृतेनैव परानन्दमयो भवेत्।
कुहरेण प्रयोगेन सद्य एव मृगे क्षणे॥ ६३॥

समुदेन महानन्दे येन तत्त्वं प्रकाशते।
सर्वस्त्रोतो निबन्धेन प्राणशक्त्याध्वशासनैः॥ ६४॥

पिप्पीलस्पर्श वेलायां प्रथमे परमं सुखम्।
वह्नेर्विषय मध्ये तु चित्तं सुख मयंक्षिपेत्॥ ६५॥

केवलं वायुपूर्णं वा स्मरानन्देन युज्यते ।
शक्तिसङ्गमसंक्षुब्धं शक्त्या वेशावसानिकम् ॥ ६६ ॥

यत् सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत्सुखं स्वैक्यमुच्यते ।
लेहनामक्तनाकोटो स्त्रीमुखस्य भरात् स्मृतेः ॥ ६७ ॥

p. 78b) शक्त्या भावेपि देवेशि भवेदानन्दसंप्लवः ।
आनन्दे महते प्राप्ते दृष्टे वा बान्धवे चिरात् ॥ ६८ ॥

आनन्दमुत्गतं ध्यात्वा तल्लयस्तन्मना भवेत् ।
दग्धमानरसोल्लास रसानन्दविजृम्भनात् ॥ ६९ ॥

तावतोद्धरितावस्थां महानन्दस्ततो भवेत् ।
गीतादि विषया स्वादात्समसौख्यैकतन्मनः ॥ ७० ॥

योसिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मना ।
यत्र यत्र मनस्सृष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत् ॥ ७१ ॥

तत्र तत्र परानन्दः स्वरूपः संप्रकाशते ।
अनागतायां निद्रायां प्रनष्टे बाह्यगोचरे ॥ ७२ ॥

सावस्था मनसा गम्या परादेवी प्रकाशते ।
तेजसा सूर्य दीपादेराकाशेशवली कृते ॥ ७३ ॥

७९अ) दृष्टिं निवेश्य तत्रैव स्वात्मरूपं प्रकाशते ।
करङ्किण्ये क्रोधनया भैरव्या लेलिहानया ॥ ७४ ॥

खेचर्या दृष्टिकाले च पराव्याप्तिः प्रकाशते ।
मृद्वासनेस्फिजैकेन हस्तपादौ निराश्रयम् ॥ ७५ ॥

विधायतत्प्रसङ्गेन परापूर्णामतिर्भवेत् ।
उपविश्यासनेसम्यग्बाहूकृत्वावकुञ्चितौ ॥ ७६ ॥

कक्षव्योम्नि मनः कुर्वञ्च समानं च चिन्तयेत् ।
स्थूलरूपस्य भावस्य सव्यां दृष्टिं निपातयेत् ॥ ७७ ॥

अचिरेण निराधारं मनः कृत्वा शिवं व्रजेत् ।

आसने शयने स्थित्वा निराधारं विभावयेत्॥ ७८॥

स्वदेहं मनसि क्षीणे क्षीणात्क्षीणाशया भवेत्।
चलासने स्थितस्याथशनैर्वा देहचालनात्॥ ७९॥

p. 79b) प्रशान्ते मानुसे भावे देविदिव्यौघ माप्नुयात्।
लीनं मूर्ध्नि वियत्सर्वं भैरवत्वेन भावयेत्॥ ८०॥

तत्सर्वं भैरवाकारं तेजस्तत्वं समाविशेत्।
किञ्चिज्ज्ञात्वे द्वैतदायि बाह्यलोकस्तमः पुनः॥ ८१॥

विद्वावि भैरवं रूपं ज्ञात्वानन्त प्रकाशवत्।
एवमेवं दुर्निमाया कृष्णपक्षागमे चिरम्॥ ८२॥

तैमिरं भावयेद्रूपं भावयेद्भैरवो भवेत्।
यस्य यस्येन्द्रियस्यापि व्याघाताश्च निरोधतः॥ ८३॥

प्रविष्टस्या द्वये शून्ये तदैवात्मा प्रकाशयेत्।
अब्धिन्दु स विसर्गं च अकारं जपतो महान्॥ ८४॥

उदेति देवि सहसाज्ञानौघः परमेश्वरः ।
स विसर्गस्य वर्णस्य विसर्गान्तं चिति कुरु ॥ ८५ ॥

p. 80a) निराधारेण चित्तेन स्पृशेद्ब्रह्मसनातनम् ।
व्योमाकारं स्वमात्मानं ध्याने दिग्भिरनावृतम् ॥ ८६ ॥

निराशय चितिः शक्तिः स्वरूपे दर्शयेत् तदा ।
किञ्चिदङ्गं विभाव्यादौ तीक्ष्णसूच्यादिना ततः ॥ ८७ ॥

तत्रैव चेतना युक्ता भैरवेणामलागतिः ।
चित्ताद्यन्तः कृतन्नास्ति समन्तर्भावयेदिति ॥ ८८ ॥

विकल्पनामभावेन विकल्पैरुज्झितो भवेत् ।
मया विमोहनी नाम कलायाः कलनं स्थितम् ॥ ८९ ॥

* * दि तत्त्वं धर्माणां कलयन्न पृथग् भवेत् ।
जगतीच्छां समुत्पन्नामवलोक्यशमं नयेत् ॥ ९० ॥

यत एव समुद्भूता ततस्तत्रैव लीयते ।
यदाममेच्छानोत्पन्ना ज्ञानं वाकस्तदास्मि वै ॥ ९१ ॥

p. 80b) तत्त्वतोहं तदा भूतस्तल्लीनस्तन्मनो भवेत् ।
इच्छायामथवा ज्ञाने जाते चित्तं निवेशयेत् ॥ ९२ ॥

आत्मबुद्ध्यानान्यचेता ततस्तत्त्वात्मदर्शनम् ।
निराधारं भवेज्ज्ञानं निर्निमित्तं भ्रमात्मकम् ॥ ९३ ॥

तत्त्वतर्कस्य चिन्नैत देवं व्यापी शिवः प्रिये ।
चिद्धर्मा सर्वदेहेषु विशेषो नास्ति कुत्रचित् ॥ ९४ ॥

अतश्च तन्मयं सर्वं भावयेद्भवजीज्जनः ।
कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यगोचरः ॥ ९५ ॥

बुद्धिं निस्तिमिभां? कृत्वा तत्तत्त्वमवशिष्यते ।
इन्द्रजालमयविश्वं न्यस्तं वा चित्रकर्मवत् ॥ ९६ ॥

भ्रमद्वा ध्यायतः सर्वं पश्यतश्च सुखोद्गमः ।

न चित्तं निक्षिपेद्दुःखेन सुखे वा परिक्षिपेत् ॥ ९७ ॥

p. 81a) भैरवि ज्यायतां मध्ये किं तत्त्वमवशिष्यते ।
विहाय निजदेहस्थं सर्वं नास्मीति भावयेत् ॥ ९८ ॥

दृढेन मनसा दृष्ट्या नान्वेक्षिण्या सुखी भवेत् ।
घटादौ यच्च विज्ञानमिच्छाद्यं वाममान्तरे ॥ ९९ ॥

नैव सर्वगतं जातं भावयन्निति सर्वगः ।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम् ॥ १०० ॥

योगिनां तु विशेषोस्ति सम्बन्धे सावधानता ॥

स्वस्मादन्यशरीरेपि संवित्ति मनुभावयेत् ।
अपीक्षां स्वशरीरस्य त्यक्तवा वासी सुखी भवेत् ॥

निराधारं मनः कृत्वा विकल्पं न विकल्पयेत् ।
तदात्म परमात्मत्वे भैरवो मृगलोचने ॥ १०३ ॥

सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः ।
p. 81b) स एवाहं चैव धर्मा इति दाढर्या भवेच्छिवः ॥ ४ ॥

जलस्यैवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभङ्गः प्रभाभरः ।
ममैव भैरवस्येता विश्वभङ्ग्यविभेदिताः ॥ ५ ॥

भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा शरीरेण त्वरितं तु विपातनात् ।
क्षोभशक्तिविरामेण परासञ्जायते दशा ॥ ६ ॥

आधारे त्वथवा शक्त्या ध्यानाच्चित्ततलेन वा ।
जातशक्तिसमावेश क्षोभन्ते भैरवं वपुः ॥ ७ ॥

संप्रदायमिदं भद्रे शृणु सम्यग् वरानने ।
कैवल्यं जायते सद्यो नेत्रयोः स्तब्धमात्रयोः ॥ ८ ॥

दशाधिके महागर्ते स्थित्वोपरि निरीक्षणात् ।
अविकल्पमते सम्यक् सद्यच्चित्तनयस्फुटम् ॥ ९ ॥

यत्र यत्र मनो याति बाह्ये बाह्यान्तरेपि वा ।

p. 82a) तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात्कयास्यति ॥ १० ॥

यत्र यत्राक्षमार्गेण चैतन्यं व्यज्यते विभोः ।
तस्य तन्मात्रधर्मित्वाच्चिल्लयाद्भरितात्मता ॥ ११ ॥

क्षुताद्यन्ते भयेशोके गह्वरे वारणद्रुते ।
कुर्धहले क्षुधाद्यन्ते ब्रह्मसत्ता मयी पशा ॥ १२ ॥

वस्तुषु स्म?र्यमाणेषु दृष्टे देशेमनस्त्यजेत् ।
स्वशरीरं निराधारं ततः प्रसरति प्रभुः ॥ १३ ॥

क्वचिद्वस्तु न बिन्दस्य शनैर्दृष्टिं निवर्तयेत् ।
तज्ज्ञानं * *? सहितं देहि शून्यालयो भवेत् ॥ १४ ॥

भक्त्यद्रेकाद्विरक्तस्य यादृशी ज्ञायते रतिः ।
सा शक्तिः शाङ्करी नित्यं भावयेर्थं ततः शिवः ॥ १५ ॥

वस्त्वन्तरे वेद्यमाने शनैर्वस्तुषु शून्यता ।
p. 82b) तामेवमनु सा ध्यात्वा विदितोपि प्रशाम्यति ॥ १६ ॥

किञ्चिज्ज्ञैर्यः स्मृता शुद्धिस्सशुद्धिश्शम्भुदर्शने ।
न शुचिर्ह्यशुचिस्तस्मान्निर्विकल्पः सुखी भवेत् ॥ १७ ॥

सर्वत्र भैरवो भावः सामान्ये ष्वेवगोचरे ।
न च तद्व्यतिरेकेन परोस्तीत्यद्वया गतिः ॥ १८ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च समोमानावमानयोः ।
ब्रह्मणः परिपूर्णत्वादिति ज्ञात्वा सुखी भवेत् ॥ १९ ॥

न द्वेष भावयोः * * *? न रागं भावयेत् क्वचित् ।
रागद्वेषविनिर्मुक्तो मध्ये ब्रह्मप्रसर्पति ॥ २० ॥

यदि वेद्यं यदा ग्राह्यं यच्छून्यं यदवावगम् ।
तत्सर्वं भैरवं भाव्यं तदन्ते रोधसम्भवम् ॥ २१ ॥

नित्ये निराशये शून्ये व्यापके कलनोज्झिते ।
बाह्याकाशे मनः कृत्वा निराकाशं समाविशेत् ॥ २२ ॥

p. 83a) यत्र यत्र मनोयाति तत्तत्ते नैव लक्षणम् ।
परित्यज्य नवः स्थित्या निस्तरङ्गस्ततो भवेत् ॥ २३ ॥

क्रियात्सर्वं रवयति सर्व देव्यापकोखिले ।
इति भैरवशब्दस्य सन्ततोश्चारणा च्छिवः ॥ २४ ॥

अहं स समयेत्यादि प्रतिपत्ति प्रसङ्गतः ।
निराधारे मनोजाति तद्धयाना प्रेरणाच्छमी ॥ २५ ॥

नित्यो विभुर्निराधारो व्यापकश्चाखिलाधिपः ।
शब्दाः प्रतिक्षणं ध्यायन्प्रकृतार्थानुरूपतः ॥ २६ ॥

अतत्त्वमिन्द्रजालाभमिदं सर्वमवस्थितम् ।
किं तत्वमिन्द्रजालस्य इति दाढर्याअच्छयं व्रजेत् ॥ २७ ॥

आत्मनो निर्विकारस्य क्व ज्ञानं क्व च वा क्रिया ।
ज्ञानायता बहिर्भावादतः शून्यमिदं जगत् ॥ २८ ॥

p. 83b) न मे बन्धन मोक्षोमेती तस्यैव विभीषिकाः ।

प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्विवविवस्वतः ॥ २९ ॥

इन्द्रियद्वारकं सर्वं सुखदुःखादि सङ्गमम् ।
इतीन्द्रियाणि सन्त्यज्य स्वस्थः स्वात्मनि वर्तते ॥ ३० ॥

ज्ञानं प्रकाशकं सर्वं सर्वमात्माप्रकाशकः ।
एवमेव स्वभावत्वाज्ज्ञानज्ञेयो विभाव्यते ॥ ३१ ॥

मानसं चेतना शक्तिरात्मा चेति चतुष्टयम् ।
यदा प्रियो परिक्षीणं तदातद्भैरवं वपुः ॥ ३२ ॥

निस्तरङ्गा पदेशानां शतमुक्तासमासतः ।
द्वादशाभ्यधिकं देवि यज्ज्ञात्वा ज्ञानविज्जनः ॥ ३३ ॥

अत्र चैव तपे युक्ते जायते भैरवः स्वयम् ।
p. 84a) वाचाकरोति कर्माणि शापानुग्रहकारकः ॥ ३४ ॥

अजरामरतामेति सोणिमादि गुणान्वितः ।
योगिनीनां प्रियो देवि सर्वमेलापकाधिपः ॥ ३५ ॥

जीवन्नपि विमुक्तोसौ कुर्वन्नपि च चेष्टितम् ॥ ३६ ॥

इदं यदि वपुर्देव परायाश्च महेश्वर ।
एवमुक्त्वाव्यवस्थायां जपते को जपश्चकः ॥ ३७ ॥

एषात्र प्रक्रिया वक्ष्ये स्थूलेष्वेव मृगेक्षणे ।
भूयोभूयः परे भावे भावना भाव्यते यथा ॥ ३८ ॥

ध्याने या निश्चला बुद्धिर्निराकारा निराश्रया ।
न तु ध्यानं शरीरादि मुखहस्तादि कल्पना ॥ ३९ ॥

प्रजानामन्न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा ।
निर्विकल्पे परे व्योम्नि सा पूजा ह्यदरात्लयः ॥ ४० ॥

p. 84b) महाशून्या लये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम् ।
हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतना स्त्रुचा ॥ ४१ ॥

यागेत्र परमेशानि तुष्टिरानन्द लक्षणा ।

क्षपणात् सर्वपापानां त्राणात्सर्वस्य पार्वति ॥ ४२ ॥

रुद्रशक्ति समावेशस्तत्क्षेत्रं भावना परा ।
अन्यथा तस्य तन्द्रस्य का पूजा कश्च तृप्यति ॥ ४३ ॥

यैरेव पूज्यते द्रव्यैस्तर्पते वा परापरः ।
यश्चैव पूजकः सर्वं स एवैकः प्रपूजनम् ॥ ४४ ॥

व्रजेत् प्राणो विशेज्जीव इच्छाया कुटिला कृतिः ।
दीर्घात्मा सा महादेवी परक्षेत्त्रं परापरा ॥ ४५ ॥

अस्यानु चरतस्तिष्ठेन्महानन्दमयेध्वरे ।
तथादेवा समाविष्टः परं भैरवमाप्नुयात् ॥ ४६ ॥

p. 85a) षट्कतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येक विंशतिः ।
जपो देव्याः समुद्दिष्टः प्राणस्यान्ते सुदुर्लभः ॥ ४७ ॥

इत्ये तत्कथितं देवि परमामृतमुत्तमम् ।
एतच्च नैव कस्यापि प्रकाश्यं न कदाचन ॥ ४८ ॥

परिशिष्येखिले क्रूरे अभक्ते गुरुपादयोः ।
निर्विकल्पमतीनां तु वीराणामुन्नतात्मनाम् ॥ ४९ ॥

भक्तानां गुरुवर्गस्य दातव्यं निर्विशङ्कया ।
ग्रामोराज्यं परोदेशः पुत्रदारकुटुम्भकम् ॥ ५० ॥

सर्वमेतत्परित्यज्य ग्राह्यमेतन्दृगेक्षणे ।
प्राणा अपि प्रदातव्या न देयं परमा मृतम् ॥ ५१ ॥

देव देव महादेव परितृप्तास्मि शङ्कर ।
रुद्रयामल मन्त्रस्य सरसद्यावधारितम् ॥ ५२ ।

p. 85b) सर्वशक्ति प्रभेदानां हृदयं ज्ञातमद्य च ।
इत्युक्त्वा नन्दिता देवी कण्ठे लग्ना शिवस्य तु ॥ ५३ ॥

ओं नमश्चिद्भैरवात्मने शंकराय

अथ

विज्ञानभैरवः

श्रीमद्भट्टानन्दविरचितविज्ञानकौमुदीटीकोपेतः ।

श्रीविद्यां श्रीकण्ठमूर्तिं महेशं

सोमानन्दं भूतिराजोत्पलेशौ ।

कालेनास्तंयातशिवागमानां

प्रोद्धृत्यै ये मर्त्यलोकेवतीर्णाः ॥ १ ॥

नामं नामं तत्पदाम्भोजरेणुं

वाक्कायान्तर्वृत्तिभिर्नुत्तपङ्के ।
चित्तादर्शे मादृशा दृष्टतत्त्वा-
वेशाः शोभन्तेनिशं सत्सदःसु ॥ २ ॥ (युगलकम्)

श्रीलक्ष्मणाभिनवगुप्तमुखांस्त्रिकार्थ-
तत्त्वानुशासनमहाम्बुधिशीतरश्मीन् ।
ध्यात्वा गुरूञ्जडहृदब्जविकासनोद्य-
द्भास्वत्प्रभान्वितिमिरीकृतविश्वमार्गान् ॥ ३ ॥

शर्वाननाम्बुजविनिःसृतधारणानां
गूढायनेपरविभानवलोकनेन ।
संरच्यते प्रतिपदं स्खलतापि तावद्-
विज्ञानभैरवनये पददीपिकेयम् ॥ ४ ॥ (युगलकम्)

पृ। २)

तदिह शास्त्रकृत्स्वयं भैरवः नीलपीतादिविचित्राभिरान्तरवाह्यस्वरूपाभिः
तत्तदर्थक्रियाभिः स्वात्मानमाच्छाद्य ततश्च सूर्यमरीचिनिकरवत्
बहिर्निःसृता भक्तजना एतज्ज्ञानमार्गद्वारा स्वात्मस्वरूपोपलब्ध्या पुनः
प्रविशन्तु तदैक्यमुपयान्तु च इति प्रयोजनमुद्दिश्य
स्वविज्ञानस्फारज्ञान-क्रियादिशक्तिद्वारा प्रष्टृरूपात्मना आह

श्रीभैरव्युवाच ।

इत्यादि

श्रुतं देव मया सर्वं यामलादिषु भाषितम् ।
त्रिकभेदमशेषेण सारात्सारविभागशः ॥ १ ॥

अद्यापि न निवृत्तो मे संशयः परमेश्वर ।
किं रूपं तत्त्वतो देव शब्दराशिकलात्मकम् ॥ २ ॥

किं वा नवात्मभेदेन भैरवे भैरवाकृतौ ।
त्रिशिरोभेदभिन्नं वा किं वा शक्तित्रयात्मकम् ॥ ३ ॥

नादबिन्दुमयं वापि किं चन्द्रार्धनिरोधकम् ।
चक्रारूढमनच्कं वा किं वा शक्तिस्वरूपकम् ॥ ४ ॥

परापरायाः सकलमपरायाश्च वा पुनः ।
पराया यदि तद्वत्स्यात्परत्वं तद्विरुध्यते ॥ ५ ॥

नहि वर्णविभेदेन देहभेदेन वा भवेत्।
परत्वं निष्कलत्वेन सकलत्वेन वा भवेत्॥ ६ ॥

पृ। ३)

प्रसादं कुरु मे नाथ निःशेषं छिन्धि संशयम्।

यत्र यत्किंचित् यामलादिषु शिवशक्तिसंघट्टनात्महेतुषु शास्त्रेषु ब्रह्मविष्णुरुद्रभैरवाख्ययामलेषु तदाख्येषु आगमेषु यत्किंचित् भवन्मुखात् श्रुतं तदैक्योपपत्त्या श्रुतपूर्वमेवास्ति दर्पणप्रतिबिम्बितन्यायेन तदनतिरिक्तं तदतिरिक्तं वा आन्तरतश्चैक्यतया बाह्यतश्च त्रिकभेदनरशक्तिशिवात्मकतया वा इत्यनेनासाधारणतया साधारणतया च श्रुतं श्रुतपूर्वमेवास्ति। इदानीमपि मम संदेहो न निवर्तते। मम भैरवीस्वरूपेण मायादिशक्तिस्वरूपे तदाश्यानतया तत्स्वरूपतादात्म्यात् मम भैरवीति नाम गीयत इत्यर्थः। तस्या मम न संदेहनिवृत्तिः - इदानीमपि न मम त्वदैक्योपपत्तिः संजातेति भावः। स्वात्मभित्तिसंलग्नत्वेन तदुल्लासाद्विश्वभर्त्रीं विश्वमयत्वेनैव सर्वत्र स्फुरणात्तद्ध्रियमाणा वा संसारभीरूणामभयप्रदत्वेन हितकर्त्री भिया

संसारत्रासेन रवतां जनितपरामर्शरूपाक्रन्दवतां हृद्भूमौ स्फुरन्ती वा इत्यादि निरुक्तनिर्दिष्टार्था भैरवी इत्युच्यते। तदेतत्सर्वम् प्रश्नोत्तरतत्त्वनिर्णयं भैरवीभैरवयोः सामरस्यात्मसंघट्टयामलस्वरूपप्रतिपादनं च तन्त्रालोकपरात्रिंशिकादौ वितत्य प्रोक्तं नास्माभिरिह वितन्यते रहस्यतस्करताप्रसङ्गात्। प्रकृतमनुसरामः - तस्य चानुत्तररूपस्य किं रूपं तत्त्वतः सत्यतः तदेव वदेति भावः। तत्र किं शब्दराशिकलात्मकं शब्दब्रह्मात्मकं

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।

इति। अथ वा अकारादि-क्षकारान्तशब्दतया अहमिति स्वरूपतया च वा अ क्ष इत्यात्मतया चेति किं वा नवतत्त्वात्मतया नववामादिशक्तिस्वरूपतया च भैरवे सच्चिदानन्दलक्षणपूर्णाहं-

पृ। ४)

भावस्वरूपभूते भैरवाकृतौ पञ्चकृत्यस्वभावभूते चित्तत्त्वे वा नरशक्तिशिवात्मना त्रिशिरोभेदभिन्नं वा तत् तत्त्वं मातृमानमेयादिव्यापारत्रयात्मना वा इच्छादिशक्तित्रयव्यापारात्मना च

वा नादबिन्दुमयेन

शिवशक्त्यात्मकशब्दप्रत्ययरूपज्ञानक्रियाशक्त्यात्मना वा

प्रणवाङ्गामाख्यार्धचन्द्रनिरोधात्मकव्यापारेण वा

षट्पत्रादिचक्रस्थितं किंचित्तत्त्वं कुण्डलिन्याकृतिसार्धत्रिवलयस्फुरितं वा

अकारादिक्षकारान्तचक्रारूढस्वभावम् अहमिति स्फुरणं वा अनच्कम्

अकारादिषोडशस्वरराहित्येन ककारादिक्षकारान्तरूपं क् ख् ग् घ् ङ् इत्यादि

स्वरूपं वा अथ च ओं नमः श्रीविद्यापादुकाभ्यः इत्येवं

स्वरव्यञ्जनसंयुक्तं रूपम् उच्चारवर्जितं निष्कलं रूपम् अ उ म् न् अ मः र् ई

व् इ द् य् आ प् आ द् उ क् आ भ् यः इत्येवं रूपं वा तत् सर्वं वद वा पराया

वाचः

स्वरूपं वा अपराया वाचः स्वरूपं वा परापराया वाचः स्वरूपमस्ति ?

स्वातन्त्र्यशक्तिरेव हि परा सैव क्रमं स्रष्टुमिच्छन्ती अपरा सैव च

क्रमरूपा सती परापरेति कथिता। तथा च तन्त्रालोके

स्वातन्त्र्यशक्तिः क्रमसंसिसृक्षा

क्रमात्मता चेति विभोर्विभूतिः।

तदेव देवीत्रयमन्तरास्ता-

मनुत्तरं मे प्रथयत्स्वरूपम्॥

इत्यादिना। इत्येवमपरायाः वा परापरायाश्च स्वरूपस्य तादात्म्यात् पराया अपि यदि तद्वदेव स्यात् परत्वं तदिविरुध्येत। परापरापराभेदयोर्भेदोपपत्त्यां तत्राभेदस्वभावात् तत् परत्वं परास्वरूपे विरुध्येतेति तथा परापरापरास्वरूपयोर्हि सकलमेव वेद्यराशिपतितं विरुध्येत परायामिति भावः। अत्र परायां तदभे-

पृ। ५)

ओदुपपादनादिति विरुद्धमेतत् न च ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रादिभेदेन न च देहभेदेन वा न च सुरनरतिर्यगादीनां नानाशरीररचनया तत्परत्वं निष्कलत्वेन सकलत्वेन वा भवेत् ? - इत्येवं वाक्कायमनसामेकीभावनया मम प्रसादं कुरु प्रसाददृष्टिं ददस्व किमिदं किमिदमित्यादिभावनया सर्वं विहाय एककोटिस्पर्शनात् परौन्मुख्यत्यागात् प्रमेयपरिहारात् वा प्रमातृतत्त्वाहंभावनया वा यत्किंचित् प्रमातृतत्त्वं तदेवोपपादयेति भावः। यच्च मम हृदि संशयः किमयम् किमयम् किमिदं किं वा इदम् किमन्यथा इत्यादि भेददशापन्ने निर्णयं वद - एकमेव यत् प्रमातृतत्त्वं स्वप्रकाशं तदेव मे दर्शय येन दर्पणप्रतिबिम्बितन्यायेन स्वात्मनि सर्वस्यास्यानतिरिक्तताप्रसङ्गात् अभेदोपपत्त्या अहमिति स्वरूपविश्रान्तेः सर्वमिदं मत्स्वरूपमिति निर्णयः स्यात्। प्रकर्षेणासादनं प्रसादः

भेदापसरणेनाभेदोपपत्त्या स्वात्मैक्यताप्रतिपादनयुक्तिं विरचयेति
तात्पर्यम् ॥ १-६ ॥

तदेवं स्वाभिन्नस्वसंविद्भैरवीरूपेणानुयुक्तस्य तत्त्वविषयागमस्य
निर्णायकपदस्थः स्वयं परमेश्वरः सिद्धान्तोपदेष्टा

भैरव उवाच

इत्यादिना तत्र भैरवशब्दार्थस्तदभिन्नस्वरूपत्वेन निर्दिष्टभैरवीशब्दे
प्राङ्निर्वाहितः अथ च भैर्भीमादिभिरवति इति भैरवः अहमिति स्फुरणात्
इदन्ताया विनाशात् आश्यानस्येव हिमघृतादेरिति भावः। उवाचेति
स्वाभिन्नस्वरूपां संविच्छक्तिमभिमुखीकृत्य प्रतिशृणोति।

साधु साधु त्वया पृष्टं तन्त्रसारमिदं प्रिये ॥ ७ ॥

पृ। ६)

गूहनीयतमं भद्रे तथापि कथयामि ते।
यत्किंचित्सकलं रूपं भैरवस्य प्रकीर्तितम् ॥ ८ ॥

तदसारतया देवि विज्ञेयमिन्द्रजालवत्।

मायास्वप्नोपमं चैव गन्धर्वनगरभ्रमम्॥ ९॥

ध्यानार्थं भ्रान्तबुद्धीनां क्रियाडम्बरवर्तिनाम्।

केवलं वर्णितं पुंसां विकल्पनिहतात्मनाम्॥ १०॥

तत्त्वतो न नवात्मासौ शब्दराशिर्न भैरवः।

न चापि त्रिशिरा देवो न च शक्तित्रयात्मकः॥ ११॥

नादबिन्दुमयो वापि न चन्द्रार्धनिरोधकः।

न चक्रक्रमसंभिन्नो न च शक्तिस्वरूपकः॥ १२॥

अप्रबुद्धमतीनां हि चैता बालविभीषिकाः।

मातृमोदकवत्सर्वं प्रवृत्त्यर्थमुदाहृतम्॥ १३॥

दिक्कालकलनातीता देशोद्देशाविशेषिणी।

व्यपदेष्टुमशक्या सा न कथ्या परमार्थतः॥ १४॥

अन्तःस्वानुभवानन्दा विकल्पोन्मुक्तगोचरा ।
यावस्था भरिताकारा भैरवी भैरवात्मनः ॥ १५ ॥

तद्वपुस्तत्त्वतो ज्ञेयं विमलं विश्वपूरणम् ।
एवंविधे परे तत्त्वे कः पूज्यः कश्च तृप्यति ॥ १६ ॥

प् । ७)

एवंइधा भैरवस्य यावस्था परिगीयते ।
सा परापररूपेण परा देवी प्रकीर्तिता ॥ १७ ॥

शक्तिशक्तिमतोर्यस्मादभेदः सर्वदा स्थितः ।
अतस्तद्धर्मधर्मित्वात्परा शक्तिः परात्मनः ॥ १८ ॥

न वह्नेर्दाहिका शक्तिर्व्यतिरिक्ता विभाव्यते ।
केवलं ज्ञानसत्तायां प्रारम्भोयं प्रवेशने ॥ १९ ॥

शक्त्यवस्थाप्रविष्टस्य निर्विभागेन भावना ।
तदासौ शिवरूपी स्याच्छैवी मुखमिहोच्यते ॥ २० ॥

यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य वा ।

ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवस्य च ॥ २१ ॥

हे देवि यत् त्वया पृष्टं तत् साधु साधु परमेष्टत्वात् पुनरुक्त्या साधु साधु निर्देशः यत् त्वया तन्त्राणां निश्चयानां सारं पृष्टं तत् त्वया गूहनीयं स्वात्मनि अभेदेन ध्यातव्यमिति भावः न तु वाचा वैखर्यादिना ततोपि अहमपि वदामि नान्यथा । यच्च भैरवस्य द्वैविध्येन सकलं निष्कलं च रूपं प्रसिद्धमेतत्सकलं जगद्रूपं नीलानीलघटादिनानावैचित्र्येण तत् सर्वं गन्धर्वनगरवदिन्द्रजालतुल्यमिति शेषः - भुक्त्वा पीत्वा सुखमहमस्वाप्समित्यत्र स्वप्नोपमदृष्टतुल्यं गन्धर्वनगरतुल्यं चेति - तथा अप्रबुद्धमतीनां भ्रान्तमतीनां कर्मप्रधानफलाभिसन्धिवर्तिनां स्थूलध्यानयोगार्थम् अहं विष्णुं यजामि अहं गणपतिं यजामीति स पुत्रं दास्यति

पृ। ८)

मह्यम् इति विकल्पनिहतात्मनां पुंसां वर्णितम् । तत्त्वतो न नवात्मासौ - नवतत्त्वस्वरूपः न वा वामादिनवशक्तिस्वरूपः न चापि नरशक्तिशिवात्मा

न वा इच्छाज्ञानक्रियाशक्तित्रयात्मा च न च शिवशक्तिस्वरूपः नादः शक्तिः
बिन्दुश्च शिव इति शब्दप्रत्ययरूपं ज्ञानक्रियात्मकं वा न च
अमाख्यार्धचन्द्रनिरोधात्मकं च प्रणवस्य न च षट्चक्रादिभेदगं
कुण्डलिन्यादिरूपेण वा - अकारादिक्षकारान्तवर्णचक्रग-अहमिति
स्वरूपं न वा कुण्डलिन्यादिशक्तिस्वरूपभाक् - परं तु मूढमतीनाम्
एता बालविभीषिकाः अभिनिवेशादिप्रशमाय बालो हि विभीषिकाभिर्लाल्यत एव
स्वमात्रा अथ चौषधादिभक्षणार्थं स्वमात्रा मोदकं वा शर्करां
दास्यामीति लाल्यते। एवं सा परावस्था दिक्षु कालेषु भूतादिषु कलनातीता या
आसीत्

सास्ति भविष्यति चेति दूरासन्नादिनानात्वेन अविशेषिणी उपदेष्टुमशक्यापि तव
उपदिशामिति शेषः। पूर्णाहन्ता स्वप्रकाशैकस्वरूपा निर्विकल्पपरमार्था च
पूर्णस्वरूपस्य भैरवस्य या भरिताकारावस्था अहमिति विश्रान्तिमयी तदेव
भैरवं वपुर्विज्ञेयमिति भावः। एवमस्मिन् भैरवे तत्त्वे कः पूज्यः को वा
तृप्तः वा तृप्यति। एवमनेन रूपेण परावस्था भैरवस्य प्रकीर्तिता।
यतश्चानयोः शक्तिशक्तिमतोरभेदस्तस्मात् इयं परा शक्तिरिति कथ्यते। अत्र च
दृष्टान्तोपि - यथा वह्नेर्दाहिका शक्तिर्न भिन्ना तथेयं शक्तिरपि परा
इति एतन्मुखेन भैरवसांमुख्यं स्यादिति भावः। पुनरपि च दृष्टान्तोत्र
- यथा हि वक्रेणैव अयमिति लभ्यते तथा शक्त्यैव शिवोयमिति व्यपदेशः
। अपरोपि च दृष्टान्तः - यथा दीपप्रकाशेन वा सूर्यालोकेन च

दिग्विभागादि ज्ञायत एव एवं शक्त्या शिवावभसनमिति सिद्धम्॥ ७-२१ ॥

प्।९)

श्रीभैरवी उवाच

देवदेव त्रिशूलाङ्क कपालकृतभूषण।
दिग्देशकालशून्या च व्यपदेशविवर्जिता॥
या शक्तिर्भरिताकारा भैरवस्योपलभ्यते।
कैरुपायैर्मुखं तस्याः परा देवी कथं भवेत्॥
यथा सम्यगहं वेद्मि तथा ब्रूहि मम प्रभो॥

इच्छाज्ञानक्रियात्मशक्तित्रय-भरितस्वरूपसत्तया उपलक्षित ?
विश्वस्य च संहारेण स्वात्मनि तत्स्थित्या अस्थिशेषतया विश्वस्य धारणं
कपालपाणित्वं सिद्धमीश्वरस्य। दिक्षु दशसु देशे काले भूतादौ शून्या
तदविभागा परेति नाम्ना लक्ष्यते तन्मुखं तद्दर्शनं च केनोपायेन
भवेदिति शेषः। यथा चाहं त्वत्स्वरूपतया भवामि त्वदभेदोपपत्तेः
तथैव मे ब्रूहि - तत्रैव प्रवेशय इति भावः॥

श्रीभैरव उवाच

ऊर्ध्वे प्राणो ह्यधो जीवो विसर्गात्मा परोच्चरेत्।
उत्पत्तिद्वितयस्थाने भरणाद्भरितस्थितिः॥ २४॥

ऊर्ध्वे द्वादशान्ते प्राणः प्राणनरूपः जीवनाख्यः चित्तवृत्तिविशेषः संस्थाप्यः अधश्च - हृदि हृदयस्थाने जीवोपानः - जीव्यतेनेन इति जीवः भक्षणपानादेरधोमार्गप्रसरणात् जीव इति उच्यते तदुपाधिवान् अत एव जीव इति विसर्गात्मा अन्तर्बहिर्भावकरणरूप आत्मा यस्य तेनापि परैव उच्चारमायाति अहमैति अन्तश्चकारूढा एतयोर्द्वयोर्विभेदापत्त्या अहमिति प्रकाशनात्

प्।१०)

उत्पत्तौ द्वादशान्ते द्वितीये हृदि च धारणात्। तत्र स्थित्या भरितस्थितिः स्यादेव इति सर्वोपाधिविस्मरणात् अहमिति विमर्शवान् स्यात् इति संबन्धः। इति प्रथमा धारणा॥ २४॥

अथ द्वितीयामाह

मरुतोन्तर्बहिर्वापि वियद्युग्मानुवर्तनात् [युग्मानिवर्तनात् भैरव्या
भैरवस्य इति च पाठः] ।
भैरवं भैरवस्येत्थं भैरवि व्यज्यते वपुः ॥ २५ ॥

प्राणापानरूपस्य मरुतोन्तर्बहिर्वियद्युग्मे द्वादशान्ते हृदये चातुवर्तनात्
- अनुन्मेषनिमेषणात् । हे भैरवि ? भैरवस्य परमात्मनः वपुः
शरीरं स्वरूपं व्यज्यते प्रकाशत एव ॥ २५ ॥

तृतीयां धारणामाह

न व्रजेन्न विशेच्छक्तिर्मरुद्रूपा विकासते [विकासिते भैरवरूपता इति
च पाठः] ।
निर्विकल्पतया मध्ये तया भैरवरूपधृत् ॥ २६ ॥

हृदि यः प्राणः स तु न व्रजेत् तत्स्थानात् नापि विशेत् यत्रैवास्ति
निर्विकल्परूपस्तत्रैवास्तु अस्पन्दात्मा । एवमेव द्वादशान्तेपि
स्पन्दास्पन्दराहित्येन निर्विकल्पसमाधौ तन्मध्ये भैरवरूपाभिव्यक्तिः ॥ २६
॥

चतुर्थीं धारणां निरूपयति

कुम्भिता रेचिता वापि पूरिता वा यदा भवेत्।
तदन्ते शान्तनामासौ शक्त्या शान्तः प्रकाशते ॥ २७ ॥

प्।११)

शास्त्रमार्गानुसारेण कुम्भकं रेचकं वा पूरकं विधाय
तत्तदभ्यासपरिशीलनेन च चक्रभ्रमिवत् शान्तवेगानुभवेन
प्रकाशमात्रावस्थोदये परापरस्वभावः प्रकाशत एव। तथा च तिष्ठति
संस्कारवशात् चक्रभ्रमिरिव धृतशरीर इत्यन्तेन प्रकाशः प्रकाशत एव।
प्रत्यभिज्ञायां चैतत्प्रपञ्चितम्

इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता।
या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोहमित्ययम्॥

इत्यादिना ॥ २७ ॥

इदानीं पञ्चमीमाह

आ मूलात्किरणाभासां सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरात्मिकाम्।
चिन्तयेत्तां द्विषट्कान्ते शाम्यन्तीं भैरवोदयः॥ २८॥

आ मूलात् हृदयात् किरणैर्भासमानां चन्द्रार्कबिम्बवत् भासनस्वभावां क्रमात् क्रमं तनुतां तनुतां श्रयन्तीं च अत एव च सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरां नामरूपातीतां द्विषट्कान्ते द्वादशान्ते संचिन्त्य सुसूक्ष्मतमस्यापि ध्येयाकारस्य गलनात् भैरवरूपो भवेदिति शेषः तां च शाम्यन्तीं सतीं संत्यज्येति भावः॥ २८॥

एतदेव दर्शयति षष्ठ्या

उद्गच्छन्तीं तडिद्रूपां प्रतिचक्रं क्रमात्क्रमम्।
ऊर्ध्वं मुष्टित्रयं यावत्तावदन्ते महोदयः॥ २९॥

कन्दादिब्रह्मरन्ध्रान्तं क्रमात् क्रमेण उद्गच्छन्तीं तडिदाकारसंनिभां प्रोज्ज्वलद्रूपां तदूर्ध्वं च चतुरङ्गुलपरिमितां मुष्टिं यावद्-

प्। १२)

द्वादशान्तं तावदन्ते महोदयः मुष्टित्रयशेषेण महोदयः
अहमित्यवमर्शः स्यादेवेति । तथा च श्रीभगवता गीतम्

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।

इत्यादिना । तथा च

सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः ।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेपि महेशता ॥

इत्यादिना प्रत्यभिज्ञायामपि ॥ २९ ॥

सप्तमीमाह

क्रमद्वादशकं सम्यग्द्वादशाक्षरभेदितम् ।
स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या मुत्त्वा मुत्त्वा ततः [मुत्त्वान्तत इति
पाठः] शिवः ॥ ३० ॥

जन्माग्रमूलकन्दनाभिहृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यललाटरन्ध्रशक्तिव्यापिन्या

ख्यं यत् चक्राणां द्वादशकं द्वादशस्थाननामभिः प्रसिद्धं तच्च
आदौ ध्यानेन स्फुटं ततश्च स्पन्दमानं ततोपि ज्योतीरूपतां प्राप्तं
सूक्ष्मं परमित्यभिधीयते तदभिधानेन च सर्वजित्त्वात् सर्वत्रावभासकः
शिव एव प्रकाशते परमार्थतः ॥ ३० ॥

इदानीमष्टमीमाह

तथापूर्याशु [तयापूर्येति पाठः] मूर्धान्तं भङ्क्त्वा
भ्रूक्षेपसेतुना ।
निर्विकल्पं मनः कृत्वा सर्वोर्ध्वे सर्वगोद्गमः ॥ ३१ ॥

पृ। १३)

जन्मादिचक्रेभ्य ऊर्ध्वोर्ध्वक्रमेण प्राणेन मूर्धान्तं द्वादशान्तं
पूरयित्वा उपारोहितयोर्भ्रुवोर्भङ्गेन सेतुनेव वारिप्रवाहं मनो भङ्क्त्वा
त्यक्तचापलं विधाय अत एव निर्विकल्पं तन्मनः कृत्वा सर्वोर्ध्वे
द्वादशान्तादपि चोर्ध्वे परमाकाशे सर्वव्यापकत्वं स्यादेव इति निश्चयः ॥
३१ ॥

इदानीं नवमीमाह

शिखिपक्षैश्चित्ररूपरिमण्डलैः शून्यपञ्चकम् ।
ध्यायतोनुत्तरे शून्ये प्रवेशो हृदये भवेत् ॥ ३२ ॥

यथाहि शिखिपक्षैर्मयूरपुच्छैश्चित्ररूपैरनेकवर्णैरिव पञ्चेन्द्रियमण्डलानि चित्रवत् भासमानानि चित्रमेतत् शून्यमेव इति ध्यायतोनुत्तररूपे शून्ये परमधामनि प्रवेशः परमा गतिः स्यादिति निश्चयः । गन्धर्वनगरतुल्यं चित्रमिवेदम् इति निश्चयेन परमार्थसिद्धिः स्यादेवेति भावः ॥ ३२ ॥

इदानीं दशमीमाह

ईदृशेन क्रमेणैव यत्र यत्रापि चिन्तयेत् [चिन्तना इति पाठः] ।
शून्ये कुड्ये परे पात्रे स्वयं लीना वरप्रदा ॥ ३३ ॥

एवं क्रमेण ध्यायतः परे स्वात्मनि वा अन्यत्र कुड्यादौ वा परपात्रे च एकाग्रभावनादार्ढ्यावाप्तौ मरुच्छक्तिः स्वयं लीना स्यात् - यत्र तत्र परपदपरामर्शैक्यभावेन अहंरूपतादात्म्यताभिमानः स्यादित्यर्थः ।

तथा च श्रीस्पन्दे

पू। १४)

यस्मात्सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवात्।
तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः॥

तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न या शिवः।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः॥

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
संपश्यन्ससततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः॥

इत्यादिना निरूपितम्॥ ३३॥

एकादशीमाह

कपालान्तर्मनो न्यस्य तिष्ठेन्मीलितलोचनः [तिष्ठन्मीलितेति
पाठः]।

क्रमेण मनसो दाढर्याल्लक्षयेल्लक्ष्यमुत्तमम् ॥ ३४ ॥

कपालकुहरान्तः - शिरःकवाटमध्ये मीलितलोचनोन्तःसंकुचितहृदयादिबाह्यान्तरिन्द्रियवर्गः सुषुम्नायामस्तङ्गतप्राणापानादिचारेण तद्दाढर्यात् यत् लक्ष्यमस्ति तदेव लक्षयेत् घटोयमितिवत् प्रत्यक्षत उत्तमं ज्योतिः पश्यतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

द्वादशीमाह

मध्यनाडी मध्यसंस्था बिससूत्राभरूपया ।
ध्यातान्तर्व्योमया देव्या तया देवः प्रकाशते ॥ ३५ ॥

बिसतन्तुतनीयसी इति लक्षिताया ध्यातमन्तर्व्योम यस्यास्तादृश्या भैरव्याः शून्यं रूपं ध्यातं सत् दृष्टिमात्रतो देवः स्वयंप्रकाशः प्रकाशत इति भावः । स्पन्दे च

पृ । १५)

तदा तस्मिन्महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे ।

सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः ॥

इत्यादिना वितत्य दर्शितम् ॥ ३५ ॥

त्रयोदशीमाह

कररुद्धदृगस्त्रेण भ्रूभेदाद्द्वाररोधनात् ।
दृष्टे बिन्दौ क्रमाल्लीने तन्मध्ये परमा स्थितिः ॥ ३६ ॥

कराभ्यां रुद्धानि दृगुपलक्षितानि मुखरन्ध्राणि येन एतादृशस्य योगिनो भ्रूमध्यग्रन्थिविदारणात् बिन्दौ दृष्टे क्रमात् एकाग्रताप्रकर्षेण लीने तन्मध्ये परमा स्थितिः - परभैरवाभिव्यक्तिः स्यादित्यर्थः ॥ ३६ ॥

चतुर्दशीमाह

धामान्तःक्षोभसंभूतसूक्ष्माग्नितिलकाकृतिम् ।
बिन्दुं शिखान्ते हृदये लयान्ते ध्यायतो लयः ॥ ३७ ॥

धाम्नो लोचनवर्तिनस्तेजसोन्तःक्षोभेण अत्यन्तनिष्पीडनादिना संभूतं ।

यद्वा धाम्नो दीपादेस्तेजोमयस्यान्ते निर्वाणताप्राप्तिसमये यः
क्षोभश्चाञ्चल्यं ततः संभूतं सूक्ष्माग्नितिलकाकृतिं बिन्दुं
ध्यायतः शिखान्ते द्वादशान्ते हृदये गलितलयान्तरे लयः
तदैक्योपपत्तिर्भवेत्। गलिते विकल्पे तदवसाने च परमतेजस्तत्त्वसमावेशः
स्यादित्यर्थः॥ ३८॥

पृ। १६)

पञ्चदशीमाह

अनाहतेपात्रकर्णेभग्नशब्दे सरिद्द्रुते।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥ ३८॥

यत् दशधोपलक्षितं शब्दब्रह्म तत्रनिष्ठत्वेन परं ब्रह्मावाप्तिः। शब्दे
कथंभूते न वहिः प्रसरणरूपैर्नीलादिभिराहते व्याप्ते अत एव च न पात्रे
कर्णौ यस्येति स्थूलशब्दादिव्यतिरिक्तत्वात् अतश्च अभग्नशब्दे न भग्नः
शब्दो यस्य अनाहते शब्दे नादभट्टारकशब्दब्रह्मरूपे सरिद्द्रुते च
वेगवाहिनि तत्र च दृढनिष्ठः सन् ब्रह्मत्वमाप्नुयादिति भावः॥ ३८॥

षोडशीं धारणामाह

प्रणवादिसमुच्चारात्प्लुतान्ते शून्यभावनात्।
शून्यया परया शक्त्या शून्यतामेति भैरवि ॥ ३९ ॥

प्रणवादीनां लघूच्चारात् तदनन्तरं च दीर्घोच्चारात् तदनन्तरं
प्लुतोच्चाराच्च कुक्कुटरुतवत् व्याप्तेः तदनन्तरं विजित्य तां
शून्यावस्थालम्बनेन शून्यातिशून्योच्चारेण शून्यतामुल्लङ्घ्य
अन्तर्मुखताभ्यासात् परमा गतिः करबिल्ववत् संभाव्या नान्यथा ॥ ३९ ॥

सप्तदशीमाह

यस्य कस्यापि वर्णस्य पूर्वान्तावनुभावयेत्।
शून्यया शून्यभूतोसौ शून्याकारः पुमान्भवेत्॥ ४० ॥

पृ। १७)

पूर्वं शिक्षा ततस्तदनुभवः ततोपि गुरुप्रसादादिना तदन्ते तन्निश्चयः
ततोन्तर्नाडीचक्रादिपरीक्षा ततश्च शून्यातिशून्ययोजनया ओमिति निश्चित्य तं च
परब्रह्मणि ततश्च शून्यातिशून्यतामेति - सर्वमिदं

गन्धर्वनगरादितुल्यवृत्तान्तं यदन्यत् तद्ब्रह्म इति बुद्ध्या अतिरिच्यते ॥ ४० ॥

अष्टादशीमाह

तन्त्र्यादिवाद्यशब्देषु दीर्घेषु क्रमसंस्थितेः ।
अनन्यचेताः प्रत्यन्ते परव्योमवपुर्भवेत् ॥ ४१ ॥

शब्दानुरणनन्यायेन पानकचर्वणन्यायेन च पश्चात् अनुभाव्य किमिदं
किमत्र प्रयोजनं वा दे-व-द-ता इति प्रहरप्रहरोच्चारिता वर्णा
नानुभवमधिरोहन्ति पश्चात् देवदत्त इति सामीप्यतया उच्चारात् अस्ति किंचिदिति
तत्पश्चात् ज्ञानान्तरात् ज्ञानस्य संभवेन देवदत्तो नाम कश्चित् ब्राह्मण इति
तदनन्तरं च पौर्वः पाश्चात्यः दाक्षिणः औत्तरो वा इति तदनन्तरं
वेदाध्ययनशीलः तदनन्तरमयं वामनदत्तपुत्रः तदनन्तरं च
सुखदत्तभ्राता तदनन्तरं च पृथूदर्याः पुत्रः इति जातिनामादियुक्ततया
उपलभ्यत एव । तद्वत् तन्त्र्यादिवाद्यभूतेषु क्रमेषु अनन्यचेताः लयत्व-
समत्व-तालादौ दत्तमनाः ऐकाग्र्यदृढाभ्यासात् तदेकीभावनया
ब्रह्मैव भवति - परव्योमतनुः स्यादिति भावः शब्दब्रह्मणि निष्णातः
परं ब्रह्माधिगच्छति इति प्रागुक्तदिशा । अथ वा शब्दब्रह्मातिवर्तते इति ॥ ४१ ॥

प्। १८)

इदानीमेकोनविंशीमाह

पिण्डमन्त्रस्य सर्वस्य स्थूलवर्णक्रमेण तु।
अर्धेन्दुबिन्दुनादान्तशून्योच्चाराद्भवेच्छिवः॥ ४२॥

पूर्वोक्तनवात्मादेः वामादिशक्त्यादिना वा नवतत्त्वादेः अकारादि-
हकारान्तेन च शिवशक्तिसमागमेन अहमिति वा ओमित्यस्योच्चारो यः अकार-
उकार-मकार-बिन्दु-अर्धचन्द्र-नाद-नादान्त-
समना-उन्मना-परा-शक्ति-व्यापिन्यादिक्रमेण
पाश्चात्यरूपमेव निश्चयेन निश्चित्य पर्यवसानेन शून्योच्चारात् शिवो
भवेदिति भावः॥ ४२॥

इदानीं विंशतितमीं धारणामाह

निजदेहे सर्वदिक्कं युगपद्भावयेद्वियत्।
निर्विकल्पमनास्तस्य वियत्सर्वं प्रवर्तते॥ ४३॥

यदि निर्विकल्पमना एकाग्रमनाः स्यात् सर्वासु पूर्वादिदिक्षु वियदेव भावयन्
- सर्वत एव शून्यतां भावयन् न नीलपीतादिकं किमप्यस्तीति शुक्ताविदं
रजतम् इतिवत् अविषयम् इत्येवं भावनया परमशून्यः स्यादिति यतस्तस्य
शून्यादिविकल्प एव । तथा च प्रत्यभिज्ञायामेतन्निर्दिष्टमस्ति

चित्तत्त्वं मायया हित्वा भिन्न एवावभाति यः ।
देहे बुद्धावयः प्राणे कल्पिते नभसीव वा ॥

प्रमातृत्वेनाहमिति विमर्शोऽन्यव्यपोहनात् ।
विकल्प एव स परप्रतियोग्यवभासजः ॥

प्। १९)

इत्यादिना यत्परं शून्यातिशून्यं शिवतत्त्वं तदेव ज्ञेयमिति भावः ।
यतश्च तत्रैव

शून्याद्यबोधरूपास्तु कर्तारः प्रलयाकलाः ।
तेषां कार्ममलोप्यस्ति मायीयस्तु विकल्पितः ॥

इति निर्धारितम्॥ ४३॥

इदानीमपरां धारणामाह

पृष्ठशून्यं मूलशून्यं युगपद्भावयेच्च यः।
युगपन्निर्विकल्पत्वान्निर्विकल्पोदयस्ततः॥ ४४॥
[पृष्ठशून्यं मूलशून्यं युगपद्भावयेश यः।
शरीरनिरपेक्षिण्या शक्त्या शून्यमना भवेत्॥
पृष्ठशून्यं मूलशून्यं हृच्छून्यं भावयेत्स्थिरम्।
युगपन्निर्विकल्पत्वान्निर्विकल्पोदयस्ततः॥

इत्यादिपाठः पद्यद्वयात्मा उद्योते मूलेस्ति।

अनुमीयते च यदेतन्मध्यमं पादचतुष्टयं श्रीशिवोपाध्यायेर्व्याख्यातं
च पुनरुक्ततयाधिकं संभवति अत एवास्मिन्पुस्तके वस्तुतोविद्यमानं स्यादिति।
]

ऊर्ध्वाधो दक्षिणतोत्तरतः सर्वतोपि शून्यमेव ध्यात्वा

सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

इति भावनया विचिन्त्य शिवतत्त्वं करस्थविल्ववत् आभाति इति नाश्चर्यम् ॥ ४४ ॥

अपरामाह

तनूद्देशे शून्यतैव क्षणमात्रं विभावयेत् ।
निर्विकल्पे निर्विकल्पो निर्विकल्पस्वरूपभाक् [निर्विकल्पं निर्विकल्पो निर्विकल्पे वा इति पाठः] ॥ ४५ ॥

पृ । २०)

शिवतत्त्वं विना न किमपि सर्वमेतत् चिद्विलासास्पदमाश्यानतया चित्रितमिव विभाति । तथा च सिद्धान्तमुक्तावल्यां

पश्यामि चित्रमिव सर्वमिदं द्वितीयं
तिष्ठामि निष्कलवदेक अनेकरूपः ।
आत्मानमद्वयमनन्तसुखैकरूपं
स्मरामि दग्धरशनामिव सुप्रपञ्चम् ॥

आश्चर्यमप्यनुभवामि करस्थबिल्व-

तुल्यं शरीरमहिनिर्लुयनीव वीक्षे।

एवं च जीवनमपि प्रतिभासनं च

निःश्रेयसोधिगमनं च मम प्रसिद्धम्॥

इत्यादिना आम्नातमस्ति। इत्येवं गन्धर्वनगरादिवत् प्रसिद्धमप्रतिष्ठितम् इति सिद्धम्॥ ४५॥

अपरामपि आह

सर्वं देहगतं द्रव्यं वियद्व्याप्तं मृगेक्षणे।

विभावयेत्ततस्तस्य भावना सा स्थिरा भवे॥ ४६॥

शून्यव्याप्तं सर्वमिदं रज्जुभुजङ्गवत् असत्यस्वरूपसाध्यत्वाद्वा गन्धर्वनगरादिवत् इत्येवं धारणया यत् देहगतं मांसादि द्रव्यं तत् शून्यतया प्रसिद्धम् इति दृढभावनास्थित्या प्रकाशमानप्रकाशः स्यादित्यर्थः॥ ४६॥

पृ। २१)

अपरमाहा

देहान्तरे दिग्विभागं भित्तिमात्रं विचिन्तयेत्।
न किंचिदन्तरे तस्य ध्यायन्न ध्येयभाग्भवेत्॥ ४७॥

पञ्चभूतपञ्चीकरणयुक्त्या संबद्धं सत् शरीरमुद्भूतं यच्च स्थूलं विनश्यत्स्वभावं करिकर्णाग्रचपलं च इति नात्र स्थिरता आसीत् अस्ति स्याद्वा इति तथा दिग्विभागादि नास्ति बाह्यजडभित्तिमात्रमिदं दक्षिणपार्श्वम् इदं वोत्तरम् इत्यादिना तस्मात् असदिति समीक्षयेत्। प्रमाता च सदिति सन्निश्चयेन ज्ञानीत्युच्यते॥ ४७॥

अपरामाह

हृद्याकाशे निलीनाक्षः पद्मसंपुटमध्यगः।
अनन्यचेताः सुभगे परं सौभाग्यमाप्नुयात्॥ ४८॥

हृत्पद्मे बद्धबाह्याभ्यन्तरेन्द्रियचक्रः तत्पद्मपुटमध्यगश्च अत एवानन्यचेताः परं सौभाग्यमाप्नुयात् - बाह्यविषयोपरमात् आभ्यन्तरोदयः संभवेदित्यर्थः॥ ४८॥

अपरामाह

सर्वतः स्वशरीरस्य द्वादशान्ते मनोलयात्।
दृढबुद्धेर्दृढीभूतं तत्त्वलक्ष्यं प्रवर्तते [त्वग्विभागं
भित्तिभूतमिति ध्यायनध्येय इति च पाठः] ॥ ४९॥

प्। २२)

दृढबुद्धेर्योगिनः दृढीभूतं प्राप्तैकाग्र्यं परप्रकाशरूपं
तत्त्वलक्ष्यं प्रवर्तते द्वादशान्ते शून्यातिशून्ये मनसो लयात् वासनाक्षयात्।
अथ वा मध्यधाम्नि सुषुम्नायां। तथा च

सौषुम्नेध्वन्यस्तमितौ हित्वा ब्रह्माण्डगोचरम्

इत्यादिना स्पन्दे विशदीकृतम्॥ ४९॥

अपरामाह

यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत्।

प्रतिक्षणं क्षीणवृत्तेर्वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत् ॥ ५० ॥

एवमेव पूर्वोक्तेन प्रकारेण प्रशान्तचाञ्चल्यस्य
असामान्यपरभैरवताभिव्यक्तिः स्यादेवेत्यर्थः ॥ ५० ॥

अपरामाह

कालाग्निना कालपुरादुत्थितेन स्वकं पुरम् ।
प्लुष्टं विचिन्तयेदन्ते शान्ताभासः प्रजायते [कालपदादिति
शान्ताभासस्तदा भवेदिति च पाठः] ॥ ५१ ॥

दक्षपादाङ्गुष्ठात् उत्थितेन कालाग्निना देहं दग्धं योगतो विभाव्य
योगिनः चिन्मयमूर्तिमान् विभावसुः प्रकाशत इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

पपरामाह

एवमेव जगत्सर्वं दग्धं ध्यात्वा विकल्पतः ।
अनन्यचेतसः पुंसः पुंभावः परमो भवेत् ॥ ५२ ॥

पृ। २३)

एवमेवेति दक्षपादाङ्गुष्ठोद्भवकालाग्निरुद्रज्वालया सर्वं देहस्थं बाह्याभ्यन्तरं दग्धं विभाव्य निर्विकल्पचेतसः पुरुषार्थत्वं परोत्कृष्टतया भवेदिति शेषः॥ ५२॥

अपरामाह

स्वदेहे जगतो वापि सूक्ष्मसूक्ष्मान्तराणि च।
तत्त्वानि यानि निलयं ध्यात्वान्ते व्यज्यते परा॥ ५३॥

पृथिव्यादीनि पञ्चभूतानि तद्विकाराणि मांसास्थ्यादीनि यानि च सन्ति तेषां लयं - स्वस्वकारणेषु लीनतां ध्यात्वा पर्यन्ते परा देवी प्रकटा स्यात् मयूराण्डरसन्यायेन परा सर्वमेतदन्तः स्थित-मेव बहिः प्रकाशयेदिति भावः। अयमत्र तात्पर्यार्थः - सर्वभेदाभेदगलनात् पराप्रसादमन्त्रवान् परोदयः स्यादेवेति॥ ५३॥

अपरामाह

पीनां च दुर्बलां शक्तिं ध्यात्वा द्वादशगोचरे।
प्रविश्य हृदये ध्यायन्मुक्तःस्वातन्त्र्यमाप्नुयात्॥ ५४॥

प्राणशक्तिमादौ पीनाम् - अन्नपानादिभोजनदिशा पीनत्वं प्राप्तां ततोपि गुरूपदेशमार्गेण कुम्भकादिना सूक्ष्मां भवन्तीं ध्यात्वा ततस्तामेव हृदयादौ प्रावेश्य द्वादशान्ते वा ततः स्वतन्त्रपरमेश्वररूपः स्यादिति निश्चयः॥ ५४॥

पृ। २४)

अपरामाह

भुवनाध्वादिरूपेण चिन्तयेत्क्रमशोखिलम्।
स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या यावदन्ते मनोलयः॥ ५५॥

भुवनतत्त्वकलापदमन्त्रवर्णाख्यो यः षोढा वाच्यवाचकरूपोध्वा तस्याध्वनः स्थूलसूक्ष्मिक्यरूपताभ्यसनात् ततस्तत्रैव मनोलयात् पराकाष्ठावगतिरिति भावः। तथा च मालिनीविजये

अध्वातीतो भवेच्छिवः

इत्यादिनानुशिष्टमस्ति ॥ ५५ ॥

अपरामाहा

अस्य सर्वस्य विश्वस्य पर्यन्तेषु समन्ततः ।
अध्वप्रक्रियया तत्त्वं ध्यात्वा शैवं महोदयः ॥ ५६ ॥

अध्वषट्केषु भुवनाध्वपर्यन्तेषु सामान्यतया विशेषतया वा न किमपि शिवतत्त्वं विना सारभूतम् इति विज्ञाय महोदयः - परमशिवावभासः स्यादित्यर्थः । एतदेव

अध्वषट्कादि संत्यज्य जित्वा चेन्द्रियमण्डलम् ।
कारणैः कृतकृत्योसौ राजते सूर्यवद्भुवि ॥

इत्यादिना मालिनीकल्पोत्तरेप्यादिष्टमस्ति ॥ ५६ ॥

अपरामाह

विश्वमेतन्महादेवि शून्यभूतं विचिन्तयेत्।
तत्रैव च मनो लीनं ततस्तल्लयभाजनम्॥ ५७॥

पृ। २५)

एतत् सर्वं विश्वं चराचरभूतं न किञ्चित् गन्धर्वनगरादितुल्यम्
अध्यासात्मकम् असदित्याद्याख्यं नामरूपादिहीनं मायागहनं च यदस्ति तत्
स्वप्रकाशात्मकं सदिति लक्षितं च सारं लयभाजनं चेति भावः॥ ५७॥

अपरामाह

घटादिभाजने दृष्टिं भित्तिस्त्यक्त्वा विनिक्षिपेत्।
तल्लयं तत्क्षणाद्गत्वा तल्लयात्तन्मयो भवेत्॥ ५८॥

अन्तःसुषिरे घटादिवस्तुनि दक्षिणोत्तरपार्श्वादि त्यक्त्वा तत्र आकाशे
विश्रान्तत्वात् परमशून्यातिशून्ये मनो लीनं विभाव्य
परंब्रह्मसमाविष्टः सन् ब्रह्मैव संपद्यत इति भावः॥ ५८॥

अपरामाह

निर्वृक्षगिरिभित्त्यादिदेशे दृष्टिं विनिक्षिपेत्।
विलीने मानसे भावे वृत्तिक्षीणः प्रजायते॥ ५९॥

पर्वतादौ शून्ये मरुद्देशादौ वा तुङ्गादिविषयादौ वा दृष्टिमात्रं
निक्षिप्य तत्तदालम्भनाभावात् गलिते मानसे क्षीणसमस्तवृत्तिः प्रजायते -
ब्रह्मैव संपद्यत इत्यर्थः॥ ५९॥

अपरामाह

उभयोर्भावयोर्ज्ञाने ज्ञात्वा मध्यं समाश्रयेत्।
युगपच्च द्वयं त्यक्त्वा मध्ये तत्त्वं प्रकाशते॥ ६०॥

घटोयं पटोयं तटोयमित्यादिनानात्वेन वेद्यराशिपतितस्य सारं विहाय
वा तन्मध्ये च ज्ञातृत्वावगमनं कृत्वा अत्र कश्चित्

पृ। २६)

वेदकोस्तीति तेन च ज्ञातृज्ञानज्ञेयादिनानात्वेन अनानात्वं विधाय विभागकल्पनात्यागात् ऐकाग्र्यमेव प्रमातृतत्त्वाख्यं तत्त्वमसि इति वत् निर्विकल्पदशामासाद्य विभागत्यागात् ऐकाग्र्यतापत्तिरिति सुष्ठु प्रोक्तमिति ॥ ६० ॥

अथापरामपि आह

भावे त्यक्ते [भावे न्यक्ते इति पाठः न्यक्ते अन्तर्हिते इत्यर्थः]
निरुद्धा चिन्नैव भावान्तरं व्रजेत्।
तदा तन्मध्यभावेन विकसत्यति भावना ॥ ६१ ॥

एकस्मिन् वस्तुनि स्वीकृते निरुद्धा चित् नैव भावान्तरं व्रजेत् अन्यद्वस्तुनि न व्रजेत् तत्र तन्मध्ये शून्यरूपस्थित्या भावना अतिविकसति अद्भुतफुल्लन्यायेन मनश्चातिविकासत्वं यायात् - ब्रह्मैव संपद्यत इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

अपरामाह

सर्वं देहं चिन्मयं हि जगद्वा परिभावयेत्।
युगपन्निर्विकल्पेन मनसः परमा [मनसा परमोदय इति पाठः]
गतिः ॥ ६२ ॥

आ पादात् केशान्तं चिद्रूपं सर्वमिदं जगत् परिभावयेत् अक्रमेण च स्फुरच्चिच्चमत्कारव्याप्त्या मनसो गतिः परमा उत्कर्षरूपा गतिरस्तीति तात्पर्यम् ॥ ६२ ॥

अपरामाह

सर्वं जगत्स्वदेहं वा स्वानन्दभरितं स्मरेत् ।
युगपत्स्वामृतेनैव परानन्दमयो भवेत् ॥ ६३ ॥

प्। २७)

आनन्दादेव खलु इमानि भूतानि जायन्ते आनन्दे प्रवर्तन्ते आनन्द एव प्रलीयन्त इति इत्थं दृष्ट्या कृतकृत्यो भवेदिति भावः ॥ ६३ ॥

अपरामाह

आयुद्वयस्य संघट्टादन्तर्वा बहिरन्ततः ।
योगी समत्वविज्ञानसमुद्गमनभाजनम् ॥ ६४ ॥

प्राणापानरूपस्य योजनात् हृदये द्वादशान्ते चान्तःप्रवेशनिर्गमने पर्यवसाने योगी प्रबुद्धः समत्वविज्ञानेन समुद्गमनभाजनं रहस्यस्थानपर्यवसायिप्राणापानादिगोचरः स्यादिति भावः तेन च परमसिद्धिभाग्भवेदित्यर्थः ॥ ६४ ॥

अपरामाह

कुहनेन प्रयोगेन सद्य एव मृगेक्षणे ।
समुदेति महानन्दो येन तत्त्वं प्रकाशते ॥ ६५ ॥

विस्मापकाद्भुतमायादिप्रयोगेन अद्भुतप्रयोगमयः परमानन्दोदयः स्यादिति भावः अहमेव परो हंसः इत्यादिकया युक्त्या पिपीलिकास्पर्शमात्रात् परमोदयव्याप्तिरिति शेषः ॥ ६५ ॥

अपरामाह

सर्वस्रोतोनिरोधेन [स्रोतोनिबन्धेनेति पाठः] प्राणशक्त्योर्ध्वया
शनैः ।

पिपीलस्पर्शवेलायां प्रथते परमं सुखम्॥ ६६ ॥

प्। २८)

पञ्चेन्द्रियगुह्योपस्थरन्ध्रनिरोधेन आधारात् द्वादशान्तं यावत् ऊर्ध्वं क्रमेण वहन्त्या प्राणशक्त्या

पिपीलिकास्पर्शमात्रात्प्रथते परमं सुखम्

इत्येतद्भावनया अन्तर्मुखारामो भवतीत्यर्थः। द्वादशान्त आत्मविषयानुभवसमये पिपीलिकाया इव शनैः शनैः चरतः प्राणस्य यः मूलाधारादिस्थानसकाशात् कन्दादिस्थानपर्यन्तः स्पर्शः तद्वेलायां हि परीक्षन्ते योगिनः अमुतः स्थानात् उत्थाय अमुकस्थानं प्राप्तः प्राणः इति निश्चितमेव इत्येतादृगुक्तभावनयोद्दिष्टसुखसिद्धिरिति भावः॥ ६६ ॥

अपरामाह

वह्नेर्विषस्य मध्ये तु चित्तं सुखमयं क्षिपेत्।
केवलं वायुपूर्णं वा स्मरानन्दे न [स्मरानन्देन इति

तदनुसारेणार्थार्पितः समस्तः पाठः] युज्यते ॥ ६७ ॥

तद्धारणया सुखधारणया वह्नौ वा विषेपि कठिनतरे च सुखभावनयैव
चित्तं क्षिपेत् प्राणस्य वा अपानस्य च मध्येपि कामानन्दे सर्वविषयविस्मारके
न युज्यते कामधारणायां सर्वविषयविस्मरणात् अथ वा वायुपूर्णं
केवलं प्राणायामवर्जितमपि तत्रापि भेदगलनेन अभेदापत्तिरिति भावः।
यस्मात् दुःखे वह्निविपादौ सुखसंधारणमेव परमार्थ इति
परमार्थविदः। स्त्रीसङ्गेन विना स्त्रिया य आनन्दानुभवः स एव परमार्थ इति
कथ्यते ॥ ६७ ॥

अपरामाह

शक्तिसंगमसंक्षुब्धशक्त्यावेशावसानिकम्।
यत्सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत्सुखं स्वाक्यमुच्यते ॥ ६८ ॥

पृ। २९)

स्त्रीसङ्गमेन य आनन्दोनुभूयते तमेव स्त्रियं विना ध्यात्वा आनन्दमयो
भवेदित्याद्युक्तम्। उक्तं च

जायया संपरिष्वक्तो न बाह्यं वेत्ति चान्तरम्।
निदर्शनं श्रुतिं प्राह मूढस्तं मन्यते परम्॥

न सृष्टिर्जायते लिङ्गान्न भगान्नापि रेतसः।
आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना॥

इत्याद्युक्तरीत्या स्त्रीसङ्गानन्दाविर्भूतानन्दशक्तिसमावेशान्ते यत् सुखं स्त्रीपुरुषादिपर्यालोचनं स्वात्ममात्रनिष्ठं तत् स्वकम् - आत्मन एव संबन्धि नान्यत आयातं भावयेत् स्त्रीसङ्गमस्तु व्यक्तिकारणमेव इत्यादिना प्रोक्तं चान्यत्र अलं चातिविस्तरेण॥ ६८॥

अपरामाह

लेहनामन्थनाकोटैः स्त्रीसुखस्य भरात्स्मृतेः।
शक्त्यभावेपि देवेशि भवेदानन्दसंप्लवः॥ ६९॥

परिचुम्बनालिङ्गनदन्तक्षतनखक्षतादिभिर्विशेषैः स्त्रीसुखस्यानुभूतस्य पूर्वं तद्ध्यानमात्रेण इदानीमपि शक्त्यभावेपि करसौन्दर्यादौ

ध्यातमात्रे य आनदः प्रत्यक्षतयैव सर्वविषयविस्मारकः स एवानन्दोदय
इति स्थितम् यतोनुभूते स्मरणं प्रत्यक्षतयैव प्रसिद्धमित्याचार्याः ॥ ६९ ॥

अपरामाह

आनन्दे महति प्राप्ते दृष्टे वा बान्धवेचिरात्।
आनन्दमुद्गतं ध्यात्वा तल्लयस्तन्मना भवेत्॥ ७० ॥

पृ। ३०)

एवमेव बान्धवे वा सुहृदादौ चिरकालानन्तरं प्रिये वा दृष्टे
उद्गतमात्रमेवानन्दं गृहीत्वा तद्भावनान्तर्मनस्कत्वेन परानन्दोदये
विश्रान्तः स्यादेवेत्यर्थः। तथा च स्पन्दे

अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन्।
धावन्वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः॥

इत्यादिना अभिहितमस्ति॥ ७० ॥

अपरामाह

जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भणात् ।
भावयेद्भरितावस्थां महानन्दस्ततो भवेत् ॥ ७१ ॥

अयमत्राशयः - मिष्टान्नपानभोजनक्षीरादिपानाशनाभ्याम् उल्लसद्रसो य आनन्दस्तदनुभवेन आनन्दपूर्णत्वावस्थायां भावयत एकाग्रचित्तस्य परमानन्दप्राप्तिरिति सिद्धम् ॥ ७१ ॥

अपरामाह

गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकतात्मनः ।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मता ॥ ७२ ॥

गीतादिविषयस्य वंशवीणादेर्मधुरसूक्ष्मशब्दविषयस्य आस्वादात् तच्चर्वणाद्यः परमानन्दोदयः स्यात् तालक्रियाशब्दादिसाम्यं स एव परपरमानन्दोदय इति कथ्यते तत्काले शुभाशुभचिन्तादिविस्मरणादित्यलम् । अनेन च वेद्यराशेर्विस्मरणात् वेदकसत्तामात्रस्थितौ शान्तमेयमानादिव्यापृतौ महानन्दोदय इति निश्चितम् ॥ ७२ ॥

पृ। ३१)

यत्र यत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत्।
तत्र तत्र परानन्दस्वरूपः संप्रकाशते [स्वरूपं संप्रवर्तते इति पाठः] ॥ ७३ ॥

अयमत्र भावः - यत्र यत्र पञ्चेन्द्रियादिगुणेषु मनो रज्यते एतच्छुभमेतदशुभम् इत्यादिना तत्रैव शुभे वाशुभे विश्रान्तः सन् परपरानन्दमयः स्यात् इति निश्चयः। यत्र शुभे वाशुभे मनो लगति तत्समये परविमर्शाविस्मृतेस्तत्रैवानन्दोदय इति निश्चयः॥ ७३ ॥

अपरामाह

अनागतायां निद्रायां प्रणष्टे बाह्यगोचरे।
सावस्था मनसा गम्या परा देवी प्रकाशते॥ ७४ ॥

निद्रा जागरणरूपोन्मग्नावस्था परावस्थेति कथ्यते सैव च स्फुटीकरणावस्था चितेरिति हि स्थितम्। तथाहि

निद्रादौ जागरस्यान्ते यो भाव उपजायते ।
तं भावं भावयन्साक्षादक्षयानन्दमश्नुते ॥

इत्यादिना निरूपितमस्ति ॥ ७४ ॥

अपरामाह

तेजसा सूर्यदीपादेराकाशे शबलीकृते ।
दृष्टिर्निवेश्या तत्रैव स्वात्मरूपं प्रकाशते ॥ ७५ ॥

दिवा सूर्यकिरणप्रकाशेन रात्रौ च चन्द्रज्योत्स्नया शबलीभूतम-

प्। ३२)

हाकाशसंबन्ध्यूर्ध्वाधोवर्तिस्थानविशेषे
गृहैकदेशवर्तिदीपप्रकाशव्याप्तकोष्ठाकाशचित्रस्थाने वा
अव्यग्रमनस्कतया दृष्टिबन्धमभ्यस्यतः स्वस्वरूपचिदाकाशैकीभावेन
स्वात्मरूपाभिव्यक्तिर्जायते यत्फलं चतुर्दशभुवनज्ञानं
ताराव्यूहपरमनोभावाभिज्ञानं च समुत्पद्यते इति ॥ ७५ ॥

अपरामाह

करङ्किण्या क्रोधनया भैरव्या लेलिहानया ।
खेचर्या दृष्टिकाले च परा व्याप्तिः [परावाप्तिरिति पाठः]
प्रकाशते ॥ ७६ ॥

विगतचेष्टं करङ्कमात्रं शवमिव विश्वं पश्यन्त्या क्रोधव्यग्रया दृक्शक्त्या भोक्तुमेकाग्रया वा दूरमाकाशदर्शनार्थं प्रसृतया वा दृष्टिकाले परा व्याप्तिः प्रकाशत इति भावः ॥ ७६ ॥

अपरामाह

मृद्वासने स्फिजैकेन हस्तपादौ निराश्रये ।
विधाय तत्प्रसङ्गेन परा पूर्णा मतिर्भवेत् ॥ ७७ ॥

निराश्रये यथाभवति तथा पादौ हस्तौ च कृत्वा सर्वाङ्गेषु प्रत्यंशसाकल्येन चेतयन्ती विगलिततमोरजस्का सत्त्वमयी भवेद्बुद्धिरिति तात्पर्यार्थः । मृद्वासने कोमलासने कटिप्रोथैकेन । कठिनासने

उपवेशनेन हि तुङ्गकुब्जाद्युपाधेः समाधिचाञ्चल्यापत्तिरिति हि स्थितम्॥ ७७ ॥

पृ। ३३)

अपरामाह

उपविश्यासने सम्यग्बाहू कृत्वावकुञ्चितौ [कृत्वार्थकुञ्चिताविति
पाठः]।
कक्षव्योम्नि निराकुर्वञ्छममायाति तल्लयात्॥ ७९॥

आसने उपविश्य बाहू कक्षव्योम्नि संकुचितौ कृत्वा तल्लयेन शममायाति॥ ७९
॥

अपरामाह

स्थूलरूपस्य भावस्य स्तब्धां दृष्टिं निपात्य च।
अचिरेण निराधारं मनः कृत्वा शिवं व्रजेत्॥ ८०॥

विनोन्मेषनिमेषाभ्याम् अत एव स्तब्धां दृष्टिमवष्टभ्य मनो निराधारं

कृत्वा किंचिदप्यचिन्तयन् शिवं - परमात्मैक्यतां व्रजेदिति भावः॥ ८०
॥

अपरामाह

मध्यजिह्वे स्फारितास्ये मध्ये निक्षिप्य चेतनाम्।
होच्चारं मनसा कुर्वंस्ततः शान्ते प्रलीयते॥ ८१॥

मध्य अन्तराल एव जिह्वा यस्य ईदृशे विस्तारिते चास्ये सति तन्मध्ये बुद्धिं निक्षिप्य मनसैव ह इत्युच्चारं कुर्वन् शान्तात्मा प्रकाशत इत्यर्थः॥ ८१॥

पृ। ३४)

अपरामाह

आसने शयने स्थित्वा निराधारं विभावयेत् [विभावयन् स्वदेहं
क्षणात्क्षीणाशय इति पाठः।
लीनं मूर्ध्नि इति (८४) पद्यादनन्तरम् उ० मू०
आकाशं विमलं पश्यन्कृत्वा दृष्टिं निरन्तराम्।

स्तब्धात्मा तत्क्षणाद्देवि भैरवं वपुराप्नुयात् ॥
इति पद्यमधिकं वर्तते ।] ।
स्वदेहे मनसि क्षीणे क्षणाद्भूताशयो भवेत् ॥ ८२ ॥

देहे नैव आसने देहस्यापि निराधारभावनात् शयने स्थित्वा नाहं देहो न मे देहो इति समानाधारभूतस्य नाधारादिकल्पना इत्येवं परिकल्पनेन क्षीणे मनसि गलिते वेद्यराशौ भूताशयो भूतसिद्धार्थो भवेदिति संबन्धः ॥ ८२ ॥

अपरामाह

चलासने स्थितस्याथ शनैर्वा देहचालनात् ।
प्रशान्ते मानसे भावे देवि दिव्यौघमाप्नुयात् ॥ ८३ ॥

चलासन अश्वादौ शनैर्देहचालनं कुर्वन् प्रशान्ते च मानसे भावे दिव्यानां लोकानां परमयोगिनाम् ओघं समूहं संभूय तत्तेजस्तत्त्वमाप्नुयात् प्राप्नुयादिति भावः ॥ ८३ ॥

अपरामाह

लीनं मूर्ध्नि वियत्सर्वं भैरवत्वेन भावयेत्।
तत्सर्वं भैरवाकारं तेजस्तत्त्वं समाविशेत्॥ ८४॥

पृ। ३५)

लीनं श्लिष्टं सर्वं यन्नीलपीतादि तत्सर्वं शिवमयम् इति भावयतो ब्रह्म प्रकाशत इति भावः॥ ८४॥

अपरामाह

किंजिज्ज्ञात्वा [किंचिज्ज्ञातमिति ज्ञात्वानन्तेति च पाठः] द्वैतदायि
बाह्यालोकस्तमः पुनः।
विश्वादि भैरवं रूपं ध्यात्वानन्तप्रकाशभृत्॥ ८५॥

आधौ भेदमयं ध्यात्वा स्थाणुर्वा पुरुषो वा इति ततश्च बाह्यश्चासावालोकः चन्द्रसूर्यादिः ततश्च तमः एतत्सर्वं भैरवरूपं ध्यात्वा नानात्वादनन्तप्रकाशमयो भैरवो भवति॥ ८५॥

अपरामाह

एवमेव दुर्निशायां कृष्णपक्षागमे चिरम् ।
तैमिरं भावयेद्रूपं [भावयन्रूपमिति पाठः] भैरवं
रूपमेष्यति ॥ ८६ ॥

मेघच्छन्ना रत्रिर्दुर्निशा तस्यामन्धतामिस्त्रमहातामिस्त्रतामिस्त्ररूपायां
यत् कालश्यामलादि भयङ्कररूपं भैरवमुद्रितं भैरवमुद्राङ्कितं
भयङ्करत्वाददृश्यं तत् भावयन् अक्षयानन्दमाप्नुयात् - तद्रूपस्य
आश्चर्यकारित्वात् ॥ ८६ ॥

अपरामाह

एवमेव निमिल्यादौ नेत्रे कृष्णाभमग्रतः ।
प्रसार्य भैरवं रूपं भावयेत्तन्मयो [भावयंस्तन्मय इति
पाठः] भवेत् ॥ ८७ ॥

पृ । ३६)

स्वनेत्रे च निमील्य कृष्णपाक्षिकरात्र्यभावेपि कृष्णाभं तमोरूपं

ज्ञात्वा किमेतत् इत्याश्चर्यकारि एतदेव भैरवं रूपम् एतद्रूपेण तन्मयीभावः स्यादिति ॥ ८७ ॥

अपरामाह

यस्य यस्येन्द्रियस्यादौ [यस्य कस्येन्द्रियस्यापि इति तत्रैवात्मेति च पाठः] व्याघाताच्च निरोधतः।
प्रविष्टस्याद्वये शून्ये तदैवात्मा प्रकाशते ॥ ८८ ॥

बाह्याधिकारनिवृत्तेरज्ञत्वात् तत एव च व्याघातात् विरुद्धसमुच्चयात् अथ च निरोधतः निरोधनाच्च अद्वये द्वयरहिते शून्ये अत एव प्रविष्टः सन् अन्तर्मुखपदाश्रयणेन आत्मा प्रकाशत इति भावः ॥ ८८ ॥

अपरामाह

अबिन्दुमविसर्गं च अकारं जपतो महान्।
उदेति देवि सहसा ज्ञानौघः परमेश्वरः ॥ ८९ ॥

अम् इत्यत्र अः इत्यत्र च बिन्दुविसर्गौ परित्यज्य कुम्भकस्थस्य अ इत्येवमेव

केवलं जपतः परमेश्वरो ज्ञानौघ उदेति। सर्वविकल्पराहित्येन विकल्पादीन्
संत्यज्य यच्छिष्यते तदेव भवतीत्यर्थः। तत्त्वमसि इत्यादिवत्॥ ८९॥

अपरामाह

सविसर्गस्य वर्णस्य विसर्गान्ते [विसर्गान्तमिति पाठः] चितिं कुरु।
निराधारेण चित्तेन स्पृशेद्ब्रह्म सनातनम्॥ ९०॥

पृ। ३७)

पुनश्चात्र अ इत्येवमेव परित्यज्य यश्च अमित्यत्र अः इत्यत्र च (।)
(ः) बिन्दुविसर्गौ परिशिष्टौ तयोरनिर्वचनीयत्वात् प्राप्ता तत्र परा
निर्वृतिरिति सिद्धम्॥ ९०॥

अपरामाह

व्योमाकारं स्वमात्मानं ध्यायेद्दिग्भिरनावृतम्।
निराश्रया चितिः शक्तिः स्वरूपं दर्शयेत्तदा॥ ९१॥

अहमेव परो हंसः परमात्मा परात्परः ।

इति व्योमाकारं स्वमात्मानं कृत्वा तथा
दिग्भिर्नीलपीतादिभिरुपाधिभिर्विवर्जितं कृत्वा चितिशक्तिर्निराश्रया स्वं रूपं
दर्शयेदिति भावः ॥ ९१ ॥

अपरामाह

किंचिदङ्गं विभिद्यादौ तीक्ष्णसूच्यादिना ततः ।
तत्रैव चेतना युक्ता भैरवी निर्मला गतिः ॥ ९२ ॥

तीक्ष्णसूच्यादिना वा अग्निना शरीरं प्रमथ्य तत्सहनादिना या सहनशक्तिः
सैव चेतना इत्यभिधीयते ।

अच्छेद्योयमदाह्योयमक्लेद्योशोष्य एव च ।

इत्यादिभगवद्वाक्यस्मरणात् भैरवसारूप्याप्तिरिति भावः ॥ ९२ ॥

अपरामाह

चित्ताद्यन्तःकृतिर्नास्ति ममान्तर्भावयेद्यदि [भावयेदितीति
पाठः] ।
विकल्पानामभावेपि विकल्पैरुज्झितो भवेत् ॥ ९३ ॥

पृ। ३८)

चित्ताद्यन्तःकरणवर्गो ममान्तर्नास्ति अस्त्यपि नास्त्येव इत्येवं
बाह्यविषयोपरमाद्दृढभावनस्ततो विकल्पानामभावेन
विकल्पैरुज्झितस्त्यक्तः निर्विकल्पतया शुद्धचैतन्यो भवेदित्यर्थः ॥ ९३ ॥

अपरामाह

माया विमोहिनी नाम कलायाः कलनं स्थितम् ।
इत्यादिधर्मं तत्त्वानां कलयन्ना पृथग्भवेत् [कलयन्न पृथगिति
पाठः] ॥ ९४ ॥

इयं माया विमोहिनी नाम तत्त्वानां च इत्यादिधर्मं कलायाः कलनं स्थितम्
इत्येवं कलयन् ना पुरुषः पृथक् भवेत् - सर्वोत्तिर्णः कूटस्थ इत्याख्यः

स्यादित्यर्थः ॥ ९४ ॥

अपरामाह

झगितीच्छां समुत्पन्नामवलोक्य शमं नयेत्।
यत एव समुद्भूता ततस्तत्रैव लीयते ॥ ९५ ॥

एवमन्तर्मुखतया विमृश्य यत एव क्षोभमयान्मनस उत्थिता तत्रैव शमं नयेत् प्रापयेत्।

तरङ्गा इव तोयेषु बुद्बुदा इव सागरे।

इत्यादिवत् ऐक्यमाश्रित्य तत्सर्वं च प्रशमय्य ब्रह्म संपद्यते तदा स्वयमेव ॥ ९५ ॥

अपरामाह

यदा ममेच्छा नोत्पन्ना ज्ञानं वा कस्तदास्मि वै।
तत्त्वतोहं तथाभूतस्तल्लीनस्तन्मना भवेत् ॥ ९६ ॥

पृ। ३९)

इच्छाज्ञानक्रियादिसन्दोहे समुत्पन्नेपि अहं करोमि गच्छामीत्यादिना तेन च ज्ञानं वा समुत्पन्नमपि तत्त्वतोहंस्वरूपं एवाहम् तस्मिंल्लीने तन्मयो भवेदिति गुरवः। तथा च स्पन्दे

गुणादिस्पन्दनिःष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात्।
लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः॥

अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगनोद्यताः।
पातयन्ति दुरुत्तारे घोरे संसारवर्त्मनि॥

अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविविक्तये।
जाग्रदेव निजं भावमचिरेणाधिगच्छति॥

इत्यादिना सुस्पष्टतया प्रतिपादितम्॥ ९६॥

अपरामाह

इच्छायामथवा ज्ञाने जाते चित्तं निवेशयेत् ।
आत्मबुद्ध्यानन्यचेतास्ततस्तत्त्वार्थदर्शनम् ॥ ९७ ॥

जातमात्रायामिच्छायां जातमात्रे ज्ञाने वा सति
सर्वस्मिन्स्वात्मरूपदृढभावनया अनन्यचेतसस्तत्त्वात्मदर्शनं
स्यादेवेति निश्चयः सर्वं खल्विदं ब्रह्म इत्यभ्यसनादिति भावः ॥ ९७ ॥

अपरामाह

निर्निमित्तं भवेज्ज्ञानं निराधारं भ्रमात्मकम् ।
तत्त्वतः कस्यचिन्नैतदेवंभावी शिवः प्रिये ॥ ९८ ॥

भ्रममात्रान्निर्निमित्तं शुक्ताविदं रजतमित्यादिवत् भ्रममात्रस्वभावं
सर्वं दृश्यजातम् अत एव च निराधारमनाश्रयात्मकम्

पृ। ४०)

हि सर्वं चिन्मात्रम् चिद्व्यतिरिक्तस्यान्यस्याभावात् इत्येवंभावनादार्ढ्यात्

शिव एव स्यादिति भावः ॥ ९८ ॥

अपरामाह

चिद्धर्माः सर्व देहेषु विशेषो नस्ति कुत्रचित् ।
अतश्च तन्मयं सर्वं भावयन्भवजिज्जनः ॥ ९९ ॥

देवासुरनरतिर्यक्स्थावरजङ्गमादिषु मूर्तिषु चिद्धर्माः सामान्येन सन्ति न च तत्र विशेषोस्ति कुत्रचित् देहादेरेव विशेषोस्ति न तु चितेः इति भावयन् सर्वत्र चिदेव जृम्भते इत्यनुभवदाढर्यात् सोहमस्मीति भावयन् भवजित् दुस्तरसंसारोत्तिर्णो जनो भवति ॥ ९९ ॥

अपरामाह

कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यगोचरे ।
बुद्धिं निस्तिमतां कृत्वा तत्तत्त्वमवशिष्यते ॥ १०० ॥

कामक्रोधादिषु मात्सर्यपर्यन्तेषु बुद्धिमेकाग्रां विधाय विकारानधिगमात् निस्पन्दां कृत्वा तत्तत्त्वं चिन्मात्रबोधमवशिष्यत इति शेषः ॥ १०० ॥

अपरामाह

इन्द्रजालमयं विश्वं न्यस्तं वा चित्रकर्मवत्।
भ्रमतो ध्यायतः [भ्रमद्वा ध्यायत इति पाठः] सर्वं
पश्यतश्च सुखोद्गमः॥ १०१॥

पृ। ४१)

इत्येवं ज्ञानानुभवयुक्त्या निश्चितया बुद्ध्या सर्वमिदमिन्द्रजालनिभं
विश्वं विभाव्य स्वस्पन्दारोहणेन सर्वमिदं भ्रमन्नपि ध्यायन्नपि
पश्यन्नपि अक्षयसुखीभवति - सर्वमिदं ब्रह्म इति पश्यन् मुच्यत
इत्यर्थः॥ १०१॥

अपरामाह

न चित्तं निक्षिपेद्दुःखे न सुखे वा परिक्षिपेत्।
भैरवि ध्यायतां मध्ये किं तत्त्वमवशिष्यते॥ १०२॥

सुखदुःखादिविभवे सर्वं सुखं वा दुःखमेव वेदं सर्वं विज्ञाय तदैकाग्र्यतया हे भैरवि ध्यायतां तन्मध्ये भैरवोदयः स्यादित्यर्थः ॥ १०२ ॥

अपरामाह

विहाय निजदेहास्थां सर्वमस्मीति भावयेत् ।
दृढेन मनसा दृष्ट्या नान्येक्षिण्या सुखी भवेत् ॥ १०३ ॥

निजदेहप्रमातृतां विहाय - न देहोहमित्यादिना पश्चात्सर्वमिदमहमेव इति भावयन् सुखी सर्वत्र सर्वदा ॥ १०३ ॥

अपरामाह

घटादौ यच्च विज्ञानमिच्छाद्यं वा ममान्तरे ।
नैव सर्वगतं जातं भावयन्निति सर्वगः [सर्वत्रामस्मीति भावयन् इति पाठः] ॥ १०४ ॥

सदा सर्वत्र सवास्ववस्थासु यत् दृश्यमानं घटादिविज्ञानेन घटोयमित्यादिना तदन्तरे या चेच्छा एवं करोमीत्यादिना तत्सर्वं जातमपि किमपि न भवति निःसारत्वादिति भावयन् सर्वत्र प्रकाशस्वरूपः स्यादिति भावः ॥ १०४ ॥

अपरामाह

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम् ।
योगिनां तु विशेषोयं [विशेषोस्तीति पाठः] संबन्धे सावधानता
॥ १०५ ॥

सर्वदेहिनां सदाशिवादिकीटान्तानाम् इदं ग्राह्यम् अयं ग्राहक इत्यादिना यो व्यवहारः स सामान्य एव सर्वदेहिनां यदेको जानाति तदपरोपि जानाति इत्यनेन सामान्या परंतु योगिनामयमेव विशेषः - संबन्धे ग्राह्यग्राहकस्वरूपावधारणे ग्रहीतृरूपाविस्मरणमित्यर्थः अहं स्मर्तेति सर्वदा प्रकाशस्वरूपः अन्यद्वेद्यमनित्यमसदित्युच्यते ॥ १०५ ॥

अपरामाह

स्ववदन्यशरीरेपि संवित्तिमनुभावयेत्।
अपेक्षां स्वशरीरस्य त्यक्त्वा व्यापी दिनैर्भवेत्॥ १०६ ॥

तस्य शरीरभूतं जगदिदमिति सर्वं विभावयन् केवलं भिन्नतया
स्वशरीरापेक्षां विहाय इदं मम शरीरं नास्तीतरस्मादन्यत्

प्। ४३)

इत्यनेन परस्मिन्सर्वस्मिन्स्वात्मसंविन्मात्रदृढभावनेन व्यापकरूपोसौ
तद्दिनैरेव भवेदिति भावः॥ १०६ ॥

अपरामाह

निराधारं मनः कृत्वा विकल्पान्न विकल्पयेत्।
तदात्मपरमात्मत्वे भैरवो मृगलोचने॥ १०७ ॥

सर्वमेतत्त्याज्यं स्वस्वभावाध्यासरूपं स्थाणुर्वा पुरुषो वा इति-
वदध्यस्तमेव निःसारतया हेयमिति भावः। इत्यनेन निराधारतया

स्वात्मनः परमात्मत्वे निष्ठां प्राप्य परमात्मनि च लीनतां संप्राप्य वा विभाव्य भैरवरूपः परमात्मैव भवतीत्यर्थः॥ १०७॥

अपरामाह

सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः।
स एवाहं शैवधर्मा इति दार्ढ्याच्छिवो भवेत्॥ १०८॥

स एवाहमहमेव सः शिवस्यायं शैव स एव धर्मो यस्य स्वातन्त्र्यादिर्मम सर्वोऽस्ति अनेन दृढभावनेन परमशिवताद्रूप्यं गम्यते॥ १०८॥

अपरामाह

जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभङ्ग्यः प्रभा रवेः।
ममैव भैरवस्यैता विश्वभङ्ग्यो विभेदिताः॥ १०९॥

यथा जलोर्मयः जलादेव वह्नेर्वा ज्वालाः रवेर्वा प्रभाः तथा भैरवस्यैता विश्वभङ्ग्यो गमनागमनभोजनाहवनदानप्रसारणनिर्गमनादीनि सन्तीति भावयेदिति शेषः॥ १०९॥

पृ। ४४)

अपरामाह

भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा शरीराणि [शरीरेणेति पाठः] त्वरितं भुवि
पातनात्।
क्षोभशक्तिविरामेण परा संजायते दशा ॥ ११० ॥

प्रदक्षिणक्रियावत् सहस्रजन्मजन्मान्तरमासाद्य
मानुष्यदेवासुरतिर्यगादियोनिषु ततश्च सद्गुरुदृष्टिपातात् क्षीणशोकस्य परा
दशा प्रादुर्भवति इत्यर्थः। तथैव

यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम्। (९ उ।)

इत्यादिना स्पन्दे प्रतिपादितमस्ति ॥ ११० ॥

अपरामाह

आधारेष्वथ वा शक्त्या ध्यानाच्चित्तलयेन [शक्त्याज्ञानाच्चितेति
पाठः]

संप्रदायं ११२ पद्यादनन्तरम् उ० मू०

संकोचं कर्णयोः कृत्वा ह्यधोद्वारे तथैव च।

अनच्कमहलं ध्यायन्विशेद्ब्रह्म सनातनम्॥ ११४॥

इति पद्यमधिकमस्ति।] वा।

जातशक्तिसमावेशक्षोभान्ते भैरवं वपुः॥ १११॥

पदार्थेषु ज्ञातुमशक्यत्वात् वा ज्ञानादेरभावतो यश्चित्तस्य लयस्तेन यो जातोनाश्रितायां शक्तौ समावेशक्षोभस्तदन्ते भैरवं वपुर्व्यज्यत एवेत्यर्थः॥ १११॥

अपरामाह

संप्रदायमिमं भद्रे शृणु सम्यग्वदाम्यहम्।

कैवल्यं जायते सद्यो नेत्रयोः स्तब्धमात्रयोः॥ ११२॥

पृ। ४५)

सर्वस्यास्य भेदाभेदमयस्य जगतो विस्मरणादन्तरात्मनि च दत्तदृष्टेर्योगिनो यत्र तत्र चित्तप्रकाशः स्यादेवेत्यर्थः

सर्वेषूक्तवक्ष्यमाणानुशासनेष्वेतेषु
चिन्मात्रावधारणचित्तैकाग्र्याभ्यसनमभिप्रेतमस्ति ॥ ११२ ॥

अपरामाह

कूपादिके महागर्ते स्थित्वोपरि निरीक्षणात् [स्थित्वोपरीति पाठः] ।
अविकल्पमतेः सम्यक्सद्यश्चित्तलयः स्फुटम् ॥ ११३ ॥

यद्येवं परिस्फुरति नास्त्यत्र किमपि वेद्यावेद्यपतितं नीलपीतादि परं तु
घोरतरं भैरवं वपुरत्राभासमानं भासत इति तात्पर्यार्थः ॥ ११३ ॥

अपरामाह

यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाभ्यन्तरे प्रिये ।
तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात्क्व यास्यति ॥ ११४ ॥

यत्र यत्र मनो याति स्वतश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

इत्यादिभगवन्मुखोक्त्या यत्र यत्र नीलपीतादौ मनो याति अन्तरात्मतया तत्र तत्र शिवावस्था इति निश्चयाद्भैरवाभिव्यक्तिः संजायते। तथा च श्रीस्पन्दे

यस्मात्सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवात्।
तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः॥

तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न या शिवः।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः॥

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
संपश्यन्सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः॥ (२८-२९-३०)

इत्यादिना प्रतिपादितमस्ति॥ ११४॥

अपरामाह

यत्र यत्राक्षमार्गेण चैतन्यं व्यज्यते विभोः।
तस्य तन्मात्रधर्मित्वाच्चिल्लयाद्भरितात्मता॥ ११५॥

यत्र यत्र शिवावस्थाध्यानेन चैतन्यं व्यज्यते विभोः तस्य च तन्मात्रधर्मत्वात् दर्पणप्रतिबिम्बिताभासवैचित्र्येण चैतन्यमात्रस्वभावत्वात् चितौ लयाद्विश्रान्तेर्भरितात्मता अहमेव विश्वमयो महच्चैतन्यभरित इत्यनुभूततात्त्वकावस्थः संपद्यते आश्यानीभूतहिमघृतादिवत् जलमयत्वापत्तेरिति भावः॥ ११५॥

अपरामाह

क्षुताद्यन्ते भये शोके गह्वरे वा रणद्रुते [रणाद्भुते सत्तामयी दशा इति च पाठः]।
कुतूहले क्षुधाद्यन्ते ब्रह्मसत्ता समीपगा॥ ११६॥

अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन्।
धावन्वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः॥ (२२)

पृ। ४७)

इत्यादिस्पन्दोक्तदिशा निर्दिष्टस्य भैरवरूपस्यामर्शनात् क्षुतादिषु गुरुमुखश्रुतयुक्त्या विभाव्य कृतकृत्यो भवत्येवेत्यर्थः। एतच्च

तन्त्रालोकादौ वितत्य निर्णीतमस्ति तत एवावधार्यम्। ग्रन्थविस्तरभयान्नेह प्रतन्यते तद्दिङ्मात्रेण उदाहृतमिति ॥ ११६ ॥

अपरामाह

वस्तुषु स्मर्यमाणेषु दृष्टे देशे मनस्त्यजेत्।
स्वशरीरं निराधारं ततः प्रसरति [कृत्वा प्रसरतीति पाठः]
प्रभुः ॥ ११७ ॥

स्मरणादिशक्त्या दृष्टे देशेनुभवशक्तौ स्वाधारभूतायां मनस्त्यजेत्
ऐकाग्र्येणादद्यात् स्वशरीरं च निराधारमहिकञ्चुकवदसङ्गं विभातयेत्
ततः प्रादुर्भवति स्वयमेव प्रभुरिति निश्चयः। अत्रायं भावः -
अनुभवात् स्मरणादौ सूत्र इव मणिगणः प्रोतश्चैतन्यप्रसर इति सिद्धम्
अतस्तमेव ध्यायेदिति शेषः ॥ ११७ ॥

अपरामाह

क्वचिद्वस्तुनि विन्यस्य शनैर्दृष्टिं निवर्तयेत्।
तज्ज्ञानं चित्तसहितं देवि शून्यालयो भवेत् ॥ ११८ ॥

कुत्रचित् दृष्टिं कृत्वा घटोयमिति तद्वस्त्वनुभवं तद्वासनायुक्तं चित्ते
निधाय शून्यमतिर्भवेत् - ब्रह्म संपद्यत इत्यर्थः ॥ ११८ ॥

अपरामाह

भक्त्युद्रेकाद्विरक्तस्य यादृशी जायते मतिः ।
सा शक्तिः शाङ्करी नित्यं भावयेत्तां ततः शिवः ॥ ११९ ॥

पृ। ४८)

भक्त्यतिशयेन विरक्तस्य शान्तचित्तस्य चित्ते चित्तसमाधानेन यादृशी
मतिर्जायते सा शांकरी शक्तिरिति गीयते इति तामेव भावयेत् येन तन्मयः स्यात् ॥
११९ ॥

अपरामाह

वस्त्वन्तरे वेद्यमाने शनैर्वस्तुषु शून्यता ।
तामेव मनसा ध्यात्वा विचित्तोपि [विदितोपीति पाठः] प्रशाम्यति ॥

१२० ॥

अयमत्राशयः - एकस्मिन्वस्तुनि चित्स्वरूपत्वेन ज्ञायमाने अन्यत्र चाभावबुद्धिः - सर्वस्यास्य जगत् एकरूपत्वापत्तेः तस्मात् एकस्यैव वस्तुनोपि चित्स्वभावात् सर्वस्वरूपप्रसंगापत्तेरिति तत्सर्ववेद्यशून्यतां ध्यात्वा विचित्रतया संकल्पविकल्पराहित्येन मुक्तः स्यादिति निश्चयः॥ १२० ॥

अपरामाह

किंचिज्ज्ञैर्या स्मृता शुद्धिः सा शुद्धिः शंभुदर्शने।
न शुचिर्ह्यशुचिस्तस्मान्निर्विकल्पः शिवो भवेत्॥ १२१ ॥

धर्मशास्त्रविद्भिः

कृत्वालं पादशौचं विमलमथ जलं त्रिः पिबेत्।

इत्यादिना शुद्धिः कथिता सा चैव शुद्धिः निर्विकल्पसमाधिस्थस्य न शुचिर्नाप्यशुचिरभेदापत्तेरिति पारमार्थिकपरमार्थः। तथा च

पृ। ४९)

तनुं त्यजतु काश्यां वा श्वपचस्य गृहेथ वा।
तज्ज्ञः कलङ्कं नाप्नोति हेम पङ्कगतं यथा॥

इत्यादिना स्मृतमस्ति॥ १२१॥

अपरामाह

सर्वत्र भैरवो भावः सामान्येष्वपि गोचरः।
न च तद्व्यतिरेकेण परोस्तीत्यद्वया गतिः॥ १२२॥

दर्पणबिम्बे यद्वन्नगरग्रामादि चित्रमविभागि।
भाति विभागेनैव च परस्परं दर्पणादपि च॥ (प० सा० १२)

इत्यादिना सर्वत्र सर्वदा बाह्याभन्तरेषु पदार्थेषु भैरवो भावः स्फुट इति
न च तद्व्यतिरिक्तं किंचित् इति संबोधाख्या द्वयातीता गतिरद्वैतज्ञानं स्यात्
तद्व्यतिरेके हि प्रकाशमानत्वाभावापत्तेः॥ १२२॥

अपरामाह

समः शत्रौ च मित्रेच समो मानापमानयोः।
ब्रह्मणः परिपूर्णत्वादिति ज्ञात्वा सुखी भवेत्॥ १२३॥

यच्च श्रीभगवता गीतं

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

प्।५०)

तथा च शान्तरसादिनिदर्शने

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्टे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः
कदा पुण्येरण्ये शिवशिवशिवेति प्रलपतः॥

पुनश्च सिद्धान्तमुक्तावल्यां

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले दत्ता च सर्वावनि-
र्यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च संतर्पिताः ।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योप्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ॥

इत्येवं इच्छाज्ञानक्रियोल्लासं चिन्मयमेव विश्वप्रपञ्चं विज्ञाय सुखी
भवतीति भावः ॥ १२३ ॥

एवं सति अपरामाह

न द्वेषं भावयेत्क्वापि न रागं भावयेत्क्वचित् ।
रागद्वेषविनिर्मुक्तौ मध्ये ब्रह्म प्रसर्पति ॥ १२४ ॥

सर्पादौ द्वेषं हारादौ च रागः तद्विनिर्मुक्तस्वभावापत्तौ ब्रह्म
संपद्यत इति भावः ॥ १२४ ॥

अपरामाह

यदवेद्यं यदग्राह्यं यच्छून्यं यदभावगम्।

तत्सर्वं भैरवं भाव्यं तदन्ते बोधसंभवः॥ १२५॥

यतो वाचो निवर्तन्ते ह्यप्राप्य मनसा सह।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न विभेति कुतश्चन॥

प्।५१)

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं

नेमा विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

आनन्दात्खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन

जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति। (तै० ३०३-६)

इत्यादिना प्रतिपादितं सर्वमेतद्ब्रह्मैव भवति इति दृढानुभवबलात् सर्वत्र

भैरवस्वरूपबोधवान् भैरव एव भवति - ब्रह्म संपद्यते इत्यर्थः॥

१२५॥

अपरामाह

नित्ये निराश्रये शून्ये व्यापके कलनोज्झिते ।
बाह्याकाशे मनः कृत्वा निराकाशे समाविशेत् ॥ १२६ ॥

इत्येवं नित्यत्वव्यापकत्वानुभूते बाह्याकाश एव शून्यधारणातिशयेन तदभ्यासातिशयाच्छून्यातिशून्यभूतं यद्धाम तत्रैव समाविशतीति भावः ॥ १२६ ॥

अपरामाह

यत्र यत्र मनो याति तत्तत्तेनैव तत्क्षणम् ।
परित्यज्यानवस्थित्या निस्तरङ्गस्ततो भवेत् ॥ १२७ ॥

पृ। ५२)

अविकल्पसंवेदनरूपेण मनसा तत्क्षणे तत्सर्वं परित्यज्य निरालम्बनप्राप्तियुक्त्या परभैरवस्वरूपवान् भवेदिति भावः ॥ १२७ ॥

अपरामाह

भिया सर्वं रवयति सर्वगो व्यापकोऽखिले ।
इति भैरवशब्दस्य सन्ततोच्चारणाच्छिवः ॥ १२८ ॥

विश्वमिदमखिलं भिया रवयति विमृशति अथ वा अवति रक्षति नीलानीलसुखासुखवेद्यराशेः सर्वस्याहमिति विमर्शनात् - बाह्यान्तरे सर्वत्र अहमस्मि इत्यनुभवदार्ढ्याधिगमाच्छिवः संपद्यते । तथा च न सावस्था न या शिवः इत्यादिना एतदाम्नातमस्ति ॥ १२८ ॥

अपरामाह

अहं मम मयेत्यादिप्रतिपत्तिप्रसङ्गतः ।
निराधारे मनो याति तद्ध्यानप्रेरणाच्छमी ॥ १२९ ॥

अहमिदं मम मया इत्यादिप्रसङ्गेषु निराधारं मनः कृत्वा नेदं नानास्ति किंचित् इति इत्यनेन तद्ध्यानाभ्यसनेन प्रेरणात् अहंविमर्शबलाधिगमात् शमी शान्तद्वन्द्वोवाप्तपरनिर्वाणो जायत इत्यर्थः ॥ १२९ ॥

अपरामाह

नित्यो विभुर्निराधारो व्यापकश्चाखिलाधिपः।
शब्दान्प्रतिक्षणं ध्याय्न्प्रकृतार्थानुरूपतः॥ १३० ॥

पृ। ५३)

विभुः सर्वज्ञः सर्वत्र शिव एव इत्येवं प्रतिक्षणं ध्यायन्
प्रकृतार्थानुरूपतया पदार्थदृष्ट्या कृतकृत्यो भवत्येवेत्यर्थः
जानामि करोमि इत्यत्रैव मुक्तस्वभावः स्यादिति भावः। तथा च स्पन्दे

गुणादिस्पन्दनिःष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात्।
लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः॥ १९॥

अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगनोद्यताः।
पातयन्ति दुरुत्तारे घोरे संसारवर्त्मनि॥ २०॥

अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविविक्तये।

जाग्रदेव निजं भावमचिरेणाधिगच्छति ॥ २१ ॥

इत्यादिना निर्णीतमस्ति ॥ १३० ॥

अपरामाह

अतत्त्वमिन्द्रजालाभमिदं सर्वं व्यवस्थितम् ।
किं तत्त्वमिन्द्रजालस्य चेति दार्ढ्याच्छमं व्रजेत् ॥ १३१ ॥

अतत्त्वमसारम् इन्द्रजालवदिति प्रतीत्या - सर्वमिदमिन्द्रजालतुल्यमेव तत्परं सद्वस्तु व्यपदेश्यं प्रमातृतत्त्वमिति भावनादार्ढ्येन तत्त्वविदः निर्वाणपदावाप्तिर्भवेदिति भावः ॥ १३१ ॥

अपरामाह

आत्मनो निर्विकारस्य क्व ज्ञानं क्व च वा क्रिया ।
ज्ञानायत्ता बहिर्भावा अतः शून्यमिदं जगत् ॥ १३२ ॥

ज्ञानक्रियादिशक्त्ययोगाज्ज्ञेयादिकल्पना कुतः न कुतश्चन। अतो निर्विकल्पात्मकस्य निर्विकल्पमेवेदं जगत्प्रतिभासते इति भावः। तथाच मालिनीविजये

या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी।
इच्छात्वं तस्य सा देवि सिसृक्षोः प्रतिपद्यते॥

सैकापि सत्यनेकत्वं यथा गच्छति तच्छृणु।
एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम्॥

ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते।
एवं भवत्विदं सर्वमिति कार्योन्मुखी यदा॥

जाता तदैव तत्तद्वत्कुर्वत्यत्र क्रिया मता।
एवं यथा द्विरूपैव पुनर्भेदैरनेकधा॥

अर्थोपाधिवशाद्याति चिन्तामणिरिवेश्वरी।
तत्र तावत्समापन्ना मातृभावं विभिद्यते॥

द्विधा च नवधा भेदैः पञ्चाशद्धा च मालिनी।

इत्यादिना प्रकाशितोयमर्थः॥ १३२॥

अपरामाह

न मे बन्धो न मे मोक्षो बालस्यैता विभीषिकाः।
प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्विव विवस्वतः॥ १३३॥

मायापरिग्रहवशाद्बोधो मलिनः पुमान्पशुर्भवति। (प० सा० १६)

इत्यादिना निर्णीतोयमर्थः परमार्थसारे सुस्पष्टः। अथ च तत्रैव

गच्छति गच्छति जल इव हिमकरबिम्बं स्थिते स्थितिं याति।
तनुकरणभुवनवर्गे तथायमात्मा महेशानः॥ (प० सा० ७)

पृ। ५५)

इत्यादिना एतत्सर्वं बुद्धेः प्रतिबिम्बितमेव सूर्याचन्द्रमसोरिव
जलप्रतिबिम्बादौ। इत्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्योज्यमिति भावः॥ १३३॥

अपरामाह

इन्द्रियद्वारकं सर्वं सुखदुःखादिसंगतम् ।
इतीन्द्रियाणि संत्यज्य स्वस्थः स्वात्मनि वर्तते ॥ १३४ ॥

द्रष्टा दृश्यं दर्शनं च इति भेदकल्पनात्यागादात्मनि स्वस्थः -
स्वात्मैव भवति इत्यर्थः ॥ १३४ ॥

अपरामाह

ज्ञानप्रकाशकं सर्वमात्मा चैव प्रकाशकः ।
एवमेकस्वभावत्वाज्ज्ञानं ज्ञेये विभाव्यते ॥ १३५ ॥

प्रकाशमानं न पृथक्प्रकाशात्
स च प्रकाशो न पृथग्विमर्शात् ।
नान्यो विमर्शोऽहमिति स्वरूपा-
दहं विमर्शोऽस्मि चिदेकरूपः ॥

इति नीत्या न किमपि प्रकाशाद्व्यतिरिक्तं भाति वर्तते वा

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम्।

इत्यादिलक्षणेन च सर्वं चिन्मयमेव विभाव्य यज्ज्ञानं तदेव ज्ञेयादि
इत्यादि तत्त्वज्ञाननिष्ठः संभवति इति भावः॥ १३५॥

अपरामाह

मानसं चेतना शक्तिरात्मा चेति चतुष्टयम्।
यदा प्रिये परिक्षीणं तदा तद्भैरवं वपुः॥ १३६॥

पृ। ५६)

मानसं मनः चेतना बुद्धिः शक्तिः प्राणशक्तिः आत्मा च एतदुपाधिमयो
जीव इति कथ्यते इत्येतच्चतुष्टयमुपाधिमयं मायीयोपाधिगलितं यदा क्षीणं
- यदा क्षीयते तदा चिच्छेषतया हिमनिर्मुक्तभास्करवत् प्रकाशमानः
प्रकाश एवावशिष्यते - इति दृढानुभवसमधिगमात् साक्षाद्भैरव
एव भवतीति भावः॥ १३६॥

अपरामाह

निस्तरङ्गोपदेशानां शतमुक्तं समासतः।

द्वादशाभ्यधिकं देवि यज्ज्ञात्वा ज्ञानविज्जनः॥ १३७॥

इत्थं मया धारणोपदेशानां द्वादशाभ्यधिकं शतमुक्तम् एतदेव

विज्ञाय साक्स्।आद्भैरवसारूप्यमेवैतीति तात्पर्यम्॥ १३७॥

अत्र चैकतमे युक्तो जायते भैरवः स्वयम्।

वाचा करोति कर्माणि शापानुग्रहकारकः॥ १३८॥

एतासु धारणास्वन्यतमनिष्ठावान्

मायीयोपाधिसंव्लितवेद्यराशिपतितेन्द्रियगणोपि वाचा कथनमात्रेण

शापानुग्रहादिकर्माणि करोति तत्रापि तथैव समाध्येकीभावनया तत्तदुज्झित्य

निस्तरङ्गप्रकाशवान् भैरवः साक्षाद्भवतीति निश्चयः॥ १३८॥

अजरामरतामेति सोणिमादिगुणैर्युतः।

योगिनीनां प्रभुर्देवि सर्वमेलापककारकः॥ १३९॥

अपाम सोमममूता अभूम

इत्यादिनोक्तधारणाभ्यासदार्ढ्येन अजरामरतां संप्राप्य विज्ञाना-

पृ। ५७)

त्मकसोमपानात् योगिनीनां - ज्ञानक्रियानन्दादिशक्तीनां प्रभुः स्वामी सर्वत्र मेलापकृत् सकलस्यास्य वेद्यवेदकादिराशेः खिलीकृतस्वभावोत्यन्तनिर्मलचिद्वपुरद्वैतप्रकाशमयः परमात्मा भैरवः संपद्यते इति तात्पर्यार्थः॥ १३९॥

जीवन्नपि विमुक्तोसौ कुर्वन्नपि न लिप्यते।

जीवन्मुक्त एवासौ पश्यन्नपि शृण्वन्नपि जिघ्रन्नपि - इत्यादिक्रियाः कुर्वन्न लिप्यते। तथा च भगवान्

पश्यञ्छृण्वन्स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि। (५-८)

ब्रह्मण्यादाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा । (५-१०)

इत्यादिना समादिशति । तथा च स्पन्दे

गुणादिस्पन्दनिःष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात् ।
लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः ॥ (१९)

इत्यादिना निर्णीतमस्ति । तस्मात् कर्माणि कुर्वन्नपि च न लिप्यते इति सिद्धम् ॥

ताद्रूप्येण भेदं संदिहानेव पुनरपि पृच्छन्ती

श्रीभैरवी उवाच

इदं यदि वपुर्देव परायाश्च महेश्वर ॥ १४० ॥

एवमुक्तव्यवस्थायां जप्यते को जपश्च कः ।
ध्यायते को महादेव पूज्यते कश्च तृप्यति ॥ १४१ ॥

हूयते कस्य वा होमो यागः कस्य च किं कथम् ।

स्पष्टमेतत् ॥

उक्तानुयोगनिर्धारणां समादिशन्

श्रीभैरव उवाच

एषात्र प्रक्रिया बाह्या स्थूलेत्येव मृगेक्षणे ॥ १४२ ॥

भूयो भूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या ।

प्रक्रिया बाह्या - जपपाठतीर्थाटनादिक्रिया परे तत्त्वे बाह्येति कथ्यते ॥

जपः सोत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः ॥ १४३ ॥

ध्यानं या निश्चला बुद्धिर्निर्विकारा निराश्रया ।

सोहं ब्रह्मेति शब्दस्य अनाहताख्यस्य श्रवणाज्जपः ईदृङ्मन्त्रात्मतया
जपाङ्गश्च मन्त्रः वेद्यावेद्यपतितापि समाधानबलान्निवातदीपवद्या

निश्चला बुद्धिस्तद्ध्यानमिति कथ्यते अत एव निर्विकारा निराश्रया चेति ॥

न तु ध्यानं शरीरस्य मुखहस्तादिकल्पना ॥ १४४ ॥

पूजा नाम न पुष्पाद्येर्या मतिः क्रियते दृढा ।
निर्विकल्पे परे व्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ॥ १४५ ॥

पृ। ५९)

परे व्योम्नि परचिदाकाशे लयः विश्रान्तिरेव तत्त्वतः पूजेति भावः ॥ १४५ ॥

अत्रैकतमयुक्तिस्थे योत्पद्येत दिनाद्दिनम् ।
भरिताकारता सात्र तृप्तिरत्यन्तपूर्णता ॥ १४६ ॥

अत्र प्रोक्तधारणासु एकतमयुक्तिस्थे सिद्धसमाधानदार्ढ्ये योगिनि उत्तरोत्तरं निर्विकल्पसमाधिरसास्वादाद्या पूर्णस्वात्मस्वरूपोपलब्धिपूर्णता सा तृप्तिरित्यर्थः ॥ १४६ ॥

महाशून्यालये वह्नौ भूतादिविषयादिकम् ।
हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतना स्रुचा ॥ १४७ ॥

महाशून्यालये शून्यातिशून्यरूपे परभैरवस्वरूपे वह्नौ भूतेन्द्रियतत्त्वादिरूपं सर्वं जगत् संकल्पविकल्पात्मकं विभागकल्पनाहेतुना मनसा सह यत्र चैतनैव स्रुक् तया हूयते स होमस्तत्त्वत इति ॥ १४७ ॥

यागोत्र परमेशानि तुष्टिरानन्दलक्षणा ।
क्षपणात्सर्वपाशानां त्राणात्सर्वस्य पार्वति ॥ १४८ ॥

रुद्रशक्तिसमावेशस्तत्क्षेत्रं भावना परा ।

उक्तसमाधानोत्थानन्देन तुष्टिरेव यागो देवपूजा पाशक्षपणभवत्राणधर्मत्वादनाश्रितशक्त्यावेश एव क्षेत्रं न च पुनः कुरुक्षेत्रधर्मक्षेत्रादिगमनादि । रुद्रशक्तिसमावेशः - सर्वज्ञत्वादिषटशक्तिप्रादुर्भावश्चेति ॥ १४८ ॥

पृ। ६०)

अन्यथा तस्य तत्त्वस्य का पूजा कश्च तृप्यति ॥ १४९ ॥

प्रकारान्तरेणाद्वैतसत्तत्त्वस्य पूजनतर्पणादिकर्म व्यतिरिक्तं न संभवतीति भावः ॥ १४९ ॥

सदाचारेषु मुख्यतयानुष्ठेयं स्नानमपि निर्दिशति

स्वतन्त्रानन्दचिन्मात्रसारः स्वात्मा हि सर्वतः ।
आवेशनं तत्स्वरूपे स्वात्मनः स्नानमीरितम् ॥ १५० ॥

निगदितधारणाभ्यासेनाद्वैतस्वात्मस्वरूपस्य स्वतन्त्रानन्दचिन्मात्रसारतयानुभवात्तत्स्वरूपे लयभावनैव मुख्यं स्नानमित्यर्थः ॥ १५० ॥

यैरेव पूज्यते द्रव्यैस्तर्प्यते वा परापरः ।
यश्चैव पूजकः सर्वः स एवैकः क्व पूजनम् ॥ १५१ ॥

यैरेव द्रव्यैः कुसुमादिभिः पूज्यते क्षीरखण्डादिभिर्वा तर्प्यते परापर इति परादेव्या सहितः परः भैरवः इति यश्चैव पूजकः स एव पूज्य इत्येने न तत्त्वज्ञानेन क्व पूजनम् स्थूलमार्गेण यत् सर्वस्य

पूज्यपूजादेस्तदेकस्वरूपतया क्वापि भिन्नता नेति भावः ॥ ५१ ॥

व्रजेत्प्राणो विशेज्जीव इच्छया कुटिलाकृतिः ।
दीर्घात्मा सा महादेवी परं क्षेत्रं परात्परा ॥ १५२ ॥

प्राणप्रवेशनसमये अपानस्य संघट्टनात् हृदयादौ । अस्य पद्यस्य
विस्तृतो रहस्यार्थस्तन्त्रालोकादौ निगदितस्तत एवावधार्यः तत्रापि

पृ । ६१)

गुरुमुखत एव समाधेयतया नास्माभिरिह वितानित इति क्षन्तव्यम् ॥ १५२ ॥

अस्यामनुचरंस्तिष्ठन्महानन्दमयेध्वरे ।
तया देव्या समाविष्टः परं भैरवमाप्नुयात् ॥ १५३ ॥

षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ।
हंस-हंसेति-मन्त्रेण जीवो जपति नित्यशः ॥ ५४ ॥

जपो देव्याः समुद्दिष्टः प्राणस्यान्ते सुदुर्लभः ।

प्राणस्यान्ते पर्यवसानावस्थायाम् ॥

इत्येतत्कथितं देवि परमामृतमुत्तमम् ॥ १५५ ॥

एतच्च नैव कस्यापि प्रकाश्यं तु कदाचन ।
परशिष्ये खले क्रूरे चाभक्ते गुरुपादयोः ॥ १५६ ॥

निर्विकल्पमतीनां तु वीराणामुन्नतात्मनाम् ।

निर्विकल्पमतीनां वीराणां च्छिन्नसंशयानाम् उन्नतात्मनां
शुद्धविद्याप्रधानमायोत्तीर्णानाम् ॥

भक्तानां गुरुवर्गस्य दातव्यं निर्विशङ्कया ॥ १५७ ॥

दिव्यौघ-सिद्धौघ-मानवौघादिगुरुपङ्क्तिभक्तानाम्
प्रदेयमेतद्रहस्यज्ञानमिति ॥ १५७ ॥

ग्रामं राज्यं पुरं देशं पुत्रदाराकुटुम्बकम् ।

सर्वमेतत्परित्यज्य ग्राह्यमेतन्मृगेक्षणे ॥ १५८ ॥

पृ। ६२)

किमेभिरस्थिरैर्देवि स्थिरं परमिदं धनम्।
प्राणा अपि प्रदादव्या न देयं परमामृतम्॥ १५९ ॥

राज्याद्यस्थिराननुगामिद्रव्यसंपत्त्यागेनैतदक्षयमनुवर्तमानमनुत्तरसुखफलं स्थिरधनं संग्राह्यं यत्सर्वथादेयं निर्दिष्टापात्रेभ्य इति ॥ १५८-१५९ ॥

श्रीभैरवी

देव देव महादेव परितृप्तास्मि शंकर।
रुद्रयामलतन्त्रस्य सारमद्यावधारितम्॥ १६० ॥

सर्वशक्तिप्रभेदानां हृदयं ज्ञातमद्य च।
इत्युक्त्वानन्दिता देवी कण्ठे लग्ना शिवस्य तु॥ १६१ ॥

इत्येतानि पद्यानि स्पष्टव्याख्यानानि तस्मादलं विवरणेन ॥ १६०-१६१ ॥

इति श्री विज्ञानभैरवं नाम योगशास्त्रं समाप्तम् ।

पृ । ६३)

श्रीविद्यानुग्रहावाप्तप्रेक्षालेशस्त्रिकागमान् ।
आलोड्यालोच्य तत्तत्त्वसंग्रहार्थं सुविस्तृतम् ॥ १ ॥

विज्ञानभैरवे गूढपथे पदप्रबोधिनीम् ।
दुर्ध्वान्तभवदुःश्वभ्रविभ्रंशात्पालनोदिताम् ॥ २ ॥

वेदसप्तर्षिवेदान्त्ययुगाब्दमधुपक्षतौ ।
विज्ञानकौमुदीमेतां भट्टानन्दो व्यकासयत् ॥ ३ ॥

समाप्तेयं विज्ञानकौमुदी नाम विज्ञानभैरवटीका ।
कृतिस्तत्रभवत्काश्मीरिकभट्टारकानन्दकस्य ॥

सद्विद्यानां संश्रय ग्रन्थविद्वद्-

व्यूहे ह्रासं कालवृत्त्योपयाते ।

तत्तत्सद्धर्मोद्दिधीर्षैकतान-

सत्प्रेक्षौजःशालिना कर्मवृत्त्यै ॥ १ ॥

श्रीमत्कश्मीराधिराजेन मुख्यै-

र्धर्मोद्युक्तैर्मन्त्रिभिः स्वैर्विविच्य ।

प्रत्यष्ठापि ज्ञानविज्ञानगर्भ-

ग्रन्थोद्धृत्यै मुख्यकार्यालयो यः ॥ २ ॥

तत्राजीवं निर्विशद्भिर्मुकुन्द-

रामाध्यक्षत्वाश्रितैः सद्भिरेषः ।

पूर्त्या शुद्ध्या व्याख्यया संस्कृतः स्तात्

पूर्णो ग्रन्थः श्रेयसे सज्जनानाम् ॥ ३ ॥ (तिलकम्)

श्रीस्वात्मशिवार्पणमस्तु ॥

XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX

****
* "Siva Sa.mhitaa
* Published by the Theosophical Society
* Tara Press, Varanasi 1928
* Data-entered by the staff of Muktabodha under the supervision of Mark S.G. Dyczkowski
* Velthius transliteration
* revision 0 January 28, 2007
****

प्रथमः पटलः

एकं ज्ञानं नित्यमाद्यन्तशून्यं नान्यत् किञ्चिद्वर्त्तते वस्तु सत्यम् ।

यद्भेदोस्मिन्निन्द्रियोपाधिना वै ज्ञानस्यायं भासते नान्यथैव ॥ १-१ ॥

अथ भक्तानुरक्तोऽहं वक्ति योगानुशासनम् ।

ईश्वरः सर्वभूतानामात्ममुक्तिप्रदायकः ॥ १-२ ॥

त्यक्त्वा विवादशीलानां मतं दुर्ज्ञानहेतुकम् ।

आत्मज्ञानाय भूतानामनन्यगतिचेतसाम् ॥ १-३ ॥

सत्यं केचित्प्रशंसन्ति तपः शौचं तथापरे ।
क्षमां केचित्प्रशंसंति तथैव सममार्ज्जवम् ॥ १-४ ॥

केचिद्दानं प्रशंसन्ति पितृकर्म तथापरे ।
केचित्कर्म प्रशंसन्ति केचिद्वैराग्यमुत्तमम् ॥ १-५ ॥

केचिद्गृहस्थकर्माणि प्रशंसन्ति विचक्षणाः ।
अग्निहोत्रादिकं कर्म तथा केचित् परं विदुः ॥ १-६ ॥

मन्त्रयोगं प्रशंसन्ति किचित्तिर्थानुसेवनम् ।
एवं बह्नुपायांस्तु प्रवदन्ति हि मुक्तये ॥ १-७ ॥

एवं व्यवसिता लोके कृत्याकृत्यविदो जनाः ।
व्यामोहमेव गच्छंति विमुक्ताः पापकर्मभिः ॥ १-८ ॥

एतन्मतावलम्बी यो लब्ध्वा दुरितपुण्यके ।
भ्रमतीत्यवशः सोऽत्र जन्ममृत्युपरम्पराम् ॥ १-९ ॥

अन्यैर्मतिमता । श्रेष्ठैर्गुप्तालोकनतत्परैः ।

आत्मानो बहवः प्रोक्ता नित्याः सर्वगतास्तथा ॥ १-१० ॥

यद्यत्प्रत्यक्षविषयं तदन्यन्नास्ति चक्षते ।
कुतः स्वर्गादयः सन्तीत्यन्ये निश्चितमानसाः ॥ १-११ ॥

ज्ञानप्रवाह इत्यन्ये शून्यं केचित्परं विदुः ।
द्वावेव तत्त्वं मन्यन्तेऽपरे प्रकृतिपूरुषौ ॥ १-१२ ॥

अत्यन्तभिन्नमतयः परमार्थपराङ्मुखाः ।
एवमन्ये तु संचिन्त्य यथामति यथाश्रुतम् ॥ १-१३ ॥

निरीश्वरमिदं प्राहुः सेश्वरञ्च तथापरे ।
वदन्ति विविधैर्भेदैः सुयुक्त्या स्थितिकातराः ॥ १-१४ ॥

एते चान्ये च मुनयः संज्ञाभेदा पृथग्विधाः ।
शास्त्रेषु कथिता ह्येते लोकव्यामोहकारकाः ॥ १-१५ ॥

एतद्विवादशीलानां मतं वक्तुं न शक्यते ।
भ्रमन्त्यस्मिञ्जनाः सर्वे मुक्तिमार्गबहिष्कृताः ॥ १-१६ ॥

आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।

इदमेकं सुनिष्पन्नं योगशास्त्रं परं मतम्॥ १-१७॥

यस्मिन् याते सर्वमिदं यातं भवति निश्चितम्।

तस्मिन्परिश्रमः कार्यः किमन्यच्छास्त्रभाषितम्॥ १-१८॥

योगशास्त्रमिदं गोप्यमस्माभिः परिभाषितम्।

सुभक्ताय प्रदातव्यं त्रैलोक्ये च महात्मने॥ १-१९॥

कर्मकाण्डं ज्ञानकाण्डमिति वेदो द्विधा मतः।

भवति द्विविधो भेदो ज्ञानकाण्डस्य कर्मणः॥ १-२०॥

द्विविधः कर्मकाण्डः स्यान्निषेधविधिपूर्वकः॥ १-२१॥

निषिद्धकर्मकरणे पापं भवति निश्चितम्।

विधिना कर्मकरणे पुण्यं भवति निश्चितम्॥ १-२२॥

त्रिविधो विधिकूटः स्यान्नित्यनैमित्तकाम्यतः।

नित्येऽकृते किल्विषं स्यात्काम्ये नैमित्तिके फलम्॥ १-२३॥

द्विविधन्तु फलं ज्ञेयं स्वर्गो नरक एव च ।

स्वर्गो नानाविधश्चैव नरकोपि तथा भवेत् ॥ १-२४ ॥

पुण्यकर्माणि वै स्वर्गो नरकः पापकर्माणि ।

कर्मबंधमयी सृष्टिर्नान्यथा भवति ध्रुवम् ॥ १-२५ ॥

जन्तुभिश्चानुभूयंते स्वर्गे नानासुखानि च ।

नानाविधानि दुःखानि नरके दुःसहानि वै ॥ १-२५ ॥

पापकर्मवशाद्दुखं पुण्यकर्मवशात्सुखम् ।

तस्मात्सुखार्थी विविधं पुण्यं प्रकुरुते ध्रुवम् ॥ १-२७ ॥

पापभोगावसाने तु पुनर्जन्म भवेत्खलु ।

पुण्यभोगावसाने तु नान्यथा भवति ध्रुवम् ॥ १-२८ ॥

स्वर्गेऽपि दुःखसंभोगः परश्रीदर्शनादिषु ।

ततो दुःखमिदं सर्वं भवेन्नास्त्यत्र संशयः ॥ १-२९ ॥

तत्कर्मकल्पकैः प्रोक्तं पुण्यं पापमिति द्विधा ।

पुण्यपापमयो बन्धो देहिनां भवति क्रमात् ॥ १-३० ॥

इहामुत्र फलद्वेषी सफलं कर्म संत्यजेत्।
नित्यनैमित्तिकं संज्ञं त्यक्त्वा योगे प्रवर्तते॥ १-३१॥

कर्मकाण्डस्य माहात्म्यं ज्ञात्वा योगी त्यजेत्सुधीः।
पुण्यपापद्वयं त्यक्त्वा ज्ञानकाण्डे प्रवर्तते॥ १-३२॥

आत्मा वाऽरेतु द्रष्टव्यः श्रोतव्येत्यादि यच्छ्रुतिः।
सा सेव्या तत्प्रयत्नेन मुक्तिदा हेतुदायिनी॥ १-३३॥

दुरितेषु च पुण्येषु यो धीवृत्तिं प्रचोदयात्।
सोऽहं प्रवर्तते मत्तो जगत्सर्वं चराचरम्॥
सर्वं च दृश्यते मत्तः सर्वं च मयि लीयते।
न तद्भिन्नोऽहमस्मीह मद्भिन्नो न तु किंचन॥ १-३४॥

जलपूर्णेष्वसंख्येषु शरावेषु यथा भवेत्।
एकस्य भात्यसंख्यत्वं तद्भेदोऽत्र न दृश्यते॥
उपाधिषु शरावेषु या संख्या वर्तते परा।
सा संख्या भवति यथा रवौ चात्मनि तत् तथा॥ १-३५॥

यथैकः कल्पकः स्वप्ने नानाविधितयेष्यते ।
जागरेपि तथाप्येकस्तथैव बहुधा जगत् ॥ १-३६ ॥

सर्पबुद्धिर्यथा रज्जौ शुक्तौ वा रजतभ्रमः ।
तद्वदेवमिदं विश्वं विवृतं परमात्मनि ॥ १-३७ ॥

रज्जुज्ञानाद्यथा सर्पो मिथ्यारूपो निवर्तते ।
आत्मज्ञानात् तथा याति मिथ्याभूतमिदं जगत् ॥ १-३८ ॥

रौप्यभ्रान्तिरियं याति शुक्तिज्ञानाद्यथा खलु ।
जगद्भ्रान्तिरियं याति चात्मज्ञानात् सदा तथा ॥ १-३९ ॥

यथा वंशो रगभ्रान्तिर्भवेद्भेकवसाञ्जनात् ।
तथा जगदिदं भ्रांतिरभ्यासकल्पनाञ्जनात् ॥ १-४० ॥

आत्मज्ञानाद्यथा नास्ति रज्जुज्ञानाद्भुजङ्गमः ।
यथा दोषवशाच्छुक्लः पीतो भवति नान्यथा ।
अज्ञानदोषादात्मापि जगद्भवति दुस्त्यजम् ॥ १-४१ ॥

दोषनाशे यथा शुक्लो गृह्यते रोगिणा स्वयम् ।

शुक्लज्ञानात्तथाऽज्ञाननाशादात्मा तथा कृतः ॥ १-४२ ॥

कालत्रयेपि न यथा रज्जुः सर्पो भवेदिति ।
तथात्मा न भवेद्विश्वं गुणातीतो निरञ्जनः ॥ १-४३ ॥

आगमाऽपायिनोऽनित्यानाश्यत्वेनेश्वरादयः ।
आत्मबोधेन केनापि शास्त्रादेतद्विनिश्चितम् ॥ १-४४ ॥

यथा वातवशात्सिन्धावुत्पन्नाः फेनबुद्बुदाः ।
तथात्मनि समुद्भूतं संसारं क्षणभंगुरम् ॥ १-४५ ॥

अभेदो भासते नित्यं वस्तुभेदो न भासते ।
द्विधात्रिधादिभेदोऽयं भ्रमत्वे पर्यवस्यति ॥ १-४६ ॥

यद्भूतं यच्च भाव्यं वै मूर्तामूर्तं तथैव च ।
सर्वमेव जगदिदं विवृतं परमात्मनि ॥ १-४७ ॥

कल्पकैः कल्पिता विद्या मिथ्या जाता मृषात्मिका ।
एतन्मूलं जगदिदं कथं सत्यं भविष्यति ॥ १-४८ ॥

चैतन्यात्सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम्।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य चैतेन्यं तं समाश्रयेत्॥ १-४९॥

घटस्याभ्य तरे बाह्ये यथाकाशं प्रवर्तते।
तथात्माभ्यंतरे बाह्ये कार्यवर्गेषु नित्यशः॥ १-५०॥

असंलग्नं यथाकाशं मिथ्याभूतेषु पंचसु।
असंलग्नस्तथात्मा तु कार्यवर्गेषु नान्यथा॥ १-५१॥

ईश्वरादिजगत्सर्वमात्मव्याप्यं समन्ततः।
एकोऽस्ति सच्चिदानंदः पूर्णो द्वैतविवर्जितः॥ १-५२॥

यस्मात्प्रकाशको नास्ति स्वप्रकाशो भवेत् ततः।
स्वप्रकाशो यतस्तस्मादात्मा ज्योतिः स्वरूपकः॥ १-५३॥

अवच्छिन्नो यतो नास्ति दशकालस्वरूपतः।
आत्मनः सर्वथा तस्मादात्मा पूर्णो भवेत्खलु॥ १-५४॥

यस्मान्न विद्यते नाशः पंचभूतैर्वृथात्मकैः।
तस्मादात्मा भवेन्नित्यस्तन्नाशो न भवेत्खलु॥ १-५५॥

यस्मात् तदन्यो नास्तीह तस्मादेकोऽस्ति सर्वदा।
यस्मात् तदन्यो मिथ्या स्यादात्मा सत्यो भवेत् खलु॥ १-५६॥

अविद्याभुतसंसारे दुःखनाशे सुखं यतः।
ज्ञानादाद्यंतशून्यं स्यात् तस्मादात्मा भवेत् सुखम्॥ १-५७॥

यस्मान्नाशितमज्ञानं ज्ञानेन विश्वकारणम्।
तस्मादात्मा भवेज्ज्ञानं ज्ञानं तस्मात् सनातनम्॥ १-५८॥

कालतो विविधं विश्वं यदा चैव भवेदिदम्।
तदेकोऽस्ति स एवात्मा कल्पनापथवर्जितः॥ १-५९॥

बाह्यानि सर्वभूतानि विनाशं यान्ति कालतः।
यतो वाचो निवर्तंते आत्मा द्वैतविवर्जितः॥ १-६०॥

न खं वायुर्न चाग्निश्च न जलं पृथिवी न च।
नैतत्कार्यं नेश्वरादि पूर्णैकात्मा भवेत्खलु॥ १-६१॥

आत्मानमात्मनो योगी पश्यत्यात्मनि निश्चितम्।

सर्वसंकल्पसंन्यासी त्यक्तमिथ्याभवग्रहः॥ १-६२ ॥

आत्मानात्मनि चात्मान दृष्ट्वानन्त सुखात्म्कम्।
विस्मृत्य विश्वं रमते समाधेस्तीव्रतस्तथा॥ १-६३ ॥

मायैव विश्वजननी नान्या तत्त्वधियापरा।
यदा नाशं समायाति विश्वं नास्ति तदा खलु॥ १-६४ ॥

हेयं सर्वमिदं यस्य मायाविलसितं यतः।
ततो न प्रीतिविषयस्तनुवित्तसुखात्मकः॥ १-६५ ॥

अरिर्मित्रमुदासीनस्त्रिविधं स्यादिदं जगत्।
व्यवहारेषु नियतं दृश्यते नान्यथा पुनः॥
प्रियाप्रियादिभेदस्तु वस्तुषु नियतः स्फुटम्॥ १-६६ ॥

आत्मोपाधिवशादेवं भवेत् पुत्रादि नान्यथा।
मायाविलसितं विश्वं ज्ञात्वैवं श्रुतियुक्तितः॥
अध्यारोपापवादाभ्यां लयं कुर्वन्ति योगिनः॥ १-६७ ॥

निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पुरुषः।

तदा विवक्षतेऽखंडज्ञानरूपी निरंजनः ॥ १-६८ ॥

सो कामयतः पुरुषः सृजते च प्रजाः स्वयम् ।
अविद्या भासते यस्मात् तस्मान्मिथ्या स्वभावतः ॥ १-६९ ॥

शुद्ध ब्रह्मत्व संबद्धो विद्यया सहितो भवेत् ।
ब्रह्मतेनसती याति यत आभासते नभः ॥ १-७० ॥

तस्मात् प्रकाशते वायुर्वायोरग्निस्ततो जलम् ।
प्रकाशते ततः पृथ्वी कल्पनेयं स्थिता सति ॥ १-७१ ॥

आकाशाद्वायुराकाशपवनादग्निसंभवः ।
खवाताग्नेर्जलं व्योमवाताग्निवारितो मही ॥ १-७२ ॥

खं शब्दलक्षणं वायुश्चंचलः स्पर्शलक्षणः ।
स्याद्रूपलक्षणं तेजः सलिलं रसलक्षणम् ॥
गन्धलक्षणिका पृथ्वी नान्यथा भवति ध्रुवम् ॥ १-७३ ॥

स्यादेकगुणमाकाशं द्विगुणो वायुरुच्यते ।
तथैव त्रिगुणं तेजो भवन्त्यापश्चतुर्गुणाः ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च।

एतत् पंचगुणा पृथ्वी कल्पकैः कल्प्यतेऽधुना॥ १-७४॥

चक्षुषा गृह्यते रूपं गन्धो घ्राणेन गृह्यते।

रसो रसनया स्पर्शस्त्वचा संगृह्यते परम्॥ १-७५॥

श्रोत्रेण गृह्यते शब्दो नियतं भाति नान्यथा॥ १-७६॥

चैतन्यात्सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम्।

अस्ति चेत्कल्पनेय स्यान्नास्ति चेदस्ति चिन्मयम्॥ १-७७॥

पृथ्वी शीर्णा जलं मग्ना जलं मग्नश्च तेजसि।

लीनं वायौ तथा तेजो व्योम्नि वातो लयं ययौ॥

अविद्यायां महाकाशो लीयते परमे पदे॥ १-७८॥

विक्षेपावरणा शक्तिर्दुरन्तासुखरूपिणी।

जडरूपा महामाया रजःसत्त्वतमोगुणा॥ १-७९॥

सा मायावरणाशक्त्यावृताविज्ञानरूपिणी।

दर्शयेज्जगदाकारं तं विक्षेपस्वभावतः॥ १-८०॥

तमो गुणाधिका विद्या या सा दूर्गा भवेत् स्वयम् ।
ईश्वरस्तदुपहितं चैतन्यं तदभूद्ध्रुवम् ॥
सत्ताधिका च या विद्या लक्ष्मीः स्याद्दिव्यरूपिणी ।
चैतन्यं तदुपहितं विष्णुर्भवति नान्यथा ॥ १-८१ ॥

रजोगुणाधिका विद्या ज्ञेया सा वै सरस्वती ।
यश्चित्स्वरूपो भवति ब्रह्मातदुपधारकः ॥ १-८२ ॥

ईशाद्याः सकला देवा दृश्यन्ते परमात्मनि ।
शरीरादिजडं सर्वं सा विद्या तत् तथा तथा ॥ १-८३ ॥

एवंरूपेण कल्पन्ते कल्पका विश्वसम्भवम् ।
तत्त्वातत्त्वं भवंतीह कल्पनान्येन चोदिता ॥ १-८४ ॥

प्रमेयत्वादिरूपेण सर्वं वस्तु प्रकाश्यते ।
विशेषशब्दोपादाने भेदो भवति नान्यथा ॥ १-८५ ॥

तथैव वस्तुनास्त्येव भासको वर्तकः परः ।
स्वरूपत्वेन रूपेण स्वरूपं वस्तु भाष्यते ॥ १-८६ ॥

एकः सत्तापूरितानन्दरूपः पूर्णो व्यापी वर्तते नास्ति किञ्चित्।
एतज्ज्ञानं यः करोत्येव नित्यं मुक्तः स स्यान्मृत्युसंसारदुःखात्॥ १-८७ ॥

यस्यारोपापवादाभ्यां यत्र सर्वे लयं गताः।
स एको वर्तते नान्यत्तच्चित्तेनावधार्यते॥ १-८८ ॥

पितुरन्नमयात्कोशाज्जायते पूर्वकर्मणः।
तच्छरीरंविदुर्दुःखं स्वप्राग्भोगाय सुन्दरम्॥ १-८९ ॥

मांसास्थिस्नायुमज्जादिनिर्मितं भोगमन्दिरम्।
केवलं दुःखभोगाय नाडी संततिगुल्फितम्॥ १-९० ॥

पारमेष्ठ्यमिदं गात्रं पंचभूतविनिर्मितम्।
ब्रह्माण्डसंज्ञकं दुःखसुखभोगाय कल्पितम्॥ १-९१ ॥

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिरुभयोर्मिलनात्स्वयम्।
स्वप्नभूतानि जायन्ते स्वशक्त्या जडरूपया॥ १-९२ ॥

तत् पञ्चीकरणात् स्थूलान्यसंख्यानि समासतः।

ब्रह्मांडस्थानि वस्तूनि यत्र जीवोऽस्ति कर्मभिः॥
तद्भूतपञ्चकात्सर्वं भोगाय जीवसंज्ञिता॥ १-९३॥

पूर्वकर्मानुरोधेन करोमि घटनामहम्।
अजडः सर्वभूतस्था जडस्थित्या भुनक्ति तान्॥ १-९४॥

जडात्स्वकर्मभिर्बद्धो जीवाख्यो विविधो भवेत्।
भोगायोत्पद्यते कर्म ब्रह्मांडाख्ये पुनः पुनः॥ १-९५॥

जीवश्च लीयते भोगावसाने च स्वकर्मणः॥ १-९६॥

द्वितीयः पटलः

देहेऽस्मिन्वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः॥ २-१॥

ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः॥ २-२॥

सृष्टिसंहारकर्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ।

नभो वायुश्च वह्निश्च जलं पृथ्वी तथैव च ॥ २-३ ॥

त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः ।
मेरुं संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्तते ॥ २-४ ॥

जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः ॥ २-५ ॥

ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थितः ।
मेरुशृंगे सुधारश्मिर्बहिरष्टकलायुतः ॥ २-६ ॥

वर्ततेऽहर्निशं सोऽपि सुधां वर्षत्यधोमुखः ।
ततोऽमृतं द्विधाभूतं याति सूक्ष्मं यथा च वै ॥ २-७ ॥

इडामार्गेण पुष्ट्यर्थं याति मन्दाकिनीजलम् ।
पुष्णाति सकलं देहमिडामार्गेण निश्चितम् ॥ २-८ ॥

एष पीयूषरश्मिर्हि वामपार्श्वे व्यवस्थितः ॥
अपरः शुद्धदुग्धाभो हठात्कर्षति मण्डलात् ।
मध्यमार्गेण सृष्ट्यर्थं मेरौ संयाति चन्द्रमाः ॥ २-९ ॥

मेरुमूले स्थितः सूर्यः कलाद्वादशसंयुतः ।
दक्षिणे पथि रश्मिभिर्वहत्यूर्ध्वं प्रजापतिः ॥ २-१० ॥

पीयूषरश्मिनिर्यासं धातूंश्च ग्रसति ध्रुवम् ।
समीरमण्डले सूर्यो भ्रमते सर्वविग्रहे ॥ २-११ ॥

एषा सूर्यपरामूर्तिः निर्वाणं दक्षिणे पथि ।
वहते लग्नयोगेन सृष्टिसंहारकारकः ॥ २-१२ ॥

सार्धलक्षत्रयं नाड्यः सन्ति देहान्तरे नृणाम् ।
प्रधानभूता नाड्यस्तु तासु मुख्याश्चतुर्दशः ॥ २-१३ ॥

सुषुम्णेडा पिंगला च गांधारी हस्तिजिह्विका ।
कुहूः सरस्वती पूषा शंखिनी च पयस्वनी ॥ २-१४ ॥

वारुण्यलम्बुसा चैव विश्वोदरी यशस्विनी ।
एतासु तिस्त्रो मुख्याः स्युः पिङ्गलेडा सुषुम्णिका ॥ २-१५ ॥

तिस्त्रष्वेका सुषुम्णैव मुख्या सायोगिवल्लभा ।
अन्यास्तदाश्रयं कृत्वा नाड्यः सन्ति हि देहिनाम् ॥ २-१६ ॥

नाड्यस्तु ता अधोवक्त्राः पद्मतन्तुनिभाः स्थिताः।

पृष्ठवंशं समाश्रित्य सोमसूर्याग्निरूपिणी॥ २-१७॥

तासां मध्ये गता नाडी चित्रा सा मम वल्लभा।

ब्रह्मरन्ध्रञ्च तत्रैव सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं शुभम्॥ २-१८॥

पञ्चवर्णोज्ज्वला शुद्धा सुषुम्णा मध्यचारिणी।

देहस्योपाधिरूपा सा सुषुम्णा मध्यरूपिणी॥ २-१९॥

दिव्यमार्गमिदं प्रोक्तममृतानन्दकारकम्।

ध्यानमात्रेण योगींद्रो दुरितौघं विनाशयेत्॥ २-२०॥

गुदात्तुद्ध्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्ात्तु द्ध्यंगुलादधः।

चतुरंगगुलविस्तारमाधारं वर्तते समम्॥ २-२१॥

तस्मिन्नाधारपद्मे च कर्णिकायां सुशोभना।

त्रिकोणा वर्तते योनिः सर्वतंत्रेषु गोपिता॥ २-२२॥

तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता।

सार्द्धत्रिकरा कुटिला सुषुम्णा मार्गसंस्थिता॥ २-२३॥

जगत्संसृष्टिरूपा सा निर्माणे सततोद्यता।
वाचामवाच्या वाग्देवी सदा देवैर्नमस्कृता॥ २-२४॥

इडानाम्नी तु या नाडी वाममार्गे व्यवस्थिता।
सुषुम्णायां समाश्लिष्य दक्षनासापुटे गता॥ २-२५॥

पिङ्गला नाम या नाडी दक्षमार्गे व्यवस्थिता।
मध्यनाडीं समाश्लिष्य वामनासापुटे गता॥ २-२६॥

इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्णा या भवेत्खलु।
षट्स्थानेषु च षट्शक्तिं षट्पद्मं योगिनो विदुः॥ २-२७॥

पंचस्थानं सुषुम्णाया नामानि स्युर्बहूनि च।
प्रयोजनवशात्तानि ज्ञातव्यानीह शास्त्रतः॥ २-२८॥

अन्या याऽस्त्यपरा नाडी मूलाधारात्समुत्थिता।
रसनामेढ्रनयनं पादांगुष्ठे च श्रोत्रकम्॥
कुक्षिकक्षांगुष्ठकर्णं सर्वांगं पायुकुक्षिकम्।

लब्ध्वा तां वै निवर्तन्ते यथा देशसमुद्भवाः ॥ २-२९ ॥

एताभ्य एव नाडीभ्यः शखोपशाखतः क्रमात् ।

सार्धलक्षत्रयं जातं यथाभागं व्यवस्थितम् ॥ २-३० ॥

एता भोगवहा नाड्यो वायुसञ्चारदक्षकाः ।

ओतप्रोत्राः सुसंव्याप्य तिष्ठन्त्यस्मिन्कलेवरे ॥ २-३१ ॥

सूर्यमण्डलमध्यस्थः कलाद्वादशसंयुतः ।

वस्तिदेशे ज्वलद्वह्निर्वर्तते चान्नपाचकः ॥

एष वैश्वानरोग्निर्वै मम तेजोंशसम्भवः ।

करोति विविधं पाकं प्राणिनां देहमास्थितः ॥ २-३२ ॥

आयुः प्रदायको वह्निर्बलं पुष्टिं ददाति सः ।

शरीरपाटवञ्चापि ध्वस्तरोगसमुद्भवः ॥ २-३३ ॥

तस्माद्वैश्वानराग्निञ्च प्रज्वाल्य विधिवत्सुधीः ।

तस्मिन्नन्नं हुनेद्योगी प्रत्यहं गुरुशिक्षया ॥ २-३४ ॥

ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे स्थानानि स्युर्बहूनि च ।

मयोक्तानि प्रधानानि ज्ञातव्यानीह शास्त्रके ॥ २-३५ ॥

नानाप्रकारनामानि स्थानानि विविधानि च ।
वर्तन्ते विग्रहे तानि कथितुं नैव शक्यते ॥ २-३६ ॥

इत्थं प्रकल्पिते देहे जीवो वसति सर्वगः ।
अनादिवासनामालाऽलंकृतः कर्मशंखलः ॥ २-३७ ॥

नानाविधगुणोपेतः सर्वव्यापारकारकः ।
पूर्वार्जितानि कर्माणि भुनक्ति विविधानि च ॥ २-३८ ॥

यद्यत्संदृश्यते लोके सर्वं तत्कर्मसम्भवम् ।
सर्वा कर्मानुसारेण जन्तुर्भोगान्भुनक्ति वै ॥ २-३९ ॥

ये ये कामादयो दोषाः सुखदुःखप्रदायकाः ।
ते ते सर्वे प्रवर्तन्ते जीवकर्मानुसारतः ॥ २-४० ॥

पुण्योपरक्तचैतन्ये प्राणान्प्रीणाति केवलम् ।
बाह्ये पुण्यमयं प्राप्य भोज्यवस्तु स्वयम्भवेत् ॥ २-४१ ॥

ततः कर्मबलात्पुंसः सुखं वा दुःखमेव च ।
पापोपरक्तचैतन्यं नैव तिष्ठति निश्चितम् ॥
न तद्भिन्नो भवेत्सोऽपि तद्भिन्नो न तु किञ्चन ।
मायोपहितचैतन्यात्सर्वं वस्तु प्रजायते ॥ २-४२ ॥

यथाकालेपि भोगाय जन्तूनां विविधोद्भवः ।
यथा दोषवशाच्छुक्तौ रजतारोपणं भवेत् ॥
तथा स्वकर्मदोषाद्वै ब्रह्मण्यारोप्यते जगत् ॥ २-४३ ॥

सवासनाभ्रमोत्पन्नोन्मूलनातिसमर्थनम् ।
उत्पन्नश्चेदीदृशं स्याज्ज्ञानं मोक्षप्रसाधनम् ॥ २-४४ ॥

साक्षाद्वैशेषदृष्टिस्तु साक्षात्कारिणि विभ्रमे ।
कारणं नान्यथा युक्त्या सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥ २-४५ ॥

साक्षात्कारिभ्रमे साक्षात्साक्षात्कारिणि नाशयेत् ।
सो हि नास्तीति संसारे भ्रमो नैव निवर्तते ॥ २-४६ ॥

मिथ्याज्ञाननिवृत्तिस्तु विशेषदर्शनाद्भवेत् ।
अन्यथा न निवृत्तिः स्याद्दृश्यते रजतभ्रमः ॥ २-४७ ॥

यावन्नोत्पद्यते ज्ञानं साक्षात्कारे निरञ्जने।
तावत्सर्वाणि भूतानि दृश्यन्ते विविधानि च॥ २-४८॥

यदा कर्मार्जितं देहं निर्वाणे साधनं भवेत्।
तदा शरीरवहनं सफलं स्यान्न चान्यथा॥ २-४९॥

यादृशी वासना मूला वर्तते जीवसंगिनी।
तादृशं वहते जन्तुः कृत्याकृत्यविधौ भ्रमम्॥ २-५०॥

संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगसाधकः।
कृत्वा वर्णाश्रमं कर्म फलवर्जं तदाचरेत्॥ २-५१॥

विषयासक्तपुरुषा विषयेषु सुखेप्सवः।
वाचाभिरुद्धनिर्वाणा वर्तन्ते पापकर्मणि॥ २-५२॥

आत्मानमात्मना पश्यन्न किञ्चिदिह पश्यति।
तदा कर्मपरित्यागे न दोषोऽस्ति मतं मम॥ २-५३॥

कामादयो विलीयन्ते ज्ञानादेव न चान्यथा।

अभावे सर्वतत्त्वानां स्वयं तत्त्वं प्रकाशते ॥ २-५४ ॥

तृतीयः पटलः

हृद्यस्ति पङ्कजं दिव्यं दिव्यलिङ्गेन भूषितम् ।
कादिठान्ताक्षरोपेतं द्वादशार्णविभूषितम् ॥ ३-१ ॥

प्राणो वसति तत्रैव वासनाभिरलंकृतः ।
अनादिकर्मसंश्लिष्टः प्राप्याहङ्कारसंयुतः ॥ ३-२ ॥

प्राणस्य वृत्तिभेदेन नामानि विविधानि च ।
वर्तन्ते तानि सर्वाणि कथितुं नैव शक्यते ॥ ३-३ ॥

प्राणोऽपानः समानश्चादानो व्यानश्च पञ्चमः ।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥ ३-४ ॥

दश नामानि मुख्यानि मयोक्तानीह शास्त्रके ।
कुर्वन्ति तेऽत्र कार्याणि प्रेरितानि स्वकर्मभिः ॥ ३-५ ॥

अत्रापि वायवः पञ्च मुख्याः स्युर्दशतः पुनः ।

तत्रापि श्रेष्ठकर्तारौ प्राणापानौ मयोदितौ ॥ ३-६ ॥

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले ।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः ॥ ३-७ ॥

नागादिवायवः पञ्च ते कुर्वन्ति च विग्रहे ।
उद्गारोन्मीलनं क्षुत्तृड्जृम्भा हिक्का च पञ्चमः ॥ ३-८ ॥

अनेन विधिना यो वै ब्रह्माण्डं वेत्ति विग्रहम् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥ ३-९ ॥

अधुना कथयिष्यामि क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ।
अज्ज्ञात्वा नावसीदन्ति योगिनो योगसाधने ॥ ३-१० ॥

भवेद्वीर्यवती विद्या गुरुवक्त्रसमुद्भवा ।
अन्यथा फलहीना स्यान्निर्वीर्याप्यतिदुःखदा ॥ ३-११ ॥

गुरुं सन्तोष्य यत्नेन ये वै विद्यामुपासते ।
अवलम्बेन विद्यायास्तस्याः फलमवाप्नुयात् ॥ ३-१२ ॥

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो न संशयः।

कर्मणा मनसा वाचा तस्मात्सर्वैः प्रसेव्यते॥ ३-१३॥

गुरुप्रसादतः सर्वं लभ्यते शुभमात्मनः।

तस्मात्सेव्यो गुरुर्नित्यमन्यथा न शुभं भवेत्॥ ३-१४॥

प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा स्पृष्ट्वा सव्येन पाणिना।

अष्टांगेन नमस्कुर्याद् गुरुपादसरोरुहम्॥ ३-१५॥

श्रद्धयात्मवतां पुंसां सिद्धिर्भवति निश्चिता।

अन्येषाञ्च न सिद्धिः स्यात्तस्माद्यत्नेन साधयेत्॥ ३-१६॥

न भवेत्संगयुक्तानां तथाऽविश्वासिनामपि।

गुरुपूजाविहीनानां तथा च बहुसंगिनाम्॥ ३-१७॥

मिथ्यावादरतानां च तथा निष्ठुरभाषिणाम्।

गुरुसन्तोषहीनानां न सिद्धिः स्यात्कदाचन॥ ३-१७॥

फलिष्यतीति विश्वासः सिद्धेः प्रथमलक्षणम्।

द्वितीयं श्रद्धया युक्तं तृतीयं गुरुपूजनम्॥

चतुर्थं समताभावं पञ्चमेन्द्रियनिग्रहम् ।
षष्ठं च प्रमिताहारं सप्तमं नैव विद्यते ॥ ३-१८ ॥

योगोपदेशं संप्राप्य लब्ध्वा योगविदं गुरुम् ।
गुरूपदिष्टविधिना धिया निश्चित्य साधयेत् ॥ ३-१९ ॥

सुशोभने मठे योगी पद्मासनसमन्वितः ।
आसनोपरि संविश्य पवनाभ्यासमाचरेत् ॥ ३-२० ॥

समकायः प्राञ्जलिश्च प्रणम्य च गुरून् सुधीः ।
दक्षे वामे च विघ्नेशं क्षत्रपालांबिकां पुनः ॥ ३-२१ ॥

ततश्च दक्षांगुष्ठेन निरुद्ध्य पिंगलां सुधीः ।
इडया पूरयेद्वायुं यथाशक्त्या तु कुम्भयेत् ॥
ततस्त्यक्त्वा पिंगलयाशनैरेव न वेगतः ॥ ३-२२ ॥

पुनः पिंगलयापूर्य यथाशक्त्या तु कुम्भयेत् ।
इडया रेचयेद्वायुं न वेगेन शनैः शनैः ॥ ३-२३ ॥

इदं योगविधानेन कुर्याद्विंशतिकुम्भकान् ।

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः प्रत्यहं विगतालसः ॥ ३-२४ ॥

प्रातःकाले च मध्याह्ने सूर्यास्ते चार्द्धरात्रके ।
कुर्यादेवं चतुर्वारं कालेष्वेतेषु कुम्भकान् ॥ ३-२५ ॥

इत्थं मासत्रयं कुर्यादनालस्यो दिने दिने ।
ततो नाडीविशुद्धिः स्यादविलम्बेन निश्चितम् ॥ ३-२६ ॥

यदा तु नाडीशुद्धिः स्याद्योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ।
तदा विध्वस्तदोषश्च भवेदारम्भसम्भवः ॥ ३-२७ ॥

चिह्नानि योगिनो देहे दृश्यन्ते नाडिशुद्धितः ।
कथ्यन्ते तु समस्तान्यङ्गानि संक्षेपतो मया ॥ ३-२८ ॥

समकायः सुगन्धिश्च सुकान्तिः स्वरसाधकः ।
आरम्भघटकश्चैव यथा परिचयस्तदा ॥
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु योगावस्था भवन्ति ताः ॥ ३-२९ ॥

आरम्भः कथितोऽस्माभिरधुना वायुसिद्धये ।
अपरः कथ्यते पश्चात् सर्वदुःखौघनाशनः ॥ ३-३० ॥

प्रौढवह्निः सुभोगी च सुखीसर्वाङ्गसुन्दरः।
संपूर्णहृदयो योगी सर्वोत्साहबलान्वितः॥
जायते योगिनोऽवश्यमेतत्सर्वं कलेवरे॥ ३-३१॥

अथ वर्ज्यं प्रवक्ष्यामि योगविघ्नकरं परम्।
येन संसारदुःखाब्धिं तीर्त्वा यास्यन्ति योगिन॥ ३-३२॥

आम्लं कक्षं तथा तीक्ष्णं लवणं सार्षपं कटुम्।
बहुलं भ्रमणं प्रातः स्नानं तैलविदाहकम्॥

स्तेयं हिंसां जनद्वेषञ्चाहङ्कारमनार्जवम्।
उपवासमसत्यञ्च मोक्षञ्च प्राणिपीडनम्॥
स्त्रीसङ्गमग्निसेवां च बह्वालापं प्रियाप्रियम्।
अतीव भोजनं योगी त्यजेदेतानि निश्चितम्॥ ३-३३॥

उपायं च प्रवक्ष्यामि क्षिप्रं योगस्य सिद्धये।
गोपनीयं साधकानां येन सिद्धिर्भवेत्खलु॥ ३-३४॥

घृतं क्षीरं च मिष्टान्नं ताम्बूलं चूर्णवर्जितम्।

कर्पूरं निष्तुषं मिष्टं सुमठं सूक्ष्मरन्ध्रकम् ॥
सिद्धान्तश्रवणं नित्यं वैराग्यगृहसेवनम् ।
नामसङ्कीर्तनं विष्णोः सुनादश्रवणं परम् ॥
धृतिः क्षमा तपः शौचं ह्रीर्मतिर्गुरुसेवनम् ।
सदैतानि परं योगी नियमानि समाचरेत् ॥ ३-३५ ॥

अनिलेऽर्कप्रवेशे च भोक्तव्यं योगिभिः सदा ।
वायौ प्रविष्टे शशिनि शयनं साधकोत्तमैः ॥ ३-३६ ॥

सद्यो भुक्तेऽपि क्षुधिते नाभ्यासः क्रियत बुधैः ।
अभ्यासकाले प्रथमं कुर्यात्क्षीराज्यभोजनम् ॥ ३-३७ ॥

ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ।
अभ्यासिना विभोक्तव्यं स्तोकं स्तोकमनेकधा ॥
पूर्वोक्तकाले कुर्यात्तु कुम्भकान्प्रतिवासरे ॥ ३-३८ ॥

ततो यथेष्टा शक्तिः स्याद्योगिनो वायुधारणे ।
यथेष्टं धारणाद्वायोः कुम्भकः सिध्यति ध्रुवम् ॥
केवले कुम्भके सिद्धे किं न स्यादिह योगिनः ॥ ३-३९ ॥

स्वेदः संजायते देहे योगिनः प्रथमोद्यमे ।
यदा संजायते स्वेदो मर्दनं कारयेत्सुधीः ॥
अन्यथा विग्रहे धातुर्नष्टो भवति योगिनः ॥ ३-४० ॥

द्वितीये हि भवेत्कम्पो दार्दुरी मध्यमे मता ।
ततोऽधिकतराभ्यासाद्गगनेचरसाधकः ॥ ३-४१ ॥

योगी पद्मासनस्थोऽपि भुवमुत्सृज्य वर्तते ।
वायुसिद्धिस्तदा ज्ञेया संसारध्वान्तनाशिनी ॥ ३-४२ ॥

तावत्कालं प्रकुर्वीत योगोक्तनियमग्रहम् ।
अल्पनिद्रा पुरीषं च स्तोकं मूत्रं च जायते ॥ ३-४३ ॥

अरोगित्वमदीनत्वं योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ।
स्वेदो लाला कृमिश्चैव सर्वथैव न जायते ॥ ३-४४ ॥

कफपित्तानिलाश्चैव साधकस्य कलेवरे ।
तस्मिन्काले साधकस्य भोज्येष्वनियमग्रहः ॥ ३-४५ ॥

अत्यल्पं बहुधा भुक्त्वा योगी न व्यथते हि सः ।

अथाभ्यासवशाद्योगी भूचरीं सिद्धिमाप्नुयात् ॥
यथा दर्दुरजन्तूनां गतिः स्यात्पाणिताडनात् ॥ ३-४६ ॥

सन्त्यत्र बहवो विघ्ना दारुणा दुर्निवारणाः ।
तथापि साधयेद्योगी प्राणैः कंथगतैरपि ॥ ३-४७ ॥

ततो रहस्युपाविष्टः साधकः संयतेन्द्रियः ।
प्रणवं प्रजपेद्दीर्घं विघ्नानां नाशहेतवे ॥ ३-४८ ॥

पूर्वार्जितानि कर्माणि प्राणायामेन निश्चितम् ।
नाशयेत्साधको धीमानिहलोकोद्भवानि च ॥ ३-४९ ॥

पूर्वाजितानि पापानि पुण्यानि विविधानि च ।
नाशयेत्षोडशप्राणायामेन योगि पुंगवः ॥ ३-५० ॥

पापतूलचयानाहोप्रदहेत्प्रलयाग्निना ।
ततः पापविनिर्मुक्तः पश्चात्पुण्यानि नाशयेत् ॥ ३-५१ ॥

प्राणायामेन योगीन्द्रो लब्ध्वैश्वर्याष्टकानि वै ।
पापपुण्योदधिं तीर्त्वा त्रैलोक्यचरतामियात् ॥ ३-५२ ॥

ततोऽभ्यासक्रमेणैव घटिकात्रितयं भवेत्।
येन स्यात्सकलासिद्धिर्योगिनः स्वेप्सिता ध्रुवम्॥ ३-५३॥

वाक्सिधिः कामचारित्वं दूरदृष्टिस्तथैव च।
दूरश्रुतिः सूक्ष्मदृष्टिः परकायप्रवेशनम्॥
विण्मूत्रलेपने स्वर्णमदृश्यकरणं तथा।
भवन्त्येतानि सर्वाणि खेचरत्वं च योगिनाम्॥ ३-५४॥

यदा भवेद्घटावस्था पवनाभ्यासने परा।
तदा संसारचक्रेऽस्मिन्नास्ति यन्न सधारयेत्॥ ३-५५॥

प्राणापाननादबिंदुजीवात्मपरमात्मनः।
मिलित्वा घटते यस्मात्तस्माद्वै घट उच्यते॥ ३-५६॥

याममात्रं यदा धर्तुं समर्थः स्यात्तदाद्भुतः।
प्रत्याहारस्तदैव स्यान्नांतरा भवति ध्रुवम्॥ ३-५७॥

यं यं जानाति योगीन्द्रस्तं तमात्मेति भावयेत्।
यैरिन्द्रियैर्यद्विधानस्तदिन्द्रियजयो भवेत्॥ ३-५८॥

याममात्रं यदा पूर्णं भवेदभ्यासयोगतः।
एकवारं प्रकुर्वीत तदा योगी च कुम्भकम्॥
दण्डाष्टकं यदा वायुर्निश्चलो योगिनो भवेत्।
स्वसामर्थ्यात्तदांगुष्ठे तिष्ठेद्वातुलवत्सुधीः॥ ३-५९॥

ततः परिचयावस्था योगिनोऽभ्यासतो भवेत्।
यदा वायुश्चंद्रसूर्यं त्यक्त्वा तिष्ठति निश्चलम्॥
वायुः परिचितो वायुः सुषुम्ना व्योम्नि संचरेत्॥ ३-६०॥

क्रियाशक्तिं गृहीत्वैव चक्रान्भित्त्वा सुनिश्चितम्।
यदा परिचयावस्था भवेदभ्यासयोगतः॥
त्रिकूटं कर्मणां योगी तदा पश्यति निश्चितम्॥ ३-६१॥

ततश्च कर्मकूटानि प्रणवेन विनाशयेत्।
स योगी कर्मभोगाय कायव्यूहं समाचरेत्॥ ३-६२॥

अस्मिन्काले महायोगी पंचधा धारणं चरेत्।
येन भूरादिसिद्धिः स्यात्ततो भूतभयापहा॥ ३-६३॥

आधारे घटिकाः पंच लिंगस्थाने तथैव च।
तदूर्ध्वं घटिकाः पञ्च नाभिहृन्मध्यके तथा॥
भ्रूमध्योर्ध्वं तथा पंच घटिका धारयेत्सुधीः।
तथा भूरादिना नष्टो योगीन्द्रो न भवेत्खलु॥ ३-६४॥

मेधावी सर्वभूतानां धारणां यः समभ्यसेत्।
शतब्रह्ममृतेनापि मृत्युस्तस्य न विद्यते॥ ३-६५॥

ततोऽभ्यासक्रमेणैव निष्पत्तिर्योगिनो भवेत्।
अनादिकर्मबीजानि येन तीर्त्वाऽमृतं पिबेत्॥ ३-६६॥

यदा निष्पत्तिर्भवति समाधेः स्वेनकर्मणा।
जीवन्मुक्तस्य शांतस्य भवेद्धीरस्य योगिनः॥
यदा निष्पत्तिसंपन्नः समाधिः स्वेच्छया भवेत्।
गृहीत्वा चेतनां वायुः क्रियाशक्तिं च वेगवान्॥
सर्वांश्चक्रान्विजित्वा च ज्ञानशक्तौ विलीयते॥ ३-६७॥

इदानीं क्लेशहान्यर्थं वक्तव्यं वायुसाधनम्।
येन संसारचक्रेऽस्मिन् भोगहानिर्भवेद्ध्रुवम्॥ ३-६८॥

रसनां तालुमूले यः स्थापयित्वा विचक्षणः।

पिबेत्प्राणानिलं तस्य योगानां संक्षयो भवेत्॥ ३-६९॥

काकचंच्वा पिबेद्वायुं शीतलं यो विचक्षणः।

प्राणापानविधानज्ञः स भवेन्मुक्तिभाजनः॥ ३-७०॥

सरसं यः पिबेद्वायुं प्रत्यहं विधिना सुधीः।

नश्यंति योगिनस्तस्य श्रमदाहजरामयाः॥ ३-७१॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा यश्चन्द्रे सलिलं पिबेत्।

मासमात्रेण योगीन्द्रो मृत्युंजयति निश्चितम्॥ ३-७२॥

राजदंतबिलं गाढं संपीड्य विधिना पिबेत्।

ध्यात्वा कुण्डलिनीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत्॥ ३-७३॥

काकचंच्वा पिबेद्वायुं सन्ध्ययोरुभयोरपि।

कुण्डलिन्या मुखे ध्यात्वा क्षयरोगस्य शान्तये॥ ३-७४॥

अहर्निशं पिबेद्योगी काकचंच्वा विचक्षणः।

पिबेत्प्राणानिलं तस्य रोगाणां संक्षयो भवेत्॥

दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिस्तथा स्याद्दर्शनं खलु ॥ ३-७५ ॥

दन्तैर्दन्तान्समापीड्य पिबेद्वायुं शनैः शनैः ।
ऊर्ध्वजिह्वः सुमेधावी मृत्युं जयति सोचिरात् ॥ ३-७६ ॥

षण्मासमात्रमभ्यासं यः करोति दिने दिने ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो रोगान्नाशयते हि सः ॥ ३-७७ ॥

संवत्सरकृताऽभ्यासाद्भैरवो भवति ध्रुवम् ।
अणिमादिगुणाँल्लब्ध्वा जितभूतगणः स्वयम् ॥ ३-७८ ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति ।
क्षणेन मुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ३-७९ ॥

रसनां प्राणसंयुक्तां पीड्यमानां विचिंतयेत् ।
न तस्य जायते मृत्युः सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥ ३-८० ॥

एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ।
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैव मूर्च्छा प्रजायते ॥ ३-८१ ॥

अनेनैव विधानेन योगीन्द्रोऽवनिमण्डले।
भवेत्स्वच्छन्दचारी च सर्वापत्परिवर्जितः॥ ३-८२॥

न तस्य पुनरावृत्तिर्मोदते ससुरैरपि।
पुण्यपापैर्न लिप्येत एतदाक्षरणेन सः॥ ३-८३॥

चतुरशीत्यासनानि सन्ति नानाविधानि च।
तेभ्यश्चतुष्कमादाय मयोक्तानि ब्रवीम्यहम्॥
सिद्धासनं ततः पद्मासनञ्चोग्रं च स्वस्तिकम्॥ ३-८४॥

योनिं संपीडय यत्नेन पादमूलेन साधकः।
मेढोपरि पादमूलं विन्यसेद्योगवित्सदा॥
ऊर्ध्वं निरीक्ष्य भ्रूमध्यं निश्चलः संयतेन्द्रियः।
विशेषोऽवक्रकायश्च रहस्युद्वेगवर्जितः॥
एतत् सिद्धासनं ज्ञेयं सिद्धानां सिद्धिदायकम्॥ ३-८५॥

येनाभ्यासवशाच्छीघ्रं योगनिष्पत्तिमाप्नुयात्।
सिद्धासनं सदा सेव्यं पवनाभ्यासिना परम्॥ ३-८६॥

येन संसारमुत्सृज्य लभते परमां गतिम्।

नातः परतरं गुह्यमासनं विद्यते भुवि ॥
येनानुध्यानमात्रेण योगी पापाद्विमुच्यते ॥ ३-८७ ॥

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा तु तादृशौ ॥
नासाग्रे विन्यसेद्दृष्टिं दन्तमूलञ्च जिह्वया ।
उत्तोल्य चिबुकं वक्ष उत्थाप्य पवनं शनैः ॥
यथाशक्त्या समाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
यथा शक्त्यैव पश्चात्तु रेचयेदविरोधतः ॥
इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥ ३-८८ ॥

दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते परम् ॥ ३-८९ ॥

अनुष्ठाने कृते प्राणः समश्चलति तत्क्षणात् ।
भवेदभ्यासने सम्यक्साधकस्य न संशयः ॥ ३-९० ॥

पद्मासने स्थितो योगी प्राणापानविधानतः ।
पूरयेत्स विमुक्तः स्यात्सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥ ३-९१ ॥

प्रसार्य चरणद्वन्द्वं परस्परमसंयुतम् ।

स्वपाणिभ्यां दृढं धृत्वा जानूपरि शिरो न्यसेत् ॥
आसनोग्रमिदं प्रोक्तं भवेदनिलदीपनम् ।
देहावसानहरणं पश्चिमोत्तानसंज्ञकम् ॥
य एतदासनं श्रेष्ठं प्रत्यहं साधयेत्सुधीः ।
वायुः पश्चिममार्गेण तस्य सञ्चरति ध्रुवम् ॥ ३-९२ ॥

एतदभ्यासशीलानां सर्वसिद्धिः प्रजायते ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन साधयेत्सिद्धमात्मनः ॥ ३-९३ ॥

गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ।
येन शीघ्रं मरुत्सिद्धिर्भवेद् दुःखौघनाशिनी ॥ ३-९४ ॥

जानूर्वोरन्तरे सम्यग्धृत्वा पादतले उभे ।
समकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ ३-९५ ॥

अनेन विधिना योगी मारुतं साधयेत्सुधीः ।
देहे न क्रमते व्याधिस्तस्य वायुश्च सिद्ध्यति ॥ ३-९६ ॥

सुखासनमिदं प्रोक्तं सर्वदुःखप्रणाशनम् ।
स्वस्तिकं योगिभिर्गोप्यं स्वस्तीकरणमुत्तमम् ॥ ३-९७ ॥

चतुर्थः पटलः

आदौ पूरक योगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः।
गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुंच्य प्रवर्तते॥ ४-१॥

ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वा कामं कन्दुकसन्निभम्।
सूर्यकोटि प्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम्॥
तस्योर्ध्वं तु शिखासूक्ष्मा चिद्रूपा परमाकला।
तया सहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत्॥ ४-२॥

गच्छति ब्रह्ममार्गेण लिंगत्रयक्रमेण वै।
अमृतं तद्धि स्वर्गस्थं परमानन्दलक्षणम्॥
श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधाराप्रवर्षिणम्।
पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत्कुलम्॥ ४-३॥

पुनरेव कुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा।
सा च प्राणसमाख्याता ह्यस्मिंस्तन्त्रे मयोदिता॥ ४-४॥

पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादिशिवात्मकम्।

योनिमुद्रा परा ह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः ।

तस्यास्तु बन्धामत्रेण तन्नास्ति यन्न साधयेत्॥ ४-५॥

छिन्नरूपास्तु ये मन्त्राः कीलिताः स्तंभिताश्च ये ।

दग्धामन्त्राः शिखाहीना मलिनास्तु तिरस्कृताः॥

मन्दा बालास्तथा वृद्धाः प्रौढा यौवनगर्विताः ।

अरिपक्षे स्थिता ये च निर्वीर्याः सत्त्ववर्जिताः ।

तथा सत्त्वेन हीनाश्च खण्डिताः शतधाकृताः॥

विधानेन च संयुक्ताः प्रभवन्त्यचिरेण तु ।

सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे गुरुणा विनियोजिताः॥

दीक्षयित्वा विधानेन अभिषिच्य सहस्रधा ।

ततो मंत्राधिकारार्थमेषा मुद्रा प्रकीर्तिता॥ ४-६॥

ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत् ।

नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबन्धनात्॥ ४-७॥

गुरुहा च सुरापी च स्तेयी च गुरुतल्पगः ।

एतैः पापैर्न बध्येत योनिमुद्रानिबन्धनात्॥ ४-८॥

तस्मादभ्यासनं नित्यं कर्तव्यं मोक्षकांक्षिभिः ।

अभ्यासाज्जाय ते सिद्धिरभ्यासान्मोक्षमाप्नुयात्॥ ४-९॥

संविदं लभतेऽभ्यासाद्योगोभ्यासात्प्रवर्तते।
मुद्राणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायुसाधनम्॥
कालवञ्चनमभ्यासात्तथा मृत्युञ्जयो भवेत्॥ ४-१० ॥

वाक्सिद्धिः कामचारित्वं भवेद्भ्यासयोगतः॥
योनिमुद्रा परं गोप्या न देया यस्य कस्यचित्।
सर्वथा नैव दातव्या प्राणैः कण्ठगतैरपि॥ ४-११ ॥

अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम्।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम्॥ ४-१२ ॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोपि च॥ ४-१३॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥ ४-१४ ॥

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।

जालंधरो मूलबंधो विपरीतकृतिस्तथा ॥
उड्डानं चैव वज्रोणी दशमे शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम् ॥ ४-१५ ॥

अथ महामुद्राकथनम् ।

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन्मम वल्लभे ।
यां प्राप्य सिद्धाः सिद्धिं च कपिलाद्याः पुरागताः ॥ ४-१६ ॥

अपसव्येन संपीड्य पादमूलेन सादरम् ।
गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्रान्तरालगाम् ॥
सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन वै ।
नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि ॥
चित्तं चित्तपथे दत्त्वा प्रभवेद्वायुसाधनम् ।
महामुद्राभवेदेषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाभ्यसेत् पुनः ।
प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियतमानसः ॥ ४-१७ ॥

अनेन विधिना योगी मन्दभाग्योपि सिध्यति ।
सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिन्दुमारणम् ॥

जीवनन्तु कषायस्य पातकानां विनाशनम्।
सवरोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनम्॥

वपुषा कान्तिममलां जरामृत्युविनाशनम्।
वांछितार्थफलं सौख्यमिन्द्रियाणाञ्च मारणम्॥
एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योगिनः।
भवेदभ्यासतोऽवश्यं नात्र कार्या विचारणा॥ ४-१८॥

गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते।
यां तु प्राप्य भवाम्भोधेः पारं गच्छन्ति योगिनः॥ ४-१९॥

मुद्रा कामदुघा ह्येषा साधकानां मयोदिता।
गुप्ताचारेण कर्तव्या न देया यस्य कस्यचित्॥ ४-२०॥

अथ महाबन्धकथनम्।

ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि।
गुदयोनिं समाकुंच्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम्।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम्॥
बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः।

कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः।

नाडीजालाद्रसव्यूहो मूर्धानं याति योगिनः॥

उभाभ्यां साधयेत् पद्भ्यामेकैकं सुप्रयत्नतः॥ ४-२१॥

भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्नां मध्यसङ्गतः।

अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थिपंजरे॥

संपूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः।

बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम्॥ ४-२२॥

अथ महावेधकथनम्।

अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि।

महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना।

स्फिचौ संताडयेद्धीमान्वेधोऽयं कीर्तितो मया॥ ४-२३॥

वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुंगवः।

ग्रंथिं सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मग्रंथिं भिनत्त्यसौ॥ ४-२४॥

यः करोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम्।

वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरणनाशिनी॥ ४-२५॥

चक्रमधे स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताडनात्।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते॥ ४-२६॥

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात्॥ ४-२७॥

एतत् त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति यः।
षण्मासाभ्यन्तरं मृत्युं जयत्येव न संशयः॥ ४-२८॥

एतत् त्रयस्य माहात्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः।
यज्ज्ञात्वा साधकाः सर्वे सिद्धिं सम्यग्लभन्ति वै॥ ४-२९॥

गोपनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिमीप्सुभिः।
अन्यथा च न सिद्धिः स्यान्मुद्राणामेष निश्चयः॥ ४-३०॥

अथ खेचरीमुद्राकथनम्।

भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढां सुधीः।
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः॥

लम्बिकोर्ध्वं स्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम्।

संयोजयेत्प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः।

मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः॥ ४-३१ ॥

सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया।

निरन्तरकृताभ्यासात्पीयूषं प्रत्यहं पिबेत्॥

तेन विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी॥ ४-३२ ॥

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपिवा।

खेचरी यस्य शुद्धा तु स शुद्धो नात्र संशयः॥ ४-३३ ॥

क्षणार्धं कुरुते यस्तु तीर्त्वा पापमहार्णवम्।

दिव्यभोगान्प्रभुक्त्वा च सत्कुले स प्रजायते॥ ४-३४ ॥

मुद्रैषा खेचरी यस्तु स्वस्थचित्तो ह्यतन्द्रितः।

शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्धं मन्यते हि सः॥ ४-३५ ॥

गुरूपदेशतो मुद्रां यो वेत्ति खेचरीमिमाम्।

नानापापरतो धीमान् स याति परमां गतिम्॥ ४-३६ ॥

सा प्राणसदृशी मुद्रा यस्मिन्कस्मिन्न दीयते।
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते॥ ४-३७॥

अथ जालन्धरबन्ध।

बद्धागलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत्।
बन्धोजालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः॥
नाभिस्थवह्निर्जन्तूनां सहस्रकमलच्युतम्।
पिबेत्पीयूषविस्तारं तदर्थं बन्धयेदिमम्॥ ४-३८॥

बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान्।
अमरत्वञ्च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये॥ ४-३९॥

जालन्धरो बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छता॥ ४-४०॥

अथ मूलबन्धः।

पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गं सुयन्त्रितम्।
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत्।

कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः॥ ४-४१॥

अपानप्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधिकल्पितम्।
बन्धेनानेन सुतरा योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति॥ ४-४२॥

सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिद्ध्यति भूतले।
बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितालसः॥
पद्मासने स्थितो योगी भुवमुत्सृज्य वर्तते॥ ४-४३॥

सुगुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत्।
संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगि पुंगवः॥ ४-४४॥

अथ विपरीतकरणी मुद्रा।

भूतले स्वशिरोदत्त्वा खे नयेच्चरणद्वयम्।
विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥ ४-४५॥

एतद्यः कुरुते नित्यमभ्यासं याममात्रतः।
मृत्युं जयति स योगी प्रलये नापि सीदति॥ ४-४६॥

कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां समतामियात्।

स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः॥ ४-४७॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत्।

उड्डयानबंध एष स्यात्सर्वदुःखौघनाशनः॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत्।

उडयानाख्योऽत्र बन्धोयं मृत्युमातङ्गकेसरी॥ ४-४८॥

नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने।

तस्य नाभेस्तु शुद्धिः स्याद्येन सिद्धो भवेन्मरुत्॥ ४-४९॥

षण्मासमभ्यसन्योगी मृत्युं जयति निश्चितम्।

तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिः प्रजायते॥ ४-५०॥

अनेन सुतरां सिद्धिर्विग्रहस्य प्रजायते।

रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनो भवति ध्रुवम्॥ ४-५१॥

गुरोर्लब्ध्वा प्रयत्नेन साधयेत् तु विचक्षणः।

निर्जने सुस्थिते देशे बन्धं परम दुर्लभम्॥ ४-५२॥

अथ शक्तिचालनमुद्रा ।

आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्डलीं दृढाम् ।
अपानवायुमारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी ॥ ४-५३ ॥

शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ॥ ४-५४ ॥

विहाय निद्रा भुजगी स्वयमूर्ध्वे भवेत्खलु ।
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिना सिद्धमिच्छता ॥ ४-५५ ॥

यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम् ।
येन विग्रहसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा ।
गुरूपदेशविधिना तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ४-५६ ॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विधिना शक्तिचालनम् ।
यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिरदूरतः ।
युक्तासनेन कर्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनम् ॥ ४-५७ ॥

एतत्तुमुद्रादशकं न भूतं न भविष्यति ।
एकैकाभ्यासने सिद्धिः सिद्धो भवति नान्यथा ॥ ४-५८ ॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे मुद्राकथनं नाम चतुर्थपटलः समाप्तः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमः पटलः

श्रीदेव्युवाच ॥

ब्रूहि मे वाक्यमीशान परमार्थधियं प्रति ।
ये विघ्नाः सन्ति लोकानां वद मे प्रिय शङ्कर ॥ ५-१ ॥

ईश्वर उवाच ॥

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यथा विघ्नाः स्थिताः सदा ।
मुक्तिं प्रति नराणाञ्च भोगः परमबन्धनः ॥ ५-२ ॥

अथ भोगरूपयोगविघ्नकथनम् ।

नारी शय्यासनं वस्त्रं धनमस्य विडम्बनम् ।

ताम्बूलंभक्ष्ययानानि राज्यैश्वर्यविभूतयः।
हैमं रौप्यं तथा ताम्रं रत्नञ्चागुरुधेनवः।
पाण्डित्यं वेदशास्त्राणि नृत्यं गीतं विभूषणम्।
वंशी वीणा मृदङ्गाश्च गजेंद्रश्चाश्ववाहनम्।
दारापत्यानि विषया विघ्ना एते प्रकीर्तिताः।
भोगरूपा इमे विघ्ना धर्मरूपानिमाञ्छृणु॥ ५-३॥

अथ धर्मरूपयोगविघ्नकथनम्।

स्नानं पूजाविधिर्होमं तथा मोक्षमयी स्थितिः।
व्रतोपवासनियममौनमिन्द्रियनिग्रहः।
ध्येयो ध्यानं तथा मन्त्रो दानं ख्यातिर्दिशासु च।

वापीकूपतडागादिप्रासादारामकल्पना।
यज्ञं चान्द्रायणं कृच्छ्रं तीर्थानि विविधानि च।
दृश्यन्ते च इमे विघ्ना धर्मरूपेण संस्थिताः॥ ५-४॥

अथ ज्ञानरूपविघ्नकथनम्।

यत्तु विघ्नं भवेज्ज्ञानं कथयामि वरानने।

गोमुखं स्वासनं कृत्वा धौतिप्रक्षालनं च तत्।
नाडीसञ्चारविज्ञानं प्रत्याहारनिरोधनम्।
कुक्षिसंचालनं क्षिप्रं प्रवेश इन्द्रियाध्वना।
नाडीकर्माणि कल्याणि भोजनं श्रूयतां मम॥ ५-५॥

नवधातुरसं छिन्धि शुण्ठिकास्ताडयेत्पुनः।
एककालं समाधिः स्याल्लिंगभूतमिदं शृणु॥ ५-६॥

सङ्गमं गच्छ साधूनां संकोचं भज दुर्जनात्।
प्रवेशनिर्गमे वायोर्गुरुलक्षं विलोकयेत्॥ ५-७॥

पिण्डस्थं रूपसंस्थञ्च रूपस्थं रूपवर्जितम्।
ब्रह्मैतस्मिन्मतावस्था हृदयञ्च प्रशाम्यति।
इत्येते कथिता विघ्ना ज्ञानरूपे व्यवस्थिताः॥ ५-८॥

अथ चतुर्विधयोगकथनम्।

मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगस्तृतीयकः।
चतुर्थो राजयोगः स्यात्स द्विधाभाववर्जितः॥ ५-९॥

चतुर्धा साधको ज्ञेयो मृदुमध्याधिमात्रकाः ।
अधिमात्रतमः श्रेष्ठो भवाब्धौ लंघनक्षमः ॥ ५-१० ॥

अथ मृदुसाधकलक्षणम् ।

मन्दोत्साही सुसंमुढो व्याधिस्थो गुरुदूषकः ।
लोभी पापमतिश्चैव बह्वाशी वनिताश्रयः ॥
चपलः कातरो रोगी पराधीनोऽतिनिष्ठुरः ।
मन्दाचारो मन्दवीर्यो ज्ञातव्यो मृदुमानवः ॥
द्वादशाब्दे भवेत्सिद्धिरेतस्य यत्नतः परम् ।
मन्त्रयोगाधिकारी स ज्ञातव्यो गुरुणा ध्रुवम् ॥ ५-११ ॥

समबुद्धिः क्षमायुक्तः पुण्याकांक्षी प्रियंवदः ।
मध्यस्थः सर्वकार्येषु सामान्यः स्यान्नसंशयः ॥
एतज्ज्ञात्वैव गुरुभिर्दीयते मुक्तितो लयः ॥ ५-१२ ॥

अथ अधिमात्रसाधकलक्षणम्

स्थिरबुद्धिर्लये युक्तः स्वाधीनो वीर्यवानपि ।
महाशयो दयायुक्तः क्षमावान् सत्यवानपि ॥

शूरो वयःस्थः श्रद्धावान् गुरुपादाब्जपूजकः।

योगाभ्यासरतश्चैव ज्ञातव्यश्चाधिमात्रकः॥

एतस्य सिद्धिः षड्वर्षे भवेदभ्यासयोगतः।

एतस्मै दीयते धीरो हठयोगश्च साङ्गतः॥ ५-१३॥

अथ अधिमात्रतमसाधकलक्षणम्।

महावीर्यान्वितोत्साही मनोज्ञः शौर्यवानपि।

शास्त्रज्ञोऽभ्यासशीलश्च निर्मोहश्च निराकुलः॥

नवयौवनसम्पन्नो मिताहारी जितेंद्रियः।

निर्भयश्च शुचिर्दक्षो दाता सर्वजनाश्रयः॥

अधिकारी स्थिरो धीमान् यथेच्छावस्थितः क्षमी।

सुशीलो धर्मचारी च गुप्तचेष्टः प्रियंवदः॥

शास्त्रविश्वाससम्पन्नो देवता गुरुपूजकः।

जनसंगविरक्तश्च महाव्याधि विवर्जितः॥

अधिमात्रव्रतशश्च सर्वयोगस्य साधकः।

त्रिभिः संवत्सरैः सिद्धिरेतस्य नात्र संशयः॥

सर्वयोगाधिकारी स नात्र कार्या विचारणा॥ ५-१४॥

अथ प्रतीकोपासनम्।

प्रतीकोपासना कार्या दृष्टादृष्टफलप्रदा ।

पुनाती दर्शनादत्र नात्र कार्या विचारणा ॥ ५-१५ ॥

गाढातपे स्वप्रतिबिम्बितेश्वरं निरीक्ष्य विस्फारितलोचनद्वयम् ।

यदा नभः पश्यति स्वप्रतीकं नभोङ्गणे तत्क्षणमेव पश्यति ॥ ५-१६ ॥

प्रत्यहं पश्यते यो वै स्वप्रतीकं नभोङ्गणे ।

आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य न मृत्युः स्यात्कदाचन ॥ ५-१७ ॥

यदा पश्यति सम्पूर्णं स्वप्रतीकं नभोङ्गणे ।

तदा जयमवाप्नोति वायुं निर्जित्य सञ्चरेत् ॥ ५-१८ ॥

यः करोति सदाभ्यासं चात्मानं वन्दते परम् ।

पूर्णानन्दैकपुरुषं स्वप्रतीकप्रसादतः ॥ ५-१९ ॥

यात्राकाले विवाहे च शुभे कर्मणि सङ्कटे ।

पापक्षये पुण्यवृद्धौ प्रतीकोपासनञ्चरेत् ॥ ५-२० ॥

निरन्तरकृताभ्यासादन्तरे पश्यति ध्रुवम् ।

तदा मुक्तिमवाप्नोति योगी नियतमानसः ॥ ५-२१ ॥

अंगुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां द्विलोचने ।
नासारन्ध्रे च मध्याभ्यामनामाभ्यां मुखं दृढम् ॥
निरुध्य मारुतं योगी यदैव कुरुते भृशम् ।
तदा लक्षणमात्मानं ज्योतीरूपं स पश्यति ॥ ५-२२ ॥

तत्तेजो दृश्यते येन क्षणमात्रं निराकुलम् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥ ५-२३ ॥

निरन्तरकृताभ्यासाद्योगी विगतकल्मषः ।
सर्वदेहादि विस्मृत्य तदभिन्नः स्वयं गतः ॥ ५-२४ ॥

यः करोति सदाभ्यासं गुप्ताचारेण मानवः ।
स वै ब्रह्मविलीनः स्यात्पापकर्मरतो यदि ॥ ५-२५ ॥

गोपनीयः प्रयत्नेन सद्यः प्रत्ययकारकः ।
निर्वाणदायको लोके योगोयं मम वल्लभः ॥
नादः संजायते तस्य क्रमेणाभ्यासतश्च वै ॥ ५-२६ ॥

मतभृङ्गवेणुवीणासदृशः प्रथमो ध्वनिः ।

एवमभ्यासतः पश्चात् संसारध्वान्तनाशनम् ॥

घण्टानादसमः पश्चात् ध्वनिर्मेघरवोपमः ।

ध्वनौ तस्मिन्मनो दत्त्वा यदा तिष्ठति निर्भयः ॥

तदा संजायते तस्य लयस्य मम वल्लभे ॥ ५-२७ ॥

तत्र नादे यदा चित्तं रमते योगिनो भृशम् ।

विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादेन सह शाम्यति ॥ ५-२८ ॥

एतदभ्यासयोगेन जित्वा सम्यग्गुणान्वहून् ।

सर्वारम्भपरित्यागी चिदाकाशे विलीयते ॥ ५-२९ ॥

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भसदृशं बलम् ।

न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥ ५-३० ॥

इदानीं कथयिष्यामि मुक्तस्यानुभवं प्रिये ।

यज्ज्ञात्वा लभते मुक्तिं पापयुक्तोपि साधकः ॥ ५-३१ ॥

समभ्यर्च्येश्वरं सम्यक्कृत्वा च योगमुत्तमम् ।

गृह्णीयात्सुस्थितो भूत्वा गुरुं सन्तोष्य बुद्धिमान् ॥ ५-३२ ॥

जीवादि सकलं वस्तुं दत्त्वा योगविदं गुरुम्।
सन्तोष्यातिप्रयत्नेन योगोयं गृह्यते बुधैः॥ ५-३३॥

विप्रान्संतोष्य मेधावी नानामंगलसंयुतः।
ममालये शुचिर्भूत्वा प्रगृह्णीयाच्छुभात्मकम्॥ ५-३४॥

संन्यस्यानेन विधिना प्राक्तनं विग्रहादिकम्।
भूत्वा दिव्यवपुर्योगी गृह्णीयाद्वक्ष्यमाणकम्॥ ५-३५॥

पद्मासनस्थितो योगी जनसंगविवर्जितः।
विज्ञाननाडीद्वितयमङ्गुलीभ्यां निरोधयेत्॥ ५-३६॥

सिद्धेस्तदाविर्भवति सुखरूपी निरञ्जनः।
तस्मिन्परिश्रमः कार्यो येन सिद्धो भवेत्खलु॥ ५-३७॥

यः करोति सदाभ्यासं तस्य सिद्धिर्न दूरतः।
वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य क्रमादेव न संशयः॥ ५-३८॥

सकृद्यः कुरुते योगी पापौघं नाशयेद्ध्रुवम्।

तस्य स्यान्मध्यमे वायोः प्रवेशो नात्र संशयः ॥ ५-३९ ॥

एतदभ्यासशीलो यः स योगी देवपूजितः ।
अणिमादिगुणाँल्लब्ध्वा विचरेद्भुवनत्रये ॥ ५-४० ॥

यो यथास्यानिलाभ्यासात्तद्भवेत्तस्य विग्रहः ।
तिष्ठेदात्मनि मेधावी संयुतः क्रीडते भृशम् ॥ ५-४१ ॥

एतद्योगं परं गोप्यं न देयं यस्य कस्यचित् ।
यः प्रमाणैः समायुक्तस्तमेव कथ्यते ध्रुवम् ॥ ५-४२ ॥

योगी पद्मासने तिष्ठेत्कण्ठकूपे यदा स्मरन् ।
जिह्वां कृत्वा तालुमूले क्षुत्पिपासा निवर्तते ॥ ५-४३ ॥

कण्ठकूपादधः स्याने कूर्मनाड्यिस्त शोभना ।
तस्मिन् योगी मनो दत्त्वा चित्तस्थैर्यं लभेद्भृशम् ॥ ५-४४ ॥

शिरः कपाले रुद्राक्षं विवरं चिन्तयेद्यदा ।
तदा ज्योतिः प्रकाशः स्याद्विद्युत्पुञ्जसमप्रभः ।
एतच्चिन्तनमात्रेण पापानां संक्षयो भवेत् ।

दुराचारोऽपि पुरुषो लभते परमं पदम्॥ ५-४५॥

अहर्निशं यदा चिन्तां तत्करोति विचक्षणः।
सिद्धानां दर्शनं तस्य भाषणञ्च भवेद्ध्रुवम्॥ ५-४६॥

तिष्ठन् गछन् स्वपन् भुञ्जन् ध्यायेच्छून्यमहर्निशम्।
तदाकाशमयो योगी चिदाकाशे विलीयते॥ ५-४७॥

एतज्ज्ञानं सदा कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता।
निरन्तरकृताभ्यासान्मम तुल्यो भवेद्ध्रुवम्॥
एतज्ज्ञानबलाद्योगी सर्वेषां वल्लभो भवेत्॥ ५-४८॥

सर्वान् भूतान् जयं कृत्वा निराशीरपरिग्रहः।
नासाग्रे दृश्यते येन पद्मासनगतेन वै॥
मनसो मरणं तस्य खेचरत्वं प्रसिद्ध्यति॥ ५-४९॥

ज्योतिः पश्यति योगीन्द्रः शुद्धं शुद्धाचलोपमम्।
तत्राभ्यासबलेनैव स्वयं तद्रक्षको भवेत्॥ ५-५०॥

उत्तानशयने भूमौ सुप्त्वा ध्यायन्निरन्तरम्।

सद्यः श्रमविनाशाय स्वयं योगी विचक्षणः।

शिरः पश्चात्तु भागस्य ध्याने मृत्युञ्जयो भवेत्॥

भ्रूमध्ये दृष्टिमात्रेण ह्यपरः परिकीर्तितः॥ ५-५१॥

चतुर्विधस्य चान्नस्य रसस्त्रेधा विभज्यते।

तत्र सारतमो लिंगदेहस्य परिपोषकः॥

सप्तधातुमयं पिण्डमेती पुष्णाति मध्यगः॥ ५-५२॥

याति विण्मूत्ररूपेण तृतीयः सप्ततो बहिः॥

आद्यभागद्वयं नाड्यः प्रोक्तास्ताः सकला अपि।

पोषयन्ति वपुर्वायुमापादतलमस्तकम्॥ ५-५३॥

नाडीभिराभिः सर्वाभिर्वायुः सञ्चरते यदा।

तदैवान्नरसो देहे साम्येनेह प्रवर्तते॥ ५-५४॥

चतुर्दशानां तत्रेह व्यापारे मुख्यभागतः।

ता अनुग्रत्वहीनाश्च प्राणसञ्चारनाडिकाः॥ ५-५५॥

गुदाद्व्यंगुलतश्चोर्ध्वं मेढ्रैकांगुलतस्त्वधः।

एवञ्चास्ति समं कन्दं समताच्चतुरंगुलम्॥ ५-५६॥

पश्चिमाभिमुखीः योनिर्गुदमेढ्रान्तरालगा ।
तत्र कन्दं समाख्यातं तत्रास्ति कुण्डली सदा ॥
संवेष्ट्य सकला नाडीः सार्द्धत्रिकुटलाकृतीः ।
मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्णाविवरे स्तिता ॥ ५-५७ ॥

सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया स्वया ।
अहिवत्सन्धिसंस्थाना वाग्देवी बीजसंज्ञिका ॥ ५-५८ ॥

ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्झरा स्वर्णभास्वरा ।
सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयप्रसूतिका ॥ ५-५९ ॥

तत्र बन्धूकपुष्पाभं कामबीजं प्रकीर्तितम् ।
कलहेमसमं योगे प्रयुक्ताक्षररूपिणम् ॥ ५-६० ॥

सुषुम्णापि च संश्लिष्टा बीजं तत्र वरं स्थितम् ।
शरच्चंद्रनिभं तेजस्स्वयमेतत्स्फुरत्स्थितम् ॥
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ।
एतत्त्रयं मिलित्वैव देवी त्रिपुरभैरवी ॥
बीजसंज्ञं परंतेजस्तदेव परिकीर्तितम् ॥ ५-६१ ॥

क्रियाविज्ञानशक्तिभ्यां युतं यत्परितो भ्रमत्।

उत्तिष्ठद्विशतस्त्वम्भः सूक्ष्मं शोणशिखायुतम्॥

योनिस्थं तत्परं तेजः स्वयंभूलिंगसंज्ञितम्॥ ५-६२॥

आधारपद्ममेतद्धि योनिर्यस्यास्ति कन्दतः।

परिस्फुरद्वादिसान्तचतुर्वर्णं चतुर्दलम्॥ ५-६३॥

कुलाभिधं सुवर्णाभं स्वयम्भूलिङ्गसंगतम्।

द्विरण्डो यत्र सिद्धोस्ति डाकिनी यत्र देवता॥

तत्पद्ममध्यगा योनिस्तत्र कुण्डलिनी स्थिता।

तस्या ऊर्ध्वे स्फुरत्तेजः कामबीजं भ्रमन्मतम्॥

यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः।

तस्य स्याद्दार्दुरी सिद्धिर्भूमित्यागक्रमेण वै॥ ५-६४॥

वपुषः कान्तिरुत्कृष्टा जठराग्निविवर्धनम्।

आरोग्यञ्च पटुत्वञ्च सर्वज्ञत्वञ्च जायते॥ ५-६५॥

भूतं भव्यं भविष्यञ्च वेत्ति सर्वं सकारणम्।

अश्रुतान्यपि शास्त्राणि सरहस्यं भवेद्ध्रुवम्॥ ५-६६॥

वक्त्रे सरस्वती देवी सदा नृत्यति निर्भरम्।
मन्त्रसिद्धिर्भवेत्तस्य जपादेव न संशयः॥ ५-६७॥

जरामरणदुःखौघान्नाशयति गुरोर्वचः।
इदं ध्यानं सदा कार्यं पवनाभ्यासिना परम्।
ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मुच्यते सर्वकिल्विषात्॥ ५-६८॥

मूलपद्मं यदा ध्यायेद्योगी स्वयम्भुलिङ्गकम्।
तदा तत्क्षणमात्रेण पापौघं नाशयेद्ध्रुवम्॥ ५-६९॥

यं यं कामयते चित्ते तं तं फलमवाप्नुयात्।
निरन्तरकृताभ्यासात्तं पश्यति विमुक्तिदम्॥
बहिरभ्यन्तरे श्रेष्ठं पूजनीयं प्रयत्नतः।
ततः श्रेष्ठतमं ह्येतन्नान्यदस्ति मतं मम॥ ५-७०॥

आत्मसंस्थं शिवं त्यक्त्वा बहिःस्थं यः समर्चयेत्।
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य भ्रमते जीविताशया॥ ५-७१॥

आत्मलिंगार्चनं कुर्यादनालस्यं दिने दिने।

तस्य स्यात्सकला सिद्धिर्नात्र कार्या विचारणा ॥ ५-७२ ॥

निरन्तरकृताभ्यासात्षण्मासैः सिद्धिमाप्नुयात् ।
तस्य वायुप्रवेशोपि सुषुम्णायाम्भवेद्ध्रुवम् ॥ ५-७३ ॥

मनोजयञ्च लभते वायुबिन्दुविधारणात् ।
ऐहिकामुष्मिकीसिद्धिर्भवेन्नैवात्र संशयः ॥ ५-७४ ॥

अथ स्वाधिष्ठानचक्रविवरणम् ।

द्वितीयन्तु सरोजञ्च लिंगमूले व्यवस्थितम् ।
बादिलान्तं च षड्वर्णं परिभास्वरषड्दलम् ॥
स्वाधिष्ठानाभिधं तत्तु पंकजं शोणरूपकम् ।
बालाख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति देवी यत्रास्ति राकिणी ॥ ५-७५ ॥

वो ध्यायति सदा दिव्यं स्वाधिष्ठानारविन्दकम् ।
तस्य कामाङ्गनाः सर्वा भजन्ते काममोहिताः ॥ ५-७६ ॥

विविधञ्चाश्रुतं शास्त्रं निःशङ्को वै भवेद्ध्रुवम् ।
सर्वरोगविनिर्मुक्तो लोके चरति निर्भयः ॥ ५-७७ ॥

मरणं खाद्यते तेन स केनापि न खाद्यते।
तस्य स्यात्परमा सिद्धिरणिमादिगुणप्रदा॥
वायुः सञ्चरते देहे रसवृद्धिर्भवेद्ध्रुवम्।
आकाशपङ्कजगलत्पीयूषमपि वर्द्धते॥ ५-७८॥

अथ मणिपूरचक्रविवरणम्।

तृतीयं पङ्कजं नाभौ मणिपूरकसंज्ञकम्।
दशारंडादिफान्तार्णं शोभितं हेमवर्णकम्॥ ५-७९॥

रुद्राख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति सर्वमङ्गलदायकः।
तत्रस्था लाकिनी नाम्नी देवी परमधार्मिका॥ ५-८०॥

तस्मिन् ध्यानं सदा योगी करोति मणिपूरके।
तस्य पातालसिद्धिः स्यान्निरन्तरसुखावहा॥
ईप्सितञ्च भवेल्लोके दुःखरोगविनाशनम्।
कालस्य वञ्चनञ्चापि परदेहप्रवेशनम्॥ ५-८१॥

जाम्बूनदादिकरणं सिद्धानां दर्शनं भवेत्।

ओषधीदर्शनञ्चापि निधीनां दर्शनं भवेत्॥ ५-८२॥

हृदयेऽनाहतं नाम चतुर्थं पङ्कजं भवेत्।
कादिठान्तार्णसंस्थानं द्वादशारसमन्वितम्॥
अतिशोणं वायुबीजं प्रसादस्थानमीरितम्॥ ५-८३॥

पद्मस्थं तत्परं तेजो बाणलिंगं प्रकीर्तितम्।
यस्य स्मरणमात्रेण दृष्टादृष्टफलं लभेत्॥ ५-८४॥

सिद्धः पिनाकी यत्रास्ते काकिनी यत्र देवता।
एतस्मिन्सततं ध्यानं हृत्पाथोजे करोति यः॥
क्षुभ्यन्ते तस्य कान्ता वै कामार्ता दिव्ययोषितः॥ ५-८५॥

ज्ञानञ्चाप्रतिमं तस्य त्रिकालविषयम्भवेत्।
दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः स्वेच्छया खगतां व्रजेत्॥ ५-८६॥

सिद्धानां दर्शनञ्चापि योगिनी दर्शनं तथा।
भवेत्खेचरसिद्धिश्च खेचराणां जयन्तथा॥ ५-८७॥

यो ध्यायति परं नित्यं बाणलिंगं द्वितीयकम्।

खेचरी भूचरी सिद्धिर्भवेत्तस्य न संशयः॥ ५-८८॥

एतद्ध्यानस्य माहात्म्यं कथितुं नैव शक्यते।
ब्रह्माद्याः सकला देवा गोपयन्ति परन्त्विदम्॥ ५-८९॥

अथ विशुद्धचक्रविवरणम्।

कण्ठस्थानस्थितं पद्मं विशुद्धं नामपञ्चमम्।
सुहेमाभं स्वरोपेतं षोडशस्वरसंयुतम्॥
छगलाण्डोऽस्ति सिद्धोत्र शाकिनी चाधिदेवता॥ ५-९०॥

ध्यानं करोति यो नित्यं स योगीश्वरपण्डितः।
किन्त्वस्य योगिनोऽन्यत्र विशुद्धाख्ये सरोरुहे॥
चतुर्वेदा विभासन्ते सरहस्या निधेरिव॥ ५-९१॥

रहःस्थाने स्थितो योगी यदा क्रोधवशो भवेत्।
तदा समस्तं त्रैलोक्यं कम्पते नात्र संशयः॥ ५-९२॥

इह स्थाने मनो यस्य दैवाद्यातिलयं यदा।
तदा बाह्यं परित्यज्य स्वान्तरे रमते ध्रुवम्॥ ५-९३॥

तस्य न क्षतिमायाति स्वशरीरस्य शक्तितः।
संवत्सरसहस्रेऽपि वज्रातिकठिनस्य वै॥ ५-९४॥

यदा त्यजति तद्ध्यानं योगींद्रोऽवनिमण्डले।
तदा वर्षसहस्राणि मन्यते तत्क्षणं कृती॥ ५-९५॥

अथ आज्ञाचक्रविवरणम्।

आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेतं द्विपत्रकम्।
शुक्लाभं तन्महाकालः सिद्धो देव्यत्र हाकिनी॥ ५-९६॥

शरच्चंद्रनिभं तत्राक्षरबीजं विजृंभितम्।
पुमान् परमहंसोऽयं यज्ज्ञात्वा नावसीदति॥ ५-९७॥

एतदेव परन्तेजः सर्वतन्त्रेषु मन्त्रिणः।
चिन्तयित्वा परां सिद्धिं लभते नात्र संशयः॥ ५-९८॥

तुरीयं त्रितयं लिंगं तदाहं मुक्तिदायकः।
ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मत्समो भवति ध्रुवम्॥ ५-९९॥

इडा हि पिंगला ख्याता वरणासीति होच्यते ।
वाराणसी तयोर्मध्ये विश्वनाथोत्र भाषितः ॥ ५-१०० ॥

एतत्क्षेत्रस्य माहात्म्यमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
शास्त्रेषु बहुधा प्रोक्तं परं तत्त्वं सुभाषितम् ॥ ५-१०१ ॥

सुषुम्णा मेरुणा याता ब्रह्मरन्ध्रं यतोऽस्ति वै ।
ततश्चैषा परावृत्य तदाज्ञापद्मदक्षिणे ॥
वामनासापुटं याति गंगेति परिगीयते ॥ ५-१०२ ॥

ब्रह्मरन्ध्रे हि यत्पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम् ।
तत्र कन्देहि या योनिस्तस्यां चन्द्रो व्यवस्थितः ।
त्रिकोणाकारतस्तस्याः सुधा क्षरति सन्ततम् ॥
इडायाममृतं तत्र समं स्रवति चन्द्रमाः ।
अमृतं वहति धारा धारारूपं निरन्तरम् ॥
वामनासापुटं याति गंगेत्युक्ता हि योगिभिः ॥ ५-१०३ ॥

आज्ञापङ्कजदक्षांसाद्वामनासापुटंगता ।
उदग्वहेति तत्रेडा वरणा समुदाहृता ॥ ५-१०४ ॥

ततो द्वयोर्हि मध्ये तु वाराणसीति चिन्तयेत्।
तदाकारा पिंगलापि तदाज्ञाकमलान्तरे॥
दक्षनासापुटे याति प्रोक्तास्माभिरसीति वै॥ ५-१०५॥

मूलाधारे हि यत्पद्मं चतुष्पत्र व्यवस्थितम्।
तत्र मध्येहि या योनिस्तस्यां सूर्यो व्यवस्थितः॥ ५-१०६॥

तत्सूर्यमण्डलद्वराद्विषं क्षरति सन्ततम्।
पिंगलायां विषं तत्र समर्पयति तापनः॥ ५-१०७॥

विषं तत्र वहन्ती या धारारूपं निरन्तरम्।
दक्षनासापुटे याति कल्पितेयन्तु पूर्ववत्॥ ५-१०८॥

आज्ञापङ्कजवामास्याद्दक्षनासापुटं गता।
उदग्वहा पिंगलापि पुरासीति प्रकीर्तिता॥ ५-१०९॥

आज्ञापद्ममिदं प्रोक्तं यत्र देवो महेश्वरः।
पीठत्रयं ततश्चोर्ध्वं निरुक्तं योगचिन्तकैः॥
तद्बिन्दुनादशक्त्याख्यं भालपद्मे व्यवस्थितम्॥ ५-११०॥

यः करोति सदाध्यानमाज्ञापद्मस्य गोपितम् ।
पूर्वजन्मकृतं कर्म विनश्येदविरोधतः ॥ ५-१११ ॥

इह स्थिते यदा योगी ध्यानं कुर्यान्निरन्तरम् ।
तदा करोति प्रतिमां पूजाजपमनर्थवत् ॥ ५-११२ ॥

यक्षराक्षसगन्धर्वा अपसरोगणकिन्नराः ।
सेवन्ते चरणौ तस्य सर्वे तस्य वशानुगाः ॥ ५-११३ ॥

करोति रसनां योगी प्रविष्टां विपरीतगाम् ।
लम्बिकोर्ध्वेषु गर्तेषु धृत्वा ध्यानं भयापहम् ॥
अस्मिन् स्थाने मनो यस्य क्षणार्धं वर्ततेऽचलम् ।
तस्य सर्वाणि पापानि संक्षयं यान्ति तत्क्षणात् ॥ ५-११४ ॥

यानि यानि हि प्रोक्तानि पंचपद्मे फलानि वै ।
तानि सर्वाणि सुतरामेतज्ज्ञानाद्भवन्ति हि ॥ ५-११५ ॥

यः करोति सदाभ्यासमाज्ञा पद्मे विचक्षणः ।
वासनाया महाबन्धं तिरस्कृत्य प्रमोदते ॥ ५-११६ ॥

प्राणप्रयाणसमये तत्पद्मं यः स्मरन्सुधीः।

त्यजेत्प्राणं स धर्मात्मा परमात्मनि लीयते॥ ५-११७ ॥

तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् जाग्रत् यो ध्यानं कुरुते नरः।

पापकर्मविकुर्वाणो नहि मज्जति किल्विषे॥ ५-११८ ॥

योगी बन्धाद्विनिर्मुक्तः स्वीयया प्रभया स्वयम्।

द्विदलध्यानमाहात्म्यं कथितुं नैव शक्यते॥

ब्रह्मादिदेवताश्चैव किञ्चिन्मत्तो विदन्ति ते॥ ५-११९ ॥

अत ऊर्ध्वं तालुमूले सहस्रारंसरोरुहम्।

अस्ति यत्र सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम्॥ ५-१२० ॥

तालुमूले सुषुम्णा सा अधोवक्त्रा प्रवर्तते।

मूला धारेणयोन्यस्ताः सर्वनाड्यः समाश्रिताः॥

ता बीजभूतास्तत्त्वस्य ब्रह्ममार्गप्रदायिकाः॥ ५-१२१ ॥

तालुस्थाने च यत्पद्मं सहस्रारं पुराहितम्।

तत्कन्दे योनिरेकास्ति पश्चिमाभिमुखी मता॥ ५-१२२ ॥

तस्या मध्ये सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम्।
ब्रह्मरन्ध्रं तदेवोक्तमामूलाधारपङ्कजम्॥ ५-१२३॥

ततस्तद्रन्ध्रे तच्छक्तिः सुषुम्णा कुण्डली सदा।
सुषुम्णायां सदा शक्तिश्चित्रा स्यान्मम वल्लभे॥
तस्यां मम मते कार्या ब्रह्मरन्ध्रादिकल्पना॥ ५-१२४॥

यस्याः स्मरणमात्रेण ब्रह्मज्ञत्वं प्रजायते।
पापक्षयश्च भवति न भूयः पुरुषो भवेत्॥ ५-१२५॥

प्रवेशितं चलाङ्गुष्ठं मुखे स्वस्य निवेशयेत्।
तेनात्र न बहत्येव देहचारी समीरणः॥ ५-१२६॥

तेन संसारचक्रेस्मिन् भ्रमतीत्येव सर्वदा।
तदर्थं ये प्रवर्तन्ते योगी न प्राणधारणे।
तत एवाखिला नाडी विरुद्धा चाष्टवेष्टनम्।
इयं कुण्डलिनी शक्ती रन्ध्रं त्यजति नान्यथा॥ ५-१२७॥

यदा पूर्णासु नाडीषु सन्निरुद्धानिलास्तदा।

बन्धत्यागेन कुण्डल्या मुखं रन्ध्राद् बहिर्भवेत् ॥ ५-१२८ ॥

सुषुम्णायां सदैवायं वहेत्प्राणसमीरणः ।
मूलपद्मस्थिता योनिर्वामदक्षिणकोणतः ॥
इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्णा योनिमध्यगा ॥ ५-१२९ ॥

ब्रह्मरन्ध्रं तु तत्रैव सुषुम्णाधारमण्डले ।
यो जानाति स मुक्तः स्यात्कर्मबन्धाद्विचक्षणः ॥ ५-१३० ॥

ब्रह्मरन्ध्रमुखे तासां संगमः स्यादसंशयः ।
तस्मिन्स्नाने स्नातकानां मुक्तिः स्यादविरोधतः ॥ ५-१३१ ॥

गंगायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती ।
तासां तु संगमे स्नात्वा धन्यो याति परां गतिम् ॥ ५-१३२ ॥

इडा गंगा पुरा प्रोक्ता पिंगला चार्कपुत्रिका ।
मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां संगोऽतिदुर्लभः ॥ ५-१३३ ॥

सितासिते संगमे यो मनसा स्नानमाचरेत् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो याति ब्रह्म सनातनम् ॥ ५-३४ ॥

त्रिवेण्यां संगमे यो वै पितृकर्म समाचरेत्।

तारयित्वा पितृन्सर्वान्स याति परमां गतिम्॥ ५-१३५॥

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रत्यहं यः समाचरेत्।

मनसा चिन्तयित्वा तु सोऽक्षयं फलमाप्नुयात्॥ ५-१३६॥

सकृद्यः कुरुते स्नानं स्वर्गे सौख्यं भुनक्ति सः।

दग्ध्वा पापानशेषान्वै योगी शुद्धमतिः स्वयम्॥ ५-१३७॥

अपवित्रः पवित्री वा सर्वावस्थां गतोपि वा।

स्नानाचरणमात्रेण पूतो भवति नान्यथा॥ ५-१३८॥

मृत्युकाले प्लुतं देहं त्रिवेण्याः सलिले यदा।

विचिन्त्य यस्त्यजेत्प्राणान्स तदा मोक्षमाप्नुयात्॥ ५-१३९॥

नातःपरतरं गुह्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते।

गोप्तव्यं तत्प्रयत्नेन न व्याख्येयं कदाचन॥ ५-१४०॥

ब्रह्मरन्ध्र मनो दत्त्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति।

सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम्॥ ५-१४१ ॥

अस्मिँल्लीनं मनो यस्य स योगी मयि लीयते।
अणिमादिगुणान्भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः॥ ५-१४२ ॥

एतद्रन्ध्रध्यानमात्रेण मर्त्यः संसारे स्मिन्वल्लभो मे भवेत्सः।
पापाञ्जित्वा मुक्तिमार्गाधिकारी, ज्ञानं दत्त्वा तारयत्यद्भुतं वै॥ ५-१४३ ॥

चतुर्मुखादित्रिदशैरगम्यं योगिवल्लभम्।
प्रयत्नेन सुगोप्यं तद्ब्रह्मरन्ध्रं मयोदितम्॥ ५-१४४ ॥

पुरा मयोक्ता या योनिः सहस्रारे सरारुहे।
तस्याऽधो वर्तते चन्द्रस्तद्ध्यानं क्रियते बुधैः॥ ५-१४५ ॥

यस्य स्मरणमात्रेण योगीन्द्रोऽवनिमण्डले।
पूज्यो भवति देवानां सिद्धानां सम्मतो भवेत्॥ ५-१४६ ॥

शिरःकपालविवरे ध्यायेद्दग्धमहोदधिम्।
तत्र स्थित्वा सहस्रारे पद्मे चन्द्रं विचिन्तयेत्॥ ५-१४७ ॥

शिरःकपालविवरे द्विरष्टकलया युतः।

पीयूषभानुहंसाख्यं भावयेत्तं निरंजनम्।

निरन्तरकृताभ्यासात्त्रिदिने पश्यति ध्रुवम्।

दृष्टिमात्रेण पापौघं दहत्येव स साधकः॥ ५-१४८॥

अनागतञ्च स्फुरति चित्तशुद्धिर्भवेत्खलु।

सद्यः कृत्वापि दहति महापातकपञ्चकम्॥ ५-१४९॥

आनुकूल्यं ग्रहा यान्ति सर्वे नश्यन्त्युपद्रवाः।

उपसर्गाः शमं यान्ति युद्धे जयमवाप्नुयात्।

खेचरीभूचरीसिद्धिर्भवेत्क्षीरेन्दुदर्शनात्।

ध्यानादेवभवेत्सर्वं नात्र कार्या विचारणा।

सतताभ्यासयोगेन सिद्धो भवति नान्यथा।

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं मम तुल्यो भवेद्ध्रुवम्।

योगशास्त्रेऽप्यभिरतं योगिनां सिद्धिदायकम्॥ ५-१५०॥

अथ राजयोगकथनम्।

अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम्।

ब्रह्माण्डाख्यस्य देहस्य बाह्ये तिष्ठति मुक्तिदम्॥ ५-१५१॥

कैलासो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति।

नकुलाख्योऽविनाशी च क्षयवृद्धिविवर्जितः॥ ५-१५२॥

स्थानस्यास्य ज्ञानमात्रेण नृणां, संसारेऽस्मिन्सम्भवो नैव भूयः।

भूतग्रामं सन्तताभ्यासयोगात्कर्तुं हर्तुं स्याच्च शक्तिः समग्रा॥ ५-१५३॥

स्थाने परे हंसनिवासभूते, कैलासनाम्नीह निविष्टचेताः।

योगी हृतव्याधिरधः कृताधिवरायुश्चिरं जीवति मृत्युमुक्तः॥ ५-१५४॥

चित्तवृत्तिर्यदा लीना कुलाख्ये परमेश्वरे।

तदा समाधिसाम्येन योगी निश्चलतां व्रजेत्॥ ५-१५५॥

निरन्तरकृते ध्याने जगद्विस्मरणं भवेत्।

तदा विचित्रसामर्थ्यं योगिनो भवति ध्रुवम्॥ ५-१५६॥

तस्माद्गलितपीयूषं पिबेद्योगी निरन्तरम्।

मृत्योर्मृत्युं विधायाशु कुलं जित्वा सरोरुहे।

अत्र कुण्डलिनी शक्तिर्लयं याति कुलाभिधा।

तदा चतुर्विधा सृष्टिर्लीयते परमात्मनि॥ ५-१५७॥

यज्ज्ञात्वा प्राप्य विषयं चित्तवृत्तिर्विलीयते ।

तस्मिन् परिश्रमं योगी करोति निरपेक्षकः ॥ ५-१५८ ॥

चित्तवृत्तियदालीना तस्मिन् योगी भवेद् ध्रुवम् ।

तदा विज्ञायतेऽखण्डज्ञानरूपो निरञ्जनः ॥ ५-१५९ ॥

ब्रह्माण्डबाह्ये संचिंत्य स्वप्रतीकं यथोदितम् ।

तमावेश्य महच्छून्यं चिन्तयेदविरोधतः ॥ ५-१६० ॥

आद्यन्तमध्यशून्यं तत्कोटिसूर्यसमप्रभम् ।

चन्द्रकोटिप्रतीकाशमभ्यस्य सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ५-१६१ ॥

एतद्ध्यानं सदा कुर्यादनालस्यं दिने दिने ।

तस्य स्यात्सकला सिद्धिर्वत्सरान्नात्र संशयः ॥ ५-१६२ ।

क्षणार्धं निश्चलं तत्र मनो यस्य भवेद् ध्रुवम् ।

स एव योगी सद्भक्तः सर्वलोकेषु पूजितः ॥ ५-१६३ ॥

तस्य कल्मषसंघातस्तत्क्षणादेव नश्यति ॥ ५-१६४ ॥

यं दृष्ट्वा न प्रवर्तंते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।

अभ्यसेत्तं प्रयत्नेन स्वाधिष्ठानेन वर्त्मना ॥ ५-१६५ ॥

एतद्ध्यानस्य माहात्म्यं मया वक्तुं न शक्यते ।

यः साधयति जानाति सोस्माकमपि सम्मतः ॥ ५-१६६ ॥

ध्यानादेव विजानाति विचित्रेक्षणसम्भवम् ।

अणिमादिगुणोपेतो भवत्येव न संशयः ॥ ५-१६७ ॥

राजयोगो मयाख्यातः सर्वतन्त्रेषु गोपितः ।

राजाधिराजयोगोऽयं कथयामि समासतः ॥ ५-१६८ ॥

स्वस्तिकञ्चासनं कृत्वा सुमठे जन्तुवर्जिते ।

गुरुं संपूज्य यत्नेन ध्यानमेतत्समाचरेत् ॥ ५-१६९ ॥

निरालम्बं भवेज्जीवं ज्ञात्वा वेदान्तयुक्तितः ।

निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिच्चिन्तयेत्सुधीः ॥ ५-१७० ॥

एतद्ध्यानान्महासिद्धिर्भवत्येव न संशयः ।

वृत्तिहीनं मनः कृत्वा पूर्णरूपं स्वयं भवेत्॥ ५-१७१॥

साधयेत्सततं यो वै स योगी विगतस्पृहः।
अहंनाम न कोप्यस्ति सर्वदात्मैव विद्यते॥ ५-१७२॥

को बन्धः कस्य वा मोक्ष एकं पश्येत्सदा हि सः।
एतत्करोति यो नित्यं स मुक्तो नात्र संशयः॥ ५-१७३॥

स एव योगी सद्भक्तः सर्वलोकेषु पूजितः।
अहमस्मीति यन्मत्वा जीवात्मपरमात्मनोः।
अहं त्वमेतदुभयं त्यक्त्वाखण्डं विचिन्तयेत्।
अध्यारोपापवादाभ्यां यत्र सर्वं विलीयते।
तद्बीजमाश्रयेद्योगी सर्वसंगविवर्जितः॥ ५-१७४॥

अपरोक्षं चिदानन्दं पूर्णं त्यक्त्वा भ्रमाकुलाः।
परोक्षं चापरोक्षं च कृत्वा मूढा भ्रमन्ति वै॥ ५-१७५॥

चराचरमिदं विश्वं परोक्षं यः करोति च।
अपरोक्षं परं ब्रह्म त्यक्तं तस्मिन् प्रलीयते॥ ५-१७६॥

ज्ञानकारणमज्ञानं यथा नोत्पद्यते भृशम् ।
अभ्यासं कुरुते योगी सदा सङ्गविवर्जितम् ॥ ५-१७७ ॥

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य विषयेभ्यो विचक्षणः ।
विषयेभ्यः सुषुप्त्यैव तिष्ठेत्संगविवर्जितः ॥ ५-१७८ ॥

एवमभ्यसतो नित्यं स्वप्रकाशं प्रकाशते ।
श्रोतुं बुद्धिसमर्थार्थं निवर्तन्ते गुरोर्गिरः ।
तदभ्यासवशादेकं स्वतो ज्ञानं प्रवर्तते ॥ ५-१७९ ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
साधनादमलं ज्ञानं स्वयं स्फुरति तद्ध्रुवम् ॥ ५-१८० ॥

हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः ।
तस्मात्प्रवर्तते योगी हठे सद्गुरुमार्गतः ॥ ५-१८१ ॥

स्थिते देहे जीवति च योगं न श्रियते भृशम् ।
इन्द्रियार्थोपभोगेषु स जीवति न संशयः ॥ ५-१८२ ॥

अभ्यासपाकपर्यन्तं मितान्नंस्मरणं भवेत् ।

अनाथा साधनं धीमान् कर्तुं पारयतीहन ॥ ५-१८३ ॥

अतीवसाधुसंलापोवदेत् संसदिबुद्धिमान् ।
करोति पिण्डरक्षार्थं बह्वालापविवर्जितः ।
त्यज्यते त्यज्यते सङ्गं सर्वथा त्यज्यते भृशम् ।
अन्यथा न लभेन्मुक्तिं सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥ ५-१८४ ॥

गुप्त्यैव क्रियतेऽभ्यासः संगं त्यक्त्वा तदन्तरे ।
व्यवहाराय कर्तव्यो बाह्येसंगानुरागतः ।
स्वे स्वे कर्मणि वर्तंते सर्वे ते कर्मसम्भवाः ।
निमित्तमात्रं करणे न दोषोष्ति कदाचन ॥ ५-१८५ ॥

एवं निश्चित्य सुधिया गृहस्थोपि यदाचरेत् ।
तदा सिद्धिमवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥ ५-१८६ ॥

पापपुण्यविनिर्मुक्तः परित्यक्ताङ्गसाधकः ।
यो भवेत्स विमुक्तः स्याद् गृहे तिष्ठन्सदा गृही ।
न पापपुण्यैर्लिप्येत योगयुक्तो सदा गृही ।
कुर्वन्नपि तदा पापान्स्वकार्ये लोकसंग्रहे ॥ ५-१८७ ॥

ॐ ऐं क्लिं स्त्रिँ

अधुना संप्रवक्ष्यामि मन्त्रसाधनमुत्तमम्।

ऐहिकामुष्मिकसुखं येन स्यादविरोधतः॥ ५-१८८॥

यस्मिन्मन्त्रे वरे ज्ञाते योगसिद्धिर्भवेत्खलु।

योगेन साधकेन्द्रस्य सर्वैश्वर्यसुखप्रदा॥ ५-१८९॥

मूलाधारेऽस्ति यत्पद्मं चतुर्दलसमन्वितम्।

तन्मध्ये वाग्भवं बीजं विस्फुरन्तं तडित्प्रभम्॥ ५-१९०॥

हृदये कामबीजं तु बन्धूककुसुमप्रभम्।

आज्ञारविन्दे शक्त्याख्यं चन्द्रकोटिसमप्रभम्॥

बीजत्रयमिदं गोप्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम्।

एतन्मन्त्रत्रयं योगी साधयेत्सिद्धिसाधकः॥ ५-१९१॥

एतन्मन्त्रं गुरोर्लब्ध्वा न द्रुतं न विलम्बितम्।

अक्षराक्षरसन्धानं निःसन्दिग्धमना जपेत्॥ ५-१९२॥

तद्गतश्चैकचित्तश्च शास्त्रोक्तविधिना सुधीः।

देव्यास्तु पुरतो लक्षं हुत्वा लक्षत्रयं जपेत्॥ ५-१९३॥

करवीरप्रसूनन्तु गुडक्षीराज्यसंयुतम्।
कुण्डे योन्याकृते धीमाञ्जपान्ते जुहुयात्सुधीः॥ ५-१९४॥

अनुष्ठाने कृते धीमान्पूर्वसेवा कृता भवेत्।
ततो ददाति कामान्वै देवी त्रिपुरभैरवी॥ ५-१९५॥

गुरुं सन्तोष्य विधिवल्लब्ध्वा मन्त्रवरोत्तमम्।
अनेन विधिना युक्तो मन्दभाग्योऽपि सिद्ध्यति॥ ५-१९६॥

लक्षमेकं जपेद्यस्तु साधको विजितेन्द्रियः।
दर्शनात्तस्य क्षुभ्यन्ते योषितो मदनातुराः॥
पतन्ति साधकस्याग्रे निर्लज्जा भयवर्जिताः॥ ५-१९७॥

जप्तेन चेद्द्विलक्षेण ये यस्मिन्विषये स्थिताः।
आगच्छन्ति यथातीर्थं विमुक्तकुलविग्रहाः॥
ददति तस्य सर्वस्वं तस्यैव च वशे स्थिताः॥ ५-१९८॥

त्रिभिर्लक्षैस्तथाजप्तैर्मण्डलीकाः समण्डलाः।

वशमायान्ति ते सर्वे नात्र कार्या विचारणा ॥ ५-१९९ ॥

षडभिर्लक्षैर्महीपालं सभृत्यबलवाहनम् ॥ ५-२०० ॥

लक्षैर्द्वादशभिर्जप्तैर्यक्षरक्षोरगेश्वराः ।
वशमायान्ति ते सर्वे आज्ञां कुर्वन्ति नित्यशः ॥ ५-२०१ ॥

त्रिपञ्चलक्षजप्तैस्तु साधकेन्द्रस्य धीमतः ।
सिद्धविद्याधराश्चैव गन्धर्वाप्सरसांगणाः ॥
वशमायान्ति ते सर्वे नात्र कार्या विचारणा ।
हठाच्छ्रवणविज्ञानं सर्वज्ञत्वं प्रजायते ॥ ५-२०२ ॥

तथाष्टादशभिर्लक्षैर्देहेनानेन साधकः ।
उत्तिष्ठेन्मेदिनीं त्यक्त्वा दिव्यदेहस्तु जायते ॥
भ्रमते स्वेच्छया लोके छिद्रां पश्यति मेदिनीम् ॥ ५-२०३ ॥

अष्टाविंशतिभिर्लक्षैर्विद्याधरपतिर्भवेत् ।
साधकस्तु भवेद्धीमान्कामरूपो महाबलः ॥
त्रिंशल्लक्षैस्तथाजप्तैर्ब्रह्मविष्णुसमो भवेत् ।
रुद्रत्वं षष्टिभिर्लक्षैरमरत्वमशीतिभिः ॥

कोट्यैकया महायोगी लीयते परमे पदे ।

साधकस्तु भवेद्योगी त्रिलोक्ये सोऽतिदुर्लभः ॥ ५-२०४ ॥

त्रिपुरे त्रिपुरन्त्वेकं शिवं परमकारणम् ।

अक्षयं तत्पदं शन्तमप्रमेयमनामयम् ॥

लभतेऽसौ न सन्देहो धीमान्सर्वमभीप्सितम् ॥ ५-२०५ ॥

शिवविद्या महाविद्या गुप्ता चाग्रे महेश्वरी ।

मद्भाषितमिदं शास्त्रंगोपनीयमतो बुधैः ॥ ५-२०६ ॥

हठविद्या परंगोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ।

भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या च प्रकाशिता ॥ ५-२०७ ॥

य इदं पठते नित्यमाद्योपान्तं विचक्षणः ।

योगसिद्धिर्भवेत्तस्य क्रमेणैव न संशयः ॥

समोक्ष लभते धीमान्य इदं नित्यमर्चयेत् ॥ ५-२०८ ॥

मोक्षार्थिभ्यश्च सर्वेभ्यः साधुभ्यः श्रावयेदपि ।

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथम्भवेत् ॥ ५-२०९ ॥

तस्मात्क्रियाविधानेन कर्तव्या योगिपुंगवैः ।

यदृच्छालाभसन्तुष्टः सन्त्यक्तवान्तरसंज्ञकः ॥

गृहस्थश्चाप्यनासक्तः स मुक्तो योगसाधनात् ॥ ५-२१० ॥

गृहस्थानां भवेत्सिद्धिरीश्वराणां जपेन वै ।

योगक्रियाभियुक्तानां तस्मात्संयतते गृही ॥ ५-२११ ॥

गेहे स्थित्वा पुत्रदारादिपूर्णः

सङ्गं त्यक्त्वा चान्तरे योगमार्गे ।

सिद्धेश्चिह्नं वीक्ष्य पश्चाद् गृहस्थः

क्रीडेत्सो वै मम्मतं साधयित्वा ॥ ५-२१२ ॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे योगशास्त्रे

पंचमः पटलः समाप्तः ॥ ५ ॥ शुभम् ॥

XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX
X
X title: svapak.sa d.r.s.taantasa"ngraha.h
X
X copied from ifp/efeo transcript no. T00317 pages 968 - 1118
X
X data entered by the staff of muktabodha under the
X supervision of mark s. g. dyczkowski
X
X see on-line catalogue record for bibliographic details
X
XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX

शिवज्ञानसिद्धि स्वपक्ष दृष्टान्त सङ्ग्रहः ॥

अभीप्सितार्थसिध्यर्थं पूजितोयस्सुरैरपि ।

सर्वविघ्नच्छिदे तस्मै गणाधिपतये नमः ॥

वन्दे कुन्देन्दुधवलं दन्तभिन्नान्तरायकम् ।

दानधारापतत्भृङ्ग सङ्गीतं कुञ्जराननम् ॥

श्रीमदभ्र सभामध्ये नित्यमानन्द ताण्डवम् ।

कुर्वाणमुमया सार्धं सेव्यमानं शिवंभजे ॥

कैलासद्वार पार्श्वस्थं ब्रह्मविष्णवादि वन्दितम् ।
श्रीनन्दिकेशरं वन्दे सुयशावल्लभं प्रभुम् ॥

सत्यज्ञानिनमाचार्यं सम्यक् बोधप्रकाशकम् ।
तच्छिष्य अरुणन्द्याख्य अकरोछाशास्त्र मानमत् ॥

परपक्षावबोधाख्यं शतत्रयमकारयत् ।
उपोत्घाते पञ्चवृत्तं प्रमाणे तु चतुर्दश ॥

p. 969)

आद्ये सप्तति वृत्तानि द्वितीये नवतिश्च षट् ।
तृतीयेपि च चत्वारि चत्वारिंशच्चतुर्थके ॥

पञ्चमे नवकं पश्चात्तत्संख्या षष्ठसूत्रके ।
सप्तमे तु चतुष्कोनश्चत्वारिंशत्तथाष्टमे ॥

नवमे द्वादश प्रोक्तं दशमे षट्प्रकीर्तितम् ।
एकादशे द्वादशं च द्वादशे सप्तकं स्मृतम् ॥

स्वपक्षन्तु ततः पश्चात् सप्तविंशछ्शत त्रयम् ।
एवं पक्षद्वयोपेतं सप्तविंशति षट्छ्शतः ॥

श्रीमत्तिल्लवने पुण्ये गुहामठमुपासयन् ।
निगमज्ञान नाम्ना तु प्रख्यातो भून्महीतले ॥

तन्नामधारितश्शिष्यस्संप्रदाय प्रवर्त्तकः ।
इत्थं व्यवहितं शास्त्रं मवलोक्य यथामति ॥

तत्प्रामाणिक सिध्यर्थं मूलशास्त्र प्रसिद्धये ।
उद्धृत्यागम शास्त्राणि चाकरोछ्शास्त्रमुत्तमम् ॥

स्वायम्भुवे -

वचनेनापि तुष्टि स्यादुत्तमस्याधिकारिणः
दृष्टान्ते नैव तुष्टि स्यान्मध्यमस्याधिकारिणः
येन केनापि तुष्टि स्यादधमस्याधिकारिणः ।

अजिते -

लोकायतोथ बौद्धं चाथार्हं मीमांसमेव च ।
मायावादं पाञ्चरात्रं षडेते समया बहिः

भीमसंहितायाम् -

p. 970)

गोष्ठिवत्समयं भेद क्षीरवच्छिशवमुच्यते ।
शिवं सर्वगतं शान्तं भजेन्नित्यं शिवाश्रतः ॥

अजिते -

आदिमध्यान्त निर्मुक्त स्वभावविमलः प्रभुः ।
सर्वज्ञः परिपूर्णश्च शिवो ज्ञेयश्शिवागमैः ॥

चिन्त्यविश्वे -

पूर्वोक्त दीक्षया युक्तं शिष्यं विज्ञान दीक्षया ।
दीक्षयेत् कृपया पूर्णो गुरुस्सन्मार्गदायकः ॥

मनोव्यापारमात्रेण या दीक्षा विद्यते क्रमात् ।
सा दीक्षा ज्ञान दीक्षा च विज्ञानाख्या स वै भवेत् ॥

* * * * * प्रदेशे * * वोस्थाने शिरस्थाने विशेषतः ।
श्री पादौ शिरसा धृत्वा स्वात्मज्ञान * * बोधयेत् ॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैर्यश्शिष्यमनुरूपतः ।

* * * * * * * * * * * * * * * * ।

* * * * * * * * * * * * * * * * ॥

ये चान्यासक्त हृदया यजन्तीशं प्रसङ्गतः ॥

तेषामिष्टन्ददातीश स्थानं भावानुरूपतः ।

p. 971)

तथा चोक्तमाचार्यैः -

ये चात्र शुद्ध भुवनोद्भव भोगकामा

स्त्वामर्चयन्ति * * * * * * * * * * ।

* * * * * * * * * * * * * केभ्यो

भोगन्ददासि तदनन्तरमेव मोक्षम् ॥

रत्नत्रये । वायव्य संहितायां च ।

यतो वाचो निवर्तन्ते न प्राप्यमनसा सह ।

आनन्दं यस्य वैशद्यन्नबिभेति कुतश्चन ॥

स्कान्दे -

ब्रह्माच्युतादिभिर्देवैः वेदैरपि वितर्क्कितम् ।

च्छन्दो रूपं शठात्मानश्शक्तास्तोतुं कथम् प्रभुम् ॥

पौष्करे -

अधुना श्रोतुमिच्छामः प्रमाणानि कृपानिधे ।
उत्तरम् ॥ श्रुणुध्वमथमानानि श्रोतुं कौतूहलं यदि ॥

सिद्धतन्त्रे -

त्रिपदार्थ प्रमाणाय प्रमाणानि दशोच्यते ।
प्रत्यक्षं प्रथमं प्रोक्तन्द्वितीयमनुमानकम् ॥

तृतीयं शब्दमित्युक्तम भावन्तु चतुर्थकम् ।
अर्थापत्तिः पञ्चमन्तु समानं षष्ठमेव च ॥

p. 972)

ऐतीहं नवमं प्रोक्तं दशमन्तु स्वभावकम् ।
दर्शनेप्यनुमाने च शास्त्रेन्तर्भूयते दश ॥

(चका) सिद्धतन्त्रे -

विकल्प भेदसन्देहं विना ज्ञेयं सुदर्शनम् ।
वस्तुतो विद्यमानार्था विनाभावाख्य हेतुना ॥

अनुमानं च शास्त्राख्यमनुमेयं च साधयेत् ।

सुप्रभेदे -

अक्षादिकरणैर्दृश्यं प्रत्यक्षन्तदिहोच्यते ।
लिङ्गेन लिङ्गि विज्ञानमनुमानमिति स्मृतम् ॥

आप्तोक्ति वचनैर्गम्यं शब्दमेतदुदाहृतम् ।

पौष्करे -

द्व्यालम्बा संशया बुद्धिस्समानाकार दर्शनात् ।
विपर्ययोन्यथा ज्ञानमतद्रूपं प्रतिष्ठितम् ॥

अक्षादि करणैर्दृश्यं प्रत्यक्षं द्विविधं च तत् ।
वस्तु स्वरूपमात्रस्य ग्रहणन्निर्विकल्पकम् ॥

नामजात्यादि सम्बन्धसहितं सविकल्पकम् ।

तथा सिद्धतन्त्रे -

सिद्धार्थान्वयमन्वेति सन्देहं पूर्वमुच्यते ।
सुतरार्थं स एवेति भेदो विद्यवसीयते ॥

p. 973)

नाम जाति गुणंकर्म्म चार्थपञ्च विकल्पते ।
पदार्थाभावभूतं च निर्विकल्पं स मौनवत् ॥

सिद्धतन्त्रे -

दर्शने तु चतुर्योगं मनश्चेन्द्रिय वेदना ।
अनुमानं स्वयं वेद्यमन्य वेद्यमिति द्विधा ॥

त्रिकारण्यागमस्तन्त्र कलामन्त्रोपदेशवत् ।

पौष्करे -

प्रत्यक्षन्त्रिविधमुक्तम् ।
एतच्चेन्द्रिय सापेक्षन्निरपेक्षन्तथैव च ॥

अन्तःकरण सापेक्षमिति त्रिविधमिष्यते ।
प्रत्यक्षन्त्रिविधं प्रोक्तमक्षमानसचिद्वशात् ॥

इति क्वचित्पक्षः । सिद्धतन्त्रे -

प्रकृतिर्मध्यमा ज्ञेया किन्तु हि द्विप्रमाणतः ।
अन्यस्व जात्यतीतं च यत्तत्प्रकृतिरुच्यते ॥

पूर्वं चतुर्विधाख्यस्य दर्शनस्य स उच्यते ।
ज्ञानेन्द्रिय कलापं च रूपायं चात्म संयुतम् ॥

विकल्पादि विनाज्ञेयो यदा चेन्द्रियदर्शनम् ।
ज्ञानाक्षादि विनागम्यमक्षादि विषयादि च ॥

p. 974)

मलिनं रोधितं ज्ञानं तद्धिमानस दर्शनम् ॥

पौष्करे -

अन्यच्चेन्द्रिय सापेक्षं स्यादाच्छाद निवृत्तये ।
इन्द्रिया पेक्षया शक्त्या तद्वारेणार्थ वीक्षणम् ॥

अन्तःकरणसापेक्षं बाहेन्द्रिय जपेन तु ।
अन्तःकरणसापेक्षञ्चिच्छक्तेर्ध्येय सङ्गतिः ॥

सिद्धतन्त्रे -

आत्मज्ञानेन जीवाद्यैस्सुखदुःखादि भुञ्जते ।
आध्यात्मान्मुच्यते ह्येतत् वेदना दर्शनं भवेत् ॥

समाधिभिस्समुत्सार्यं अन्यदेश चरित्रकम् ।

एव वासस्ततोज्ञेयो योगिभिस्साम्य दर्शनः ॥

सिद्धतन्त्रे -

त्रयः पक्ष स्त्रिहेतुश्च प्रत्येकं त्रिविधं भवेत् ।
तदिदं द्विविधं वक्ष्ये प्रशस्तमनुमानकम् ॥

स्वार्थं परार्थमिति च स्वपर ज्ञानगन्ततः ।
हेतुभिः प्रतिविख्यातमन्यकस्य स्ववित्भवेत् ॥

अन्वयि व्यतिरेकीति हेतुवाक्यमिदन्द्विधा ।

तथा पौष्करे -

अन्वय व्यतिरेकी च केवल व्यतिरेकि च ।
p. 975) केवलान्वयरूपेण क्रमेणपरिलक्ष्यते ॥

सिद्धतन्त्रे -

स्वपक्षस्समपक्षश्च परपक्षश्च जायते ।
स्वपक्षस्य दृशार्थं स्यात् समपक्षी पुटीदृशा ॥

स्वमतार्थन्नयत्यर्थं परपक्षस्स उच्यते ।

तथा पौष्करे -

साध्यधर्म्मयुतः पक्षः सपक्षस्तत्सधर्म्मयुक् ।
तद्विधर्म्मो विपक्षस्यात् अवस्थान्तर भेदवत् ॥

प्रथमं हेतुरित्युक्तं द्वितीयं कार्यमीरितम् ।
तृतीयं चानुलब्धाख्यमेवं प्रकरणन्त्रिधा ॥

अवस्थान्तर भेदत्वमेवं प्रकरणं विदुः ।
कार्यधूमक गन्तृत्वमग्नेर्द्दर्शनमित्यपि ॥

शीताभावं हिमाभावं तत्ज्ञेयमनुलब्धकम् ।

पौष्करे -

सा च व्याप्तिर्द्विधात्रेधा व्यतिरेक्यन्वयात्मिका ।

सिद्धतन्त्रे ।

धूमाग्न्योर्भवतः पाकगृहेसौ कथ्यतेन्वयी ।
पत्सवापीतले धूमन्नासीदितर उच्यते ॥

पौष्करे -

तच्चेह पञ्चावयवं प्रतिज्ञा हेतुरेव च ।
दृष्टान्तश्चोपनयना निगमश्चेति पञ्चमः ॥

p. 976)

इष्टार्थोक्तिः प्रतिज्ञा स्याद्धेतुस्तद्व्याप्तिमद्वचः ।
दृष्टान्तस्तूचितोक्ति याद्धेतुर्यद्वत्परीक्ष्यते ॥

दृष्टान्त पक्षयोर्व्याप्ति प्रस्तारं यदुपानयः ।
पुनः प्रतिज्ञा नियमो निगमस्यात्स हेतुकः ॥

सिद्धतन्त्रे -

पुनरप्यनुमानेन त्रिविधाख्येति चेत्कथम् ।
प्राग्दर्शनानुमानन्तद्द्वरे गन्धेन पुष्पवत् ॥

अनुमानानुमानन्तु वागज्ञानमनुमानवत् ।

पुष्करे -

आप्तोक्तिरागमार्थोपि परीक्षार्थैक साधनम् ।
प्रत्येक्षेणानुमानेन याति चार्थं सुनिश्चितम् ॥

यो वेत्ति सोयमात्मा स्यात्तस्मादाप्तस्सदाशिवः।
इदमत्र समाख्यातं प्रागुक्तन्त्रिविधागमः॥

अनादिशुद्ध सर्वज्ञ शिवेन कथितागमः।
पूर्वापराविरोधं यत्तद्धितन्त्रं कला भवेत्॥

चित्तादि निश्चिलं कृत्वा तद्वत्कुर्याच्चानुकुलम्।
आद्यन्तरहितो देवो भाव बोधोपदेशवित्॥

पक्षाभावस्तु चत्वारो हेत्वभात्वेकविंशतिः।
सिद्धान्ता भात्वदशाष्टौ द्वाविंशन्निग्रहा स्मृताः॥

p. 977)

पञ्चषष्टिरिमे प्रोक्ता आभास?

अथ प्रथम दृष्टान्तमुच्यते।

अत्र सूत्रलक्षणं निश्वास कारिकाया मुक्तम्।

तद्यथा।

सूचनात्सूत्रमित्याहुस्सूत्रनाम महत्पदम्।
तेन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

तथोक्तम् पराशरपुराणे -

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं यत् सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥

स्वायम्भुवे -

स्त्री पुन्नपुंसकं ज्ञेयञ्जगत्सर्वं क्रमेणजम् ।
स्थितिस्संहारतो विप्र सर्वदा कर्तृ पूर्वकम् ॥

अनादि मुक्तचिद्रूपः कृत्यकर्ताहरः प्रभुः ।

तथा शिवज्ञान बोधे -

स्त्रीपुन्नपुंसकादित्वं जगतः कार्यदर्शनात् ।
अस्तिकर्त्ता सहृत्वैतत् सृजत्यस्मात्प्रभुर्हरः ॥

स्वायम्भुवे -

काषा?नित्या जगत्सृष्टि स्थितिध्वंसक उच्यते ।

उत्तरम् ।

नानुमानागमावत्र चास्य कार्यस्य सम्भवे ।
दृष्टिवत् सर्वभूतेषु नाशोत्पत्ति प्रदृश्यताम् ॥

p. 978)

अथ सर्वमतोपन्यासे -

प्रत्यक्षेण हि सिद्धेद्धैनानुमानं प्रवर्तते ।
अनुमानेन साध्यं चेत् परतत्वं प्रसज्यते ॥

स्वभाव इति भूतानां सृष्टिस्संहार उच्यते ।

उत्तरम् । पराख्ये -

चतुर्णामपि भूतानां स्वभावो नैव दृश्यते ।
तस्मान्न कम्पते धात्री कमुष्णं दृश्यते कवचित् ॥

वह्निन्निर्वाण मायाति वायुरुर्ध्व गतिः क्वचित् ।
भूतेषु हि स्वभाषेन किं पुनः कार्यसम्भवे ॥

सृष्टिस्थित्यन्तनाशेन कार्यत्वेनान योगतः ।
जडत्वेनाप्यतोभूते सर्वतः कर्त्तृ पूर्वकम् ॥

पराख्ये -

स्वयमेव चतुर्भूतः सर्वकृत्यं करोत्यतः ।
फलप्रदम्तिति प्रोक्तं क्वचित्कर्ता च मा कुरु ॥

उत्तरम् ॥

भूताश्चतुष्टयाः ख्याता स्थित्युत्पत्ति लयास्सदा ।
आद्यन्तरहितो देवस्सर्वतोपि करोत्यसौ ॥

शयश्च विशेषेण बूतानामुत्भवा * * * ।
भूताद्विनात्र कार्य * * * * * * * ।
* * * * * * * * * * * * * * * * * च्यते ॥

p. 979)

द्वयोश्च कारणं मायेत्याहुरत्र विपश्चितः ।
पटाद्या यजमानेन कार्योत्पत्तिर्न दृश्यते ॥

तथास्य स्यात् तु कार्य * * * * * ।
* * * * * * * * * * र्वतो भवेत् ।

निश्वासोत्तरे -

स्वयमेवेति नास्ति स्यान्नास्ति कर्त्तैक वस्तु चेत् ।

तथैवा याति तस्य स्यान्नाशोत्पत्तिस्ततः कथम् ॥

अस्ति कर्ता तथा च स्यात्तया तत्कार्य दर्शनात् ।

निश्वासोत्तरे -

अह देहलयोत्पत्ति जडादृष्टं कथं भवेत् ।

उत्तरम् ।

श्रोतुमिच्छमि सर्वेषामितीदं शृणु पार्वति ।
आकाशाज्जायते वायुर्वायोरग्निरुदाहृतः ॥

अग्नेज्जलञ्जलात्पृथ्वी भूतानां क्रममेव हि ।
एतेषां सर्वभूतानां संयोगो लोक उच्यते ॥

अन्यत्र ।

एवं क्रमाल्लयः प्रोक्तस्तच्च कालान्तरेण तु ।

कारणे चिन्त्ये -

यदि स तृणनाशोपि न चेच्छुणवस्य पार्वति ।

p. 980)

वार्षादिवाङ्कुरन्दृश्यमभवत् स्वपथा जगत्।

कारणे -

कालस्त्रिभिश्चेतनश्चेत् कर्तृत्वं काल एव हि।

उत्तरम्।

उपादानेन जातेन नाशेनापि जडो भवेत्॥

अपि च।

प्रपञ्चसृष्टिरित्युक्तं एककाले हि सम्भवः।
तस्मान्महेश एव स्यात् कालवत्परिपालकः॥

कारणे -

अखिलाख्यमणूनां च कर्म्मणां सम्भवात्ततः।

उत्तरम्।

यद्वच्च पूर्वमेवोक्तम् कर्म्मापि जडवत्भवेत्।
घटस्यमृदुपादानन्दृष्ट्य यद्दृश्यते तथा॥

इदन्तदनुमानेन मायोपादान कारणम्।
माया कारणमेवाहुरणूनां कार्यदर्शनात्॥

कारणे -

जगतः कारणाख्याणु भूतकार्येति कथ्यते।
कार्यावयव रूपेण दृश्येनापि घटादिवत्॥

यद्दृश्यं तद्विनाश्यं स्यान्मायोपादान कारणम्।
सृष्टिस्थिति?संहारम् माया कार्यं विपश्चितः॥

कथं चेत्बीजशाखादि भूमाधारेण जातवात्।

रत्नत्रये -

यद्यदुत्पद्यते वस्तु तन्मायेयं कथा कला।
उत्पत्तिनाशो मायाया धर्म्मावाह महेश्वरः॥

p. 981) **किरणे** -

तत्कार्यकारिका शक्तिः क्रियाख्य सूक्ष्मरूपिणी ।
स्थूलकार्यं च सूक्ष्मापि स्थितान्यग्रोधबीजवत् ॥

जगत्कारण मायाख्य परिणामः कदाचन ।
माययात्र जगज्जातश्शशशृङ्गोक्ति जातवत् ॥

वृक्षाच्छदो नापूर्वेण पश्चाद् वृक्षेषु जायते ।
कूततश्च तथैवोक्ता स्थिति स्यात् कारणं पुनः ॥

कारणे -

इयं कारण कार्येण ह्यनादाख्यं जगत्सदा ।
अतिप्रपञ्चन्तत्कर्त्ता सृष्टिकार्यात्ततो भवेत् ॥

प्रश्नः ।

विश्वकारणं मायैव कथं कर्त्तेति नोच्यते ।

पराख्ये -

अतोस्ति बुद्धिमान्कश्चिदीश्वरस्समव स्थितः ।
आदि प्रपञ्चन्तत्कर्त्ता चोपादानं परं स्मृतम् ॥

प्रतिपन्न स्वकार्येण दृष्टेनात्रानुमानतः।
अन्यथानुपपत्त्यावा तद्वदेवमनादिकम्॥

मूर्त्तास्सा वयवायेर्था नानारूपपरिच्छदाः।
पतिर्विश्वस्य निम्र्माता पशुपाश विलक्षणः॥

अभावे तस्य विश्वस्य सृष्टिरेषा कथं भवेत्।
अचेतनत्वादज्ञत्वादनयोः पशुपाशयोः॥

p. 982)

प्रधान परमाण्वादि यावत्किंचिदचेतनम्।
न तत्कर्तु स्वयन्द्रष्टुं बुद्धिमत्कारणं विना॥

जगत्कत्ता सापेक्षं कार्यं सावयवं युतः।
तस्मात् कार्यस्य कर्तृत्वं पत्युर्न्न पशुपाशयोः॥

पराख्ये -

निमित्तमीश्वराख्यं तद्दृष्टं सहकारणम्।
उपादानं च यत्सूक्ष्मं सर्वकार्येषु संहितम्॥

य शक्तिश्चेश्वरो माया मृद्वच्चात्र कुलालवत्।

तथा निश्वासे -

यथा कार्ये घटाद्या तु कुम्भकारेण मृत्तिका ।
कार्याख्यं च जगत्सर्वं कारणेन करोति सः ॥

क्रिया शक्त्या जगत्सर्वं कुरुते परमेश्वरः ।
कारणानान्त्रयन्तेन सर्वकार्येनुमीयते ॥

निश्वासोत्तरे -

बिन्दुमाये तयाव्यक्तः कारणत्रयमुच्यते ।
तस्याश्चतस्रो वाग्रूपा वृत्तयो वैखरीमुखाः ॥

वैखरी मध्यमाचान्या पश्यन्ती सूक्ष्मसंज्ञिता ।

पौष्करे -

कलाविद्या च रागश्च कालोनियतिरेव च ।
पञ्चैतानि च तत्वानि माये यानि द्विजोत्तमाः ॥

p. 983) मृगेन्द्रे -

गुणधीगर्वचित्ताक्ष मात्राभूतान्यनुक्रमात् ।

पौष्करे -

कर्तृत्वं द्विविधं विप्राः क्रियास्सङ्कल्पकोटयः।
अष्टावनन्त पूर्वास्ते यथा पूर्वं गुणाधिकाः॥

परे सदाशिव समाः पतिकृत्यानुकारिणः।
तत्त्वाध्वा भुवनाध्वा च वर्णाध्वा च पदक्रमः॥

मन्त्राध्वा व्यापकस्तेषां कलाध्वा बिन्दुमाश्रितः।
बिन्दुपादान जन्यत्वात्तेषां बैन्दवमुच्यते॥

पौष्करे -

चतस्रो वृत्तयस्तस्याः वाभिर्व्याप्तास्त्रिधाणवः।
आभ्यो न परमो बन्ध आभ्यो मुक्तिस्तु नापरा॥

तन्निवृत्य विना भूतो दृक्क्रियावारको यतः।

तथा निश्वासोत्तरे -

आहुरेव जगत्सर्वं प्रवृद्धं शब्दवृत्तिभिः।
न हि शब्दादृते पुंसः प्रत्ययोस्ति कदाचन॥

यदाशिव प्रसादेन ज्ञानं स्यान्मोक्ष अस्य तु ।

कालोत्तरे

आगोपालाङ्गना बाला म्लेच्छाः प्राकृत भाषिणः ।
p. 984) अन्तर्जलं गतास्सत्वास्तेपि नित्यं ब्रुवन्तितम् ॥

अस्यार्थः । तस्य वृत्तौ प्रपञ्चितः । रत्नत्रये -

परिणामस्य कर्तृत्वेनज्ञा? वै वृत्तयस्तथा ।
परिणामस्ततोनन्तः यतः कर्त्ता ततस्तथा ॥

निश्वासोत्तरे -

रूपोरूपेन जातोपि विकारोप्यविकारवत् ।
अविकारे अरूपे खे भूतानाञ्जननादिवत् ॥

विद्युद्धूम धनुस्तोयमेवा शनिजशब्दवत् ।

निश्वासे -

यथा लोके घटाद्यास्तु कुम्भकाराम्मृदा तथा ।

कार्याख्यन्तु जगत्सर्वं कर्तृत्वेन करोति सः ॥

प्रश्नः ।

अखण्ड परिपूर्णासावधि तिष्ठन्करोति सः ।
कालस्तरुष्वमूर्तोऽपि करोति कुंसुमोच्चयम् ॥

फलानां च तथा तेषां पतनञ्च यथा निशम् ।
तथोत्पत्ति विनाशानां कर्त्ता शम्भुरमूर्त्तिमान् ॥

तथा किरणे -

यथा कालोह्यमूर्तोऽपि दृश्यते फलसाधकः ।
एवं शिवोह्यमूर्तोऽपि कुरुते कार्यमिच्छया ॥

p. 985)

निश्वासोत्तरे -

सर्वात्मनां च जननं मरणं च तथैव हि ।
कारुण्यात् क्लेशमालोक्य तेषां शम्भुः पुनस्तथा ॥

कर्म्मणां पाचनार्थाय सृष्टिन्निर्म्माय पूर्ववत् ।

मृगेन्द्रे -

स्वव्यापारान् बोधयन् बोधयोग्यान्
रोध्यानुन्धन् पाचयन्कर्म्मिकर्म्म ।
मायाशक्तिं व्यक्तियोग्यां प्रकुर्वन्
पश्यन्सर्वं यद्यथा वस्तुजातम् ॥

निश्वासोत्तरे -

शिवः कृत्यत्रयं चैव कुरुतेप्यधिकारवान् ।
शिलागारेग्नि पक्वं च पत्मभूमौ रसक्षयम् ॥

आदित्येन यथा दृश्यमीश्वरेण तथैव च ।
रुद्रो विष्णुस्तथा ब्रह्मसृष्टि स्थित्यन्त देवताः ॥

आदौ कृत्यास्तिमान्प्रोक्तश्शिव एवेति तछ्श्रुणु ।
ब्रह्मा सम्पूज्यं भक्त्या तं लिङ्गं शैवमयं शुभम् ॥

तस्य सम्पूजनादेव प्राप्तत्वं ब्रह्मत्वमुत्तमम् ।
इन्द्रनीलमयं लिङ्गं समभ्यर्च्य जनार्द्दनः ॥

विष्णुत्वं प्राप्तवांस्तेन सोत्भूतैक सनातनम् ।

p. 986)

ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्तञ्जगद्योनिश्चराचरम् ।
चराचरादिभूतानां प्राण भूतश्शिव स्मृतः ॥

तथा वायव्ये

परमैश्वर्य सम्पन्नाः परमेश्वर भाविताः ।
तच्छत्त्याधिष्ठिता नित्यं तत्कार्यकरणक्षमाः ॥

स्वायम्भुवे -

संसृज्य विश्वं भुवनं गोप्तासन् सञ्जहार यः ।
एक एव तदा रुद्रो न द्वितीयोस्ति कश्चन ॥

अतीता खल्वसंख्याता ब्रह्माणो हरयो यतः ।

स्कान्दे -

संसारदुःखहरणात् प्रपञ्चहरणाच्चया ।
प्राक्तनैर्हर इत्याख्या भवतः परिकीर्तिता ॥

प्रकृतौ प्रलये प्राप्ते नष्टे स्थावर जङ्गमे ।
ब्रह्मा विष्णुस्सुरास्सर्वे लयं यान्ति शिवं विना ॥

स्वायंभुवे -

पशुना देहसंयोगो भोगोमोक्षाय कथ्यते।
तथापि सन्तश्चेत्याहुरनादिमलमोचकाः॥

पशूनां हारिमित्युक्तम् विस्मयं गमयेत् पदो।
मलबद्धेन स्त्रष्टाख्या तत्तत्कर्म्ममलं गतम्॥

p. 987)

स्थितिर्जननमन्तोयं कर्म्मयोगेत्वहंकृतिः।
विवक्षया पशूनान्तु विद्यमानमनुग्रहः॥

तथान्यत्राजगत्सा * * * * * * * * * ।
* * * * * * * * तेषु कः कर्तृरूपकः॥

उत्तरम्॥

एवमेतत्त्रयं चोक्तन्तस्य रूपमुदाहृतम्।

तथा सुप्रभेदे -

तच्छरीरं त्रिधाज्ञेयं निष्कलं * * ष्कलम्।

* * * * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * ।
* * * * * योगिनां शक्तिः ग्रहणे मोक्षणेपि च ॥

तद्वदेव हि बोद्धव्यं ग्रहणं मोचनं विभोः ।
मायात्मक * * * * * त्तमम् ॥

मृगेन्द्रे -

मूलाद्या शाम्भवाच्छाद्यवपुर्न्नस्तादृशं विभोः ।
तस्यैव पाशमुक्तत्वात् ज्ञानं केन निवार्यते ॥

मतङ्गे -

अथ शक्ति स्वरूपश्चेत् परिणामोहि दृश्यते ।
नित्यानन्दस्य रूपं च षडध्वा मार्गवत्भवः ॥

p. 988) डं?किंणिपता ।

विश्वे सर्वपदार्थेपि रूपारूपन्न योगजम् ।
सशिवोपि च पथ्येषु तथाप्येको भवेत्पुनः ॥

बन्धमोक्षपदार्थौ न नाद्यन्तो नापि संश्वसः ।
न लक्ष्यते तया तस्य क्वचित्भाव विनिश्चितः ॥

चिन्त्ये -

निरामयो निराधारो वर्णरूपविवर्जितः ।
सर्वज्ञस्सर्वगश्शान्तस्सर्वात्मा सर्वतो मुखः ॥

यस्साक्षी सुखदुःखानां लोकेस्मिन्सर्व वस्तुनि ।
स एव भगवान्व्यापी चाप्रमेयोप्यनौपमः ॥

पौष्करे -

स्वस्वेच्छा मात्रतस्तस्य स्वशक्ति किरणात्मिकः ।
मूर्तिमासाद्यते यस्मात् सद्योमूर्तिरिति स्मृतः ॥

वातुलोत्तरे -

रूपमादाय कृपया कथ्यते चागमार्णवान् ।
तथोपपन्ना सर्वस्य गुरुसन्तानपादुका ॥

तथा किरणे -

एवन्न कुरुते तावद्यावन्नो गुरुसन्ततिः ।

कुरुतेनुग्रहन्देवस्सर्वेषामेव देहिनाम् ॥

p. 989)

किन्तूपदेश कर्तृत्वात् स गुरुस्तेन सश्शिवः ।
यद्यसौ सकले नैव नाममन्त्रगुरुक्रमः ॥

किन्तूपदेशेन विना तदा भवति निष्फलः ।
यद्येवन्न भवेत् तत्थ्यं तदा न स्यात् गुरुक्रमः ॥

पुंसामनुग्रहार्थाय परोप्यरतां गतः ।
कृत्वा मन्त्रात्मकन्देहं वल्कि? तन्त्राण्यनेकधा ॥

बोध्यबोधक सम्बन्धाद्वक्ति तन्त्राण्यनेकधा ।

वातुलोत्तरे -

यद्रूपं तत्कृपा तस्य शिव सृष्ट्यादिकन्तथा ।
साङ्गोपाङ्ग इतीशस्य भोगदं मोक्षदं प्रभोः ॥

तदुक्तं कारणे -

नेत्र नासाग्र कर्णोश्च पाणीपादतलाङ्गुलीः ।
जटामकुट सम्युक्तं साङ्गं चेति प्रकीर्तितम् ॥

वस्त्रोपवीत माल्यानि चायुधाभरणानि च।
गङ्गाचन्द्र अपस्मारनाग्रकूर्म्मन्ततः पुनः॥

आसनादीनि सर्वाणि चोपाङ्गमिति कीर्तितम्।

वातुलशुद्धाख्यायाम् -

अङ्गप्रत्यङ्गसाङ्गानि चतुर्थोपाङ्गमित्यपि।

p. 990)

सुप्रभेदे -

रुद्रैकादश पूर्वस्तु द्वादशादित्य संयुताः।
वसवश्चाश्विनीयुक्तास्त्रय स्त्रिंशति देवताः॥

स्कान्दे -

ब्रह्मादि देवताश्चान्या नैव संसारमोचकाः।
एषामेव हि जन्तूनां महासंसार वर्त्तिनाम्॥

संहारमोक्षकस्तेषां सर्वज्ञस्साम्ब ईश्वरः।

शुद्धाख्यायाम् -

नानारूपधरो देवो नानाभोग समन्वितः ।
नानाचिह्न समोपेतो नानालीलाधरोहरः ॥

महेशं सकलं विद्यात् सृष्टिस्थितिलयात्मकम् ।

तथा वायव्ये -

चरितानि विचित्राणि गुह्यानि गहनानि च ।
दुर्विज्ञेयानि देवस्य मोहयन्ति मनांसि च ॥

वीरतन्त्रे -

सोमास्कन्दस्तु पूर्वस्यात् सुखासीनस्ततः परम् ।
कल्याणसुन्दरश्चैव चन्द्रशेखर एव च ॥

गङ्गाधरश्च पञ्चैते सृष्टिरूपा उदाहृताः ।
वृषवाहोर्धनारीशः किरातो वीर एव च ॥

p. 991)

भिक्षाटन पराश्चैते स्थिति मूर्त्तय ईरिताः ।
नर्तको मदनारिश्च कालदन्तिपुरद्विषः ॥

जलन्धरघ्नश्चैते षट् भेदास्संहारमूर्तयः ।

शैवे एकादश रुद्रसंहितायाम्

कदाचिद्रहसि प्रीतानिजाज्ञावशवर्त्तिनः।
रमणञ्जानती मुग्धा पश्चादभ्येत्य सादरम्॥

कराभ्यां कमलाभाभ्यां नेत्रमस्य जगत्पतेः।
पिदधे लीलयाशम्भोः किं भवेदिति कौतुकात्॥

अन्धकारो भवेत्तीव्रं चिरकालभयङ्करम्।
निमेषार्धेन देवस्य जग्मुर्वत्सर कोटयः॥

देवी बिलादुत्थेन तमसा भूज्जगत्क्षयः।
तमसा पूरितं विश्वंमपरेण समन्ततः॥

रुद्धास्ते सूरयो भक्ताश्शम्भुमानम्य तुष्टुवुः।
इति तेषां वचश्श्रुत्वा भक्तानान्नियतात्मनाम्॥

विकासिते तु फालाक्षे जग्राह विश्वरन्तमः।
विश्वसाक्षीति गौरीयं करुणामूर्त्तिरन्ध्रवित्॥

विससर्ज च सा देवी पिधानं हर चक्षुषोः।

सोमसूर्याग्नि रूपाणां प्रकाशैरभवज्जगत् ॥

p. 992)

लैङ्गे -

गत्वा तदाश्रमं शम्भोस्तदारत्या तया सह ।
वसन्तेन सहायेन देवं योद्धुं मनोह्यभूत् ॥

ततस्संप्रेक्ष्य मदनं हसन्नेव त्रियम्बकः ।
नयनेन तृतीयेन सावज्ञन्तमवैक्षत ॥

ततोस्य नेत्रजो वह्निर्मदनं पार्श्वत स्थितम् ।
अद्रहत् तत्क्षणादेव लीलावान् करुणानिधिः ॥

स्थितये ह्याश्रमाणां च हितार्थं भगवान्भवः ।
तदा हैमवतीन्देवीमुपयेमे यथा विधि ॥

चिन्त्ये -

निसर्गस्थिति संहारं यस्मिन्नेव निगद्यते ।

तथा कामिके -

देवदानव गन्धर्वमुनयो मनुजादयः ।

पिपीलिका गजाद्यन्ता जङ्गमास्थावराश्चये ॥

तेनुग्राह्या स्मृताशास्त्रेनुग्राह्या बहुधा मताः ।

वातुलशुद्धाख्यायाम् -

सृष्ट्यर्थं सर्वतत्वानां लोकस्योत्पत्तिकारणम् ।
योगिनामुपकाराय गृह्णाति स्वेच्छयातनुम् ॥

शिवस्सदाशिवश्चैव महेशस्त्रिविध स्मृतः ।
शिवस्तत्त्व महासेन निष्कलन्त्विर्तिकीर्तितम् ॥

p. 993)

सकलन्निष्कलोपेतं सादाख्यमिति चोच्यते ।
महेशस्सकलं विद्यात्त्रिविधास्ते भवन्ति वै ॥

सुप्रभेदे -

निष्कलं च कलाहीनं कलाभिस्सकलं भवेत् ।
सकलाकलमिश्रं यत्तस्मात्तस्मात् सकलनिष्कलः ॥

परन्निष्कलमित्युक्तमपरं सकलं स्मृतः ।
परापरन्तु यत्प्रोक्तन्तत्स्यात्सकलनिष्कलम् ॥

वातुलोत्तरे -

अध्वमूर्तिरिति ख्यातिः परमेतत् कथं प्रभो।

उत्तरम्॥

नित्येनापि च पूर्वेण चिदचिच्चेष्टितेन च॥

वेदागमेषु शास्त्रेषु चाध्वामूर्तिरिहोच्यते।

तदुक्तं ब्रह्मशम्भुपादैः -

शान्त्यतीत कलामूर्धा शान्तिर्वक्त्र सरोरुहः।
विद्याकला तु वक्षोऽङ्गं प्रतिष्ठा गुह्यमण्डलम्॥

निवृत्तिर्जानु जङ्घाङ्घ्रि भुवनाध्वा तनूरुहाः।
वर्णत्वङ्मन्त्र रुधिरं पदं मांस सिरादिकम्॥

तत्त्वं मज्जास्थि शुक्लादि धातवः परमेष्ठिनः।
सदाशिवष्षडध्वात्मा तस्य प्राणश्शिव स्मृतः॥

तथा स्वायम्भुवे -

p. 994)

तत्त्वं पदं च मन्त्रं च वर्णं च भुवनं कला।
अध्वामार्गस्समाख्यातो व्यापकत्वं शिवस्य तु॥

अयाध्वा कल्प्यते तथ्यं व्यापकत्वं तथा गतम्।

वातुलोत्तरे -

किं कारणेन मन्त्राध्वा देवस्य तनुरुच्यते।
उपादानमतश्शक्तिर्बिन्दुभिर्म्मोहितञ्जगत्॥

चिन्तयारहितं यत्तत्परमं परमं परिकीर्तितम्।
मन्त्रयोनिर्म्महामाया या परिग्रह वर्त्तिनी॥

कालोत्तरे -

तस्मिन्प्रजायते मन्त्रस्तत्रैव प्रविलीयते।

वातुलोत्तरे -

शिवश्शक्त्याधिष्ठितस्तु मन्त्राध्वा तेन कीर्तितः।
भुक्तिमुक्ति प्रदामन्त्रास्त्वर्च्चिता शिवमध्वरैः॥

अनुग्रहाय लोकस्य शिवोमन्त्र इति स्मृतः ।
यात्वनुग्राहिका शक्तिस्सामरस्यमिहागता ॥

मन्त्रेषु पञ्चमन्त्रस्थ युक्तन्तन्त्रेषु वक्ष्यते ।

उत्तरम् ।

आत्मनोनुग्रहार्थाय स्वेच्छया स च कथ्यते ॥

पञ्चमन्त्रतनु श्रीमान् सकलः परिपठ्यते ।
मतङ्गे ईशानं प्रथमं ब्रह्म ततस्तत्पुरुषात्मकम् ॥

p. 995)

तृतीयमप्यघोराख्यं वामदेवात्मकन्ततः ॥

पञ्चमं सद्य इत्युक्तम् ब्रह्म सर्वार्थसाधकम् ।
प्राधान्येन स्थिता ह्येता विद्यामन्त्राश्च सुव्रत ॥

ईशानी पूरणीहार्दि वामामूर्त्तिश्च पञ्चधा ।
एताभिस्समवेतोसौ शक्तिभिस्सममधिष्ठितः ॥

तथा पौष्करे -

एवं मन्त्रास्तु पञ्चैते तैर्निबद्धा तनु * * * * * ।
* * * * * * * * * * * *र्थ शङ्कितः ॥

वायव्ये -

ब्रह्मादयोपि लोकानां सृष्टि स्थित्यन्त हेतवः ।
ब्रह्माविष्णुस्ततो रुद्रस्सृष्टिस्थित्यन्त देवताः ॥

आदौ कृत्याप्तिमान् प्रोक्तश्शिव एवेति तत्स्मृतम् ।
स्वा * * * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * * * * * * मोघाबलशालिनी ।
एकानेक विभागेन स * * * * * * शिवेच्छया ॥

क्रिया त्रिधातु विज्ञेया वामाज्येष्ठा च रौद्रिका ।

तथा निश्वासोत्तरे -

मन्त्रयाद्यनेक जन्तूनां भूपतेश्शक्तिभेदवत् ।
एक एव शिवश्शक्तिस्तथा कार्याह्य भेदतः ॥

p. 996)

तस्माच्छिवात्मिका शक्तिर्भोगमोक्षौ शिवेच्छया ।

चिन्त्ये

शक्तिरूपं च कोवेत्ति महाविज्ञानमेव हि ।
क्रियया इच्छया ज्ञानैर्विना तच्छ्रुणु पार्वति ॥

यावत्ज्ञानं क्रियायेच्छा तस्मात्ज्ञानं क्रियां विना ।

स्वायम्भुवे -

यदेकेकोक्त गुणं शक्ति धर्म्मसामर्थ्यकन्द्विधा ।
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिरिच्छा ज्ञानक्रियात्रिधा ॥

शिवेन सर्पजन्तूनां कारुण्यात्समुदाहृतम् ।
ज्ञानशक्त्या विजानाति क्रियया कुरुते जगत् ॥

पराख्ये -

चिद्रूपमात्मनो रूपन्दृक्क्रिया गुणलक्षणम् ।
ज्ञानरूप स्थितस्यापि स्वरूपन्दृक्क्रियात्मकम् ॥

उत्तरम् -

कर्तृशक्तिरणोर्न्नित्या वह्नीचेश्वर शक्तिवत्।
तमच्छन्नतयार्थेषु नाभाति निरनुग्रहा ॥

तथा मृगेन्द्रे -

चैतन्यन्दृक्क्रियारूपन्तदस्त्यात्मनि सर्वदा।
सर्वतश्च यतोमुक्तौ श्रूयते सर्वतो मुखम्॥

p. 997)

तदप्य भावमानत्वात् तन्निरुद्धं प्रतीयते।

पौष्करे -

केवलं ज्ञानमेवापि शिवमेवेति सुस्थितम्।

तत्रैव।

उपसंहृत कार्यात्मा यदा बिन्दुर्व्यवस्थितः॥

तदालयाह्वयन्तत्वं शिवतत्वं तदेव हि।

चिन्त्यविश्वे -

चिदचित् ग्राहकार्थोयश्शिवो मोक्षस्तुशक्तितः।

अस्यैव चाविभागेयम् सा ज्वालेव हविर्भुजः ॥

ज्ञानशक्त्या क्रियाशक्त्या समस्तन्तद्विजृम्भितम् ।
सदा शिवाख्यकन्तत्वं सकलन्निष्कलं भवेत् ॥

क्रिया शक्त्युत् बणत्वं च ज्ञानशक्त्य पकर्षणम् ।
तत्र तत्प्रसरन्तत्वमीश्वराख्यमिदं भवेत् ॥

क्रियाशक्त्यपकर्षेण ज्ञानशक्त्युत्वणन्तथा ।
विद्या तत्वस्य चोत्पत्तिर्ज्ञानगम्याभवत्तदा ॥

इच्छाज्ञानक्रिया चैव शिवे स्थित्वा सदैव हि ।
स्वं स्वं कार्यं प्रकुर्वन्ति सर्वानुग्रहकारणात् ॥

किरणे -

इच्छानुग्रह कर्तृत्वाल्लय भोगाधिकारवान् ।
त्रिविधं कृत्य भेदेन दर्शिनो नाम भेदत? ॥

p. 998)

मृगेन्द्रे -

शक्तोद्युक्त प्रवृत्तत्वात् कर्त्ता त्रिविध इष्यते ।

शक्तेः प्रवृत्ति भेदेन भेदस्तस्योपचारतः ॥

कालोत्तरे -

शिवश्शक्तिश्च सादाख्यमीश्वरस्तदनन्तरम् ।
शुद्धविद्या च पञ्चैते शुद्धतत्त्वम् प्रकीर्तितम् ॥

मतङ्गे

शुद्धदेहमिति प्रोक्तन्नित्यं स्वातन्त्र्यविग्रहम् ।
कृत्यभेदं विना पूर्वापरन्नप्रसरक्रमः ॥

कालोत्तरेपि तथा ।

शिवैको बहुरूपस्तु नभसो बहुरूपवत् ।
सर्वेषामपि भावोपि यदर्थेन स्वभावतः ॥

शिवश्शक्तिश्चेति वाक्यं वृक्षस्य कठिनत्ववत् ।

अन्यत्र ।

स्वर्णनीलादि संस्पर्शात् स्फटिकन्तन्मयं यथा ।

शिवोपि शक्तिभिर्भेद्यस्तयो स्वाभाविकञ्च तत् ॥

शिवस्तु शक्तिभेदेन तत्स्वभावन्नमुञ्चति ।

मतङ्गे -

प्रवृत्तौ शक्तयस्सिद्धाश्शक्तीनां कारणं शिवः ।
अकारणश्शिवः प्रोक्तस्तन्त्रेस्मिन् पारमेश्वरे ॥

p. 999)

स्त्रियः पुमानिति जगत् सर्वं शक्ति शिवात्मकम् ।
सर्वस्यानुग्रहार्थं च लिङ्गपीठक्रमन्तथा ॥

तथा वायव्ये -

शङ्करः पुरुषास्सर्वे स्त्रियस्सर्वा महेश्वरी ।
सर्वे स्त्रीपुरुषास्तस्मात्तयोरेव च भूतयः ॥

सुप्रभेदे -

लिङ्गेनलाञ्छितं पुंस्त्वं स्त्रीत्वं वै योनिलाञ्च्छितम् ।
लिङ्गमीशमयं प्रोक्तं योनिश्शक्तिमयं भवेत् ॥

तस्माद्द्वे शिवशक्ती तु सर्वमेतच्चराचरम् ।

लिङ्गे शम्भुस्समुत्भूतो नाम्ना सोपि सदाशिवः ॥

पीठे शक्तिस्समुत्भूता नाम्ना सापि मनोन्मनी ।

मकुटे -

लिङ्गे च पीठिकायां च शिवशक्तिसमुद्भवः ।

मतङ्गे -

रूपन्नास्त्यस्य नामादि नास्ति कृत्यं करोति च ।
तथादि योगो भोगो न चिदचिन्नास्त्यतश्शिवम् ॥

सर्वेषां स्वयमेवस्यात्तन्मयो नास्ति यद्यपि ।
इत्यादिम सूत्रं पुर्णम् ॥

p. 1000)

सर्वज्ञाबोधे -

अन्यस्सन्व्याप्तितोनन्यः कर्त्ताकर्म्मानुसारतः ।
करोति संसृतिं पुंसां आज्ञया समवेतया ॥

चिन्त्ये -

यस्य सन्निधिमात्रेण चेष्टन्ते सर्वजन्तवः ।
यस्य सत्भाव मुच्यन्ते त्रैय्यन्ते सकलागमाः ॥

यत्स?माक्षी सुखदुःखानां लोकेस्मिन् सर्ववस्तुनि ।
अणोरणुर्म्महीयांश्च महतो यत्परापरम् ॥

वेदान्तेष्वेक एवेति कथं बहुतयोच्यते ।

उत्तरम् ॥

तेषु कर्त्तैक एवेति साध्यते परमार्थतः ।

वातुलोत्तरे -

शिवस्तु सर्वजन्तूनामक्षराणामकारवत् ।

तथा शुद्धाख्ये -

कला जीव इति ख्यातो विकला देह उच्यते ।

तथा किरणे -

चराचरादि जन्तूनां शिवोसौ प्राणमुच्यते ।

p. 1001)

तं विना प्रसत्येव नाक्षराणामकारवत्।

तथा शुद्धाख्ये -

कलाजीव इति ख्यातो विकलादेह उच्यते।
कला च विकला चैव देहि देहाविति स्मृतौ॥

कलाहीनं तु यद्वर्णं जीवहीनं विनिर्द्दिशेत्।
विभुश्च तत्त्वैरात्मा च प्रत्येकं गणयेत् स्थितिम्॥

पराख्ये -

कर्म्मणा देहसंयोगो विभोरपि महेश्वरात्।
अशक्तत्वात् स्मृतो नास्य सामर्थ्यं कर्म्मयोजने॥

सिद्धान्त सङ्ग्रहे

न कल्प्यौ सुखदुःखाभ्यां धर्म्मा धर्म्मौ परैरिह।
स्वभावेन सुखी दुःखी जनोन्योन्यं न कारणम्॥

पराख्ये -

जलेयदुष्ण गन्धत्वं कार्म्मिकं कृत्यतावशात् ।
देहिनां पुण्यपापाख्यं स्वभावेन शुभाशुभम् ॥

तच्चैतन्यं स्वभावं हि तत्स्वभाव विपर्ययः ।
एकस्यारभ्यते दुःखं सुखानां वापि तज्जडम् ॥

इहलोके यदात्मानम् बह्वर्थोऽस्ति सदा सुखम् ।
नास्ति दुःखादृते पूर्वकृतेनैतत्तथा यदि ॥

p. 1002)

कृत्यन्नकृत्यतोप्यत्र स्वयमेवार्थ सम्भवः ।
सोत्साहेनापि गृह्योर्थस्तस्करेणापि गृह्यते ॥

क्रमादिदं कृतं कृत्यं सुखदुःखादि भुञ्जते ।
तस्मात् पूर्वकृते नैव सर्वदा सर्वतः पशोः ॥

जन्मक्षयं सुखं क्लेशं सुखदुःखादि भुञ्जते ।

त्वार्थकं कर्म्ममारणे -

एतानि स्वस्वकर्म्माणि स्वाधिकारो निवर्त्तते ।
पुरुषे षोडशकले तमाहुरमृताह्वयम् ॥

इति च।

एवमुक्तन्तु षट्कर्म गर्भसाकल्य निश्चयम्।
एवं पूर्वकृतं कर्म्म भोगतोत्र तु गच्छति॥

तथा सुप्रभेदे -

मरणादीनि कर्म्माणि निर्म्मितानीश्वरेण तु।
आयुष्यं विभवं कर्म्म विद्या च निधनं सुखम्॥

षट्कं संपाप्य तत्रैव ततो गर्भाशयं व्रजेत्।

चिन्त्ये -

देहे नैव कृतं कर्म्म देहे नैव गतन्तथा॥

तत्रैव।

देहो हि एतच्चाणूनां क्षयेनात्म कलेवरम्।
प्रारब्धकर्म्मणा चैव पुनः प्रारभ्यते तनुः॥

p. 1003)

अन्यत्र ।

नित्यन्तं च समायुक्तमन्योन्यं वटबीजवत् ।

तथा पराख्ये ।

यथात्मानादिना सिद्धस्सापेक्षा कर्म्मणि स्थितः ।
त्रवाहानादिता चेयमप्युच्छिन्ना भवे भवे ॥

अन्यत्र ॥

बीजाद्वृक्षस्समुत्पन्नो वृक्षाद्बीज समुद्भवः ।

चिन्त्ये -

अत्र सञ्चय सम्भोगः पूर्वजन्मान्तरे विधिः ।
क्वचेत्प्रयोजनं पश्चाद्धिते नैव वरानने ॥

तथैव पूर्वञ्चेतश्चेत् तत्क्रमेण पुनर्भवः ।
यथा धान्यादि सम्भुक्तिः प्रारब्धञ्जन बीजवत् ॥

तथैवात्र हि जायन्ते जन्तवः पूर्वकर्म्मणा ।

तत्रैव ।

क्रिया विना न युज्यन्ते देही तास्ताः प्रवृत्तयः ।
पुण्यपापात्मिका जाता जन्मान्तर फलाङ्कुराः ।
एतत् पूर्वकरं ज्ञेयं भवस्या गामिनः किल ॥

जायेते पुण्यपापौ तौ मनोवाक्काय कर्म्मभिः ।
एवमुक्तन्तु सर्वेषां योजकः कर्त्तुराज्ञया ॥

स्वायम्भुवे -

कर्म्मतद्द्विविधं प्रोक्तन्धर्म्मा धर्म्मात्मकं पशोः ।
आभोगस्थायि तद्विद्यात् फलद्वयविरोधि च ॥

p. 1004)

धत्ते लोकानिमान् सर्वान् प्रीतिं च पुरुषस्तदा ।
धर्म्मस्तेनोच्यते तज्ज्ञैर * * * स्तद्विपर्ययात् ॥

वायव्य संहितायाम् -

अनादिकर्म्म वैचित्र्यमपिनात्र निवारकम् ।
करणं खलुकर्म्मापि भवेदीश्वर कारितम् ॥

चिन्त्ये -

महादुःखानि पापानि कारुण्यः परमश्शिवः ।
पशूनां युज्यते कस्मात् तदतो वदमे प्रभो ॥

उत्तरम् ।

व्यापकस्य * * * * तत्कृत्यमात्मकृपै ।
* * * * * * * * पात्मनां कुर्यान्निग्रहन्तदनुग्रहम् ॥

वायव्ये -

सर्वानुग्राहकं प्राहुश्शिवं परमकारणम् ।
सति गृण्हाति देवादीन् सर्वानुग्राहकः कथम् ॥

चिच्छेद बहुशो द्वेत्रो ब्रह्म * * * * * * ।
* * * * * * * * * * * * * * * * ।

* * * * * * * * पद्यामाक्रम्य हृदयन्नखैः खैः ।
सर्वं शिवोनुगृह्णाति न निगृण्हाति कञ्चन ॥

अनिगृहीता ये दोषाश्शिवस्तेषामसम्भवात् ।

ये पुनर्न्निग्रहाः केचित् ब्रह्मादिषु च दर्शिताः ॥

p. 1005)

देवलोकहितायैव कृताश्श्रीकण्ठ मूर्त्तिना ॥

कारणे -

तत्वतो निग्रहस्तस्य कर्त्तुः कारुण्यमेव हि ।
शिश्रन्मातापिता चेति लोकेस्मिन् शिक्षणीयवत् ॥

सर्वमतोपन्यासे -

ज्योतिष्टोमाद्यनुष्ठानाद पूर्वं कर्म्मणार्जितम् ।
स्वर्गादिः फलरूपस्य देवता न कृ देवता ॥

कर्म्ममीमांसकाः प्राहरित्थं स्वमतलक्षणम् ।

कामिके -

यज्ञादिकर्म्मणां चैव जीवानान्तु फलप्रदम् ।
औषधादि प्रयोगश्च दृष्टवत्फलसाधकः ॥

एतादृशास्तु ये तेषां कर्तृता किं प्रयोजनम् ।

सर्वमतोपन्यासे । कामिके -

तथा तत्कार्य दृष्टं चेद्यज्ञ कर्म्मफलादिकम् ।
पश्चात् प्रयोजनोक्तं च गुदयुत् मलवत्ततः ॥

कामिके -

द्रव्यादृते पदार्थानि दानकृत्फलयेत्ततः ।
जले च पात्रे चाग्नौ च कृतं कर्म्मफलं मुने ॥

इह लोकेपि विद्यन्ते परकोकेपि विद्यते ।

कामिके -

p. 1008)

स्वयं कृतं स्वयं वेद्यं ततो भुञ्जीत चेत्स्वतः ॥

भूमौ नरकनाकेषु कुरुतेति किं गतागतम् ।
तस्मिन् क्वचिदपि प्रोक्तं महौद इतरेतरम् ॥

कामिके -

सर्वं चात्र गतो नाशं फलन्दृश्यं पुनर्भवेत् ।
योजकस्स महेशान औषधादीनि वैद्यवत् ॥

कामिके -

लोकादेहार्थ करणात् कालान्नियति कर्म्माणि ।
किंचित् ज्ञात्वा जडंकर्म्म शिवज्ञातो नियोजयेत् ॥

सुशीलश्च कृपा चैव साचारश्चोपचारकः ।
तपश्शिला धर्म्म इष्टो नमस्कारादि सम्युतः ॥

योसौ विनिर्म्मल ज्ञानं शिवस्यानुग्रहं भवेत् ।
शिवस्संपूज्यते योसौ मनोवाक्काय कर्मभिः ॥

इष्टकाम्य फलं लब्ध्वा पश्चान्मोक्षमवाप्नुयात् ।
यत्र चाराध्यते येन तत्र वा देवतायताः ॥

निरामयोर्धनारीशो यो वासौ सन्निधिर्भवेत् ।

सर्वस्रोतस्सारसङ्ग्रहे -

येन येन हि रूपेण साधकस्संस्मरेत् सदा ।
तस्य तन्मयतां याति चिन्तामणिरिवेश्वरः ॥

p.1007)

तस्य तन्मयतां याति चिन्तामणिरिवेश्वरः।

कामिके -

प्रतिमाद्योपि पूज्यो सा वेवातोमनुजा भवेत्।
ब्रह्मादिभिस्त्रियस्त्रिंशत्कोटि देवैर्म्महर्षिभिः॥

सर्वेषां वास्तु देवानां फलन्दद्यान्महेश्वरः।
तस्मान् महेश्वरो नित्यं पूजनीयः फलार्थिभिः॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

स्थावरं जङ्गमश्चेति लिङ्गद्वयमुदाहृतम्।
स्थावरं स्थापितं लिङ्गं दीक्षितं जङ्गमं विदुः॥

जङ्गमस्यावमानेन स्थावरन्निष्फलं भवेत्।
तस्माल्लिङ्गद्वयं प्राज्ञो वा वमन्येत सर्वदा॥

कृतावमानतो मोहात् स पशुर्न्नात्र संशयः।

तथा चिन्त्य विश्वसादाख्ये -

स्थावरं जङ्गमश्चेति द्विविधं शिवपूजनम्।

लिङ्गादि पूजनन्तत्र स्थावरन्नन्दिकेश्वर ॥

लिङ्गिनां पूजनन्तत्र जङ्गमाराधनं भवेत् ।
पूजाकालेपि सान्निध्यं स्थावरे शिवतेजसि ॥

जङ्गमे सार्वकालं च सान्निध्यं कुरुते शिवः ।
जङ्गमस्यावमानेन स्थावरो निष्फलं भवेत् ॥

p. 1008)

दीक्षा * * * * * स्तु जातीनां दीक्षितस्य विशेषतः ।
जाति भेदविशेषोस्ति दीक्षितानान्तु सर्वदा ॥

वागीशि गर्भजातत्वात् शिवत्वाच्छिव पुत्रकः ।
तस्या पत्यत्व सिद्धित्वाच्छैव मित्यभिधीयते ॥

स्कान्दे ईश्वरः -

मन्निमित्त कृतं पापं अपि धर्म्माय कल्प्यते ।
मामनादृत्य * * * * म्र्मापि पापस्यात् प्रत्यवायकृत् ॥

ब्रह्माण्डपुराने -

दक्षयज्ञे शिरश्छिन्नो मयातो यज्ञरूपिणा ।

तथा वायव्ये -

कृत्वापि सुमहापापं भक्त्या यजति यश्शिवम् ।
मुच्यते पातकैस्सर्वैर्नात्र कार्या विचारणा ॥

तन्त्रसारे -

शिववाक्य प्रमाणस्थो मोक्षस्यान्नरकेतरः ।

तथा स्कान्दे -

मदाग्रमेषु ये सक्ताश्चर्या योगक्रिया पराः ।
सा रूप्यादधिका मुक्तिस्तेषां सिध्येन्न संशयः ॥

ये वैदिकाः पुनर्यागान्निष्कामाः कुरुते द्विजाः ।
त्रियधामप्य कुर्वन्ति मूर्त्ति * * * * * * * * ॥

p. 1009)

* * * * * * * * स्तेनात्र संशयः ।

कामिके -

राजाज्ञया यथा लोके क्रमात्कृत्यं करोति सः ।

बहुधैश्वर्यमाप्नोति दण्डसाध्यो विपर्यये ॥

स्कान्दे

वेदागम प्रसिद्धेषु येन तिष्ठन्ति पापिनः ।
चतुर्विधे * * * * * * * * * * * * * ॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

पारदारिक चोराणामन्याय व्यवहारिणाम् ।
नृपतिश्शासकस्तेषां प्रच्छन्नानान्तु धर्म्मराट् ॥

गुरुरात्मवतां शास्ताशास्ता राजादुरात्मनाम् ।
इह प्रच्छन्न पापानां राजा वै * * * व्याधितो द्विषट् ।
कर्तृ कृत्यन्तथा पश्येत् पक्षापक्षन्नतत्तथा ॥

वायव्ये -

एवं स्वभावमलिनान् स्वभावाद्दुःखिनः पशून् ।
स्वाज्ञौषध विधानेन दुःखान्मोचयते शिवः ॥

संसारस्येश्व * * * * * * * * * * ।
* * * * * * * * * सर्वतत्वार्थ दर्शिभिः ॥

p. 1010)

शिवधर्म्मोत्तरे -

वैद्यान्विना निराक्रान्ताः क्लिश्यन्ते रोगिणो यथा ।

शिवं विना जगत्तद्वन्निरा क्रन्दत्सदा भवेत् ॥

व्याधीनां भेषजं यद्वत् प्रतिपक्षश्शिव स्म्रृतः ।

तस्मादना * * * * * * * * * * * * ॥

* भुक्तं क्षीयते कर्म्मकल्पकोटिशतैरपि ।

मृगेन्द्रे -

यथा क्षारादिना वैद्यस्तुदन्नपि न रोगिणः ।

कोटाविष्टार्थदायित्वाद्दुःखहेतुः प्रतीयते ॥

तथा वायव्ये -

नितरांज्ञो यथा वैद्यो * * * * * ।

* * * * जैस्तद्वल्लय भोगाधिकारकः ।

निदानज्ञस्य भिषजो रसान्मृगेण प्रयुञ्जतः ॥

न किञ्चिदपि नैर्घृण्यं घ्राणैर्वात्र प्रयोजकः ।

कारणे -

स्थूलेषु सूक्ष्मदेहेषु योनि भेदेषु कर्म्मतः।
स्थित्वा सर्वत्र भु * * * * * * * * * * * * * * ॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

अथ नारकिनां पुंसांमधर्म्मादेव केवलात्।

p. 1011)

क्षणमात्रेण भूतेभ्यश्शरीरमुपपद्यते।
तद्वद्धर्म्मेण चैकेन देवानां चोपपादिनः॥

सद्यः प्रजायते दिव्यं शरीरं भूतसारतः।
कर्म्मणा यदि मिश्रेण सच्छरीरं महात्मनः॥

तत्भूत परिनामेन विज्ञेयं हि चतुर्विधम्।

मतङ्गे

ध्वस्ते पञ्चात्मके देहे सति पुर्यष्टके पशोः।
शक्यते घटितं भूतैर्न्नान्यथा तु कदाचन॥

ततस्तृण जलूकेव देहाद्देहं विशेत्क्रमात् ।
अप्याप्योत्तरमंशेन देहन्त्यजति पूर्वकम् ॥

तथा चिन्त्ये -

देहिनां पुण्यपापेभ्यो देहमारभ्यते पुरा ।
यथा जीर्णानि वस्त्राणि त्यक्त्वा वस्त्रन्नवं वसेत् ॥

तथा देहं परित्यक्त्वा देहान्तरमवाप्नुयात् ।

निश्वासे -

सुकृते कर्म्मवो कृत्वे दुष्कृते च तथैव च ।
पुर्यष्टके युतोह्यात्मा वायु भूते व्यवस्थितः ॥

विद्यमानेपि तद्देहे प्रत्यक्षन्न च दृश्यते ।

कारणे -

p. 1012)

पशूनां स्थूलसूक्ष्मश्च पन्नगाश्चाण्डजाश्चये ।
योनि भेदाश्च योगेन परकाय प्रवेशवत् ॥

स्वप्नादिवद्विद्यात् भिद्यतेषु च विद्यते ।
कर्म्मतद्द्विविधं प्रोक्तं धर्म्मा धर्म्मात्मकं पशोः ॥

समासात्रिमलाख्येषु इति कामिकमुच्यते ।
इति प्रोक्तमनाद्येतत् कर्त्ता राज्ञेति भुञ्जतः ॥

किरणे -

यथा नादिमलन्तस्य कर्म्माप्येव मनादिकम् ।

स्वायम्भुवे -

कर्म्मतश्च शरीराणि विषयाः करणानि च ।
कर्म्मतस्सर्वमेवेदं सुखदुःखात्मकं फलम् ॥

तथा सर्वज्ञानोत्तरे

कर्म्मणा तु शरीराणि भवेत्कर्म्मोदयो भवेत् ।
पूर्वोर्ज्झित कर्म्माणां भावस्संयोगकारकः ॥

कारणे -

चराचराख्य जन्तूनां योनि भेदाश्च कर्म्मतः ।

एतादृशे सदाभिन्नं लाञ्छितं विद्यते न हि ॥

भूमौ धर्म्मार्जनं स्पष्टं भुंक्ते नैव च मानुषः ।
अतस्तथैव देवाश्च लाञ्च्छितं भिद्यते यतः ॥

p. 1013)

तथा भारते -

पशवोपि तथा देहा देवाश्च पशवस्तथा ।
भ्रमत्भ्रमरकीटात्मा कीटोपि भ्रमरायते ॥

तथा कारणे

दृष्टवद्भिद्यते लोकः कोष्ठात्क्रामि क्रमिर्यथा ।

रामायणे -

तस्यान्तरं विदित्वाथ सहस्राक्षश्शचीपतिः ।
मुनिवेषधरोहल्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥

ऋतुकालं प्रतीक्षन्ते नार्थिनस्सुसमाहिते ।
सङ्गमन्त्वहमिच्छामि त्वया सह सुमध्यमे ॥

मुनिवेष * * * * सहस्राक्ष * * * * धुनन्दन ।
मतिं च कार * * * * * * * * * कुतूहलात् ॥

अथा ब्रवीत्सुरश्रेष्ठं कृतार्थेनान्तरात्मना ।
कृतार्थोसि सुरश्रेष्ठ गच्छशीघ्रमितः प्रभो ॥

आत्मानं मांच देवेश सर्वथा रक्षमानद ।
इन्द्रस्तु प्रसहन्वाक्यमहल्यामिदमब्रवीत् ॥

सुश्रोणि परितुष्टोस्मि गमिष्यामि यथा गतम् ।
इत्येवं सान्त्वयन्शक्रो निश्चक्राम ग्रहात्तदा ॥

संभ्रमात्त्वरयन्यम शङ्कितो गौतमं प्रति ।

p. 1014)

गौतमं सन्ददर्शाथ प्रविशन्तं महामुनिम् ।
गृहीत समिधन्तत्र सकुशं मुनिपुङ्गवम् ॥

अथ दृष्ट्वा सहस्राक्षं मुनिवेषधरं मुनिः ।
ममरूपं समास्थाय कृतवानसि दुर्म्मते ॥

अकर्तव्यमिदं यस्माद्विफलस्त्वमिदं भविष्यसि ।

गौतमे नैव मुक्तस्तु सरोषेण महात्मना ॥

इह वर्षसहस्राणि बहूनित्वन्निवत्स्यसि ।
वायु भक्षानिराहारा तप्यन्त्यश्मशरीरिणी ॥

स्कान्दे -

नारसिंहादिभिर्देहैः कुत्सितैस्तामसैस्तथा ।
अनेक दुःखबहुलैरभवच्छापतोहरेः ॥

इत्युक्तो भृगुणा कृष्णो वेपमानश्चराञ्चितः ।

तदुक्तं कामिके -

मत्स्य कूर्म्म वराहश्च नारसिंहश्च वामनः ।
रामो रामश्च रामश्च कृष्णश्चाश्वमुखस्तथा ॥

स्कान्दे सनत्कुमार संहितायाम् -

वेदारण्ये शिवस्याग्रे तूषो दीपं व्यबोधयत् ।
महाबलिस्समभवत् त्रैलोक्याधिपतिर्द्विजाः ॥

p. 1015)

कारणे

सर्वं च कर्म्मतस्तस्मादिति प्रोक्ता मया पुरा।

शिवधर्म्मोत्तरे -

स्थावरा विविधाकारास्तृण गुल्मादि भेदतः।
एवं योनिषु सर्वासु परिक्रम्य क्रमेण तु॥

कालान्तरवशाद्यान्ति मानुष्यमतिदुर्ल्लभम्।

पराख्ये -

पशुत्वरुद्ध?चिच्छक्ते स्वातन्त्र्यन्न पशोरतः।
कर्म्मचित्रं हि तत्तस्माद्योगजन्तदपेक्षते॥

योगजस्समहेशान स्वेच्छया बलवान्यतः।

तथा मतङ्गे -

कर्म्मणश्चाप्य चैतन्यात् प्राधान्यान्वेषतो मुने।
जगदेतत् समस्तं स्यात् कर्म्मकर्तृवशाद्ध्रुवम्॥

कर्म्मणः करणं कर्ता स पुमानत्र कीर्तितः।

कचांक पाश्च सर्वेषां मकुटाद्याश्च हेमवत् ॥

मारेवस्यादुपादानं सर्वं तत्कर्त्तुराज्ञया ।

मृगेन्द्रे -

तदा धाराणि कार्याणि शक्तिरूपाणि संहृतौ ।

तथा रौरवे -

p. 1016)

सूक्ष्ममायैक देशेन पतीच्छानुविधायिनी ।
श * * * * * * * * * * * * * * प्रपद्यते ॥

द्वे व्यक्तिर्भवतस्तस्य युगपत्सृष्टिमिच्छया ।
व्यापृतौ व्यक्तिरूपाणि व्याप्रियन्तेर्थ सिद्धये ॥

किरणे -

तत्कार्यकारिकाशक्तिः क्रियाख्या सूक्ष्मरूपिणी ।
स्थूल कार्यस्य सूक्ष्मापि स्थिता न्यग्रो * * * * * ॥

* * * * * * * * मूलं महान्तस्य मोहिनी ।
सर्वेषां बिन्दूपादानानं शक्तिश्शिवमतः परम् ॥

आत्मा यदा श्रयेत् ब्रह्म सर्वोपाधि विवर्जितः।

किरणे -

कर्त्तुः कृत्यं च कारुण्यमिति प्रोक्तं मया पुरा।
मुक्त्यर्थं स पशुर्बन्धो ना * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * तो न भोगभुक्।
तत्कथन्देह संश्लेषो मनिवर्जित उच्यते॥

उत्तरम् -

यथा वस्त्रं स दोषत्वान्मलान्तस्थं विशुध्यति।
शुध्यर्थम् पुद्गलो बद्धो मायोदरगतोपि सन्॥

p. 1017)

स्वायम्भुवे -

माया तत्वज्ञात् * * * * * * * * * * *।
* * * * * * * * नाद्यमव्ययमीश्वरम्॥

मतङ्गे -

क्षोभितेनन्न नाथेन ग्रन्थिम्मार्यात्मको यदा ।
तदा स्वेन विकारेण तनोति विपुलञ्जगत् ॥

साक्षान्नाया समुत्पन्ना कालाख्यन्नियतिः कला ।

सुप्रभेदे -

त्रिविधं कालमा * * * * * * * * * * ।
* * * * * * कालं संहारञ्चेति कीर्तितम् ॥

प्राणिनां चैव देवानां विनाशोत्पत्तिकारणम् ।
कलाश्च कुरुते यस्मात्तस्मादेवमुदाहृतम् ॥

पौष्करे -

कर्म्मणामार्जितानान्तु फलोपहरणे सति ।
तद्विनाशे * * * * * * * * * * * * * * * * ॥

मृगेन्द्रे -

प्रकाशयत्येकदेशं विदार्य तिमिरं घनम् ।
प्रोत्सारणं प्रेरणं सा कुर्वीत तमसः कला ॥

तत्वं विद्याख्यमसृजत् करणं परमात्मनः ।

p. 1018)

तेन प्रकाशरूपेण ज्ञानशक्तिः प्रबोधिता ।
स * * * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * व्यक्त चिच्छक्ति दृष्टार्थोप्यपिपासतः ॥

तैरेति जनकं रागं तस्मादेवा सृजत्प्रभुः ।

चिन्त्यविश्वे -

पुरुषस्य प्रवृत्तेश्च निवृत्तेरपि सर्वदा ।
सामान्य हेतुरित्युक्तो रागतत्वस्यलक्षणम् ॥

मत * * * * * * * * * * * * * * * * ।
भौक्तेत्येवं पुमान्प्रोक्तो भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ॥

युक्तस्तन्मयतामेति यतोयं स स्थितः प्रभुः ।
तत्तत्वं तत्वसन्ताने पुमाख्यं परिकीर्तितम् ॥

तत्रैव ।

अथ पुंस्तत्वनिर्देशं स्वा * * * * * * * ।
* * * * * * * * * * पुरुषाह्वयम् ॥

मृगेन्द्रे -

ततः प्राधानिकन्तत्वं कलातत्वादजीजिनत् ।
सप्तग्रन्थिनिधानस्य यत्तद्गौनस्य कारणम् ॥

ततो बुद्धिरुपादानं गुणं सत्वरजस्तमः ।
तद्वृत्तयः प्रकाशाद्याः प्रवृद्धा * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * योगतः ।

p. 1019)

एकैक श्रुतिरेतेषां प्रत्याधिक्य निबन्धना ।
न तदस्ति जगत्यस्मिन्वस्तु किंचिदचेतनम् ॥

यन्न व्याप्तं गुणैर्यस्मिन्नैको व्यामिश्रको गुणः ।

सुप्रभेदे -

बोध्यत्वात् बुद्धिरेषा * * * * * * * * * ।

* * * * * पराबुद्धिरभवन्मुनिपुङ्गवाः ॥

रजस्तमोभ्यान्यक् भूतावृत्तिस्सत्वेन चोत्कटा ।
सा बुद्धिरुदितातन्त्रे विषयाध्यवसायिनी ॥

मृगेन्द्रे -

बुद्धितत्वन्ततो नानाभाव प्रत्ययलक्षणम् ।
परन्तदात्मनो बुद्धे * * * * * * * * ॥

* * * * * व्यक्तान्तरे बुद्धेर्गर्वोत्करणश्चितः ।

चिन्त्य विश्वे -

अहं वादि च सर्वं च करोति प्रबलोस्म्यहम् ।
एवं जीवन संरम्भ गर्वरूपमिति त्रिधा ॥

स एव सात्विकं चापि विराडाख्यस्तु तामसः ।
तैजसं वै * * * * * * * * * * * * ॥

सुप्रभेदे -

मनश्च द्विविधं प्रोक्तं चलाचलमिति स्मृतम् ।

p. 1020)

मतङ्गे -

द्वे द्वे कोटिमनस्सिद्धे शुद्धाशुद्धा च साधने ।
सङ्कल्पेन सरागेण स्फुरद्वीर्येण वेगतः ॥

विनिष्क्रम्याक्षमार्गेण प्रोतयित्वा तदिन्द्रियम् ।
अ * * * * * * * * * * * श्च निवर्त्तते ॥

चिन्त्यविश्वे -

वैकारिकादहंकारादिन्द्रियाणि भवन्ति वै ।

पराख्ये -

श्रोत्रन्त्वक् दृक्क जिह्वा च नासिका च मनोगणम् ।
शब्दैक ग्राहकंश्रोत्रं कर्णशष्कुलिकासनम् ॥

खरोष्ण मृदुशीतात्मा * * * * * * * * * ।
रूपानुवेदनञ्चक्षुर्जातुर्गोलकसंश्रयम् ॥

कट्व?म्लादि रसज्ञानञ्जिह्वाग्ररसनाश्रयम् ।
गन्धं गृण्हाति तत्प्राणं येन गन्धो न तन्यते ॥

चक्षुश्श्रोत्रं च गृह्णाति गत्वान्यत्र यमागतम् ।
वाणी पाणिर्भगः पायुः पादः कर्म्माख्यपञ्चकम् ॥

संस्कृते तरभाषा च वक्तिवाग्रसनाश्रया ।
ग्रहणं मोक्षणं यस्माद्धस्तेन्द्रिय निमित्तजम् ॥

आनन्दो यो भवेदस्मिन्नोपस्थेन विना भवेत् ।

p. 1021)

बन्धोत्सर्गोमरुच्चेष्टा पारिवन्द्रिय निमित्तजम् ।
बाह्याभ्यन्तर सङ्कल्पो भवेन्नमन सा विना ॥

लङ्घनोत्प्लुतिवेगादि चिह्नं पादेन्द्रियानुगम् ।
देहे सर्वत्र कर्म्माक्ष व्याप्तं यत्तत्त्वगिन्द्रियम् ॥

पौष्करे -

कर्म्मात्र समवेता या क्रिया सक्ता हि पुत्गले ।
तदभिव्यञ्जकं यत्तत् कर्म्मेन्द्रियमिति स्मृतम् ॥

तथान्यत्र ।

ज्ञानक्रियात्मशक्तिर्या सा पुद्गल समाश्रिता ।
सैव संलक्ष्यते शक्तिर्बुद्धिकर्म्मेन्द्रियात्मकैः ॥

चिन्त्यविश्वे -

बुद्धिन्द्रियस्य कर्म्माख्या बाह्याख्य करणाख्यकम् ।
शब्दादि वचनादिश्च बाह्यसूक्ष्माख्यमेव हि ॥

करणार्थो समर्थत्वात्कार्यं संश्रुत्यतद्वति ।

तत्रैव ।

तत्र विद्यात्मनो भोक्त्या बुद्धि संज्ञाभवत्तदा ॥

शब्दादि विषयांश्चापि यदा गृह्णाति चेतना ।
सैषा हि करणाख्यं स्याद्विद्यातत्वन्द्विधा भवेत् ॥

क्षीरस्य तक्रसंयोगाद्दधिनाम यथा भवेत् ।
क्षीरात्मत्वन्दधित्वन्तु नाम द्वित्वं यथा भवेत् ॥

p. 1029)

तत्त्वं विद्यैव बुद्धि स्यात् करणं च तथैव च।

मृगेन्द्रे -

* * * * * ध निमित्तं हि विद्यया व्यतिरिच्यते।

रागोपि सत्यवैराग्यम् कलायोनिः करोतिकम्॥

पराख्ये -

करणं करणापेशया?जाविभकरास्त्रवत्।

किरणे -

माया विरहि यत्प्रोक्तं कलाद्यव * * * *।

* * * * चलः प्रोक्तंस्सूक्ष्म * * * * * या॥

मृगेन्द्रे -

शब्दस्पर्शश्च रूपञ्च रसोगन्धश्च पञ्चमः।

गुणैर्विशिष्टास्तन्मात्रा स्तन्मात्र पदयोजिताः॥

प्रकाशकर्म्म कृद्वर्ग वै लक्षण्यात्तमो भवः।

प्रकाश्यत्वाच्च भूतादिरहङ्कारस्तु तामसः॥

कालोत्तरे -

शब्दस्पर्श च रूपं च रसोगन्धश्च पञ्चकम्।
बुद्धिर्म्मनस्त्वहंकारः पुर्यष्टकमुदाहृतम्॥

पौष्करे -

महाभूतानि जायन्ते क्रमात्तन्मात्र पञ्चकात्।

p. 1023)

सुप्रभेदे -

आकाशस्य गुणश्शब्दो वायोस्तु स्पर्श * * * *।
तेजसस्तु गुणं रूपं रसमापो गुणं स्मृतम्॥

पृथिव्यास्तु गुणं गन्धं व्योम्निखादीनि विन्यसेत्।
विषयन्त्विति विख्यातं भूतानां गुणमुच्यते॥

कामिके -

शब्दैकगुणमांकाशं स्पर्शशब्दगुणं मरुत्।
शब्दस्पर्शरूपगुणः कृशानुः परिकीर्त्तितः॥

शब्दस्पर्शरूप रसगुणमम्भः प्रकीर्तितम्।

शब्दस्पर्श रूपरसगन्धयुक्ता वसुन्धरा ॥

एतावद्दशध कार्यं शरीरं सर्वदेहिनाम् ।

कामिके -

अवकाश प्रदं व्योम व्यूहाख्यं मारुतक्रिया ।
पावकस्य क्रिया पाकोवापस्सङ्ग्रहण क्रिया ॥

पृथिव्या धारणं कर्म्म भूतव्यापार ईरितः ।

चिन्त्ये -

पृथ्वी स्वभावं कठिनं रूपन्तु चतुरश्रकम् ।
वर्णं स्वर्ण समाख्यातं क्ष्माकृत्यमितीरितम् ॥

वज्रलाञ्छनमित्युक्तं देवो ब्रह्मेति कथ्यते ।

p. 1024)

लकारं बीजमित्युक्तन्निवृत्तिश्च कलामयम् ।
संयुक्तं सद्यमन्त्रेण गदितः पृथिवी गुणः ॥

द्रवमात्रस्ततो बिन्दुर्विशेषं पूर्वमुच्यते ।

स्वरूपन्दुरितं प्रोक्तन्त्रियक्षं रूपकन्तथा ॥

रूपकं वामचन्द्रस्य श्वेतवर्णमथोच्यते ।
तस्य कृत्यं निपातं * ** * * * * * ञ्च्छितम् ॥

पुरुषोत्तम दैवं च वकारं बीजमुच्यते ।
संयुक्तं वाममन्त्रेण प्रतिष्ठारूपतागतम् ॥

आप्यलक्षणमित्युक्तं वह्निभूतमतश्शृणु ।
विशेषं महतः प्रोक्तं मौक्तिकत्वं स्वरूपयुक् ॥

स्वभाव * * * * * * * * रूपमुच्यते ।
वर्णं रक्तमिति ख्यातं कृत्यन्दहनमुच्यते ॥

स्वस्तिकं लाञ्छितं ज्ञेयं रकारं बीजमुच्यते ।
अघोरेणापि रुद्रश्च विद्यारूपन्निवासयेत् ॥

वह्निलक्षणमित्युक्तं वायु भूतमथशृणु ।
* * * * * * * * चलनन्तथा ॥

स्वभावं भेदमित्युक्तं षडश्रं रूपमेव च ।
वर्णं कृष्णमिति ख्यातं तत्कृत्यं सम्पूटी भवेत् ॥

लाञ्छितं बिन्दुभिष्षड्भिर्युक्तन्दैवतमीश्वरम् ।

p. 1025)

यं बीजेन समायुक्तमथ शान्तिकलामयम् ।
* * * * * * * * * * * * लक्षणम् ॥

अतिसूक्ष्मं विशेषोक्तं स्वरूप स्थितिरेव च ।
स्वरूपं च निरालम्बं वृत्ताकारं च रूपकम् ॥

वर्णन्धूम्रमिति ख्यातं कृत्यं सर्वलयोच्यते ।
लाञ्छितं चामृतं बिन्दुरधिदैवस्स * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * * यम् ।
ईशानमन्त्रेण युतमित्युक्तं व्योमलक्षणम् ॥

एकादश प्रकारेण समासाल्लक्षणोच्यते ।

चिन्त्यविश्वे -

इति षट्त्रिंशत्तत्वानामुत्पत्ति क्रमनिर्णयः ॥

शिवशक्तिश्च सादाख्यमी * * * * * ।
* * * * * * * * * * नयान्वयः ॥

चिद्रूपया पराशक्त्या विग्रहन्तन्मयं भवेत् ।

तस्माच्चिद्रूप संज्ञाख्यं पञ्चानां शुद्धवाचकम् ।
मायादि सप्तरागान्तं मलव्यापकमात्मनाम् ॥

तद्वन्मलानां संव्याप्य मव्यक्तादि * * * * ।
* * * * * * * * * * * * * यैव च ॥

p. 1026)

रागः पुरुष इत्येवं सप्तानां मिश्रतत्वकम् ।
नात्मवच्छेष षट्कानां मायाया च यिदा सह ॥

मलव्यापक सम्बन्धा शुद्धाशुद्ध समन्वितम् ।
अव्यक्तमहंकारं बुद्धिं चापि मनस्तथा ॥

बुद्धिन्द्रियं च कर्म्माख्यञ्चतुर्द्दशमुदीरितम् ।
गुणत्रयैस्सखाद्यैश्च त्रित्रिभिश्चान्वितस्सदा ॥

आपश्च ज्ञानसम्बन्धं प्रतिकूलन्तथैव च ।

विचित्रज्ञान संश्रयः। चिन्त्ये -

अथ तत्व समूहं च त्रिविधं शृणु पार्वति।
चतुर्विंशदणूनां च अशुद्धं भोग्यकाण्डकम्॥

आत्मतत्वमिति ख्यातं विद्या तत्वमथ शृणु।
तत्र मिश्रमतत्वं च भोगकाण्डन्तु सप्तकम्॥

शुद्धविद्येश सादाख्यं शक्तिश्शिवमिति स्मृतम्।
प्रेरकं शुद्धतत्वाख्यं स्वतन्त्रं शिवविग्रहम्॥

तथा।

अशुद्धं च चतुर्विंशच्छुद्धाशुद्धं च सप्तधा।
नित्यशुद्धं च पञ्चैते षड्त्रिंशत्तत्वरूपकम्॥

मतङ्गे -

तत्वं वस्तु स्वरूपं स्यात् स्वधर्म्मं प्रकटात्मकम्।
तत्वं वस्तु पदं त्यक्तं स्फुटमाम्नायदर्शनात्॥

p. 1027)

यद्च्युत स्वका वृत्तात्ततश्चात्म वशङ्गगत्।
तत्वमन्येन वा नस्यात्तत्तत्वं तत्वसन्ततौ ॥

शुद्धाख्ये -

तत्वन्तु त्रिविधं ज्ञेयं तस्य भेदमथ शृणु।
शिवस्सदाशिवश्चैव महेश स्त्रिविध स्मृतः ॥

चिन्त्ये -

स्थूल सूक्ष्मपरञ्चेति त्रिविधन्तत्वमेव हि।

चिन्त्यविश्वे -

पृथिव्यायात्म तत्वान्तमात्मतत्वमुदीरितम्।
विद्यातत्वादि शक्त्यन्तं विद्यातत्वमुदीरितम्॥

तस्योर्ध्वं शिवतत्वन्तु तत्वत्रयमुदाहृतम्।

चिन्त्ये -

एवं सर्वक्रमेणैव सर्वतत्वं त्रये लयेत्।
पारिशेष्यं च द्वौचाख्या कुटिलायान्तथैव च ॥

पौष्करे -

उपसंहार एष्टव्यः कार्य कारण भावतः।
यस्य कार्योपसंहायदादौ कारण संहतिः॥

वातुलोत्तरे -

समयास्तद्वहिश्चैव षट्त्रिंशत्तत्वत स्थिताः।

p. 1028)

यथार्थतस्सदेवो हि तत्वातीतः परश्शिवः।

तथा सर्वमतोपन्यासे -

सर्वेषां समयस्थानां मुक्तिमादौ विवक्षुणा।
यदविज्ञानमात्रेण गुरुणाशेषवेदिना॥

पौष्करे

दशैव सिद्धयः प्रोक्ता दर्शनान्तर भेदतः।
भूतमात्राक्षयोश्चैव मनोहंकार बुद्धिषु॥

गुणाव्यक्तनतेष्वेवं ज्ञानसिद्धात्मकं मतम्।

तथा त्रिलोचनशिवाचार्यैस्सिद्धान्त रहस्ये -

चार्वाकाः कौलिका ज्योतिश्शास्त्रज्ञाश्चैव भौतिकाः।
तन्मात्रसिद्धास्मार्ताश्च चक्षुरादीन्द्रियं परे॥

वैशेषिकास्त्वहंकारे गुणेषु न्याय वादिनः।
बुद्धितत्वे स्थिता बौद्धा गुणेष्वार्हता स्थिताः॥

प्रकृतौ पाञ्चरात्रज्ञो मन्यन्ते प्रकृतिं हरिम्।
वेदान्तज्ञाश्च सांख्याश्च यो * * * * * * ॥

* * * * पराकाष्ठा आश्रमस्यायमन्तिमा।

मृगेन्द्रे -

इत्याद्यज्ञानमूढानां मतमाश्रित्य दुर्धियः।
अपवर्गमभीप्सन्ति खद्योतात्पावकार्थिनः॥

p. 1029)

पौष्करे -

पुरुषोपरि यत्तत्वं शिवतत्वैकगोचरम्।
पुंसां तन्निष्ठता * * * * * * * * * * ॥

* * * * * * * पतिना बोधयत्यणून्।
शिवदीक्षादिनोद्भूतममलं सर्वतो मुखम्॥

शिवत्वोन्मीलनं ज्ञानं शिवशक्त्यात्मकं भवेत्।
श्रेयः प्रकाशकं शैवे न तु बुद्धि प्रकाशके॥

सिद्धान्तरहस्ये -

पाशुपतास्तु * * * * * * * * * * * * ।
* * * * * * * * शिवतत्वे परे स्थिताः॥

किंच रौरववृत्तिविवेके -

शक्तितत्वे तदद्वैता मुक्तिमिच्छन्ति ये स्थिताः।
विद्येश तत्वे पूर्वे तत् प्रेर्यमीश्वरमावयोः॥

मन्त्रेभ्यश्शुद्धविद्यायां सर्वज्ञत्वमनीश्वरम्।
मायायां * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * * * भेदेन शुद्धोयं पशुदकृतः।

ज्ञानरत्नावल्याम् -

पश्चार्ध कालवक्त्रा नाम मायायामधरे पुटे ।
मुक्तिरुक्ताद्द्वयो स्थाने लाकुले क्षेत्ररुद्रयोः ॥

p. 1030)

ऊर्ध्व संपुटके देशे मूतिरुक्ता * * * * ममुच्चये ।
* * * * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * समुच्चये ।
मतानां भेदमाहृत्य विस्तरेण प्रभाषितम् ॥

वातुलोत्तरे -

बिन्दुनादश्शिवश्शक्तिस्सादाख्येश्वर रुद्रकाः ।
विष्णुः पिता महश्चैव एकैकोद्भवमुच्यते ॥

नवभेद स्थितो देवो न * * * * * * ।
* * * * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * ।
* * * * * * * * * * * भेदमुच्यते ॥

योगिनां लक्षणार्थन्तु शास्त्राणामुत्भवाय च ॥

प्राणिनामुपकायय गृह्णते विग्रहं शिवः ।
* * * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * |
* * * * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * * * * * * च्छान्तिर्न्नाम समुत्भवः ।
शान्तिशक्तिरिति प्राहुर * * * * वाचकः ॥

तस्माच्चैव सहस्त्रं स्यान्नादमूर्ति समुत्भवः ।
तस्माच्चैव * * * * * * * * * * * * ॥

p. 1031)

* * * * * * * * * * * * * * * * |
* * * * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * च्यते ॥
तस्माद्दशैकभागेन सादाख्यस्य समुद्भवः ॥

मकुटे -

निष्कलन्तु कलाहीनं सकलन्तु कलान्वितम् ।
सकलाकलमिश्रं यत्तस्मात् स * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * र उच्यते ।
ईश्वरस्य सहस्रांशाद्रुद्रस्योद्भवमुच्यते ॥

ईश्वरस्य कोटयंशाद्विष्णुमूर्ति समुद्भवः ।
ईश्वरस्य तु कोटवंशाद्ब्रह्ममूर्ति समुद्भवः ॥

वालोत्तरे -

तस्मात्क्रमात्स्वशक्तिश्च * * * * * * * * ।
* * * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * * भोस्समुद्भूतिस्तद्मच्छक्तेस्समुद्भवः ।
अमूर्तश्चेदमूर्त्तोपि समूर्तश्चेत् समूर्त्तका ॥

सावित्री श्रीरूमादेवी ईश्वरी च मनोन्मनी ।
यथा मनोन्मनी प्रोक्ता ईश्वरी तद्वदुच्यते ॥

स्वायम्भुवे -

एका * * * * * * * * * * * * * * ।

p. 1032)

* * * त्तरे -

नादात्मना स्थिता शक्तिश्शिवश्शक्त्याधितिष्ठति ।
अतोपि सर्वरूपं यत्सर्वं शक्तिशिवात्मकम् ॥

वातुलोत्तरे -

शक्त्युद्भवश्शिवेनैव ततश्शक्त्या शिवोत्भवः ।
तद्वयोश्च समैक्येन शिवलोको द * ? भवेत् ॥

तथा वातुल * * ख्ये -

सृष्ट्यर्थं सर्वतत्त्वानां लोकस्योत्पत्तिकारणम् ।
योगिनामुपकाराय स्वेच्छया गृह्णते तनुः ॥

त * * * शिवे तु पराशक्तिस्सहस्रांशेन जायते ।
तच्छक्तेस्तु सहस्रांशादादिशक्ति समुद्भवः ॥

अस्याश्शक्तेस्सहस्रांशात् इच्छाशक्ति समुद्भवः ।
अस्याश्शक्तेस्सहस्रांशात् ज्ञानशक्ति समुद्भवः ॥

अस्याश्शक्तेस्सहस्रांशात् क्रियाशक्ति समुद्भवः ।

एता वै शक्तयः पञ्च निष्कलाश्चेति कीर्तिताः ॥

शिवसृष्टिरियं प्रोक्ता शक्तीनां सृष्टिरुच्यते ।
सर्वेषां ध्यानपूजार्थं निष्कलं सकलं भवेत् ॥

पराशक्तिदशांशेन शिवसादाख्य सम्भवः ।
आदिशक्तिदशांशेन मूर्तिसादाख्य सम्भवः ॥

p. 1033)

इच्छाशक्तिदशांशेन मूर्तिसादाख्य सम्भवः ।
ज्ञानशक्तिदशांशेन कर्तृसादाख्य सम्भवः ॥

क्रियाशक्तिदशांशेन कर्म्मसादाख्य सम्भवः ।
लिङ्गपीठप्रकारेण कर्म्मसादाख्यमुच्यते ॥

वातुलोत्तरे -

भगवान्ब्रह्मचर्याख्यः कन्यकाशक्तिरुच्यते ।
विदुषां विद्यते भाव एवमाख्यमियं क्रमात् ॥

सर्वज्ञानोत्तरे -

तन्वादि तत्परोबन्धो मुक्तिरात्मन्यवस्थितिः ।

सर्वेषां दीक्षयोत्सार्धं सम्यक् दृष्ट्वा हि तत्ववित् ॥

शिवधर्म्मे -

यदीश्वरादि तत्त्वानां परिज्ञानं विवेकतः ।
भवेत् साधर्म्म्यं वैधर्म्म्यादितत् साधर्म्म्यं लक्षणम् ॥

चिन्त्यविश्वे -

वसनारागसंप्राप्तिरस्तिचेन्न स तत्त्ववित् ।
देशिकस्तत्व विज्ञानं ज्ञात्वा चैव प्रकाशयेत् ॥

स एव तत्वज्ञानी स्यान्मुक्तितो मुक्त एव सः ।

सर्वज्ञानोत्तरे -

शुद्धाख्याणोस्तु सर्वेषां किं विशेषेण युज्यते ।

p. 1034)

उत्तरम् ।

अनाद्याख्यमलं कर्म्म मार्ज्जनाय ततो भवेत् ।

चिन्त्य विश्वे -

आणवस्त्वेक रूपो हि तथा विविधशक्तिमान्।
ताम्रकाषेकवत्सोपि स भुज्येद्यन्तरादितः॥

तथा मृगेन्द्रे -

तदेकं सर्वभूतानां मनादि निबिडं महत्।
प्रत्यात्मस्थ स्वकालान्तापायि शक्तिसमूहवत्॥

मतङ्गे -

ताम्रकालिकवद्योगात् सहजः परिकीर्तितः।
मोहो मदश्च रागश्च विषादश्शोक एव च॥

वैचित्र्यं चैव हर्षाख्यस्सप्तैते सहजा मलाः।

मतङ्गे -

चैतन्यरोधो मायैव रश्मिरोधस्तु मेघवत्।
मायाकार्यं विना तस्मान्मलाख्यन्न कदाचन॥

उत्तरम्। किरणे -

एकस्मिन् व्यज्यते ज्ञानमन्यस्मिंस्तत्तिरोहितम्।
मेघच्छन्ना यथा रश्मिर्देहच्छन्ना हि चेतना॥

पशूनान्देह संश्लेषाच्चैतन्योत्भवदर्शनात्।
यदा देहेन संश्लेषस्तावदूर्ध्वैव दृश्यते॥

p. 1035)

चैतन्यद्योतिका माया चैतत् प्रोत्सारिते मले।
अनन्योक्त मलोमात्मात्वथ देहादि सम्भवे॥

बोधकार्यं रोधयितुमाणवाख्यं मलोह्यलम्।
आत्मना सङ्गनिष्ठेन गुणञ्च ख्यातिमेतत्॥

कालाद्याख्या परे तत्वे शुक्यादौ रजतो यथा।
तस्मादियं मलोमाया सदा दीपान्धकारवत्॥

द्वयो स्वभाव भेदश्च त्वया ख्यातमिदं मुने।
पुरुषस्य गुणो विद्यावद्यतस्तच्च सो भवेत्॥

उत्तरम्।

तत्कथं त्वदिति प्रश्नन्दृष्टिदोष गुणन्नहि।
तस्मिंस्तस्मिंस्तु तिष्ठेन तत्पुरुष स्वभाव च॥

एवं सौरसंहितायां शङ्कापुरस्सरं विस्तरेण प्रतिपादितन्तत्रावधार्यताम्॥ स्वायम्भुवे -

अथानादिमलः पुंसां पशुत्वं परिकीर्तितम्।
तुषकम्बुकवत् ज्ञेयो माया बीजाङ्कुरस्यतत्॥

तथा मतङ्गे -

मलस्त्वनादिरेवञ्चज्जडं संसारकारणम्।
ताद्रस्यकालिमावच्च तण्डुलस्य तुषादिवत्॥

पराख्ये -

मायाकार्यन्तु मामाया कर्म्मतत्भोगबन्धनम्।

p. 1036)

असत्यन्द्दप्तिकरोमाल्यं किंचित्तद्विमलं शृणु।

पराख्ये -

मायाकार्यन्तु मायेयं स चाख्या मायापुरा विदुः।

चिन्त्य विश्वे -

तिरोधानमलं चापि तिरोधायि समुद्भवः।
आत्मनस्तु शिवव्यापि द्दशः प्रच्छादकावपि॥

मृगेन्द्रे -

तासां माहेश्वरीशक्तिः सर्वानुग्राहिका शिवा।
धर्म्मानुवर्त्तनादेव पाश इत्युपचर्यते॥

चिन्त्य विश्वे -

मलं मुहुर्मुहुर्माया मायोत्थमखिलञ्जगत्।
तिरोधानकरी शक्तिः पाशवे नार्थ पञ्चकम्॥

पराख्ये -

उल्कावर्तास्तथा केतु स्थित्वा स्थित्वा शिवाज्ञया।
लोकामृतं च निमिषात् सदा कुर्यात् गतागतम्॥

पराख्ये -

योन्यैव सकलात्मानो जायन्ते पूर्वकम्र्मतः।

सुप्रभेदे -

अण्डजं स्वेदजं चैव उत्बिजं च जरायुजम्।

p. 1037)

अशीतिश्च चतुश्चैव शतसाहस्र भेदतः ॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

स्थावरा विविधाकारास्तृण गुल्मादिभेदतः ।
तत्रानुभूय दुःखानि जायन्ते कीटयोनिषु ॥

निष्क्रान्ताः कीटयोनिभ्यः क्रमाज्जायन्ति पक्षिणः ।
विसृष्टा पक्षिभावेन भवन्ति मृगजातिषु ॥

मृगदुःखमतिक्रम्य जायन्ते पशुयोनिषु ।
क्रमाद्गो योनि मासाद्य पुनर्जायन्तमानुषे ॥

एवं योनिषु सर्वासु परिक्रमक्रमेण तु ।
देवासुराणां सर्वेषां मानुष्यमतिदुर्ल्लभम् ॥

व्युत्क्रमेणापि मानुष्यं प्राप्यते पुण्य गौरवात् ।

सुप्रभेदे -

ततो भारतवर्षं च नवभागे प्रकल्पितः ।
कुमारी द्वीपादन्यास्तु क्लेच्छद्विपाः प्रकीर्त्तिआः ॥

चातुर्वर्णसमायुक्तञ्चतुराश्रम सम्युतम् ।

शिवधर्म्मोत्तरे -

देशोस्मिन् भारते पुण्ये प्राप्यमानुष्यमध्रुवम् ।
सर्वेषामेव देशानामयन्देशः पर स्मृतः ॥

इति स्वर्गं च मोक्षं च यतस्संप्राप्यते जनैः ।

p. 1038)

चिन्त्य विश्वे -

शैवं परपदं ज्ञेयं सर्वतत्वैक नायकम् ।
सर्वमन्त्रमयं ज्ञेयं सर्वदेवमयं भवेत् ॥

जन्मान्तर तपोभिश्च सन्मार्ग ज्ञान सम्भवः ।

शिवधर्म्मोत्तरे -

सर्वस्य मूलं मानुष्यं तद्यत्नादनुपालयेत् ।
धर्म्मस्य मूलं मानुष्यं लब्ध्वा सर्वार्थसाधनम् ॥

यदि लाभैकयत्नास्ते मूलं रक्षन्तु यत्नतः ।
देवासुराणां सर्वेषां मानुष्यमति दुर्ल्लभम् ॥

व्युत्क्रमेणापि मानुष्यं लभते पुण्यगौरवात्।
तत्संप्राप्य तहा कुर्यान्नगच्छेन्नरकं यथा॥

मृगेन्द्रे हेतुमाह।

सर्वासां फलभूमीनां कर्म्मभूः कारणं यतः।
कर्म्मभूमिरियं ब्रह्मन् फलभूमिरतः परा॥

इह यत्क्रियते कर्म्म तत्परत्रोपभुज्यते।

तथा शिवधर्म्मोत्तरे -

भोगभूमि स्मृतस्वर्गः कर्म्मभूमिरियं स्मृता।
इह यत्क्रियते कर्म्म स्वर्गे तदुप भुज्यते॥

वायव्य संहितायाम् -

p. 1039)

जातेनात्मद्रुहायेन नार्च्चितो भगवाञ्च्छिवः।
सुचिरं सञ्चरत्यस्मिन् संसार दुःखसागरे॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

जनाश्शतायुषः किं च भवन्ति न भवन्ति वा।
अशीतिकापि विद्यन्ते केचित् सप्ततिका अपि॥

परमायुस्तु पञ्चाशत्तदप्यस्य न निश्चितम्।
यस्य यावद्भवेदायुर्देहिनः पूर्वकर्म्मतः॥

यावत् स्वस्थशरीरस्थस्तावद्धर्मं समाचरेत्।

तथा मोहशूरोत्तरे -

पद्मपत्रे यथा तोयं * * * सुचञ्चलम्।
तद्वत्सुसञ्चलं शक्र प्राणिनामिहजीवनम्॥

पौष्करे -

क्रमेणार्थस्य संवित्तिः पुर्यात्मालोचनात्मिका।
यथा ह्यनेक संवित्तौ युगपत्सा न विद्यते॥

मुखरिता * * * परापरिजन् * * * *।
* * वत्ति न वीक्षते धनवच्छिबिकागतः।
जीवनेन मृताः पञ्च पुराव्यासेन कीर्तिताः॥

दरिद्रो व्याधितो लुब्धः प्रवासी नित्यसेवकः।

p. 1040)

चिन्त्ये -

लिङ्गस्य दर्शनं वाथ लिङ्गाराधनमेव वा।
विद्यते यदिजन्तूनां भवन्ति त्रिदशाधिपाः॥

इति द्वितीयसूत्रं सम्पूर्णम्॥

तृतीयसूत्रम्॥

पराख्ये -

देहान्यो नश्वरोव्याधी विभिन्नस्समलोजडः।
स्वकर्म्म कलभुक्कर्त्ता किंचिज्ञस्सेश्वरः पशुः॥

मृगेन्द्रे -

चैतन्यं दृक्क्रियारूपं तदस्त्यात्मनि सर्वदा।

शिवज्ञानबोधे -

अवस्था पञ्चकन्तस्य मलरुद्धस्व दृक्क्रिया।

तथा पराख्ये -

पञ्चावस्थः पुमान्ज्ञेयस्सुप्तौ च मलगौरवात्।
तादृशात्मानृतं पश्येत् तुर्यातीतमुदाहृतम्॥

अत्र देहान्य आत्मेति दृढत्वं कथ्यते कथ्यते कथम्।
देहादृतेन दृश्यन्ते तस्मादात्मा न देहवित्॥

p. 1041)

उत्तरम् -

तथा चेत्तत्रशीतोष्णं भुज्यते नैव देहवित्।

मुकुरादिसमायुक्तमेकारुणमिवोद्धृतम्।
भूताश्चतुष्टयं युक्तं विदवायु न विद्यगम्॥

उत्तरम् -

सुप्तत्वमुक्तं शववत् वायुस्थिति न वैद्यकिम्।
सुप्तस्यावयव स्पर्शात् स्मृतिर्नैव च विद्यते॥

तथा मृगेन्द्रे -

सोप्येव सति साद्वान न सत्यपिशवे चितिः।

पराख्ये -

इन्द्रियैस्सहवित्सोपि यदि चेन्न च राजवत् ॥

यत्र योगाङ्गता सेनातद्वाप्तं कुरुते गतम् ।
अतो देवा विनायुक्तं वियते हि न विद्यते ॥

तृतीयसूत्रं सम्पूर्णम् ॥

चतुर्थं सूत्रम् ॥

शिवज्ञानबोधे -

आत्मान्तः करणादन्योप्यन्वितो मन्त्रिभूपवत् ।

p. 1042)

कामिके -

शरीरात् बाह्य तस्य प्रवृत्तिरूपलम्भनात् ।
अत एव मनो नात्मा न बुद्धिर्नाप्यहंकृतिः ॥

पराख्ये -

अन्तःकरणमुक्तं चेदन्योन्यन्तेन विद्यते ।
खश्यामादिरसज्ञादि वैषम्यं स्यात्सहेन्द्रियैः ॥

सर्वेषां दृष्टिभिन्नत्वादहमित्यहमास्थितिः ।

चिन्त्ये -

चित्ते कार्यं सुसंस्मृत्वा बुद्धिस्पष्टं विचार्य च ।
अहं कारेण निश्चित्य वैकल्प्यं कुरुते मनः ॥

एवं ज्ञात्वा यतोत्साहो स्वात्मज्ञानं समभ्यसेत् ।
अकारश्चाप्युकारश्च मकारो बिन्दुनादकौ ॥

योगेन प्रणवं ज्ञेयं पञ्चदेवात्मकं परम् ।

कालोत्तरे -

अकारश्चोप्युकारश्चाहंकारं बुद्धिरेव च ।
मकारस्तु मनश्चित्तं बिन्दुनादात्मविग्रहम् ॥

एवं पञ्च प्रकारेण चोङ्कारोद्धृतिरुच्यते ।

अन्यत्र ।

स्वर्गे देशात्म बोधश्च समुद्रे च तरङ्गवत् ॥

p. 1043)

अकारं ब्रह्मदैवत्यं उकारं विष्णुदैवतम् ।
मकारं रुद्रदैवत्यं बिन्दुरीश्वर एव च ॥

नादस्सदाशिवः प्रोक्त इत्येता अधिदेवताः ।

मकुटे -

इडा च पिङ्गला चैव वीणादण्डस्य पार्श्वयोः ।
सुषुम्ना मध्यगा तत्र तन्मध्ये सुषिरन्तथा ॥

जीवः प्राण समायुक्तस्तन्मध्ये सह सञ्चरन् ।
संयुक्तो योगमाख्यातं योगी योगं समाश्रयेत् ॥

सिद्धतन्त्रे -

अनेकार्थ पदार्थाख्यास्समूहो वात्मचेछृणु ।
पश्येत् भोक्तन्तथा ज्ञेयन्तथा पश्येद्यथार्थतः ॥

तद्दृष्टौ कोस्मिलोकेयज्ञात्र ज्ञेयस्य भिन्नवत् ।

तच्चैतन्यगतं ज्ञानमात्म उष्णमिवानले ।
अनेके नैक भावश्च गुणश्च गुणदृष्टयेत् ॥

मनादि तत्वजालानि करणं किकणन्तथा ।
मनादि तत्गुणायुक्तम् वेद्यामातत्स्वयं गते ।

p. 1044)

उत्तरम् ।

यदा ज्ञानक्रिया चैव आत्मनश्च न सम्युतम् ।
देहेथवा विवाद स्यात् सान्निध्येस्ति तथा न चेत् ॥

तदुक्तं सन्निधीभावो शवसुप्तौ क्व गच्छति ।
करणं रहितं चेत्तु सन्निधित्वं च गर्हितम् ॥

सान्निध्यमयस्कान्दमिवा ख्यातन्तत्कथं भवेत् ।
आकर्षणन्तत्स्वभावं हि आत्मनस्तदुदाहृतम् ॥

देह व्यापारमित्युक्तमात्मनैवेह विद्यते ।
रूपं च दृष्टवद्देहे अनित्यं भौतिकं भवेत् ॥

आत्मरूपं सुसूक्ष्मञ्चेदष्टं स्थूलकारणम्।
अचेतनन्ततस्सूक्ष्मं सूक्ष्मरूपमनित्यता॥

रूपारूपञ्चेदात्मा तदा च व्युत्क्रमोद्भवः
विभागवनैक एवं स्यात् काष्ठादग्निवदेव चेत्॥

सर्वमात्मनि दृशं रूपं तस्य सत्वं लयंञ्चगम्।

p. 1045)

चन्द्ररूपमिवाख्यं चेत् प्रत्यक्षं शिवरूपवत्।
एतद्देहे सरूपिस्याज्जडाख्यं भौतिकं भवेत्॥

आकाशमिवा रूपस्त्व विकारी चेतनस्तथा।
देहबन्धश्चलनत्वात् गच्छगच्छान्त तत्भवेत्॥

अचिदात्मान चिच्चापि चिदचिच्च कदाचन।
समवाय विधा स्थित्यामचिन्त्यो न चिदचिद्य हि॥

विद्यते क्रमचित् चित्या मतो तस्य सदन्नहि।

आत्माणुराख्यद्देहेन बन्धोश्चमगुरुद्धृतम्।
हरापि वहनोगश्चो * * विन? ततो लभेत्॥

आत्मादेहैक देशस्थो लयेदेकेन चेत्तथा।
दीपप्रकाशवत्ज्ञेयं चेदेकस्थमुदाहृतम्॥

दीपं स्पर्शाद्देहेदेहमात्र स्पर्शोत्सतत्तथा।
यदि सर्वं च युगपद्यद्यदेव हि॥

च्छेद्यश्चेद्देह पूर्णस्थो तदानीं दृक्कथं भवेत्।

p. 1046)

इन्द्रियैस्सह विज्ञानं युगपत्स्यात्तदा मुने।
देहमात्रे हि बोधोपि देहान्ते लीयते सकृत्।

सर्वत्रावस्थिति व्याप्तिर्यद्यवस्था गता गता।
कीर्तिता कथितं ज्ञेयं प्रत्येकञ्च तदिन्द्रियैः॥
देहप्रपञ्च संहारे किं स्थितात्मा तदा वदेत्।

स्वायम्भुवे -

यद्यशुद्धिर्न्नपुंसोस्ति सक्तिर्भोगेषु किङ्कृता।
शुद्धे सिनतत् भोगो जाघरीति विपश्चितः॥

मृगेन्द्रे -

चैतन्यन्दृक्क्रिया रूपन्तदस्स्त्यात्मनि सर्वदा ।
सर्वतश्च यतो मुक्तौ श्रूयते सर्वतोमुखम् ॥

तदप्य भासमानत्वात्तन्निरुद्धं प्रतीयते ।
वैश्योनावृत वीर्यस्य सो त एवाविमोक्षणात् ॥

पाशाभावे पारतन्त्र्यं वक्तव्यं किन्निबन्धनम् ।
स्वाभाविकश्चेन्मुक्तेषु मुक्तशब्दो निवर्त्तते ॥

पराख्ये -

अचेतनममूर्तं यत् तत्कथन्नयते परः ।

p. 1047)

तत्फलं भिन्नदेशस्थं विभुत्वन्त्वनुशोभितम् ।

अन्यत्र -

व्यञ्जना यत्र यत्र स्युश्शरीरन्तत्र तत्र तु ।
भोगार्थं स्यात् गुणव्यक्ति व्यापित्वन्तेन गम्यते ॥

मतङ्गे -

निरुद्धशक्तयस्सर्वे शिवार्क्क करचोदिताः ।
विकसत्यणु पत्मास्तु मायासरसि विस्तृते ॥

पौष्करे -

पशुः पशुत्वसंरुद्ध दृक्क्रिया प्रसरस्तदा ।

सिद्धतन्त्रे -

आत्मामायोदरान्तत्थो कलादीनां स्वभावतः ।
चैतन्यं चय एतत्झे एकादशेयुते कृतिः ॥

गुणत्रयादि सम्बन्धात् भोगेष्वपि च भुज्यते ।

सिद्धतन्त्रे -

सूक्ष्मदेहे पशुस्थित्वा तत स्थूलं स्वरूपयुक् ।
जाग्रदादि पञ्चावस्था कर्म्मणा भोगभुक्तिस्थतः ॥

कालोत्तरे -

पुर्यष्टक समायोगादूर्ध्वाधस्संप्रयच्छति ।

p. 1048)

चिन्त्ये

अन्नप्राणमनोज्ञानमानन्दमय पञ्चकम् ।
अन्नमादिमयन्देवि अन्योन्यं सूक्ष्मरूपकम् ॥

आत्मयुक्तेन्न रूपस्य मायोपादान कारणम् ।
अन्तर्बहिस्थितस्तेषु अरूपः पञ्चकोशवत् ॥

तदुक्तं सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहे -

आत्मत्वेन भ्रमन्त्यत्र वादिनः कोशकेश्वके ।
अन्नप्राणन्मनोज्ञान मायाकोशस्तथात्मनः ॥

आनन्दमयकोशश्च पञ्चकोशा उदीरिताः ।
मनोविकारे विहित इत्यानन्दमयो विदुः ॥

गृह्णात्यन्नमयात्मानन्देहालोकयतः खलु ।
देहः परिणमितं प्राणमप्याहृता विदुः ॥

विज्ञानमयमात्मानं बौद्धा गृह्णन्ति नापरम् ।
आनन्दमयमात्मानं वैदिकाः केचिदूचिरे ॥

अहङ्कारात्म वादी तु प्राहुः प्रायोमनोमयाः।

कर्म्मकृद्रूपनृत्तं च रूपनृत्तं च वृक्षवत्।
रथैवाप्य नतः कश्चिन्नाट्यस्य बहुरूपवत्॥

p. 1049)

तक्ष आत्मैव इत्याहुस्तथा देहेन्द्रियाणि च।

तथा स्कान्दपुराणे -

चर्माक्षिप्तानि रूपाणि शैलूषो निपुणो यथा।
सूत्रग्रन्थित यन्त्राणि प्रनर्त्तयति लीलया॥

चिन्त्ये -

देहेन्द्रिय प्रकरणं विद्यातेत्तपि विस्तृता।
* * * * * * * * * * * * * * * * ॥

अन्यथा दृश्यते तेन तथा देहेन्द्रियाणि च।

उत्तरम्।

तथा तेन च देहात्मा नखकेशादिवर्जितः।

धारयन्वस्त्राभरणं न स्वयं कश्चिद्विचारयेत्।
ते ततो वर्ज्यते दृश्यन्देहान्यात्मा तथापि च॥

चिन्त्ये -

भिन्न देहात्म देवेश विद्यार्च्चनदृढः कथम्।
सा च वन्नव दीक्षायै विधिपूर्वक पूर्वकम्॥

पूर्वकर्म्मक्षयः कर्त्ता चरणं सर्वदेहिनाम्।

मनसाख्यं क्वचिद्बुद्धिर्बुध्या ख्यातं क्वचिन्मनः।
चित्ताख्यं क्वचिज्जीवो जिवाख्यं चित्तकं क्वचित्॥

p. 1050)

क्वचिदात्मा शिवाख्यातः आत्माख्यातः क्वचिच्छिवः।
सर्वेषामप्रबुद्धाख्यामितरे ह्यात्म भावतः॥

चिन्त्ये -

देहचित्तञ्च विद्यार्थमात्मेत्यात्मावृतः कथम्।
महा प्रकाश दीपाख्यमावास स्थानमेव च॥

अभिन्नं विद्यते चात्मा * * * * * * * न्नता ।

चिन्त्यवचनम् ।

भुक्तोत्साहन्ततस्सुप्तौ दृष्टस्तत्र जाग्रता ।
बोध्यते बोधतश्चात्मा देहान्यस्सर्वतश्चवित् ॥

सैव बोधविदज्ञोपि दीयते चेन्द्रियादिकम् ।
जायते मलरुद्धे आत्मा बोधेन्द्रियाणियुक् ॥

दृतेन समवस्थोपि ददतोमात्य राजवत् ।

ग्राम प्रदक्षिणोराजा क्रमेणान्तर्गतो यतः ।
आत्मा सहेन्द्रियव्यापी पञ्चावस्थां गतस्ततः ॥

तथा शिवज्ञानबोधे -

अवस्था पञ्चकन्तस्य मलरुद्धस्वदृक्क्रिया ।

p. 1051)

चिन्त्ये -

मुखे जाग्रदिति ज्ञेयं स्वप्नन्तु हृदयान्तकम् ।

हृदयादि समारभ्य नाभ्यन्तन्तु सुषुप्तिकम् ॥

तस्मादधसताात्तुर्यन्तु तुर्यातीतन्तु लिङ्गकम् ।
पञ्चत्रिंशत्पञ्चविंशत्त्रिद्व्येक इति तत्वयुक् ॥

जाग्रादि स्थानमेवं हि प्रवत्तकमिहोच्यते ।
श्रोत्रत्वङ्नेत्र जिह्वा च घ्राणश्चैव तु पञ्चकम् ॥

शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धश्चैव तु पञ्चकम् ।
वाक्पाणि पादपायुश्चोपस्थश्चैव तु पञ्चकम् ॥

वचनादान गमनविसर्गानन्द पञ्चकम् ।
प्राणोपानस्तथा व्यानोदानश्चैव समानकः ॥

नागकुम्मौं कूकरो देवदत्तो धनञ्जयः ।
मनोबुद्धिरहङ्कारचित्तज्ञानानि पञ्च च ॥

पञ्चत्रिंशतिवर्त्तन्ते जाग्रैतानि विनिर्द्दिशेत् ।
शब्दादि वचनादिश्च प्राणादि मन आदिकम् ॥

एते चरन्ति वै स्वप्ने मायारूपेणजाग्रतः ।
जाग्रे विषय भोगं स्यात् प्रतिभास्वप्न एव च ॥

अयसाग्निसमायोगात् वियोगाग्निवदायसः।

p. 1052)

प्राणयुक्तो मनश्चैव क्षेत्रज्ञश्च सुषुप्तिके।
आत्मामुखे भ्रुवोर्म्मध्ये स्थितो जाग्रत्प्रकीर्तितः॥

तथा चिन्त्यविश्वे -

अवस्थेयं पुमान्ज्ञेयो ललाटे करणादिभिः।
ऊर्ध्वाधोवर्त्तते जीवो जाग्रादिकरणैस्सह॥

लूतिकं वलये लूतो यथा भ्रमति नित्यशः।
जाग्रत् स्वप्नसुषुप्तिस्तु तुर्यञ्च तदीतकम्॥

अवस्था पञ्च विज्ञेया सदाचार्योपदेशतः।
षट्त्रिंशत्तत्व संख्याभिर्ज्जाग्रत्काले विभावयेत्॥

श्रोत्रादि स्थानके तस्मिन् शब्दादि ज्ञान संस्मरेत्।
वागादौ वचनादींश्च भावयेन्नन्दिकेश्वर॥

विंशतिश्च विसृज्याथ मनादींश्च विमर्शयेत्।

मनोबुद्धिरहङ्कारान्विसृजेत्तत्रदेशके ॥

रागमाया कलाश्चापि विसृजेत्तच्चतुर्यके ।
विद्यादिशुद्धकालान्तं विसृजेत्तत्तृतीतके ॥

तुर्यातीतं परन्तत्वं मानसानां लयं भवेत् ।
मनसो लयतश्चैव परांमुक्तिं समश्नुते ॥

चिन्त्य विश्वे -

जाग्रादि द्विविधं ज्ञेयं भवमोक्षगतन्तु यत् ।

p. 1053)

स्थाणु स्थाने महामोक्षं भवमार्गमधोच्यते ।
स्थूलं सूक्ष्मं सुसूक्ष्मं च अतिसूक्ष्मन्तथाधिकम् ॥

स्थूलं जाग्रदिति ज्ञेया सूक्ष्मं स्वप्नमिहोच्यते ।
सुषुप्तिस्तु सुसूक्ष्मं स्यात् अतिसूक्ष्मन्तुरीयकम् ॥

ततोधिकं तुर्यातीतमेवं पञ्चविधं स्मृतम् ।
जाग्रत्स्थाने प्रदृश्येत योगाभ्यासवतः क्रमात् ॥

जाग्रभूर्विप्रवृत्तिश्च प्रत्याहारेण शाम्यति।
धारणेन त्यजेत् स्वप्नन्ध्यानेनैव सुषुप्तिकम्॥

समाधिनाजयेत्तुर्यं तुर्यातीतं शिवेन तु।
शिवेन दृश्यते सर्वं जाग्रदित्यभिधीयते॥

जाग्रादि पञ्चावस्थायां जाग्रत्स्थाने प्रदर्शयेत्।
सद्गुरोरूपदेशेन प्रासादे नैव सिध्यति॥

अभ्यास ज्ञानयोगेन भक्तिमार्गेण भावयेत्।

एवं वातुले -

ज्ञानातीतं परं शुद्धं सर्वगं सर्वतोमुखम्।
भावं शिवं च सम्भाव्य स्वस्मिन्नेवं विभावयेत्॥

एवं ध्यात्वा महायोगी अखण्डित महोदयम्।

केवलसकलशुद्धम्। स्वायम्भुवे -

अथात्मा विमलोबद्धः पुनर्म्मुक्तश्च दीक्षया।

p. 1054)

विज्ञेयस्स त्रिधावस्थः केवलस्सकलोमलः ॥

तत्रैव ।

अचेतनो विभुर्न्नित्योगुणहीनो क्रियः प्रभुः ।
व्याघात भागशक्तश्च शोध्यो बोद्धः खलः पशुः ॥

तथा किरणे -

पशुर्न्नित्यो सुमूर्तज्ञो निष्क्रियो निर्गुणो प्रभुः ।

स्वायम्भुवे -

कलोद्वलित चैतन्यो विद्यादर्शित गोचरः ।
रागेण रञ्जितश्चापि बुद्धयादिकरणैर्युतः ॥

मायाद्यवनि पर्यन्त तत्व भूतात्मवर्त्मनि ।
भुङ्क्ते तत्र स्थितान्भोगान् भोगैकरसिकः पुमान् ॥

संसारी विषयी भोक्ताक्षेत्री क्षेत्रज्ञ एव च ।
शरीरे चेति बद्धात्मा सकलश्चोच्यते बुधैः ॥

सुप्रभेदे -

अशीतिश्च चतुश्चैव शत साहस्र भेदकैः।
संप्राप्य योनिभेदस्तु जीवनाम्ना तु तत्र च॥

प्रोक्ता च सकलावस्था जीवाख्यानान्ततश्शृणु।

समे कर्म्मणि सञ्जाते कालान्तरवशात्ततः।

p. 1055)

तीव्रशक्ति निपातेन गुरुणा दीक्षितो यदा।
सर्वज्ञस्सशिवो यद्वत् किंचिज्ञत्व विवर्जितः॥

शिवत्व व्यक्तिसम्पूर्णस्स री न पुनस्तदा।

सुप्रभेदे -

शुद्धावस्था इयं प्रोक्ता सर्वज्ञत्वादिभिर्गुणैः।
शुद्धावस्थानमात्मानं शिवरूपमिति स्मरेत्॥

त्रयोवस्थाश्चयो ज्ञात्वा पुनर्ज्जन्म न विद्यते।

इति चतुर्थसूत्रं सम्पूर्णम्॥

पञ्चमसूत्रम् ॥

शिवज्ञानबोधे -

विदन्त्यक्षाणि पुंसार्थान्न स्वयं सोपि शम्भुना ।

चिन्त्ये -

शिवो बोध्यादि सर्वस्य ज्ञानाप्रख्याधिकं च किम् ।

उत्तरम् ।

अर्कस्य सन्निधौ पद्म वक्रवत्कर्म्मणस्तथा ॥

तथा मतङ्गे -

निरुद्धशक्तयस्सर्वे शिवार्ककरचोदिताः ।

विकसन्त्यणुपत्मास्तु मायासरसि विस्तृते ॥

p. 1056)

शिवधर्म्मोत्तरे -

न करोति यतस्सर्वं स्वभोगाद्यं करोति च ।

अस्वतन्त्र्यादकर्त्ता यः किंचित्कर्त्ताणुरन्धवत् ॥

न वेत्ति तत्वतस्सर्वं तेनाज्ञः पुरुषः पशुः ।
सिद्धाध्यवसितं किंचित् ज्ञानात् किंचिज्ञ उच्यते ॥

तथा पौष्करे -

अज्ञो जन्तुरनीशोयं मात्मा यस्माद्विजर्षभाः ।
सोपि सापेक्ष एव स्यात् स्वप्रवृत्तौ घटादिवत् ॥

तथा निश्वासे -

किंचिज्ञस्सर्वतोप्यात्मा ततो बोध्यावबोधकः ।

किरणे -

तस्यशुद्धस्य संबन्धं समायाति शिवात्कला ।
तयोर्वेल्लित चैतन्यो विद्यादर्शितगोचरः ॥

रागेण रञ्जितश्चापि प्रधानेन गुणात्मना ।
बुद्ध्वादिकरणानेक सम्बन्धात् बध्यते पशुः ॥

ततो नियति संश्लेषात् स्वार्जिते विनियम्यते ।
कालेनकाल संख्या न कार्यभोग विमोहितः ॥

एवं तत्वकलाबन्धः किंचिज्ञो देहसंयुतः।
मायाभोगपरिष्षक्तस्तन्मयस्सहजावृतः॥

p. 1057)

ततस्सुखादिकं कृत्स्नं भोगं भुङ्क्ते स्वकर्म्मतः।

निश्वासे -

सर्वज्ञस्सर्वगस्तस्मादात्मानं बोधयेच्छिवः।
चराचराख्य जन्तूनां प्राणरूप इति स्मृतः॥

सिद्धतन्त्रे -

चिद्रूपे जडसम्बन्ध जनानां वस्तु वस्तुनि।
देवेषु चात्मनामेव सन्निधौ बोधजं वदेत्॥

सिद्धतन्त्रे -

सर्वलोकाश्च योनिश्च शिवस्याङ्गश्च विग्रहम्।
अन्तःकरण चैतन्यं विदितं कृत्यपञ्चकम्॥

तथा स्कान्दे -

पञ्चक्टच * * * * * * स्य विमायिनः।
इदमेव परन्दिव्यं ताण्डवं परिकीर्तितम्॥

पौष्करे -

कर्म्मणार्थस्य संवित्तिः पूर्वमालोचनात्मिका।
सन्देह रूपिणी पश्चादभिमानात्मिका ततः॥

व्यवसायात्मकी पश्चात्क्रमेणैव व्यवस्थिताः।

चिन्त्यविश्वसादाख्ये -

p. 1058)

सर्वात्मनां च जननं मरणं च तथैव च।
कारुण्यात् क्लेशमालोक्य तेषां शम्भुः पुनस्तथा॥

कर्म्मणां पाचनार्थाय सृष्टिन्निर्म्माय पूर्ववत्।
दुःखानि भोगमखिलं भोजयेन्नन्दिकेश्वर॥

मलेन परिपाके तु पक्वानां परमेश्वरः।
आचार्य मूर्तिमास्थाय दीक्षया नियतन्ददेत्॥

निश्वासे -

एकैव वस्तुतश्शैवी वा शक्तिन्निर्मला परा।
अ ना भाविना शम्भोश्शुचेष्णमिव प्रभा॥

तथात्म शिवयोस्सन्धिश्शिवबोधपरंपरा।

तथा वातुलोत्तरे -

न शिवेन * * * * * * * क्तिरहितश्शिवः।
गमवत्यन्धकारं * शिवश्शक्त्यार्कषत्गुह॥

इति पञ्चमं सूत्रं सम्पूर्णम्॥

षष्ठमसूत्रम्॥

शिवज्ञानबोधे

अदृश्यं चेदसत्भावो दृश्यञ्चेज्जडिमा भवेत्।
शम्भोस्तद्व्यतिरेकेण रूपं ज्ञेयं विदुर्बुधाः॥

p. 1059)

तथा वातुलोत्तरे -

ज्ञेयोज्ञेयोथवा सोमेत्यज्ञेयोचित सत्भवः।

अझे नैव चातो वा द्वयं सन्मयत स्थितः ॥

वातुलोत्तरे -

सृष्टि स्थिति विनाशोपि चतुर्विधे कार्यदर्शने ।
आत्मज्ञानेन दृश्येत् जडस्याज्जडतोगुह ॥

वातुलोत्तरे -

लोकत्रयभावोपि ब्रह्मविष्णोः परास्पदम् ।
मरीचिका स्वप्नवत् ज्ञेयमसत्यन्निष्प्रयोजनम् ॥

निमिषाल्लयते चापि क्षुद्रस्यापि स्वभाववत् ।

स्वच्छन्दे -

मायाद्यवनि पर्यन्तमिन्द्र जालन्तु बुद्धितः ।
अदृश्येत् पदार्थश्चेन्न च तन्निष्प्रयोजनम् ।

उत्तरम् ।

पूर्वन्तदृश्यते ज्ञानं किन्तु लाभन्तथापि च ॥

आत्मज्ञानेन सदसदिदमुक्तेन निष्फलम्।
वाङ्मनोतीतत्वं हि शिवभावमिति स्मृतम्॥

p. 1060)

प्रयोजनं किमस्ति स्यात्तथापि परमेश्वरः।

उत्तरम्।

सद्भोगं वाङ्मनोतीतं स्वयमेवानुभूतिमत्॥

तदेव शिवभोगं च तदेव परमं सुखम्।

सर्वज्ञानोत्तरे -

सर्वभावं परित्यज्य अभावं भावयेत् सदा।

तथा निश्वासे -

अभावे भावमालम्व्य भावं कृत्वा निराश्रयम्।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥

अभावे भावमाश्रित्य भावलीनोप्यशङ्कितः।
विभुरिति समन्तव्यो नात्र कार्या विचारणा॥

अभावस्य कुतो भावो निष्कलस्य महात्मनः ।
अमनो अव्यवस्थानन्निर्वाणन्तस्य तत्पदम् ॥

सर्वज्ञानोत्तरे -

अद्वैत भावनायुक्तस्सर्वदात्मनि संस्थितः ।
सर्वगं सर्वदेहस्थं प्रपश्येन्नात्र संशयः ॥

पौष्करे -

न मोक्षं याति पुरुष स्वसामर्थ्यात् कदाचन ।
मुक्त्वा प्रसादन्देवस्य शिवस्या शिवहारिणः ॥

अन्यत्र ।

p. 1061)

ज्ञान दृष्ट्या परोगद्यो रूपशरश्शिवः ।

सर्वज्ञानोत्तरे -

येन विज्ञायते सर्वं यत्ज्ञात्वा तु शिवो भवेत् ।

इति षष्ठसूत्रं सम्पूर्णम् ॥

सप्तमसूत्रम् ॥

शिवज्ञानबोधे -

नाचिच्चित्सन्निधौ किन्तु न चित्तस्मादुभे मितः ।
प्रपञ्च शिवयोर्वेत्ता यस्स आत्मातयोः पृथक् ॥

शिवं प्रपञ्च सदसत्ज्ञेयमात्म द्वयन्नपि ।
आत्मालाभार्थतः पश्येत्तनौजं गन्धपुष्पवत् ॥

आत्मनस्सर्वदोषं च परमात्मनि तन्नयुक् ।
यद्यपि त्रिपदार्थं च लवणां भोधिवत्स्थितम् ।

किरणे -

अनादिमलसम्बन्धात् किञ्चिज्ञोणुर्म्मयोदितः ।
अनादिमलमुक्तत्वात् सर्वज्ञो सौ ततश्शिवः ॥

वायव्ये -

यथा नादि प्रवृत्तोयं घोर संसारसागरात् ।

p. 1062)

शिवोपि हि तथा नादिस्संसारान्मोचक स्मृतः ।

सप्तमसूत्रम् सम्पूर्णम् ॥

अष्टमसूत्रम् ॥

शिवज्ञानबोधे ।

स्थित्वा सहेन्द्रिय व्याधैस्त्वान्न ।

वेत्सीति बोधितः ।

मुक्त्वैतान् गुरुणानन्यो
धन्यः प्राप्नोति तत्पदम् ॥

सुप्रभेदे

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याश्शूद्राश्शुद्ध कुलोद्भवाः ।
आचार्यास्तेषु विज्ञेया नान्येषान्तु कदाचन ॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

संसारपङ्कनिर्म्मग्नं यस्समुद्धरते नरम् ।
शिवज्ञानेन हस्तेन कस्तेन सदृशः पिता ॥

चिन्त्य विश्वे -

अनुग्राह्य स्त्रियश्शास्त्रे विज्ञानप्रलयाकलौ ।
तृतीयस्सकलश्चैव आद्योपि मलमात्रकः ॥

मलकर्म्म समायुक्तः प्रलयाकल एव च ।
मलमाया कर्म्मयुतस्सकलस्सोभिधीयते ॥

साधारोथ निराधारस्साधारस्सकलस्य तु ।

p. 1063)

निराधाराह्वयान्येषामेव दीक्षा मयोदिता ।
आचार्य निरपेक्षेण तीव्रशक्त्या तु शम्भुना ॥

या क्रिया क्रियते सा तु निराधारेति कीर्तिता ।
गुरुमूर्तिं समास्थाय मन्दतीव्रादि भेदया ॥

शक्त्या शम्भुश्च कुरुते सा दीक्षा साधिकारिणी ।

वरुण पद्धत्याम् -

शिवस्यानुग्रहो दीक्षा जायते कृतकर्म्मणाम् ॥

साचानेकविधा प्रोक्ता तत्प्रपञ्चोयमुच्यते ।
चाक्षुषी स्पर्शदीक्षा च वाचकी मानसी तथा ॥

शास्त्री च योगदीक्षा च हौत्रीत्यादिरनेकधा ।
रजः कुण्डवती हौत्री साद्विभेदा किलोदिता ॥

आद्या ज्ञानवती प्रोक्ता क्रियावत्य परा स्मृता ।
विनेज्यानलकर्म्मादि मनोव्यापारमात्रतः ॥

दीक्षा ज्ञानवती प्रोक्ता सम्यक् तत्त्वावबोधजा ।
इज्यानलवती या तु क्रियाकौशल सम्भवा ॥

क्रियवत्यय सा वेका निर्बीजा च स बीजका ।

कालोत्तरे -

बालादीनां तु निर्बीजा समयाचारवर्जिता ।

वरुणपद्धत्याम् -

p. 1064)

नित्यमात्राधिकारत्वात् समयिन्यथ पुत्रके ।
दीक्षा निरधिकारैव नैमित्ते नाधिकारिणी ॥

विजयोत्तरे -

पूजायतस्ततस्तत्र समयी नाधिकारभाक् ।
अथ निर्बीजिका दीक्षा प्रोक्ता सा द्विप्रकारिका ॥

एका निर्वाणदा सद्यो द्वितीया देह पाततः ।

सिद्धान्ते -

प्रारब्ध सञ्चिता गामि? कर्म्मजालं विशोध्यते ।
ययात्यन्त विरक्तानां सद्यो निर्वाणदा भवेत् ॥

प्रारब्ध कर्म्मणां भोगं यथा सा मुक्तिमन्तरा ।
यान्ति बालादयश्चैव स्वेच्छा निर्वाणदा भवेत् ॥

किरणे -

प्रारब्धकर्म्मनाशे तु स्वयन्देहोपपद्यते ।

कालोत्तरे -

स बीजा चैव शक्तानां समयाचारसम्युता ।
तेत्र बाल्या प्रयत्नेन मोक्षसिद्धि समीहिता ॥

वरुण पद्धत्याम् -

स बीजा च भवेद्दीक्षा साधकाचार्ययोरपि ।

षट्सहस्त्रिकायाम् -

p. 1065)

नित्यं नैमित्तिकं काम्यमाचार्यस्योदितं त्रयम् ।
नित्यं काम्यं साधकस्य स्वशास्त्रोक्तं षडानन ॥

वरुणपद्धत्याम् -

सर्वत्रैवाधिकारित्वात् साधिकारैव सा तयोः ।
साध्यमन्त्राभिषेकाच्च साधके सा प्रकीर्तिता ॥

सर्वविद्याभिषेकेण भवेदाचार्य गोचरे ।

षट्सहस्त्रिकायाम् -

द्विधा निर्वाण दीक्षा च लौकिकी शिवधर्म्मिणी ।

अधर्म्ममात्र संशुद्धा प्रोक्ता सा लोकधर्म्मिणी ॥

धर्म्माधर्म्मात्मकं कर्म प्रागागामि विचित्रकम् ।
सञ्चितंशोध्यते येन सैवोक्ता शिवधर्म्मिणी ॥

वातुले -

गुरुपदेश क्रमतो दीक्षितानां क्रमात् भवेत् ।
समयं च विशेषं च निर्वाणं चाभिषेचनम् ॥

वरुणपद्धत्याम् -

क्रियया वाथशक्त्या वा दीक्षा सा सर्वतोमता ।
दीक्षया मुच्यते देही त्रिविधात् भवबन्धनात् ॥

कामिके -

क्रियादीक्षा प्रबुद्धानां ज्ञानदीक्षामनीषिणाम् ।

p. 1066)

मुच्यते ज्ञानदीक्षाया विना पाशान्नमोचनम् ॥

वरुणपद्धत्याम् -

सा च दीक्षाध्व संशुद्धा स चाध्वा षड्विध स्मृतः ।
मन्त्रः पदानि वर्णाश्च व्याप्तानीह समन्ततः ॥

वर्णास्तु भुवनैर्व्याप्तास्तत्वैर्व्याप्तानितानि च ।
कलाभिस्तानि तत्वानि व्याप्तानीह कला क्रमात् ॥

इत्यध्वनां विचिन्त्याथ षडध्वव्यापिनं परम् ।
ध्यात्वा शक्तिन्नदूर्ध्वे तु भवेयुः परमं पदम् ॥

निवृत्तौ पार्थिवन्तत्वञ्चिन्त्यमेकं क्षकारकम् ।
कालाग्नि प्रभृतीनां तु पुराण्यष्टोत्तरं शतम् ॥

अन्त्यात्पदान्महादेव पदावधिविलोमतः ।
व्योमव्यापि पदान्यष्टाविंशतिः परिसंख्यया ॥

सद्यो जातश्च हृदयन्द्वौ मन्त्रौ परिकीर्तितौ ।
गुणं गन्धादिशब्दान्तं पञ्चब्रह्मा च कारणम् ॥

प्रतिष्ठायामवादीनि त्रयोविंशति संख्यया ।
प्रकृत्यन्तानि तत्वानि ज्ञातव्यानि स्वभावतः ॥

त्रयोविंशति वर्णाश्च हादिनान्ताविलोमतः ।

ज्ञातव्यान्यमरेशादि षट्पञ्चाशत्पुराणि च ॥

p. 1067)

महेश्वराद्यरूप्यन्न पदानामेक विंशतिः ।
शिरोवामश्च मन्त्रौद्वौ चत्वारि तु गुणा स्मृताः ॥

रसादिशब्द पर्यन्ता विष्णुरत्र च कारणम् ।

विद्यायां सप्ततत्वानि पुरुषादीन्यनुक्रमात् ।
वामादि भुवनानां च विज्ञेया सप्तविंशतिः ॥

ध्यानाहरपदा * * न व्यापिनीति पदादितः ।
पदानां विंशतिर्म्मन्त्रौ * * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * |
रूपः स्पर्शश्च शब्दश्च गुणारुद्रस्तु कारणम् ।
शान्तौ तु त्रीणि तत्वानि विद्येश्वर सदाशिवः ॥

ण * * काश्च त्रयोवर्णा मन्त्रौ वक्र तनुच्छदौ ।
वामाख्यादि पुराण्या * * * * * * * * ।
* * * * * * * * * * * * * * * * ॥

व्योमव्यापिन इत्यन्तान्युक्तानीह विलोमतः।
गुणौ स्पर्शश्च शब्दश्चद्धावी * * कारणम्॥

शान्त्यातीत कलायान्तु शिवतत्वं व्यवस्थितम्।
निवृत्त्यादि पुराण्यत्र भवन्ति दश पञ्च * *॥

p. 1068)

विसर्गाद्या कारान्ता वर्णाष्षोडशकीर्तिताः।
भवत्येको गुणश्शब्दः कारणन्तु सदा शिवः॥

चिन्त्ये -

इत्येकादशमन्त्रेस्यादेकाशीति पदं भवेत्।
अक्षराण्येक पञ्चाशच्चतुर्विंशच्छतद्वयम्॥

षट्त्रिंशत्तत्वमेवं हि कला पञ्चक उच्यते।

मतङ्गे -

सितं चैवासितं कर्म्मलोके तावत्प्रकीर्तितम्।
हिंसादिकं कर्म्मयत् स्यात्तदकर्म्म च कर्म्मिणाम्॥

वापी कूपतटाकाद्यैस्सितमेतत् प्रकीर्तितम्।

एतत् कोटिद्वयोपेतंमुचितं सर्वजन्तुषु ॥

अपेक्ष्य वेदविध्युक्तमग्निष्टोमात्मिके पथि ।
कर्म्माकर्म्म विशेषोस्मिन् प्रोक्तन्तद्धिसितासितम् ॥

एतावत्त्रिविधं कर्म्म नेष्टंशास्त्रे शिवोदये ।

चिन्त्ये -

पूर्वजन्मकृतं कर्म्मभोगेन परिशुष्यति ।
इह जन्मनि यत्प्राप्तं ज्ञानेन शिथिलं कुरु ॥

तथान्यत्र -

p. 1069)

प्रारब्धं भोगतो न श्यात् सञ्चितं हन्ति दीक्षया ।
आगामि ध्यानपूजायामिति शास्त्रस्य निश्चयः ॥

योगजे -

स्थूलं च सूक्ष्मकं चैव द्विविधं समयं भवेत् ।

अचिन्त्ये -

लोकायतोय बौद्धश्चार्हतो मीमांस एव च।
मायावादं पाञ्चरात्रं षडेते समया बहिः॥

अन्यत्र।

मनुर्बृहस्पतिर्द्दक्षो गौतमोधरमोङ्गिराः।
योगीश्वरः प्रचेदाश्च शतातप पराशरौ॥

संवर्त्तेशनसश्शाङ्खलिखितावत्रिरेव च।
वेदोक्तकर्म्मभरिता धर्म्मशास्त्र प्रवर्त्तकाः॥

सुप्रभेदे -

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः।
ब्रह्मचारी द्विधा ज्ञेयो भौतिको नैष्ठिकस्तथा॥

कूर्म्मे -

उदासीनस्साधकश्च गृहस्थो द्विविधो भवेत्।
कुडुम्बभरणायत्तस्साधकोसौ प्रकीर्तितः॥

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य त्यक्त्वा भार्या धनादिकम्।
एकाकी विचरेद्यस्तु स उदासीन उच्यते॥

p. 1070)

चिन्त्य विश्वे -

यतयस्त्रिविधा ज्ञेयास्तपस्वी विदुषस्तथा ।
विद्वानिति त्रिधा प्रोक्तास्तेषां लक्षणमुच्यते ॥

तपश्चान्द्रायणादिकमिति सन्ताने -

चतुष्षष्ठि कलाश्चैव षट्कम्र्माणि तथैव च ।
योगशास्त्राणि सर्वाणि वेदान्तं ज्योतिषन्तथा ।

मतङ्गे -

सांख्य सिद्धान्तमार्गं च ज्ञात्वा वै देशिको भवेत् ।

शैवपुराणे -

ब्राहं च वैष्णवं पाद्यं शैवं भागवतन्तथा ।
भविष्यन्नारदीयं च मार्गण्डेयमतः परम् ॥

आग्नेयं ब्रह्मवैवर्तं लैङ्गं वाराहमेव च ।
स्कान्दं च वामनं प्रोक्तं कौर्म्मं मात्स्यं च गारुडम् ॥

ब्रह्माण्डं चेति पुण्योयं पुराणान्मानुक्रमात्।
ऋग्यजुस्सामाथर्वणाश्चतुर्वेदाः प्रकीर्तिताः॥

देविकालोत्तरे -

ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तन्तु क्रियाचर्या प्रकीर्तिता।

सुप्रभेदे -

योगात् ज्ञानं समादाय ज्ञानतत्वं सदाभ्यसेत्।

p. 1071)

शैवे -

ज्ञानादेव हि मुक्ति स्यान्नान्यथा कर्म्मकोटिभिः।

चिन्त्ये -

अन्यथा बहवोमुक्तिश्शास्त्रे च वरानने।
शिवतुल्यं लभेन्मुक्तिरिदानीं कथ्यते मया॥

निश्वासे -

सिद्धान्त सङ्ग्रहे च॥

लोकायतिक पक्षे तु तत्वं भूत चतुष्टयम् ।
इष्टलोकात् परोनान्य स्वर्गोऽस्ति नरको न च ॥

शिवलोकादयो मूढैः कल्प्यन्तेन्य प्रकारकैः ।
स्वर्गानुभूतिमृष्टाष्टिद्यष्ट वर्षवधूरतिः ॥

सूक्ष्मवस्त्रसुगन्धसृक् चन्दनादि निषेवणम् ।
नरकानुभवो वेदशास्त्रव्याध्याध्युपद्रवः ॥

मोक्षस्तु मरणं प्राण संज्ञवायु निवर्त्तनम् ।

सर्वमतोपन्यासे -

तदेषां श्रुति वाक्यानां शब्दमात्रं हि देवता ।
ज्योतिष्टोमाद्यनुष्ठानादपूर्वः कश्चिदार्जितः ॥

स्वर्गादिः फलरूपस्य प्रदानस्य तु देवता ।
कर्म्ममीमांसकाः प्राहुरित्थं स्वमतलक्षणम् ॥

p. 1072)

तथा मृगेन्द्रे -

न जातु देवता मूर्त्तिरस्मदादि शरीरवत् ।

विशिष्टैश्वर्य सम्पन्नस्ततो नैतन्निदर्शितम् ॥

अतस्त्वेवं घटो न्यायश्शब्दत्वादिन्द्र शब्दवत् ।
ज्ञानसंस्कार संज्ञानं वेदना रूपयोरपि ॥

समूह स्कन्धशब्दार्थस्तत्तत्सन्तति वाचकः ।
ज्ञान सन्ततिरेवात्र विज्ञान स्कन्धमुच्यते ॥

संस्कारस्कन्ध इत्युक्तो वासनान्तन्तु सन्ततिः ।
सुखदुःखादिका बुद्धिस्सादीपेक्षात्मिका तथा ॥

वेदनस्कन्ध इत्युक्तस्संज्ञा स्कन्धान्तनावयत् ।
रूपस्कन्धो भवत्यत्र मुक्ति भूतस्य संहतिः ॥

चिन्त्ये -

शास्त्राणि समयाश्चैव अन्योन्येन विपर्ययाः ।
एतेषा मुक्तिकोलाभादतित्वं यदि सृग्विसि ॥

एकेन नैतदित्युक्तमभिन्नन्यायतः प्रिये ।
सर्वेषां तु क्वचिद्दृष्टे स्थिते सन्ति तरुत्तमम् ॥

वेदागमेषु शास्त्रेषु ईश्वराढ्योति कीर्तितः।

तथा निश्वासे देवी -

वेदशास्त्र पुराणञ्च पाञ्चरात्रेतिहासयोः।

p. 1073)

योगिनश्च तथाचान्ये कुपथेष्वपि ये स्थिताः।
कुतर्कै मोहयित्वा तु स्वदेहन्दर्शयन्ति ते॥

देवि चात्र ब्रुवन्त्येव गतिरत्रकुतोन्वितः।
पक्षपातो भवे देषो मोक्षस्सर्वत्र वा भवेत्॥

एवं मे संशयो देव यत्सत्यं तत् ब्रूहि मे।

शिवधर्म्मोत्तरे -

विधिवाक्यमिदं शैवन्नार्थवादश्शिवात्मकम्।
यद्यथावस्थितं वस्तु गुणदोष स्वभावतः॥

यावत्फलं च तत्पुण्यं सर्वज्ञश्च तथा वदेत्।
रागज्ञानादिभिर्द्दोषैः ग्रस्तत्वादमृतं वदेत्॥

ते चेश्वरे न विद्यन्ते ब्रूयात्स कथमन्यथा ।
अपास्ता शेषदोषेण सर्वज्ञेन शिवेन यत् ॥

प्रणीतममलं वाक्यन्तत्प्रमाणन्न संशयः ।
तस्मादीश्वर वाक्यानि श्रद्धेयानि विपश्चिता ॥

मकुटे -

वेदान्तार्थमयं ज्ञानं सिद्धान्तं परमं शुभम् ।
वेदसारार्थदं ज्ञेयमन्यत्वन्यार्थ साधकम् ॥

कामिके -

p. 1074)

सिद्धान्तो वेदसारत्वादन्यत्वे तत्बहिष्कृतः ।
सिद्धान्त विहिताचारो वैदिकाचार उच्यते ॥

अजिते -

पञ्चवक्त्रधरो भूत्वा पञ्चभिस्तैर्मुखैरपि ।
वेदादि ग्रन्थजालं यदवतारयति प्रभुः ॥

कामिके -

लौकिकं वैदिकं चैव तथाध्यात्मिकमेव च ।
अतिमार्गं च मन्त्राख्यन्तत्र भेदमनेकधा ॥

सद्यो वाममघोरं च पुरुषेशानमूर्त्तयः ।
प्रत्येकं पञ्चवक्रास्युस्तैरुक्तं लौकिकादिकम् ॥

स्वायम्भुवे -

वेदादि ज्ञानभेदेन शिवज्ञानमिहोदितम् ।
चिन्तामणिरिवात्रासौ स्थितस्सर्वस्य कारणम् ॥

धर्म्मसाधन संवित्तिराम्नायादेव जायते ।
तन्मूलत्वात् स्मृतेश्चापि ताभ्यामेवापरस्य च ॥

पुराणादीनि शास्त्राणि सादरन्नित्यमाश्रयेत् ।
वेदमूलतयान्यानि प्रवृत्तान्यपि सत्तम ॥

सिद्धान्त सङ्ग्रहे -

अङ्गोपाङ्ग वेदास्युर्वेदस्यैवोपकारिकाः ।

p. 1075)

वेदाङ्गानि षडेतानिशीक्षाव्याकरणानि च ।

निरुक्तञ्ज्योतिषं कल्पं च्छन्दोवचितिरित्यपि ॥

मिमांसा न्यायशास्त्रं च पुराणं स्मृतिरित्यपि ।
चत्वार्येतान्युपाङ्गानि बहिरङ्गानि तानि वै ॥

कामिके -

ऋग्यजुस्सामाधर्वाणि पुरुषाद्यननोत्भवाः ।
पश्चिमाद्वामवक्रन्तु वामाद्दक्षिणमुत्तमम् ॥

दक्षिणात् पुरुषश्रेष्ठ उतरोत्रमेव वहि ।
पूर्वाननात्ततश्श्रेष्ठन्तस्मात् सिद्धान्तमुत्तमम् ॥

सिद्धान्तात्परमं ज्ञानं नेति शास्त्रस्य निश्चयः ।
अष्टाविंशति तन्त्राणि सिद्धान्तमिति कीर्तितम् ॥

रत्नत्रये -

सिद्धान्त एव सिद्धान्तः पूर्वपक्षास्ततः परे ।
सिद्धान्तस्सेव्यते सद्भिरशक्तिपात पवित्रितैः ॥

तथा कामिके -

आदावभूद्विधा ज्ञानमधिकारि विभेदतः।
परापर विभागेन पतिपाशात्म दर्शकम्॥

शिवप्रकाशकं ज्ञानं शिवज्ञानं परं स्मृतम्।
वेदाद्यपर विज्ञानं पशुपाशार्थ दर्शकम्॥

p. 1076)

यथा विलक्षणञ्चक्षु क्षपायान्नृबिडालयोः।
तथा विलक्षणं ज्ञानमेवमेतत् परापरम्॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

आगमत्वेपि सामान्येकः प्रद्वेषश्शिवात्मके।
अनायासेन यत्प्रोक्ता मुक्तिरेकेन जन्मना॥

एवमेकेन भविकां विमुक्तिं परतस्थिताम्।
विहायानेक भविकां कः प्राज्ञः प्रतिपद्यते॥

तदुक्तन्निश्वासे -

शास्त्रेण सिध्यते सिद्धिस्सिधान्तस्तेन संस्मृतः।
शिवो देशिकदेहस्थः प्राण्यनुग्रहकारकः॥

पराख्ये -

सर्वकर्त्ता महान्विद्यात् सर्ववेत्ता महेश्वरः ।
सर्वकृत्येषु तत्ज्ञानं व्या * * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * शिवः ।
आगपि सर्वज्ञो गुणमाहात्म्य दर्शनात् ॥

उभयोर्ज्ञापकत्वेन दोषस्त्वन्योन्य * * * भवेत् ।
ज्ञापकं वर्तते शास्त्रन्तत्कर्त्ता वर्तते शिवः ॥

ज्ञातृज्ञापकयोश्चैव न दोषस्त्वितरेतरः ।

मृगेन्द्रे -

p. 1077)

सर्वज्ञस्सर्वकर्तृत्वात् साधनाङ्गफलैस्सह ॥

यो यज्जानाति कुरुते स तथैवेति सुस्थितम् ।

पराख्ये -

क्रियादि ज्ञानपर्यन्तं सद्यङ्मार्गश्चतुर्विधम् ।

तदुक्तं शिवज्ञाने -

चर्यापादन्दासमार्गं पुत्रमार्गं क्रियां विदुः।
सहमार्गं योगपादं सन्मार्गं ज्ञानमेव च॥

अथ चर्या क्रियापादं योगपादन्तथैव च।
ज्ञानपादं क्रमाच्चैव शिवेन परिभाषितम्॥

एतच्चतुर्विधं मार्गं सालोक्यादि फलप्रदम्।

चिन्त्य विश्वे -

शिवसमानतारूपं शिवविग्रहमेव हि।
सकले निष्कले चैव सर्वत्रैव समानता॥

सायुज्यमिति तत्प्रोक्तं सारूप्यं मूर्तितुल्यता।
सामीप्यं मूर्ति सामीप्यं स्वेच्छा विग्रहधारणात्॥

शिवलोकादि संप्राप्तिस्सालोक्यं मुक्तिनामतः।
एतच्चतुष्टयं मुक्तिस्सायुज्यञ्चोत्तमं भवेत्॥

कामिके -

दासमार्गं शिवोद्यान लिङ्गबिंबालयादिकृत्।

p. 1078)

शैव नर्त्तनतिस्तोत्रगान् कुद्रोहिमर्द्दकः।

शिवज्ञानबोध सङ्ग्रहे -

क्रियामूर्त्तेर्महेशस्य आलयेषु समाहितः।
शनैस्सम्मार्जनं कुर्यान्मार्ज्जन्यामृदुसूक्ष्मया॥

तल्लक्षणमुक्तं सुप्रभेदे -

द्वादशाङ्गुलमानेन मार्ज्जिजालेन मार्जनम्।
नालिकेरस्य पत्राणां सारात्बहु च संयुतात्॥

अरत्निमात्र मायामन्तन्मूले रज्जु बन्धनम्।
द्विविधा मार्जनी प्रोक्ताद्यथमार्जन कर्म्माणि॥

शिवधर्म्मे -

नाहारवश जीर्णाया न बन्ध्या क्षीण वत्सला।
रोगार्त्ता नवसूता वा त्याज्यागोमय सङ्ग्रहे॥

ख संस्थं गोमयं ग्राह्यं स्थाने वा पतिते शुभे।

उपर्यधश्च संत्यज्य प्रत्यग्रञ्चतुवर्जितम् ॥

वस्त्र पूतेन तोयेन यः कुर्यादुपलेपनम् ।
पश्यन्परिहरन् जन्तून् चान्द्रायणफलं लभेत् ॥

शिवज्ञाने -

आत्मारामोद्भवैः पुष्पैस्समादाय शिवस्य तु ।
मालां संग्रथयित्वा तु यो दद्यात् परमेष्ठिने ॥

p. 1079)

यः कुर्यात्तु महेशाय पुष्पारामक्रिया विधिम् ।
स्तोत्रगानादिकं सर्वं यः कुर्याद्दासमार्गकः ॥

कामिके -

पुत्रमार्गीशिवार्चादि जपहोमपरायणः ।
प्रवेशकश्शिवज्ञानी औपदेशिक एव च ॥

वातुले -

मूर्तिं सदाशिवीं विद्याम् शुद्धस्फटिक सन्निभाम् ।
पञ्चपञ्च भुजैर्युक्तां पञ्चवक्त्रं स्मितानननाम् ॥

दशायुध समोपेतां सर्वाभरणभूषिताम् ।
उन्मनी सहितं शम्भुं विन्यसेद्धृदयेन तु ॥

विजने प्रयतस्सर्वं विद्यादेहं विचिन्तयेत् ।
पराशक्ति समायुक्तं मूर्ध्निमध्ये तु विन्यसेत् ॥

तदूर्ध्वे शिवमावाह्य सधोज्ञानमवाप्नुयात् ।

ज्ञानरत्नावल्याम् -

किन्तु देहावसानेन यः पूजयति भक्तितः ।
स शिवस्सर्वकृच्छम्भुर्जीवन्मुक्तस्सकथ्यते ॥

कामिके -

सहमार्ग्गि भवेत्यक्त संसारीशुचिमन्त्रयुक् ।
समदृङ्निरहंकारी शिवयोगकृतश्रमः ॥

p. 1080)

सुप्रभेदे -

गुदाच्च ब्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्राच्चु ब्यङ्गुलादधः ।
मूलाधारमिति ज्ञेयं तद्विज्ञेयमुदाहृतम् ॥

आधारं गुदमित्युक्तं स्वाधिष्ठानन्तु लिङ्गकम्।
मणिपूरन्नाभिदेशे हृत्पद्मगमनाहतम्॥

विशुद्धिः कण्ठदेशे तु आज्ञाकोदण्डमध्यगा।
आधारमासनं प्रोक्तमाधेयः परमश्शिवः॥

मकुटे -

षडाधारादि देवानां शृणुष्वेवं महेश्वर।
विघ्नेशो भैरवश्चैव क्षेत्रपालश्च चण्डिका॥

मूलाधारादि देवास्यु स्वाधिष्ठानमथ श्रुणु।
प्रतिष्ठाशुद्ध भैरिण्या भवानी ऋषी पद्मिनी॥

पद्मासना पद्मयोगी स्वाधिष्ठानादि देवताः।
तुलाराक्षि नीलराक्षीराक्षीकैला स्फुलिङ्गिनी॥

उपाभ्युष्णीषिका चैव वशिनी च त्रिशङ्करी।
तपनी नवनी चैव मणिपूरक देवताः॥

मणिपूरमिदं प्रोक्तमनाहतमतश्श्रुणु।
काशनीशातनी चैव शोचिका वेणिवेणिका॥

अक्षिणी चैव चामुण्डी ज्येष्ठा दुर्गा वराटिका ।

p.1081)

अरणी स्वरणी चैव चाधिदेवास्त्वनाहते ।
अनाहतमिति प्रोक्तं विशुद्धेर्न्नाम तच्छ्रुणु ॥

मनाटी पुष्पटीस्तीटी शृङ्गि च च्छूर्पराटिनी ।
रात्रिश्च दामकरिणी जया पूजी च मेव च ।
अल्पाशिनी मकाराक्षी दूल्वाशी आपचारिणी ॥

कलासीकमला चैव विशुद्धस्याधि देवता ।
विशुद्धि देवता प्रोक्ता आज्ञादेवमथ श्रुणु ॥

अन्ते सुन्दरी आनन्दी आज्ञाया अधिदेवता ।
षडाधारमिदं ज्ञेयं अतिदेव समन्वितम् ॥

वायव्ये -

समाधिना च सर्वत्र प्रज्ञालोके प्रवर्तते ।
यदर्थमात्र नि सममितो दधिवर्त्स्थितम् ॥

स्वरूपशून्यं यत्भाति तत्समाध्यभिधीयते ।

तथा चिन्त्यविश्वे -

मूलाधाराख्य कालाग्नेर्म्मण्डलोपरि संस्थिताम् ।
आधाराणामशेषाणां भेदिनी बोधिनीपका ॥

सृष्ट्यन्तोमृत संवाही शिवशक्तिस्वरूपिणी ।
आप्लावयन्ती सर्वत्र सिद्धिमुक्ति प्रदायिनी ॥

एवं कुण्डलिनी प्रोक्ता चातिगुह्या महोदया ।

p. 1082)

कामिके -

सन्मार्गीत्यक्त संसारस्समत्वशुचिमत्वयुक् ।
त्रिपदार्थ परिज्ञान शिवयोगकृत श्रमः ॥

पुत्री कृत जनश्शैवाचार्यासन्तातिकश्च सः ।
शुद्धात्मनां हितं शास्त्रन्त्रायते यद्भवार्णवात् ॥

तच्छासन परित्राणात् शास्त्रमित्यभिधीयते ।

चिन्त्यविश्वे -

शाश्वतन्तुर्य रहितमानन्दं परमं पदम्।
त्रिपुटी ज्ञानहीनं यत् प्रोक्तन्तत्परमं पदम्॥

तथा स्कान्दे -

धारणध्यान युक्तस्य समाधिर्भवति ध्रुवम्।
यत्सामरस्यमनयोर्ज्जीवात्म परमात्मनोः॥

यत्परित्यक्तसङ्कल्पं समाधिरभिधीयते।
प्रतिपत्तेस्समाधौ तु सङ्कल्परहितात्मनः॥

ज्ञेयं ज्ञाता तथा ज्ञानमेतद्रूपं विलीयते।

कामिके -

उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यपटले।

सन्मार्गादि क्रमेणापि वैशिष्ट्यमिह सम्मतम्।
सन्मार्गी सहमार्गी च पुत्रमार्गी तथा परः॥

p. 1083)

दासमार्गी चतुर्थेषां प्रतिलोमाद्विशिष्यते।

शिवधर्म्मोत्तरे -

अध्ययञ्चाध्यपनं व्याख्याश्रवण चिन्तने ।
इति पञ्चप्रकारोयं ज्ञानयज्ञः प्रकीर्तितः ॥

उत्तरोत्तर वैशिष्ट्यं सर्वेषां परिकीर्तितम् ।
अथ पूजाद्यग्निकायाद्यैर्भेदैर्बहुविधै स्मृतः ॥

कर्म्मयज्ञस्समाख्यातस्त पश्चान्द्रायणादिकम् ।
स्वाध्यायश्च जपः प्रोक्तश्शिवमन्त्राख्य संस्थितः ॥

ध्यान यज्ञस्समाख्यातश्शिवचिन्तार्मुहुर्मुहुः ।
पञ्चानामपि यज्ञानां ज्ञानयज्ञो विमुक्तिदः ॥

कर्म्मयज्ञात्तपो यज्ञो विशिष्ठो दशभिर्गुणैः ।
जपयज्ञस्तपो यज्ञात् ज्ञेयश्शतगुणाधिकः ॥

ज्ञान ध्यानात्मकस्सूक्ष्मश्शिवयोगो महामखः ।
विशिष्टस्सर्वयज्ञानांमसंख्यातैर्महागुणैः ॥

यस्मात्तस्माद्विशुद्धोयमपवर्गफलप्रदः ।

शिवधर्म्मोत्तरे -

आरम्भकाले श्रवणं क्रियाकाले तु चिन्तनम् ।
निश्चयाद्भवनन्तस्य निष्ठाकाले प्रसन्नता ॥

p. 1084)

चिन्त्यविश्वसादाख्ये -

यावत्कालं शिवज्ञानन्द्रयी भवति तस्य वै ।
तावत्कालं च कर्त्तव्यं श्रवणादि विशेषतः ॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

ज्ञानं विकल्प बहुलं रागाद्यैः कलुषीकृतम् ।
तदज्ञानन्न शुध्यर्थं कलुषोदकवद्भवेत् ॥

तत्र ज्ञानाज्ञानयोर्ल्लक्षणमाह ।

यदा प्रसन्नमेकाग्रं स्तिमितोदधिवत्स्थितम् ।
तदा ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञान तिमिरापहम् ॥

इति प्रसन्नं यत्ज्ञानं भावानामयमुत्तमम् ।
रागाद्यैरपरामृष्टन्तद्विज्ञेयं विमुक्तिदम् ॥

अज्ञाने सति रागाद्यैर्धर्म्माधर्म्मौ च तद्वशात्।
धर्म्माधर्म्म वशात् पुंसां शरीरमुपजायते ॥

शरीरे सति सत्क्लेशस्सर्वैस्संयुज्यते यतः।
ततः क्लेश व्यपोहार्थ पुनर्देहन्न कारयेत् ॥

जगतस्तस्य सम्बोधादज्ञानं विनिवर्त्तते।
तत्क्षयाच्च शरीरेण न पुनस्सं प्रयुज्यते ॥

मृते शिवपुरं गच्छेत् त्रिसप्त कुल संयुतः।
कल्पकोटिशतन्दिव्यं सेव्यमानं सतिष्ठति ॥

p. 1085)

क्रदन्ते विष्णुभवने तावत्काल * * स्यति।
विष्णुलोकाच्चयुतो ब्राह्मन्ततस्संप्राप्यमोदते ॥

सम्भोगैर्विविधैस्सूक्ष्मैस्तावत्कालमनुत्तमैः।
प्रजापतीन्द्र गन्धर्व यक्ष * * नुक्रमात् ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * |

काले महति विप्राणां प्रज्ञाशील गुणान्वितः।

ततस्स * * * * * * गीन्द्रं समुपासते ॥

तत्संपर्कांच्छिवज्ञानं प्राप्य योगन्निषेवते ।
योगाद्विरक्त संयोगादाप्नोति परमं पदम् ॥

व्रतानि दान नित यज्ञा-
स्सन्न्यास तीर्थाश्रम कर्म्मयोगाः ।
स्वर्गीयमेतच्छुभमध्रुवं च
ज्ञानाद्ध्रुवं शान्तिकरं महार्थम् ॥

स्वात्म भोगाधिपत्यं स्याच्छिवस्सर्वजगत्पतिः ।
केचित् तत्रैव मुच्यन्ते ज्ञानयोगरतानराः ॥

आवर्त्तन्ते पुनश्चान्ये संसारे भोगतत्पराः ।
तस्माद्विपश्चिल्लोकेषु भोगासक्तिं विवर्जयेत् ॥

विरक्तिशान्त शुद्धात्मा शिवज्ञानमवाप्नुयात् ।

निश्वासे -

p. 1086)

यस्तु फलन्दानयज्ञादि कर्म्मणा समुपार्जितम् ।

तदस्याप्युपभोगेन क्षयमायेत्यशेषतः ॥

यज्ञात् स्वर्गफलावाप्तिस्तत्क्षयात् पुनरागमः ।

सुप्रभेदे -

अन्येषु पशुधर्म्मेषु स्वर्ग एव फलं हि तत् ।
एतद्धि शिवशास्त्रेषु भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ॥

सर्वशास्त्रं समुत्सृज्य शिवशास्त्रेषु योजयेत् ।

तत्रैव ।

शिवलोके निवासस्यादन्य लभ्यन्न देवतैः ।
भुक्त्वा तु विपुलान्भोगान्प्रलये समुपस्थिते ॥

ज्ञानयोगं समासाद्य स तत्रैव विमुच्यते ।
न तेषां पुनरावृत्तिर्घोरे संसारसागरे ॥

सर्वज्ञास्सर्वगाश्शुद्धाः परिपूर्णा महेश्वराः ।
शिवतुल्यबलास्सिद्धाः परं शिवपुरं गताः ॥

अत्यल्पमपि यद्दत्तं शिवज्ञानात्मवेदिने ।
तन्महाप्रलयं यावद्दातुर्भोगाय कल्प्यते ॥

मृगेन्द्रे -

मायाकार्योमरेशादि रुद्रस्थानेषु यत्सुखम् ।
अपरन्तत्पदं विद्यादानन्दादि पदस्थितिः ॥

p. 1087)

शिवधर्म्मोत्तरे -

अनेक भविकामुक्तिर्भवतः केनकार्यते ।
तस्मादत्रैक भविकामुक्तिर्ज्ञानेन निश्चिता ॥

सुप्रभेदे -

ज्ञाने नैव तु तत्तुल्यं प्राप्तस्तत्र न संशयः ।

शिवधर्म्मोत्तरे -

अज्ञानपाशबन्धत्वादमुक्तः पुरुष स्मृतः ।
ज्ञानेन मोचितं यस्मात्तस्मात् ज्ञानं विशिष्यते ॥

संसारबीजमज्ञान संसार्यज्ञः पुमां स्मृतः ।

ज्ञानात्तस्य विमुक्ति स्यात् प्रकाशात्तु तमो यथा ॥

शिवज्ञानात्परं ज्ञानं तत्समं च न विद्यते ।

सुप्रभेदे -

ज्ञानं प्रवर्त्तते वत्स भ्रान्तिर्निर्नाशिनाय च ।
अध्वश्रेणि विनाशाय शिवव्यक्तिकराय च ॥

अन्धकार वदज्ञानं ज्ञानन्दीपवदुच्यते ।
ज्ञेयं भास्करवत्प्रोक्तन्तस्मात् ज्ञानं विशिष्यते ॥

सूत संहितायाम् -

आत्मनः परमामुक्तिज्ञानेनैव कर्म्मणा ॥

शैव पुराणे -

p. 1088)

ज्ञाना देव हि मुक्तिस्यान्नान्यथा कर्म्मकोटिभिः ।
यश्चशम्भोः प्रसादेन गुरोश्चैव प्रसादतः ॥

जायते तच्छिवज्ञानन्नान्यथा सत्यमीरितः ।

वातुले -

आदित्य सन्निधौ रश्मिस्सूर्यकान्तेपि चोदितम्।
आचार्यसन्निधौ ज्ञानमात्मन्येव तथोदितम्॥

सुप्रभेदे -

सर्वतत्वानि भूतानि दृश्यन्ते चात्म एव हि।

चिन्त्ये -

यस्साक्षी सुखदुःखानां लोकेस्मिन् सर्ववस्तुनि।
अणोरणु महीयांश्च महतो यत्परात्परम्॥

पौष्करे -

कर्म्मनाशान्मलस्यापि विपाके सहकारिणी।
पतत्युन्मीलिनी शक्तिस्तदानुग्रह रूपिणी॥

तस्यां पतितमात्रायां मलयोनिर्म्मलात्मिका।
शक्तिर्न्निर्वर्तते तस्यां निवृत्तायां महात्मनः॥

पुनाति साधिकारेण यं वापि परमेश्वरः।
यथानुग्रह रूपिण्याश्शक्तेर्न्नीति निरोधिका॥

p. 1089)

मलस्य क्षीयते शक्तिस्सा दीक्षा शाम्भवी क्रिया।

तथा किरणे -

तीव्रशक्ति निपातेन इत्यादि।

शिवधर्म्मोत्तरे -

न श्रुणोति न चाघ्राति न रस्यति न पश्यति।
न च स्पर्शं विजानाति न च सङ्कल्पते मनः॥

न चाभिमन्यते किञ्चिन्न च बुध्यादि काष्ठवत्।
एवमीश्वरके लीनस्समाधिस्थः प्रकीर्तितः॥

सुप्रभेदे -

स्वभावज्ञानतो मुक्तस्सजीवन्मुक्त एव हि।
समत्वं सुखदुःखाभ्यान्तत्प्रिया प्रिययोस्समम्॥

देविकालोत्तरे -

समस्तु मित्रामित्रे च समलोष्टाश्म काञ्चनः।

यस्यां यस्यामवस्थायां तस्यान्तस्थां स्मरेच्छिवम् ॥

कालोत्तरे -

निद्रायां बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं क्षमयेत्पुनः ।
पक्षद्वय परित्यागे संप्राप्ते नैव चालयेत् ॥

निराश्रयं यदा चित्तं सर्वालम्बनवर्जितम् ।
नैव स्थान विनिर्म्मुक्तं विज्ञेयं मुक्तिलक्षणम् ॥

रत्नत्रये -

p. 1090)

तया हि विमलोदार गम्भीरे चिन्महोदधौ ।
स्वात्मनि प्रविलीयन्ते धन्या हि शिवयोगिनः ॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

धर्म्मरज्वा व्रजत्यूर्ध्वं पापरज्वा व्रजत्यधः ।
द्वयं ज्ञानासि न च्छित्वा विदेहं शान्तिमृच्छति ॥

ज्ञानामृतरसोयेन सकृदा स्वादितो भवेत् ।
स सर्वकार्याण्युत्सृज्य तत्रैव परिधावति ॥

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।

नैवास्ति किञ्चित् कर्त्तव्यमस्ति चेन्न च तत्ववित् ॥

लोकत्रयेपि कर्तव्यं किंचित्तस्य न विद्यते ।

देहपाते तथा चात्मा भाति सर्वत्र सर्वदा ॥

तथा मतङ्गे -

ज्ञानाभि व्यक्तये व्यक्तिं व्यक्तं तत्वमणुं प्रति ।

निश्वासे -

अप्रमेय गुणोपेतस्सर्वज्ञः खलु सर्वदा ।

सर्वकृत्सर्वलोके शशिशवतुल्यः प्रजायते ॥

व्यक्तेसौ शिववत्भाति शिव एव तनुक्षये ।

शिवधर्म्मोत्तरे -

p. 1091)

सर्वज्ञः परिपूर्णश्च शुद्धस्सर्वतः प्रभुः ।

संसार सागरान्मुक्तश्शिवतुल्यः प्रजायते ॥

तत्रैव ।

प्रलयान्ते तनुन्त्यक्त्वा स्वात्मन्येवावतिष्ठते ।

सर्वज्ञानोत्तरे -

धर्म्माधर्म्म फलन्नास्ति लोकाचारं विशेषतः ।
नियमोपि न तस्यास्ति नोपवास व्रतानि च ॥

सङ्कल्पं च विकल्पं च ये चान्ये कुलधर्म्मकाः ।
यदा भेदन्न विद्यन्ते बालकोन्मत्तकादिभिः ॥

एतैर्न्नास्ति परामुक्तिश्चिद्रूपं व्यापकं विना ।

मतङ्गे -

लीलयैव स मुक्तात्मा विचरन् केन वार्यते ।

सर्वज्ञानोत्तरे -

दिग्देश जातिसम्बन्धान्वर्णाश्रम समन्वितान् ।
गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् जाग्रन् भुञ्जानन्मैथुनन्नपि ॥

सर्वदा सर्वकार्येषु वातशीतातपेषु च ।

भय दारिद्र्यरोगेषु मान्द्य विज्वरकादिषु ॥

भावानेतान्परित्यज्य चाभावं भावयेत् बुधः ।

निश्वासे -

p. 1092)

यथा वायुस्सुशीघ्रोपि मुत्त्वाकाशन्न गच्छति ।
ज्ञेय निक्षिप्त चित्तस्तु विषयस्थो न मुञ्चति ॥

सर्वज्ञानोत्तरे -

योमां सर्वगतं पश्येत् सर्वं च मयि संस्थितम् ।
तस्याहन्नित्यमात्मस्थस्स च नित्यं मयि स्थितः ॥

सद्गुरोरुपदेशेन स्वप्रकाशेन निश्चयः ।

चिन्त्यविश्वे -

जाग्रादि पञ्चावस्थायामतीते ज्ञानरूपकम् ।
सत्गुरोरुपदेशेन विज्ञानेन न संशयः ॥

एवं ज्ञात्वा विशेषेण समाधिं कारयेत् बुधः ।
चित्तं बुद्धिस्थितं कृत्वा शिवलक्षणमेव हि ॥

आनन्दं शिवभोगन्तु शिवयोगं सदाभ्यसेत् ।

सर्वज्ञानोत्तरे -

यस्य जाग्रदवस्थायान्नियमान्सकलेन्द्रियान् ।
तुर्यावस्था गुणोपेतः क्षारभावन्न गच्छति ॥

शब्दादि विषयान्भोगी तद्वत् ज्ञानी न लिप्यते ।
चित्तं शोधययत्नेन किमन्यैर्देहशोधनैः ॥

सुप्रभेदे -

समस्तसुखदुःखाभ्यान्तत्प्रिया प्रिययोस्समम् ।

p. 1093)

शरीरात्प्राग्वस्तुतोपि भुज्यते स्वयमेव तु ।
सार्धद्विशतिकायामानन्द लक्षणमुक्तम् ॥

रूपञ्च वर्णरूपञ्च आनन्दं त्रिविधं स्मृतम् ।
रूपं बहुविध ध्यानं वर्णरूपं च कल्पनम् ॥

रूपारूपन्न चा * * म् कल्पनारहितं मतम् ।

शाश्वतन्तुर्यरहितं आनन्दं परमं पदम् ॥

एतस्यैव तु संप्राप्तौ मुक्तिरेव न संशयः ।
गुरुवक्त्रेण सत्सिद्धिरानन्दन्तु न संशयः ॥

एवं ज्ञात्वा विशेषेण समाधिं कारयेत् बुधः ।

सुप्रभेदे -

* * * * * * * * * * * * * * स्थितम् ।
त्यक्त्वैतानि * * * न शुद्धस्फटिकमावहेत् ॥

रौरवे -

भिन्ने देहे शिवो भूत्वा शिवधर्म्मैं समन्वितः ।
शिवधर्म्ममनुप्राप्य हविर्भागाय कल्पते ॥

यथा समुद्रमासाद्य नदी * * * * * * ।
* * * * * * * * * * * * महोदधेः ।
एवं * * * देहस्तु शिवत्वं समुपागतः ॥

p. 1094)

सरित् समुद्रसंयोगाद्विभाग * * * * * ते ।

निश्वासे दृष्टान्तमाह।

काष्ठमध्य स्थितो यद्वन्मथितो निर्म्मलोमलः।
स शान्ति समयं * * * * * * * * * * ॥

* * * समापन्नं न भवे * * * * * नः।
सम्यक् ज्ञानं विदित्वा तु पशुत्वन्न भवेत्पुनः॥

निश्वासे -

सर्वज्ञादि गुणादेव गीयन्ते सर्वतश्शिवे।

सिद्धान्त रहस्ये -

स्वान्य प्रकाश चित्ज्ञप्तिस्सच्चिदानन्दलक्षणः।
शिवस्य ये गुणास्तेषां समस्तास्सन्ति ते गुणाः॥

परमेशार्ककिरण प्रकाशीकृत चक्षुषः।
न जानात्यक्षिवान् शम्भुर्जानाति शिवचक्षुषा॥

क्षीरे क्षीरमिवाभिन्नं विभिन्नं दृष्टि दृष्टवत्।
शिवात्मनोस्सामरस्यं व्यज्यते गुणसाम्यतः॥

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधि गच्छति ।
तदा तु सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ॥

सर्वज्ञानोत्तरे -

p. 1095)

यावन्नोत्पद्यते ज्ञानं तावद्भ्रमति कर्म्मणा ।
अज्ञानावृतदेहस्तु दुःखशोकपरिप्लुतः ॥

अष्टमसूत्रं सम्पूर्णम् ॥

नवमसूत्रम् ॥

शिवज्ञानबोधे ।

चिद्दशात्मनि दृष्ट्वैशन्त्यत्तवा वृत्तिमरीचिकाम् ।
लब्ध्वा शिवपदच्छायान्ध्यायेत् पञ्चाक्षरीं सुधीः ॥

स्वायम्भुवे -

पाशज्ञानन्न मुक्ति स्यात् पशुज्ञानन्तथैव च ।
सर्वतश्च यतोमुक्तिः पशुज्ञानेन गम्यते ॥

जगतस्तत्व सम्बोधादज्ञानं विनिवर्त्तते ।
मोक्षं पञ्चाक्षरं विद्यादभिवृद्धि षडक्षरम् ॥

शास्त्रजालानि नादान्तं पाशज्ञानं वरानने ।
पशुज्ञानमिति प्रोक्तमुपदेश क्रमाद्यतः ॥

तथा निश्वासे -

वेदं सांख्यं बौद्धमार्हमपरं परमन्तथा ।
यानि कानि च शास्त्राणि सर्वे बिन्दोर्विनिःसृताः ॥

p. 1096)

अन्तर्गताण्ड जातस्यात् मुक्तश्चेत् करणक्षयात् ।
यथा ततो विचारेण ज्ञानातीतो हि विद्यते ॥

मलक्षयतया प्रोक्तन्तदा सायुज्यमुच्यते ।

कारणे -

सर्वतश्चात्मना वेदं ज्ञानेनैव हि गम्यते ।

तत्रैव मन्त्रोद्धारे -

वाच्यवाचक रहितो वाङ्मनोतीतगोचरः।

सर्वज्ञादि गुणोपेतस्सर्वतत्वलयः प्रभुः॥

आकाशमिव तत्त्वानि सर्वव्यापी निरञ्जनः।

आकाश भावनन्त्यक्त्वा शिवभावेन भावयेत्॥

वायव्य संहितायाम् -

स पश्यति शरीरन्त तच्छरीरन्न पश्यति।

तौ पश्यस्ति परः कश्चित्तावुभौ तन्न पश्यति॥

कालोत्तरे -

शिवोपकारतां पश्येत्तदा पश्येत निर्गतम्।

शिवधर्म्मोत्तरे -

अणिमादि गुणैश्वर्यं सर्वज्ञत्वं च योगिनः।

तृणवद्यस्त्यजेत् सर्वानीशस्तस्य प्रसीदति॥

p. 1097)

ततः प्रसन्ने देवेशे बुद्धिस्सत्वात्प्रवर्त्तते।

अणिमादिगुणैर्युक्तस्सन्तिष्ठेच्छिववत्प्रभुः॥

सर्वज्ञानोत्तरे -

अणिमादिगुणावाप्तिर्ज्जायतां वा न जायताम् ।
तथापि मुच्यते देही पतिं विज्ञाय निर्म्मलम् ॥

सर्वोपाधिविनिर्म्मुक्तचिद्रूपं यन्निरन्तरम् ।
तच्छिवोहमिति ज्ञात्वा सर्वावस्थां विवर्ज्जयेत् ॥

तथा वातुले -

तिलानान्तु यथा तैलं पुष्पाद्गन्धस्समाश्रितः ।
पुरुषस्य शरीरेस्मिन् स बाह्याभ्यन्तरे स्थितः ॥

सर्वज्ञानोत्तरे -

यश्शिवस्सोहमेवेति अद्वैतं भावयेत्सदा ।
सर्वपाप विनिर्म्मुक्तिर्गुरुध्यानादघक्षयः ॥

शिवानन्द परध्यानात् स याति परमां गतिम् ।
तत्वमस्मीति वेदान्ते तताख्यातमिति क्रमम् ॥

सिद्धान्त सम्बोधिकायाम् -

शिव भावेन संयोज्य शिवोहं स्मृति निर्णयः ।

शिवोहमिति सिद्धान्तं वेदान्ते सोहमस्मि तु ॥

p. 1098)

चिन्त्ये -

तिरोधं मलमित्युक्तमात्मा शक्ति शिवात्मकम् ।
पञ्चाक्षरमिदं देवि रहस्यन्न प्रकाशकम् ॥

अङ्गुष्ठादि कनिष्ठान्त तलयोश्चाङ्गषट्ककम् ।
विन्यस्य मूलमन्त्रेण व्यापकं च समाचरेत् ॥

रौरवे -

मन्त्रशुद्धौ वर्त्तते ।

अन्यूनाधिक वर्णन्तु सर्वमन्त्रान् समुच्चरेत् ।
ऊनवर्णेन मृत्युस्यादधिके शोकरोगकृत् ॥

स्वरहीने विपत्ति स्यात्तान्मन्त्रेण विशोधयेत् ।

करणे -

हृदये यजनं प्रोक्तं नाभौ होमं प्रकल्पयेत् ।
तथेशन्तु भ्रुवोर्म्मध्ये ध्यायेत्सर्वगतं प्रभुम् ॥

सुप्रभेदे -

कुण्डव्याख्या महानाडी नाभ्यधस्तात्प्रकीर्तिता ।
अष्टवर्त्तुलमेवन्तु कुण्डली सुप्तनागवत् ॥

नाभेरूर्ध्वं भवेत्पद्मं तटाकान्ताब्जवत्स्मृतम् ।
तस्य मध्ये स्थितो देवस्सूर्यकोटि समप्रभः ॥

चिन्त्ये -

अर्कस्य सन्निधौ तत्र राहुदर्शनवत् भवेत् ।

p. 1099)

पञ्चाक्षरं विजानीयाद्दर्शनं शिवमात्मनि ।

कामिके -

यद्वा विस्तरतः कुर्यान्मानसं यागमादरात् ।
शिवाद्यवनि पर्यन्त तत्वव्रातात्मकं स्वकम् ॥

सुप्रभेदे -

पार्थिवाण्डमयं कर्द्दमाप्यान्तन्नालमेव च ।

प्रधान तत्वपर्यन्तन्नाल कङ्कणकान्वितम् ॥

निश्वासे -

कदलीपुष्प सङ्काशं हृदयं सर्वदेहिनाम् ।
अष्टाङ्गुल प्रमाणन्तु नाभेरूर्ध्वं व्यवस्थितम् ॥

पद्मनालन्नवद्वारं समन्तात्कण्टकान्वितम् ।
तस्य मध्ये स्थितं पद्ममष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥

वितस्ति मात्रं हृदयं कमलं चतुरङ्गुलम् ।

कालोत्तरे -

पञ्चाशत्परमं बीजञ्जगद्योनिं परापरम् ।
अङ्गुष्ठ पर्वतुल्यन्तु कर्णिकाकेसरैर्युतम् ॥

भीमसंहितायाम् -

आद्यन्तेषु दलेष्वष्टौ ओं शिवाय नमोनमः ।
इन्द्रादीशानपर्यन्तन्न्यसेदष्टाक्षरं क्रमात् ॥

p. 1100)

निश्वासे तत्रैव ।

कर्णिकायां स्थितो विष्णुर्ग्रन्थिर्म्माया प्रकीर्तिता।
कर्णिकायां भवेत्सूर्यस्तस्य मध्ये तु चन्द्रमाः॥

तस्य मध्ये भवेद्वह्निर्वह्निमध्ये महेश्वरः।

किरणे -

मन्त्रात्मिका कला तस्य ते च मन्त्राश्शिवात्मकाः।
तैः प्रकल्प्य शरीरन्तु शुद्धांध्वाध्यासितं महत्॥

निश्वासे -

सदाशिवो महेशस्य तस्यापि परतश्शिवः।

तत्रैव।

सदाशिवं महात्मानन्तस्य चोर्ध्वं परात्परम्॥

शीतांशुनिर्म्मलं दिव्यंमग्राह्यं परमं शिवम्।

शिवधर्म्मोत्तरे -

ज्ञानयोग प्रधानत्वादन्तरङ्गो विमुक्तिदः।
ज्ञाने नैव तदज्ञानन्निर्वर्तेत न कर्म्मभिः॥

सुप्रभेदे -

अन्तर्यागसमायुक्त आत्माशुद्धः प्रकीर्तितः।

वातुले -

अहिंसा प्रथमं पुष्पं पुष्पमिन्द्रिय निग्रहः।
क्षान्तिः पुष्पन्दया पुष्पं ज्ञानपुष्पमतः परम्॥

p. 1101)

तपस्सत्यं च भावश्च पुष्पमष्टविधं स्मृतम्।
एतान्यत्राष्ट पुष्पाणि बुद्धिधर्म्मस्वरूपतः॥

मोहशूरोत्तरे -

अग्निः प्राणो मनःपात्रं गुरुधूपशिखाकुलः।

इत्यादि पूजास्तवे उक्तः। तथा हि -

लिङ्गं तच्च सुधामयेन पयसा संस्नाप्य सम्यक्पुन-
वैराग्येण च चन्दनेन वसुभिः पुष्पैरहिंसादिभिः।

प्राणायामभवेन धूपविधिना चिद्दीपदानेन यः
प्रत्याहारमयेन सोमहविषा सौषुम्न जापेन च ॥

तच्चित्तो बहुधारणाभिरमल ध्यानोद्भवैर्भूषणै-
स्तत्साम्याणु निवेदनेन यजते धन्यस्स एवामतः ।

सुप्रभेदे -

आसनादीनि सर्वाणि तथैवा वरणानि च ।
हृत्पद्मो कल्पयेद्विद्वान्यथोक्तन्तु यथा क्रमम् ॥

गन्धाद्यैरूपचारैस्तु मनसाकल्प्य पूजयेत् ।

षट्सहस्त्रिकायाम् -

मनसास्यार्चनं प्रोक्तं ब्रह्मादीनामगोचरम् ।
अकृत्रिम प्रधानन्तु तेनान्त्यागमाचरेत् ॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

p. 1102)

मत्र्यमाणो यथा नित्यन्दर्पणो निर्म्मलो भवेत् ।
ज्ञानाभ्यासात्तथा पुंसां बुद्धिर्भवति निर्म्मला ॥

देविकालोत्तरे -

स्वयं पतित पुष्पैश्च कर्तव्यं यदि पूजनम् ।

शिवतन्त्ररहस्य सारे -

भावस्थिरतरो न स्याद्यदा बाह्ये शिवार्चनम् ।
यथा ध्यानानुरूपन्त ध्यान * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * * ।

* * श्वे -

वासना परिपक्वं च स्वयं कुर्याच्च वारुणम् ।
धर्म्माधर्म्मात्मिका बुद्धिः कर्म्मणां वासनावशात् ॥

शिवलिङ्गार्चनादेव नाशनाय न संशयः ।
* * * * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * * ।
सर्प्पि क्षीरे यथा व्याप्तन्तिले * * * * * * ।

तथाग्नि पुराणे -

तिलक्षीर प्रसूनेषु तैलाज्यामोदवत्प्रभुः।
फले रसोग्निवत् * * * * * * * * * * ॥

p. 1105)

शिवज्ञानबोध सङ्ग्रहे -

मलन्नेदमिति ज्ञात्वा शिवस्य परमात्मनः।
यश्शक्तिरिति जानाति ततश्शुद्ध्यभिधीयते॥

सर्वज्ञानोत्तरे -

आत्मन्येव स्थितश्शान्त आत्मतृप्तस्तु निश्चलः।
नागतोहं गतोवापि नागमिष्ये न गच्छता॥

न भूतो न भविष्यामि प्रकृत्ये स्थिर धर्म्मिणि।
प्राकृतानि तु कर्म्माणि प्रकृतेः कर्म्मसम्भवः॥

नाहं किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
नैव प्रकृति वन्धोस्ति मुक्त इत्यभिधीयते॥

भर्तृहरिः -

मीन स्नानपरः फणीपवन भुङ्मेषस्तु पर्णाशनो
नीराशी खलु चातकः प्रतिदिनं शेते बिले मूषिकः।

भस्मोद्धूलन तत्परः खलुखरो ध्यानानुरक्तो बको
निन्दैषामभवत् फलं किमधुना ज्ञान प्रधानन्तपः ॥

न तत्र वेदशास्त्राणि यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ।
आत्मवित् ज्ञानमाश्रित्य विमलं सर्वतोमुखम् ॥

परसंवित्स्वरूपायाश्शक्तेरसति बन्धने ।
परमात्रं प्रकाशेत मुक्ताणूनामनादरम् ॥

p. 1104)

कालोत्तरे -

स्वकृतान्युपतिष्ठन्ति दुःखानि च सुखानि च ।
हेतु भूतो यतस्तेषां सोहंकारेण बाध्यते ॥

किरणे -

हेतुर्ल्लक्षणमित्युक्तं मुक्तिलक्षणमुच्यते ।
मार्ज्जारभक्षिते दुःखं यादृशं गृहकुक्कुटे ॥

न तादृङ्ममताशून्ये कलपिङ्गेथमूषिके ।

शिवधर्म्मोत्तरे -

यथा वह्निर्म्महा दीप्तश्शुष्कमात्रन्तु निर्द्दहेत् ।

तथाशुभां शुभं कर्म्म ज्ञानाग्निर्द्दहति क्षणात् ॥

मतङ्गे -

यो भिलाषात्मको भावो ममत्वेनात्मवर्त्तिना ।

सोंकुरोणोरविद्याख्य संसारोत्पत्तिकारणम् ॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

तस्मात्स पण्डितश्शक्तस्तपस्वी विजितेन्द्रियः ।

यश्शिवज्ञान सद्भावमालोचयितुमुद्यतः ॥

क्रीडन्न लिप्यते नीतस्तद्वदिन्द्रिय पन्नगैः ।

पद्मपत्रं यथा तोयैस्तत्स्थैरपि न लिप्यते ॥

तत्वादि विषयान् भोगी तत्त्वज्ञानी न लिप्यते ।

p. 1105)

शिवज्ञानबोध सङ्ग्रहे -

मलन्नेदमिति ज्ञात्वा शिवस्य परमात्मनः ।

यश्शक्तिरिति जानाति ततश्शुद्ध्यभिधीयते ॥

सर्वज्ञानोत्तरे -

आत्मन्येव स्थितश्शान्त आत्मतृप्तस्तु निश्चलः ।
नागतोहं गतोवापि नागमिष्ये न गच्छता ॥

न भूतो न भविष्यामि प्रकृत्ये स्थिरधर्म्मिणि ।
प्राकृतानि तु कर्म्माणि प्रकृतेः कर्म्मसम्भवः ॥

नाहं किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
नैव प्रकृति वन्धोस्ति मुक्त इत्यभिधीयते ॥

भर्तृहरिः -

मीनस्नानपरः फणीपवन भुङ्मेषस्तु पर्णाशनो
नीराशीखलु चातकः प्रतिदीनं शेते बिले मूषिकः ।
भस्मोद्धूलनतत्परः खलुखरो ध्यानानुरक्तो बको
निन्दैषामभवत् फलं कीमधुना ज्ञान प्रधानन्तपः ॥

न तत्र वेदशास्त्राणि यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ।
आत्मवित् ज्ञानमाश्रित्य विमलं सर्वतोमुखम् ॥

परसंवित् स्वरूपायाश्शक्तेरसति बन्धने ।
परमात्रं प्रकाशेत मुक्ताणूनामनादरम् ॥

p. 1107)

मलमायाद्यसंस्पृष्टौ भवति स्वानुभूतिमान् ।

सुप्रभेदे -

मलमुक्तस्तथात्मानं शुद्ध इत्युच्यते बुधैः ।
ईश्वर स्मृति ना काले मलेध्वंसति निर्म्मलः ॥

अतोहमीश्वरं स्मृत्वा पश्चात्तन्मयतां गतः ।

सर्वज्ञानोत्तरे -

अविज्ञातः पशुस्सोहि सृष्टिधर्म्म समाश्रितः ।
विज्ञातश्शाश्वतस्सिद्धस्सशिवो नात्र संशयः ॥

योगजे -

गुह्यात्गुह्यतमं गुह्यं स्वानुभूत्यनुगम्यते ।

तथा सूतसंहितायाम् -

एवञ्जीवात्मकं रूपं शिवं पश्यति चेद्दृढम् ।
स्वात्मन्येव रतिक्रीडां शुद्धात्मा कुरुते सदा ॥

यत्र सुप्तो जनोनित्यं प्रबुद्धस्तत्र सङ्गमी ।
प्रबुद्धा यत्र ते विद्वन् सुषुप्तस्तत्र केशवान् ॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

ज्ञानं विकल्पबहुलं रागाद्यैः कलुषीकृतम् ।
शिवप्रकाशकं ज्ञानं योगस्तत्रैकचित्तता ॥

p. 1108)

सर्वज्ञानोत्तरे -

परापर विभागेन स्थूलसूक्ष्म विभागतः ।
परः परमनिर्वाणः परसृष्टिविवर्जितः ॥

स्थूलं शब्दमयः प्रोक्तस्सूक्ष्मो ध्यानैक संश्रयः ।
इत्येवमात्मनो ज्ञानं कथितन्तु समासतः ॥

अथवा बहुनोक्तेन किमेतेन षडानन ।
वाग्विकल्प विशेषेण मनस्संमोह कारणा ॥

सर्वधर्म्मात्मनस्सारमेव ते परिकल्पयेत् ।

योगजे -

वाच्यवाचक रहितो वाङ्मनोतीत गोचरः।
शिवश्शुद्ध इति प्रोक्तो रूपी अव्यय ईश्वरः॥

चिन्त्ये -

ज्ञातृज्ञेयं तथात्मान विहीनन्तत्परं पदम्।

सुप्रभेदे -

ज्ञानं प्रवर्तते वत्स भ्रान्ति निर्णाशनाय च।
अध्वश्रेणि विनाशाय शिव व्यक्तिकराय च॥

अन्धकारवदज्ञानं ज्ञानन्दीपवदुच्यते।
ज्ञेयं भास्करवत्प्रोक्तं तस्मात्ज्ञानं विशिष्यते॥

मृगेन्द्रे -

p. 1109)

नाध्यक्षन्नापि तल्लैङ्गं न शाब्दमपि शाङ्करम्।
ज्ञानमाभाति विमलं सर्वदा सर्ववस्तुषु॥

चिन्त्ये -

कर्म्मक्षयान्न युज्यन्ते देहिनां देह सम्भवात्।
देहं विना पृथक्कर्म युज्यते न कदाचन॥

नित्यं द्वन्द्व समायुक्ता वेतौ चान्योन्यतः पुरा।
तथापि कर्म्मनाशश्च गात्रेण कुरुते पुनः॥

तत्रैव।

देहिनां पुण्य पापाभ्यां देहमारभ्यते पुरा।
यथा जीर्णानि वस्त्राणि त्यक्त्वा वस्त्रन्नवं वसेत्॥

तथा देहं परित्यक्त्वा देहान्तरमवाप्नुयात्।
एवं भवाब्धौ मज्जन्तं पुण्यपापसमाहितम्॥

ज्ञानबोधं समारभ्य तारयन्त्याशुजन्तपः।

चिन्त्य विश्वे -

तत्रात्मनां मलश्चैव बन्धधर्म्मत्व कारणम्।
मलानां वासनानां च नाशो मोक्षो न संशयः॥

सुप्रभेदे -

स्वभावज्ञानतो मुक्तस्स जीवन्मुक्त एव हि ।
यश्शिवं मुक्त इत्युक्तो देहान्ते मुक्त उच्यते ॥

किरणे -

p. 1110)

विषसम्बन्धिनी शक्तिर्यथा मन्त्रैर्निरुध्यते ।
तथा न तद्विषं क्षीणमेवं पुंसो मलक्षयः ॥

फलं कतक वृक्षस्य क्षिप्तं सत् कलुषे जले ।
कुरुते शक्तिसंरोधं किं क्षिपत्यन्यतो जलात् ॥

शिवज्ञानन्तथा तस्य शक्तिसंरोधकारकम् ।

किरणे -

ततो मलक्षयेनापि पुरुषस्यक्षयं भवेत् ।

उत्तरम् ।

सहजा कालिमाताम्रे तत्क्षयन्नव तत्क्षयः ॥

तथा ताम्रस्य तद्वत् स्यात् एवं पुंसो मलक्षयः ।

सुप्रभेदे -

मलैर्मुक्तस्तथात्मानं शुद्ध इत्युच्यते ध्रुवम् ।

रौरवे -

यथा सूर्योदयं प्राप्य तमः क्षिप्रं विनश्यति ॥

किरणे -

तुषकम्ब्वङ्कुरश्चैव पुरुषस्य मलक्षयः ।
नित्यानादिराख्यातस्तत्कथं स्यान्महेश्वर ॥

उत्तरम् ।

शुद्धाक्षतम्य नैवास्ति शुद्धात्मस्य तथैव च ।
शुद्धात्मान्न स्थितो तेषान्नास्ति नाशः कदाचन ॥

तस्मिन्पुनरपि ।

p. 1111)

चराचरादि जन्तूनां शिवैव प्राण उच्यते ।
प्रसरन्तं विना नास्ति अक्षराणामकारवत् ॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

सर्वत्रावस्थितं शान्तन्न प्रपश्यति शङ्करम्।
ज्ञानचक्षुर्विहीनत्वादन्धस्सूर्यमिवोदितम्॥

मतङ्गे -

अथार्क रश्मिसंपर्शाद्यथा ज्ञानक्रियात्मिका।

निश्वासे -

सर्वज्ञानोत्तरे -

ताम्रस्यैव तु हेमत्वमन्तर्ल्लीनं यथा भवेत्।
अन्तर्लीनं तथा ज्ञेयं शिवत्वं पुत्गलस्य तु॥

रसविद्धं यथा ताम्रं हेमत्वं प्रतिपद्यते।
तथा विज्ञान सम्बन्धाच्छिवत्वं प्रतिपद्यते॥

रसेन्द्रेणैव लोहानां कालिमा स्पर्शविधिना।
हारिता चाग्नि संयोगाद्धेमत्वं प्रतिपद्यते॥

हारितं परमेशेन पशूनां पाशकालिमा।

स्वकारण गुणावेशा हेमत्वं प्रतिपद्यते ॥

लभन्ते योगिनस्सर्वे विज्ञानात्तुल्यतान्तथा ।

p. 1112)

मृगेन्द्रे -

येपि तत्पदमापन्नाश्शैव साधनयोगतः ।

ते तत्स्थित्य महाह्लादं प्राप्य यान्ति परं पदम् ॥

न च सृष्ट्यादि कुर्वन्ति स्वार्थ निष्ठाहिते यतः ।

तथा सर्वमतोपन्यासे -

अवर्जनीय संसिद्धिं मुक्तानां कृत्यपञ्चकम् ।

कृपया तु शिवस्येव स्वार्थ निष्ठा हि ते यतः ॥

न ते विश्वस्य कर्तारः कर्तारश्शिव एव हि ।

सर्वज्ञानोत्तरे -

शिवज्ञानामृतं पीत्वा विचरन्स्वयमेव हि ।

शिववच्छाश्वतश्शुद्धस्सृष्टिधर्म विवर्जितः ॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

प्रलयान्ते तनुन्त्यक्त्वा स्वात्मन्येवावतिष्ठते।

द्वयोश्च चित्स्वरूपोपि ज्ञात्वा बुध्या विभिन्नया।
तस्मादेकोपपूज्योपि न ह्येतीय कथ्यते॥

मृगेन्द्रे -

दृक्क्रियात्मकमैश्वर्यं यस्य तद्दातृपूर्वकम्।
ईश्वरस्तत्र मन्तव्यश्शक्तिद्वययुतः प्रभुः॥

p. 1113)

किरणे -

तदात्म शिवयोस्सन्धिरयस्कान्तेव युज्यते।

वातुले -

पुरुषश्च शिवश्चैव लीयते सायसाग्निवत्।
यथा ताम्रं रसं विध्येद्दोषमुक्तं पुरातनम्॥

तथात्मानं शिवेलीनं जलेन लवणेनवत्।
अविशेषं भवेत् तद्वदात्मानु परमात्मनि॥

एवं शिवामृतं प्रोक्तंमप्रकाश्यमिदं गुह ।

इत्येकादशसूत्रम् सम्पूर्णम् ॥

द्वादशसूत्रम् ॥

शिवज्ञानबोधे -

मुक्तिं प्राप्य ततस्तेषां भजेद्वेषं शिवालयम् ।

तथा मतङ्गे -

शासनस्यापि ये भक्तास्तेपि दुःखविवर्जिताः ।
अपसरोभिर्वृता नित्यं क्रीडन्त्युत्कृष्टचेतसः ॥

लिङ्गं महेश्वरं भक्त्या नमस्कारादिनाथवा ।
पूजयन्ति नराश्शूरास्तेपि सिद्धा गणेश्वराः ॥

रमन्ति विविधैर्भोगैः प्राप्य स्थानमुमापतेः ।

p. 1114)

आलये शिवलिङ्गस्य भक्त्या निर्वर्तते शुभे ।

श्रीकण्ठपदमारुह्य सुखमत्यद्भुतं लभेत् ॥

एवं भक्तिविभागेन लिङ्गे वा पितरस्तथा ।
उपासन्ति महादेवन्तेपि सिद्धा नरोत्तमाः ॥

मतङ्गे -

शिववच्छिवभक्तास्तु द्रष्टव्याश्शिवकांक्षिभिः ।
संस्कृताश्च शिवैर्मन्त्रैर्गुरुणा शिवमूर्तिना ॥

सर्वे समानधर्म्माणस्तथाप्येषोच्यते विधिः ।
गुरोरप्यग्रतस्तेषां ज्येष्ठानामेव मासनम् ॥

यथानुक्रम शुश्रूषावन्दनादीनि चक्रतुः ।
कार्याण्यन्योन्य संम्ह?ष्टैर्गमाचक्षुर्विषये गुरोः ॥

चिन्त्य विश्वे -

जन्मान्तर तपोभिश्च सन्मार्गज्ञानसम्भवः ।

मतङ्गे -

पुर्यष्टक समायोगात् पुंसां कर्मानुसारः ।

कामिके -

शिवं वै शाश्वतन्नित्यं ज्ञानानन्दमयात्मकम्।
व्यापकं सर्वतत्वानामप्रमेयमनुपमम्॥

वाच्यवाचकरहितं वाङ्मनोतीतगोचरम्।

p. 1115)

व्यक्तिं कुर्याद्विशेषेण शिवकलसकलात्मनि॥

शिवपुराणे -

ब्रह्मयत्सच्चिदानन्दं परिपूर्णं च सर्वदा।
सर्वत्र दृश्यते नैव करणा गोचरत्वतः॥

कालोत्तरे -

प्राकृतं भावमुत्सृज्य शिवोहमिति भावयेत्।

निश्वासे -

शिवोदेशिकदेशस्थः प्राण्यनुग्रहकारकः।
ददाति विविधां सिद्धिं मोक्षं च नयते पशुम्॥

स्वदेहान्निर्विशेषेण शिवभक्तांश्च पालयेत्।

अंशुमति -

देहं प्रासादमित्युक्तं देही लिङ्गमिति स्मृतम्।
उभयोरन्तरन्नास्ति तस्मादित्थं प्रभावयेत्॥

अथवान्य प्रकारेण स्थूललिङ्गे सदाशिवम्।
अन्तर्लिङ्गे शिवं ज्ञेयं भावयेद्देशिकोत्तमः॥

व्याप्यव्यापक भावेन लिङ्गमेवं विमानकम्।
मूलादिस्थूपि पर्यन्तं शिवरूपमिति स्मृतम्॥

मलमायादि सर्वेषु गतेषु पर ईश्वरः।
सर्वाङ्गेषु तेषु भगवान्नहि देहेषु पूज्यते॥

p. 1116)

लिङ्गेथवा न्यत्रशुभे सम्पूज्यो भगवाञ्च्छिवः।
आवाहनमनुध्यानं मनेभुक्ति निरोधनम्॥

शिवेन सह संयोगं चिन्तयेन्मनसाधिया।

तथा पराख्ये -

पूज्यते परतश्शान्तस्सिद्धिमुक्ति फलार्थिभिः ।
स एव मन्त्रदेहस्थः पूज्यतेसौ परश्शिवः ॥

गवां सर्वाङ्गतः क्षीरं स्त्रवते न मुखाद्ययौ ।
एवं लिङ्गमयं रूपं सर्वकामेषु रोहति ॥

ज्ञानयोगम् ।

किरणे -

ये यथा संस्थितास्ताक्ष्र्य तथैवेश प्रसादकृत् ।
केचिच्चात्र क्रियायोग्यास्तेषां मुक्तिस्तथैव हि ॥

ज्ञानयोग्यास्तथैवान्ये चर्यायोग्यास्तथापरे ।
एवमेषां च यद्युक्तं मोक्षन्ते नै योजयेत् ॥

मतङ्गे -

सदाशिवे पदे योगाच्चर्यातो वाथ दीक्षया ।
प्राप्यते चित्तभेदेन मोक्षो वाथ चतुष्टयात् ॥

तथा वायव्ये -

ज्ञानं क्रिया च चर्या च योगश्चेति सुरेश्वरि ।
चतुष्पादास्समाख्याता धर्म्माधर्म्मास्सनातनाः ॥

p. 1117)

पशुपाशपतिज्ञानं ज्ञानमित्यभिधीयते ।
षडध्वशुद्धिविधिना गुर्वधीना क्रियोच्यते ॥

वर्णाश्रम प्रयुक्तस्य मयैव विहितस्य च ।
मदर्च्चनादि धर्म्मस्य चर्याचर्येति कथ्यते ॥

मद्युक्ते नैव मार्गेण मय्यवस्था प्रचेतसः ।
प्रत्यन्तरे तिरोधेन स योग इति गीयते ॥

स्कन्दकालोत्तरे -

ईश्वरः ॥

लभ्यते शास्वतं ज्ञानं तत्प्रसादेन षण्मुखम् ।
यमन्नियममासीनं प्राणायामन्ततः परम् ॥

प्रत्याहारो धारणा च समाधिध्यानतः परम् ।
गुरुप्रसादाल्लभते दिव्ययोगं षडानन ॥

आकाशगमनं चैव परकाय प्रवेशनम् ।
मनोजयत्वं हि जना तत्प्रसादेन लभ्यते ॥

अणिमा लघिमा चैव महिमा गरिमा तथा ।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशत्वं वशित्वं चाष्ट सिद्धयः ॥

गुरुप्रसादाल्लभते मुक्तो मृत्युजरादिभिः ।

विश्वसारे -

गुरु रूपं परं ब्रह्म गुरुरूपं परं शिवम् ।
गुरु रूपं परं ज्ञानं गुरु रूपं परात्परम् ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गुरु रूपं सदा स्मरेत् ।

p. 1118)

तथा ।

ईक्षणध्यान संस्पर्शैर्मत्स्य कूर्म्म विहङ्गमाः ।

पोषयन्ति स्वकान्पुत्रान् तद्वत्पण्डित वृत्तयः ॥

निश्वासे -

प्रकाशयस्वेदं ज्ञानं मद्भक्तानां वरानने ।
रक्षणीयं प्रयत्नेन तस्करेभ्यो धनं यथा ॥

देविकालोत्तरे -

ईदृशं ज्ञानसद्भावं न दद्याद्यस्य कस्यचित् ।
दीक्षयित्वा महादेवि दातव्यं सुपरीक्ष्य च ॥

नाशिष्याय प्रदातव्यन्ना पुत्राय कदाचन ।
गुरुदेवाग्नि भक्ताय मात्सर्यरहिताय च ॥

प्रदातव्यमिदं ज्ञानमितरेषान्न दापयेत् ।

द्वादशतमसूत्रं सम्पूर्णम् ॥

इति श्रीमद्व्याघ्रपुरवासनिगमज्ञान शिवयोगीशिष्यवेदज्ञान शिवाचार्य
सङ्ग्रहसकलागमसारभूत शिवज्ञानसिद्धेर्दृष्टान्तस्समाप्तः ॥

॥ ओं श्रीमदरुणाचलाय नमः ॥

XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX
X
X title: brahmasandhaana
X
X copied from manuscript c.n. 4242 of banares hindu university
X
X "saaradaa script
X
X data entered by the staff of muktabodha
X under the supervision of mark s.g. dyczkowski
X
X revision 0: april 7, 2012
X
XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX

* * * * * * * * * * * * * * * भेत्।

हृत्पद्मे नाभिपद्मे च मुखपद्मे तथैव च॥ ५॥

वसते परमात्मा वै यदि शक्नोषि वेदितुम्।

नवद्वाराणि सङ्घट्ट नवनाडीर्निरोधयेत्॥ ६॥

संहृत्य नववायूंश्च हृत्पद्मे तान् प्रवेशयेत्।

तस्य पद्मस्य वै नालं पिङ्गलानाडिरुच्यते॥ ७॥

तया प्रोक्तास्त्रयः पश्चात् सूत्रे मणिगणा इव ।
प्रधानानाडयस्त्रिस्त्रस्तालब्ध्वा वेदयेत् पुरम् ॥ ८ ॥

तासां मुख्या तु वै ह्येका तां ज्ञात्वा ज्ञायंसे परम् ।
तस्या मध्ये स्थितं ज्ञेयं सर्वकारणमव्ययम् ॥ ९ ॥

यं विदित्वा महासेन उत्क्रान्त्रिं कर्तु मर्हसि ।
दशमद्वारमाश्रित्य दशमानाडिका *? ह ॥ १० ॥

दशमं पवनं लब्ध्वा विषुवत् ग्रहणं भवेत् ।
आकाशं ग्राहयेत् तस्य ग्रन्थि भेदैः शनैः शनैः ॥ ११ ॥

p. 2) कृत्वा वै ब्रह्मसन्धानं सम्यग् ज्ञात्वा परां गतिम् ।
परे स्थाने लयं कृत्वा निष्कम्पः सुसमाहितः ॥ १२ ॥

प्रणवे संहरेदात्मा ग्राह्यं निश्शेषमारुतम् ।
प्रणवं तु समुच्चार्य ताल्वोष्ठपुटशोभितम् ॥ १३ ॥

कल्पायुरपि तत्रैवमाक्रमत्यनु संशयः।
करणान्यप्रशेषाणि ग्रन्थि द्वाराणि सर्वशः॥ १४॥

नाडयः पवनात् सर्वा विदित्वा सर्वमुच्यते।
यावच्च ज्ञायते वत्स तावद् ब्रह्मलयी भवेत्॥ १५॥

तं विदित्वा महासेन उत्क्रान्ति कर्तु मर्हसि॥ १६॥

कस्मिन् स्थाने स्थितो ब्रह्मा केन द्वारेण सिद्धयति।
एतत् सर्वं समाचक्ष्व यदि तुष्टोसि मे प्रभो॥ १७॥

p. 2b) ब्रह्मा ब्रह्मे लये कुर्याद् भूताद् भूतेषु वलयम्।
अन्यथा नैव सिद्धयन्ति कल्पकोटि शतैरपि॥ १८॥

भूतांस्त्यत्त्वा तु वै देव केन द्वारेण सिद्धयति।
एतन् मे संशयं सर्वं वक्तुमर्हस्य शेषतः॥ १९॥

गुह्याति गुह्यं गुह्यं च अतिगुह्यं षडानन।
यत्त्वया वेदितं प्रश्नं तत् सर्वं कथयामिते॥ २०॥

व्योम मध्ये स्थिता सूर्यः सूर्यमध्ये स्थितः सशी ।
शशि मध्ये स्थितं तेजस्तेजोमध्ये स्थितं परम् ॥ २१ ॥

ऋजु स्निग्धं च विमलं विद्युल्लेखे वदुस्सहम् ।
* *? कोटि? प्रतीकाशं दुष्प्रेक्षं लयवर्जितम् ॥ २२ ॥

हृत्प * * * * * * ? सूर्यं शशि हृतासनम् ।
तेषां मध्ये परं तेजो ये नेदं प्रतितिष्ठितम् ॥ २३ ॥

p. 3a) महत्तेजांसि यच्चित्तं प्रत्यक्षं यस्य षण्मुख ।
ब्रह्मद्वारस्य वै पृष्ठे धूम्रोयं सर्वतः स्थितः ॥ २४ ॥

हृदिस्थं गगनस्थं च उभावेकत्र चिन्तयेत् ।
अन्यथा नैव सिद्ध्यन्ति युक्तिहीनाः शिखिध्वज ॥ २५ ॥

यन्मयोक्तं परंब्रह्म हृद्याकाशे व्यवस्थितम् ।
सा शक्तिः स शिवं ज्ञानं ज्ञेयं चाक्षरमव्ययम् ॥ २६ ॥

एतत् ते ब्रह्मसन्धानं ब्रह्मद्वारेण यो भवेत् ।
स मुक्तः सर्वदुःखेभ्यः सद्यो ब्रह्मणि कल्पयन् ॥ २७ ॥

उत्क्रान्ति काले तस्येदं विदितं ब्रह्मणो लयम् ।
स वै लीनो परे वत्स इत्याज्ञा पारमेश्वरी ॥ २८ ॥

ब्रह्मनाडिं ब्रह्मवायुं ब्रह्म * * * *? लभेत् ।
ब्रह्मणं तु समन्तव्यं ब्रह्माक्षर ल * * *? ॥ २९ ॥

p. 3b) प्रणवं हृत्स्थितं पद्मं प्रणवं व्योम्नि संस्ति *? म् ।
कालाग्नि रुद्रपर्यन्तं यावद्ब्रह्माण्डगोचरम् ॥ ३० ॥

सर्वं दृष्टं परेणेदं प्रणवेण शिखिध्वज ।
वाङ्मयं सकलं यश्च त्रैलोक्यं स चराचरम् ॥ ३१ ॥

ब्रह्मादि स्तम्भ पर्यन्तं सर्वं प्रणवसम्भवम् ।
तस्मिन् नेव लयं कुर्यात् ते चैव ब्रह्मवादिनः ॥ ३२ ॥

स एव परमं स्थानं स एव परमाक्षरम् ।

त्र्यक्षरं च त्रिधा भिन्नं त्रिस्थानं त्रिगुणात्मकम्॥ ३३॥

त्रिदेवाग्नि त्रयं चैव त्रिदेवं परमं स्मृतम्।
पञ्चमूर्ति धरं देवं शिवं परमकारणम्॥ ३४॥

* * * द्यन्तरे वत्स यदि सक्नोषि वेदितुम्।
देवदानव * ? द्धानां गन्धर्वोरगरक्षसाम्॥ ३५॥

सर्वेषां प्रणवं योनि लयं तत्रैव ष * *?।
p. 4a) ब्रह्माविष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरः शिव एव च॥ ३६॥

प्रणवेण तु वै सिद्धाः सम्भूताः प्रणवेन तु।
अक्षरं चक्षरं चैव स नामं नामवर्जितम्॥ ३७॥

स रूपं रूपरहितं प्रणवं परिपठ्यते।
उच्चार्यं तु ह्यनुच्चार्यं स्वरमस्वरमेव च॥ ३८॥

घोषं चैव ह्यघोषं च प्रणवं परशक्ति धृत्।
स मन्त्रं च ह्यमन्त्रं च ग्राह्यमग्राह्यमेव च॥ ३९॥

ग्राह्यग्राहक भेदेन प्रणवं सर्वतः स्थितम्।
प्रणवं यो न जानाति विश्वस्या यतनं परम्॥ ४०॥

तस्य मोक्षः कुतो वत्स कल्पकोटि शतैरपि॥

अद्यापि सं *?

?????????????????????????????

व हृदये वर्तते महान्।
p. 4b) कस्मिन् स्थाने स्थितो ब्रह्मा तत् समाचक्ष्व मे प्रभो॥

श्री ईश्वर उवाच

सर्वत्रावस्थितो ब्रह्मा प्राणिनां देहधारकः।
विशेषतः पुनर्वत्स त्रिषु स्थानेषु संस्थितः॥ २॥

हृत्पद्मे नाभिपद्मे तु मुखपद्मे तथैव च।
स प्रत्यक्षं दृश्यते वै विकारावस्थितः प्रभुः॥ ३॥

हसते रुदते चैव नृत्यते गायते तथा।
भुञ्जते जिघ्रते चैव शृणु वक्ष्यामि हेतुतः॥ ४॥

उन्मेषे च निमेषे च विषादे चैव हर्षिते।
सुखदुःखान्यसौ वेत्ति शीतोष्णस्पर्शनानि च॥ ५॥

क्षुट्तृष्णा मैथुनं निद्रा प्रबोधं जाग्रता स्थितम्।
एते प्रत्यक्षतो यस्य दृश्यन्ते वै षडानन॥ ६॥

नान्यदीपं स्वरूपेण परमात्मा च लभ्यते॥ ७॥

p. 5) विस्मयो मे महादेव अद्यापि न निवर्तते।
त्रिस्थानावस्थितं देवं श्रोतुमिच्छामि वै प्रभो॥ ८॥

तुष्टोहमद्यते पुत्र यत् त्वया पृच्छ्यते ह्यहम्।
त्रिस्थानावस्थितं ब्रह्म तच्छृणुष्व यथाक्रमम्॥ ९॥

हृत्पद्मे वसते नित्यं स्थिरा भावेन वै गुह।
मुखपद्मे नाभिपद्मे गतागतिं करोति सः॥ १०॥

हृत्पद्मस्य तु पत्त्राणि नाडयस्ताः प्रकीर्तिताः ।

प्रणाद्या वायवः सर्वे वहन्ते तेषु नाडिषु ॥ ११ ॥

नाडयो वै दश प्रोक्ताः पवनानि तु वै दश ।

प्रधाना पिङ्गला शून्य सृजते पहरे तु सः ॥ १२ ॥

नाडि चक्रस्य सर्वस्य नाभिभुव्यवस्थितम् ।

p. 5b) नाडि चक्रस्य वै तद् वत् पिङ्गला मध्यतोद्भवा ॥ १३ ॥

इडा चैव सुषुम्णा च पिङ्गला च तृतीयका ।

एककायं च सर्वासां युक्ति भेदे पृथक् पृथक् ॥ १४ ॥

इडा वहति वामेन तत्र सोमो व्यवस्थितः ।

सुषुपिङ्गला दक्षिणपुत्र त्रत्र सूर्यो व्यवस्थितः ॥ १५ ॥

सुषुम्णा मध्य नाडी तु तत्र सर्वं सदा स्थितम् ।

इडामध्ये स्थितं देव पितृयानेति कथ्यते ॥ १६ ॥

पिङ्गलावस्थितं पुत्र देवयानेति कथ्यते ।

सुषुम्णा मध्यमानाडी तत्रस्थं मोक्षमार्गदश ॥ १७ ॥

सर्वारम्भेण योगीन्द्रो मोक्षमार्गपदावहः ।

कर्णिकान्त स्थितं देवमव्यक्तं रूपवर्जितम् ॥ १८ ॥

तदुर्थावयव सर्वेयैर्व्याप्ता नाडयोदश ।

p. 6a) तासां मध्ये तु वै ह्येका सुषुम्णा नाम श्रूयते ॥ १९ ॥

तया प्रोक्तास्त्रयः पद्माः सूत्रेण मणयो यथा ।

तस्याभ्यन्तरसंलीनौ प्राणापानौ व्यवस्थितौ ॥ २० ॥

सुषुम्णामध्यसंस्थौ तु प्राणापानौ शिखिध्वज ।

सृष्टिप्रलयरूपेण स्थिता वेतौ कुमारक ॥ २१ ॥

ग्रथितौ परयाशक्त्या अव्यक्ता मृतयोथया ।

आधाराधेय भावेन परापर विभागशः ॥ २२ ॥

सृष्टि प्रलय रूपेण प्राणापानौ व्यवस्थितौ ।

तयोर्मध्ये स्थितं ब्रह्म अन्यक्तं रूपवर्जितम्॥ २३॥

ग्रसते सृजते चैव सर्वं विश्वं चराचरम्।
नाभिपद्मस्य वै पृष्टे हृत्पद्मं तु अधो मुखम्॥ २४॥

उभाभ्यां कर्णिका मध्ये परं तद्वीक्ष्य पुत्रक॥ २५॥

p. 6b) कथं मे दृश्यते तात तस्य रूपस्य गोचरम्।
यं दृष्ट्वाहं गमिष्यामि अजन्म पदमव्ययम्॥ २६॥

साधु साधु महाप्राज्ञ योगयोगेश्वरेश्वर।
यत् त्वया चोदितं प्रश्नं दुर्विज्ञेयं सुरोरपि॥ २७॥

न ब्रह्मणा न सूर्येण न चन्द्रेन न विष्णुना।
न तु देव्या त्वया चैव यदभ्य परिपृच्छितम्॥ २८॥

तत् ते हं कथयिष्यामि गुह्याद्गुह्यतरं परम्।
विक्षेप वचनं रक्षेच्छरणागतवत्स्वत॥ २९॥

राजामन्त्री वरक्ष्यो यं न देयं यस्य कस्य चित्।
अदीक्षितेन दातव्यमश्रद्धेयमनार्जवो ॥ ३० ॥

आकुले कूरहृदये दुर्जने च दापयेत्।
दातव्यं दीक्षते पुत्र गुरुदेवाग्निपूजके ॥ ३१ ॥

p. 7a) श्रद्धधाने जितक्रोधे लोभमोहपराङ्मुखे ।
परीक्ष्यते गुरुः शिष्यमब्दानि द्वादशानि वै ॥ ३२ ॥

अनेन भावितं विश्वं सर्वमेव चराचरम्॥ ३३ ॥

अद्यमे जन्मसफलं अद्यमे सफलं श्रुतम्।
अद्यमे सफला बुद्धिरद्यमे सफलं तपः ॥ ३४ ॥

स कृतार्थोस्मि वै ह्यद्य अद्य जातोस्मि वै पुनः।
मुक्तोस्मि चा?द्य वै तात भवसंसारबन्धनात्॥ ३५ ॥

गुह्यं ज्ञानं विदित्वा तु तृप्तोहं सर्वदा प्रभो ।
अधुना श्रोतुमिच्छामि प्रणापानौ व

????????????????????????????

p. 7b) कथं स्थितौ ॥

शृणु वत्स महाप्राज्ञ यत् त्वया चोदितो ह्यहम् ।
तत् तोहं कथयिष्यामि प्राणापानौ यथा स्थितौ ॥ २ ॥

प्राणाद्या वायवः पञ्च ऊर्ध्वभागे व्यवस्थिताः ।
तेषां मध्ये प्रधानौ द्वौ प्राणापानौ प्रकीर्तितौ ॥ ३ ॥

कन्दुकन्यायमाश्रित्य अध ऊर्ध्वं प्रवर्तते ।
योगमार्गेषु सर्वेषु गतिरेषा प्रवर्तते ॥ ४ ॥

नवानां चैव वायूनां प्राणापानौ प्रकीर्तितौ ।
हृत्पद्मे नाभिपद्मे तु द्वादशान्ते तथैव च ॥ ५ ॥

विशते परमात्मा वै प्राणापान गति स्थितः ।
अपानः संहरेत् प्राणं प्राणोपानस्य वै तथा ॥ ६ ॥

प * * *? स्थितं तेषां सृजते संहरत्यसौ ।

उदयास्त मनं ह्येतन् नान्यं मन्ये शिखिध्वज ॥ ७ ॥

p. 8a) बाह्यसंस्थस्य सूर्यस्य नोदयो वै नास्तमयः ।
तपते सततं वत्स विश्वं दिङ्मार्गवीक्षणे ॥ ८ ॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन शरीरस्थं विचारयेत् ।
यं ज्ञात्वा प्राप्यते मोक्षो येन भूयो न जायते ॥ ९ ॥

ज्ञातुमिच्छम्यहं देव उदयास्त मयं कथम् ।
अहोरात्रं कृतं चैव सङ्क्रान्ति विष्ववद् द्वयम् ॥ १० ॥

अति प्रियोपि मे पुत्र पृच्छसे शोभनं सुत ।
यत् त्वया चोदितं प्रश्नमनाख्यं कथयामिते ॥ ११ ॥

यन् मयोक्तं परं ब्रह्म हृदिस्थं तं षडानन ।
तस्य शक्तिर्भवेदेषा उदयास्त मनं प्रति ॥ १२ ॥

ऊर्ध्वमार्गे यदा ज्वाला वर्तते तस्य तेजसः ।
उदयं तं विजानी

????????????????????????

* * * तालयं यस्मात् तस्माल्लिङ्गं तदुच्यते ।

p. 8b) अलिङ्गं लिङ्गरूपेण अव्यक्तं व्यक्तगोचरम् ॥ ९ ॥

आकाशं सम्भवेद्वत्स यो वै शक्त्या लयं गतः ।

पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाश एव च ॥ १० ॥

एते पञ्च महाभूता यतोत्पन्ना लयं हि तत् ।

आकाशं ग्रसते शक्तिर्यथाग्रस्ताखिलं जगत् ॥ ११ ॥

सृष्टिं तु कुरुते सा तु शिवाज्ञा चोदिता गुह ।

प्रलयं सर्वभूतानां मया ते कथितं सुत ॥ १२ ॥

मयि चोक्तं शिवे नेदं पूर्वं तुष्टेन सर्वदा ।

भूतोत्पत्ति लयं चैव मयाज्ञातं विभागशः ।

भूयो विज्ञातुमिच्छामि * * * * * * * * ।

पगे ९ तो १९ मिस्सिन्ग्

??????????????????????????????

p. 20a) * * * * * * * * आकारं ब्रह्मसंस्थितम् ॥ १ ॥

अतिगुह्यतमं प्रश्नं यत् त्वया चोदितं गुह ।
तत् सर्वं कथयिष्यामि शृणुष्वा वहितं तथा ॥ २ ॥

शून्यं शून्यं पुनः शून्यं शून्यं शून्यं पुनः पुनः ।
शून्याच्छून्यतरं शून्यं तच्छून्यं शून्यमेव च ॥ ३ ॥

शून्यं शून्यं त्वया प्रोक्तमनेन ज्ञानता मम ।
शून्यस्या शून्यतां ब्रूहि यदि तुष्टोसि मे प्रभो ॥ ४ ॥

शून्यं शून्यं तु यो वेत्ति शून्यं शून्यं तु यो भवेत् ।
अशून्यं तं विजानीयात् सर्वशून्या लयं हितम् ॥ ५ ॥

सर्वभूतेषु तं वत्स त्रिशून्यं हृदिसंस्थितम् ।
न तु जानन्ति तं शून्यमशून्या येन ते कृताः ॥ ६ ॥

शून्यभूतं शिवं ज्ञेयं शून्यभूता हि शक्तयः ॥

p. 20b) अशून्यं तेष्वमीरूपं सर्वगं चेतनात्मकम् ॥ ७ ॥

न हि शून्यस्य शून्यत्वं शून्यत्वं तस्य भावना ।
विज्ञानं ज्ञापकं शून्यं निरालम्बाबलम्भितम् ॥ ८ ॥

विभुत्वेन स्थितं शून्यं ये नेदं पूरितं जगत् ।
तं शून्यं शून्यमित्याहुर्वदन्ति ज्ञानबुद्धयः ॥ ९ ॥

शून्यस्य शून्यता नास्ति अशून्यं शून्यमुच्यते ।
सृष्टिप्रलय रोहित्वा च्छून्यस्याशून्यतां विदुः ॥ १० ॥

शून्यात् सृष्टिः प्रसवति शून्ये तु प्रलयं पुनः ।
तस्मादशून्यता शून्ये निरालम्भावलम्भिनम् ॥ ११ ॥

निरालम्भावलम्भित्वं शून्यता येन सिद्ध्यति ।
विज्ञानज्ञानयोगेन शून्यं ज्ञेयं लभेष्यसि ॥ १२ ॥

शून्यंत्व शून्यं ज्ञातव्यं न हि शून्योस्ति कुत्र चित् ।
p. 21a) तेषां शून्यमिदं शून्यमज्ञाना येषु भावना ॥ १३ ॥

अशून्यं सर्वदा वत्स त्रैलोक्यं स चराचरम्।
ब्रह्मादि स्तम्भपर्यन्तं सर्वं शून्येन पूरितम्॥ १४ ॥

तच्छून्यं पूरिता शक्त्या अव्यक्ता या शिवोत्थया।
यथा चैतन्य भावेन बोधितं भुवन त्रयम्॥ १५॥

वस्तु शून्यं न त च्छून्यं शून्यमज्ञानशून्यता।
तं शून्यं ज्ञान रूपेण ज्ञेयं शून्यं न तद्गुह ॥ १६ ॥

ज्ञेय शून्यो पलब्धित्वं निरालम्बावबोधनम्।
न पुनः शून्य भावस्तु शून्येस्मिंस्तत्त्वतः सुत ॥ १७ ॥

तमो भूतं जगत्सर्वं पूर्वमासी च्छिखिध्वज।
नष्ट सूर्येन्दु वातौघैर्ग्रहनक्षत्र तारकैः॥ १८ ॥

अप्रतर्कमविज्ञेयं दिशासु विदिशासु च।
न चोर्ध्वं नैव पातालं महाभूतैस्तु वर्जितम्॥ १९॥

p. 21b) व्यक्तिं न दृश्यते यत्र अव्यक्तं सर्वतः स्थितम् ।
तस्मिन् काले तया शक्त्या चिद्रूपाया शिवोत्थिता ॥ २० ॥

तुर्यस्थाने लयं कृत्वा ववर्ष ह्यमृतं बहु ।
भूतसृष्टि हितार्थाय प्लावितं चाखिलं जगत् ॥ २१ ॥

तदा ह्यण्डः समुत्पन्नश्चाष्टाङ्गः कनकोपमः ।
कल्पान्तं यावदण्डं तदणु रूपेणसंस्थितम् ॥ २२ ॥

स तु वत्स द्विधा भिन्नो दिवं भूमिं तु निर्ममे ।
अष्टा शा विदिशश्चाष्टौ मध्ये बीजाङ्कुरं पदम् ॥ २३ ॥

चिच्छक्त्या तु समुद्भूतं ये नेदं ग्रथितं जगत् ।
तस्याङ्कुरस्य पृष्ठे तु महापद्मं सितं शुभम् ॥ २४ ॥

सहस्रदलपत्राढ्यं कर्णिकाकेसरैर्युतम् ।
प्रणवं तं च विज्ञेयं पद्मं पद्मदले क्षणम् ॥ २५ ॥

p. 22a) तस्य मध्ये समुत्पन्नो ब्रह्मावेदनिधिर्गुह ।

कर्णिकान्ते स्थितं वत्स सर्वलोकपितामहम् ॥ २६ ॥

सृजते सर्वभूतानि चराणि ह्यचराणि तु ।
तदा प्रजापतिर्वत्स विश्वकर्ता महेश्वरः ॥ २७ ॥

चतुर्मुखं चतुर्बाहुं चतुर्वेद निधिं प्रभुम् ।
सूर्यकोटि प्रतीकाशं कल्पान्ताग्नि समप्रभम् ॥ २८ ॥

तेन तेजोवभासेन भासितं भुवनत्रयम् ।
व्यक्तीभूतं तदावत्स दिशोष्टौ गगनं क्षितिः ॥ २९ ॥

क्षितिभूतं स्थितं पद्मं मेरुभुता हि कर्णिका ।
दलाष्टकं दिशश्चाष्टौ ब्रह्मपद्मस्य षण्मुख ॥ ३० ॥

चतुर्दशविधं वत्स भूतसर्गं चराचरम् ।
सर्वं प्रणवसंभूतं चिच्छक्त्या चेतनोद्भवम् ॥ ३१ ॥

p. 22b) कालाग्नि रुद्रपर्यन्तं चिच्छक्त्याङ्कुरसम्भवम् ।
तच्च पद्मस्थितं वत्स अमृतोदधिमध्यगम् ॥ ३२ ॥

तं दृष्ट्वा तु स्वयं ब्रह्मा विस्मितो ह्यन्तरात्मना।
तदा तस्योदिता बुद्धिर्योगमभ्यमनं प्रति॥ ३३॥

तेन योगं समभ्यस्तं दिव्यायुतसहस्त्रकम्।
तस्य योग फलावाप्तिश्चिच्छक्त्या प्रणवे हृतम्॥ ३४॥

तेन चोत्यादितं सर्वं विश्वं हि स चराचरम्।
ब्रह्मादि स्तम्भ पर्यन्तं यावत् कालादि गोचरम्॥ ३५॥

तस्मात् साकार भुतानि सर्वै ब्रह्ममयागुह।
सर्वं च खल्विदं ब्रह्मस्वतोर्थं ब्रह्म वादिनम्॥ ३६॥

ज्ञात्वा भूत हितं वत्स ये स्थितास्ते ह्यसम्भवाः।
सर्वेषां चैव भूतानां प्रणवं योनिशक्ति धृत्॥ ३७॥

तस्माद् ब्रह्मसमुत्पन्नमादौप्रणव योनिषु।
p. 23a) प्रणवेन भवेत् पद्मं चिच्छक्त्यङ्कुरसन्निभम्॥ ३८॥

तस्मिन् मध्यात्समुत्पन्नः पद्मयोनिस्तदुच्यते ।
प्रणवं योन जानाति बिन्दुनादेन्दु भूषितम् ॥ ३९ ॥

मात्रार्द्धमात्रसंयुक्तं तेन ब्रह्मविदो विदुः ।
अर्द्धमात्रासमुद्भुतं प्रणवं सर्वदा गुह ॥ ४० ॥

नादान्तान्तरसंस्थं तु परं ब्रह्मसनातनम् ।
तस्मिन्नेव लयं कुर्यात् तेनैवं ब्रह्मवादिनः ॥ ४१ ॥

शिवान्तरसमुद्भुत परं ब्रह्मशिखि ध्वज ।
तैर्ज्ञातममृतं तेषामज्ञानं च विषं भवेत् ॥ ४२ ॥

अर्धमात्राणि खर्वांशं तस्यांशः कोटिरंशकम् ।
तस्यापि लक्षसो ह्यंशो योजानाति स ब्रह्मवित् ॥ ४३ ॥

?????????????????????????????

p. 23b) ब्रह्माण्डा ब्रह्मणोत्पत्तिं मया ज्ञातं मया श्रूतम् ।
अधुना श्रोतुमिच्छामि स्त्रीपुंसोश्चैव सम्भवम् ॥ १ ॥

यत् त्वया चोदितं प्रश्नं दुर्विज्ञेयं सुरैरपि ।

तत्तेहं कथंयिष्यामि रहस्यं प्रश्नपूर्वकम्॥ २॥

योगमभ्यसितं पूर्वं सृष्ट्यर्थं पद्मयोनिना।
तपश्च सुमहत्तीर्णां दुष्करं चाद्भुतोपमम्॥ ३॥

तदा तुष्टः स भगवाञ्शिवः परमकारणः।
परं ब्रह्मशिवं ज्ञेयं परं स्थानमनामयम्॥ ४॥

परापर शिवं वत्स सर्वेषां परतः स्थितम्।
तेन तुष्टेन देवेन चिच्छक्त्या चेतना गुह॥ ५॥

गच्छत्वं ब्रह्मणः नार्धं सृष्टिसृष्ट्यर्थ कारणम्।
p. 24a) आराधितो ह्यहं तेन भक्त्यापरमयायदा॥ ६॥

चिच्छक्त्या चोदितं देव प्रत्यक्षं त्वं कथं विभो।
तदादि दृष्ट पूर्वोयमेवं पद्म तनुर्भवेत्॥ ७॥

एवं मत्वा सवै शक्तिः शक्तिरूपेण संस्थिता।
स तु विष्णुर्विजानीया च्छक्तिरूपेण शक्ति धृत्॥ ८॥

अहं तु पुरुषः साक्षाच्छिव तेजस्समुद्भवः।
उभाभ्यां बीजरूपेण पद्मयोनिस्तृतीयकः॥ ९॥

एवं हि त्रिविधा सृष्टिः संभुताभुतजा गुह।
प्रणवं तु भवेदेष अ उ-मक्षरयोजितम्॥ १०॥

नादेन्दु बिन्दुरेते वै कलामात्रास्तथैव च।
चतुर्विंशति तत्वानि पुरुषं पञ्चविंशकम्॥ ११॥

आयुः कर्म च वित्तं च विद्यानिधनमेव च।
अन्ये ये केचिच्छारीरा व्यक्ता-अव्यक्त वायवः॥ १२॥

p. 24b) सर्वं समरसं भुत्वा चिच्छक्त्याव्यक्तया गुह।
तं रसं ब्रह्ममित्याहुरानन्दकरणं परम्॥ १३॥

शुक्रं तं तु विजानीयादमरत्वं कभो?तिसः।
सृष्टिरूपेणमर्त्यानाममरत्वे व्यवस्थितः॥ १४॥

देवानाममरत्वं च पुरातेनैव कल्पितः ।

चतुर्दशविधिवत्स भूतसर्गं चराचरम् ॥ १५ ॥

अग्रे खगात्मकं सर्वं सृष्टब्रह्मादिभिर्गुह ।

ब्रह्मतेजस्समुत्पन्नावग्नीषोमौ शिखिध्वज ॥ १६ ॥

तथा बीजस्य बीजत्वमन्यथा तु निरर्थकम् ।

एवं सर्वे समारम्भाः सर्वबीजेषु संस्थिताः ॥ १७ ॥

शरीरसृष्टिहेत्वर्थं चिच्छक्त्या चेतनात्मकम् ।

यथान्यग्रोध बीजानां न्यग्रोधाभ्यन्तरे स्थितः ॥ १८ ॥

p. 25a) तथा सर्वेषु भूतेषु चिच्छक्त्या चेतसंस्थितम् ।

?????????????????????????

सृष्टिन्यासं मयाज्ञातं दैविकं चैव मानुषम् ।

भूयश्च परिपृच्छामि स्त्रीपुंसो सम्भवो यथा ॥ ॥

इदं गुह्यं महागुह्यं सर्वगुह्येषु वै गुह ।

यत् त्वया चोदितं प्रश्नं तत् सर्वं शृणु षण्मुख ॥ २ ॥

प्राक्तनैः कर्मलेशेश्च शुभैश्चाप्य शुभैस्तथा ।
समुत्पद्यन्ति संसारे योनि लक्ष्वान्तरेषु च ॥ ३ ॥

शुभकर्ता शुभे योनौ दुष्कृती दुष्कृतेषु च ।
एवं कर्ता च कर्मभ्यो भुञ्जते वै शुभा शुभम् ॥ ४ ॥

यदा यमः स च भवेद् यदा सृष्टिः प्रवर्तते ।
p. 26b) उभाभ्यां तत्र संयोगाद्भगलिङ्गसमागमे ॥ ५ ॥

गर्भं सम्भवते गर्भे चिच्छत्तया शक्तिचोदिते ।
योनिद्वारस्य वै पृष्ठे नाभिपद्मं स्थितं गुह ॥ ६ ॥

यदा विकसितं स्त्रीणाम तु कालस्तदा भवेत् ।
रजः प्रवर्तते ह्यस्यां दिवसानि तु षोडश ॥ ७ ॥

ऋतुकाले तु तत् पद्म मधोमार्ग मुखं भवेत् ।
तस्मिन् बीजं यदा क्षिप्तमृतुकाले शिखिध्वज ॥ ८ ॥

तदा तद्रोहते बीजमन्यथा रूपरेहितम् ।
पुंसेत् कर्ष भवेत् पुंसः स्त्रियोत्कर्षे भवेत् स्त्रियः ॥ ९ ॥

समेन पुंसकं ज्ञेयमाधिक्ये नैव किञ्चन ।
युग्मे युगानु युग्मे स्त्री अन्तकालेन पुंसकम् ॥ १० ॥

ऋतुकाले ह्यति क्रान्ते भूयः पद्मं समं भवेत् ।
p. 26a) तस्य मध्ये स्थिता वत्स पिङ्गलादस्पृतोद्भवा ॥ ११ ॥

सा नन्द यति सर्वेषां रतिकाले शिखिध्वज ।
जायते पुरुषश्चैवमानन्दयति सर्वदा ॥ १२ ॥

उभाभ्यां समयोगेन तदा बीजः प्ररोहति ।
पुरप्रवेशमेतद्धि अमरत्वं च वै भवेत् ॥ १३ ॥

तदा पुत्राश्च पौत्राश्च प्रपौत्राश्च न संशयः ।
जन्तवो गोत्र सन्ताना अमरत्वं तदा भवेत् ॥ १४ ॥

तस्य पद्मस्य मध्ये तु चिच्छक्तिरमृतोद्भवा ।

वसते सततं वत्स दिवसानि तु षोडशः ॥ १५ ॥

तदा लिङ्ग च्युतं बीजं तस्मिन् स्थाने प्ररोहति ।
तस्य पद्मस्य गर्भोयं गर्भशय्या शिखिध्वज ॥ १६ ॥

पद्मिनी शङ्ख रूपेण गर्भशय्या स्थिता गुह ।
तस्य मध्ये यदा क्षिप्तं क्षिप्तं बीजेवकल्पयेत् ॥ १७ ॥

p. 26b) अन्यथा तु अबीजेयमौषधं क्षिपितं यथा ॥ ॥

????????????????????????????
सर्वं देव मया ज्ञातं सर्वं तात मया श्रूतम् ।
अधुना श्रोतुमिच्छामि रजोरेतः समुद्भवम् ॥

अत्यन्त कुत्सितं पुत्र यत् त्वया परिपृच्छितम् ।
दुष्कृतीनां च सर्वासां गर्भवासः प्रकीर्तितः ॥ २ ॥

कालाग्नि रुद्र पर्यन्तं यावद्ब्रह्माण्डगोचरम् ।
सर्वं चिच्छक्तिना व्याप्तं शिवाज्ञा चोदितं गुह ॥ ३ ॥

चिच्छक्ति संप्लुता भूताः सर्वेषामन्तरे स्थिताः ।
प्ररोहं कुरु वृद्धिं च अन्यथा तस्य चोदनम् ॥ ४ ॥

p. 27a) व्यक्तं न दृश्यते तस्य अव्यक्त त्वात् सृजत्यसौ ।
तस्य बीजं कुरुत्यन्ता तया सृष्टं चराचरम् ॥ ५ ॥

चराणामचराणां च भूतानां शिखिवाहन ।
योसौ योनिः सनिधनं परमार्थं तु तं विदुः ॥ ६ ॥

परमार्थं तु तं ज्ञेयं यस्य शक्तिर्न लुप्यते ।
शक्तिर्न लुप्यते चास्य शिवयोगा शिखिध्वज ॥ ७ ॥

सर्वेषामेव भूतानां योन्यण्ड स्वेदजोद्भिजः ।
अग्नीषोमानिलयुतं विशते परमेश्वरः ॥ ८ ॥

उत्पत्तिरेषा भूतानां प्राणापानोदयेन तु ।
अस्तङ्गतैस्तैर्निधनं देहे देहेश्वरो गुह ॥ ९ ॥

आदौ भूताः समुत्पन्नाः पश्चादण्डस्य सम्भवः ।

ततोङ्कुरं च पद्मं च तत्व ब्रह्मादनन्तरम् ॥ १० ॥

चतुर्विंशति तत्वानि अक्षतानि तु वै गुह ।
गायत्री तु भवेत् तैस्तु महादेवाति निस्सृतम् ॥ ११ ॥

p. 27b) ते नैव निस्सृतं विश्वं कर्मयुग्मसमन्वितम् ।
चिच्छक्ति संभवं सर्वं ब्रह्माण्ड कुहरोदरम् ॥ १२ ॥

तस्माद् वै सर्वदा वत्स चिच्छक्तिः परमार्थतः ।
मया सृष्टं जगत्सर्वं भूतसर्गं चराचरम् ॥ १३ ॥

स्त्रीरजो रेतसं मिश्रं कलिलं मासमेकतः ।
चिच्छक्त्या चेतनोद्भूतं द्वितीये मासि बुद्बुदम् ॥ १४ ॥

रेतोरक्तसमुद्भूतं तृतीये मासि षण्मुख ।
चिच्छक्ति सम्भवा ह्यत सर्वेषामन्तरे स्थिताः ॥ १५ ॥

प्ररोहाङ्कुर वृत्तिं च सर्वेषां तस्य चेतनाः ।
व्यक्तिर्न दृश्यते तस्य अव्यक्त त्वात् सृजत्यसौ ॥ १६ ॥

तस्य बीजाङ्कुरस्यान्तं तेन दृष्टं चराचरम् ।
चराणा?मचराणां च भूतानां शिखिवाहन ॥ १७ ॥

p. 28a) बुद्बुधाङ्कुरसंलीनं चिच्छक्तिः सृजतेङ्कुरम् ।
तं नालं पद्मगर्भस्य नाभिनालं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

ततोमांसास्थि संभुतिस्तृतीये मासि षण्मुख ।
यथा बीजाङ्कुरं वत्स अव्यक्तं नैव दृश्यते ॥ १९ ॥

चतुर्थे मासि संप्राप्ते जायन्ते वयवाङ्कुराः ।
तदा व्यक्तं भवेत् कायं पुरुषा कृति संज्ञकम् ॥ २० ॥

चिच्छक्त्या चेतनं तस्य जायन्ते स्तोकमात्रकम् ।
मज्जास्थि स्नायुमेधं च मांसं रुदिरमेव च ॥ २१ ॥

वातपित्तं तथा श्लेष्मं शुक्रं मूत्र पुरीषयोः ।
सिरानाडी ग्रन्थयश्च द्वाराः कूर्माश्च जालकाः ॥ २२ ॥

त्वचं मर्माणि सन्धीश्चलोमनाड्यस्तथैव च ।
एते चान्येपि ये केचिच्छरीरोत्पत्ति कारणम् ॥ २३ ॥

p. 28b) सम्भवन्ति च सर्वे वै अङ्गान्यवयवास्तथा (देहस्या) ।
पञ्चमे मासि समये न खलोमानि स्पन्दनम् ॥ २४ ॥

श्रोत्त्रशुक्तिश्च शोत्राणां धातूनां धातुरोपणम् ।
व्यक्तत्वं सर्वमङ्गानां यथा यस्य तु कल्पितम् ॥ २५ ॥

चिच्छक्ति चेतनवशात् सम्पन्नास्ते शिखिध्वज ।
षष्ठे मासि रसान् सर्वान् यदा ते मातृ भोजनात् ॥ २६ ॥

क्षुट्तृष्णा जाग्रनिद्राश्च शीतोष्ण मुखदुःखिताः ।
चिच्छक्ति चेतनोर्थे न चेतनां चेतते तु यः ॥ २७ ॥

सप्तमे मासि संप्राप्ते चैतन्यं मानुषोपमम् ।
यदा प्रबुध्यते चाग्निर्ह्यदिस्थं तच्च वै गुह ॥ २८ ॥

तदा स सर्वमखिलं शरीरे द्योतयत्यसौ ।

पद्मत्रयं प्रबुद्ध्येत ह्यन्नाभि मुखसंस्थितम्॥ २९॥

p. 29a) वायवश्च प्रवर्तन्ते प्राणाद्या ये प्रकीर्तिताः।
लिङ्ग्ध्यानाडयः सर्वा हृत्पद्मदलसम्भवाः॥ ३०॥

तानिमां पूरितं सर्वं तेजोर्थेन जरायुभिः।
तैर्व्याप्तमखिलं पिण्डं लोमान्तं यावत् षण्मुख॥ ३१॥

नाडि चक्रं तु सर्वं वै व्यापितं सर्वरस्मिभिः।
यथा सूर्योदये सर्वं रस्मिभिर्व्यापितं जगत्॥ ३२॥

पाणाग्नि सूर्यौ निर्णीत्वा व्यापितं देहमात्मनः।
चिच्छक्ति चेतनोर्थाय बहिः सूर्यं शिखिध्वज॥ ३३॥

न तु तस्यात्मनाशक्तिर्यावच्चिच्छक्ति चोदिता।
अष्टमेन तु मासेन बुद्धिर्गर्भस्य संभवेत्॥ ३४॥

यथाहङ्कार दोषेण गर्भवासं वसाम्यहम्।
तमोन्धकारगहने सर्वदुःखसमाकुले॥ ३५॥

p. 29b) स्वेदमूत्रपुरीषोर्थे वसारुधिरसंयुते।
कलिश्सेष्मसङ्कीर्णे मांसास्थिस्नायु सङ्कटे॥ ३६॥

एकविंशति ये प्रोक्ता नरकाश्च भयावहाः।
तेषां मध्यान्महाघोरं नरकं कुक्षि सम्भवम्॥ ३७॥

चन्द्रार्करहितं भीमं वाय्वग्नि परिवर्जितम्।
नरकार्णवसंप्रख्यं दुःखकल्लोलदुस्सहम्॥ ३८॥

अहं जातः कथं पुत्र किं मया दुष्कृतं कृतम्।
एवं सञ्चिन्त्यमानस्य चिच्छक्त्या चोदितस्य च॥ ३९॥

नवमे मासि समये संप्राप्तेषु सवेगुह।
अत ऊद्ध्वं तु ये केचित् गर्भवासे वसन्ति च॥ ४०॥

महापातकिनस्ते वै उपपातकिनस्तु ये।
दर्शनं दशमे मासि सुकृतानि तु चिन्तयेत्॥ ४१॥

p. 30a) येनाहं सन्तरिष्यामि योनिद्वाराद्भयानकात् ।
तदहं तत् करिष्यामि येन भुयो न जायते ॥ ४२ ॥

सुकृतानि ह्यशेषाणि यानि वै कथितानि तु ।
वेदेषु सर्वशास्त्रेषु पुराणेषु स्मृतीषु च ॥ ४३ ॥

तानि सर्वान् करिष्यामि यथोक्तानि विधानतः ।
एवं सञ्चिन्त्य मानस्य चिच्छत्त्या प्रसवं कृतम् ॥ ४४ ॥

महाभयं तु गर्भस्य प्रसवं तु शिखिध्वज ।
अत्यन्त भयभीता तु मण्ड उद्विजिता गुह ॥ ४५ ॥

हस्तपादशरीरेण स्वकेन शिखिवाहन ।
विदार्य पद्मं गर्भस्य योनिद्वार मुखे गतम् ॥ ४६ ॥

तदामाता भयं प्राप्ता मरणान्तिक गोचरम् ।
p. 30b) विदार्य सृष्टिं द्वारेण मातुः सन्देह कारकम् ॥ ४७ ॥

निर्गत्य पतते भूमौ निस्संज्ञं तु तदा भवेत् ।

न तस्य सुकृते बुद्धिर्न च दुष्कृत कर्मणि ॥ ४८ ॥

मोहितो मायया वत्स चिच्छक्त्या बालसंज्ञया ।

उत्पत्तिरेषाभूतानां योनिजानां शिखिध्वज ॥ ४९ ॥

तस्मात् सर्व प्रयत्नेन अजातपदमभ्यसेत् ॥ ॥

??????????????????????????????

न किञ्चिदपि तं देव यन्मयानावधारितम् ।

तत्रापि संशयं देव वर्तते धातु सङ्क्षयात् ॥ १ ॥

अत्यन्त गहनं प्रश्नमप्रत्यक्षमगोचरम् ।

p. 31a) यत् त्वया चोदितं प्रश्नं पुत्रस्नेहाद्वदामिते ॥ २ ॥

पञ्चभौतिक पिण्डस्य चिच्छक्त्या निर्मितस्य च ।

यथा वै धातु संख्यानमङ्गानां च शृणुष्वमे ॥ ३ ॥

षड्रसाहारतृप्तस्य धातुसन्तर्पितस्य च ।

रसं सम्भवते वत्स मासमेकं तु निष्फला ॥ ४ ॥

तं रसं रसरूपेण चिच्छत्त्या ह्यमृतं कृतम्।
पराग्नि संभवं तं वै न स शुक्रो भवत्यसौ॥ ५॥

सृष्टिबीजं तु तं ज्ञेयं ततः सृष्टिः प्रवर्तते।
रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदोथ जायते॥ ६॥

मेदसोस्थि तथा मज्जा मज्जा च्छूक्रं च जायते।
शुक्राद्धातूनि सर्वाणि धातुभ्यां देहमानुषम्॥ ७॥

तेषां सन्तर्पणं तुष्टि रसतर्पणतो व्ययम्।
एवं हि प्रथमं तावच्छरीरोत्पत्ति कारणम्॥ ८॥

p. 31b) अनन्तरं पुनर्वत्स यथा भवति तच्छृणु।
वातं पित्तं तथा श्लेष्मं धातवः परिकीर्तिताः॥ ९॥

विण्मूत्र शुक्रमज्जा तु मांसं चैवाष्टमं विदुः।
शरीरधारणा ह्येते सङ्ख्यासङ्ख्या कृतां गुणाः॥ १०॥

धातु साम्ये स्थिता देहे सर्वे ते गुणकारकाः।

तासां सङ्ख्या भवेदेषा कल्पना शिखिवाहन ॥ ११ ॥

विपर्ययेण धातूनां न हि सङ्ख्या भवेत् गुह ।
वायु भावे गुणा ये च ये वाने यौ ध्वने तथा ॥ १२ ॥

न तु मध्य वयोतीत समत्वं सर्वधातुषु ।
अतोर्था धातु पूर्वाये असङ्ख्येयाविलागुह ॥ १३ ॥

स्थितो यो सौ हृदि ह्यग्निः प्रणवोर्थः शिखिध्वज ।
तेन सन्तर्पिते नैव धातवस्तर्पिता गुह ॥ १४ ॥

स शृणोति स वै पश्येद् यो रसान् स्वादते चिरम् ।
p. 32a) स तु गन्ध गुणस्पर्शं भुञ्जते देहसंस्थितः ॥ १५ ॥

तस्य भावात् प्रलीयन्ते सर्वे ते धातवः सदा ।
तस्माद् वै सर्वदा वत्स स कर्तासेवकारणम् ॥ १६ ॥

यथा रस्मि सहस्राणि सूर्यायत्तानि षण्मुख ।
तथा सर्वाणि भूतानि ते जायत्तानि सर्वशः ॥ १७ ॥

?????????????????????????

दातूत्पत्तिर्मया ज्ञाता यथा तथ्यं सुविस्तरम्।

सर्वेषामेव धातूनां रक्तं तु प्रथमं भवेत्।

स तु मांसं समाश्रित्य संस्थितं सर्वदेहिनाम्॥ २॥

तस्य मज्जा भवेद्वत्स पलद्वात्रिंश संख्यया।

p. 32b) मांसं पेशीशतान्यष्टौ शतैकेनैव चाधिकः॥ ३॥

पयः पीत्वा भवेद् रक्तं द्विगुणं तं शिखिध्वज।

पित्तस्य तु पलान्यष्टौ श्लेष्मरक्त समाश्रितम्॥ ४॥

रक्तस्य हि समं श्लेष्मं तद्वद्वृत्तिस्तु षण्मुख।

वसामेदः पृथक्त्वेन उभौ विंशत्पलीनकौ॥ ५॥

शुक्रं पित्तं समं ज्ञेयमस्थिमज्जान्तरेषु च।

वसादाहारपानाभ्यां विण्मूत्रं जायते पुनः॥ ६॥

तदा भावे ह्यसंख्येयं स्थिरत्वं तेषु नैव च।

रक्तं पित्तं तथा श्लेष्मं शुक्रं मज्जा तु षण्मुख॥ ७॥

रसोद्भवानि चैतानि रसभावा तु नैव हि ।
सर्वेषामेव धातूनां पित्तं वै श्लेष्म बन्धनम् ॥ ८ ॥

यस्माद्रसोद्भवाः सर्वे तदा तेषां निबन्धनम् ।
यस्माद्रसोद्भवाः सर्वे तदा तेषां निबन्धनम् ॥ ९ ॥

p. 33a) मज्जायां तु पलाविंशत् सर्वास्थ्यभ्यन्तरे स्थिताः ।
अस्थीनां तु शतां त्रीणि षष्ठ्य स्थिरधिकानि च ॥ १० ॥

तन्त्रीणां चैव विज्ञेयं शतमष्टाधिकं तथा ।
अष्टोत्तरं चर्मशतं सिराणां सप्त वै शतम् ॥ ११ ॥

ताश्च रक्त वहाः सर्वा देहमाच्छाद्यसंस्थिताः ।
ग्रन्थीनां तु शतं वत्स अष्टात्रिंशोत्तरं तथा ॥ १२ ॥

प्रधाना ग्रन्थयः पञ्च यैः कार्यं मोक्षसाधने ।
स्नायु जालमसंख्येयं यैर्बद्धं कायपञ्जरम् ॥ १३ ॥

मांसं तु धार्यते तैस्तु सङ्कोच करणानि ते।
चतुष्षष्टिर्भवेत् कूर्चं तयोः स्नायूंश्च सम्भवेत्॥ १४॥

सूचिताता भवेत् षष्टिः स्नायु सूत्रैस्तु यन्त्रितम्।
तदा यन्त्र मयं सर्वं शरीरं मानुषात्मकम्॥ १५॥

p. 33b) द्वासप्तति सहस्राणि नाडीनां परिकीर्तितम्।
तास्तु वायु वहाः सर्वास्सर्वास्ता मोक्षदाः शुभाः॥ १६॥

तासां मध्ये प्रधानैका पिङ्गला अमृतोद्भवा।
तदुद्भवाणि सर्वाणि यथा प्राणोद्भवानिलाः॥ १७॥

चर्ममेकं तु विख्यातं रोम च्छन्नं समन्ततः।
तिस्रः कोटयो व कोटिस्तु रोमसङ्ख्यः प्रकीर्तिताः॥ १८॥

ते च नाडि समुद्भूता यस्मात् तेजोद्भवानि ते।
ते सङ्ख्ये या असङ्ख्ये या ये तु देहान्तरे स्थिता॥ १९॥

सर्वे तेजः समुद्भूता सर्वे ते तेजसंस्थिताः।

लोमक्रामानि सर्वाणि द्वाराणि शिखिवाहन ॥ २० ॥

अज्ञानान्नैव दृश्यन्ते दृश्यन्ते ज्ञान चक्षुषा ।
p. 34a) नखानां विंशतिः प्रोक्ता नवद्वाराणि षण्मुख ॥ २१ ॥

एवं सङ्ख्या समुद्भूता शरीरेषु शरीरिणाम् ॥ २२ ॥

?????????????????
अवयवानां तु सर्वेषां सङ्ख्योत्पत्तिर्मया श्रूता ।
भूयो विज्ञातु मिच्छामि ब्रह्मवेश्म शरीरजाम् ॥ १ ॥

सर्वे प्रश्ना मयाप्रोक्ता रहस्यानि तु सर्वसः ।
यस्माद्ब्रह्म मयं देहमत्रब्रह्म तु लभ्यते ॥ २ ॥

अवयवाः पूर्वमुक्ता मया चैवं शिखिध्वज ।
यद्येकोन भवेत् तेषां तदा सर्वे ह्यपार्थकाः ॥ ३ ॥

प्राक्तनानभवन्त्येते संहतादेह धारकाः ।
p. 34b) एकैकं च तथा भूतमुत्पन्नं शक्ति चोदितम् ॥ ४ ॥

पुनरेव तु ते नैव यन्त्रितं भूत पञ्जरम्।
तस्माद् यन्त्र मयं सर्वं शरीरं मानुषात्मकम्॥ ५॥

गृहकृत्यसमादृश्यमस्थिदा रुचितं शुभम्।
मांसरक्त मृदादिग्धं स्नायु कीलक कीलितम्॥ ६॥

लिप्ते वै चर्म लेपेन नवद्वारोपशोभितम्।
एकोन धार्यते स्तम्भं ब्रह्माण्डं येन धार्यते॥ ७॥

ब्रह्मवेश्म सदावत्स तस्मिन् मध्ये परं स्थितम्।
ब्रह्मणो वेश्मनो मध्ये वेदमग्नि त्रयस्य च॥ ८॥

तेषां होमं प्रकुर्वीत प्रत्यहं चाहिताग्निना।
आज्येन्ध न तिलैर्दर्भैर्धूमैर्गन्धैः स्त्रजैः शुभैः॥ ९॥

न तेषां तुष्टिपुष्टिर्वाहुतैस्तैर्जीवसंज्ञकैः।
तुष्यन्ते तर्पितावत्स प्राणापानाहुतीषु च॥ १०॥

p. 35a) न तेषां हूयते हव्यमजीवं ब्रह्मसंभवम्।

जुहुयात् सततं वत्स प्राणापानावमृतोद्भवौ ॥ ११ ॥

तुर्यस्थानामृतं वत्स वसुधारेवसंस्थितम् ।
स्रवते सततं वत्स प्राणाग्नौ तर्पणं प्रति ॥ १२ ॥

अग्नयस्तेन तृप्यन्ति आज्येन्ध न निरर्थकाः ।
बाह्याग्नीतमुपासीत विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १३ ॥

भुर्भुवः स्वस्तपोलोका दृश्यन्ते तैर्हुताखिलाः ।
ब्रह्मवेदिर्भवेदेषा ब्रह्मवेश्मस्य मध्यतः ॥ १४ ॥

अन्तर्वेदी तथात्रैव सुषुम्णा त्रान्तरे स्थिता ।
प्रयागं च कुरुक्षेत्त्रं पुष्करं नैमिषं तथा ॥ १५ ।

वाराणसी तथा गङ्गा केदारं सिन्धु सागरम् ।
एते चान्येपि ये केचित् तीर्थान्यायतनानि च ॥

p. 35b) सर्वे तिष्ठन्ति ब्रह्मज्ञ परमाग्नौ जुहोति यः ।
सर्वं सर्वेषु भूतेषु प्रकटं संस्थितं गुह ॥

अज्ञानान्नैव पश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषा ॥ ॥

??????????????????????

ब्रह्मवेश्म तथाज्यं च त्वत् प्रसादाच्छ्रुतं मया ।
अधुना श्रोतु मिच्छामि ब्रह्मब्रह्मपुरेस्थितम् ॥

सर्वं सर्वं मयाख्यातं यत् त्वया पृच्छितं गुह ।
अयं प्रश्नो गुरोर्वक्त्राद्यदि ज्ञास्यसि निश्चयात् ॥

रहस्यं सर्व शास्त्रेषु वेदादि सहितेषु च ।
सिद्धान्ते कुल सिद्धान्ते अवाच्यं यत् कथं च ते ॥ ३ ॥

नित्योदितं च नित्यं च अनित्यं कल्पनात्मकम् ।
p. 36a) यत् त्वया चोदितं वत्स अति स्नेहाद्वदामिते ॥ ४ ॥

यो सौ ह्यदि स्थितः पद्मः प्रणवोर्त्थः शिखिध्वज ।
तस्य मध्ये परं तेजो यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

महाज्वाला समाकीर्णं रश्मिभिः परिवारितम् ।

असङ्ख्या भासुराभासं ब्रह्मवेश्मस्य दीपनम् ॥ ६ ॥

तं च पश्यति यः पुत्र तं च ब्रह्म विदो विदुः ।
नदते सततं यस्मात् तस्मान् नादमिहोच्यते ॥ ७ ॥

प्रवाहेन स्थितं वत्स यथा नद्यो जलाशयाः ।
अव्युच्छिन्नं च तं नादं नदते सर्व देहिनाम् ॥ ८ ॥

देहे देहे न चान्यो वै एकं वै सर्वतः स्थितम् ।
अनच्छं केचिदिच्छन्ति शून्यं केचित्व दन्ति च ॥ ९ ॥

मात्रार्धमात्रं केचिच्च नास्ति नास्तीति नास्तिकाः ।
p. 36b) तं नादं प्रकटं येषां तेषां मोक्षो ध्रुवं गुह ॥ १० ॥

धूलिभेदेन ते सिद्धं सिद्धं गुरुमुखाच्छुभम् ।
त्वां विदित्वा महासेनं तं मोक्षं प्राप्स्यसे ध्रुवम् ॥ ११ ॥

ध्रुवं भवेद्भवेद्वत्स ध्रुवरूपेणसंस्थितम् ।
परमाग्नि समुद्भूतं तं नादं नदते गुह ॥ १२ ॥

तच्च दर्शयते वस्तु स गुरुर्गुरुरेव च ।
दैशिकस्तु स विज्ञेयो मोक्षो वै मोक्षिकस्तु सः ॥ १३ ॥

लक्षणं शृणु नादस्य यथात्वं लक्षयिष्यसि ।
येन विज्ञात मात्रेण भ्रान्ति ज्ञानं निवर्तते ॥ १४ ॥

यथेन्धनप्रदीप्तेऽग्नौ यथाक्षोभ च्युतं जले ।
यथा वाताहते वृक्षे शब्दोयं श्रूयते गुह ॥ १५ ॥

तथा शरीर ब्रह्मोयं प्रत्यक्षं शृणु षण्मुख ।
शृङ्गध्वनि निनादेन नदन्तं यः शृणोति वै ॥ १६ ॥

p. 37a) तं नादं ब्रह्ममित्याहुर्यः शृणोति शृणोति सः ।
न किञ्चिदपि तं वत्स यस्य तं न ह्यदि स्थितम् ॥ १७ ॥

न तु जानन्ति तं मूढा ज्ञान विज्ञान वर्जिताः ।
प्रकटं ज्ञान चक्षुर्भ्यां पश्यते शृणुते तु सः ॥ १८ ॥

तर्जनी प्रान्तसंरुद्धौ कर्णौ द्वौकारयेद्गुह ।
एतेन श्रूयते नादं न दन्तं ब्रह्मसंभवम् ॥ १९ ॥

एवं वै परमं नादं हृदिस्थं सर्वदेहिनाम् ।
ब्रह्मादि स्तम्भ पर्यन्तमाकारा ये भवन्ति वै ॥ २० ॥

तेषां हृदि स्थितं वत्स गुरुवक्त्रात् तु लभ्यते ।
गुरूपदेशगम्योयं यदि तुष्टो वदत्यसौ ॥ २१ ॥

अन्यथा न तु सिद्धयेत कल्पकोटि शतैरपि ।
स तृप्तः स च वै मुक्तः सोमृतं चाश्नुते ध्रुवम् ॥ २२ ॥

p. 37b) यस्येदं विदितं ब्रह्म परस्पर पदानुगम् ।
परंपरगतं वत्स परात्परतरं हितम् ॥ २३ ॥

तं च नादं समाख्यातं येन व्याप्तं चराचरम् ।
ब्रह्मादि सर्व भूतेषु चरेषु ह्यचरेषु च ॥ २४ ॥

हृदिस्थं नदते नादं प्राणाद्या वायवेखिलाः ।

व्यापारेषु स वै कर्ता समस्तव्यस्तकेषु च ॥ २५ ॥

स कर्ता स हि विज्ञेयस्त्वं तर्ह्य न गतो गुह ।
सर्वे ये केचिद् व्यापाराः सृष्टिराद्याः क्षयान्तिकाः ॥ २६ ॥

स कर्ता चैव सर्वेषा परं ब्रह्म सदोदितम् ।
चतुर्विंशति तत्त्वानि पुरुषः पञ्चविंशकः ॥ २७ ॥

सर्वेषां स हि कर्ता वै तदा यत् तानि तानि तु ।

???????????????

p. 38a) सर्वं सर्वं मया ज्ञातं सर्वं सर्वं मया श्रुतम् ।
न पुनस्तात कौलेयं खेचरीणां मुखेस्थितम् ॥ १ ॥

महाज्ञानमिदं वत्स महाविज्ञानमेव च ।
यत् त्वया चोदितं प्रश्नं कौलं खेचरि गोचरम् ॥ २ ॥

पुत्र स्नेहात् कथिष्यामि रहस्यमद्भूतोपमम् ।
तं हि सिद्ध्यन्ति तासां वै तास्तस्मिंस्तेजसा गुह ॥ ३ ॥

सामान्यानां तु मर्त्यानां लोकोपहत चेतसाम्।
कुविकल्पगतानां वै सत्यं वत्स न सिद्ध्यति॥ ४॥

जीवाख्यममृतं यच्च हृदाकाशान्तरे स्थितम्।
पिबन्ति रूपिकास्तं तु नाडिमाश्रित्य मध्यमाम्॥ ५॥

तं पीत्वा तृप्ति मायान्ति अतोर्थं तं पिबन्ति हि।
देवान् पितृस्तर्पयन्ति कुलनाड्यांस्त संस्थिताः॥ ६॥

तासां मोक्षं शिवेनोक्तमनेन विधिना गुह।
न पुनर्होमहवनैर्यज्ञैश्च बहुदक्षिणैः॥ ७॥

मांसास्थि रुधिरं मज्जां भक्षयन्ति च रूपिकाः।
विवर्ते ह्यमृतं वत्स हृदिस्थं यत्परं पदम्॥ ८॥

सिद्धिस्तेषां तु ते नैव तर्पयित्वा तु भैरवम्।
भैरवस्तर्पितं तासां धर्मे च पशुं प्रोक्षणे॥ ९॥

चिच्छक्तिः पशवस्तेषां हृन्मध्यसंस्थिता।

मोक्षश्च निहितं यज्ञे भैरवोक्तेषु सर्वदा ॥ १० ॥

पिहितं तं तु विज्ञेयमन्यथा वद एव तु ।
अनेन विधिना वत्स हिंसन्ति पशवो यदि ॥ ११ ॥

समुक्तः पशुनासार्धं मोक्ष इत्यभिधीयते ।
p. 39a) सिद्ध्यते महतां सिद्धिरष्टसिद्धिसमन्विता ॥ १२ ॥

सामान्यानां तु सिद्धीनां कोविशेषोस्ति शक्ति धृत् ।
कस्येदं विदितं ज्ञानं ज्ञेयं विज्ञान सम्मितम् ॥ १३ ॥

ब्रह्माद्याः पशवस्तस्य पशोरन्यस्य का कथा ।
पशूनां चैव सर्वेषामादिकर्ता प्रजापतिः ॥ १४ ॥

स एव प्रोक्षितो यस्मात् तस्मात् कौलोधिकं भवेत् ।
वेदयज्ञेषु पशवो हिंसन्ति ब्राह्मणोत्तमाः ॥ १५ ॥

भैरवीयेषु सर्वेषु पुंपशुं हन्ति साधकाः ।
सूक्ष्मपुर्यष्टकं यच्च भूतानां हृदि संस्थितम् ॥ १६ ॥

तं पशुं हन्ति योगिन्यो हत्वा सिद्ध्यन्ति सिद्धिषु ।
प्राणापानोदये तस्मिन् बिन्दुनाद लयं गताः ॥ १७ ॥

पिबन्ति रूपिकास्तास्तु पशुं हत्वाशिखिध्वज ।
गतिरेषा हि चैतेषां तदात्मेतं लभन्ति हि ॥ १८ ॥

p. 39b) जीवव्योमान्तरं यच्च भूतानां हृदिसंस्थितम् ।
प्राणापानप्रवाहेन न विदित्वा पिबन्ति हि ॥ १९ ॥

सद्यो निर्धानदीर्ता? वै मोक्षकस्तु * * * * ।
* * * * * * * * * * भक्ष्यानि कानि तु ॥ २० ॥

पिबन्ति येन सिद्ध्यर्थं विधिना भैरवेन तु ।
भैरवोक्तेन विधिना सम्यग् योग बलेन तु ॥ २१ ॥

पिबन्ति मदिरां तु क्षीरवत्प्रकटं गुह ।
स सिद्धः साधकः सोहि शेषा वै मध्यमाः स्मृताः ॥ २२ ॥

पुष्पमात्रेण प्राप्येनं बहूनां यस्तु निर्वपेत्।
क्षीरं तु कुरुते मध्यं संशये समुपस्थिते॥ २३॥

स सिद्धः सर्वदा वत्स कृष्णः श्वेत करो गुह।
प्राणापानान्तर चरोनाडि त्रितय यायिनः॥ २४॥

तं पिबन्त मृतं दिव्यं परं परमसिद्धिदम्।
p. 40a) सौरंमार्गं परित्यज्य चान्द्रं मार्गं तथैव च॥ २५॥

ब्रह्ममार्ग गमं यस्य तं पिबंत्य मृतं परम्॥

???????????

वदमे यदि तुष्टोसि इष्टं तथ्यं हितं विभो।
येन विज्ञात मात्रेण भ्रान्ति ज्ञानं निवर्तते॥ १॥

शृणु वत्स यथान्याय्यं सर्वप्राज्ञोत्तमोत्तम।
यत् त्वया चोदितं प्रश्नं निस्सन्दिग्धं वदाम्यहम्॥ २॥

या सा शक्तिः परासूक्ष्मा अव्यक्ता या शिवोर्थया।
संस्थिता सर्वभूतेषु जगदुर्द्धं? ययाखिलम्॥ ३॥

ब्रह्मादि स्तम्भ पर्यन्तं भूतसर्गं चराचरम् ।
ग्रसते सृजते शक्तिश्शिवाज्ञा ज्ञापिता गुह ॥ ४ ॥

न पुनः शक्तिरस्माकं सत्यं सत्यं शिखिध्वज ।
वयं पितामहं विष्णुं न बीन्द्वनलमेव च ॥ ५ ॥

इन्द्राद्या देवताः सर्वे सत्वाद्याश्च महर्षयः ।
भूयो भूयो हि जायन्ते भूयो भूयो म्रियन्ति च ॥ ६ ॥

न पुनः शक्ति संहारो भवतिह कदाचन ।
शक्तिर्न लुप्यते सा वै परमाद्वैत वर्तिनी ॥ ७ ॥

नित्योदिता तु सा सूक्ष्मा शिवामृतसमुद्भवा ।
ययाव्याप्तमिदं विश्वं भूतसर्गं चराचरम् ॥ ८ ॥

अन्तर्गता तु सा वत्स सर्वेषां हृदि संस्थिता ।
एकैकं मणिमाश्रित्य यथाविद्ध्यन्ति वेधकाः ॥ ९ ॥

महाभूतानि वै तद्वच्छक्तिबोधेन बोधिता ।
सूत्रं तासां शिवं साक्षात् तेन ते ग्रथिता गुह ॥ १० ॥

p. 41a) यैर्व्याप्तमखिलं विश्वं ब्रह्माण्डावधि गोचरम् ।
महाभूतानि सर्वाणि सर्वे चिच्छक्ति सम्भवाः ॥ ११ ॥

चिच्छक्तिश्शिवसम्भूता अव्यक्ताः सर्वतः स्थिताः ।
न हि जानन्ति तां मूढा महामाया विमोहिताः ॥ १२ ॥

न कश्चिदपि तं भूतं यस्य सा हृदि न स्थिता ।
स्थिता सा अग्नि रूपेण सर्वत्र वायुनाश्रिता ॥ १३ ॥

ते पश्यन्ति हितावत्स येषां ज्ञानं मुनिर्मलम् ।
ब्रह्मवेश्म भवेद् देहं ज्ञानं तत्रैव दीपकम् ॥ १४ ॥

तं प्रज्वाल्य प्रपश्यन्ति यत्किञ्चिद्वेश्ममध्यगम् ।
तं दृष्ट्या ते गमिष्यन्ति अजन्म पदमव्ययम् ॥ १५ ॥

अजा सा अमला सूक्ष्मा नित्योदिता सुनिर्मला ।

संस्थिता सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां शिखिध्वज ॥ १६ ॥

p. 41b) यैर्ज्ञातास्ते विमुक्ता वै ते बद्धा यन्त्र लक्षिताः ।
वयं ब्रह्मादिभिस्सार्धं नैव मुक्ताः शिखिध्वज ॥ १७ ॥

तदा ध्यानावसक्ता वै तस्य ध्यान परायणाः ।
अन्येपि योगिनः सर्वे मक्षमार्गानु काङ्क्षिणः ॥ १८ ॥

यजन्ति विविधैर्यज्ञैस्तन्मध्यादुदितं गुह ।
कारणं तत्र वै ह्येकं युक्ति भेदः पृथक् पृथक् ॥ १९ ॥

सात्विकं येषु वै योगं तेषां मोक्षो भवेद्ध्रुवम् ।
राजसं स्वर्गकामानां नारकं तमसा वृतम् ॥ २० ॥

सात्विकं चैव तैर्यष्टं तदा ते मोक्ष यायिनः ।
राजसं मानुषैर्वत्स स्वर्गा वाप्ति फलप्रदम् ॥ २१ ॥

तामसं तिर्यग्योनिस्थैर्मूढैरज्ञैरपण्डितैः ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सात्विकं यागमारभेत् ॥ २२ ॥

राजसं तामसं वत्स पुनरावृत्ति कारकम्।

p. 42a) सात्विकं मानसं यागं तत्र हिंसा न विद्यते ॥ २३ ॥

राजसं तामसं वत्स उभौतौ हिंस पूर्वकौ।

मानसे नैव यागेन ये यजन्ति सदाशिवम्॥ २४ ॥

ते मुक्ताः सर्वपापेभ्यः सत्यं सत्यमुपासुत।

द्रव्यशुद्धिस्तु परमं सम्भारं येषु क्रीयते ॥ २५ ॥

तां विचारय यत्नेन सात्विकं भवते यदि।

तदा तं द्रव्य सम्भारं शुद्धो भवति षणमुख ॥ २६ ॥

राजसं तामसं द्रव्यमशुद्धं सर्वदा गमैः।

यष्टं हि निर्मलं तेन प्रत्युततृणवद्भवेत्॥ २७ ॥

सात्विकं नास्ति तद् द्रव्यं त्रिषु लोकेषु सर्वदा।

तदर्थं न विमुक्तास्ते ये यजन्ति सदा धनैः॥ २८ ॥

अथवा सात्विकं चार्थं यदि लभेत् कथञ्चन।
p. 42b) तद् देयं देवगुरवे विप्रे वा ब्रह्मवादिने॥ २९॥

अनन्तं च असङ्ख्येयं स्वल्पमात्रे पशोदितम्।
अक्षय्यं भवते वत्स कल्पकोटि शतैरपि॥ ३०॥

सम्भारार्थं न तद् द्रव्यं प्रयुञ्जीत कदाचन।
संभारा ये बहिर्केचित् सर्वे चिच्छक्ति सम्भवाः॥ ३१॥

तेषां बाधा भवेद् यस्मात् तस्मात् तां परिवर्जयेत्।
स जीवानि तु ते सर्वे शिवं तेषां हृदि स्थितम्॥ ३२॥

स जीवानि तु पुष्पाणि स जीवानि फलानि च।
स जीवाः पशवो ज्ञेयास्तरुजातीनिसर्वशः॥ ३३॥

तां त्यक्त्वा यजसेकस्त्वंक्तयागमघसिद्धिमान्।
ये स्थिताः फलसन्धो *? वश्याकर्षणमारणैः॥ ३४॥

ते यजन्ति स जीवैस्तु जीवैश्चिच्छक्ति सम्भवैः।

p. 43a) चतुर्दशविधं वत्स भूतसर्गं चराचरम्॥ ३५॥

सर्वं चिच्छक्तिसंभूतं तं हत्वा नैव मुच्यते॥ ॥

शक्त्योदयं मयाज्ञातं द्रव्यशुद्धिविनिर्णयम्।
अधुना श्रोतुमिच्छामि इष्टमिष्टोतुरोत्तरम्॥ १॥

मयातीर्णं तपश्चोग्रं युगकल्पान्यनेकशः।
तदा स तुष्टो भगवाञ्शिवोप्यशिवहापरः॥ २॥

वदते वदमे चाद्य तुष्टोहं ते उमापतिः।
अहिंसा सर्वभूतेषु चरेषु ह्यचरेषु च॥ ३॥

एतद्धि चामृतं वत्स अक्षरं ह्यक्षरं ध्रुवम्।
हिंसाक्षरं विजानीयात् तस्मात् तं परिवर्जयेत्॥ ४॥

अतोर्थं मानुसं यागमक्षरं ह्यमृतं गुह।
ये यजन्ति हितं वत्स ते मुक्ता भवबन्धनात्॥ ५॥

वयं भोगाभिलाषेण नैवमुक्ताः शिखिध्वज ।
अज्ञानादुपदेशस्य शिवज्ञान बहिष्कृतः ॥ ६ ॥

तदानु विदितं तत्त्वं मोक्षमार्गावलम्बिनम् ।
निष्प्रपञ्चं परं तत्वमपरं तु परापरम् ॥ ७ ॥

निष्प्रपञ्चा पराशक्तिर्निष्प्रपञ्चः परः शिवः ।
तस्य यागं च कुर्वीत निष्प्रपञ्चं हि मानुसम् ॥ ८ ॥

स्नानं ध्यानं तथा पूजा जपं होमं तु पञ्चमम् ।
मनसै तानि कर्तव्यं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ९ ॥

इति श्री ॥ ॥

????????????????????????

स्नानादिकं त्वयैवोक्तं पूर्वं वै मानसं विभो ।
तदहं श्रोतुमिच्छामि यथार्थं तद्ब्रवीहि मे ॥ १ ॥

शिवतीर्थं स्थितं देहे सर्वतीर्थालां हितम् ।
भुर्लोके तु भुवो लोके स्वर्लोके तु तथैव च ॥ २ ॥

गङ्गाद्याः सरितः सर्वाः क्षीरोदाद्याश्च सागराः ।
सर्वे तिष्ठन्ति तत्रैव मानसे त्वखिला गुह ॥ ३ ॥

हृत् पुण्डरीक मध्यस्थं शिवतीर्थं तु मानसम् ।
तत्रस्थं सङ्गमं वत्स शिवं नादात्मकं शुभम् ॥ ४ ॥

अग्नीषोमीयगहनं पाणापानजलाशयम् ।
प्रवाहं तस्य तीर्थस्य सुषुम्णाड्यान्तरे स्थितम् ॥ ५ ॥

p. 44b) तुर्यस्थानामृतौघेन प्लावितश्च समन्ततः ।
न चात्र विघ्ना हिंसन्ति दुष्टा ये वै चराचरे ॥ ६ ॥

तदा स्नानं शुभं तत्र शिवतीर्थे च मानसे ।
ना चात्र हिंसा दृश्येत न तु पीत्वा करं तथा ॥ ७ ॥

चराचरेस्मिन् ये लोकाः पुण्यन्यायतनानि च ।
तेपि तिष्टन्ति चातेव आत्मशुद्ध्यर्थ कारणम् ॥ ८ ॥

बाह्यतीर्थानि सर्वाणि कल्पनाकल्पितानि तु ।
शिवतीर्थेन तिष्ठन्ति मानसे अशिवापहे ॥ ९ ॥

कल्पिता ये बहिष्कानि तीर्थान्यायतनानि च ।
उत्तप्तास्ते सदा विघ्नैर्दिव्यभौमान्तरिक्षगैः ॥ १० ॥

तस्मात् ते दूषिता वत्स शिवतीर्थेन केन चित् ।
अनोर्थाद्बाह्यतीर्थानि वर्जितानि सदा गुह ॥ ११ ॥

p. 45a) उच्चाटने तु विघ्नानां हिंसा भवति वै तदा ।
यस्माद् बाधा भवेत् तेषां तस्मात् तास्तु विवर्जयेत् ॥ १२ ॥

निर्मलं विघ्न रहितं मोहदं तु अघापहम् ।
अमृतं स्रवते नित्यं पिङ्गलाभ्यन्तरे स्थितम् ॥ १३ ॥

सौषुम्णा नन्द गम्भीरं तुर्या तु प्रान्तगोचरम् ।
स्वर्णोपलब्धि विमलं सा नन्दं नन्दशीतलम् ॥ १४ ॥

तं लब्धा शिवतीर्थं वै आत्मनो हृदि संस्थितम् ।

तस्मिन् स्नानं सदा कुर्याद् विधि दृष्टेन कर्मणा ॥ १५ ॥

सन्ध्या तु वन्दयेत् तत्र तर्पयेत् पितृ देवताः ।
यत् किञ्चिदिति कर्तव्यं तत् सर्वं मानसं कुरु ॥ १६ ॥

अथवा स्मर्यते तीर्थं यत् किञ्चिन् मनसेप्सितम् ।
सर्वे तिष्ठन्ति चात्रैव अहिंसा तु समर्पिताः ॥ १७ ॥

p. 45b) वयं ब्रह्मादिभिः सार्धं शिवतीर्थाम्बु सेवनात् ।
एतद्धि परमं तीर्थमयं हि परमो जपः ॥ १८ ॥

एतद्धि परमं स्नानं तत्र स्नानं तु वै गुह ।
बाह्यतीर्थानि तुष्टानि मन्त्रान् बाह्यांस्तु सर्वशः ॥ १९ ॥

मन्त्रा हृष्टानि तुष्यन्ति अन्यथा जल एव सः ।
तीर्थेषु ये स्थिताः केचिद्दीनाद्याः प्राणिनो गुह ॥ २० ॥

अतोर्थास्तेन मुञ्चन्ति विज्ञान रहितास्तु ये ।
शिवतीर्थपरिज्ञानात्सम्यग्योग बलेन तु ॥ २१ ॥

स्नातो भवति तं नित्यं साधकः सु समाहितः।
न चात्र हिंसते कश्चिन् न तिलान्दर्भ एव च॥ २२॥

न तु रौ?प्य सुवर्णे वा खड्गा पातोथ वा पुनः।
स्मरणा च्छिवतीर्थस्य न किञ्चिदपि लुप्यते॥ २३॥

p. 46a) शिवतीर्थं मया ज्ञातं तस्मिन् स्थाने यथोदितम्।
भूयो विज्ञातुमिच्छामि ध्यानं देहेश्वरात्मकम्॥ १॥

सर्वं प्रत्यक्ष विज्ञानं मया ते प्रकटी कृतम्।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च अधुना दर्शयामिते॥ २॥

शिवतीर्थ परिज्ञानं यैर्ज्ञातं ह्यात्म दर्शिभिः।
तैः प्राप्यमखिलं वत्स मोक्षमार्गं न संशयः॥ ३॥

आत्मज्ञाने स्थिता ये वै आत्मज्ञाश्चात्म दर्शिनः।
तैः शुद्धाः सर्वदा वत्स यत्र यत्राश्रमे स्थिताः॥ ४॥

स्नान शुद्धिर्न तेषां वै न मन्त्रैश्च प्रयोजनम्।

p. 46b) स तु मन्त्रं शिवं शास्त्रं क्षेत्रं हि परमं तु सः॥ ५॥

न तस्य विघ्ना हिंसन्ति ये केचिद्भुवन त्रये।

दर्शनादेव वै तस्य नश्यन्ते च दिशो दश॥ ६॥

न दिशो विदिशश्चैव न मुद्रा नासनानि च।

करणेन तु संपश्येत् सम्यग् योग बलेन तु॥ ७॥

पूरकं कुम्भकं चैव रेचकं च तृतीयकम्।

एतद् यथार्थं युञ्जीत ततो ध्यानं समारभेत्॥ ८॥

ध्यानेनालोकयेद्वत्स देहि सन्देह वर्जितः।

तं विचारय यत्नेन नाडिचक्रोदरे स्थितम्॥ ९॥

द्वासप्तति सहस्राणि आराणां तस्य षण्मुख।

एकैक भ्रमतैषा वै प्राणापानान्तर स्थिता॥ १०॥

सर्वेषामेव वायूनां प्राणापानौ तु चोदकौ।

p. 47a) प्राणं तेषां भवेत् प्राणं प्रणम्य तु परं विदुः ॥ ११ ॥

तेन ते नाडिचक्रं वै समस्तमवलोकयेत् ।
पिङ्गला तु भवेन्नाभिस्तस्य चक्रस्य षण्मुख ॥ १२ ॥

प्रणवं तं भवेच्चक्रं पिङ्गला तस्य वै शिखा ।
तं ज्ञात्वा पश्यते वत्स शिवं परम कारणम् ॥ १३ ॥

ज्ञानदीपं प्रजज्वाल्य ध्यात्वा ज्ञानाग्निना गुह ।
तदा गम्य स्थितं देवं पिङ्गलाभ्यन्तरे स्थितम् ॥ १४ ॥

हृद्गुहा सा तु विज्ञेया हृन्मध्ये सा तु कर्णिका ।
तस्य मध्ये स्थितं देवं यः पश्यति स पश्यति ॥ १५ ॥

सूर्येन्दु वह्नि मध्यस्थंमलक्षं लक्ष वर्जितम् ।
कदम्बगोलकाकारं सूर्यकोटि समप्रभम् ॥ १६ ॥

कल्पान्ता नलसङ्काशं दुष्प्रेक्षमकृतात्मभिः ।
p. 47b) अनुमानं न वै तस्य हेतुना नैव दृश्यते ॥ १७ ॥

एवं ध्यात्वा तु तं देवं हृद्गुहाभ्यन्तरे स्थितम् ।
ततस्त्वा यतनं गच्छेन्मानुसं मानसेन तु ॥ १८ ॥

ध्यानं धेयं मया ज्ञातं *? नं च ज्ञेयमेव च ।
अधुना श्रोतुमिच्छामि हृद्गुह्येश्वर पूजनम् ॥ १ ॥

गुह्यानि यानि चोक्तानि आदौ? ते शिखि वाहन ।
इदं गुह्यं त्वयैवाद्य यन्न कस्यापि भाषितम् ॥ २ ॥

अज्ञा ये च अनात्मज्ञ ये च पण्डित मावि *? ।
*? यजन्ति स जीवैस्तु जीवैश्चिच्छक्ति सम्भवैः ॥ ३ ॥

चैतन्यं? स?र्वभूतानां चित्स्वभावेन संस्थितम् ।
p. 48a) स चेतनानि भूतानि यस्मात् तानेव मोहयेत् ॥ ४ ॥

चिच्छक्तिं विन्दते वत्स सुखदुःखे शुभाशुभौ ।
शिवात्मा दृष्ट रूपेण सर्वत्रैव व्यवस्थितः ॥ ५ ॥

अशुभं च शुभं चैव सुखं दुःखं तथैव च।
भुञ्जते तु पराशक्तिः परं चात्र अलेपकम्॥ ६॥

साक्षि भूतं च तं वत्स पक्षयोरुभयोरपि।
एवं ज्ञात्वा अहिंसां वै सर्वभूतेषु कारयेत्॥ ७॥

अतोर्थं मानसं यागं कर्तव्यं मोक्षयायिभिः।
हिंसा युक्तेन योगेन सम्भार बहुलेन च॥ ८॥

ये यजन्ति हिते बद्धाः फलं तेषां त्रिविष्टपम्।
अमानाम्ना तु योगेन हिंसा भवति सर्वदा॥ ९॥

पुनरावर्तते भूयो भूयो भूयः क्षयं गतः।
p. 48b) एवं ज्ञात्वा यजेत् सर्वं मानुसं यागमुत्तमम्॥ १०॥

यस्य सर्वगतं भावं यथात्मनि तथापरे।
समं पश्यति सर्वेषामहिंसा प्रोच्यते तु सा॥ ११॥

यथात्मनि परे तद्वत्समं पश्यति यो गुह।

समुक्तः प्रकृतेर्बन्धाच्छिवे तिष्ठति शाश्वते ॥ १२ ॥

सात्त्विकं भावमेतद्धि शिवेनोक्तं हि मानसम् ।
अन्तः कर्णादिकं वत्स यन्मयोक्तं हि दर्शने ॥ १३ ॥

तेषु भूतानु हिंसन्ति तस्मात् तं हिंस पूर्वकम् ।
अन्तःकरण विन्यासं भूतशुद्ध्यर्थ कारणम् ॥ १४ ॥

क्रीयते सर्वतो वत्स विधि दृष्टेन कर्मणा ।
कृत्वान्तः करणं वत्स भूतशुद्धिं तथैव च ॥ १५ ॥

तदा भवति तं योग्यं साधकः शिव पूजने ।
p. 49a) आत्मज्ञं तु पुनर्वत्स नित्यशुद्धं सदा भवेत् ॥ १६ ॥

नास्य शुद्धिरशुद्धिर्वा शोधनीयं हि केतनम् ।
नित्य शुद्धि हितं भूत्वा न किञ्चित् साधयत्यसौ ॥ १७ ॥

विकल्पोथैर्मलैर्वत्स अशुद्धं तं च तत्त्वतः ।
यस्य शक्तिर्भवत्युग्रा यः शोधयति वै परम् ॥ १८ ॥

स शोधयति सर्वेषां भूतानां च समुद्धरेत्।
अतोर्थात् केतनं वत्स आत्मज्ञे निष्प्रयोजनम्॥ १९॥

स एव भोगवान्साक्षाच्छिवं परम कारणम्।
स एव परमं दाम तत्र शुद्ध्यति ते खिलं॥ २०॥

आत्मनेनात्मना चैव यजते परमेश्वरम्।
यथोक्तेन विधानेन सम्य्ग् योग बलेन तु॥ २१॥

यजते मानसं यागं मनसा तु अमीश्वरम्।
p. 49b) यजन्ते देवतास्सर्वे ब्रह्माद्याश्च महर्षयः॥ २२॥

तदात्वं मानसे नैव यागेन शिखिवाहन।
योगार्थं द्रव्य सम्भारं तं हि चात्रैव तिष्ठति॥ २३॥

अथ प्रार्थयसे कामं मनसा मनसेप्सितम्।
तं लभिष्यसि सर्वं वै मानसे तं शिखिध्वज॥ २४॥

साकारं यजते यस्तु निराकारोथ वा पुनः।
उभौ तावेकदा वत्स यजत्वं यत् तु रोचते॥ २५॥

निर्लक्षं निस्स्वभावस्तं स लक्षं प्रतिमाकृतिम्।
मनसा चित्स्वभावेन साकारा क्रियते क्रिया॥ २६॥

न चैवा कृतिमान्कश्चिच्चित्स्वभावोनिलं भवेत्।
तस्मात् त्वं सर्वदा वत्स नित्यं शक्ति स्थितं यजेत्॥ २७॥

XXXXXXp. 50a) ciccetanyaani bhutaani citsvabhaavaa citoditaa |
चित्संज्ञा चित्समुद्भुता भुताभुतेषु संस्थिता॥ २८॥

तत्त्वाश्च भुता भावानि चिच्छत्त्या भ्यन्तरे स्थिताः।
संस्थिताश्चिवतत्त्वे रसदसर्वगतो विभुः॥ २९॥

सर्वमेवं हितं वत्स हृदिस्थं प्रकटी कृतम्।
तं हि पूजय यत्वेन विधिदृष्टेन कर्मणा॥ ३०॥

न कश्चिदपितं वत्स यस्य तं न हृदि स्थितम्।
तस्मात्तं पूजयेद्वत्स अहिंसा कुसुमैः शुभैः॥ ३१॥

हृदिस्थं तु पुनर्वत्स सर्वकामैस्तु पूजयेत् ।
दानानि यानि चोक्तानि शिवधर्मैखिलानि तु ॥ ३२ ॥

तानि दत्तानि सर्वाणि भवन्ति शिखिवाहन ।
सर्वकामानि वै तद्वत्मानसं याग मुत्तमम् ॥ ३३ ॥

p. 50b) यागं तु परमं ह्येतत् सर्वयागोत्तमोत्तमम् ।
इडादयो यजेद् यस्तु राजसं यागमुच्यते ॥ ३४ ॥

सुषुम्णा तामसं? भोगं? ज्ञेयं सात्विकं पिङ्गलोदये ।
सुषुम्णे त्वां परित्यज्य पिङ्गला नाडिस्थं यजेत् ॥ ३५ ॥

तां विचार यत्नेन ब्रह्मनाडिश्च उच्यते ।
तस्मिन् मध्ये स्थितं देवं तं नेदं पूजयेत् तु सः ॥ ३६ ॥

यत्किञ्चिदिति कर्तव्यं तत्सर्वं पिङ्गलोदये ।
तुर्योद्भवति? सर्वाणि तुर्यस्थाने गतानि तु ॥ ३७ ॥

चिन्तयेत् सर्वकामानि अन्यथा हिंसितानि तु ।
तुर्यस्थाने लयं कृत्वा हृधिस्थं पूजयेत् सदा ॥ ३८ ॥

यस्य तुर्ये गतिर्नास्ति हृदिस्थं तु कथं यजेत् ।
हृदिस्थं तुर्यसंस्थं तु उभौ यो वेत्ति तत्वतः ॥ ३९ ॥

p. 51a) एकतं भूय एतेषां स पूजां कर्तु मर्हति ।
प्राणापानान्तरस्थेन शिवेन शिखिवाहन ॥ ४० ॥

योजयेत् साधको वत्स स वै साधक उच्यते ।
प्राणापानौ तु सन्दिग्धौ रजस्तमससमन्वितौ ॥ ४१ ॥

तस्मात् तौ वर्जयेत् वत्स यागकाले तु सर्वदा ।
सात्विकं सङ्गमं तेषां तेन कुर्याच्छिवार्चनम् ॥ ४२ ॥

वह्नि पूजा तु ते नैव अन्यथा न कृता भवेत् ।
ब्रह्मादि स्तम्भ पर्यन्तं त्रैलोक्यं स चराचरम् ॥ ४३ ॥

अहिंसा पुष्पसेकेन पूजितं तं सदा भवेत् ।

p. 51b) मानसे नैव यागेन मुक्तोहं सर्वदा विभो ॥ ४४ ॥

तथापि ज्ञातु मिच्छामि जप्यं वै सर्वदा परम् ॥ १ ॥

मानसैश्चाक्षरौघैश्च प्राणापानौ शिखिध्वज ।
रहस्यं चैव गुह्यं च जप्यं जप्योत्तमोत्तमम् ॥ २ ॥

जप्यं बहुविधं प्रोक्तं शिवेन परमात्मना ।
न पुनर्मानसं जप्यं मोक्षमार्गफलप्रदम् ॥ ३ ॥

मयि तुष्टेन नाथेन अयं मार्गः प्रदर्शितः ।
तदाहं कथयिष्यामि रहस्यं कृत्तिका सुत ॥ ४ ॥

सर्वेषामेव भूतानां हृदिस्थं यत्परं पदम् ।
स तु सङ्ख्या यते जप्यं जपं तु कुरुते तु सः ॥ ५ ॥

अज्ञाना नैव बुध्यन्ते ज्ञानविज्ञान वर्जिताः ।
p. 52a) प्रत्यहं प्रत्यहं वत्स जपसङ्ख्यं करोति सः ॥ ६ ॥

अब्युच्छिन्न प्रबन्धेन मणिभिः परमैः शुभैः ।
सूर्य चिच्छक्तिरित्याहुस्तस्मिंस्ते कथिता गुह ॥ ७ ॥

अक्षसूत्र परं ह्येतद्योगिनां तत्त्व चिन्तकः ।
ये स्थिता फलसन्धाने वश्याकर्षणमारणे ॥ ८ ॥

जपं तेषां तु मन्त्रैश्च अक्षसूत्रैरनेकशः ।
पुनरात्म विदे वत्स मन्त्र तन्त्रैः प्रयोजनम् ॥ ९ ॥

प्रयोजनं भवेत् तेषामात्मज्ञानेन केवलम् ।
तं विदित्वा महासेन मन्त्रतन्त्रांस्त्यजेद्गुह ॥ १० ॥

अथवा सङ्ख्यया कार्यं मानसेस्मिञ्जपे गुह ।
ततोहं कथयिष्यामि यथा भवति तच्छृणु ॥ ११ ॥

षट्कतानि सहस्र * * * * * * * * * ।
* * * * * * * * * * * * * * * * ॥ १२ ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * ।

* * * * * * * * * * * * * * * * ॥ १३ ॥

p. 52b) अहोरात्रान्तरे जप्यं कुरुते सततं शिवः।
शिवजप्यं भवेदेष शिवं ह्यशिव कारिणम्॥ १४ ॥

प्राणश्च कर्षते पानमपानः प्राणमेव च।
उभौ चाकर्षयेद्यस्तु स जपं कुरुते गुह ॥ १५ ॥

हृत्स्थानाद् द्वादशान्तं तु द्वादशान्तात् पुनर्हृदि।
एवां गमागमं ज्ञेयं तं जपं ब्रह्मशाश्वतम्॥ १६ ॥

विदितं मानसं जप्यमक्षसूत्रं तथैव च।
अग्निकार्यं च मेताततत्वमाचक्ष्व वै प्रभो ॥ १ ॥

मयाज्ञानामृतं वत्स स्नेहात् ते प्रकटी कृतम्।
भूयोपि कथयिष्यामि अग्निकार्यं तु मानसम्॥ २ ॥

p. 53a) चराचराणां भूतानां सर्वेषां शिखिवाहन।
हृदिस्थं परमं तेजो न तु जानन्ति मोहिताः॥ ३ ॥

आदित्यस्तपते तस्य तेजसा तस्य वै गुह ।
ज्वलनस्य तु तत् तेजः पूर्णमिन्दुस्तथैव च ॥ ४ ॥

तर्ह्युपासीतविधिवदग्नी यः शिखिवाहन ।
बाह्येग्नीनां हुतं हव्यं हिंसन्ति गुह्यकादयः ॥ ५ ॥

मन्त्र दोषाश्च दोषाश्च अशुभैर्वादया भवेत् ।
तदा ते लुप्यते वत्स बाह्याग्निषु हुतं हविः ॥ ६ ॥

इध्मादि द्रव्यसंभारं सर्वं चिच्छक्ति संभवम् ।
यदात्र हूयते यस्मात् तस्मात् तं हिंसपूर्वकम् ॥ ७ ॥

अहिंसा पूर्वकं वत्स स्वदेहे ह्यग्नि पूजनम् ।
शिवाग्निर्वैभवत्येष शिवमशिवहारिणम् ॥ ८ ॥

???????????????????

p. 53b) गर्भादानादि संस्कारैर्न हि तत्र प्रयोजनम् ।
न हि कुण्डं नु वः कार्यं मेखलैर्वाथ योनिना ॥ ९ ॥

कार्यमेवं हि वै चात्र विधिनाशिखि वाहन।
कुण्डत्रयं स्थितं देहे अग्नि त्रितयमेव च॥ १०॥

गार्हपत्याग्नि हृत्कुण्डे नाभिकुण्डेग्नि दक्षिणम्।
मुखकुण्डे स्थितं वत्स नाम्नाचाहवनियकम्॥ ११॥

कुण्डाग्नि त्रितयं वत्स मया ते दर्शितं क्रमात्।
तेषां होमं प्रकुर्वीत विधि दृष्टेन कर्मणा॥ १२॥

सुषुम्णा नाडिमाश्रित्य कुर्याद्वै चोत्तरायणम्।
दक्षिणाग्निं ततो जुह्यान्नाभिकुण्डे स्थिते गुह॥ १३॥

इडा नाड्युदयं कृत्वा कुर्याद्वै दक्षिणायनम्।
तदाचाहवनीयोग्निर्मुखकुण्डे स्थितो गुह॥ १४॥

p. 54a) गार्हपत्यस्तु यो ह्यग्निर्हृत्कुण्डे संस्थितस्सदा।
तस्मिन् पूर्णाहुतिं दद्याद्विषुवत्करणेन तु॥ १५॥

विषुवं तु भवेद्वत्स पिङ्गनाड्युदयेन तु।

तस्मिन् काले यजेद् यस्तु तत्सर्वं चाक्षयं भवेत् ॥ १६ ॥

सिद्ध्यन्ते सर्वकामानि मनसा चेप्सितानि च ।
प्राणाद्या वायवः पञ्च होमयेत् तु यथा क्रमम् ॥ १७ ॥

तैर्हुतैः सर्वमखिलं विश्वं सन्तर्पितं भवेत् ।
अमृतं भवते वत्स अमृतं तंतु तिष्ठति ॥ १८ ॥

तदा तदखिलं विश्वं तृप्तं भवति चापरे ।
प्राणापानान्तरस्थं तु यैर्ज्ञातं शिखिवाहन ॥ १९ ॥

तेपि वन्त्यमृतं दिव्यं तुर्यस्थानोद्भवं परम् ।
तुर्योद्भवामृताज्येन नित्यमग्निं प्रपूजयेत् ॥ २० ॥

अग्नि पूजा भवत्येषा अक्षय्या मुक्तिदा शुभा ॥

इति श्रीब्रह्मसन्धानाग्नि * जा * चा * नि * यो * मा ॥

अद्य मे सफला बुद्धिः श्रुत्वा ब्रह्मपदं परम् ॥ ॥

****
**
** kaulaj~naananir.naya of the school of Matsendryanatha edited by P.C. Bagchi, Calcutta, 1934
**
**
** Data entered by the staff of Muktabodha
**
*
*
**
** Encoded in Velthius transliteration
****
****

कौलज्ञाननिर्णयः

प्रथमः पटलः

मूलाङ्गुष्ठनखाग्रश्च एते तत्त्वसन्तति (ः)।

अष्टादशविधं देवि ज्ञानञ्च कुलगोचरे ॥ १/१ ॥

कथितं सृष्टिसंयोगं यथा तथा न भैरवि।

किमन्यं पृच्छसे नाथ सुगोप्यं प्रकटीकृतम्॥ ॥

इति ज्ञाननिर्णितियोगिनीकौलम्महच्छ्रीमच्छघ्नपादावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते प्रथमः पटलः ॥ १/१ ॥

द्वितीयः पटलः

देव्युवाच

पञ्चाग्नितपसं तप्तं वर्षकोटिरनेकधा ।

तपस्तदद्य मे सम्यक् त्वत्प्रसादेन भैरव ॥

सृष्टियोगं मया ज्ञातं संहारं कथयस्व मे ॥ २/१ ॥

भैरव उवाच

साधु त्वां कथयिष्यामि संहारन्तु यथा भवेत् ।

कालाग्निरुद्रसंज्ञा तु नखाग्रे नित्यसंस्थितम् ॥ २/२ ॥

यदा प्रज्वलते ऊर्द्धं संहारन्तु तदा भवेत् ।

वडवामुखमहत्त्वञ्च पाताले सहसंस्थितः ॥ २/३ ॥

सप्तपातालमुद्दिष्टं तस्योर्द्धे स्वर्गसंस्थितम् ।

एतानि कथिता भद्रे भुवनानि चतुर्दश ॥ २/४ ॥

ज्ञातव्या देहमध्ये तु तत्त्वरूपा स्थिता प्रिये ।

सर्वज्ञा (यत्र ?) संलीनं लयञ्च शक्तिगोचरे ॥ २/५ ॥

शिवमध्ये गता शक्तिः क्रियामध्यस्थितः शिवः ।

ज्ञानमध्ये क्रिया लीना क्रिया लीयति इच्छया ॥ २/६ ॥

इच्छाशक्तिर्लयं याति यत्र तेजः परः शिवः ।

संहारन्तु इमं भेदेन कथितन्तव शोभने ॥ २/७ ॥

संहारन्तु पदान्यस्तं क्रुद्धः संहरते जगत् ।

सृष्टियोगं पदान्यस्तं सृजत्येवं चराचरम् ॥ २/८ ॥

अधस्था संस्थिता भुक्तिः ऊर्द्ध्वं मुक्तिर्वरानने ।

पूर्वं यत् सूचितं देवि सृष्टियोगं मया तव ॥ २/९ ॥

सृष्टिसंहारन्यायेन कुलाधारमुपवर्णितम् ।

किमन्यं पृच्छसे नाथे सुगोप्यं प्रकटीकृतम् ॥ २/१० ॥

इति ज्ञाननिर्णितियोगिनीकौलम्महच्छ्रीमच्छघ्नपादावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते द्वितीयः पटलः ॥ २/२ ॥

तृतीयः पटलः

देव्युवाच

कुललक्षं महेशान आत्मसम्वित्तिपूर्वकम् ।

एतन्मे संशयो नाथ प्रसादीभव शङ्करः ॥ ३/१ ॥

भैरव उवाच

शृणुमेकाग्रचित्ता कुललक्षन्निगद्यते ।

यत्र दृष्टिर्मनस्तत्र भूतेन्द्रियमपुद्गलः ॥ ३/२ ॥

स्वशक्तिजीवभूतानि दृष्टिर्लक्षैर्लयं गता ।

स्थानं ध्यानञ्च वर्णञ्च लक्षञ्चैव चतुष्टयम् ॥ ३/३ ॥

पिण्डसंज्ञा भवेत् स्थानं ध्यानन्तत्पदमुच्यते ।

वर्णरूपं विनिर्दिष्टं लक्षं वै रूपवर्जितम् ॥ ३/४ ॥

पिण्डञ्चोपपदरूपं रूपातीतं वरानने ।

स्थाने स्थाने स्थितन्देवि एकैकस्य चतुर्विधम् ॥ ३/५ ॥

चतुष्पत्रञ्च अष्टारं द्वादशारं वरानने ।

पञ्चारं षोडशारञ्च चतुःषष्टिदलम्प्रिये ॥ ३/६ ॥

शतपत्रं सुशोभाढ्यं सहस्रं दलशोभितम् ।

कोटिपत्रं सुतेजाढ्यं तस्योर्द्ध्वे अन्यथा शृणु ॥ ३/७ ॥

अर्द्धकोटिसमायुक्तं कोटित्रयसमन्वितम् ।

कर्णिकाकेशरैर्युक्तं दीप्यमानं (तथैव च) ॥ ३/८ ॥

तस्योर्द्ध्वे व्यापकन्तत्र नित्योदितमखण्डितम् ।

स्वातन्त्रमजमचलं सर्वव्यापी निरञ्जनम् ॥ ३/९ ॥

तस्येच्छया भवेत् सृष्टिर्लयन्तत्रैव गच्छति ।

तेन लिङ्गन्तु विख्यातं यत्र लीनं चराचरम् ॥ ३/१० ॥

अखण्डमण्डलं रूपं निर्विकारं सनिष्कलम् ।

अज्ञात्वा बन्धमुद्दिष्टं ज्ञात्वा बन्धैः प्रमुच्यते ॥ ३/११ ॥

उन्मनम्मनरहितं ध्यानधारणवर्जितम् ।

प्रत्यक्षं सर्वदा नित्यं अतसिपुष्पसन्निभम् ॥ ३/१२ ॥

सर्ववर्णमयन्देवं सर्ववर्णैर्विवर्जितम् ।

ज्ञानगम्यं सदा देवि पारम्पर्यक्रमागतम् ॥ ३/१३ ॥

कथितं देवि सङ्काशं कुललक्षं (तथा) स्थितम् ।

न काष्ठं मृण्मयं लिङ्गं न शैलरत्नसम्भवम् ॥ ३/१४ ॥

न चित्तं रीतिकादिनी न हेमं लोहसम्भवम् ।

स्फटिकं मौलिकं वापि त्रपुं सीसकताम्रजम् ॥ ३/१५ ॥

पुष्परागोद्भवादीनि ये चान्ये लोकपूजिताः ।

अष्टादश लोकशास्त्राणि क्रुराश्चाध्यात्मिकास्तथा ॥ ३/१६ ॥

तैस्तु यत् पूजितं देवि मनसापि न पूजयेत् ।

किं कारणं महादेवि पशवो ज्ञानवर्जिताः ॥ ३/१७ ॥

अज्ञानास्ते दुराचाराः कुलाज्ञकविवर्जिताः ।

न तैस्तु सङ्गभोक्तव्यं न कुर्याद्द्रव्यसंग्रहम् ॥ ३/१८ ॥

ब्रह्माद्यास्तु सुराः सर्वे असुराश्च तपोधनाः ।

यक्षगान्धर्वसिद्धाश्च तृणगुल्मपिपीलिकाः ॥ ३/१९ ॥

ग्रहनक्षत्रतारादिजगत्स्थावरजङ्गमा(ः) ।

निष्क्रान्ता बिन्दुमध्ये तु लौलीभूतन्तु तत्समम् ॥ ३/२० ॥

सृष्टिसंहारकर्तारं तल्लिङ्गं सिद्धपूजितम् ।

स्फुरन्तन् निर्मलन्नित्यं अप्रमेयं सदोदितम् ॥ ३/२१ ॥

ज्वलन्तं उल्कसदृशं विद्युत्तेजो नभस्तले ।

एतल्लिङ्गवरं ज्ञात्वा दृष्ट्वा मोक्षस्य भाजनः ॥ ३/२२ ॥

पाषाणवृष्टिसंघातैर्महामेघैः सुदारुणैः ।

न नश्येदग्निना लिङ्गं न पतेद् वज्रताडितम् ॥ ३/२३ ॥

एतन्तु पूजयेद्देवि कौलिकं सिद्धिमिच्छता ।

अर्चयेन्मानसैः पुष्पैः सुगन्धैर्धूपदीपितैः ॥ ३/२४ ॥

अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयेन्द्रियनि(ग्र)हम् ।

तृतीयन्तु दयापुष्पम्भावपुष्पञ्चतुर्थकम् ॥ ३/२५ ॥

पञ्चमन्तु क्षमापुष्पं षष्ठं क्रोधविनिर्जितम् ।

सप्तमं ध्यानपुष्पन्तु ज्ञानपुष्पन्तु अष्टमम् ॥ ३/२६ ॥

एतत् पुष्पविधिं ज्ञात्वा अर्चयेल्लिङ्गमानसम् ।

भुक्तिमुक्तिमवाप्नोति देहलिङ्गार्चनेन तु ॥ ३/२७ ॥

सिद्धिलिङ्गमिदं देवि देहस्थं प्रत्ययान्वितम् ।

मनोलिङ्गं सदा ध्यायेद् यां यां फलसमीकृते ॥ ३/२८ ॥

तां लभन्ते न सन्देहो आत्मसम्बित्तिपूर्वकम् ।

एतत् ते कौलिकन्देवि देहलिङ्गस्य लक्षणम् ॥ ३/२९ ॥

अन्यन्तु वर्जयेद्देवि पाषाणं काष्ठमृन्मयम् ।

लौकिकम् मार्गसम्पन्ना सिद्धिमुक्तिविवर्जिता ॥ ३/३० ॥

देहस्था वासना यस्य तस्यैवांशो कुलागमे ।

बहिस्था वासना यस्य सः पशुरङ्गरञ्जितः ॥ ३/३१ ॥

एतन्ते कथितं देवि नाम्ना ज्ञानस्य निर्णितिः ।

दातव्यं भक्तिसंयुक्ते न देयं भक्तिवर्जिते ॥ ३/३२ ॥

इति ज्ञाननिर्णितियोगिनीकौलम्महच्छ्रीमच्छन्नपादावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते तृतीयः पटलः ॥ ३/३ ॥

चतुर्थः पटलः

देव्युवाच

अद्य मे सफलञ्जन्म तपस्तप्तं सुरेश्वर ।

अद्य मे निर्मलन्देहं त्वत्प्रसादेन भैरव ॥ ४/१ ॥

स्वगृहे स्वदेशे वा पाशस्तोभं यदा भवेत् ।

निग्रहानुग्रहञ्चैव क्रामणं हरणं तथा ॥ ४/२ ॥

प्रतिमाजल्पनञ्चैव घटपाषाणस्फोटनम् ।

कथं मे सर्वसंक्षेपात्त्वमेव शरणङ्गता ॥ ४/३ ॥

भैरव उवाच

साधु साधु महादेवि कथयामि महातपे।
कुलपिण्डं समालिख्य नाडी नाडीमुखैः सह॥ ४/४॥
विद्यामन्त्रमयं पिण्डं भुक्तिमुक्तिप्रदं शुभम्।
नाडी नाडीमुखैर्वापि अधोर्द्ध्वं रेफदीपितम्॥ ४/५॥
वायुविष्णु(ः) सबिन्दुश्च तप्तचामीकरप्रभम्।
जन्ममण्डलसंलीनं ध्वान्ततेज(ः)समप्रभम्॥ ४/६॥
साधकः साध्यदेहे तु पशुदेहे तु हृद्गतम्।
करस्तोभादिकं भद्रे करोत्येवं चराचरैः॥ ४/७॥
बिन्दुनाद(स्त) तथा शक्तिर्दीप्तध्यानमथापि वा।
जन्ममन्डलसंलीनं ध्वान्ततेज(ः)समप्रभम्॥ ४/८॥
साध्यदेहगतश्चिन्त्य निमेषार्द्धं स्तुभ्यते पशुः।
ध्यात्वा विद्युल्लताकारं शक्तिर्वै व्योमपञ्चके॥ ४/९॥
स्तुभ्यते च जगत्सर्वं घटिकार्द्धे वरानने।
शक्तिविज्ञानवेधेन मनाख्येन महान्मने॥ ४/१०॥
बद्ध्वा चैतत् पाशेन पर्वतानपि लालयेत्।
परदेहे पराशक्तिनादिनाक्रम्य वेधयेत्॥ ४/११॥
चलने बाल्यने चैव बध्वा मुद्राबन्धने।

अतीतानागतञ्चैव पृष्टासौ कथयिष्यति ॥ ४/१२ ॥

अकारादिहकारान्तं कुलपिण्डस्य भैरवि ।

शंखाभिषेकविज्ञानं दन्तकाष्ठादिकम्प्रिये ॥ ४/१३ ॥

पुष्पाञ्जलिकरस्तोभमेकैकं वर्णदीपितम् ।

मारणोच्चाटनञ्चैव स्तम्भमोहादिकं प्रिये ॥ ४/१४ ॥

शान्तिकम्पौष्टिकं वापि आकृष्टिञ्च वशन्तथा ।

पञ्चाशवर्णसंयोगं ज्ञात्वा सर्वं कुरु प्रिये ॥ ४/१५ ॥

हूं मारणं यूं यः उच्चाटनं रूं र ज्वरकरणं बुं व

अध्यायनं लूं ल स्तम्भनं शूं श शान्तिकं षूं ष कीलनं क्षें

क्ष ॥ ॥ ॥ क्षुं क्ष पशुग्रहणं क्ष्लीं क्षणीं वशीकरणं क्ष्लें क्षणों

क्षोभणं मोहनञ्च सों स सद्यप्रत्ययः सिद्धिः हो हः विषनाशनं ह्रो

हः रक्ताकृष्टियोगिनीनाञ्च जूं सः मृत्युञ्जयः ॥ ॥ । प्रतिमादिषु जल्पनं

स्फोटनञ्च । स्त्रों शः पाशस्तोभादिकं कामरूपिन्धं भ्रू त्र

डाकिनीसिद्धिः झुर राक्षसीसिद्धिः । लूं ल लाकिनी सिद्धिः, लुं क

कुसुमालिनीसिद्धिः यूं य योगिनीसिद्धिः ह्रीं ह आकर्षणः ॥

एकैकेन तु बीजेन वर्णराशिर्विभेदयेत् ।

कुरुते विभिदं कर्म यद्देवि मनसेप्सितम् ॥ ४/१६ ॥

दीक्षान्तेष्टिककर्मेषु विपरीतं मातृकं (चरे)त् ।

योजयेत्तां कुलाधा(रं)तु सर्वं ज्ञात्वा दृढलक्षवित्॥ ४/१७ ॥

तेजोरूढम्परं लिङ्गं तं लीनं स्थापयेत् पशुः।

स्वातन्त्रो मुक्तिमायाति सर्वहृद्भवने तु सः॥ ४/१८ ॥

सर्वज्ञगुणसंपूर्ण इत्येवं भैरवोऽब्रवीत्।

यत् त्वयापृच्छितम्भद्रे सुगोप्य सिद्धिकारणम्॥ ४/१९ ॥

गोपितव्यम्प्रयत्नेन दुष्टानाम्भक्तिवर्जितम्।

न देयं भक्तिहीनस्य कौलिकीं सिद्धिमिच्छताम्॥ ४/२० ॥

इति ज्ञाननिर्णितियोगिनीकौलम्महच्छ्रीमच्छघ्नपादावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते चतुर्थः पटलः॥ ४/४ ॥

पञ्चमः पटलः

देव्युवाच

मृत्युञ्जयम्महादेव कथयस्व प्रसादतः।

अज्ञानतमसाच्छन्ना यथा भ्रान्तिर्विनश्यति॥

कथयस्व महादेव भ्रान्तिनिर्नाशनं परम्॥ ५/१ ॥

भैरव उवाच

येनैव ज्ञानमात्रेण ध्यानाभ्यासेन नित्यशः।

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्त स गताभ्यासतत्परः॥ ५/२॥

साधयेत् सकलार्थानां मनसा यत् समीहितम्।

उत्तिष्ठ खड्गपातालं रोचनाञ्जनपादुकम्॥ ५/३॥

गुटिकाकाशगमनं रसश्चैव रसायनम्।

अन्तर्द्धानम्भवेद्देवि तथान्यञ्च रसायनम्॥ ५/४॥

साधयेन्नात्र संदेहो ध्यानयुक्तपदा भवेत्।

शृणु त्वं एकचित्तन्तु कथ्यमानं मया प्रिये॥ ५/५॥

सितञ्च शीतलन्दिव्यं सुगन्धं भूरितेजसम्।

चन्द्राह्लादकरं दिव्यं आगच्छन्तं खमध्यतः॥ ५/६॥

स्रवन्तं बहुरन्ध्रेण अचिरान्मृत्युजिद्भवेत्।

न जरामरणन्तस्य व्याधिरोगो न विद्यते॥ ५/७॥

लीलया सिद्धिभाग्योऽसौ भवत्येवं वरानने।

क्षीरोदार्णवमध्यस्थं श्वेतं कमलविस्तरम्॥ ५/८॥

सहस्रकोटिपत्रं वा तन्मध्ये आत्मानं बुधः।

तस्मिंश्चैव निविष्टं तु सिताभरणभूषितम्॥ ५/९॥

तादृशेनैव पद्मेन उपरिष्टाद्घटितम्प्रिये।

क्षीरोदवि(शे)षैः सर्वैस्सिञ्च्यमानमनुस्मरेत्॥ ५/१०॥

मुच्यन्ते सर्वरोगैस्तु जरामरणबन्धनैः।

क्रीडते विविधैर्भोगैरिच्छारूपञ्च जायते ॥ ५११ ॥

अथान्यं सम्प्रवक्ष्यामि मृत्युञ्जयं विशेषतः ।

ध्यात्वा चन्द्रासनस्थञ्च ऊर्द्ध्वश्चन्द्रेण घट्टितम् ॥ ५१२ ॥

सीकरैः शीतलैर्दिव्यैः सिञ्च्यमानमनुस्मरेत् ।

जरामरणनिर्मुक्तं सर्वव्याधिविवर्जितम् ॥ ५१३ ॥

संवत्सरप्रयोगेण सामान्यं योगिनीकुलैः ।

अन्यञ्च अद्भुतन्देवि शृणु त्वं कुलभाविनि ॥ ५१४ ॥

संपूर्णोपूर्णमापूर्णशशाङ्कपरिमण्डलम् ।

ध्यायमानमिदन्देवि जराव्याधिर्विनश्यति ॥ ५१५ ॥

अथान्यं शृणु कल्याणि यथातथ्येन भाविनि ।

ध्यायेच्चन्द्रमिदं देवि नाभिमूर्ध्नि च हृद्गतम् ॥ ५१६ ॥

अभ्यसेत् समचित्तस्तु अब्दमेकं निरन्तरम् ।

ततः स्वातन्त्रमायाति जरामरणवर्जितम् ॥ ५१७ ॥

पुनरन्यं प्रवक्ष्यामि शृणु त्वं वीरवन्दिते ।

सहस्रदलशोभाढ्यं गोक्षीरधवलोपमम् ॥ ५१८ ॥

देव्या चक्रगतञ्चक्रं तादृशं खेचरैः स्थितम् ।

अधश्चक्रसमारूढं ऊर्द्धचक्रेण प्लावितम् ॥ ५१९ ॥

सततमभ्यसेद् योगी सिञ्च्यमानश्च वि(शे)षैः ।

वलीपलितनिर्मुक्तः सर्वव्याधिविवर्जितम् ॥ ५२० ॥

क्रीडते सः समुद्रान्तं स्वातन्त्रः सिध्यते प्रिये ।

अन्यदप्यद्भुतं देवि शृणुतैकाग्रमानसम्॥ ५२१ ॥

षोडशारम्महापद्मं हिमकुन्देन्दुसम्प्रभम्।

स्थाने स्थाने तु तं ध्यात्वा शिवाद्यावीचिगोचरम्॥ ५२२ ॥

बिन्दुधारानिपातैश्च विप्लवैः पूरितन्तनुः।

निष्क्रान्तं रोमकूपइश्च गोक्षीरहिमसन्निभम्॥ ५२३ ॥

न जरामरणन्तस्य व्याधिरोगन्न विद्यते।

स्वातन्त्रः शिवतुल्यस्तु स्वच्छन्दगतिचेष्टितः॥ ५२४ ॥

पूज्यते सुरवृन्दैस्तु दिव्यकन्यारनेकधा।

गुह्यनाभिहृदि कण्ठे वक्त्रे मूर्ध्नि शिखान्तरे॥ ५२५ ॥

मुण्डसन्धिगता देवि पृष्ठमध्ये त्रिदण्डकम्।

एकादशविधा देवि चक्राणि च सहस्त्रिका॥ ५२६ ॥

पञ्चारं अष्टपत्रञ्च दश द्वादश पत्रकम्।

षोडशं शतपत्रञ्च कोटिपत्रं यथैव च॥ ५२७ ॥

एभिः स्थाने समभ्यस्तं ददते विविधं फलम्।

रक्तं वश्यं सदा देवि महाभोगप्रदायकम्॥ ५२८ ॥

पीतं स्तम्भकरन्नाथे धूम्रमुच्चाटनं सदा।

शुक्लमाप्यायने प्रोक्तं विशेषं शान्तिकारकम्॥ ५२९ ॥

गोक्षीरधाराधवलं कथितं मृत्युञ्जये हितम्।

तप्तचामीकरप्रभं पुरक्षोभादिकारणम्॥ ५३० ॥

बिन्दुनादतथाशक्तिरेवं ध्यात्वा पृथक् पृथक्।

धर्मार्थौ काममोक्षौ च अणिमादिगुणाष्टकम्॥ ५/३१ ॥
अतीतानागतन्देवि रूपस्य परिवर्तनम्।
भवत्येवं न सन्देहो अभ्यासात् तद्गतस्य तु॥ ५/३२ ॥
गुरुभक्तिर्योगिनीनां कुलकौलागमेषु च।
अमरत्वं भवेद्देवि जयेन्मृत्युं न संशयः॥ ५/३३ ॥
कथितं मृत्युञ्जयन्देवि सर्वज्ञानस्य निर्णयम्।
गोपितव्यं प्रयत्नेन मर्त्यलोके नराधमे॥ ५/३४ ॥
दुर्लभं सिद्धिसन्दोहं गोपितव्यं प्रयत्नतः।
दातव्यं पूर्वसिद्धस्य अब्दमेकपरीक्षितम्॥ ५/३५ ॥

इति ज्ञाननिर्णितियोगिनीकौलम्महच्छ्रीमच्छघ्नपादावतारिते
चन्द्रद्वीपविनिर्गते पञ्चमः पटलः॥ ५५॥

षष्ठः पटलः

देव्युवाच

अद्य मे सफलं जन्म मम देहे कुलेश्वर।
त्वत्प्रसादेन कौलेश ज्ञातोऽहं कौलनिर्णयः॥ ६/१ ॥
अन्यानि ज्ञातुमिच्छामि वद मे जीवलक्षणम्।

कोऽसौ जीवः समुद्दिष्टः किं वा जीवस्वरूपकम् ॥ ६/२ ॥

किं वर्णं किम्प्रमाणञ्च कस्मिन् स्थाने व्यवस्थितम् ।

कस्मिंश्चैव लयं याति तत्सर्वं कथयस्व मे ॥ ६/३ ॥

भैरव उवाच

शृणु त्वं वीरचामुण्डे वरं जीवस्य निर्णयम् ।

स(ः)परं निष्कलं नित्यं निरामयनिरञ्जनम् ॥ ६/४ ॥

परमाणुमुच्यते नाथो स शिवो व्यापकः परः ।

स(ः) जीवः परतरो यस्तु स(ः) हंसः शक्तिपुद्गल(ः) ॥ ६/५ ॥

स(ः) मनो मत्परं प्राणः स(ः) बुद्धिश्चित्तमेव च ।

समीरपूरको वायुः सर्वजीवेषु संस्थितम(ः) ॥ ६/६ ॥

देहस्थस्तिष्ठते यावत्तावज्जीवोऽपि गीयते ।

स देहत्यक्तमात्रेण परं शिवो निगद्यते ॥ ६/७ ॥

नाभिस्थं हृदि कण्ठे च वक्रनासापुटन्तथा ।

कर्णस्थं श्रूयते देवि पारम्पर्यक्रमागतम् ॥ ६/८ ॥

कौलिकन्तु इदं देवि कर्णात् कर्णसमागतम् ।

अनेन ज्ञानमात्रेण श्रुतेन च वरानने ॥ ६/९ ॥

मुच्यते सर्वपापेभ्यो भवद्भिः समुपार्जितम् ।

षण्मासादभ्यसेद्यस्तु काषायं बन्धवर्जितम् ॥ ६/१० ॥

अस्यापि शोकसन्तापजराव्याधिर्विनश्यति ।

सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो योगिभिः सहमेलकम् ॥ ६/११ ॥

अणिमादिगुणैश्वर्यं सिद्धिश्च मानसी भवेत् ।

एतत्ते जीवमभ्यासं कथितं ते च भैरवि ॥ ६/१२ ॥

कुलागमसुभक्ताय गुरुदेव्या प्रपूजके ।

सर्वभावोपपन्नस्य दातव्यं कृतनिश्चये ॥ ६/१३ ॥

मायाविने शठे क्रूरे प्रपञ्चैर्लिङ्गिने तथा ।

न देयं कौलिकं सारं योगिनीनान्तु सम्भवम् ॥ ६/१४ ॥

देव्युवाच

सफलं अद्य मे नाथ तपो मह्यं सुरेश्वर ।

अद्य मे निर्मलं देहमज्ञानपटलाहतम् ॥ ६/१५ ॥

प्रकाशितं महाज्ञानं यत्सुरैरपि दुर्लभम् ।

साम्प्रतं श्रोतुमिच्छामि कालस्य वञ्चनं शुभम् ॥ ६/१६ ॥

भैरव उवाच

अत्यन्तगहनं नाथे पृच्छितोऽहं त्वयाधुना ।

कथयामि न सन्देहो यथा मृत्युर्विनश्यति ॥ ६/१७ ॥

प्रसार्य दन्तुरायान्तु यावद् ब्रह्मविलङ्गतः।

अमृताग्रं रसाग्रेण दह्यमानसुधीरपि॥ ६/१८॥

मासेन जितयेन्मृत्युं सत्यं सत्यं महातपे।

रसनातालुमूले तु कृत्वा वायुं पिबेच्छनैः॥ ६/१९॥

षण्मासादभ्यसेद्देवि महारोगैः प्रमुच्यते।

अब्दमेकं यदाभ्यस्तज्जरामृत्युर्विनश्यति॥ ६/२०॥

अतीतानागतञ्चैव दूरादिश्रवणन्तथा।

विषं न क्रमते देहे दंशितोऽपि महोरगैः॥ ६/२१॥

स्थावरं जङ्गमं वापि कृत्रिमं गरलं तथा।

छेद्यमानो न छिद्येत तद्गतो तन्मनो यथा॥ ६/२२॥

द्वौ राजद(?)मध्यस्थं बिन्दुरूपं व्यवस्थितम्।

अमृतं तं विजानीयाद्वलीपलितनाशनम्॥ ६/२३॥

शीतलं स्पर्शसंस्थाने रसनां कृत्वा तु बुद्धिमान्।

बलीपलितनिर्मुक्तः सर्वव्याधिविवर्जितः॥ ६/२४॥

न तस्य भवते मृत्युर्योगयानपरः सदा।

रसना तालुमूले तु व्याधिनाशाय योजयेत्॥ ६/२५॥

तिष्ठञ्जाग्रन् स्वपङ्गच्छन् भुञ्जन् मैथुने रतः।

रसनं कुञ्चयेन्नित्यं स्ववक्रेण तु संयुतम्॥ ६/२६॥

न मृत्युर्भवते तस्य अब्दात् स्वच्छन्दगो भवेत्।

हृदिस्थञ्च मनः कृत्वा यावदुन्मनतां गतः॥ ६/२७॥

आगतं नाशयेन्मृत्युं घटिकार्द्धे वरानने ।
कालस्य वञ्चनं देवि सुगोप्यं प्रकटीकृतम् ॥ ६/२८ ॥

इति ज्ञाननिर्णितियोगिनीकौलम्महच्छ्रीमच्छघ्नपादावतारिते
चन्द्रद्वीपविनिर्गते षष्ठः पटलः ॥ ६/६ ॥

सप्तमः पटलः

देव्युवाच

पलितस्तम्भविज्ञानं जरामरणनाशनम् ।
त्रितत्त्वं कथ मे नाथ त्वमेव शरणं गता ॥ ७/१ ॥

भैरव उवाच

पलितस्तम्भविज्ञानं शृणु त्वं वीरमातरे ।
देव्याश्चक्रगतं चिन्त्य(?) प्रतिपदायां शशिर्यथा ॥ ७/२ ॥
शीतलं चन्द्रसंकाशं वर्तिस्तु घृतबोधिता ।
तत्र चैव शिखा लीना अस्थिचक्रे वरानने ॥ ७/३ ॥
भावयेत् केशस्कन्धस्थं लग्नं वै अञ्जनन्तथा ।

सार्द्रवं कृष्णरूपं च बलीपलितनाशनम्॥ ७/४ ॥

द्वितीयं साम्प्रतं देवि शृणुष्वैकाग्रमानसा ।

आधारस्कन्धसंस्थाने योगं युञ्जीत शीतलम्॥ ७/५॥

लीनं वै ब्रह्मरन्ध्रे तु कृष्णाञ्जनद्रवात्मकम्।

आदित्यं शत्रुवत् पश्येत् सोमं वै मित्रवद् यथा॥ ७/६॥

कृष्णाम्बरधरो नित्यं कृष्णध्यानात्मरञ्जितम्।

भूगृहे निर्जने स्थाने दंशमशकवर्जिते॥ ७/७॥

न (स्थाने) जनसङ्कीर्णे सर्पव्याघ्रविवर्जिते।

एकान्ते निर्जने दिव्ये पुष्पप्रकरणशोभिते॥ ७/८॥

सुगन्धधूपितं कृत्वा शाल्योदनजितेन्द्रियः।

षण्मासाज् ज्ञायते सिद्धिर्योगिनीपदतत्समः॥ ७/९॥

कामदेवसमौपम्ये सुरकन्याप्रपूजितम्।

ब्रह्मग्रन्थिस्थिताद्येतां त्रीणि एव वरानने॥ ७/१०॥

लीनां वै ब्रह्मखण्डे तु भिन्ननीलाञ्जनप्रभम्।

द्रवेण रञ्जयेत् सर्वं रोमकूपादिकं प्रिये॥ ७/११॥

ध्यानेन रञ्जितात्मा तु वृद्धोऽप्युन्नतयौवनः।

भवत्येवन्न सन्देहः षण्मासाभ्यन्तरेण तु॥ ७/१२॥

पिङ्गग्रन्थिगतश्चक्रं षोडशारं सुतेजसम्।

सार्द्रवं कृष्णवर्णञ्च षोडशस्वरभूषितम्॥ ७/१३॥

खद्योतितगतादूर्द्धं ब्रह्मरन्ध्रं लयं गताः।

षण्मासासेवनाभ्यस्ताद् वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ७/१४ ॥

भवते नात्र सन्देहः कामदेवद्वितीयकः ।

योगिनीस्थानमाश्रित्य असितं कृष्णवर्णकम् ॥ ७/१५ ॥

अष्टपत्रद्रवञ्चैव शीतलं चन्द्रसन्निभम् ।

केशस्कन्धकपालस्थं रञ्जयेत् तस्य तेजसा ॥ ७/१६ ॥

अब्दार्द्धं वत्सरं वापि वृद्धोऽपि षोडशाकृतिः ।

जरामरणनिर्मुक्तो व्याधिरोगविवर्जितः ॥ ७/१७ ॥

योगिनीगणसामान्यासृष्टिसंहारकारकः ।

कण्ठकूपस्थितोद्योतं ब्रह्मरन्ध्रलयं गता ॥ ७/१८ ॥

साद्रवमञ्जनञ्चैव रोमकूपादिनिर्गतम् ।

अनङ्गस्यैव सौभाग्यं निगूढं सन्धिबन्धनम् ॥ ७/१९ ॥

रोमाणि सततन्तस्य घनास्थिषु च जायते ।

प्रथमे जनवाच्छल्यं द्वितीये रुजनाशनम् ॥ ७/२० ॥

तृतीये च कवित्वं हि सालङ्कारमनोहरम् ।

चतुर्थे वाचकामित्वं दूराश्रवणं पञ्चमे ॥ ७/२१ ॥

भूमित्यागन्तवेधं(?) षष्ठमन्यत् प्रकीर्तितम् ।

योगिनीमेलकत्वञ्च सप्तमे जायते ध्रुवम् ॥ ७/२२ ॥

जरापहरणन्देवि अष्टमे भवते प्रिये ।

नवमे चण्डवेगत्वं दशमेऽनेकरूपधृक् ॥ ७/२३ ॥

एकादशगुणं शान्तं त्रिविधा चैव वर्जितम् ।

एकादशगुणोपेतं पूज्यतेऽसौ यथा शिवम् ॥ ७/२४ ॥

इच्छयारोहणं कुर्याद्घूर्णनं नृत्यमेव च ।

यतस्तत्रैव गन्तव्यं यत्र वा रोचते मनः ॥ ७/२५ ॥

मनोरोधं न कर्तव्यं यदा ज्ञातं हि कौलिकम् ।

प्रपञ्चरहितं शास्त्रं प्रपञ्चरहितो गुरुः ॥ ७/२६ ॥

प्रपञ्चरहितो मन्त्रः प्रपञ्चरहितः शिवः ।

एतत् कौलागमं नाथ अप्रपञ्चैः पशुः प्रिये ॥ ७/२७ ॥

दम्भितमात्मनस्तैस्तु पुनर्दम्भयते परम् ।

केचिदज्ञानतो नष्टाः केचिन्नष्टाः प्रमादतः ॥ ७/२८ ॥

केचि(ज्) ज्ञानावलयेन केचिन्नष्टैर्विनाशिताः ।

कम्पस्तोभे तथा रोषा मुद्रामुत्पतनन्तथा ॥ ७/२९ ॥

भवते नात्र सन्देहः सप्तरात्रेण कौलवे ।

यां यां स्पृशति हस्तेन यां यां पश्यति चक्षुषा ॥ ७/३० ॥

शुद्धं भवति तत् सर्वं परबिन्दुकिरणाहतम् ।

पलितस्तम्भविज्ञानं कथितं योगिनीप्रिये ॥ ७/३१ ॥

देव्या(ः) चक्रादि देवेशि ब्रह्मरन्ध्रावशा(नु)गम् ।

युक्तं कामकलादेवि पलितस्तम्भनं परम् ।

एतन्ते कथितं गुह्यं उन्मनज्ञाननिर्णितिः ॥ ७/३२ ॥

इति ज्ञाननिर्णितियोगिनीकौलम्महच्छ्रीमच्छन्नपदावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते सप्तमः पटमः ॥ ७/७ ॥

अष्टमः पटलः

देव्युवाच

अत्यन्तगहनं नाथ सुगोप्यं गुह्यमुत्तमम् ।
अकुले तु कुलं देवं कथं जातं हि भैरव ॥ ८/१ ॥
क्षेत्रजा पीठजा वापि योगजा मन्त्रजा तथा ।
सहजा कुलजा वापि अष्टाष्टकमतन्तथा ॥ ८/२ ॥
पूजाक्रमविधानन्तु कुलसिद्धं वद प्रभो ।
गुरुपूजाविधानन्तु सर्वं संक्षेपतो वद ॥ ८/३ ॥

भैरव उवाच

शृणुष्वैकाग्रचित्तन्तु योगिनीवीरमातरे ।
एकान्ते विजने स्थाने पुष्पदामोपशोभिते ॥ ८/४ ॥
सुधूपधूपितं कृत्वा मत्स्यमांसरा ॥ । वम् ।
भक्ष्यभोज्यसमायुक्तो मदिरानन्दसंयुतम् ॥ ८/५ ॥
शक्तियुक्तो महात्मानः सहजा कुलजापि वा ।

अन्त्यजा वा महादेवि पृथग्भेदं वदाम्यहम् ॥ ८/६ ॥

विवाहं तु कृतं यस्य सहजा स तु उच्यते ।

कुलजा वेश्यमित्याहुरन्त्यजावर्ण अन्त्यजा ॥ ८/७ ॥

बहिस्था कथिता देवि आध्यात्म्यां शृणु साम्प्रतम् ।

गम्यागम्यप्रयोगेण मदनानन्दलक्षणम् ॥ ८/८ ॥

कुरुते देहमध्ये तु सा शक्तिः सहजा प्रिये ।

कुलजा किं न विज्ञाता वर्णराशिकुलात्मिकाम् ॥ ८/९ ॥

देहस्था त्रिविधा प्रोक्ता बहिस्था त्रिविधा प्रिये ।

अन्त्यजा संप्रवक्ष्यामि शृणु देवि यथास्थितम् ॥ ८/१० ॥

शुद्धस्फटिकसङ्काशा मुक्तामाला खगेश्वरी ।

ऊर्द्धतीर्यक्संशुद्धा महाशक्ति सुतेजसा ॥ ८/११ ॥

एषा शक्तिर्महात्मान अन्त्यजा व्योममालिनी ।

ताम्बुलपूरितं वक्रं विलिप्तं मुक्तमेन च ॥ ८/१२ ॥

श्रीखण्डं मृगमदञ्च हृष्टसंतुष्टचेतसा ।

योगिनीवीरसंयुक्तं युग्मपात्रं पृथक् पृथक् ॥ ८/१३ ॥

पूजयेत् तां चतुःषष्टिं पञ्चाशाष्टकमेवच ।

रक्ताम्बरधराः सर्वे केयूरकटकोज्ज्वलाः ॥ ८/१४ ॥

योगिनीवीरचक्रन्तु यथाशक्त्या (प्र)पूजयेत् ।

इत्थम्भूतं कुलाचार्यः कुलपुत्रैरधिष्ठितम् ॥ ८/१५ ॥

पूजितव्या महादेव्या क्षेत्रजा तु व्यवस्थिताः ।

करवीरं महाकालं देविकोट्यं वरानने ॥ ८/१६ ॥

वाराणस्यां प्रयागन्तु चरित्रैकाम्रकन्तथा ।

अट्टहासं जयन्ती च एभिः क्षेत्रैश्च क्षेत्रजाः ।

तेषां मध्ये प्रधानन्तु ये जाताः क्षेत्रजा प्रिये ॥ ८/१७ ॥

ह्रीं श्रीं ह्री श्रीं कोङ्कणा-इपाद,

ह्रीं श्री ह्री श्रीं कलम्बा-इपाद ।

ह्रीं श्रीं ह्री श्रीं नागा-इ पाद,

ह्रीं श्रीं ह्री श्रीं हरसिद्धा-इ पाद ।

ह्रीं श्री ह्रीं श्रीं कम्व-इपाद,

ह्री श्री ह्री श्री मङ्गल इपाद ।

ह्रीं श्री ह्री श्री सिद्धा-इपाद,

ह्रीं श्रीं ह्री श्री वछा-इपाद ।

ह्रीं श्री ह्रीं श्री शिवा-इपाद ।

ह्री श्री ह्री श्री श्री-इच्छा-इपाद ।

ह्रीं श्री ह्री श्रीं आ-ईपाद ।

ह्रीं श्री ह्रीं श्री वीरा-इपाद ।

ह्रीं श्री ह्रीं श्री त्रिभुवनापाद ।

ह्रीं श्री ह्रीं श्री वराहरूपा-इपाद ।

ह्रीं श्री ह्रीं श्री कृतयुगा चैव ।

तथा त्रेताद्वापरकलिमेव च ।

चतुर्युगेषु देवेशि क्षेत्रजा सिद्धिपूजिता ॥ ८/१८ ॥

ह्री श्रीं पादान्तु आदौ तु तथा नाममुदीरयेत्।

क्षेत्रजा कथिता देवि पीठजा(ः) कथयामि ते ॥ ८/१९ ॥

प्रथमं पीठमुत्पन्नं कामाख्यानाम सुव्रते।

उपपीठस्थिता सप्त देवीनां सिद्ध-आलयम् ॥ ८/२० ॥

पुनः पीठं द्वितीयन्तु संज्ञा पूर्णगिरि प्रिये।

ओडियान महापीठमुपपीठसमन्वितम् ॥ ८/२१ ॥

अर्वुदमर्द्धं पीठन्तु उपपीठसमन्वित(म्)।

पीठोपपीठसन्दोहं क्षेत्रोपक्षेत्रमेव च।

पीठाद्यादेवतानां च शृणु पूजाविधिं प्रिये ॥ ८/२२ ॥

ह्रीँ श्रीँ ह्रीँ श्रीँ महालक्ष्मा-इ पाद्।

ह्रीँ श्रीँ ह्रीँ श्रीँ कुसुमानङ्गा-इ पाद्।

ह्रीँ श्रीँ ह्रीँ श्रीँ शुक्ला-इ - पाद्।

ह्रीँ श्रीँ ह्रीँ श्रीँ प्रलम्बा-इ-पाद्।

ह्रीँ श्रीँ ह्रीँ श्रीँ पुलिन्दा-इ-पाद्।

ह्रीँ श्रीँ ह्रीँ श्रीँ शवरा-इ-पाद्।

ह्रीँ श्रीँ ह्रीँ श्रीँ कृष्णा-इ-पाद्।

ह्रीँ श्रीँ ह्रीँ श्रीँ लच्छा-इ-पाद्।

ह्रीँ श्रीँ ह्रीँ श्रीँ नन्दा-इ-पाद्।

ह्रीँ श्रीँ ह्रीँ श्रीँ भद्रा-इ-पाद्।

ह्रीँ श्रीँ ह्रीँ श्रीँ कलम्बा-इ-पाद्।

ह्रीँ श्रीँ ह्रीँ श्रीँ चम्पा-इ-पाद्।

ह्रीँ श्रीँ ह्रीँ श्रीँ धवला-इ-पाद्।

ह्रीँ श्रीँ ह्रीँ श्रीँ हिडिम्बा-इ-पाद्।

ह्रीँ श्रीँ ह्रीँ श्रीँ महामाया-इ-पाद्।

पीठोपपीठसन्दोहे ये जाता वरयोगिनी।

एतैस्तु पूजिता भद्रे सर्वे सिध्यन्ति मातराः॥ ८/२३॥

योगाभ्यासेन ये सिद्धा मन्त्राणामाराधनेन तु।

योगेन योगजा माता मन्त्रेण मन्त्रजा प्रिये॥ ८/२४॥

सहजा मातरा देव्या रूरूयुद्धैर्महाबलाः।

भक्षितं तु चरुं दिव्यं सप्तजन्मान्तिकं पशुम्॥ ८/२५॥

तेषां गर्भे प्रसूतानां निर्यासप्राशितेन च।

गर्भे जातेन देवेशि गर्भं जानन्ति आत्मनः॥ ८/२६॥

ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।

वाराही वज्रहस्ता च तथा योगेश्वरीति च॥ ८/२७॥

अघोरेशी च विख्याता मातर्या व्यापकाः स्मृता (ः)।

तथान्या द्वारपालिन्या तैस्तु संव्यापितञ्जगत्॥ ८/२८॥

पञ्चजातक्रमे चान्या नगरे ग्रामेषु सर्वशः।

सर्वास्तां पूजयेन्नित्यं गुरुसिद्धसमन्विताम्॥ ८/२९॥

ग्रहा नागाश्च देवाश्च योगिन्यः सिद्धमेव च।

पूजितां पूजयन्त्येते निर्देहं त्यपमानिताः (?)।

कुलाष्टकं प्रवक्ष्यामि अष्टाष्टकविधि प्रिये॥ ८/३०॥

ह्रीं आ ह्रीं ह्रीं इं ह्रीं ह्रीं ऊं ह्रीं ह्रीं ॠ ह्रीं ह्रीं ऌ ह्रीं ह्रीं ऐं ह्रीं

ह्रीं ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं अः ह्रीं प्रथमन्तु इमं देवि शृणु विद्यायमष्टकम्।

ह्रीं क्षः ह्रीं लः ह्रीं हः ह्रीं सः

ह्रीं षः ह्रीं शः ह्रीं व ह्रीं र

विद्यापदाष्टकाख्यातम्। ह्रीं क्ल ह्रीं एतत् कौलिकं भैरवि।

अष्टधा तु लिखेद्विद्या प्रथमाष्टकभेदितम्।

यथा एतत् तथा सर्वे ज्ञातव्या योगिनीक्रमम्॥ ८/३१॥

अष्टाष्टकं विधानेन चतुःषष्टि यथाक्रमम्।

योगिनीमेलकं चक्रं अणिमादिगुणाष्टकम्॥ ८/३२॥

भवत्येव न सन्देहो ध्यानपूजारतस्य च।

द्वितीयन्तु महाचक्रं सर्वाकृष्टिप्रवर्तकम्॥ ८/३३॥

पशुग्रहणमावेशं पूजाध्यानरतस्य च।

तृतीयन्तु महाचक्रं परकायप्रवेशनम्॥ ८/३४ ॥

अतीतानागतञ्चैव अभ्यासाद्भवते प्रिये।

लभत्येव न सन्देहो विविधं यत् समीहितम्॥ ८/३५ ॥

चतुर्थं शान्तिकचक्रं भुक्तिमुक्तिप्रदं शुभम्।

पूजयित्वा इमं चक्रं यावद् ध्यानं प्रयुञ्जति ॥ ८/३६ ॥

क्षणेन भवते स्तोभो मुद्राबन्धत्यनेकधा।

भाषास्तु विविधाकारा अश्रुतानि श्रुतानि च ॥ ८/३७ ॥

उच्चरेदङ्गमयं शास्त्रं मन्त्रजालानि श्रूयते।

स्वयमेवात्मनात्मने श्रूयते चात्मनात्मनि ॥ ८/३८ ॥

षण्मासाद् भवते सिद्धिमनिशी(?) योगिनीप्रिये।

बलीपलितनिर्मुक्तः कामदेवो द्वितीयकः॥ ८/३९ ॥

पञ्चमन्तु महाचक्रं ध्यानपूजाक्रमेण तु।

वाय्वादेर्नाशयेद्वाचा मूकवत् तिष्ठते तु सः॥ ८/४० ॥

षष्ठं चैव महाचक्रं धर्मार्थकाममोक्षदम्।

सप्तमञ्चक्रं देवेशि सैन्यस्तम्भकरं परम्॥ ८/४१ ॥

स्तोभावेशादिकं चक्रं संसारबन्धमोचकम्।

दूराच्च दर्शनं तस्मिन् पूजाध्यानरतस्य तु ॥ ८/४२ ॥

अष्टमं चक्रमुद्दिष्टं इच्छासिद्धिप्रवर्तकम्।

मारणोच्चाटनं भद्रे स्तम्भमोहादिकं प्रिये ॥ ८/४३ ॥

वदनोतिष्ठमहाचक्रं कुलभक्त्यामधिष्ठितम्।

अष्टाष्टकविधानन्तु ज्ञात्वा सिध्यति नान्यथा॥ ८/४४॥

तत्तेषां गूढसद्भावं चतुःषष्टियोगिनीक्रमम्।

निःसन्दिग्धं मया प्रोक्तं हि भक्तियुक्त्यावधारम्॥ ८/४५॥

इति ज्ञाननिर्णितियोगिनीकौलम्महच्छ्रीमच्छघ्नपादावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते अष्टमः पटलः॥ ८/८॥

नवमः पटलः

भैरव उवाच

गुरुपङ्क्तिं प्रवक्ष्यामि सिद्धपङ्क्तिं सुलोचने।

योगिनीपङ्क्तिविन्यासं कथयामि तव प्रिये॥ ९/१॥

सर्वसिद्धियोगिनीनां खेचरीं सर्वमातरीम्।

सर्वभूचरीसर्वगोचरयोगिनीनां सर्वक्षेत्रकम्॥ ९/२॥

सर्वमन्त्रजाः सर्वयोगजाः सर्वपीठजाः।

सर्वसहजाः सर्वकुलजा सर्वद्वारपालिकाः॥ ९/३॥

सर्वगर्भजाः कृते च द्वापरे त्रेते कलियुगे महातपे।

चतुर्युगविभागेन योगिनीसिद्धिपूजिताः॥

गुह्यानां परमं गुह्यन्तव भक्त्या प्रकाशितम्॥ ९४॥

देव्युवाच

सुदग्धमग्निना देहम् अद्य निर्वापितं परम्।
तव प्रसादात् कौलेश ज्ञातोऽहम् ज्ञाननिर्णयम्।
साम्प्रतं श्रोतुमिच्छामि गुरुभ्यः सिद्धपूजनम्॥ ९५॥

भैरव उवाच

गुरुसिद्धिविधे देवि शृणु त्वं कुलभाविनि।

श्रीविश्वपादान्। (श्री) विचित्रपादान्। श्रीश्वेतपादान्।
श्रीभट्टपादान्। श्रीमछेन्द्रपादान्। श्रीबृहीषपादान्।
श्रीविंध्यपादान्। श्रीशबरपादान्। श्रीमहेन्द्रपादान्। श्रीचन्द्रपादान्।
श्रीहिंडिनिपादान्। श्रीसमुद्रपादान्। श्रीलवणपादान्। श्रीदुम्बरपादान्।
श्रीदेणेपादान्। श्रीधीवरपादान्। श्रीसिंहलपादान्।
(श्री) ओगिनीपादान् गुरु परमगुरु परमेष्ठ्य पूज्य महापूज्य लाकिनी
डाकिनी शाकिनी काकिनी याकिनी -

ह्रींकारमादितः कृत्वा श्रीकारं चैतदनन्तरम्।
अक्षरद्वयविन्यासमन्यन्तेषु प्रदापयेत्॥ ९६॥
एतत् सिद्धाश्च योगिन्या अस्मिन् सिद्धाः कुलागमे।
अनेन सदृशं ज्ञानं न भूयो न भविष्यति॥ ९७॥
कलियुगे महाघोरे रौरवेऽत्यन्तभीषणे।
सञ्जाताः षोडश सिद्धा अस्मिन् कौले सुलोचने।
कृते च द्वापरे त्रेते सिद्धायै वीरवन्दिताः।
तेषां नामविधिं वक्ष्ये शृणु त्वं वरलोचने॥ ९८॥

मृष्णिपादाः। अवतारपादाः। सूर्यपादाः। द्युतिपादाः।
ओमपादाः। व्याघ्रपादाः। हरिणिपादाः। पञ्चशिखिपादाः।
कोमलपादाः। लम्बोदरपादाः।

एते पूर्वमहासिद्धाः कुलकौलावतारकाः।
चतुर्युगेति देवेश स्वतन्त्र - कुलचोदका (ः)॥ ९९॥
अस्य ज्ञानप्रभावेण बहवः सिध्यन्ति मानवाः।
दशकोटिप्रमाणन्तु इ(द)म् कौलं परोद्भवम्॥ ९१०॥
सारात्सारतरं भद्रे महाकौलस्य शोभने।
इच्छाख्या योगिनी सिद्धैर्मायान्तं पर-इच्छया॥ ९११॥
खेचरीणां पुनः पश्चादिच्छया प्रकटीकृतम्।

मातराणां पुनर्देवि खेचरैः कथितं प्रिये ॥ ९/१२ ॥

मातराणि गमिष्यन्ति भूचरीणां कुलेश्वरि ।

भूचरीणां सुभक्षाणां भूचरी कथितं प्रिये ॥ ९/१३ ॥

योगिनीनां कुले जातौ लभते कौलिकी स्फूटम् ।

चतुरशीति सहस्रेषु योनियन्त्रेषु पीडिताः ॥ ९/१४ ॥

पुण्यात्मानं कुलाश्चर्यं पश्चाज् ज्ञानमिमां लभेत् ।

भुक्तिमुक्तिमहासिद्धिः योगिनीनां प्रियो भवेत् ॥ ९/१५ ॥

इति ज्ञाननिर्णितियोगिणीमहाकौलम्महच्छ्रीमच्छन्नपादावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते नवमः पटलः ॥ ९/९ ॥

दशमः पटलः

देव्युवाच

अद्य मे सफलं नाथ मम पिण्डं सुरेश्वर ।

वह्निनावेष्टितात्मानमेकपादेन संस्थितम् ॥ १०/१ ॥

तत्तपः सफलं मेऽद्य त्वया तुष्टेन भैरव ।

ज्ञानस्य निर्णयन्देव अद्य मे प्रकटीकृतम् ॥ १०/२ ॥

पुनः पृच्छामि कौलेश यथातथ्यं वद प्रभो ।

अष्टाष्टकविभागन्तु परिज्ञातुमनन्तथा ॥ १०/३ ॥

अद्यापि संशयो नाथ तेषां चक्रं पृथक् पृथक् ।

गुह्यस्थानं यथाचक्रं क्षिप्रं सिध्यति भैरव ॥ १०/४ ॥

स्थानध्यानफलन्तेषां संक्षेपं कथ्यते प्रभो ।

भैरव उवाच

साधु साधु महादेवि पृष्टोऽहं सुरदुर्लभम् ॥ १०/५ ॥

कथयामि न सन्देहो भक्तियुक्ता वरानने ।

लां लीं लूं लृं लुं लैं लौं लः । हां हीं हूं हृं हॄ हैं

हौं (हः) । सां सीं सूं सृं स्लं (सैं) सौं सः । षां षीं षूं

षृं ष्लं षैं षौं षः । शां शीं शूं शृं श्लं शैं शौं शः ।

वां वीं वूं वृं व्लं वैं वौं वः । ह्लां ह्लीं ह्लुं ह्‌लं ह्लैं

ह्लौं ह्लः ॥ १०/

क्षकारं ब्रह्मरन्ध्रत्वं लंकारन्तु ललाटयोः ॥ १०/६ ॥

हकारन्तु भ्रुवोर्मध्ये सकारं वक्रमण्डले ।

षकारं कण्ठदेशे तु शकारं हृदये तदा ॥ १०/७ ॥

वकारं नाभिमध्ये तु ह्लकारं विसकन्दयो (ः) ।

स्थानचक्रास्तु संप्रोक्तास्तेषां ध्यानं शृणु प्रिये ॥ १०/८ ॥

शुद्धस्फटिकसङ्काशं ऊद्ध्र्वतेजसुनिर्मलम् ।

अष्टारं पङ्कजं दिव्यं प्रथमाष्टकभूषितम् ॥ १०/९ ॥

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं क्रोधाद्यैः शून्यवर्जितम् ।

अभ्यासात् समचित्तस्तु ग्रामधर्मञ्च वर्जयेत् ॥ १०/१० ॥

अतीतानागतञ्चैव वर्तमानन्तथैव च ।

दूराश्रवणविज्ञानं पाशस्तोभन्तथा प्रिये ॥ १०/११ ॥

पशुग्रहणमावेशं मृत्युनाशन्तथैव च ।

अमरत्वन्तथा देवि समासात् परिवर्तनम् ॥ १०/१२ ॥

वाचा सिद्धिर्भवत्येवं किं कुर्वाणं जगत्प्रिये ।

द्वितीयमष्टपत्रन्तु तेजध्यानसुदीपितम् ॥ १०/१३ ॥

आगमान्नाशयेन्मृत्युं पुरक्षोभादिकारकः ।

कुरुते बहुधा रूपं ध्यानैकगतचेतसः ॥ १०/१४ ॥

मण्डलीकनरेन्द्राणां किं कुर्वाणो विधीयते ।

क्रुद्धस्तु संहरेत् सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ १०/१५ ॥

सृष्टिसंहारकर्तारं नित्याभ्यासरतः सदा ।

तृतीयन्तु महाचक्रं नवतत्त्वप्रमोचकः ॥ १०/१६ ॥

षण्मासादीप्सितं कामं ध्यात्वाधारन्तु तद्गुरुः ।

बलीपलितनाशन्तु सुदूराद्दर्शनन्तथा ॥ १०/१७ ॥

बेधन्तु कुरुते देवि योजनानां शतैरपि ।

एकान्ते बहुधा रूपं कुरु ध्यानञ्च तत्परः ॥ १०/१८ ॥

चतुर्थशान्तिकं चक्रं सुखप्रीतिविवर्द्धनम्।

कुरुते अमरत्वं हि सतताभ्यासतत्परः॥ १०/१९॥

वाचयो कुरुते मृत्युं रोगाणान्तु जयं प्रिये।

दिवसान्नाशनेनैव वयो मृत्युं गमिष्यते॥ १०/२०॥

नाशयेदहो(रा)त्रेण एतच्चक्रमनुत्तमम्।

सतताभ्यासयोगेन द्विरष्टवर्षाकृतिर्भवेत्॥ १०/२१॥

अष्टपत्रं महापद्मं पञ्चमं सुरसुन्दरि।

धूम्रवर्णं सदा चिन्त्य त्रैलोक्यं चालयेत् प्रिये॥ १०/२२॥

वाचापहारं कुरुते सैन्यस्तम्भकरं परम्।

षष्ठं तु चक्रं राजानमष्टपत्रसकर्णिकम्॥ १०/२३॥

तप्तचामीकरप्रभमिच्छासिद्धिप्रवर्तकम्।

अतीतानागतञ्चैव अणिमादिगुणाष्टकम्॥ १०/२४॥

ददते नात्र सन्देहो भक्तिध्यानप्रदीपितः।

सप्तमन्तु महादेवि पूर्णचन्द्रप्रभं प्रिये॥ १०/२५॥

तद्गतन्तन्मनं भद्रे भुक्तिमुक्तिप्रदं शुभम्।

जरामृत्युविनाशञ्च परदेहे प्रवेशनम्॥ १०/२६॥

किं कुर्वाणविधेयस्तु मण्डलीकनरोत्तम (ः)।

अष्टमन्तु महाचक्रं पत्राष्टकविभूषितम्॥ १०/२७॥

धर्मकामार्थमोक्षञ्च ददत्येव सुलोचने।

रक्तध्याने सदावश्यं पीतस्तम्भकरं परम्॥ १०/२८॥

शुक्लमाध्यायन देवि स्फटिके मोक्षदायिकम्।

कृष्णेन मारणं प्रोक्तं धूम्रमुच्चाटने सदा॥ १०/२९॥

गोक्षीरधारधवलं एतन्मृत्युञ्जयो हितम्।

पुरःक्षोभन्ततस्तोभं कम्पपातादिकं चरेत्॥ १०/३०॥

अग्निज्वाला सुदीप्ताभं ध्यानं चैवाष्टमं सदा।

एकैकस्य स्थितन्देवि एतद्ध्यानन्तु अष्टधा॥ १०/३१॥

चापञ्च कञ्चुकी देवि प्रणिपत्य मुहुर्मुहुः।

अद्य मे सफलं जातम्महाकौलेषु भैरव॥ १०/३२॥

इति ज्ञाननिर्णितियोगिनीकौलम्महच्छ्रीमच्छम्नपादावतारिते चन्द्रद्वीपविनिर्गते दशमः पटलः॥ १०/१०॥

एकादशः पटलः

देव्युवाच

कथयस्व महादेव चरुकाद्वैतलक्षणम्।

सर्वशङ्काविनिर्मुक्तं निःशङ्कं सिध्यते ध्रुवम्॥ ११/१॥

भैरव उवाच

यत्त्वया पृच्छितं देवि लोकेऽस्मिन् क्रूरभीषणे।
कथयामि निःसन्देहं सर्वशङ्काविमर्दकः॥ ११/२॥
अद्वैते नित्ययुक्तस्य तस्य सिद्धिः प्रजायते।
द्वैतन्तु कारयेद्यस्तु आकृष्टो योगिभिस्तु सः॥ ११/३॥
समयाद् भ्रष्टन्तु यो देवि स पशुर्नात्र संशयः।
द्वैतभावं परित्यज्य अद्वैताचारभावितः॥ ११/४॥
पञ्चामृतं प्रवक्ष्यामि गुह्यानां गुह्यमुत्तमम्।
ज्ञातव्यं कुलसमयं कुलपुत्रैर्विशेषतः॥ ११/५॥
साधकैः सिद्धिकामैस्तु तथान्यं कुलदेशिकैः।
अनुष्ठितमिदं पूर्वं कुलसिद्धैः सुलोचने॥ ११/६॥
एतज्ज्ञात्वा भवेत् सिद्धिर्मानसी योगिनीप्रिये।
यदिच्छेत् कौलवी सिद्धिः प्राप्य पञ्चामृतं परम्॥ ११/७॥
तदा सिध्यति योगिन्यां सिद्धिमेलापकं भवेत्।
ददन्ते च तदा देवि चरुकं पञ्चभिर्युतम्॥ ११/८॥
योगिनीभिः सकृद्दत्तं तत्क्षणात् तत्समो भवेत्।
अथ वा प्राशयेज्ज्ञात्वा योगयुक्तस्तु कौलवित्॥ ११/९॥
सिध्यते नात्र सन्देहो विघ्नजालविवर्जितम्।
योगिनीगणसामान्यामनः सुचिन्तितं भवेत्॥ ११/१०॥
विष्ठं धारामृतं शुक्रं रक्तमज्जाविमिश्रितम्।

एतत् पञ्च पवित्राणि नित्यमेव कुलागमे ॥ ११/११ ॥

नित्यनैमित्तिकं देवि कर्तव्यं च प्रयत्नतः ।

गोमांसं गोघृतं रक्तं गोक्षीरञ्च दधिन्तथा ॥ ११/१२ ॥

नैमित्तिके इमं कुर्यात् सिद्धिकामे महोत्सुकः ।

निःशङ्को निर्विकल्पस्तु एतत् कुर्यात् कुलागमे ॥ ११/१३ ॥

अन्यथा नैव सिध्यन्ति निर्मुक्तिस्तु मम प्रिये ।

पुनरन्यविशेषणं शृणुष्वैकाग्रमानसः ॥ ११/१४ ॥

श्वानमार्जार - उष्ट्रञ्च शृगालञ्च हयन्तथा (?) ।

कूर्मकच्छवराहञ्च मार्जारवककर्कटम् ॥ ११/१५ ॥

शलाकी कुकुटश्चापि बहु(?)नानाकुलन्तथा ।

शेरकञ्च मृगं वापि महिषं गण्डकं तथा ॥ ११/१६ ॥

अन्यानि यानि मच्छानि यथालाभं समाहरेत् ।

विज्ञानम्बलसामर्थ्यं सप्तजन्मान्तिकं पशु ॥ ११/१७ ॥

येन तेन प्रकारेण आकृष्टिं भक्षयेत् सदा ।

पूजयेद् योगिनीवृन्दं भक्ष्यभोज्यादिभिः प्रिये ॥ ११/१८ ॥

धारापानन्ततः कुर्याद् यदीच्छेच्चिरजीवितुम् ।

पिशितं त्रिविधं कुर्यात् पक्षाम्लमधुरन्तथा ॥ ११/१९ ॥

देवतातर्पणार्थाय सुरा देया यथोचिता ।

वृक्षजा मूलजा चैव पुष्पजा फलजापि वा ॥ ११/२० ॥

पेष्टी माध्वी तथा गौण्डी दद्यान्नैमित्तिके प्रिये ।

अद्वैतन्तु यथाख्यातं कर्तव्यं नान्यथा न हि ॥ ११/२१ ॥

अद्वैताचारमासृत्य यदान्यञ्चरति पापकृत्।

पतन्ति नरके घोरे अवीचिरौरवे तथा ॥ ११/२२ ॥

अद्वैतं येन सन्त्यक्तं ममाभाष्यन्तु(?) तं पशुम्।

योगिनीगणमध्यस्थं स पशुः कीर्तितं कुले ॥ ११/२३ ॥

गुप्तं गुप्ततरं कुर्याद् गोपनीयं प्रयत्नतः।

जननीजारगर्भन्तु स्वपुत्रं गोपयेद्यथा ॥ ११/२४ ॥

अद्वैतं गोपयेन्नित्यं सुगोप्यमभ्यसेत् क्रमात्।

अणिमादिगुणैश्वर्यसिद्धिश्च मानसी भवेत्॥ ११/२५ ॥

स्वयं गुरुः स्वयं सिद्धः स्वयं शिष्यः स्वयं शिवः।

अज्ञानबन्धनाज्ञेयं ज्ञानं ज्ञेयं विमोचनम्॥ ११/२६ ॥

सुगन्धं पूतिगन्धञ्च नित्यं गृह्णाति निष्कलः।

पद्मपत्रे यथा तोये तथा चैवं न लिप्यते ॥ ११/२७ ॥

तद्वन्न लिप्यते योगी पुण्यपापैः सुरेश्वरि।

ब्रह्महत्यादिकं पापम् अश्वमेधादिकं फलम्॥ ११/२८ ॥

सर्वतीर्थाभिषेकञ्च म्लेच्छादिस्पर्शनेन तु।

एतैर्न गृह्यते योगी क्रियमाणैरपि स्फुटम्॥ ११/२९ ॥

समत्वं वीतरागत्वमुदासीनां ख-वृत्तिनाम्।

निष्परिग्रहसन्तोषं द्वन्द्वयोगं न कारयेत्॥ ११/३० ॥

कामक्रोधञ्च दम्भञ्च त्यजेल्लोभं शनैः शनैः।

न चरुन्निन्दयेद्भद्रे समयाद्वैतमेव च ॥ ११/३१ ॥

यस्मिन्निष्पद्यते पिण्डं रक्तशुक्रं पिबेत् सदा ।

सिद्धानां योगिनीनाञ्च इमञ्चरुम्प्रियं सदा ॥ ११/३२ ॥

शाकिनीनां प्रियं मांसं देवीनाञ्च प्रियं शृणु ।

वुकपुष्पं शिवाम्बुञ्च रक्तशुक्रं सुरान्तथा ॥ ११/३३ ॥

ब्रह्मनिष्ठीवनाद्यञ्च सौरभ्यं पुष्पकादिकम् ।

गन्धं धूपञ्च गेयञ्च ताम्बूलं रक्तवाससम् ॥ ११/३४ ॥

रक्षाद्यं रक्तवर्णञ्च सिद्धानां देवता प्रिये ।

विज्ञानोन्मीलनम्भद्रे भवत्येवं नान्यसेवनात् ॥ ११/३५ ॥

शाकरं यन्न कुर्वीत जन्महीनवरस्त्रियै ।

लौल्यार्थी चपला नित्यं कुलशास्त्रविडम्बकम् ॥ ११/३६ ॥

स्वशक्तिदर्शनाद्रक्तं स्पर्शनाल्लक्षणेन तु ।

कुलविज्ञानसंभोगात् षण्मासात् सिद्धिभाजनः ॥ ११/३७ ॥

आदिमन्त्रविनिर्मुक्तं शिवाम्बु ब्रह्ममेव च ।

प्राशयेत् तत् सदा कालं योगिनीमेलको भवेत् ॥ ११/३८ ॥

पादप्रक्षालनन्तेन नित्यं तत् तथैव च ।

मुखप्रक्षालनं नित्यं ब्रह्मणोर्द्ध्वगतम्प्रिये ॥ ११/३९ ॥

कुण्डगोलोद्भवन्नैव तिलकं कारयेत् सदा ।

अशीतिं नाशयेद्वातान् कुष्ठव्याधिन्तु नाशयेत् ॥ ११/४० ॥

मुच्यते सर्वरोगैश्च यथा सर्पस्य कञ्चुकम् ।

उदयार्कसमस्तेजन्नित्यं वै योगिनीप्रियम्॥ ११/४१॥

त्रैलोक्यं वश्यतां याति ब्रह्मादयो दिवौकसः।

चरुकाद्वैतमाचारं मन्त्रजैः (?) सह भोजनम्॥ ११/४२॥

सर्वं समाचरेद् देवि इच्छाशक्तेरधिष्ठितम्।

इच्छां विना न कुर्यात्तु बलात्कारेण तच्चरुम्।

चरुकाद्वैतमाचारं कथितं ज्ञाननिर्णयम्॥ ११/४३॥

इति ज्ञाननिर्णितियोगिणीमहाकौलम्महच्छ्रीमच्छन्नपादावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते एकादशः पटलः॥ ११/११॥

द्वादशः पटलः

देव्युवाच

रोमाञ्चकञ्चुका देवि हृष्टसन्तुष्टचेतसः।

भक्ष्याणान्तु समुत्पन्नं पुनः पृच्छामि भैरव॥ १२/१॥

अद्याहं कुलसमयमद्याहं लक्षणान्वितम्।

साम्प्रतं श्रोतुमिच्छामि पात्राणां चर्यलक्षणम्॥ १२/२॥

भैरव उवाच

शृणु त्वं वीरचामुण्डे पात्राणां चर्यलक्षणम् ।

प्रथमं बालरूपेण द्वितीयम् उन्मत्तकाकृतिम् ॥ १२/३ ॥

तृतीयं राजरूपेण चतुर्थं कश्मलं प्रिये ।

स्वातन्त्रं पञ्चमं देवि षष्ठञ्च वीरनायकम् ॥ १२/४ ॥

गन्धर्वसप्तमन्नाम नग्नं चैवाष्टकं प्रिये ।

त्रिदण्डञ्चैव देवेशस्तथान्यं वेदविक्रयम् ॥ १२/५ ॥

यां यान्तु कुरुते इच्छां तां ताञ्चैव व्रतं प्रिये ।

अकुलञ्च कुलं ज्ञात्वा कुलं देव्या सुभामिनि ॥ १२/६ ॥

भैरवं पूजितव्यञ्च कुलैः सिद्धिसमन्वितम् ।

स्वगुरुं पुजयेन्नित्यं त्रिष्कालं भावितात्मनः ॥ १२/७ ॥

मनसा कर्मणा वाचा गुरुञ्चैव स्वकं न तु ।

निवेदयेत् प्रयत्नेन भुक्तिमुक्तिजिगीषया ॥ १२/८ ॥

गुरुकौलागमे भक्ति अद्वैताचारभावितः ।

ईप्सितं तु व्रतं कुर्यादद्वैतेन समन्वितम् ॥ १२/९ ॥

देव्युवाच

चर्याया लक्षणं देव प्रसादादवधारितम् ।

पुनः पृच्छामि देवेश पात्राणां लक्षणं शुभम् ॥ १२/१० ॥

भैरव उवाच

पात्राणां निर्णयं देवि शृणुष्वेकाग्रमानसः।
मृन्मयं कूर्मजं देवि कांसजं ताम्रलोहजम्॥ १२/११॥
हेमजं रौप्यजं वापि शुक्तिजं शङ्खजं प्रिये।
कौलिकं तु वरारोहे तथान्यं काचसम्भवम्॥ १२/१२॥
शृङ्गोद्भवं सकाष्ठाद्यापाषाणसम्भवं प्रिये।
विश्वामित्रकपालञ्च सर्वपात्रोत्तमं प्रिये॥ १२/१३॥
तस्मिन् कृत्वा पिबेत् किञ्चिद्भक्ष्यञ्च भक्षयेद् यदि।
पतिञ्च पतितञ्च तद्भवेच्चकोत्तमः (?)॥ १२/१४॥
ज्ञातव्यं पात्रमेतद्विशालं नारिकेलकम्।
एतत् पात्रमलाभेन अन्यपात्रे पिबेत् सुराम्॥ १२/१५॥
पात्राणां लक्षणं देवि चर्यायाश्चैव लक्षणम्।
कथितं देवि सद्भावं किमन्यं पृच्छसेऽधुना॥ १२/१६॥

देव्युवाच

अद्य मे सफलं जाता देवत्वं स्वरनायिक।
तत्प्रसादेन देवेश ज्ञातव्यं ज्ञाननिर्णयम्॥ १२/१७॥

इति ज्ञाननिर्णये श्रीयोगिनीकौलम्महच्छ्रीमछघ्नपादावतारिते
चर्यापात्रलक्षणो द्वादशः पटलः ॥ १२/१२ ॥

त्रयोदशः पटलः

भैरव उवाच

मोक्षप्रत्ययसंवित्ति शृणु त्वं वीरनायिके ।
अधोर्द्ध्वञ्च लभेज्जीवो ज्ञात्वा तं मुक्तिभोजनम् ॥ १३/१ ॥
हंस हंस वदेन्नित्यं देहस्थावरजङ्गमे ।
श्रुत्वा तस्य पतिर्दिव्यं याति मोक्षवरं शुभम् ॥ १३/२ ॥
येन व्याप्तं च त्रैलोक्यं जगद् यस्मिन् व्यवस्थितम् ।
तं ज्ञात्वा गूढसद्भावं सर्वज्ञत्वम्प्रजायते ॥ १३/३ ॥
न तेन विना मुच्यन्ते व्यवहारान्न हि तद्विना ।
शुभाशुभं च संभोक्तं न तेन रहितं क्वचित् ॥ १३/४ ॥
न मनश्चित्तमालब्धं न पेयं धारणं प्रिये ।
उन्मनन्तु मनो यस्य तस्य मोक्षो भवन्तीह ॥ १३/५ ॥
द्वादशान्ते यदा पश्येत् स्फूरन्तं मणिमालिका ।
तस्य मोक्षो भवेद्यस्तु पापपुण्यैर्न लिप्यते ॥ १३/६ ॥

देवयाने महायाने यस्य चित्तं सदा प्रिये।

तस्य मोक्षो न सन्देहः पद्मपत्राम्बुबिन्दुवत्॥ १३/७॥

इ गुदे इक्षु मेढ्रे इयौ नाभौ॥ इमौ वक्रे॥

इवौ दक्षिणनासा(यां)॥ इलौ वामपुटे॥ इरौ दक्षिणतः॥

इडो दक्षिणकर्णः॥ इशौ वाम कर्णः॥

इह्रौ भ्रूमध्ये॥ सं तं ललाटे॥ सं अं वामकर्णे॥

सः यं दक्षिणकर्णः॥ सः पं वामचक्षुः॥

सः ॠ दक्षिणचक्षुः॥

वः तं वामनासिका॥ सः पुं दक्षिणनासिका॥

सः रूं वक्रम्॥ सः यं नाभि॥ सः षुँ मेढ्रः॥

सः लं गुदे॥

इदं न्यासक्रमन्देवि यस्य देहे प्रवर्तते।

तस्य मोक्षो न सन्देहः परं संवित्तिपूर्वकम्॥

पिण्डपाते यदा देवि कपालम्भिद्यते तदा॥ १३/८॥

इति ज्ञाननिर्णये योगिनीकौलमहच्छ्रीमच्छेन्द्रपादावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते न्यासः त्रयोदशः पटलः॥ १३/१३॥

चतुर्दशः पटलः

देव्युवाच

मन्त्रजालविनिर्मुक्तम्प्राणायामविवर्जितम् ।

चक्रध्यानविनिर्मुक्तं सद्यः सिद्धिकरं परम् ॥ १४/१ ॥

निर्गमं देहमध्ये तु संशयच्छित्तिकारकम् ।

शृणु त्वमद्भुतं देवि महदाश्चर्यकारकम् ॥ १४/२ ॥

ब्रह्मा विष्णुः सुराः सर्वे क्लिश्यन्ते मन्दबुद्धयः ।

गन्धर्वाः किन्नरा यक्षा असुराश्च तपोधनाः ॥ १४/३ ॥

न तेषां कथितं देवि इमं कौलं परं प्रिये ।

कुलभक्तिविहीने तु गुरुभक्तिविवर्जिते ॥ १४/४ ॥

न देयं कौलिकं सारं शिष्यैर्मन्दपरीक्षिते ।

वञ्चका कृपणा मूढा हीनानि सत्यनिन्दिते ॥ १४/५ ॥

न दद्यादनुग्रहा यस्या देवाग्नियतिद्वेषकाः ।

ये दद्यास्तु इमे शिष्या देशिको सिद्धिर्हीयते ॥ १४/६ ॥

गुर्वाज्ञाकारिणो नित्यं युक्तायुक्तपरीक्षकः ।

धर्मे च रतये नित्यं क्रोधये शून्यवर्जितः ॥ १४/७ ॥

निश्चितनिस्पृहे गुप्ते निस्संशैकान्तवासिने ।

देवाग्नियतियोगिन्या भक्त्या नित्यं प्रसन्नधीः ॥ १४/८ ॥

वरयेच्छिष्य कुर्वीत दृढभक्तिपरायणः ।

सुपरीक्ष्य सदा तस्य यो दद्याच्चिरजीवितम् ॥ १४/९ ॥

द्वौभावसुप्रपञ्चात्मा कपटव्रतधारिणः।

योगिनीनां च विद्विष्टे गुर्वाज्ञालोपकारकः॥ १४/१० ॥

न देयं कौलिकं ज्ञानं कामिने क्रोधिने तथा।

न शिवदूषके देवि निन्दके कुलभैरवे॥ १४/११ ॥

सागररत्नसंघाते अमूल्यं भुवि विक्रयः।

सागरं रत्नसंपूर्णमक्रेतुं यस्य संचयः॥ १४/१२ ॥

न(द)द्यान्निन्दको देवि सप्ताहनि परेण हि।

इमं कौलं महादेवि सर्वकालस्य निर्णयम्॥ १४/१३ ॥

यस्य कौलागमे स्पर्द्धा ना ज्ञातुमीदृशं प्रिये।

सम्यग् ज्ञानवरं देवि सप्ता ॥ँनदापयेत्॥ १४/१४ ॥

यत् क्रमं पृच्छितं देवि तत् क्रमं शृणु भाविनि।

प्रथमं मूलचक्रन्तु यदान्यभ्यसते प्रिये॥ १४/१५ ॥

तदा तु प्रत्ययं देवि महदाश्चर्यकारकः।

प्रथमं कम्पमायाति धूननन्तु द्वितीयकम्॥ १४/१६ ॥

हस्तपादशिरःकम्पभाषाणि विविधानि च।

मन्त्रमुद्रगणं सर्वं दुर्दुरप्लुत एव सः॥ १४/१७ ॥

भूमित्यागकवित्वञ्च अतीतानागतं तथा।

कालस्य वञ्चनं देवि रूपस्य परिवर्तनम्॥ १४/१८ ॥

बलीपलितनाशञ्च खेचरत्वं हि सुन्दरि।

अष्टौ च सिद्धिसंप्राप्तिर्मूलकौलं वरानने॥ १४/१९ ॥

शृणु त्वमद्भूतं देवि आधारस्यैव निर्णयम्।

देव्याश्चक्रोर्द्धं देवेशि आधारञ्चतुरङ्गुलम्॥ १४/२०॥

तस्मिंश्चैव मनः कृत्वा शुचि भूत्वा तु पार्वति।

कम्पस्तोभस्तथा भाषा मुद्रामुत्प्लवनन्तथा॥ १४/२१॥

अश्रुतानि तु शास्त्राणि मन्त्रमुद्रागणं महत्।

भून्मागं (?) खेचरत्वञ्च वश्यमाकर्षणन्तथा॥ १४/२२॥

जरापहरणं देवि मृत्युकालस्य वञ्चनम्।

पातालं खेचरत्वञ्च अचिराद्भवति प्रिये॥ १४/२३॥

एतत्ते कथितं तुभ्यं आधारस्य (तु) लक्षणम्।

अथान्यं (सं)प्रवक्ष्यामि ब्रह्मग्रन्थिविनिर्णयम्॥ १४/२४॥

तस्मिंस्थाने मनः कृत्वा प्रहरैकेण भाविनि।

कम्पस्तोभादिकं भद्रे भाषा चैव त्वनेकधा॥ १४/२५॥

दूराश्रवणं पुरक्षोभम् अतीतानागतन्तथा।

कालस्य वञ्चनं देवि अमरञ्च कवित्वता॥ १४/२६॥

अणिमादिगुणैश्वर्यं सिद्धिश्च मानसी भवेत्।

एतत्ते कथितं देवि ब्रह्मग्रन्थिविनिर्णयम्॥ १४/२७॥

अतोर्द्धं शृणु कल्याणि यथातथ्यं यशस्विनि।

ऊर्द्धं रोमाः प्रवर्तन्ते यस्मिंस्थाने तु त्र्यम्बके॥ १४/२८॥

ज्वलज्ज्योतिसमाकारा किञ्चिद्विद्युसमप्रभः।

चिन्तयेत् सप्तरात्रन्तु प्रत्ययश्चोपजायते॥ १४/२९॥

कम्पस्तोभस्तथा भाषा मुद्रामुत्पतनन्तथा ।

पुरप्रवेशमावेशं वश्यमाकर्षणादिकम् ॥ १४/३० ॥

अतीतानागतञ्चैव दूराच्च दर्शनं तथा ।

बलीपलितनाशञ्च रूपस्य परिवर्तनम् ॥ १४/३१ ॥

खेचरीणां च सामान्यो भवेदभ्यासतो रतः ।

एतत्ते कथितं देवि रोमकूपादि कौलिकम् ॥ १४/३२ ॥

वृषणोत्थस्य कौलस्य कथितं तव सुव्रते ।

शृणु त्वं वरदे नित्यं वीराणां वीरमातरे ॥ १४/३३ ॥

वह्निकौलस्य योऽभ्यासं कथयामि च सांप्रतम् ।

तस्मिंश्चित्तं स्थिरं कृत्वा क्षणार्द्धं यावत्तिष्ठति ॥ १४/३४ ॥

स्तोभभाषादिमुद्राश्च भूमित्यागादिकारकम् ।

वश्यमाकर्षणं देवि जरामरणनाशनम् ॥ १४/३५ ॥

पुरप्रवेशमावेशं पुरक्षोभादिकारकम् ।

उत्तिष्ठ खड्गपातालं ध्रुवं सिध्यति कौलिके ॥ १४/३६ ॥

ईप्सितं कुरुते रूपं सतताभ्यासतत्परः ।

पुनरन्यं प्रवक्ष्यामि कौलसद्भावमुत्तमम् ॥ १४/३७ ॥

हृदिस्थन्तु मनः कृत्वा तन्निष्ठं यावत्तिष्ठति ।

तावत् समाधिमायाति स्तोभावेशादिलक्षणम् ॥ १४/३८ ॥

भ्रमते अङ्गमङ्गानि हस्तपादशिरादिकम् ।

वर्णना स्फोटना वापि पुरक्षोभं वरप्रदे ॥ १४/३९ ॥

गान्धर्वी किन्नरी वापि यक्षी पातालवासिनी ।

असुरी चैव देवेशि विद्याधरी सुलोचने ॥ १४/४० ॥

क्षुभ्यते च न संदेहो ह्यभ्यासात्तद्गतस्य तु ।

अतीतानागतञ्चैव दूराश्रवणमेव च ॥ १४/४१ ॥

पुरप्रवेशमावेशं मृत्युनाशं महातपे ।

योगिनीमेलकत्वञ्च अचिराद्भवति स्फुटम् ॥ १४/४२ ॥

एतत्ते कुलसद्भावं हृदिस्थं प्रकटीकृतम् ।

पुनराश्चर्यं वक्ष्यामि शृणु त्वं मकरध्वजे ॥ १४/४३ ॥

चित्तं कृत्वा प्रयत्नेन कण्ठकूपोद्भवं प्रिये ।

वदने शास्त्रसद्भावं स्वशक्त्या चोदितं प्रिये ॥ १४/४४ ॥

अतीतानागतञ्चैव वर्तमानन्तथैव च ।

न मृत्युर्भवते तस्य अक्षयो ह्यमरद्युतिः ॥ १४/४५ ॥

जराव्याधिविनिर्मुक्तं बलीपलितवर्जितम् ।

क्रुद्धन्तु चालयेद्देवि त्रैलोक्यसचराचरम् ॥ १४/४६ ॥

न ब्रह्मा न च वा विष्णुर्न रुद्रा रुद्र एव च ।

यादृशो भवते सिद्धिस्सतताभ्यास एव च ॥ १४/४७ ॥

पदोत्तिष्ठमिदं कौलं नात्मानं ज्ञाननिर्णयम् ।

एतज् ज्ञानं वरं ज्ञानं स्वातन्त्रसिद्धिमानसी ॥ १४/४८ ॥

कथितं ज्ञानसद्भावं सुगोप्यं कण्ठसंस्थितम् ।

गृहीतव्यं प्रयत्नेन कौलवे सिद्धिमिच्छता ॥ १४/४९ ॥

अत ऊर्द्धेश्वरं गुह्यं सर्वव्याधिविमर्दकम्।

रसना ऊर्द्धकं कृत्वा मनस्तस्मिन्निवेशयेत्॥ १४/५०॥

सतताभ्यासयेत्तत्तु मुहूर्तं नाशयेत् प्रिये।

क्षणेन मुच्यते रोगैर्व्याधिमृत्युजरादिभिः॥ १४/५१॥

नश्यते व्याधिसंघातं सिंहस्यैव यथा मृगाः।

क्षणेन नश्यते व्याधिः कटुके कुष्ठनाशनम्॥ १४/५२॥

सुस्वादेन महादेवि बलीपलितनाशनम्।

क्षीरस्वादेन मेधावि अमरो जायते नरः॥ १४/५३॥

घृतस्वादोपमनं देवि स्वातन्त्रन्तु यथा भवेत्।

चित्तं दद्यान्तु चक्रेण नासे दद्यात् विजृम्भिका॥ १४/५४॥

वाचा सिद्धिर्भवत्येव कामदेवोऽपरः प्रिये।

देवकन्या सुराणाञ्च यक्षविद्याधरो भवेत्॥ १४/५५॥

मृष्टादिखण्डकाद्याश्च लट्टुकशोकवर्तिका।

दिव्यकन्या अनेकाश्च आकृष्य भुञ्जते प्रिये॥ १४/५६॥

अणिमा लघिमा देवि ऊर्द्धरेतःप्रवर्तनम्।

ऊर्द्धरेता भवेद् योगी न योगी करत(?) प्रिये॥ १४/५७॥

निष्ठीवनं न कर्तव्यं प्रसादादपि भाषिणि।

दुर्लभन्तु इमं चक्रं नास्ति योगं इमम्परम्॥ १४/५८॥

अत ऊर्द्धम्परं गुह्यं योगिनीकौलमुत्तमम्।

अभ्यासे तु पदाभ्यस्त महदाश्चर्यकारकम्॥ १४/५९॥

अणिमादिगुणास्तस्मिन् दूरात् स दर्शनन्तथा।

भवते नात्र संदेहः सतताभ्यासतत्पराः ॥ १४/६० ॥

मृतकोत्त्थापनं देवि परदेहप्रवेशनम्।

प्रतिमाजल्पनन्तस्मि(न्) घटपाषाणस्फोटनम् ॥ १४/६१ ॥

पशुग्रहणमावेशं रूपादिपरिवर्तनम्।

ब्रह्मविष्णुयमेन्द्राश्च वरुणो वायुरेव च ॥ १४/६२ ॥

स्वर्गाद्यासोमराजानं देहमध्ये वरानने।

गन्धर्वाः किन्नरा यक्षा नागा विद्याधराः प्रिये ॥ १४/६३ ॥

विमानकोटिसन्तानाः सर्वाभरणभूषिताः।

नक्षत्रतारकोपेतं ब्रह्माण्डपरिघट्टितम् ॥ १४/६४ ॥

पश्यते देहमध्यस्थं त्रैलोक्यं सचराचरम्।

दर्शयेत् स्वकपिण्डं सततध्यानादनेकधा ॥ १४/६५ ॥

सहस्रकोटिभिर्देवि कर्ता हर्ता स्वयं शिवः।

अभ्यासाद् ददते सिद्धिरष्टधा शास्त्रचोदिता ॥ १४/६६ ॥

पूज्यते सर्वसिद्धैश्च मम तुल्यं वरानने।

सतः कौलमिदं देयं न देयं यस्य कस्यचित् ॥ १४/६७ ॥

गुरुकौलागमे भक्त्या देव्याः पूजारतः सदा।

एतदोद्धरणं गोप्यं नित्यन्तु कृतनिश्चयः ॥ १४/६८ ॥

अत ऊर्द्ध्वं प्रवक्ष्यामि शृणु त्वं कुलभाविनि।

ललाटवर्णराशिस्थं लक्षं कृत्य सुरार्चिते ॥ १४/६९ ॥

जल्पते बहुधा भाषा अङ्गस्य भ्रमणन्तथा ।

नादं प्रमुञ्चते देवि महावेगञ्च जायते ॥ १४/७० ॥

ईप्सितं कुरुते रूपम् अभ्यासन्तत्परं प्रिये ।

अत ऊर्द्ध्वम्परं गुह्यं शृणु त्वञ्च परापरम् ॥ १४/७१ ॥

ललाटवर्णराशिस्थं ब्रह्मरन्ध्रस्य मध्यतः ।

अभ्यासात् सततं वीर ग्रामधर्मञ्च वर्जयेत् ॥ १४/७२ ॥

सृष्टिसंहारकर्तारो भवत्येव न संशयः ।

जरा-मरणनिर्मुक्तो नित्यं वै योगिनी प्रिये ॥ १४/७३ ॥

ज्ञातमात्रेण (तु) देवि अभ्यासे मोक्षतां गतिः ।

अत ऊर्द्ध्वं प्रवक्ष्यामि रन्ध्रकौशलस्य निर्णयम् ॥ १४/७४ ॥

सततमभ्यसेत् प्राज्ञो व्याधिमृत्युर्न विद्यते ।

मम तुल्यबलो भूत्वा संहारसृष्टिकारकम् ॥ १४/७५ ॥

स्वतन्त्रं क्रीडते भद्रे इच्छारूपी भवेद् यथा ।

विसर्जः कौलिकं देवि तस्मिंश्चित्ते स्थिरं सदा ॥ १४/७६ ॥

शृण्वन्ति दूरतो देवि मननञ्चावलोकनम् ।

कपालघट्टिका देवि निगूढं स्थापितं प्रिये ॥ १४/७७ ॥

एतदभ्यसतो देवि निष्क्रमेद्वाह्यतः सदा ।

मक्षिकामंक्षुणो वापि व्याघ्रसिंहगजस्तथा ॥ १४/७८ ॥

एतत्तु धारयेद्रूपं मनसा चिन्तितं प्रिये ।

एतत्तु कुलविज्ञानं पारम्पर्यक्रमागतम् ॥ १४/७९ ॥

मोक्षदं सारमेवं (च) ज्ञातव्यं वरवर्णिनि ।

तस्मात् सर्वं प्रयत्नेन ज्ञातव्यं कुललक्षणम् ॥ १४/८० ॥

घटपूर्णमिव कुम्भं कुडयस्तम्भा इवाचलः ।

व्यापयित्वा स्थितो देव तद्वद् योगीनसोपमः (?) ॥ १४/८१ ॥

अतोर्द्धं संप्रवक्ष्यामि शृणु त्वं वीरवन्दिते ।

न जलं चिन्तयेद्देवि न वह्निवायुराकाशम् ॥ १४/८२ ॥

नाधस्तादूर्द्धमध्यञ्च काष्ठवल्लोष्ट्रवत् प्रिये ।

मनस्य उन्मनीभावो यदा भवति सुन्दरि ॥ १४/८३ ॥

शून्यशून्यमनः कृत्वा निश्चिन्तो निश्चलस्थितिः ।

घटपटस्थितस्तम्भा ग्रामकूपादिकं बुधः ॥ १४/८४ ॥

भेरिशङ्खमृदङ्गैश्च वीणावंशनिनादितैः ।

ताडयमानन्नबोध्यते जीवस्तल्लयतां गतः ॥ १४/८५ ॥

भूतं भव्यं भविष्यञ्च अतीतानागतन्तथा ।

अक्षयो ह्यमरो भूत्वा कामदेवद्वितीयकः ॥ १४/८६ ॥

भेद्यमानो न जाये ॥ ॥ । खाडयमानस्तु पन्नगैः ।

पुष्पवृष्टिपतन्तस्य पारिजातस्य सुन्दरि ॥ १४/८७ ॥

पूज्यते नागकन्याभिर्यथार्हं हाटकेश्वरः ।

पञ्चश्रोतात्मकञ्चैव मोक्षार्थं चोदितो मया ॥ १४/८८ ॥

त्वद्भक्त्या निर्णयं देवि चोदितं कुलगोचरे ।

अतोर्द्धं कथ्यते देवि मुद्रानिर्णयलक्षणम् ॥ १४/८९ ॥

अनामा हृदये लग्ना मुद्रेयमीश्वरीप्रदा।

द्वादशान्ते यदा पश्येत् स्फुरन्तम्मणिमालिका॥ १४/९० ॥

अनामा नाम मुद्रेयं वपा (?) खेचरतां गतिम्।

मुद्रितम्पञ्चमुद्राभिश्चैतन्यसहितं प्रिये॥ १४/९१ ॥

भेदयेत्तत्कपाटञ्च अर्गलायासुसञ्चिता।

पञ्चाद्द्वादशान्तं यावच् शक्त्याचारेण भेदयेत्॥ १४/९२ ॥

देव्या भूत्वा च योगिन्या मातृचक्रावशानुगा।

लीयन्ते खेचरीचक्रे क्षोभयेत् परमामृतम्॥ १४/९३ ॥

अमृतेन विना देवि अमरत्वं कथं प्रिये।

अमृतं कौलसद्भावं शृणु कामकलात्मकम्॥ १४/९४ ॥

सहजान्तस्थितन्तत्त्वं स्फुरन्तं मणिनिर्मलम्।

मुक्ताफलसमौपम्यं खद्योतसदृशं प्रिये॥ १४/९५ ॥

तारकोल्लाससंकाशं प्रस्फुरन्तन्नभःस्थले।

सित-रक्तञ्च कृष्णञ्च धूम्रपीतञ्च रूपकम्॥ १४/९६ ॥

॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। सृष्टिसंहारकारकम्।

उत्पत्तिप्रलयञ्चैव अकुल-कुल-वर्जितम्॥ १४/९७ ॥

दिवायामभ्यसेद्देवि कृत्वादित्यन्तु दृष्टत (?)।

स्वरूपं दृश्यते॥ ॥। ॥ १४/९८ ॥

॥ ॥ ॥ ॥ ॥ कुर्यात् प्रयत्नेन पररूपं न संशयः।

क्षणेन कुरुते सृष्टिं संहारञ्च वरानने॥ १४/९९ ॥

निशायामभ्यसेद्देवि उतुङ्गशतमीश्वरम् ।

कोदण्डद्वयमध्यस्त ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ १४/१०० ॥

एतन्ते परमं देवि येन सृष्टं चराचरः ।

अस्मिन्नेव लयं भद्रे समुद्रेण नदी यथा ॥ १४/१०१ ॥

अनेन दृढमात्रेण पुण्यपापैर्न लिप्यते ।

पिण्डमष्टप्रकारेण अष्टधातुपदं प्रिये ॥ १४/१०२ ॥

अष्टधा रूपविज्ञानं रूपातीतन्तु चाष्टधा ।

अष्टाष्टविधिना चक्रं ज्ञातव्यं सिद्धिकारणम् ॥ १४/१०३ ॥

कुललक्षं कुलाधारं नलिकावज्रसम्भवा ।

क्षोभञ्च कुलयानञ्च परतत्त्वविदः प्रिये ॥ १४/१०४ ॥

अनुज्ञा गुरुसिद्धानां देवतानाञ्च भासिनि ।

क्षीराम्भे फेनसदृशं शीतलं चन्द्रसन्निभम् ॥ १४/१०५ ॥

निमेषार्द्धं क्षोभमायाति वेला इव महोदधेः ।

मुच्यते ज्वरकुष्ठाद्यैर्व्याधिसंघैर्महातपे ॥ १४/१०६ ॥

इति ज्ञाननिर्णये श्रीयोगिनीकौलम्महच्छ्रीमच्छघ्नपादावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते ध्यानयोगमुद्रा चतुर्दशः पटलः ॥ १४/१४ ॥

पञ्चदशः पटलः

देव्युवाच

अद्य मे सफलं जन्म सफलं च तपस्तथा ।

देवत्वमद्य सफलं त्वत्प्रसादेन भैरव ॥ १५१ ॥

तपश्च सफलं मेऽद्य अद्य नेत्रोपशोभितम् ।

अद्याहं कृतकल्याणि ज्ञानदृष्टिकृतक्षमा ॥ १५२ ॥

अद्य मे भूषितो कर्णौ महाकौलं श्रुतं मया ।

अद्य मे तेजपिण्डन्तु महाज्ञान हृदि स्थितम् ॥ १५३ ॥

अद्य मे कुलशीलञ्च अद्य मे रूपलक्षणम् ।

अद्य मे भ्रान्तिरुच्छिन्ना त्वत्प्रसादात् सुराधिप ॥ १५४ ॥

विज्ञात्वा यन्मया पूर्वन्न पृच्छामि पदे पदे ।

यत् किञ्चित् दृढसद्भावं तत् सर्वं कथयस्व मे ॥ १५५ ॥

अनधीतं मया पूर्वन्तुष्टस्त्वं मे पुनः पुनः ।

चारणाकोटयः सप्त तन्मध्ये पृच्छितं इमम् ॥ १५६ ॥

पूर्वमेकार्णवे घोरे नष्टे स्थावरजङ्गमे ।

केनोपायेन वीरेश आत्मानं रक्षितं त्वया ।

तद्वस्तु कथ मे नाथ येनात्मरक्षितं त्वया ॥ १५७ ॥

भैरव उवाच

साधु साधु महाज्ञानि न पृष्टं केनचिदिमे ।

अत्यन्तगहनं देवि सुगोप्यं रक्षितं मया ॥ १५/८ ॥

मुण्डाधारैस्थित ॥ । नखाग्रे पश्य भैरवि ।

अस्थिचक्रस्य मध्यस्थं सर्वञ्चैव सुसंस्थितम् ॥ १५/९ ॥

सहजन्तु इ(मं) चक्रं वज्रनामातिकोद्भवम् ।

वज्रयोगप्रयोगेण वज्रवद्भवते नरः ॥ १५/१० ॥

सप्तकोटिसहस्राणि पत्राणां केसरान्वितम् ।

अर्द्धकोटिगतं चक्रं सहस्रं कोटिजं शुभम् ॥ १५/११ ॥

त्रिगुणं वेष्टितं कृत्वा क्षीराधारे व्यवस्थित(ः) ।

क्षीरादा ॥ ॥ विप्लकारैः पूरयेत्तत्तनुं सदा ॥ १५/१२ ॥

कर्णिकायां परं तत्त्वं अतसीपुष्पसन्निभम् ।

पञ्चारमष्टपत्रञ्च षोडशारं सुशोभनम् ॥ १५/१३ ॥

षोडशारं त्रिलिख्यन्तु अन्तरालसमन्वितम् ।

अष्टारपद्मपत्रञ्च षोडशैकं वरानने ॥ १५/१४ ॥

बिन्दुच्छिन्दञ्च कर्तव्यं अन्तराल(म)पि सुव्रते ।

षोडशाक्षरभिन्नन्तु आत्मा वै प्राणसंयुतः ॥ १५/१५ ॥

षोडशाक्षरभेदन्तु ऊर्द्ध्वं चक्रे व्यवस्थितम् ।

चतुष्कलं पुनर्देवि अन्यथा न कदाचन ॥ १५/१६ ॥

आधारे च आत्मचक्रं ॥ ॥ । तदूर्द्ध्वगम् ।

कर्णिकायात्मनः कृत्वा ऊर्द्ध्वचक्रेण प्लावयेत् ॥ १५/१७ ॥

गोक्षीरविप्लुतैर्देवि प्लाव्यमानं सविप्लषैः ।

द्विरष्टवर्षमात्मानं अधश्चक्रे व्यवस्थितम् ॥ १५/१८ ॥

किञ्चिद्दर्शितवर्णाभं प्राणचक्रं सुलोचने ।

प्लावयेत् पूर्वचक्रेण पूर्णचन्द्रनिभं तनु ॥ १५/१९ ॥

आनयेन्निश्चलीभूतम् अस्थिचक्रोद्भवेन तु ।

प्लावयित्वा जगत् सर्वं त्रयचक्रं समभ्यसेत् ॥ १५/२० ॥

आरमूर्द्धिंचक्रन्तु तदूर्द्धे चैव पार्वति ।

नलीकायां गर्भलीनं संहारन्तु कुतः प्रिये ॥ १५/२१ ॥

बलीपलितनिर्मुक्तो ज्वरव्याधिविवर्जितः ।

अक्षयो ह्यमरो नित्यो यथार्हन्तिष्ट मानसः (?) ॥ १५/२२ ॥

यदा भवति संहारस्तदा पश्येच्चराचरम् ।

तदाऽसौ तिष्ठते भद्रे मया सार्द्धं स्वरेश्वरि ॥ १५/२३ ॥

यथा मह्यं प्रभुत्वञ्च त्रैलोक्यं सचराचरम् ।

तद्वत् स भवते देवि सृष्टिसंहारकारकः ॥ १५/२४ ॥

समचित्तं सदा लीनमस्थिचक्रं सुलोचने ।

वज्रवत्तिष्ठत देहं संहा(र)न्तु न हि प्रिये ॥ १५/२५ ॥

मयाभ्यस्त(मि)दम्पूर्वन्तेनाहमक्षयं प्रिये ।

एतन्मया कथितं शास्त्रे अप्रमेयमनेकधा ॥ १५/२६ ॥

इमन्तु गूढसद्भावं मम गुह्यं प्रगोपितम् ।

गोपनीयं प्रयत्नेन सप्तादूर्द्धन्न दापयेत् ।

एतत्ते कुलसद्भावम्मया तुभ्यम्प्रकाशितम्॥ १५/२७ ॥

इति ज्ञाननिर्णये योगिनीकौलम्महच्छीमच्छेन्द्रपादावातारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते परमवज्रीकरणं नाम पञ्चदशः पटलः॥ १५/१५॥

षोडशः पटलः

देव्युवाच

योगिनीसिद्धसम्पन्नं दिव्यरूपेण भैरव।

क्रीडते मातृमध्यस्थं स्वशक्तिं बलगर्वैतम्॥ १६/१ ॥

दुर्विज्ञेयं सदा नाथ तुभ्यं चरितचेष्टितम्।

न ज्ञातं सुरगान्धर्वैः किं पुनर्भुवि सम्भवैः॥ १६/२ ॥

त्रिष्कालं तिष्ठसे क्षेत्रे क्षेत्रं वा पीठपर्वते।

तन्ममाचक्ष्व देवेश भक्ष्याणां दिव्यदर्शनम्।

अतिध्यानविदं देव कथ्यतान्तु मम प्रभो॥ १६/३ ॥

भैरव उवाच

शोभनं पृच्छितं भद्रे अद्भुतसिद्धिगोचरे।

कथ्यमानं विशालाक्षि किं भयं तेजभामिनि ॥ १६/४ ॥

श्रीशैलश्च महेन्द्रश्च पीठका(मा)ख्य विश्रुतम् ।

सन्निधानो ह्यहं भद्रे त्रिष्कालसिद्धिमेलकम् ॥ १६/५ ॥

प्रसन्ना ये नरा भद्रे व्योमध्यानैकचेतसः ।

दर्शनं च भवते तस्मिन् मया सार्द्धं कुलेश्वरि ॥ १६/६ ॥

श्रीशैले नाम संसिद्धिर्महेन्द्रे राजसं स्मृतम् ।

साध्विकं योगसंयुक्तो कामाख्यं पीठमास्मृतम् ॥ १६/७ ॥

तस्मिन् मेलापकं लब्ध्वा योगिनीसिद्धिः तत्समम् ।

मनसा चिन्तितं रूपं अणिमादिगुणाष्टकम् ॥ १६/८ ॥

किन्त्वया तेन विज्ञातं मह्यं चरितचेष्टितम् ।

कथितं मेलकं स्थानं श्रुतं ते चेष्टितं शुभम् ॥ १६/९ ॥

पञ्चस्त्रोतात्मकं चैव गोपितं सिद्धिगोचरम् ।

अभक्ष्या चोद्यते नाथे अन्यथा न कदाचन ॥ १६/१० ॥

अहन्तत् परमं तत्त्वं अहं स भैरवः प्रिये ।

अहं सदा शिव ईशः श्रीकण्ठो रुद्र एव च ॥ १६/११ ॥

अहं सो धीवरो देवी अहं वीरेश्वरः प्रिये ॥ १६/१२ ॥

अनन्तोऽहम् महादेवि रुद्रोऽहं सुरसुन्दरि ।

संहरामि जगत् सर्वं संहारोऽहं कुलेश्वरि ॥ १६/१३ ॥

चराचरः पुनः सृष्टिः स्त्रष्टारो धीरवन्दिते ।

विहितं त्रायते नित्यं विधाताऽहं कुलागमे ॥ १६/१४ ॥

विश्वन्तु निशृतं येन विश्वपादेति गीयते।

विचित्रचित्रतासृष्टिर्विचित्रेति च विश्रुते॥ १६/१५॥

स्वेच्छया क्रीडितोऽहं च करोति विकरोति च।

श्वेतपादस्त्वहं देवि श्वेतपादेति गीयते॥ १६/१६॥

चन्द्रकान्तसमं तेजं भृङ्गवर्णं सुनिर्मलम्।

ते चाहं विश्रुते लोके भृङ्गपादा वरप्रदे॥ १६/१७॥

असुराणां सुराणां च अहं भट्टारकः प्रिये।

भट्टपादेति विख्यातो नामेदं मम सुन्दरि॥ १६/१८॥

श्रियामुत्कण्ठिता ये तु श्रीकण्ठस्तेन उच्यते।

रूरूपादं महादेवि रूद्रोऽहं द्रावणप्रिये॥ १६/१९॥

(रूरूपादं महादेवि महीद्रावणं प्रिये।)

त्व-उमातु महादेवि तुभ्यं पतिरहं प्रिये॥ १६/२०॥

श्रियाया तु अहन्नाथ श्रीनाथ सिद्धगोचरे।

यदावतारितं ज्ञानं कामरूपी त्वया मया।

तदावतारितं तुभ्यं तत्त्वन्तु षणमुखस्य च॥ १६/२१॥

तेन कौलागमे देवि विज्ञानं प्रणवप्रिये।

अव्यक्तेन तु रूपेण चन्द्रद्वीपे अहं प्रिये॥

अव्यक्तं गोचरं तेन कुलजातं मम प्रिये॥ १६/२२॥

श्रीदेव्युवाच

किमर्थं चन्द्रद्वीपन्तु अहञ्चैव गतः प्रभो।

किमर्थं ग्रसिता प्राज्ञा आदिषण्मुखस्य च॥ १६/२३॥

अन्योऽपि विस्मयो देवि कौलवे सिद्धिमिच्छता।

सूचितं सूचनार्थाय वटुको नाम नामतः॥

किं वर्णा ध्यानमात्रञ्च श्रोतुमिच्छामि भैरव॥ १६/२४॥

भैरव उवाच

आत्मानं बुध्यसे नाथ यद्यपि प्रियभाषिणि।

इच्छा त्वं ज्ञानशक्तिश्च क्रियाख्या चैव भासिनि॥ १६/२५॥

गौरी चैव महाकाली लक्ष्मी चैव श्रिया तया।

अहं त्वं च विशालाक्षि सर्वशास्त्रावतारकः॥ १६/२६॥

अहं चैव त्वया सार्द्धं चन्द्रद्विपं गतो यदा।

तदा वटुकरूपेण कार्तिकेय(ः) समागतः॥ १६/२७॥

अज्ञानभावमासृत्य तदा शास्त्रं हि मूषितम्।

शासितोऽहं मया देवि षण्मुखा मृषकातृकम्॥ १६/२८॥

गतोऽहं सागरं भद्रे ज्ञानदृष्ट्यावलोकनम्।

मच्छमाकर्षयित्वा तु स्फोटितं चोदरं प्रिये॥ १६/२९॥

गृहीत्वा मत्स्योदरस्थन्तु आनीतन्तु गृही पुनः।

स्थापयित्वा ज्ञानपट्टं मम गूढं तु रक्षितम् ॥ १६/३० ॥

पुनः क्रुद्धमनेनैव मुषकेण सुरेश्वरि ।

गार्तं कृत्वा सुरुङ्गाय पुनः क्षिप्तं हि सागरे ॥ १६/३१ ॥

दशकोटिप्रमाणेन महामांसेन भक्षितम् ।

मम क्रोध समुत्पन्नं शक्तिजालो मया कृतः ॥ १६/३२ ॥

आकर्षितो मत्स्यस्तानां सागरह्लदात् ।

नागतोऽसौ महामत्स्या मम तुल्यबलः प्रिये ॥ १६/३३ ॥

ज्ञानतेजेन संभूतो दुर्जयस्त्रिदशैरपि ।

ब्रह्मत्वं हि तदा त्यक्तं चित्तवी (?) धीवरात्मकम् ॥ १६/३४ ॥

अहं सो धीवरो देवि कैवर्तत्वं मया कृतः ।

आकृष्य तु तदा मत्स्यं शक्तिजालसमीकृतः ॥ १६/३५ ॥

मत्स्योदरन्तु तत्स्फोटय गृहीतञ्च कुलागमे ।

वदन्ति विदिता लोके पशवो ज्ञानवर्जिताः ॥ १६/३६ ॥

देव्युवाच

ब्राह्मणोऽसि महापुण्ये कैवर्तत्वं मया कृतः ।

मत्स्याभिघातिनैर्विप्रा मत्स्यघ्नमेति विश्रुताः ।

कैवर्तत्वं कृतं यस्मात् कैवर्तो विप्रनायकः ॥ १६/३७ ॥

भैरव उवाच

अव्यक्तेन महात्मान कृतं पूर्वन्तु सुन्दरि।
अव्यक्तगोचरं तेन कुलैर्जातम्महाकृपे॥ १६/३८॥
तुभ्यञ्चैव महादेवि षट्मुखस्य च पार्वति।
विघ्नेशो नन्दिनश्चैव महाकालस्य धीमते॥ १६/३९॥
जया च विजयादीनां हरसिद्धिमहाबलाः।
कालिका योगिनी ख्याता ऊर्द्धतो मत्समं प्रिये॥ १६/४०॥
अकुलं तु इमं भद्रे यत्राहं तिष्ठते तदा।
कल्पान्ते च युगान्ते च मम देहे तु तिष्ठति॥ १६/४१॥
जीवमध्ये यदा देवि पुष्पमूलफलान्विता।
पत्रशाखासमायुक्तो वृक्षस्य चोद्भवं यथा॥ १६/४२॥
तद्वदुत्पादितान्येऽपि मद्देहे कुलभामिनि।
अज्ञानभाविता देवि पशुत्वं सुरनायिके॥ १६/४३॥
गृहीत्वा तु पुनर्देवि महाज्ञानं प्रकीर्तितम्।
कथितं तव कामेषि षट्मुखस्य गणस्य च॥ १६/४४॥
नन्दी चैव महाकाले जया च विजयादिषु।
भट्टाद्या द्रोणकादीनां तथा च हरसिद्धिका॥ १६/४५॥
कथितं कालिका योगी सर्वकौलस्य निर्णयम्।
भक्तियुक्ता समत्वेन सर्वे शृण्वन्तु कौलिकम्॥ १६/४६॥

महाकौलात् सिद्धकौलं सिद्धकौलात् मसादरम् (?) ।

चतुर्युगविभागेन अवतारश्चोदितं मया ॥ १६/४७ ॥

ज्ञानदौ निर्णीतिः कौलं द्वितीये महत् संज्ञितम् ।

तृतीये सिद्धामृतन्नाम कलौ मत्स्योदरं प्रिये ॥ १६/४८ ॥

ये चास्मान्निर्गता देवि वर्णयिष्यामि तेऽखिलम् ।

एतस्माद् योगिनीकौलान्नाम्ना ज्ञानस्य निर्णीतौ ॥ १६/४९ ॥

क्षणेन योगिनी हृष्टा देव्या सह विनायकः ।

चत्वारः कुलसिद्धस्तु पृच्छमाना सुभाविता ॥ १६/५० ॥

रोमाञ्चकञ्चुका सर्वे पुष्पहस्तास्तु बोधिता ।

दण्डवत् पतिताः सर्वे आत्मवादं वद प्रभो ॥

योगाभ्यासरतानान्तु रक्तपालस्य निर्णयम् ॥ १६/५१ ॥

भैरव उवा(च)

अहं त्वं च विशालाक्षि चन्द्रद्वीपसमागतौ ।

षट्मुखो वटुको जाताः क्षेत्रपालकुलागमे ॥ १६/५२ ॥

सिध्यन्ते कोटयः सप्त तावत्त्वं क्षेत्रपालकः ।

वटुकौ किं न विज्ञातौ सुतौ तुल्यं वरानने ॥ १६/५३ ॥

सिद्धामृते तु यत् प्रोक्तं गुरोर्निन्दा विगर्हिता ।

तथ्याच्यवनसंजातं पतितं च महोदधौ ॥ १६/५४ ॥

कलौ युगे महाघोरे दिव्यैः संसाधितोऽपि सः ।

तन्त्रे तन्त्रे समाख्यातं यथाशापन्तु प्राप्तवान्॥ १६/५५॥

तस्य पूजाबलिः पिण्ड आसनं जाप्यमेव च।

कथयामि समासेन यथा सिध्यति साधके॥ १६/५६॥

ह्रीं वटुकाय कपिलजटाय पिङ्गलनेत्राय देवीपुत्राय मातृपुत्राय

इमां बलिं ममोपनीतां गृह्ण गृह्ण चुरु मुरू ह्रीं बलिमन्त्र चाल चाल

भक्ष २०० पिण्डमन्त्रः यत्किञ्चित् भक्षयेत् प्राज्ञः अग्रपिण्डन्तु दापयेत्।

ह्रीं वटुकाय आसनमन्त्रः ह्यौं ह्यौह्यं महाभैरव पूजनमन्त्रः।

ह्रीं ह्रां जाप्य -

यः सदा जाप्यमिदं कुर्यान्निर्विघ्नं सिद्धिभाजनः।

गृह्ण गृह्णेति वक्तव्यं गृह्णाति वटुकस्तथा॥ १६/५७॥

दण्डहस्तं सदाध्यायेज्जटिलं ब्रह्मतेजसम्।

रक्ताम्बरपरीधानं वटुकं विघ्नमर्दकम्॥ १६/५८॥

पूज्यमानं सदाकालं अग्रतो दण्डपाणिनम्।

चतुरङ्गबलं जित्वा उष्टानां (?) स्तम्भकारकम्॥ १६/५९॥

चौरराजकुलादीनां सर्पव्याघ्रगजादिषु।

ह्रीं च वटुक ह्रीं

इमां विद्यां जाप्यं कुर्याद्भयोर्द्धिता॥ १६/६०॥

नाशयेत् सर्वदुष्टानां सिंहस्यैव यथा गजाः।

यत्र तत्र क्षुद्रसिद्धिर्बहुधा शास्त्रचोदिता ॥ १६/६१ ॥

ह्रीं वटुक उक्तमन्त्रेण करोति सुरसुन्दरि ।

ह्रीं काराङ्कराद्येवं वटुकं सिद्धिपूजितम् ।

पूजयेत्तत् प्र(य)त्नेन कौलवे सिद्धिमिच्छता ॥ १६/६२ ॥

इति ज्ञाननिर्णये महायोगिनीकौले मत्स्येन्द्रपादावतारे चन्द्रद्वीपविनिर्गते

षोडशः पटलः ॥ १६/१६ ॥

सप्तदशः पटलः

देव्युवाच

यन्मया पृच्छितं देव आत्मवादस्य निर्णयम् ।

साम्प्रतं श्रोतुमिच्छामि निःसन्दिग्धं वद प्रभो ॥ १७/१ ॥

भैरव उवाच

साधु देवि महायोगे योगिनीसिद्धनायिके ।

गूढं गुह्यं सनाभिश्च हृदि पद्ममधोमुखम् ॥ १७/२ ॥

समीरस्तोभकं चक्रं घण्टिकाग्रन्थिशीतलम् ।

नासाग्रं द्वादशान्तं च भ्रुवोर्मध्ये व्यवस्थितम्॥ १७/३॥

ललाटं ब्रह्मरन्ध्रं च शिखरस्थं सुतेजसम्।

एकादशविधं प्रोक्तं विज्ञानं देहमध्यतः॥ १७/४॥

क्लिश्यन्ति मनुजात्यन्तमज्ञात्वा तु कुलागमम्।

हृदिस्थसहजो देव स्मरणार्हः स उच्यते॥ १७/५॥

हकारो निष्कलो नित्यः संकारं सकलं तथा।

सृकारं तु सदा सृष्टि हीत्येवं संहरेज्जगत्॥ १७/६॥

सकारं शुक्लपक्षन्तु हकारं कृष्णपक्षकम्।

हकारमीक्षमित्याहुर्महार्थञ्च गतं परम्॥ १७/७॥

न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः।

अन्योऽन्यञ्च प्रवर्तन्ते अग्निधूमौ यथा प्रिये॥ १७/८॥

न वृक्षरहिता च्छाया न छायारहितो द्रुमः।

शक्त्याभ्यासरतो योगी कुले सामान्यतां व्रजेत्॥ १७/९॥

स्थूलं सूक्ष्मं परो हंसौ ज्ञात्वा सर्वात्मकं प्रिये।

पारम्पर्यान् मतं कौलं कर्णात् कर्णगतं परम्॥ १७/१०॥

अपरीक्ष्ये न दातव्यं दातव्यं सुपरीक्षिते।

कृत्वा कुलाभिषेकन्तु प्रकाश्यं त्वात्मनिर्णयम्॥ १७/११॥

पञ्चरत्नादि देवेशि ज्ञातव्या तु कुलागमे।

प्रथमं पलितस्तम्भं द्वितीयम् ईप्सितं भवेत्॥ १७/१२॥

तृतीयं कामरूपत्वं चतुर्थमक्षयांशकम्।

पञ्चमन्तु महारत्नं जरामरणनाशनम्॥ १७/१३॥

कृत्वा प्रेतासनं दिव्यं द्वादशान्तमनासृतम्।

भूगृहे निर्जने देशे गन्धधूपसुधूपिते॥ १७/१४॥

शुक्लाम्बरधरो भूत्वा श्रीखण्डेन विलेखयेत्।

पर्यङ्कं विन्यसेत्तत्र सुसहायसमन्वितम्॥ १७/१५॥

महाव्याप्तिमहानिद्रां न शृणोति न पश्यति।

सुगन्धं पूतिगन्धं वा कर्पूरञ्चन्दनादिषु॥ १७/१६॥

न गन्धं वेत्ति तत्त्वज्ञो महाव्याप्तिरियं प्रिये।

अतीतानागतञ्चैव तस्मिन् कालस्य वञ्चनम्॥ १७/१७॥

कर्ता हर्ता भवेद्देवि यदुक्तो वीरमातरे।

अधोर्द्ध्वे रमते हंसो द्वादशान्ते लयं पुनः॥ १७/१८॥

हृदिस्थं निश्चलीभूतं कुम्भमध्ये जलं यथा।

मृणालतन्तुसदृशं भावाभावविवर्जितम्॥ १७/१९॥

धारणाधेयरहितं सर्वज्ञं सर्वतोदितम्।

स्वयं च चलते चोर्द्ध्वम् अधश्चैव स्वयम्पुनः॥ १७/२०॥

रमते सहजं तत्त्वं यथात्मनि तथापरे।

ज्ञात्वा तत्त्वमिदन्देवि भवबन्धात्मकैः प्रिये॥ १७/२१॥

कर्णञ्च हृदये कृत्वा ज्ञातव्यं हंसलक्षणम्।

कण्ठस्थाने ध्वनिर्दिव्या सकला तु परापरा॥ १७/२२॥

आपादतलमूर्द्धान्ता वामाख्यं कुण्डलाकृतिम्।

गुदस्थमुदयन्तस्या द्वादशान्ते लयं पुनः ॥ १७/२३ ॥

एवं तु चरते हंसो देहमध्ये शुभाशुभे ।

निर्लेपं निष्कलं चोर्द्धे शुद्धमत्यन्तनिर्मलम् ॥ १७/२४ ॥

निगर्भं गर्भरूपेण नित्यानन्दैकलक्षणम् ।

ज्ञातव्यं गहनं नाथ महाज्ञानगतं परम् ॥ १७/२५ ॥

अप्रमेयमचिन्त्यं च निराभ्यासपदं स्मृतम् ।

निश्वासोच्छ्वाससंयुक्तं भावाभावसमन्वितम् ॥ १७/२६ ॥

स सञ्चरति भूतेषु भूतग्रामे चतुर्विधे ।

स आत्मा स स्वयं कर्ता पिण्डं चैव तु संहरेत् ॥ १७/२७ ॥

पिण्डस्यैवम्भवेद्दुःखं बन्धस्यैव सुखं परम् ।

विषादं हरिषश्चैव जरामरणमेव च ॥ १७/२८ ॥

क्षुधा तृषा च मोहश्च भयाद्या लोभमेव च ।

दारिद्रम्बन्धनादीनि पिण्डस्यैव सुलोचने ॥ १७/२९ ॥

न चासौ छिद्यते शस्त्रैर्ण चक्रेण बलीयसा ।

भिद्यन्ति नैव वज्रेण न च वह्नौ दहत्यसौ ॥ १७/३० ॥

न जलेन भवेन्मृत्युर्न जले जीवितं भवेत् ।

न मोहं न च वा रागं न मदं मत्सरं सदा ॥ १७/३१ ॥

न लोभं न च वा कोपं न चिन्ता बाध्यते ते (?) सः ।

इन्द्रियाणामिदं सर्वं भूतानां च वरप्रदे ॥ १७/३२ ॥

जीवेन च जगत् सृष्टं स जीवस्तत्त्वनायकः ।

स जीवः पुद्गलो हंसः स शिवो व्यापकः परः ॥ १७/३३ ॥

स मनस्तूच्यते भद्रे व्यापकः स चराचरे ।

आत्मानमात्मना ज्ञात्वा भुक्तिमुक्तिप्रदायका ॥ १७/३४ ॥

प्रथमा तु गुरुर्ह्यात्मा आत्मानं बन्धयेत् पुनः ।

बन्धस्तु मोचयेद् ह्यात्मा आत्मानमात्मनः प्रभुः ॥ १७/३५ ॥

आत्मानमात्मना ज्ञात्वा आत्मा वै कायरूपिणः ।

आत्मनश्चापरो देवि येन ज्ञातं स योगिराट् ॥ १७/३६ ॥

स शिवः प्रोच्यते साक्षात् स मुक्तो मोचयेत् परः ।

सुविशुद्धः सदा देवि पङ्कस्थमिव पङ्कजम् ॥ १७/३७ ॥

मानुष्यं पिण्डमासृत्य स शिवः क्रीडते भुवि ।

इत्थम्भूतं परात्मानं येन ज्ञातं सुभामिनि ॥ १७/७८ ॥

तस्यैव स्पर्शमात्रेण भवेन्मुक्तिर्न संशयः ।

तस्योच्छिष्टञ्च संप्राप्य भवेन्मुक्तिः परा प्रिये ॥ १७/७९ ॥

तेनैव स्नापिते देवि अभ्यङ्गोद्वर्तनेन तु ।

तेन पादेन संस्पृष्टे सोऽपि मोक्षस्य भाजनः ॥ १७/४० ॥

एकेन तेन भुक्तेन भुक्तं चैव चराचरम् ।

सर्वतीर्थेषु यत् पुण्यं स्नात्वा लभति मानवः ।

तं ज्ञेयन्तु मनः कृत्वा अधिकं तु फलं लभेत् ॥ १७/४१ ॥

योगिनीसिद्धसद्भावं वीरमातृगणादिषु ।

अस्योद्ध्र्वे तु निगद्यतु भुक्तिमुक्तिप्रदं शुभम् ॥ १७/४२ ॥

इति ज्ञाननिर्णये महायोगिनीकौलेश्रीमछेन्द्रपादावतारिते
चन्द्रद्वीपविनिर्गते सप्तदशः पटलः ॥ १७/१७ ॥

अष्टादशः पटलः

देव्युवाच

सिद्धानां पूजनन्देव देहस्थप्रत्ययात्मकम् ।
कुलद्वीपविधानं च संक्षेपात् कथ्यतां प्रभो ॥
कौलवं सिद्धिकामस्य अभिषेकं कीदृग् भवेत् ॥ १८/१ ॥

भैरव उवाच

साधूक्तं कथयिष्यामि कुलं द्वीपस्य यो विधिः ।
यवाद्याशालिचूर्णन्तु पिष्टं वा गोधूमोद्भवम् ॥ १८/२ ॥
येन केनचित् पिष्टेन अनेन सुरसुन्दरि ।
ह्रींकारमन्त्रितं कृत्वा वर्तिद्वादशभूषितम् ॥ १८/३ ॥
क्षीरखण्डादिमृष्टन्तु घृतपूर्णसुशोभनम् ।
पार्श्वे तु पूजयेत् सिद्धां योगिनीं गुरुमेव च ॥ १८/४ ॥

एककालं द्विकालं वा त्रिष्कालं पूजयेत् क्रमम्।

अग्रतः पूजयेन्नित्यं भुञ्जमानाग्रनायिके ॥ १८/५ ॥

जपेद्बीजपरं श्रेष्ठं ह्रींकारं योगिनीप्रियम्।

योगिनीमेलकं ह्यस्मिन् भुक्तिमुक्तिप्रदः सदा ॥ १८/६ ॥

अथान्यं सम्प्रवक्ष्यामि अभिषेके कुलगोचरे।

रक्तेन पूरयेद् रक्तं शुक्रस्यैव समं प्रिये ॥ १८/७ ॥

कुण्डगोलोद्भवेनैव मधुं च घृतसंयुतम्।

रक्तं वामामृतं शुक्रं सुरया ब्रह्ममिश्रितम्॥ १८/८ ॥

वुकपुष्पसमायुक्तकृष्णासवसमायुतम्।

मदिरानन्दचैतन्यं भक्तियुक्तो महात्मनः ॥ १८/९ ॥

उद्धरेद्रुममन्त्रन्तु गुरुसिद्धाञ्च देवताम्।

ह्रीं क्लीं म्हौ जुं सः -

शङ्खस्थं कलशस्थं वा पूजयित्वा यथाक्रमम्॥ १८/१० ॥

दृढभक्तस्य देवेशे आचार्यो दृढलक्षवित्।

जयाद्याश्चौषधीः (?) सर्वा मोहनाद्या कृताञ्जली ॥ १८/११ ॥

पञ्चरत्नसमोपेतां रक्तयुक्तेन वेष्टितम्।

क्षारक्षीरदधिसर्पि मद्योदे इक्षुमेव च ॥ १८/१२ ॥

स्वादुदञ्चैव गर्भादं क्रमेण परिजल्पयेत्।

वक्रेकैकशो (?) मध्ये च अष्टौ तां कुलपर्वताम्॥ १८/१३॥

वेश्याकुमारिकाभिर्वा आचार्यः स्वकरैस्तथा।

उद्धृत्य शिरसि दद्यात् ततो योगी भविष्यति॥ १८/१४॥

पुनस्तु यजनं वक्ष्ये यथावत्तन्निबोध मे।

रक्तं युक्तं समादाय अथवा चित्रजं शुभम्॥ १८/१५॥

ततस्तुष्टजयेद्देवि क्रमञ्चैव समाहित।

अक्षतैः शालिजैर्दिव्यैरन्यैर्वापि सुशोभनैः॥ १८/१६॥

चतुःषष्टिक्रमयुतैः पूजयेत् तत्क्रमं शुभम्।

दिव्यसुगन्धपुष्पैस्तु विचित्राभरणभूषितः॥ १८/१७॥

आचार्यः सुमनो भूत्वा सर्वसंभारसंभृतः।

योगिनी सिद्धवीराणां भवते मातृवल्लभः॥ १८/१८॥

मद्यमांससमायुक्तं भक्ष्यभोज्ययुतं प्रिये।

घृतखण्डसमायुक्तं शर्करायान्तु पूरयेत्॥ १८/१९॥

कुम्भादि च वरं दद्यात् सहस्रं वा शतैरपि।

चतुःषष्टिञ्च सौदर्य अष्टौ च गुणापि वा॥ १८/२०॥

निवेद्य गुरवे मानं गुरुपूजा विशेषतः।

वीरपूजां ततः कृत्वा येन तुष्येत् पुनः पुनः॥ १८/२१॥

चरुकं भक्षयेत् प्राज्ञः समयहीने न दापयेत्।

वक्राद्वक्रं विशेषेण सिद्धिभाग्यः समान्यथा॥ १८/२२॥

सामान्ये कथितं कुम्भे शङ्खाद्वक्रं विशेषतः।

शास्त्रोक्तं तु क्रमं पूज्य सर्वसंभारसम्भृतः ।
अनेनारब्धमात्रेण सिद्धियोग्यो भवेत्ततः ॥ १८/२३ ॥

इति ज्ञाननिर्णये महाकौले चन्द्रद्वीपविनिर्गते अष्टादशः पटलः ॥ १८/१८ ॥

ऊनविंशतितमः पटलः

देव्युवाच

देहस्थं पङ्कजं देव सिद्धानां साम्प्रतं वद ।

भैरव उवाच

देव्याश्चक्रङ्गताः सर्वे दिव्यरूपसुतेजसः ॥ १९/१ ॥
षोडशाकृतयः सर्वे तन्मध्ये आत्मनम्प्रिये ।
मोक्षकामी सदा ध्यायेच्छुक्लाम्बरधरां शुभाम् ॥ १९/२ ॥
सदा यौवनकामिन्यः कृष्णवर्णन्तु चिन्तयेत् ।
रक्ताम्बरधरा ध्यायेद्रक्तगन्धानुलेपनः ॥ १९/३ ॥
रक्ताभी रक्तमालाभिर्भूषिता सिद्धयोगिनी ।
तन्मध्ये चात्म(ना) देवि तद्रूपं परिभावयेत् ॥ १९/४ ॥

श्रीनाथं योगिनीसार्द्धं वृन्दरूपञ्च भासिनि।

शङ्खहस्ता सदा ध्यायेन्मनसा चिन्तितं लभेत्॥ १९५॥

इति ज्ञाननिर्णये महायोगिनीकौले श्रीमीनपादावतारिते एकोन्नविंशतितमः पटलः॥ १९/१९॥

विंशतितमः पटलः

भैरव उवाच

शृणु त्वमद्भुतन्देवि लोकेऽस्मिन् मोक्षप्रत्ययम्।

गूदोद्ध्र्वम्पीडयेन्नाथ हृदि कण्ठादिकं प्रिये॥ २०/१॥

उत्पातं निक्षिपेदूद्ध्र्वं प्राणायामेन सुन्दरि।

कपालं भेदमयाति यान्ति जीवो निरञ्जनम्॥ २०/२॥

स शिवो व्यापको भूत्वा कर्ता हर्ता वरानने।

आत्मानं च परं वेत्ति वेत्तित्येवं चराचरम्॥ २०/३॥

दुःखन्तस्य न विद्येत सुखन्तस्य निरन्तरम्।

अथान्यं साम्प्रतं देवि प्रत्यक्षमभ्यसेत् सदा॥ २०/४॥

शक्त्याचाररतो नित्यं जिताहारैकमैथुनः।

अनामापीडयेदूद्ध्र्वं नाभिञ्च हृदयन्तथा॥ २०/५॥

श्यामसूत्रगतं लक्षं शक्त्याग्रसंस्थितं मनः।

आत्मप्राणसमं कृत्वा शक्त्याचाराग्रसंस्थितम्॥ २०/६॥

पुष्पे वा प्रतिमाद्येषु अभ्यासाच्चलते प्रिये।

षट्मासादभ्यसेद्देवि निश्वासोच्चपराङ्मुखाः॥ २०/७॥

अब्दमनेकं देवेशे देशदेशान्तरं व्रजेत्।

परदेहप्रवेशं स्यादभ्यासं वर्णितं तव॥ २०/८॥

अथान्यं साम्प्रतं भद्रे शृणु त्वं वीरनायिके।

कुलाशक्तेस्तु वीरस्य तथान्यं शक्तिलक्षणम्॥ २०/९॥

अनादिनिधना शक्तिरिच्छा नाम शिवोद्भवा।

व्योममालिनी सा भद्रे खेचरीति निगद्यते॥ २०/१०॥

वामाख्या कुण्डलीनाम ज्येष्ठा चैव मनोन्मनी।

रुद्रशक्तिस्तु विख्याता कामाख्या तु गीयते॥ २०/११॥

अग्रणी चैव सर्वेषां लिख्यते न च पठयते।

मातृका शब्दरा(शिश्च) सर्वग्रन्थेषु कीर्त्यते॥ २०/१२॥

देव्युवाच

ज्ञानशक्तिर्मया ज्ञाता क्रियाशक्तीर्वद प्रभो।

भैरव उवाच

कथयामि समासेन वीरस्य शक्तिलक्षणम्॥ २०/१३॥

उत्तमा धवलाक्षी तु कुटिलाग्राग्रकेशिनी।

दशनैश्च ज्योत्स्नाकारैः सुरूपा चारुभाषिणी॥ २०/१४॥

कुले भक्तिसमायुक्ता गुरुदेव्या प्रपूजका।

सुरूपा सुखभावा च सुभ्रुवा सुललाटका॥ २०/१५॥

कुलागमेन भक्ति॥ ॥ ॥ ॥ भयवर्जिता।

सुशीला सुभगा देवि जनानन्दकरा शुभा॥ २०/१६॥

दुर्लभा लोकमध्ये तु ज्ञानवर्तस्य रक्ष्यते।

इत्थंभूता यदा शक्तिर्वीरस्य लक्षणं शृणु॥ २०/१७॥

सुरूपः सुस्वभावश्च सत्यवादी च निश्चयी।

गुरुकौलागमे भक्तः सुसन्धः क्रोधवर्जितः॥ २०/१८॥

सुशूरः सुभगो नित्यं स्वदेहप्रत्ययान्वितः।

ईदृशी भवते वीरा रुद्रशक्त्या ह्यधिष्ठिता॥ २०/१९॥

यत्तेजः स महालिङ्गमुत्पत्तिस्थितिकारकः।

बिन्दुरूपं तु तं ज्ञात्वा स्फुरज्ज्वालावलीपरः॥ २०/२०॥

अक्षोभ्यः सर्वशक्तीनां आत्मशक्त्यान्तरञ्जितः।

सुज्ञात्वा देहजं शक्तिं तदा शक्तिपरिग्रहे॥ २०/२१॥

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः अद्वैताचारभावितः।

कुलकौलागमे भक्ति ईदृशं वीरलक्षणम्॥ २०/२२॥

इति ज्ञाननिर्णये योगिनीकौले श्रीमीनपादावतारिते चन्द्रद्वीपविनिर्गते

विंशतितमः पटलः ॥ २०/२० ॥

एकविंशतितमः पटलः

देव्युवाच

संग्रहं वद मे नाथ वर्तनं कुलगोचरे ।

भैरव उवाच

कथयामि न सन्देहो संग्रहाचारलक्षणम् ॥ २१/१ ॥

पञ्चपञ्चाशिको देवि मतं वै योगलक्षणम् ।

तस्य भेदोपभेदेन कौलशास्त्रे विनिर्णयम् ॥ २१/२ ॥

कुलपञ्चाशिकामूलं तथा च कुलसागरम् ।

कुलोघो हृदयश्चैव भैरवोद्यानकं तथा ॥ २१/३ ॥

चन्द्रकौलश्च वेष्टिश्च(?) तथा वै ज्ञाननिर्णयम् ।

अस्य मध्ये विनिष्क्रान्तं सम्बरनाम विश्रुतम् ॥ २१/४ ॥

सृष्टिकौलं महाकौलं तिमिरं च तथापरम् ।

सिद्धामृतं तु कौलं मातकौलं तथापरम् ॥ २१/५ ॥

शक्तिभेदं तथा कौलं ऊर्मिकौलमनुत्तमम् ।

चतुर्युगेषु देवेशि ज्ञानकौलस्य संगतिः ॥ २१/६ ॥

सिद्धेश्वरं तथा चान्यं कौलं वै वज्रसम्भवम् ।

मेघजाञ्च दूरतं तस्मिन् कौले विनिर्गतम् ॥ २१/७ ॥

अङ्गस्पर्शानिश्वरं देवि वज्रदाद्यामृतं तथा ।

पूर्णिमायां अमावस्यां अष्टमी च चतुर्दशी ॥ २१/८ ॥

सजीवं मत्स्यमद्यञ्च मांसञ्चैव बलिं द(देत्) ।

व्याख्या चैव तु कर्तव्या आचार्यः शङ्कवर्जितः ॥ २१/९ ॥

न तिथिर्न च नक्षत्रं नोपवासं विधीयते ।

यत्र तत्र स्थितो योगी ज्ञानमेवं समाश्रयेत् ।

कथितं कौलसद्भावं नाम्ना ज्ञानस्य निर्णये ॥ २१/१० ॥

इति ज्ञाननिर्णये महायोगिनीकौले श्रीमीनपादावतारिते चन्द्रद्वीपविनिर्गते

एकविंशतितमः पटलः ॥ २१/२१ ॥

द्वाविंशतितमः पटलः

देव्युवाच

प्रणम्य प्राञ्जलि ॥ ॥ ॥ व अद्याहं तव वल्लभ ।

अद्याहं कृतकृत्या तु हर सिद्धिविनायकः॥ २२/१॥

षड्मुखश्च महाकाल(ः) कालिका योगिनी तथा।

नन्दीशो भट्टका चैव द्रोणका च तथ॥॥॥ २२/२॥

विजया तु महाभागा षड्योगिन्यस्तु मातराः।

कौलामृते न संतृप्तो अहं सर्वेऽपि भैरव॥ २२/३॥

भैरव उवाच

यत् पुरा गोपितं भद्रे तत् सर्वं प्रकटीकृतः।

भूलोके देवतानाञ्च कथितव्यं कुलागमे॥ २२/४॥

सिद्धानाञ्च विशेषेण ख्यापनीयं कुलान्व(यम्)।

समयाचारसमोपेतं विज्ञानं द्वैतवासिनाम्॥ २२/५॥

गुप्तलिङ्गी सदा कालं गुरुपूजनतत्परः।

वत्सलः सर्वलोकानां सर्वजीवदयान्वितः॥ २२/६॥

भैरववचनं श्रुत्वासर्वरोमाञ्चकञ्चुकाः।

सन्तुष्टमनसः सर्वे दण्डवत् पति(ताः) भुवि॥

कुलभावपराः सर्वे कृतकृत्या सुराधिपाः॥ २२/७॥

अद्य मे गहनं नष्टं अज्ञानपटलाहतम्।

संसारतरुविस्तीर्णमद्य छिन्नं त्वया प्रभो॥ २२/८॥

पाशजालतमोघञ्च छिन्नाद्य दुःखसंशयः।

दशकोटिस्तथा चार्द्धं नाम्ना ज्ञानस्य निर्णयः ॥ २२/९ ॥

तस्य मध्ये इमं नाथ सारभूतं समुद्धृतम् ।

कामरूपे इमं शास्त्रं योगिनीनां गृहे गृहे ॥ २२/१० ॥

निग्रहानुग्रहश्चैव सिद्धिमेलापकं तथा ।

कुर्वन्ति सततं देवि अस्य ज्ञानप्रसादतः ॥ २२/११ ॥

चन्द्रद्वीपं महाशास्त्रं अवतीर्णं सुलोचने ।

कामाख्ये गीयते नाथे महामत्स्योदरस्थितिः ॥ २२/१२ ॥

इति ज्ञाननिर्णये महायोगिनीकौले श्रीमत्स्येन्द्रपादावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते द्वाविंशतितमः पटलः ॥ २२/२२ ॥

त्रयोविंशतितमः पटलः

देव्युवाच

कौलवे योगिनी देव सञ्चरन्ति कथं भुवि ।

तन्ममाचक्ष्व देवेश भक्त्या जानन्ति भूतले ॥ २३/१ ॥

भैरव उवाच

मर्त्येऽस्मिन् देवतानान्तु सञ्चारं शृणु भामिनि ।

कपोतिका तथा गृध्री हंसी चैव नखी तथा ॥ २३/२ ॥

खञ्जः ॥ ॥ ॥ भाषी तु कोकाभाषी तु सुन्दरि ।

उलुकी पेचकी वा तु सररी वा गूली तथा ॥ २३/३ ॥

शृगाली अजा महिषी (उष्ट्री) मार्जारनकुली तथा ।

व्याघ्री हस्ती मयूरी च कुकुटी न ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । ॥ २३/४ ॥

अन्यानि यानि रूपाणि संस्थितानि महीतले ।

तानि रूपाणि संगृह्य योगिन्यः क्रीडन्ते भुवि ॥ २३/५ ॥

निपतन्ति यदा भद्रे अभक्ष्येषु कुलाधिपे ।

तद्रूपं कथ्यन्ते ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । युक्तावधारयेत् ॥ २३/६ ॥

हयश्च नखरः सर्प चित्रिकोत्मानसस्तथा ।

वृश्चिकोध्यन्तरश्वानो मूषको दर्दुरः प्रिये ॥ २३/७ ॥

ग्रहभूतस्वरूपेण ज्वालाग्निशास्त्रसङ्कटैः ।

वेद ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥व्याधिराजानश्चैव तस्कराः ॥ २३/८ ॥

विद्युत्तुङ्गो तथा गण्ड व्याघ्रसिंहगजस्तथा ।

अनेकाकाररूपेण भयं नानाविधं विदुः ॥ २३/९ ॥

चतुःषष्टिश्च योगिन्यो ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ।प्यन्ति साधके ।

एवं रूपं समासृत्य क्षिप्रं गृह्णन्ति तं पशुम् ॥ २३/१० ॥

कोपन्तु नैव कर्तव्यं भाषमाणं सुराधिपे ।

कुमारिका स्त्रियो वापि भाषमाणे कदाचन ॥ २३/११ ॥

यथा शक्त्या सदा कालं स्त्री चैव व्रतमास्थितम्।

पूजनीया प्रयत्नेन कुमार्यश्च कुलाश्रितैः॥ २३/१२॥

पुन्नागं नागचंपाद्यैर्मुचुकुन्दैश्च पाटलैः।

पारिजातोद्भवेद्दिव्यैर्दाडिमैः कुसुमोज्ज्वलैः॥ २३/१३॥

बन्धुकः कुसुमोद्भूतैश्चम्पकः कुसुमोज्ज्वलैः।

जात्युत्पलकदम्बैश्च कर्णिकारैः सिंहकेशरैः॥ २३/१४॥

अम्भोरूहैस्तथा पुष्पैः शुभैः शालाविभूषितैः।

रक्ताम्बरधरां ध्यायेद्रक्तगन्धानुलेपिताम्॥ २३/१५॥

आत्मानं योगिनीसिद्धे रत्नमाला विभूषिताम्।

ध्यायेत्तां सततं वीरां बहिः पूजां विवर्जयेत्।

पूजनं कथितं भद्रे भुक्तिमुक्तिप्रसाधकम्॥ २३/१६॥

इति ज्ञाननिर्णये महायोगिनीकौले श्रीमत्स्येन्द्रपादावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते त्रयोविंशतितमः पटलः॥ २३/२३॥

चतुर्विंशतितमः पटलः

देव्युवाच

सफलम(द्य) मे नाथ कारुण्यं तव भैरव।

असुराणां सुराणाञ्च प्रभुत्वमद्य मे प्रभो ॥ २४/१ ॥

महाकौलं महाज्ञानं कुलकौलस्य निर्णयम् ।

भ्रान्तिसंसारगहनमज्ञानपटल(न्त)मः ॥ २४/२ ॥

संसारपाशजालञ्च अद्य? निर्णाशितं त्वया ।

अद्यमापादिता मुक्तिः स्वतन्त्रा भुवि दुर्लभा ।

पुनः कथय कौलेश देहस्थं सिद्धपूजनम् ॥ २४/३ ॥

भैरव उवाच

॥ ॥ ॥ ॥षन्दिग्धं कथयिष्यामि कौलेऽस्मिन् पूजनं शृणु ।

कुलसिद्धाश्च योगिन्यो रुद्राश्चैव कुलाधिपे ॥ २४/४ ॥

देव्याश्चक्रगताः सर्वे हृदि मध्ये शिरेऽपि वा ।

बहिस्थं पूजये ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥पूजाविधि प्रिये ॥ २४/५ ॥

सुगन्धकुन्दकेतक्या मालिकाजातिकोत्पलैः ।

चम्पकैः किङ्करातैश्च नीलोत्पलसुगन्धिभिः ॥ २४/६ ॥

पुष्पैर्नानाविधैश्चैव शतपत्रैश्च ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ।

तरुजातन्तश्च रादेया (?) द्रव्या(पि) मधुमिश्रिताम् ॥ २४/७ ॥

मांसम्पलम्बलिर्देया ताम्बूलं चन्द्रसंयुतम् ।

धूपचन्दनसौरभ्यं अगुरुं मृगनाभिकम् ॥ २४/८ ॥

रक्तपुष्पैर्विशेषेण सुगन्ध (धूपदीपितम्) ।

उग्राणि यानि पुष्पाणि गन्धहीनं न दापयेत्॥ २४/९॥

बहिस्थं पूजनं प्रोक्तं अध्यात्मं शृणु साम्प्रतम्।

रक्ताम्बरधराः सर्वे रक्तगन्धानुलेपनाः॥ २४/१०॥

षोडशाकृतयः स॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। विभूषिताः।

प्रसन्नवदनाश्चैव पिबन्त्यो मदिरासवम्॥ २४/११॥

इच्छारूपधराः सर्वे जरामरणवर्जिताः।

सृष्टिप्रवर्तकाः सर्वे वरदानैकतत्पराः॥

इ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ड़ाध्यायेदचिरान्तत्समो भवेत्॥ २४/१२॥

इति ज्ञाननिर्णये महायोगिनीकौलश्रीमत्स्येन्द्रपादावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते चतुर्विंशतितमः पटलः॥ २४/२४॥

गुह्यपदधरं प्रोक्तं दशकोटिस्तु निर्णयः।

सिद्धानां योगिनीनां च हृदयं पर(म)दुर्लभम्॥ २५/१॥

गुह्याद् गुह्यतरं नाथे सारात् सारतरं परम्।

सम्यगेतन्मया भद्रे अप्रकाश्यं प्रकाशितम्॥ २५/२॥

महाकौल महादेवि शतैर्दशभिः सम्मितम्।

ज्ञानस्य निर्णये सारं नाम्ना साहस्त्रिकं मतम्॥ २५/३॥

इति महाकौले ज्ञाननिर्णये सारं श्रीमत्स्येन्द्रपादावता(रिते समाप्तं ?)

****

वाराहीतन्त्रे -

तारं वाणीं ततो लज्जां वह्निजायां ततः परम्।
पुनस्तारञ्च वाराही चण्डीमन्त्रः समीरितः॥ ७५॥

इति श्रीमज्ज्ञानानन्दपरमहंसविरचिते कौलावलीनिर्णये विंशोल्लासः॥ २०॥

एकविंश उल्लासः

अवधूताश्रमनिरूपणम्

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि अवधूतक्रमं शृणु।
चतुर्थाश्रमिणां मध्ये अवधूताश्रमो महान्॥ १॥

केवलं कुलयोगेन तस्य मोक्षः प्रजायते।
यदि न स्यात्तदा चैव शृणु यत् कथयामि ते॥ २॥

ज्ञान भावे च सम्पन्ने सम्प्रार्थ्यं निजकौलिकीम्।
तदाज्ञया विमुक्तः स्यात्तां सम्पूज्य कुलान्तरे॥ ३॥

कुण्डलीशक्तिविवरे तदा योगं समभ्यसेत्।

निर्द्वन्द्वो निरहङ्कारः शुद्धनाडीजितेन्द्रियः ॥ ४ ॥

मृद्वासने समासीनः षट्कसंयमने रतः ।
बद्धपद्मासनो योगी योगं युञ्जीत यत्नतः ॥ ५ ॥

ऊर्वोरुपरि वीरेन्द्रः कृत्वा पादतले उभे ।

p. 531)

अङ्गुष्ठौ तु निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु ॥ ६ ॥

पद्मासनं भवेदेतत् सर्वेषामेव पूजितम् ।

मुलाधारचक्रकथनम्

गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वमधोमेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलम् ॥ ७ ॥

एकाङ्गुलं तु तन्मध्ये देहमध्यं प्रकीर्तितम् ।
कन्दमस्ति शरीरेऽस्मिन् पुण्यापुण्यविवर्जितः ॥ ८ ॥

तन्तुपञ्जरमध्यस्थो यथा भ्रमति सूतिकः ।
जीवस्तु मूलचक्रेऽस्मिन् अधःप्राणश्चरत्यसौ ॥ ९ ॥

प्राणारूढो भवेज्जीवः सर्वदेहेषु सर्वदा ।

तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ॥ १० ॥

मेरुदण्डबहिः पार्श्वे चन्द्रसूर्यात्मिके शुभे ।

इडा च पिङ्गला चैव वामदक्षिणतः स्थिते ॥ ११ ॥

कन्दमध्याद् द्वयोर्मध्ये सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता ।

पृष्ठमध्यगता सा तु सह मूर्ध्नि व्यवस्थिता ॥ १२ ॥

p. 532)

ऋज्वीभूता तु वज्राख्या ज्वलन्ती विश्वधारिणी ।

मुक्तिमार्गे सदा गुप्ता मेढ्रमूर्ध्नि व्यवस्थिता ॥ १३ ॥

तस्याश्चान्तर्गता नाडी चित्राख्या योगिवल्लभा ।

पञ्चवर्णोज्ज्वला देवी पञ्चभूतनिवासिनी ॥ १४ ॥

पञ्चदेवैर्युता देवी पञ्चतत्त्वप्रकाशिनी ।

पूरयित्वा तु विच्छिन्ना चित्रा सा ग्रन्थिरूपिणी ॥ १५ ॥

तयैव ग्रथितं सर्वं मूलादि पद्मपञ्चकम् ।

तस्या मध्ये ब्रह्मनाडी मृणालतन्तुरूपिणी ॥ १६ ॥

ब्रह्मरन्ध्रं तु तन्मध्ये हरवक्त्रं सदाशिवम् ।
गुदमेढ्रान्तरे ग्रन्थि सुषुम्ना सन्धिरुत्तमा ॥ १७ ॥

आधारे च गुदस्थाने पङ्कजञ्च चतुर्दलम् ।
सुवर्णाभं वादिसान्तं हेमवर्णं सुशोभनम् ॥ १८ ॥

कलिकारूपकं पद्मं पृथिवीपद्मिनीयुतम् ।
तरुणारुणसङ्काशां शूलखट्वाङ्गकौ ततः ॥ १९ ॥

वामे खड्गं सुराकुम्भं दधानामुग्रदंष्ट्रिणीम् ।

p. 533)

दुग्धाभां संस्थितां ध्यायेत् डाकिनीं लोचनत्रयाम् ॥ २० ॥

कर्णिकायां स्थिता योनिः कामाख्या योगिवल्लभा ।
अपानाख्यं हि कन्दर्पं आधारे च त्रिकोणके ॥ २१ ॥

स्वयम्भूलिङ्गं तन्मध्ये पश्चिमाभिमुखं भवेत् ।
बन्धूकपुष्पसङ्काशं सूर्यकोटिसमप्रभम् ॥ २२ ॥

भ्रमन्तं योनिमध्ये च शिशिरं शशभृत्समम् ।
तस्योर्ध्वे कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ॥ २३ ॥

अष्टप्रकृतिरूपा सा नाभेस्तिर्यगधो गता ।
अधोवक्त्रस्थितादेवी ऊर्ध्वपुच्छाऽतिशोभना ॥ २४ ॥

अकारादिक्षकारान्ता कुण्डलीत्यभिधीयते ।
सा च विद्युल्लताकारा मृणालतन्तुसन्निभा ॥ २५ ॥

p. 534)

परिस्फुरति सर्वात्मा सुप्ताऽहिसदृशाकृतिः ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनावृत्य तिष्ठति ॥ २६ ॥

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारं निरामयम् ।
मुखेन श्वासं प्रविष्टा ब्रह्मरन्ध्रं मुखं तदा ॥ २७ ॥

मस्तके मणिवद्भिन्नस्वयम्भूलिङ्गवेष्टिनी ।
नान्यः पन्था द्वितीयोऽस्ति शरीरे परमस्य च ॥ २८ ॥

मूलाधारे कामरूपं पीठं परमदुर्लभम् ।
अधोवक्त्राणि पद्मानि मूलादीनि यथाक्रमात् ॥ २९ ॥

मूलाधारचक्रम् तध्यानफलम्

गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वमधो मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलात् ।
चतुरङ्गुलविस्तारं कन्दमूलं खगाण्डवत् ॥ ३० ॥

एकाङ्गुलं तु तन्मध्ये चतुरस्रं त्रिकोणकम् ।
एवं ध्यात्वा च वीरेन्द्रः स्थिरचित्तः स्थिरेन्द्रियः ॥ ३१ ॥

आकुञ्चयेद् गुदमूलं चिबुकं हृदयोपरि ।
नव द्वाराणि संयम्य कुक्षिमापूर्य वायुना ॥ ३२ ॥

शब्दबीजेन तां देवीं दृढविभ्रामयेत्ततः ।
वायुना भिद्य तद्वक्रं ऊर्ध्ववक्रं तु कारयेत् ॥ ३३ ॥

p. 538)

उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुञ्चिकया दृढम् ।
उल्लासोज्ज्वलकारस्य शिखा याति समुज्ज्वला ॥ ३४ ॥

मूलचक्रं ततो भित्त्वा ब्रह्मद्वारं विभेदयेत् ।
ऊर्ध्वं भित्त्वा तु लिङ्गं वै इतरं पुष्करं ततः ॥ ३५ ॥

मूलाधारे सन्ततं ध्यानयोगात्
स्तम्भक्षोभावुत्प्लुतिर्दार्दुरीव ।
भूमित्यागः खेचरत्वं क्रमेण

नृणामेते षड्गुणाः सम्भवन्ति ॥ ३६ ॥

कान्तिप्रकर्षो वपुषोऽपि

नादव्यक्तिः प्रदीप्तिः जठरानलस्य ।

लघुत्वमङ्गस्य निजेन्द्रियाणां

पटुत्वमारोग्यमदीनता च ॥ ३७ ॥

स्वाधिष्ठानचक्रम् तद्ध्यानफलम्

मूलादिपद्मषट्कञ्च कलिकासदृशं शुभम् ।

स्वाधिष्ठानं महापद्मं लिङ्गमूले रसच्छदम् ॥ ३८ ॥

p. 536)

बन्धूक पुष्पसङ्काशं सदा जलसमन्वितम् ।

सिन्दूरप्रस्फुरद्वर्णैर्बादिलान्तैश्च मण्डितम् ॥ ३९ ॥

शूलं वज्रं तथा पद्मं डमरुं करपङ्कजैः ।

दधानां श्यामवर्णाञ्च राकिणीं त्रितयान्विताम् ॥ ४० ॥

रक्तधात्वेकनाथां तां चिन्तयेत्तत्र साधकः ।

विचिन्त्य स्थिरचित्तेन अधिष्ठानं प्रभेदयेत् ॥ ४१ ॥

इह वेत्ति निधाय मानसं स्वं
विविधश्चाश्रुतशास्त्रजालमुच्चैः ।
अवधूतजरामयः स मर्त्यः
सुचिरं जीवति वीतमृत्युभीतिः ॥ ४२ ॥

वपुषोऽशुचिता जनस्य शश्वत्
परमां शुद्धिमिहातनोति पुंसाम् ।
शरदम्बुजपेलवस्य देहे
दृढरुद्धो घनताञ्च शीतरश्मिः ॥ ४३ ॥

मणिपूरचक्रम् तद्ध्यानफलम्

तदूर्ध्वे सव्यदक्षाभ्यां चिन्तयेत् साधकोत्तमः ।
पद्ममध्ये स्थितं शुद्धं विद्युताभं त्रिकोणकम् ॥ ४४ ॥

p. 537)

तन्मध्ये चिन्तयेद् देवं ब्रह्माणं हंसवाहनम् ।
रक्तवर्णं चतुर्वक्त्रं दधतञ्च त्रिलोचनम् ॥ ४५ ॥

चिन्तयेत् कूर्चपद्मे च अक्षमालां कमण्डलुम् ।
ब्रह्मसत्त्वाक्षमोङ्कारं स्थितं नाभेरधः सदा ॥ ४६ ॥

नाभौ नीलनिभं पद्मं मणिपूरं दशास्त्रकम् ।
विद्युत्पुञ्जस्फुरद्वर्णैर्डादिफान्तैश्च मण्डितम् ॥ ४७ ॥

वह्निना संयुतं तत्र लाकिनीं मांसधातुगाम् ।
मानसं संविभाव्याथ भेदयेत्तदनन्तरम् ॥ ४८ ॥

स्थानेऽस्मिन्निहितात्मनः सुकृतिनः पातालसिद्धिं परां
खड्गस्याप्रतिमस्य साधनमपि स्यादीप्सितञ्च क्षितौ ।
रूपं भूमिविसर्जनं परपुरे शक्तः प्रवेष्टुं जरा-
हानिश्चाखिलदुःखरोगशमनं कालस्य वा वञ्चनम् ॥ ४९ ॥

अनाहतचक्रम् तद्ध्यानफलम्

अनाहतं हृदि ध्यायेत् पिङ्गाभं द्वादशच्छदम् ।
द्रुतस्वर्णप्रभावर्णैः कादिठान्तैश्च मण्डितम् ॥ ५० ॥

p. 538)

मेदःस्थां काकिनीं तत्र पीताभां मत्तरूपिणीम् ।
अभयं डमरुं शूलं पाशञ्च करपङ्कजैः ॥ ५१ ॥

दधानां चारुरुपाञ्च नानाभरणभूषिताम् ।
तत्रैवाङ्गुष्ठमात्मानं प्रदीपकलिकोपमम् ॥ ५२ ॥

तत्र सञ्चिन्तयेद् देवं नारायणं निरञ्जनम् ।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं वाणीलक्ष्मीविभूषितम् ॥ ५३ ॥

वैनतेयसमारूढं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
पीताम्बरधरं शान्तं वनमालाविभूषितम् ॥ ५४ ॥

पूर्णशैलं महापीठं तत्रैव परिचिन्तयेत् ।
प्रभेदयेत्ततः पश्चात् साधकः स्थिरमानसः ॥ ५५ ॥

एतस्मिन् सततं निविष्टमनसः स्थाने विमानस्थिताः
क्षुभ्यन्त्यद्भुतरूपकान्तिकलिता दिव्यस्त्रियो योगिनः ।
ज्ञानञ्चाप्रतिमं त्रिकालविषयं क्षोभः पुरस्य श्रुति-
दूरादेव च दर्शनञ्च खगतिः स्याद्योगिनीमेलनम् ॥ ५६ ॥

विशुद्धचक्रम् तद्ध्यानफलम्

विशुद्धं षोडशारञ्च धूम्राभं कण्ठदेशके ।

p. 539)

तदन्ते व्योमबीजञ्च शुक्लं हैमगजस्थितम् ॥ ५७ ॥

तरुणारुणसङ्काशैः स्वरैश्च परिमण्डितम्।
आकाशसहितं पद्मं शाकिनीं परिचिन्तयेत्॥ ५८॥

अस्थिसंस्थां चतुर्बाहुं पञ्चवक्त्रां त्रिलोचनाम्।
पाशाङ्कुशौ पुस्तकञ्च ज्ञानमुद्राञ्च धारिणीम्॥ ५९॥

दंष्ट्रिणीमुग्ररूपाञ्च सदा मधुमदाकुलाम्।
अर्धनारीश्वरं देवं नानामणिविभूषितम्॥ ६०॥

चन्द्रचूडं त्रिनयनं वराभयकरं शुभम्।
ध्यात्वैवं चक्रराजं तु भेदयेत् साधकोत्तमः॥ ६१॥

स्थानेऽत्र संसक्तमना मनुष्य-
स्त्रिकालदर्शी विगताधिरोगः।
जित्वा जरामञ्जननीलकेशः
क्षितौ चिरं जीवति वीतमृत्युः॥ ६२॥

इह स्थाने चित्तं सततमवधायात्तपवनो
यदि क्रुद्धो योगी चलयति समस्तं त्रिभुवनम्।
न च ब्रह्मा विष्णुर्न च हरिहरो नैव खमणि-
स्तदीयं सामर्थ्यं शमयितुमलं नापि गणपः॥ ६३॥

p. 540)

आज्ञाचक्रम् तद्ध्यानफलम्

द्विदलं हक्षवर्णाभ्यां शुभाभ्यां परिमण्डितम् ।
विद्युत्कोटिप्रभं चक्रं भ्रुवोरूर्ध्वे मनोन्मनी ॥ ६४ ॥

बिन्दुयुक्तं सर्ववर्णं सर्वपद्मेषु चिन्तयेत् ।
योनिमध्ये स्थितं लिङ्गमितरं तरुणारुणम् ॥ ६५ ॥

जालन्धरं महापीठं हाकिनीं तत्र चिन्तयेत् ।
बिन्दुस्थां हाकिनीं शुक्रमेदोमज्जास्वरूपिणीम् ॥ ६६ ॥

अक्षमालाञ्च डमरुं कपालं पुस्तकं तथा ।
चापं मुद्रां दधानाञ्च शुक्लां नेत्रत्रयान्विताम् ॥ ६७ ॥

पद्ममध्येऽन्तरात्मानं प्रभारूपं हि कारणम् ।
ओङ्कारज्योतिषं कल्पप्रदीपाभं जगन्मयम् ॥ ६८ ॥

बालसूर्यप्रतीकाशां सदा बिन्दुमदक्षरम् ।
ततः सङ्क्षोभणद्वारे ध्यायेत् पद्मं सुशोभनम् ॥ ६९ ॥

p. 541)

ध्यानयोगनिरतस्य जायते पूर्वजन्मकृतकर्मणां स्मृतिः।
तत्र बिन्दुनिलये च दूरतो दर्शनश्रवणयोः समर्थता॥ ७०॥

इह सन्निहितस्वचित्तवृत्तिः प्रतिमायाः प्रतिजल्पनं करोति।
गमनञ्च पुरे परेषां पुनरुत्थानमप्यहो मृतस्य॥ ७१॥

निरालम्बां मुद्रां निजगुरुमुखेनैव विदिता-
मिह स्थाने कृत्वा स्थिरनिशितधीः साधकवरः।
सदाऽभ्यासात् पश्यत्यमरनिलयानन्तरखिला-
मुडुश्रेणीं विष्णोरपि पदमुडूनामपि पतिम्॥ ७२॥

भेदान्ते पद्मषट्कं च प्रस्फुटञ्चोर्ध्ववक्त्रकम्।
भवत्येव न सन्देहोऽप्यथ स्यात् साधकस्य च॥ ७३॥

तदूर्ध्वे चार्धचन्द्रे च भानुमण्डलमुत्तमम्।
मकारबिन्दुरूपेण तदूर्ध्वे चन्द्रमण्डलम्॥ ७४॥

बिन्दोरुपरि नादं हि शुद्धस्फटिकसन्निभम्।
चेतसा सम्प्रपश्यन्ति नादान्ते वृषभध्वजम्॥ ७५॥

शुद्धस्फटिकसङ्काशं कपर्दशशिभूषणम्।

p. 542)

व्याघ्राम्बरं तु तन्मध्ये अधोमुखं सशक्तिकम् ॥ ७६ ॥

स्थाने ह्यत्र परीतञ्च वरदाभयपाणिकम् ।
प्रसन्नवदनं शान्तं सर्पयज्ञोपवीतिनम् ॥ ७७ ॥

नादोपरि महादेवं पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषा ।
नान्यत् पश्यन्ति तत्रैव अन्तरं वृषभध्वजम् ॥ ७८ ॥

पुरत्रयविनिष्क्रान्तो यत्र वायुः प्रलीयते ।
तत्र संस्थं मनः कृत्वा तद्ध्यानमीश्वरं विदुः ॥ ७९ ॥

विभाव्य साधकश्रेष्ठो भेदयेत्तदनन्तरम् ।
शङ्खिनीनालं संस्थाप्यव्याप्तिशून्यं विभर्ति यः ॥ ८० ॥

अमृतोदधिसङ्काशं शतयोजनविस्तृतम् ।
चन्दनोद्यानमध्यस्थं वेदिकां तु तदन्तरे ॥ ८१ ॥

तन्मध्ये स्फटिकं ध्यायेत् पश्चिमाननमम्बुजम् ।
स्रवन्तममृतं नित्यं देव्यङ्के कमलान्तरे ॥ ८२ ॥

p. 543)

सहस्त्रारपद्मवर्णनम्

सहस्त्रारपद्मं विसर्गादधस्ता-

दधो वक्त्रमारक्तकिञ्जल्कपुञ्जम् ।

कुरङ्गेण हीनस्त्रिशृङ्गस्तदन्तः

स्फुरद्रश्मिजालः सुधांशुः समास्ते ॥ ८३ ॥

तदन्तर्गतं ब्रह्मरन्ध्रं सुसूक्ष्मं

यदाधारभूतं सुषुम्णाख्यनाड्याः ।

तदेतत् पदं दिव्यमत्यन्तगुह्यं

सुरैरप्यगम्यं सुगोप्यं सुयत्नात् ॥ ८४ ॥

एतत् कैलाससञ्ज्ञं परमकुलपदं बिन्दुरूपी स्वरूपी

यत्रास्ते देवेदवो भवभयतिमिरध्वंसहंसो महेशः ।

भूतानामादिदेवो रसविसरसितां सन्ततामन्तरङ्गे

सौधीं धारां विमुञ्चन्नभिमत फलदो योगिनां योगगम्यः ॥ ८५ ॥

स्थानस्यास्य ज्ञानमात्रेण पुंसां

संसारेऽस्मिन् सम्भवो नैव भूयः ।

भूतग्रामं सन्ततन्यासयोगात्

कर्तुं हर्तुं स्याच्च शक्तिः समग्रा ॥ ८६ ॥

स्थाने परे हंसनिवासभूते-

कैलासनाम्नीह विधाय चेतः ।

p. 544)

योगी गतव्याधिरधःकृताधि-

वाधश्चिरं जीवति मृत्युमुक्तः ॥ ८७ ॥

स्थानेऽस्मिन् क्षयवृद्धिभावरहिता नित्योदिताऽधोमुखी

बालादित्यनिभप्रभाशशभृतः साऽस्ते कला षोडशी ।

बालाग्रस्य विखण्डितस्य शतधा चैकेन भागेन या

सूक्ष्मत्वात् सदृशी निरन्तरगलत्पीयूषधाराधरा ॥ ८८ ॥

एतस्याः परतः स्थिता भगवती भूताधिदेवाधिपा

निर्वाणाख्यकलाऽर्धचन्द्रकुटिला सा षोडशान्तर्गता ।

बालाग्रस्य सहस्रधा विगलितस्यैकेन भागेन या

सूक्ष्मत्वात् सदृशी त्रिलोकजननी या द्वादशार्कप्रभा ॥ ८९ ॥

निर्वाणाख्यकलापदोपरिगता निर्वाणशक्तिः परा

कोटयादित्यसमप्रभाऽतिगहना बालाग्रभागस्य या ।

कोटयंशेन समा समस्तजननी नित्योदिता निर्मला

नित्यानन्दपदस्थलोरुविगलद्धारा निरालम्बना ॥ ९० ॥

p. 545)

एतस्याः परतः परात्परतरं निर्वाणशक्तेः पदं
शैवं शाश्वतमप्रमेयममलं नित्योदितं निष्क्रियम् ।
तद्विष्णोः पदमित्युशन्ति सुधियः केचित् पदं ब्रह्मणः
केचिद्धंसपदं निरञ्जनपदं केचिन्निरालम्बनम् ॥ ९१ ॥

आरोप्याऽरोप्य शक्तिं कमलजनिलयादात्मना साकमेषु
स्थानेष्वाज्ञावसानेष्ववहितहृदयश्चिन्तयित्वा क्रमेण ।
नीत्वा नादावसानं खगत कुलमहापद्मसद्मान्तरस्थां
ध्यायेच्चैतन्यरूपामभिमतफलसम्प्राप्तये शक्तिमाद्याम् ॥ ९२ ॥

साक्षाल्लाक्षारसाभं गगनगतमहापद्मसद्मस्थहंसां
पीत्वा दिव्यामृतौघं पुनरपि च विशेन्मध्यदेशं कुलस्य ।
चक्रे चक्रे क्रमेणामृतरसविसरैस्तर्पयेत् देवतास्ता
हाकिन्याद्याः समस्ताः कमलजपदगां तर्पयेत् कुण्डलीं ताम् ॥ ९३ ॥

कुण्डली कुण्डलाकारानक्रीभूता निवासिनी ।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्नानिलयं व्रजेत् ॥ ९४ ॥

शक्तिं भैरवसंयोगादमृतानन्दमानयेत् ।

p. 546)

चन्द्रमार्गेण वायुञ्च पिबेत्तञ्च शनैः शनैः ॥ ९५ ॥

कुम्भकञ्च यथाशक्त्या सुर्यमार्गेण रेचयेत् ।
सूर्यमार्गे पिबेद्वायुं चन्द्रमार्गेण रेचयेत् ॥ ९६ ॥

शून्यञ्च प्रतिविम्बचन्द्रसदृशं सूक्ष्मातिसूक्ष्मं परं
सर्वं व्याप्य तमोमयं जगति सद्धामप्रकाशं परम् ।
दृश्यादृश्यविनाशभेदसकलं ज्योतिर्मयं सर्वतो
ध्यात्वा तच्च पदं तु साधकवरैः दूरीकृतश्चान्तकः ॥ ९७ ॥

एवमभ्यस्यमानस्य अहन्यहनि निश्चितम् ।
जरामरणदुःखाद्यैर्मुच्यते भवसागरात् ॥ ९८ ॥

योनिमुद्राबन्धफलकथनम्

चतुर्विधा तु या सृष्टिर्यस्यां योनौ प्रजायते ।
पुनः प्रलीयते यस्यां कालाग्न्यादिशिवान्तकम् ॥ ९९ ॥

योनिमुद्रा परा ह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः ।
तस्यास्तु बन्धमात्रेण तन्नास्ति यन्न साधयेत् ॥ १०० ॥

p. 547)

अन्यथा जप्यते यस्तु अन्यथा कुरुते तु यः।
नासौ तत्फलपात्रञ्च सत्यं सत्यं न संशयः॥ १०१॥

छिन्ना बन्धाश्च ये मन्त्राःकीलिताः स्तम्भिताश्च ये।
दग्धाः सन्त्रासिता हीना मलिनाश्च तिरस्कृताः॥ १०२॥

भेदिता भ्रमसंयुक्ताः सुप्ता सम्मुर्च्छिताश्च ये।
वृद्धा बालास्तथा प्रौढास्तथा यौवनगर्विताः॥ १०३॥

अरिपक्षे स्थिता ये च निर्वीर्याः सत्त्ववर्जिताः।
अंशकेन विहीनाश्च खण्डशः शतधा कृताः॥ १०४॥

विधिनानेन संयुक्ताः प्रभवन्त्यचिरेण तु।
सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे साधकेन नियोजिताः॥ १०५॥

यद्यदुच्चरते मन्त्री वर्णरूपं शुभाशुभं।
तत्तत् सिध्यत्यसन्देहो योनिमुद्रानिबन्धनात्॥ १०६॥

दीक्षयित्वा विधानेन अभिषिच्य सहस्रधा।
ततोऽधिकारी भवति तन्त्रेऽस्मिन् साधकोत्तमः॥ १०७॥

ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत्।

नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ १०८ ॥

p. 548)

तस्मादभ्यसनं नित्यं कर्तव्यं पुण्यकाङ्क्षिभिः ।
अयासाज्जायते सिद्धिरभ्यासान्मोक्षमाप्नुयात् ॥ १०९ ॥

सम्वित्तिं लभतेऽभ्यासात् योगोऽभ्यासात् प्रवर्तते ।
मन्त्राणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायुसाधनम् ॥ ११० ॥

कालवञ्चनमभ्यासात्तथा मृत्युञ्जयो भवेत् ।
एतद्भेदं विजानाति स याति परमं पदम् ॥ १११ ॥

तदष्टधा तु जीवोऽसौ बहिर्याति दिने दिने ।
दिनेशाङ्गुलिमानेन तदर्धञ्चोपवासतः ॥ ११२ ॥

त्रिगुणं रतिकाले च द्विगुणं भोजनाद् बहिः ।
अत ऊर्ध्वं वहेद्वायुस्त्रिगुणं यदि दैवतम् ॥ ११३ ॥

न्यूनं धत्ते ततः प्राणः शरीरं परिमुञ्चति ।
शरीरसमतां नीत्वा न्यूनं वा साधकोत्तमः ॥ ११४ ॥

कुम्भयित्वा अधोवायुं कुण्डलीमुखवर्त्मनि ।

योजयित्वा ततो जीवं कुण्डल्या सहितं सुधीः ॥ ११५ ॥

गमागमं कारयित्वा सिद्धो भवति नापरः ।
पीयते खाद्यते यत्तु तत्सर्वं कुण्डलीमुखे ॥ ११६ ॥

हुत्वा सिद्धिमवाप्नोति न च बन्धेन बाध्यते ।

p. 549)

अवधूताचारकथनम्

भिक्षा कार्या न च स्वार्थं कुण्डल्याः प्रकृतेः पुनः ॥ ११७ ॥

रे मातर्देहि मे भिक्षां कुण्डलीं तर्पयाम्यहम् ।
अवधूताश्रमे स्थित्वा भैरवानन्दतत्परः ॥ ११८ ॥

भैरवोऽहं न चान्योऽस्मि न चान्यो मत्परः क्वचित् ।
तन्त्रमन्त्रार्चनं सर्वं मयि जातं न चान्यथा ॥ ११९ ॥

शिवोऽहं भैरवानन्दो मत्तोऽहं कुलनायकः ।
रक्तमाल्याम्बरधरो हेतुयुक्तः सदा भवेत् ॥ १२० ॥

एवं भिक्षां व्रजन् भिक्षुर्भैरवानन्दतत्परः ।

येन केनापि वेशेन येन केनाऽप्यलक्षितः ॥ १२१ ॥

यत्र कुत्राश्रमे तिष्ठन् कुलयोगीश्वरः सदा ।
उन्मत्तमुकजडवत् विरले लोकमध्यगे ॥ १२२ ॥

p. 550)

क्वचिच्छिष्टः क्वचिद्भ्रष्टः क्वचिद् भूतपिशाचवत् ।
नानावेशधरो योगी विचरेत्तु महीतले ॥ १२३ ॥

सर्वस्पर्शो यथा वायुर्यथाकाशश्च सर्वगः ।
सर्वभक्षो यथा वह्निस्तथा योगी सदा शुचिः ॥ १२४ ॥

तथा म्लेच्छगृहान्नादि योगीहस्तगतं शुचि ।
क्षीयते न च पापेन बध्यते न च जन्मना ॥ १२५ ॥

यद्वन्मन्त्रबलोपेतः क्रीडन् सर्पैर्न दंश्यते ।
तथा ज्ञानपरो योगी क्रीडन्निन्द्रियपन्नगैः ॥ १२६ ॥

पूजयन्ति महादेवीं कुलाङ्गकृष्टिमात्रतः ।
गन्धं पुष्पञ्च ताम्बुलं नैवेद्यं यत्र यद्भवेत् ॥ १२७ ॥

मनसा तत् समुत्सृज्य बाह्यतः कुलवारिणा ।

आत्मन्येव समायोज्य देवीरूपकुलेश्वरः ॥ १२८ ॥

p. 551)

न पूजा नापि तन्नाम न निष्ठा न व्रतादिकम् ।
पूर्णोऽहं भैरवश्चाहं नित्यानन्दोऽहमव्ययः ॥ १२९ ॥

निरञ्जनस्वरूपोऽहं निर्विकारो ह्यहं प्रभुः ।
सर्वशास्त्राभियुक्तोऽहं सर्वमन्त्रार्थपास्याः ॥ १३० ॥

अस्मत्परतरो देशो न जातो न जनिष्यति ।
आनन्दरूपवान् भूत्वा सर्वेषां प्रियकारक ॥ १३१ ॥

न योगी न भोगी न वात्मा न काङ्क्षी
न वीरो न धीरो न वा साधकेन्द्रः ।
सदानन्दपूर्णो धरण्यां विवेकी
चिराज्ज्ञातधूतो द्वितीयो महेशः ॥ १३२ ॥

श्रुतौ कुण्डलेऽसृग् गले मुण्डमाला
करे पानपात्रं मुखे हन्त हाला ।
परित्यक्तकर्मा लयन्यस्तधर्मा
विरक्तोऽवधूतो द्वितीयो महेशः ॥ १३३ ॥

p. 552)

वामे रामा रमणकुशला दक्षिणे पानपात्रं

मध्ये न्यस्तं मरिचसहितं शूकरस्योष्णमांसम् ।

स्कन्धे वीणा ललितसुभगा सद्गुरूणां प्रपञ्चः

कौलो धर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ १३४ ॥

इति श्रीमज्ज्ञानानन्दपरमहंसविरचिते कौलावलीनिर्णये एकविंशोल्लासः समाप्तः ॥ २१ ॥

अनेनाधिकारेण स्थूलध्यानमुक्तम्, भाविना तु सप्तमेन सूक्ष्ममुच्यते,
इति शिवम् ॥ ५० ॥

समस्तदुःखदलनं सर्वसंपत्प्रवर्तनम्।

परनिर्वाणजननं नयनं शाङ्करं नुमः ॥ ॥

इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-
नेत्रोद्योते साधनविधिः षष्ठोऽधिकारः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽधिकारः

नेत्रोद्योतः

चक्राधारवियल्लक्ष्यग्रन्थिनाड्यादिसंकुलम्।

स्वामृतैर्देहमासिञ्चत् स्मराम्यूर्ध्वेक्षणं विभोः ॥

अथ सूक्ष्मध्यानं निर्णेतुं भगवानुवाच

अतः परं प्रवक्ष्यामि ध्यानं सूक्ष्ममनुत्तमम् ।

न विद्यते उत्तममन्यत् सूक्ष्मध्यानं यतः, परं त्वतोऽप्युत्तमं भविष्यति ॥

तदुपक्रमते

ऋतुचक्रं स्वराधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ॥ ७-१ ॥

ग्रन्थिद्वादशसंयुक्तं शक्तित्रयसमन्वितम् ।

धामत्रयपथाक्रान्तं नाडित्रयसमन्वितम् ॥ ७-२ ॥

ज्ञात्वा शरीरं सुश्रोणि दशनाडिपथावृतम् ।

द्वासप्तत्या सहस्रैस्तु सार्धकोटित्रयेण च ॥ ७-३ ॥

नाडिवृन्दैः समाक्रान्तं मलिनं व्याधिभिर्वृतम् ।

सूक्ष्मध्यानामृतेनैव परेणैवोदितेन तु ॥ ७-४ ॥

आप्यायं कुरुते योगी आत्मनो वा परस्य च।

दिव्यदेहः स भवति सर्वव्याधिविवर्जितः ॥ ७-५ ॥

ऋतवः षट् जन्म-नाभि-हृत्-तालु-विन्दु-नादस्थानानि
नाडिमायायोगभेदनदीप्तिशाण्ताख्यानि नाडिमायादिप्रसराश्रयत्वात्
चक्राणि यत्र, स्वराः षोडश अङ्गुष्ठगुल्फ-जानु-मेढ्र-पायु-कन्द-
नाडि-जठर-हृत-कूर्मनाडी-कण्ठ-तालु-भ्रूमध्य-ललाट-
ब्रह्मरन्ध्रद्वादशान्ताख्या जीवस्याधारकत्वादाधारा यत्र, यदि वा
सर्वसहत्वादस्य नयस्य कुलप्रक्रियया

मेढ्रस्याधः कुलो ज्ञेयो मध्ये तु विषसंज्ञितः।

मूले तु शाक्तः कथितो बोधनादप्रवर्तकः ॥

अग्निसंज्ञस्ततश्चोर्ध्वमङ्गुलानां चतुष्टये।

नाभ्यधः पवनाधारे नाभावेव घटाभिधः ॥

नाभिहृन्मध्यमार्गे तु सर्वकामाभिधो मतः।

सञ्जीवन्यभिधानाख्यो हृत्पद्मोदरमध्यगः॥

वक्षःस्थले स्थितः कूर्मो गले लोलाभिधः स्मृतः।

लम्भकस्य स्थितश्चोर्ध्वे सुधाधारः सुधात्मकः॥

तस्यैव मूलमाश्रित्य सौम्यः सोमकलावृतः।

भ्रूमध्ये गगनाभोगे विद्याकमलसंज्ञितः॥

रौद्रस्तालुतलाधारो रुद्रशक्त्या त्वधिष्ठितः।

चिन्तामण्यभिधानाख्यश्चतुष्पथनिवासि यत्॥

ब्रह्मरन्ध्रस्य मध्ये तु तुर्याधारस्तु मस्तके।

नाड्याधारः परः सूक्ष्मो घनव्याप्तिप्रबोधकः॥

इत्युक्ताः षोडशाधाराः ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । ॥

इति । त्रीण्यन्तर्बहिरुभयरूपाणि लक्ष्याणि लक्षणीयानि यत्र ।
निरावरणरूपत्वात्

खमनन्तं तु जन्माख्यं । (७-२७)

इति वक्ष्यमाणानां जन्म-नाभि-हृद्-बिन्दु-नादरूपाणां व्योम्नां
पञ्चकं विद्यते यत्र,

जन्ममूले तु मायाख्यो । (७-२२)

इत्यभिधास्यमानाश्चैतन्यावृतिहेतुत्वाद् ग्रन्थयो माया-पाशव-ब्रह्म-
विष्णु-रुद्र-रिश्वरसदाशिव-इन्धिका-दीपिका-बैन्दव-नाद-शक्त्याख्या
ये पाशास्तैः संयुक्तम्। इच्छादिना शक्तित्रयेण
सम्यगन्वितमेषणीयादिविषये प्रवर्तमानम्। सोम-सूर्य-
वह्निरूपधामत्रयपथैः सव्यापसव्यपवनैर्मध्यमपवनेन
चाधिष्ठितम्। इडापिङ्गलासुषुम्नाख्येन पवनाश्रयेण नाडित्रयेण
युक्तम्। गान्धारी-हस्तिजिह्वा-पूषा-यशा-अलम्बुसा-
कुहूशङ्खिनीभिश्च युक्तत्वाद् दश नाडयः पन्थानो येषां
प्राणापानसमानोदानव्याननागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जया-

ख्यास्तैः आ समन्ताद् वृतमोतप्रोतम्।

दिग्दशकावस्थितनाडिदशकप्रपञ्चभूताभिर्द्वासप्तत्या

सहस्रैर्मध्यव्याप्त्या सार्धकोटित्रयेण च महाव्याप्त्या नाडिवृन्दैः

समाक्रान्तम्। आणवमायीयकार्ममलयोगान्मलिनम्। योगिनामपि

येनेदं तद्धि भोगतः।

इति स्थित्यावश्यंभाविक्रोडीकृतं शरीरं ज्ञात्वा योगी यस्य

आत्मनः परस्य वा, परेणैवेति पररूपतामनुज्झतापि

समनन्तरभाविना सूक्ष्मध्यानामृतेनोदितेन स्फुटीभूतेनाप्यायं

करोति, स गतव्याधिर्दिव्यदेह इति

सूक्ष्मध्यानामृतोन्मिषच्छाक्तमूर्तिर्भवति॥ ५॥

शूक्ष्मध्यानामृतेनैव परेणैवोदितेन। इति यदुक्तं तत्सोपक्रमं

स्फुटयति

यत्स्वरूपं स्वसंवेद्यं स्वस्थं स्वव्याप्तिसंभवम्।

स्वोदिता तु परा शक्तिस्तत्स्था तद्गर्भगा शिवा॥ ७-६॥

तां वहेन्मध्यमप्राणे प्राणापानान्तरे ध्रुवे ।

अहं भूत्वा ततो मन्त्रं तत्स्थं तद्गर्भगं ध्रुवम् ॥ ७-७ ॥

स्वोदितेन वरारोहे स्पन्दनं स्पन्दनेन तु ।

कृत्वा तमभिमानं तु जन्मस्थाने निधापयेत् ॥ ७-८ ॥

भावभेदेन तत्स्थानान्मूलाधारे नियोजयेत् ।

नादसूच्या प्रयोगेन वेधयेत् सूक्ष्मयोगतः ॥ ७-९ ॥

आधारषोडशं भित्त्वा ग्रन्थिद्वादशकं तथा ।

मध्यनाडिपथारूढो वेधयेत् परमं ध्रुवम् ॥ ७-१० ॥

तत्प्रविश्य ततो भूत्वा तत्स्थोऽसौ व्यापकः शिवः ।

सर्वामयपरित्यागान्निष्कलाक्षोभशक्तितः ॥ ७-११ ॥

पुनरापूर्य तेनैव मार्गेण हृदयान्तरम् ।

तत्र प्रविष्टमात्रं तु ध्यायेल्लब्धं रसायनम् ॥ ७-१२ ॥

विश्रामानुभवं प्राप्य तस्मात् स्थानात् प्रवाहयेत् ।

सर्वं तदमृतं वेगात् सर्वत्रैव विरेचयेत् ॥ ७-१३ ॥

अनन्तनाडिभेदेन अनन्तामृतमुत्तमम् ।

अनन्तध्यानयोगेन परिपूर्य पुरं स्वकम् ॥ ७-१४ ॥

अजरामरस्ततो भूत्वा सबाह्याभ्यन्तरं प्रिये ।

एवं मृत्युजिता सर्वं सूक्ष्मध्यानेन पूरितम् ॥ ७-१५ ॥

ततोऽसौ सिद्ध्यति क्षिप्रं सत्यं देवि न चान्यथा ।

यदिति प्रथमाधिकारनिर्दिष्टपरधामात्मवीर्यम्, स्वरूपमिति
विशेषानिर्देशात् सर्वस्य, स्वसंवेद्यं स्वप्रकाशम् न तु

स्वसंवेदनान्यप्रमाणप्रमेयम्,

तस्य देवातिदेवस्य परापेक्षा न विद्यते ।

परस्य तदपेक्षत्वात् स्वतन्त्रोऽयमतः स्थितः ॥

इति कामिकोक्तनीत्याऽस्य भगवतः प्रमाणागोचरत्वात् अत एव स्वतन्त्रात्मन्यवतिष्ठते न त्वन्यत्र तद्विविक्तस्यान्यस्याभावात्, प्रत्युतान्यद्विश्वं तद्व्याप्तत्वात्तन्मयमेव संभवतीत्याह स्वव्याप्तिसंभवम्, स्वव्याप्त्या संभवो विश्वरूपतयोन्मज्जनं यस्य । अस्य च भगवतः परा स्वातन्त्र्यात्मा शक्तिः स्वा अव्यभिचारिणी चासौ उदिता प्रस्फुरद्रूपा, तत्रैव च भगवद्रूपे स्थिता, न चाधाराधेयभावेन, अपि तु सामरस्येनेत्याह तद्गर्भगा । अतश्च शिवा परमार्थशिवाभिन्नरूपत्वात् शिवा । एवं परं रूपं भित्तिभूतत्वेन प्रकाश्य सूक्ष्मध्यानं वक्तुमुपक्रमते तामित्यादिना । तां परां चितिशक्तिम्, मध्यमप्राणे सुषुम्नास्थोदानाख्यप्राणब्रह्मणि, वहेत् निमज्जितप्राणापानव्याप्तिं उन्मग्नतया विमृशेत् । कथम् ? अहं भूत्वा, देहादिप्रमातृताप्रशमनेन पूर्णाहन्तामाविश्येत्यर्थः । तत उक्तवक्ष्यमाणवीर्यव्याप्तिकं मूलमन्त्रं तत्स्थं तद्गर्भगमिति पराशक्तिसामरस्यमयम्, अत एव स्पन्दनमिति सामान्यस्पन्दरूपं कृत्वा कथं ? स्वोदितेन स्पन्दनेन अप्राणाद्यवष्टम्भेन । एवं

मन्त्रवीर्यसारमामृश्य तमभिमानं तदसामान्यचमत्कारमयं स्वं
वीर्यं जन्माधारे आनन्दचक्रे निधापयेत् प्रतिष्ठापयेत्। कथम् ?
भावस्य देहप्राणादिमिताभिमानमयस्य भेदेन प्रशमनेन। ततोऽपि
मूलाधारे कन्दे तमभिमानं भावभेदेनैव नियोजयेद् निरूढं कुर्यात्
। ततोऽपि स्फुरत्तोन्मिषत्तारूपमन्त्रनाथप्राणसूच्या हेतुना कृतो यः
प्रकृष्टः क्रमात्क्रममूर्ध्वारोहात्मा योगस्तेन। तथा सूक्ष्मयोगत
इति उन्मिषत्स्फुरत्तोत्तेजनप्रकर्षेण। मध्यनाडीपथमारूढः
पूर्वोद्दिष्टकुलशास्त्रादिष्टमाधारषोडशकं
तथोपक्रान्तनिर्णेष्यमाणं ग्रन्थिद्वादशकं च भित्त्वा परमं
ध्रुवं द्वादशान्तधाम वेधयेदाविशेत्। तच्च प्रविश्य,
सर्वस्यामयस्य महामायापर्यन्तस्य बन्धस्य परित्यागात्, तत्रैव
ध्रुवपदे स्थितः सन्, व्यापको नित्योदितपराशक्तिसमरसः
परमशिवैकरूपो भूत्वा, तेनैव द्वादशान्तादन्तःप्रसृतेन मध्यमेन
मार्गेण हृदयमध्यमापूर्य परानन्दप्रसरणाच्छुरितं कृत्वा, तत्र
हृदि प्रविष्टमात्रं तत् परमानन्दरूपं रसायनमासादितं
ध्यायेद्विमृशेत् तावद्यावत्तत्र विश्रान्तिमेति,
ततस्तस्माद्धृदयादुच्छलितं तदमृतं प्रवाहयेत्
नानाप्रवाहाभिमुखं कुर्यात्। ततस्तेनैवामृतेन
अनन्तनाडीप्रवाहप्रसृतेन बहलध्यानध्यातेन सबाह्याभ्यन्तरं
स्वं पूरं देहं परिपूर्य तदनन्तरं सर्वममृतं वेगाद्

द्रुतप्रवाहेन सर्वरोमरन्ध्रैः सर्वत्र गोचरे रेचयेद्
अव्युच्छिन्नप्रवाहं प्रेरयेत्। एवं परवीर्यात्मना भगवता मृत्युजिता
प्रोक्तसूक्ष्मशाक्तानन्दध्यानेन यदा सर्वमापूरितं चिन्तयति योगी
तदासौ अजरामरो भूत्वा क्षिप्रं सिद्ध्यति
मृत्युजिद्भट्टारकतामाप्नोति। नात्र प्रमातृसुलभः संशयः
कार्यः॥ १५॥

एवं शाक्तानन्दमार्गावष्टम्भात्मककौलिकप्रक्रियोक्ताधारादिभेदेन
सूक्ष्मध्यानमुक्त्वा, स्थूलयुक्तिक्रमेण तन्त्रप्रक्रियोक्ताधारादिभेदेन
पूर्णासितामृतकल्लोलचिन्तनात्मसूक्ष्मध्यानं वक्तुमुपक्रमते

जन्मस्थाने समाश्रित्य स्पन्दस्थां मध्यमां कलाम्॥ ७-१६॥

तत्स्थं कृत्वा तदात्मानं कालाग्निं तु समाश्रयेत्।

गत्वा गृहीतविज्ञानं वीर्यं तत्रैव निक्षिपेत्॥ ७-१७॥

तद्वीर्यापूरिता शक्तिः क्रियाख्या मध्यमोत्तमा।

विज्ञानेनोर्ध्वतो भित्त्वा ग्रन्थिभेदेन चेच्छया॥ ७-१८॥

मूलस्पन्दं समाश्रित्य त्यक्त्वा वाहद्वयं ततः।

मध्यममार्गप्रवाहिन्या सुषुम्नाख्यां समाश्रयेत्॥ ७-१९॥

तामेवाश्रित्य विरमेत्तत्सर्वेन्द्रियगोचरात्।

तदा प्रत्यस्तमायेन विज्ञानेनोर्ध्वतः पुनः॥ ७-२०॥

ब्रह्मादिकारणानां तु त्यागं कृत्वा शनैः शनैः।

षण्णां शक्तिमतां प्राप्य कुण्डलाख्यां निरोधिकाम्॥ ७-२१
॥

मायादिग्रन्थिभेदेन हृदादिव्योमपञ्चकम्।

पूर्वं जन्मस्थानमानन्देन्द्रियमुक्तम् इह तु कन्दः, तत्र स्पन्दस्थामिति
स्पन्दाविष्टाम्, मध्यमां कलां प्राणशक्तिमाश्रित्य
मत्तगन्धस्थानसङ्कोचविकासाभ्यां शतश उन्मिषितां
सूक्ष्मप्राणशक्तिमध्यास्य, आत्मानं मनस्तदवसरे तत्स्थं

तन्निभालनैकाविष्टं कृत्वा, कालाग्निमिति पादाङ्गुष्ठाधारं

गत्वा, समाश्रयेत् भावनयाध्यासीत। तत्रैव च गृहीतविज्ञानं

वीर्यमिति कन्दभूम्यासादितं शाक्तस्पन्दात्म वीर्यं निक्षिपेद्

भावनाप्रकर्षेण स्फुटयेत्। इत्थं तद्वीर्येत्युक्तवीर्येणापूरिता

लब्धोदया, प्राणस्पन्दात्मा क्रियाशक्तिरुत्तमातिशयेनोद्गता सती

मध्यमा भवति, समस्तदेहस्य नाभिर्मध्यं तत्र प्राप्ता जायते।

कथम्? इच्छया सङ्कोचक्रमोत्थोर्ध्वारोहणप्रयत्नेन, विज्ञानेन च

भावनया, ऊर्ध्वत इत्युपरितनगुल्फजानुमेढ्रकन्दनाभ्याख्यानां

ग्रन्थीनां भेदेन वेधनव्यापारेण भित्त्वा, अर्थात्

तान्येवोर्ध्वस्थानान्याक्रम्य भेदिता माण्डलिका भूभुजा,

इतिवद्भिः (वद् भिदिः) स्वीकारार्थः। अथ मूलस्पन्दं समाश्रित्येति

मत्तगन्धस्थानं विकासाकुञ्चनपरम्परापुरःसरं निरोध्य। एतच्च

श्रीस्वच्छन्दोक्तदिव्यकरणोपलक्षणपरम्। अत एव वाहद्वयं

पार्श्वनाड्यौ त्यक्त्वा परिहृत्य, तत इति

प्रोक्तेच्छाज्ञानावष्टम्भयुक्त्या, मध्यमार्गप्रवाहिण्या प्रोक्तया

मध्यप्राणब्रह्मशक्त्या सुषुम्नाख्यां नाडीं सम्यगाश्रयेत्।

तामाश्रित्य तत इत्यभ्यस्तात् सर्वेन्द्रियगोचराद्विरमेद्

अन्तर्मुखीकृतसर्वेन्द्रियस्तिष्ठेत्। तदा च प्रत्यस्ता प्रतिक्षिप्ता माया

प्राणादिप्रधानतात्माख्यातिर्येन तादृशा, प्रकाशानन्दात्मना

ज्ञानेन हृत्कण्ठादिगतसृष्ट्यादिसंवित्स्वभावब्रह्मादिकारणानि

क्रमात् त्यक्त्वा, वक्ष्यमाणमायादिग्रन्थिभेदेन सह

हृदादिव्योमपञ्चकं च त्यक्त्वा, षण्णां

ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवशिवाख्यानां कारणानामूर्ध्वत

ऊर्ध्वे स्थितां कुण्डलाख्यां शक्तिं

शून्यातिशून्यान्तमशेषविश्वगर्भाकारात्मककुण्डलरूपतयावस्थित

अं समनाख्यां शक्तिं प्राप्य, विज्ञानेनोर्ध्वं विरमेद्

उन्मनापरतत्त्वात्मतामाविशेदिति दूरेण संबन्धः। विरमेदिति

पूर्वस्थमिहापि योज्यम्॥

तत्र निर्भेद्यग्रन्थ्यादीनां स्वरूपं तावत्क्रमेणादिशति

जन्ममूले तु मायाख्यो ग्रन्थिर्जन्मनि पाशवः॥ ७-२२॥

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः।

कारणस्थास्तु पञ्चैवं ग्रन्थयः समुदाहृताः॥ ७-२३॥

इन्धिकाख्यस्तु यो ग्रन्थिर्द्विमार्गाशमनः शिवः।

तदूर्ध्वे दीपिका नाम तदूर्ध्वे चैव बैन्दवः॥ ७-२४॥

नादाख्यस्तु महाग्रन्थिः शक्तिग्रन्थिरतः परः।

जन्ममूलमानन्देन्द्रियम् तच्छरीरोत्पत्तिहेतुर्मायारूपतया मायाख्यो ग्रन्थिः, जन्मनि कन्दे पाशवः पशूनां संकुचितदृक्शक्तित्वात् पाश्यानामयमाधारनानानाडीप्राणादीनां प्रथमोद्भेदकल्पः। हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यललाटस्थानां ब्रह्मादीनां कारणानां पशुं प्रति सृष्ट्यादिकर्तृत्वेन निरोधकत्वाद् ग्रन्थिरूपकत्वात् तत्स्थाः पञ्च ग्रन्थयः निरोधिकोर्ध्वे

इन्धिका दीपिका चैव रोचिका मोचिकोर्ध्वगा। (१०-१२२६)

इति श्रीस्वच्छन्दे नादशक्तयो या उक्ताः, ता एवेह परचित्प्रकाशावारकरूपत्वाद् ग्रन्थय उक्ताः। तत्रेन्धिकाख्यो यो ग्रन्थिरसौ द्विमार्गाशमन इति निरोधिकास्पृष्टवामदक्षिणवाहनिःशेषप्रशमनहेतुः, अत एव शिव ऊर्ध्वैकमार्गारोहकत्वात् श्रेयोरूपः। तदूर्ध्वे किंचिद्दीप्तिहेतुत्वाद् दीपिकाख्यो ग्रन्थिः, अतोऽपि किंचिदधिकप्रकाशहेतुत्वाद् बैन्दवः। रोचिकेत्यन्यत्र योक्ता शक्तिस्तद्रूपो ग्रन्थिः। तदुपरि नादाख्यो महाग्रन्थिरिति। मोचिकोर्ध्वगेत्यन्यत्र यच्छक्तिद्वयमुक्तं तत्रोर्ध्वगा नादान्तेति तत्रैव योक्ता सैवेहान्तर्भावितमोचिका नादाख्यो

महाग्रन्थिरित्युक्तः। महत्त्वं चास्य ग्रन्थ्यन्तर्भावादेव। अतः परः शक्तिस्थानस्थो ग्रन्थिः शक्तिग्रन्थिः॥

यदेवं निर्णीतं तत्

ग्रन्थिद्वादशकं भित्त्वा प्रविशेत् परमे पदे॥ ७-२५॥

उन्मनापरतत्त्वात्मनि धाम्नि॥ २५॥

अत्र ब्रह्मादिकारणग्रन्थिभेदनादेव तदधिष्ठितहृदादिस्थानानि शक्तिग्रन्थिभेदेन च शक्तिस्थानं तदुपरि च व्यापिनीधामशिवस्थाने दलयेदित्याह

ब्रह्माणं च तथा विष्णुं रुद्रं चैवेश्वरं तथा।

सदाशिवं तथा शक्तिं शिवस्थानं प्रभेदयेत्॥ २६॥

अन्ते स्थानशब्दो ब्रह्मादिशब्दानामपि तत्स्थानप्रतिपादकत्वसूचनाय ॥ २६॥

अथ पूर्वोद्दिष्टं शून्यपञ्चकं षट्चक्रं च प्रदर्शयति

खमनन्तं तु जन्माख्यं नाभौ व्योम द्वितीयकम्।

तृतीयं तु हृदि स्थाने चतुर्थं बिन्दुमध्यतः॥ ७-२७॥

नादाख्यं तु समुद्दिष्टं षट्चक्रमधुनोच्यते।

जन्माख्ये नाडिचक्रं तु नाभौ मायाख्यमुत्तमम्॥ ७-२८॥

हृदिस्थं योगिचक्रं तु तालुस्थं भेदनं स्मृतम्।

बिन्दुस्थं दीप्तिचक्रं तु नादस्थं शान्तमुच्यते॥ ७-२९॥

अनन्तवह्निश्वाश्रयत्वादनन्तम्। नादाश्रयत्वाद् नादाख्यम्।
नाडिप्रसरहेतुत्वात्

ङाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्। (पा। यो। ३-२५)

इति नीत्या समस्तमायाप्रपञ्चख्यातिहेतुत्वात्, योगिनां
चित्तैकाग्र्यप्रदत्वात्, प्रयत्नेन भेदनीयत्वात्, दीप्तिरूपत्वात्,
शान्तिप्रदत्वादिति क्रमेण नाडिचक्रादौ हेतवः। एतानि शून्यानि

सौषुप्तावेशप्रदत्वात्, चक्राणि तु भेदप्रसरहेतुत्वात् हेयानीति कृत्वा ॥ २९ ॥

तैः सह

पूर्वोक्तानि च सर्वाणि ज्ञानशूलेन भेदयेत्।

पूर्वोक्तनीत्याधारग्रन्थ्यादीनि। ज्ञानशूलं मन्त्रवीर्यभूतचित्स्फुरत्ता ॥

ज्ञानशूलोत्तेजने युक्तिमाह

आक्रम्य जन्माधाराख्यं तन्मूलं पीडयेच्छनैः ॥ ७-३० ॥

चित्तप्राणैकाग्र्येण कन्दभूमिमवष्टभ्य, तन्मूलमिति मत्तगन्धस्थानम्, शनैरिति सङ्कोचविकासाभ्यासेन, शक्त्युन्मेषमुपलक्ष्य पीडयेद् यथा शक्तिरूर्ध्वमुखैव भवति ॥ ३० ॥

अथ प्रसङ्गान्नानाशास्त्रप्रसिद्धान् पर्यायान् जन्माधारस्याह

जन्माधारस्य सुश्रोणि पर्यायान् शृण्वतः परम् ।

जन्मस्थानं तु कन्दाख्यं कूर्माख्यं स्थानपञ्चकम् ॥ ७-३१ ॥

मत्स्योदरं तथैवेह मूलाधारस्तथोच्यते ।

मरुदुद्भवहेतुत्वात्, मध्यनाडीकन्दरूपत्वात्, कूर्माकारत्वात्, पृथिव्यादिव्योमान्ततत्त्वपञ्चकस्थानत्वात्, मत्स्योदरवत् स्फुरणात्, मूलभूतत्वाच्च जन्मादि आख्यायते ॥

एवं महामाहात्म्याच्छास्त्रेषु निरुच्यते या कन्दभूः

तत्स्थां वै खेचराख्यां तु मुद्रां विन्देत योगवित् ॥ ७-३२ ॥

मुद्रया तु तया देवि आत्मा वै मुद्रितो यदा ।

तदा चोर्ध्वं तु विसरेद्विज्ञानेनोर्ध्वतः क्रमात् ॥ ७-३३ ॥

तत्स्थामिति कन्दभूमिविस्फुरितां शक्तिम्, मुदो हर्षस्य राणात्

पाशमोचनभेदद्रावणात्मत्वात् परसंविद्द्रविणमुद्रणाच्च मुद्राम्, खे बोधगगने चरणात् खेचर्याख्यां योगी लभेत। लब्धया तु तया यदा आत्माणुर्मुद्रितः तद्वशः संपन्नः, तदामन्त्रवीर्यस्फुरत्तात्मना विज्ञानेनोर्ध्वं द्वादशान्तं यावद्विसरेत् प्रसरेत्॥ ३३॥

एतदेव स्फुटयति

भिन्द्याद्भिन्द्यात् परं स्थानं यावत् स्वरवरार्चिते।

तत्स्थानं चैव संप्राप्य योगी समरसो भवेत्॥ ७-३४॥

निष्कलं भावमापन्नो व्यापकः परमः शिवः।

परं स्थानं द्वादशान्तम्। भिन्द्यादिति वीप्सया क्रमादित्युक्तिः स्फुटीकृता। समरस इति सर्वस्याधस्तनस्याध्वनस्तन्मयीभावप्राप्तेः। परमः शिव इति, न तु भेदवाद्युक्तव्यतिरिक्तमुक्तशिवरूपः॥

अथ श्लोकार्धेन परमशिवाभेदव्याप्तिमनुवदन् शक्तेरवरोहक्रमेण व्याप्तिमादेष्टुमुपक्रमते

एवं भूत्वा समं सर्वं निःस्पन्दं सर्वदोदितम् ॥ ७-३५ ॥

ततः प्रवर्तते शक्तिर्लक्ष्यहीना निरामया ।

इच्छामात्रविनिर्दिष्टा ज्ञानरूपा क्रियात्मिका ॥ ७-३६ ॥

एका सा भावभेदेन तस्य भेदेन संस्थिता ।

भूत्वेत्यन्तर्भावितणिजर्थः । तेन सर्वं समनान्तम्, एवं द्वादशान्तारोहणेन, समं समरसम्, निःस्पन्दं प्रशान्तकल्लोलम्, सर्वदोदितं प्राप्तपरचित्प्रकाशैक्यम्, भावयित्वा संपाद्य, तत एव द्वादशान्तधाम्नो लक्ष्यहीना परस्फुरत्तात्मा, निष्क्रान्त आमयो महामाया यस्यास्तादृशी महामायाद्युल्लासिका परा शक्तिः, प्रवर्तते समुन्मिषति इच्छा-ज्ञान-क्रियारूपतया क्रमेण स्फुरतीत्यर्थः । तत एवैका, तस्येति परमशिवस्य, संबन्धिना भावभेदेन एषणीयज्ञेयकार्यावभासनोदयवैचित्र्येण हेतुना, भेदेन संस्थिता गृहीतेच्छादिनानात्वा ।

यत एवं परमशिवाच्छक्तिः स्वयं प्रवर्तते, तेन

खेचरीमुद्रयापूर्य शक्त्यन्तं तत्र सर्वतः ॥ ७-३७ ॥

यावच्च नोदितश्चन्द्रस्तावत् सूक्ष्मं निरञ्जनम् ।

भावग्राह्यमसंदिग्धं सर्वावस्थोज्झितं परम् ॥ ७-३८ ॥

व्यापकं पदमैशानमनौपम्यमनामयम् ।

भवन्ति योगिनस्तत्तु तदारूढौ वरानने ॥ ७-३९ ॥

तत्र

बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं न्यसेत् ।

दण्डाकारं तु तावत्तन्नयेद्यावत् कखत्रयम् ॥

निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत् खत्रयेण तु ।

एतां बद्ध्वा महायोगी खे गतिं प्रतिपद्यते ॥ (७-१५-१७)

इति श्रीमालिनीविजयलक्षितया पूर्वोद्दिष्टखेचरीमुद्रया शक्त्यन्तं यावत्, सर्वतः सर्वप्रकारेणापूर्य, यावत् तत्र चन्द्र इत्यपानो नोदितो भवेत् तावत् तदारूढौ तच्छक्तिपदारोहे सति, योगिनः, सूक्ष्ममतीन्द्रियम्, निरञ्जनमनावरणम्, भावग्राह्यं स्वप्रकाशम्, असन्दिग्धं स्वविमर्शसारम्, सर्वाभिर्जागराद्यवस्थाभिरुज्झितम् सर्वसामरस्यावस्थानात्परम्, दिग्देशाद्यनवच्छेदाद् व्यापकम्, परमेशानं स्वतन्त्रम्, अद्वितीयत्वाद् अनौपम्यम्, न विद्यते आमयो महामायावच्छेदो यतो भक्तिभाजां तदनामयम्, यत् परं धाम तद्भवन्ति तन्मया जायन्त इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

एवं प्राप्तपरतत्त्वाभेदस्य योगिनः तत् प्रवर्तते शक्तिः इत्यनेन योन्मिषन्ती परा शक्तिरुक्ता

सा योनिः सर्वदेवानां शक्तीनां चाप्यनेकधा ।

अग्नीषोमात्मिका योनिस्तस्याः सर्वं प्रवर्तते ॥ ७-४० ॥

तत्र संग्रथिता मन्त्रास्त्राणवन्तो भवन्ति हि ।

सर्वेषां चैव संहारस्तदेव परमं पदम् ॥ ७-४१ ॥

तस्मात् प्रवर्तते सृष्टिर्विक्षोभ्य परमं शिवम्।

अनौपम्यामृतं प्राप्य बिन्दुं विक्षोभ्य लीलया॥ ७-४२॥

चन्द्रोदये तदा ख्याते परमामृतमुत्तमम्।

बहलामृतकल्लोलमनन्तं तत्र संस्मरेत्॥ ७-४३॥

तस्मात् प्राप्यामृतं शुद्धं स्वशक्त्या चैव कर्षयेत्।

मध्यमार्गेण सुश्रोणि कारणादि प्रभेदयेत्॥ ७-४४॥

आप्यायनं प्रकुर्वीत् स्थाने स्थाने ह्यनुक्रमात्।

यावद् ब्रह्मपदं प्राप्तं तस्मादाप्याययेदधः॥ ७-४५॥

जन्मस्थानपथाच्चैव कालाग्नौ तु प्रवर्तयेत्।

तदापूर्य समन्ताच्चु परिपूर्णं स्मरेत् पुरम्॥ ७-४६॥

सुषुम्नामृतेनाखिलं परिपूर्णं विभावयेत्।

अनन्तनाडिभिस्तत्र रोमकूपैः समन्ततः॥ ७-४७॥

निष्क्रम्य व्यापको भूत्वा ह्यमृतोर्मिभिराकुलम्।

अमृतार्णवसंरूढं मज्जन्तममृतार्णवे॥ ७-४८॥

तदूर्ध्वे ह्यमृतार्णं तु प्रद्रुतं व्यापकं शिवम्।

एवं समरसीभूतं ह्यमृतं सर्वतोमुखम्॥ ७-४९॥

इच्छाज्ञानक्रियारूपं शिवमात्मस्वरूपकम्।

निरामयमनुप्राप्य स्वानुभूत्या विभावयेत्॥ ७-५०॥

अमृतेशपदं सूक्ष्मं संप्राप्यैवामृतीभवेत्।

तदासावमृतीभूय मृत्युजिन्नात्र संशयः॥ ७-५१॥

कालजित् सुभगो धीरो मृत्युस्तं च न बाधते।

सर्वदेवानामित्यनाश्रितसदाशिवेश्वरानन्तरुद्रादीनाम्, शक्तीनामिति वामाज्येष्ठादीनां च, यतश्च सा शक्तिरग्नीषोमात्मिका योनिस्तत एव सोमप्रधाना, यतस्तस्याः सर्वं प्रवर्तते उद्भवति, अत एवाग्नीषोमात्मशक्तिप्रकृति विश्वमग्नीषोममयमेव। तथा चाग्निरप्याह्लादयति हिममपि च दहति, इति तत्त्वविद आहुः। किं च, तत्राग्नीषोमात्मशक्तिधाम्नि संग्रथितास्तद्वीर्यसारत्वेनोच्चारिता मन्त्रास्त्राणवन्तः सिद्धिमुक्तिदाः, इति शक्तेः स्थितिहेतुत्वमुक्तम्। तदेवेत्यग्नीषोमात्मनः शक्तेरग्निरूपत्वात् संहर्तृत्वं च। एवं सृष्टिस्थितिसंहारहेतुत्वं शक्तेः प्रदर्श्य प्रकृतमाह-तस्मादिति। यत एवंभूतैषा शक्तिस्तस्मात्परं शिवं विक्षोभ्य समनापदावरोहणेन सृष्ट्युन्मुखं कृत्वा, तत्रानौपम्यमिति परमानन्दमयममृतं प्राप्य, बिन्दुमिति महाप्रकाशात्म समनारूढं धाम, लीलया स्वातन्त्र्यक्रीडया, विक्षोभ्य सृष्टिप्रसरोन्मुखं विधाय, तदा चन्द्रोदयेऽपानोल्लासे ख्याते सति, तत एव शाक्ताद्धाम्न उदितं परमामृतमुत्तममानन्दरसप्रधानं बहला अमृतकल्लोलाः सुसितसुधाप्रसारा यस्य तादृक्, अनन्तमनवच्छिन्नम्, तत्र स्मरेद् ध्यायेत् । तस्मात् चन्द्रोदयाच्छुद्धममृतं प्राप्यान्तर्मुखीभूतया स्वशक्त्या

मध्यमार्गेण कर्षयेदधोऽधः प्रवर्तयेत्। तेन च कारणादीति कारणानि ब्रह्मादीनि, आदिशब्दात्, पूर्वोक्तं चक्राधारादि सर्वं प्रभेदयेद् निषिञ्चेत्। एतदेवाप्यायनमित्यादिनानेन स्फुटीकृतम्। ब्रह्मस्थानं हृद्धाम यावत्तदमृतं प्राप्तं भवति, ततोऽप्यधो नाभेरधःस्थाने निषिच्य कालाग्न्यन्तमापूर्य समन्तात् परिपूर्णं देहं स्मरेत्। ततः सर्वरोमकूपैः प्रसृत्यान्तर्बहिरासादितव्याप्ति सर्वदिक्कममृतार्णवप्लावनसमरसीभूतपरमामृतरूपम्, इच्छाज्ञानक्रियाशक्तिकचितं परमशिवरूपं निरामयमात्मानं चिन्तयेत्। एवं सूक्ष्मध्यानाद्विजितमृत्युरासादितपरमसौभाग्योऽमृतेशतुल्यो भवति ॥ ५१ ॥

उपसंहरति

कालस्य वञ्चनं सूक्ष्मं मया ते प्रकटीकृतम्॥ ७-५२ ॥

न कस्यचिन्मयाख्यातं त्वद्दते भक्तवत्सले ॥ ५३ ॥

तवैव परानुग्रहैकव्रताया एवं प्रकटीकृतम्॥ ५३ ॥

सूक्ष्मध्यानसमुल्लासिसुधाकल्लोलकेलिभिः।

प्लावयन्निखिलं नौमि नेत्रमुच्चैर्महेशितुः ॥

इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचिते-
नेत्रोद्योते सूक्ष्मध्याननिरूपणं नाम सप्तमोऽधिकारः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽधिकारः

नेत्रोद्योतः

अमन्दानन्दसन्दोहि स्पन्दान्दोलनसुन्दरम् ।

स्वज्योतिश्चिन्महाज्योतिर्नेत्रं जयति मृत्युजित् ॥

सूक्ष्मध्यानानन्तरं परध्याननिर्णयाय श्रीभगवानुवाच

अथ मृत्युञ्जयं नित्यं परं चैवाधुनोच्यते ।

यत्प्राप्य न प्रवर्तेत संसारे त्रिविधे प्रिये ॥ ८-१ ॥

अथशब्दः सूक्ष्मध्यानानन्तर्यप्रथनाय, नित्यमेव च यन्मृत्युञ्जयं कालग्रासि, परमनुत्तरं परमेशस्वरूपम्। त्रिविध इति मायान्तसदाशिवान्तशिवान्तभवाभवातिभवरूपे ॥ १ ॥

किं च

योगी सर्वगतो भाति सर्वदृक् सर्वकृच्छिवः।

तदहं कथयिष्यामि यस्मादन्यन्न विद्यते ॥ ८-२ ॥

यत्प्राप्य तन्मयत्वेन भवति ह्यजरामरः।

परयोगिनोऽस्य देहादिप्रमातृताऽस्पर्शाद् जरामरणादिकथैव न काचिदस्तीत्यर्थः ॥

तदेतद्वक्तुमुपक्रमते

यन्न वाग्वदते नित्यं यन्न दृश्येत चक्षुषा ॥ ८-३ ॥

यच्च न श्रूयते कर्णैर्नासा यच्च न जिघ्रति।

यन्नास्वादयते जिह्वा न स्पृशेद्यत् त्वगिन्द्रियम् ॥ ८-४ ॥

न चेतसा चिन्तनीयं सर्ववर्णरसोज्झितम् ।

सर्ववर्णरसैर्युक्तमप्रमेयमतीन्द्रियम् ॥ ८-५ ॥

यत्प्राप्य योगिनो देवि भवन्ति ह्यजरामराः ।

तदभ्यासेन महता वैराग्येण परेण च ॥ ८-६ ॥

रागद्वेषपरित्यागाल्लोभमोहक्षयात् प्रिये ।

मदमात्सर्यसंत्यागान्मानगर्वतमःक्षयात् ॥ ८-७ ॥

लभ्यते शाश्वतं नित्यं शिवमव्ययमुत्तमम् ।

पश्यन्त्यादित्रिरूपापि वाग् यन्न भाषते, यच्च
बहिरन्तःकरणागोचरः, वर्णयन्तीति वर्णा वाचकाः, वर्ण्यन्त इति
वर्णा वाच्याः, सर्वे च ते वर्णास्तेषां रसाः

प्रसरास्तैरुज्झितमवाच्यवाचकात्मेत्यर्थः। अथ च तैः सर्वैर्युक्तं
विश्वात्मकत्वात्, अतश्चातीन्द्रियत्वान्न प्रमेयमपि तु
परप्रमात्रेकरूपमिति पर्यवसितम्, यदेवंभूतं तत्त्वं प्राप्य
समाविश्य,

योगमेकत्वमिच्छन्ति। मा। वि। (४-४)

इति स्थित्या योगिनः परतत्त्वैकशालिनस्तत्त्वतो जरामृत्युरहिता भवन्ति
। तन्महताभ्यासेन

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। (भ। गी। १२-२)

इति सततसमावेशप्रयत्नेन परेण वैराग्येण
दृष्टागमिकधराद्यनाश्रितान्तसमस्तभोगवैतृष्ण्येन,
अत एव रागद्वेषादिसर्वदोषप्रशमाच्च लभ्यते, मानाच्छङ्करपूजातो
तस्य क्षयात् शाश्वतमविवर्तात्मकम्, नित्यं लोकोत्तरं शिवं
परश्रेयोरूपमव्ययमपरिणामि, अतश्चोत्तमं सर्वोत्कृष्टम्॥

इयांश्चास्य स्फारोऽयम्

निमेषोन्मेषमात्रेण यदि चैवोपलभ्यते॥ ८-८॥

ततः प्रभृति मुक्तोऽसौ न पुनर्जन्म चाप्नुयात।

केनचिदिति मध्येऽध्याहार्यम्। उपलभ्यते समाविश्यते। ततःप्रभृति न तु कालान्तरे। मुक्तः स्थितैरपि देहप्राणैरगुणीकृतः। न च तद्देहत्यागे पुनर्जन्म देहान्तरसंबन्धमाप्नोति, अपि तु परमशिव एव भवति॥

ततश्च योगी

अष्टाङ्गेन तु योगेन प्राप्नुयान्नान्यतः क्वचित॥ ८-९॥

तमष्टाङ्गयोगमन्यशास्त्रप्रतिपादितरूपवैलक्षण्येन क्रमेणादिशति देवः

संसाराद्विरतिर्नित्यं यमः पर उदाहृतः।

भावना तु परे तत्त्वे नित्यं नियम उच्यते॥ ८-१०॥

स्पष्टम्॥ १०॥

मध्यमं प्राणमाश्रित्य प्राणापानपथान्तरम् ।

आलम्ब्य ज्ञानशक्तिं च तत्स्थं चैवासनं लभेत ॥ ८-११ ॥

प्राणापानमार्गयोः सव्यापसव्ययोरान्तरं मध्यनाड्यां भवं
प्राणमित्यूर्ध्वगामिनमुदानमाश्रित्य, ततश्च
प्राणीयव्याप्तिनिमज्जनेन चिद्व्याप्त्युन्मज्जनाद्
ज्ञानशक्तिमुन्मिषत्स्फुरत्तारूपां संविदमालम्ब्यावष्टभ्य,
तत्स्थमेवासनं योगी लभते निजज्ञानशक्त्यासनासीनश्चिन्महेशरूपो
भवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

प्राणादिस्थूलभावं तु त्यक्त्वा सूक्ष्ममथान्तरम् ।

सूक्ष्मातीतं तु परमं स्पन्दनं लभ्यते यतः ॥ ८-१२ ॥

प्राणायामः स उद्दिष्टो यस्मान्न च्यवते पुनः ।

प्राणादौ प्राणापानसमानेषु यः स्थूलो रेचकपूरकादिर्भावः
स्वभावस्तं त्यक्त्वा उज्झित्वा, अथेत्येतत्स्थूलप्राणायामानन्तरभावि,
सूक्ष्ममान्तरमिति मध्यपथेन रेचनाचमनादिरूपं च तं त्यक्त्वा,

यतो यस्मात् सूक्ष्ममप्यतीतं परममिति प्राणाद्यचित्स्फुरत्तात्म स्पन्दनं लभ्यते, तस्मात्तदेव परं स्पन्दनं यत् स एव स्थूलसूक्ष्मभेदभाजां प्राणानामायामः प्रशमितप्राधान्यावभासात्मा नियम उत्कृष्टतयादिष्टो निरूपितः। यस्मादिति यं प्राणायाममासाद्य न पुनश्च्यवते चित्प्रमातृमयतां न कदाचिज्जहाति ॥

शब्दादिगुणवृत्तिर्या चेतसा ह्यनुभूयते ॥ ८-१३ ॥

त्यक्त्वा तां प्रविशेद्धाम परमं तत्स्वचेतसा।

प्रत्याहार इति प्रोक्तो भवपाशनिकृन्तकः ॥ ८-१४ ॥

शब्दस्पर्शादीनां गुणानां सत्त्वादिरूपाणां या काचिद्वृत्तिर्दशा चेतसा संविदाऽनुभूयते, तां त्यक्त्वानादरेणापहस्त्य, स्वचेतसा विकल्पसंवित्परामर्शेनैव परचिद्धामप्रवेशो हीति यस्माच्चितिभूमेः प्रसृतस्य चित्तस्य तत्प्रतीपप्रापणात्मा प्रत्याहारोऽतश्च भवपाशानां निकृन्तकः ॥ १४ ॥

धीगुणान् समतिक्रम्य निर्ध्येयं चाव्ययं विभुम्।

ध्यात्वा ध्येयं स्वसंवेद्यं ध्यानं तच्च विदुर्बुधाः ॥ ८-१५
 ॥

धियो बुद्धेः सत्त्वादिगुणान् समतिक्रम्य समावेशेन प्रशमय्य,
निर्ध्येयमिति ध्येयेभ्यो नियत्याकृत्यादिरूपेभ्यो निष्क्रान्तं,
निष्क्रान्तानि च तानि यस्मात् तम्, विभुं व्यापकमव्ययं नित्यम्,
स्वसंवेद्यं स्वप्रकाशम् ध्येयं ध्यानार्हमथ चाध्येयमध्येतव्यम्
विम्रष्टव्यं स्मर्तव्यं च, अर्थाच्चिदानन्दघनं परमेश्वरं
ध्यात्वा विमृश्य ये बुधास्तत्त्वज्ञास्ते, तच्चेति तद्विमर्शात्मैव,
ध्यानं विदुरविच्छिन्नेन पारम्पर्येण जानन्ति । च एवार्थे ॥ १५ ॥

धारणा परमात्मत्वं धार्यते येन सर्वदा ।

धारणा सा विनिर्दिष्टा भवबन्धविनाशिनी ॥ ८-१६ ॥

येन योगिना सर्वदा परमात्मत्वं चैतन्यं धार्यते
समावेशेनावलम्ब्यते, तस्य या धारणा चैतन्यविमर्शनात्मा वृत्तिः,
सा भवबन्धविनाशहेतुर्धारणान्यधारणावैलक्षण्येन विनिर्दिष्टा
 ॥ १६ ॥

एवं यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणा
लोकोत्तरदृष्ट्या प्रतिपाद्य, समाधिमपि
परस्वरूपविषयमाणवशाक्तशाम्भवोपायप्राप्यमनुपायं चादिशति
श्लोकचतुष्केण

समं सर्वेषु भूतेषु आधानं चित्तनिग्रहः।

समाधानमिति प्रोक्तमन्यथा लोकदाम्भिकम्॥ ८-१७॥

सर्वप्राणिषु चित्तस्य समं वैषम्यप्रतिपत्तिनिग्रहात्म आधानं
चित्तनिग्रहः समाधानमिति चोक्तम्। स्वात्मतुल्यताचिन्तनं
यत्तत्समाधानं प्रोक्तम्। अन्यथा
लोचननिमीलनादिप्रकारेणैतद्विपरीतं यत् समाधानं तत्
लोकदम्भैकप्रयोजनम्॥ १७॥

एतद्ध्यानोपायकमाणवं समाधानम्, शुद्धविकल्पोपायं शाक्तम्।
तदाह

स्वपरस्थेषु भूतेषु जगत्यस्मिन् समानधीः।

शिवोऽहमद्वितीयोऽहं समाधिः स परः स्मृतः ॥ ८-१८ ॥

सर्वमिदमहमेव,

इत्यहन्तेदन्तासामानाधिकरण्यात्मशुद्धविद्योत्थाध्यवसायरूपः

परः समाधिः स्मृतः पारम्पर्यतः प्रसिद्धः ॥ १८ ॥

अथैकवारोपायप्राप्यमपि पुनरुपायानपेक्षतयानुपायं

सततोदितं समाधिमादिशति

सम्यक्स्वरूपसंवेद्यं संविद्रूपं स्वभावजम् ।

स्वसंवेद्यस्वरूपं च समाधानं परं विदुः ॥ ८-१९ ॥

सम्यगेकवारोपायतः संवेद्यं स्फुरितं यत्स्वाभाविकं संविद्रूपं

चकासच्चिद्धाम, तत् स्वसंवेद्यस्वरूपमिति स्वप्रकाशं

नित्योदितत्वेनाव्युत्थानं समाधानम् ॥ १९ ॥

अविकल्पोपायं शाम्भवं समाधिमाह

राशिभ्यां चिज्जडाभ्यां च विचार्य निपुणं पदम् ।

यन्नित्यं शाश्वतं रूपं समाधानं तु तद्विदुः ॥ ८-२० ॥

जडराशिर्भुवनभावदेहादिः । चिद्राशिः सकलप्रलयाकलविज्ञानाकलमन्त्रमन्त्रेशमन्त्रमहेशशिवाख्यः प्रमातृवर्गः । ततो मध्यात् पदं विश्वप्रतिष्ठास्थानं निपुणं विचार्य बाढं विमृश्य यन्नित्यमविनाशि शाश्वतं विवर्तपरिणामशून्यं सदा स्वप्रकाशं च रूपमर्थात् स्फुरति, तत्समाधानं विदुस्तत्त्वज्ञाः ॥ २० ॥

अष्टाङ्गेन तु योगेन इत्युपक्रान्तमुपसंहरन् प्रकृते योजयति

एवमष्टाङ्गयोगेन स्वभावस्थं परं ध्रुवम् ।

दृष्ट्वा वञ्चयते कालममृतेशं परं विभुम् ॥ ८-२१ ॥

मृत्युजित् स भवेद्देवि न कालः कलयेच्च तम् ।

एवमित्युक्तरूपेण न त्वन्यशास्त्रोक्ताहिंसासत्याद्यात्मना, परममृतेशं चिन्नाथं परं

विभुमनाश्रितान्ताशेषकारणस्वामिनम्, दृष्ट्वा कालं वञ्चयति, अकालकलितचिदानन्दैकघन एव जायते। अत एव तत्त्वतोऽयमेव सङ्कोचात्ममृत्युविदलनाद् मृत्युजित्। सुचिरमपि स्थिरीकृतदेहस्तु न वस्तुतो मृत्युजिदित्याशयशेषः॥

किं च

तत्त्वषट्त्रिंशतस्त्यागाद् भुवनानन्त्यवर्जनात्॥ ८-२२॥

एकाशीतिपदोर्ध्वं वै वर्णपञ्चाशतः परम्।

व्यापकं सर्वमन्त्रेषु सर्वेष्वेव हि जीवनम्॥ ८-२३॥

अष्टात्रिंशत्कलोर्ध्वं तु सर्वान्तः सर्वमध्यगम्।

आदिर्मध्यं न चैवान्तो लभ्यते यस्य केनचित्॥ ८-२४॥

तदप्रमेयमतुलं प्राप्य सर्वं न लभ्यते।

पृथ्व्यादिशिवान्तानि तत्त्वानि, कालाग्न्याद्यनाश्रितान्तानि भुवनानि च

त्यक्त्वा नवात्मादिप्रक्रियया प्रणवादिपदानामकारादिवर्णपञ्चाशत

ईशानपुरुषाघोरादिकलाष्टात्रिंशतश्चोर्ध्वं सर्वमन्त्रव्यापकम्,

एवं च षड्विधाध्वोत्तीर्णम्, अतश्च सर्वजीवितभूतं

सर्वेषामन्तः पूर्वापरकोट्यात्म, तन्मयत्वादेव च विश्वस्य

सर्वमध्यगतम्, न चास्य केनाप्यादिमध्यान्ता लभ्यन्ते

दिक्कालादिकथोत्तीर्णत्वात्, अतश्चाप्रमेयम्, अद्वितीयत्वादतुलम्, प्राप्य

षड्विधाध्वमयदेहप्राणाद्युल्लङ्घनेन योगिभिरासाद्य,

सर्वमित्यध्वप्रपञ्चात्म निखिलं न लभ्यते न प्राप्यते तेन प्राग्वत्

नाव्रियते, अथ च काक्वा सर्वं न लभ्यते, अपितु लभ्यते (एव),

सर्वसर्वात्मामृतेशभैरवता विद्यत इत्यर्थः ॥

तथा

येनैकेन जगत् सर्वमप्रमेयेन पूरितम् ॥ ८-२५ ॥

तज्ज्ञात्वा मुच्यते क्षिप्रं घोरात् संसारबन्धनात् ।

ज्ञात्वा दार्ढ्येन निश्चित्य ॥

अपि च

तत्त्वत्रयविनिर्मुक्तं शाश्वतं चाचलं ध्रुवम्॥ ८-२६ ॥

दिव्येन योगमार्गेण दृष्ट्वा भूयो न जायते।

सर्वेन्द्रियविनिर्मुक्तमवेद्यं चाप्यनामयम॥ ८-२७ ॥

तत्त्वत्रयं नरशक्तिशिवाख्यम्। शाश्वतं विवर्तवाद इव नासत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहि, अचलमपरिणामि, ध्रुवं नित्यम् इन्द्रियविनिर्मुक्तमनामयमिति मायेन्द्रियानावृतम् अवेद्यं च, दिव्येन योगमार्गेण विकल्पहानोन्मिषदविकल्पविमर्शावष्टम्भोपायेन, दृष्ट्वा साक्षात्कृत्य, न पुर्जन्मैति॥ २७ ॥

एवमाणवेन शाक्तेन शाम्भवेन चोपायेनासादितं परं तत्त्वं मुक्तिदं न केवलमिहैवोपादेयमुक्तम्, यावत् सर्वशास्त्रेषु इत्याह

परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम।

चैतन्यमात्मनो रूपं सर्वशास्त्रेषु कथ्यते॥ २८ ॥

यत् सर्वैः समनान्तैरुपाधिभिरवच्छेदकैर्विशेषेण वर्जितं तत्सङ्कोचासंकुचितं चैतन्यमात्मनो ग्राहकस्य रूपम्, तदेव परमात्मनः परमशिवस्य स्वरूपम्, न तु व्यतिरिक्तं यथा भेदवादिनो मन्यन्ते। अत एव शिवोऽहमद्वितीयोऽहमिति तात्त्विकसमाधिनिर्णयावसरे उक्तम्। सर्वशास्त्रेषु चैतत्कथ्यते, न तु क्वचिदेवेत्यनेन सिद्धान्तानामपि रहस्याद्वयसारता अन्तःसंभवन्त्यपि गाढप्ररूढसांसारिकद्वैतवासनानां न स्फुटीकृता। यथोक्तं श्रीकुलपञ्चाशिकायाम्

यन्नास्ति सर्वलोकस्य तदस्तीति विरुध्यते।

निगद्यते यदा देवि हृदये न प्ररोहति॥

एतस्मात् कारणाद्देवि देवताभिः प्रगोपितम्।

तेन सिद्धेन देवेशि किं न सिद्ध्यति भूतले॥

इति। तत एव समस्तशैवशास्त्रसारसंग्रहरूपेषु शिवसूत्रेषु चैतन्यमात्मा इति प्रारम्भ एवोक्तम्॥ २८॥

एवंभूतमपि चैतदात्मनो रूपम्

निर्मलं न भवेद्देवी यावच्छक्त्या न बोधितम्।

शैवी मुखमिहोच्यते। (२०)

इति श्रीविज्ञानभट्टारकादिष्टनीत्या परमेश्वरस्यैव शक्त्यां शक्त्याभासात्मनोऽणोः स्वस्फुरत्ताप्रवेशनयाऽणुत्वं निमज्ज्य, परमशिवत्वमुन्मील्यते॥

ननु दीक्षयाभिव्यक्तशिवत्वा अपि मुक्तशिवा भिन्ना एव परमशिवात्, तत्कथं परमात्मस्वरूपैक्यमात्मचैतन्यस्योक्तम् इत्याशङ्कां शमयति

दीक्षाज्ञानादिना शोध्यमात्मानं चैव निर्मलम्॥ ८-२९॥

ये वदन्ति न चैवान्यं विन्दन्ति परमं शिवम्।

त आत्मोपासकाः शैवे न गच्छन्ति परं पदम्॥ ८-३०॥

दीक्षाज्ञानयोगचर्याभिः शोध्यमात्मानं निर्मलमन्यमेव परमशिवाद् व्यक्तिरिक्तमेव वदन्ति, न तु परमशिवं विन्दन्ति परमशिवरूपं

नासादयन्ति, ते आत्मोपासकाः शुद्धात्मतत्त्वाराधकाः शैवे यत् परं पदं परमशिवत्वम्, तन्न गच्छन्ति नाप्नुवन्ति। यदि तु कदाचित् तीव्रशक्तिपाताद् गच्छन्ति, तच्छैवेन शिवादिष्टाद्वयज्ञानेनैव न त्वन्येन ज्ञानेनेति सप्तमीतृतीये तन्त्रेण योज्ये। तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे समनान्तस्थशुद्धात्मनिर्णयावसरे

अविदित्वा परं तत्त्वं शिवत्वं कल्पितं तु यैः।

त आत्मोपासका शैवे न गच्छन्ति परं शिवम्॥ (४-३९२)

इति॥ ३०॥

एतदेव भङ्ग्यन्तरेण स्फुटयति

यद्वा तु परमाशक्तिः सर्वज्ञादिगुणान्विता।

आपादादिविकासिन्या न विकास्येत निर्मला॥ ८-३१॥

तावन्न निर्मलो ह्यात्मा बद्धः शैवे तदोच्यते।

तावच्छब्दापेक्षया यावच्छब्दोऽध्याहार्यः। तेनापादादि

पाङ्गुष्ठात्प्रभृति विकासिन्या प्राणप्राधान्यनिमज्जनेन चित्प्राधान्यमुन्मज्जयन्त्या दीक्षाज्ञानादिरूपया अनुग्रहिकया शक्त्या यावत् सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वस्वतन्त्रताद्यात्मा परमा शक्तिर्न विकास्येत नोन्मिष्येत, न तावदात्मा जीवो निर्मलः। यदा चैवं तदा शैवेऽसावात्मा जीवन्मुक्तेरनासादाद्बद्ध एवोच्यते॥

विकासितायाः शक्तेः स्वरूपं दर्शयति

यत्रस्थः पुरुषः सर्वं वेत्त्यतीतमनागतम्॥ ८-३२॥

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तत्तत्त्वं शक्तिलक्षणम्।

इन्द्रियाण्यन्तर्मुखीकृत्य यत्र तुटिपातात्मनि आद्योन्मेषस्थितौ लब्धावस्थितिर्योगी, अतीतानागतादि सर्वं वेत्ति, तत् प्रतिभात्म तत्त्वं शक्तिलक्षणम्॥

तथा

यत्र यत्र भवेदिच्छा ज्ञानं वापि प्रवर्तते॥ ८-३३॥

क्रियाकृत्यस्वरूपा वा तत्तत्त्वं शक्तिलक्षणम्।

न कृत्यं निष्पाद्यं स्वरूपं यस्यास्तादृश्यकृत्रिमा निर्विकल्पा इच्छा ज्ञप्तिः स्फुरत्तात्मा क्रिया वा यत्र यत्रावसरे प्रवर्तते, तत्र तत्र तद् एषणीयाद्यनारूषितशुद्धेच्छादिमात्रात्मतत्त्वं शक्तिलक्षणम्॥

तथा

व्यापकस्य यतो देवि चिद्रूपस्यात्मनः शिवात्॥ ८-३४॥

प्रसरत्यद्भुतानन्दा सा शक्तिः परमा स्मृता।

व्यापकचिन्मात्रमयतामात्मनो भावयतो योगिनो या आश्चर्यरूपा आनन्दात्मा शक्तिः शिवात् प्रसरत्युन्मिषति, सा परमा स्मृता तत्तत्त्वं शक्तिलक्षणमित्यर्थः॥

एवं लक्षितशक्त्यवष्टम्भविस्फारेण

विप्रसार्य तमात्मानं सर्वज्ञादिगुणैर्गुणी॥ ८-३५॥

साभासः कथ्यते देवि शिवः परमकारणम्।

सर्वज्ञादिगुणैरिति तद्विमर्शनेनात्मानं विप्रसार्य बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा यतः प्रकाशावरणक्षयः (यो। सू। ३-४३) इति स्थित्या विकास्य यो योगी तैरेव सर्वज्ञत्वादिगुणैर्गुणी संपन्नः, स सर्वज्ञत्वाद्याभासविमर्शनादेव साभासः शिवः कथ्यते॥

एतदेव स्फुटयति

सर्वज्ञः परितृप्तश्च यस्य बोधो ह्यनादिमान्॥ ८-३६॥

स्वतन्त्रो ह्यप्रलुप्तश्च यश्च वानन्तशक्तिकः।

शक्तिमान् गुणभेदेन स्वगुणान् विन्दते गुणी॥ ८-३७॥

पृथग्भेदविभेदेन नानात्वं विमृशेदिह।

स साभास इति प्रोक्तो निराभासस्तु कथ्यते॥ ८-३८॥

परितृप्तो नैराकांक्ष्येण चिदानन्दघनः, अनादिमान् न तु
भावनोत्थः, स्वतन्त्रो न तु भेदेश्वरवत् कर्ममलपरिपाकाद्यपेक्षः,
अप्रलुप्तो न तु ब्रह्मादिवत् स्वापाद्यावृतः, अनन्तशक्तिकः

शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नम्।

इति स्थित्या मरीचिरूपाशेषविश्वशरीरः, शक्तिमानिति
समुत्पन्नयथालक्षितपरशक्तिस्वरूपः, गुणानां सत्त्वरजस्तमसां
भेदेन चिद्भुवि देहादिप्रमातृतानिमज्जनोत्थेन विदारणेन, स्वगुणान्
सर्वज्ञत्वादीन् लभते। तैरेव च गुणैर्गुणी, भेदानां
सर्वज्ञत्वादिविशेषाणां व्याख्यातदृशा व्यावृत्तिकृतो यः
पृथग्विभेदस्तेन नानात्वं विचित्राभासरूपतां य आत्मनो विमृशेत्
स साभास इत्युक्तः। निराभासस्तु उच्यते॥

तमाह

नाहमस्मि न चान्योऽस्ति निराभासस्तदा भवेत्।

सावस्था परमा प्रोक्ता शिवस्य परमात्मनः॥ ८-३९॥

आभासेभ्यो ग्राह्यग्राहकविमर्शात्मकेभ्यो निष्क्रान्तः चिद्विमर्शैकपरमार्थः। तदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्

शर्वथा त्वन्तरालीनानन्ततत्त्वौघनिर्भरः।

शिवश्चिदानन्दघनः परमाक्षरविग्रहः॥ (४-१।१४)

इति॥ ३९॥

एतद्दशासमापन्नस्य च योगिन ईदृशी स्फुरत्तेत्याह

नाहमस्मि न चान्योऽस्ति ध्येयं चात्र न विद्यते।

आनन्दपदसंलीनं मनः समरसीगतम्॥ ८-४०॥

अहमिति देहादिग्राहकः। अन्यो मद्व्यतिरिक्तो नीलादिः। ध्येयमित्यनुग्राहकत्वेन बुद्ध्योपस्थापितम्॥ ४०॥

एतत्पदलाभाय शाम्भवोपायमादिशति देवः

नोर्ध्वे ध्यानं प्रयुञ्जीत नाधस्तान्न च मध्यतः।

नाग्रतः पृष्ठतः किञ्चित् पार्श्वयोरुभयोरपि ॥ ८-४१ ॥

नान्तःशरीरसंस्थाने न बाह्ये भावयेत् क्वचित् ।

नाकाशे बन्धयेल्लक्ष्यं नाधो दृष्टिं निवेशयेत् ॥ ८-४२ ॥

न चाक्ष्णोर्मीलनं किञ्चिन्न किञ्चिद् दृष्टिबन्धनम् ।

अवलम्बं निरालम्बं सालम्बं न च भावयेत् ॥ ८-४३ ॥

नेन्द्रियाणि न भूतानि शब्दस्पर्शरसादि यत् ।

सर्वं त्यक्त्वा समाधिस्थः केवलं तन्मयो भवेत् ॥ ८-४४ ॥

ऊर्ध्वे द्वादशान्ते, अधः कन्दादौ, मध्ये हृदादौ, अग्रतः
पृष्ठतः पार्श्वयोः, तत्पुरुषसद्योजातादिरूपम् । अन्तःशरीर इति

आमूलात्किरणाभासां सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरात्मिकाम् ।
चिन्तयेत्तां द्विषट्कान्ते शाम्यन्तीं भैरवोदयः ॥ (वि । भै ।

२८)

इतिवत्। न बाह्य इति

वस्त्वन्तरे वेद्यमाने सर्ववेद्येषु शून्यता।

तामेव मनसा ध्यायन् विदितोऽपि प्रशाम्यति॥(वि। भै। १२२)

इतिवत्। नाकाश इति

तेजसा सूर्यदीपादेराकाशे शबलीकृते।

दृष्टिं निवेश्य तत्रैव स्वात्मरूपं प्रकाशते॥ (वि। भै।
७६)

इतिवत्। नाध इति

कूपादिके महागर्ते स्थित्वोपरि निरीक्षणात्।

अविकल्पमतेः सम्यक् सद्यश्चित्तलयः स्फुटम्॥ (वि। भै। ११५)

इतिवत्। न चाक्ष्णोर्मीलनमिति

एवमेव निमील्यादौ नेत्रे कृष्णाभमग्रतः।

प्रसार्य भैरवं रूपं भावयंस्तन्मयो भवेत्॥ (वि। भै। ८८)

इतिवत्। न दृष्टिबन्धनमिति

निर्वृक्षगिरिभित्त्यादिदेशे दृष्टिं विनिक्षिपेत्।

निलीने मानसे भावे वृत्तिक्षीणः प्रजायते॥ (वि। भै। ६०)

इतिवत्। अवलम्ब्यत इति अवलम्बो ध्येय आकारस्तम्

भावे त्यक्ते निरुद्धा चिन्नैव भावान्तरं ब्रजेत्।

तदा तन्मध्यभावेन विकसत्यतिभावना॥ (वि। भै। ६२)

इतिवत्। निरालम्ब इति

उभयोर्भावयोर्ज्ञाने ज्ञात्वा मध्यं समाश्रयेत्।

युगपच्च द्वयं त्यक्त्वा मध्ये तत्त्वं प्रकाशते॥ (वि। भै। ६१)

इतिवत्। सहालम्बेन वर्तते सालम्बं साकारं ज्ञानम्

इच्छायामथवा ज्ञाने जाते चित्तं निवेशयेत्।

तत्र बुद्ध्यानन्यचेतास्ततः स्यादात्मदर्शनम्॥ (वि। भै। ९८)

इतिवत्। नेन्द्रियाणि न भूतानीति तत्तद्धारणापटलोक्तनीत्या सर्वं
त्यक्त्वा समाधिस्थ
इति अकिञ्चिच्चिन्तकत्वेन स्वस्वरूपविमर्शनप्रवणस्तन्मय
इत्यानन्दपदसंलीनसमरसज्ञानमयः॥ ४४॥

या चैवंभूता दशा

सावस्था परमा प्रोक्ता परस्य परमात्मनः।

निराभासं पदं तच्चु तत्प्राप्य विनिवर्तते॥ ८-४५॥

सांसारिकी स्थितिमुज्झति॥ ४५॥

अतश्च यः

भावयेदेवमात्मानमात्मनो भावनाबलात्।

स गच्छेत् परमं शान्तं शिवमत्यन्तनिर्मलम् ॥ ८-४६ ॥

आत्मनो निर्विकल्पसंवेदनस्य या भावना विकल्पहानेन संपादना,
तस्या यद्बलं विमर्शदाढर्यं तेन भावयेत् ॥ ४६ ॥

किं च

तत्तत्त्वमेकं सर्वत्र भवति(ते) मृत्युजिच्छिवम् ।

तच्चामृतेशं परमं तृतीयं पदमुत्तमम् ॥ ८-४७ ॥

आख्यातं तव देवेशि किमन्यत् कथयामि ते ।

सर्वत्र क्षित्याद्यनाश्रितान्ते, तदेवैकमद्वितीयम्, तत्त्वं
पारमार्थिकं स्वरूपम्, शिवं श्रेयोरूपम्, मृत्युजिद्भवति ।
तृतीयमिति प्रोक्तस्थूलसूक्ष्मज्ञानद्वयापेक्षया,
तवेत्यनुग्रहैकपरायाः, किमन्यत् कथयामीति नातोऽन्यद्रहस्यं
कथनीयं किञ्चिदस्तीत्यर्थः ॥

एतदुपसंहरति

एवं मृत्युजिता सर्वं ध्यात्वा व्याप्तं विमुच्यते ॥ ८-४८ ॥

योगी ॥ ४८ ॥

एतच्च

सर्वकालं तु कालस्य वञ्चनं कथितं प्रिये ।

अकालकलितचिद्धामसमावेशोपदेशात् ॥

प्रकृतमुपसंहृत्य पूर्वप्रस्तुतमुपसंहरति

एवं तु त्रिविधं देवि मया ते प्रकटीकृतम् ॥ ८-४९ ॥

कालस्य वञ्चनं नाम ॥ ॥ ॥ ॥ ॥

एष च

॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥योगः परमदुर्लभः ।

किं च

अनेनाभ्यासयोगेन मृत्युजिद् भवति(ते) नरः ॥ ८-५० ॥

न केवलमात्मनः, यावत्

अनेनैव तु योगेन लोकानुग्रहकाम्यया ।

भवते मृत्युजिद्योगी सर्वप्राणिषु सर्वदा ॥ ८-५१ ॥

एतज्ज्ञाननिष्ठो विश्वानुग्रहकरणक्षम इत्यर्थः ।

यत्त्वत्राधिकारे परं ज्ञानमुक्तम्

एष मृत्युञ्जयः ख्यातः शाश्वतः परमो ध्रुवः ।

अस्मात् परतरो नास्ति सत्यमेतद्ब्रदाम्यहम् ॥ ८-५२ ॥

शिष्याणामत्रार्थे दृढ आश्वासो

जायतामित्याशयेनादरादुक्तमर्थमत्युपादेयत्वात् पुनः पुनरादिशति

यत्परामृतरूपं तु त्रिविधं चोदितं मया।

तदभ्यासाद् भवेज्जन्तुरात्मनोऽथ परस्य वा॥ ८-५३॥

अमृतेशसमो देवि मृत्युजिन्नात्र संशयः।

किञ्चेमं मृत्युजिन्नाथम्

येन येन प्रकारेण यत्र यत्रैव संस्मरेत्॥ ८-५४॥

तेन तेनैव भावेन स योगी कालजिद् भवेत्।

येन येनेत्याणवेन शाक्तेन शाम्भवेन वा। यत्र यत्रेति नात्र देशकालावस्थादिनियम इत्यर्थः॥

अयं च योगी

यत्र यत्र स्थितो वापि येन येन व्रतेन वा ॥ ८-५५ ॥

येन येन च योगेन भावभेदेन सिद्ध्यति ।

येन येन योगेन तत्तत्संहितासु योगपादोक्तेन,
भावभेदेनेत्येतत्तत्त्वनिष्ठभावनाविशेषेण ॥

यच्चेदममृतेशनाथाख्यं परं तत्त्वम्

तदेकं बहुधा देवि ध्यातं वै सिद्धिदं भवेत् ॥ ८-५६ ॥

द्वैताद्वैतविमिश्रे वा एकवीरेऽथ यामले ।

सर्वशास्त्रप्रकारेण सर्वदा सिद्धिदं भवेत् ॥ ८-५७ ॥

एकमिति पराद्वयस्वतन्त्रचित्सतत्त्वम्, अत एव
बहुधेत्येतत्स्वातन्त्र्यावभासितभाविपटलवक्ष्यमाणश्रीसदाशिवतुम्बु
उरुभैरवकुलेश्वरादिरूपतया ध्यातं सिद्धिं ददात्येवेत्यर्थः ।
परमाद्वैतरूपत्वाच्चास्य नाथस्य
द्वैताद्वैतादिसर्वप्रकारक्रोडीकारित्वं न विरुध्यते । वक्ष्यति

चैकविंशाधिकारे

अद्वैतं कल्पनाहीनं चिद्घनम्। (२१-२३)

इति ॥ ५७ ॥

किं च

चिन्तारत्नं यथा लोके चिन्तितार्थफलप्रदम्।

तथैव मन्त्रराजस्तु चिन्तितार्थफलप्रदः ॥ ८-५८ ॥

अत्रत्य इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

किं च

मन्त्राणां सप्तकोटीनामालयः परमो बली।

तेषामपि पराद्ध्यैकवीर्यत्वात्॥

अपि च

भावहीनास्तु ये मन्त्राः शक्तिहीनास्तु कीलिताः ॥ ८-५९ ॥

वर्णमात्राविहीनास्तु गुर्वागमविवर्जिताः ।

भ्रष्टाम्नायविहीना ये आगमोज्झितविघ्निताः ॥ ८-६० ॥

न सिद्ध्यन्ति यदा देवि जप्ता इष्टाः सहस्रशः ।

असिद्धा रिपवो ये च सर्वांशकविवर्जिताः ॥ ८-६१ ॥

आद्यन्तसंपुटेनैव साद्यर्णेन तु रोधिताः ।

मन्त्रेणानेन देवेशि अमृतेशेन जीविताः ॥ ८-६२ ॥

सिद्ध्यन्ति ह्यप्रयत्नेन जप्ता इष्टा न संशयः ।

ध्याताः सर्वप्रदा देवि भवन्ति न वचोऽनृतम् ॥ ८-६३ ॥

भावहीना अज्ञातवीर्याः, शक्तिहीनाः साञ्जनाः । यथोक्तम्

शाञ्जनास्तेऽण्डमध्यस्थाः सात्त्वराजसतामसाः।

इति। कीलिता व्यत्यस्तवर्णपदाः, गुर्वाम्नायविवर्जिताः शिष्यैः स्वयमेव पुस्तकाद् गृहीताः, भ्रष्टाम्नाया अज्ञातसंहितोत्थानाः, तत एव विनष्टाः, आगमोज्झितैर्विघ्निता नित्यं क्षुद्रसिद्धिविनियोगेन विघ्नाभिभूताः कृताः। असिद्धा रिपवो ये इति नामाक्षरान्मन्त्राक्षरं मातृकाक्रमेणाङ्गुलिपर्वचतुष्टये पुनःपुनरावर्तनया गण्यमानं यदि (प्रथमं पर्व स्पृशति तदा सिद्धं भवति यदि) द्वितीयं पर्व स्पृशति, तदा सिद्धं साध्यं तदुच्यते। यदि तृतीयं पर्व स्पृशति, तदा सुसिद्धं भवति। अथ चतुर्थं पर्व स्पृशति, तदास्य विरुध्यते। सर्वे अंशका भावस्वभावपुष्पपाताद्याख्याः। एवमादि च श्रीस्वच्छन्दादेर्ज्ञेयम् । एवमीदृशा अपि मन्त्रा नेत्रनाथसंपुटीकारेण इष्टा ध्याता जप्ताश्च सर्वसिद्धिप्रदा भवन्ति। न संशय इति, न वचोऽनृतमिति चोक्त्यानाश्वस्तानामप्याश्वासं रोहयति॥ ६३॥

उपसंहरति

इति सर्वं समाख्यातं रहस्यं परमं प्रिये॥ ६४॥

प्रथमाधिकारे यत् परमं रहस्यं प्रश्नितम्, तदित्युक्तदृशा सर्वं समाख्यातमिति

शिवम् ॥ ६४ ॥

चिदानन्दघनं धाम शाङ्करं परमामृतम् ।

मृत्युजिज्जयति श्रीमत् स्वावेशेनोद्धरज्जगत् ॥

इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योते अष्टमोऽधिकारः ॥ ८ ॥

नवमोऽधिकारः

नेत्रोद्योतः

स्वच्छस्वच्छन्दचिन्नेत्रं चित्रानुग्रहहेतुतः ।

सदाशिवादिभी रूपैः प्रस्फुरज्जयति प्रभुः ॥

****
**
** j~naanakaarikaa of the school of matsendryanatha edited by P.C. Bagchi, Calcutta, 1934
**
**
** Data entered by the staff of Muktabodha
**
*
*
**
** Encoded in Velthius transliteration
****
****

ज्ञानकारिका

प्रथमः पटलः

ॐ नमः शिवाय। सिद्धेभ्यो पुरुषेभ्यो नमः।

श्रीशङ्करपादेभ्यो नमः। अप्रतिहततत्त्वेभ्यो नमः।

अथातः संप्रवक्ष्यामि ज्ञानसर्वं (सु)भाषितम्।

कारिका श्री(ज्ञाना)ख्यातं विसर्ज ज्ञानकारिका(म्) ॥ १/१ ॥

कारिकानाम विज्ञानं श्रूयन्ते च ॥ ॥ ।वल ।

साम्प्रतं कथयिष्यामि योगिनां युक्तकारणम् ॥ १/२ ॥

मुक्तिमार्गी च (सर्व)तो सर्वेन्द्रियविवर्जिताः ।

पञ्चपञ्चविनिर्मुक्तो ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥वर्जितम् ॥ १/३ ॥

एते सुरास्तं ज्ञानं मुक्ति ॥ ॥ ॥ ॥वान् यथास्थितः ।

सर्वव्या(धि)विनिर्मुक्तं यच्च इन्द्रियगोचर(म्) ॥ १/४ ॥

द्वादशान्तं तथा ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥शान्तं तथैव च ।

द्वादशान्तं कलाशतं वर्णाक्षरविवर्जितम् ॥ १/५ ॥

सर्वज्ञश्च सदा शान्तं (सर्वा)श्रवविवर्जितम् ।

ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्र ईश्वरः शिव एव च ॥ १/६ ॥

मूर्तिरूपं स्थितं हेतुरनुत्तरं यथास्थितः ।

रूपकायः सदातीतं मन्त्रतन्त्राविवर्जितम् ॥ १/७ ॥

आत्मापरविनिर्मुक्तं पक्षातीतं श्रयम् ।

॥ लक्षणा ॥ १/८ ॥

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं निश्चितन्तु निराकुलम् ।

साकुलत्वं यदा चित्तं विषयासक्तचेतसाम् ॥ १/९ ॥

तदा भ्रमन्ति संसारं मायामलविमोहिताः ।

एतद्द्वन्द्वसमाख्यातं संसारस्य तु निर्णयम् ॥ १/१० ॥

साम्प्रतं कथयिष्यामि मुक्तिस्तदस्तु दुर्लभम् ।

येन विज्ञानमात्रेण मुक्तिर्भवति योगिनाम् ॥ १/११ ॥

सर्वसंसाररहित-मुक्तिश्चैव निराकुलम्।

निश्चितं निश्चलं साम्यं निर्द्वन्द्वं च निराकुलम्॥ १/१२॥

भवेन् मोक्षो नराणाञ्च द्वन्द्वभावविवर्जितम्।

निश्चित्तं चित्तरहितं कारिकाज्ञानमुत्तमम्॥ १/१३॥

एतद्भेदं मयाख्यातं मोक्षस्यैव तु निर्णयम्।

सर्वाश्रयविनिर्मुक्तं चित्ताश्चै(व) निराश्रयम्॥ १/१४॥

चित्ताश्रयं भवेद्धर्मं निराश्रयं मोक्षदं स्मृतम्।

देवो देवी तथान्यञ्च धर्माधर्मविवर्जितम्॥ १/१५॥

धर्माधर्माश्रयं प्रोक्तं संसारस्य तु बन्धनम्।

आश्रयं बन्धमित्युक्तं मुक्तिश्चैव निराश्रयम्॥ १/१६॥

निराश्रयं भवेत्तत्त्वमचिन्त्यमुक्तिलक्षणम्।

विषयावस्थं यदा चित्तं द्वन्द्वमुक्तिविवर्जित(म्)॥ १/१७॥

तदा भ्रमति संसारं यत्तं निश्चयतालयः।

मनोऽवस्थाविनिर्मुक्तं यावत्तं चञ्चलीभवेत्।

कथन्तं निश्चलं देवि ज्ञातव्यं ज्ञानकारिके॥ १/१८॥

इति ज्ञानकारिकायां मोक्षाधिकारः प्रथमः पटलः।

द्वितीयः पटलः

अतः परं प्रवक्ष्यामि ज्ञानं त्रैलोक्यदुर्लभम् ।

कारिकातत्त्वसद्भावं सिद्धनाथकुलोद्भवम् ॥ २⁄१ ॥

चन्द्रसूर्यविनिर्मुक्तं द्वारणाक्षविवर्जितम् (१) ।

पृथिव्यापस्तं तथा योगी वायुराकाशमेव च ॥ २⁄२ ॥

पञ्चभिराहेतो देहो श्रूयते तत्त्वनायके ।

सर्वेषां व्यापकः शान्त व्याप्ती तस्य न विद्यते ॥ २⁄३ ॥

व्यापकत्वे स्थितः साक्षाद्यथा क्षीरेषु सर्पिषः ।

कथितं तत्त्वभिर्वस्तु ज्ञानरत्नं सुदुर्लभम् ॥ २⁄४ ॥

आत्मापरविनिर्मुक्तं चित्तं चैव निराश्रयम् ।

चित्ताश्रयं भवेद्द्वन्द्वं निराश्रयञ्चमौषदम्(?) ॥ २⁄५

॥

मनसस्तु विधं प्रोक्तं राजसन्तामसन्तथा ।

सात्त्विकन्तु तृतीयञ्च त्रिभिर्धर्मेण लक्षणम् ॥ २⁄६ ॥

तामसं चञ्चलं क्षुद्रं राजसङ्गतिरागतिः ।

सात्त्विकं तृतीयं ज्ञेयं धर्मयुक्तं सदा स्थितम् ॥ २⁄७ ॥

चतुर्थन्तु मनश्चैव कथयामि विशेषतः ।

गुणत्रयविनिर्मुक्तं सदा निर्वाणलक्षणम् ॥ २⁄८ ॥

उत्तमोत्तमचतुर्थन्तु येन संशुद्धचेतसा ।

सर्वाग्निविनयातीतमिन्द्रियातीतमव्ययम् ॥ २⁄९ ॥

अनाभ्यासं सदा तत्त्वं सर्वचिन्ताविवर्जितम् ।

चित्ताभावविनिर्मुक्तं निमित्तं तत्त्वलौकिकम् ॥ २/१० ॥

अभावं भावनातीतं चित्ताचित्तविवर्जितम् ।

चित्ताद्यचिन्तितं ज्ञानमवाच्यज्ञाननिर्णयम् ॥ २/११ ॥

यथैव सदात्युक्ताः तावच्चित्तं सुचञ्चलम् ।

चञ्चलं भावमित्युक्तमचलं मुक्तिलक्षणम् ॥ २/१२ ॥

चित्तायुक्तं यदा चित्तं तदासौ चञ्चलं स्मृतम् ।

चित्तातीतं यदा चित्तं निश्चितमचलं भवेत् ॥ २/१३ ॥

सर्वचिन्ताविनिर्मुक्तमभावे निश्चलं भवेत् ।

न योगाध्यातचित्तस्तु न च लक्षणसाधकम् ॥ २/१४ ॥

न निरोधो भवेत् तत्र न कायशून्यमेव च ।

न बहिरन्तमन्तस्थं न चान्त आदिमध्यगः ॥ २/१५ ॥

न तेजो वायुराकाशं पृथिव्या आपभावना ।

न बुद्धिर्न चाहंकारो न मन इन्द्रियो न च ॥ २/१६ ॥

न चित्ताचित्तकस्तत्त्वं चिन्तातीतं स्थितं सदा ।

न चिन्ता यस्तु विज्ञेया ज्ञातव्य कालशासनः ॥ २/१७ ॥

यो सो निश्चिन्तसर्वज्ञः समाधिपरमेश्वरः ।

ज्ञातव्यं मोक्षसद्भावं गुप्तभेदप्रकाशितम् ॥ २/१८ ॥

संसारार्णवनिर्मुक्तं कल्पनातीतगोचरम् ।

निर्विकल्पं सदा ज्ञानं कथितं ज्ञानकारिकम् ॥ २/१९ ॥

चेतनाचेतना चैव कल्पना भावनास्तथा ।

धारणाधरविन्यासचन्द्रसूर्याग्निमण्डले ॥ २/२० ॥

वायुराकाशस्तथा सृत्याः ब्रह्मा रुद्रादिदेवताः ।

सर्वे ते कल्पना प्रोक्तं निर्विकल्पस्तथान्यथा ॥ २/२१ ॥

कल्पनाज्ञानयुक्तास्तु भ्रमन्ति घटयन्त्रवत् ।

परिपूर्णं कथं तेषां सिद्धक्रमविवर्जितम् ॥ २/२२ ॥

पतन्ति क्षिप्रं संसारे चित्तज्ञानेन रञ्जितः ।

न यान्ति चेह संसारे ये स्थिता उत्तमं पदम् ॥ २/२३ ॥

नरके गमनन्तस्य न स्वर्गे गमनन्तथा ।

पाशद्वयविनिरूपस्तु धर्माधर्मनिबन्धने ॥ २/२४ ॥

ज्ञानखड्गेन छित्वा पाशद्वयनिबन्धनम् ।

अन्धपाशं यदा चित्तं कुतो गच्छन्ति योगिनः ॥ २/२५ ॥

धर्माधर्मद्वयः पाशो पतन्त्युत्पतन्ति च ।

तेन पाशेन बद्धस्तु भुञ्जते कर्मसञ्चयम् ॥ २/२६ ॥

धर्मेण भुञ्जते स्वर्गमधर्मं नरकादिषु ।

धर्माधर्मौ तु द्वौ योऽसौ त्रैलोक्यस्य निबन्धनम् ॥ २/२७ ॥

धर्माधर्मं यदा त्यक्तं क्षिप्रं मुञ्चन्ति मानवाः ।

धर्मा चैव अधर्मा द्वौ द्विविधं परिकीर्तितम् ॥ २/२८ ॥

सबा(ह्य)भ्यन्तरचेतः धर्माधर्मप्रतिष्ठितम् ।

अध्यात्मजातसद्भावं योगिनामेवसंस्थितः ॥ २/२९ ॥

लौकिकास्थलकर्मञ्चाध्यात्मकस्येदं सूक्ष्मम् ।

आध्यात्मिके चैव धर्माधर्मस्थितिः सदा ॥ २/३० ॥

ऊद्ध्र्वचारो भवेद्धर्मोऽद्वयस्योऽधर्मलक्षणम् ।

धर्माधर्मक्षये क्षीणे मुच्यते सर्वैर्धनैः (?) ॥ २/३१ ॥

धर्माधर्मद्वयं ज्ञात्वा पुनर्ज्ञानमवाप्नुयात् ।

धर्माधर्मविचारोऽयं कथितं ज्ञानकारिकैः ॥ २/३२ ॥

इति ज्ञानकारिकायां धर्माधर्मविचारो नाम द्वितीयः पटलः ॥

तृतीयः पटलः

अथ चर्यान् (प्र)वक्ष्यामि योगिनामुपजायते ।

स चेताज्ञान न सर्वः चैतन्यं ज्ञानवर्जितम् ॥ ३/१ ॥

चेताचेतसमायुक्तं ज्ञानत्वं सम्प्रकीर्तितम् ।

भुक्तितत्त्वं यदा चेतं स चेत्तम्मुक्तिलक्षणम् ॥ ३/२ ॥

चेताचेतसमायुक्तं चैतन्यं शाश्वतं पदम् ।

योगिनां योगचिन्तितमार्यसंज्ञानवर्जितम् ॥ ३/३ ॥

यो मार्गविनिर्मुक्तं योगिनां मुक्तिलक्षणम् ।

एकलिङ्गे श्मशाने वा नदीनां सङ्गमेषु च ॥ ३/४ ॥

शून्यागारे गुहावासे वृक्षमूले तु चत्वरे ।

महोदधितटे चैव त्रिपथे वापि साधकः॥ ३/५॥

नग्नास्ते मुक्तकेशास्तु मदिरानन्दचेतसः।

मालानिर्मालिता योगी एकाकी भ्रमते सदा॥ ३/६॥

लिङ्गन्तु कथयिष्यामि यल्लिङ्गं कौलिकं स्मृतम्।

लयपूजाष्टकं यत्तं लिङ्गन्तु स चराचरम्॥ ३/७॥

लय वै यानि सर्वेषां तेन लिङ्गं मुदा कृतम्।

एतत् कौलिकं यल्लिङ्गं न शैलहेमरौप्यजम्॥ ३/८॥

कथितं देहजं लिङ्गं एकन्तु न द्वितीयकम्।

एकलिङ्गं समाख्यातं श्मशानं कथयामि ते॥ ३/९॥

शोभते च यदा देहः सर्वेषां एकदेहिनाम्।

निस्वासस्वाससंयुक्तं श्मशानं परिकीर्तितम्॥ ३/१०॥

अधोर्द्धं प्राणसञ्चारः बहते चैव नित्यशः।

ऊद्ध्र्वचारे भवेद् गङ्गा यस्ना(?) चाधो व्यवस्थितः॥ ३/११

॥

द्वाभ्यां मेलापकं यत्न स न मेतत् (?) प्रकीर्तिता।

अशरीरं यदा तत्त्वं स्वदेहे सा स्थिता यदि॥ ३/१२॥

शून्यं निरन्ञ्जनं ज्ञात्वा मुच्यते नात्र संशयः।

गुह्यं तु कथयिष्यामि गुह्ये सचराचरम्॥ ३/१३॥

गुह्यं शरीरमित्युक्तं वासितं ज्ञानराशिना।

गुह्यावासं स्थितो योगी चर्या तस्य न उच्यते॥ ३/१४॥

वासस्तु कथितं दिव्यं वृक्षमूलं शृणु तथा।

वृक्षः शरीरमित्युक्तं पादादिकरशाखयोः॥ ३/१५॥

ऊद्ध्र्वमूलं भवेद्वक्रं मूलवे (?) वृक्षधारकम्।

वृक्षमूलं ततो ज्ञात्वा बाह्यवृक्षस्य वर्जितम्॥ ३/१६॥

वृक्षमूलं समाख्यातं चत्वारः शृणु साम्प्रतम्।

जया च विजया चैव अजिता चापराजिता॥ ३/१७॥

चतुःशक्तिसमोपेतं चत्वारं मात्रकोद्भवम्।

चत्वारं कथितं दिव्यं महोदधितटः शृणु॥ ३/१८॥

बिन्दुस्तञ्च पराशक्तिः तटस्थः चारुरूपिणी।

बिन्दुचारुस्थिता नित्यं तटस्थं बिन्दुमण्डलम्॥ ३/१९॥

तटस्थञ्च स्थिता योगी तटं चैव प्रकीर्तितम्।

चन्द्रं त्यक्त्वा यदा याति आधारं सूर्यमण्डलम्॥ ३/२०॥

णुम्बेरिन्ग् गलत है

सूर्यं त्यक्त्वा यदा याति व्योमाऽस्तु चन्द्रमण्डले।

गगनमास्थितो (?) नित्यं वेला इव महोदधेः॥ ३/७२॥

एतद्वेला समाख्यातम् अध्यात्मैव प्रतिष्ठितम्।

नास्थिरं भवति श्वासं बहिस्थं मनरञ्जितम्॥ ३/७३॥

अथिरं सर्वयोगिनां प्रवाहं वहते सदा।

प्रवाहं गमनश्चैव गमनागमनं पुनः ॥ ३/७४ ॥

गमनागमनसंयुक्तो वेलाऽस्मिन् यथा स्थितम् ।

गमागम यथा वेला नास्ति रञ्जित कश्चित् (?) ॥ ३/७५ ॥

गगनोपमं स्थितं जगत् भावन्निश्चलतां व्रजेत् (?) ।

महोदधितटे स्थित्वा उदधि कथितं ततः ॥ ३/७६ ॥

निश्चलं परिपूर्णत्वं महोदधि स्मृतम् ॥ ॥ ॥ । ।

योगिनां चर्यसद्भावं कथितं तत्त्वं विशेषतः ॥ ३/७७ ॥

महोदधि समाख्यातं त्रिपञ्चकं कथयाम्यहम् ।

सत्त्वरजस्तमश्चैव एकत्वे तु यथा स्थितम् ॥ ३/७८ ॥

त्रिपथं तु विनिर्मुक्तं शास्त्रतो ज्ञानकारिका ।

त्रिपथं तु समाख्यातं नग्नन्तु कथयामि ते ॥ ३/७९ ॥

अविद्या ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ।पत्यत्काल(?) (न)ग्नकं च साधकेश्वरम् ।

नग्नस्तु कथितान् देवान् मुक्तकेशन्ततः शृणु ॥ ३/८० ॥

केशस्तु पाशमित्युक्तं मुक्तिमार्गप्रबन्धकम् ।

धर्मस्तु नैकेन पाशश्चैव विशेषतः ॥ ३/८१ ॥

षड्भिर्मुक्तो यदा योगी मुक्तकेशः स उच्यते ।

मुक्तकेशः समाख्यात आनन्दं शृणु साम्प्रतम् ॥ ३/८१ ॥

योगपारगतो योगी महापारविवर्जितः ।

पानयोगामृतं दिव्यं योगिनां सम्प्रकीर्तितम् ॥ ३/८३ ॥

एभिर्युक्तो महायोगी मदिरामत्त उच्यते ।

मदिरानन्दमाख्यातं नैर्माल्यमालिनो (?) शृणु ॥ ३/८४ ॥

वर्णं चैवास्ति मालाग्रं संस्थितो शक्तिसूत्रके ।

माला चैव समाख्याता योगिनां चान्यकारणम् ॥

नैर्माल्यमालिनो योगी योगचर्यां करोति सः ॥ ३/८५ ॥

एकाकीमतिथिर्यस्तु भ्रमिते प्रवदेत् सदा ।

असंहायो भ्रमते धीरः स एकाकीनमुच्यते ॥ ३/८६ ॥

एकाकी तु समाख्याता शास्त्रं मिलकारिका (?) ।

एतच्चर्या समाख्याता विश च ज्ञानधारक (?) ॥ ३/८७ ॥

इति ज्ञानकारिमहामच्छिन्द्रनाथपादावतारितेनोक्तं

चर्याधिकारस्तु तृतीयः पटलः ॥

****
**
** akulaviiratantram of the school of Matsendryanatha edited by P.C. Bagchi, Calcutta, 1934
**
**
** Data entered by the staff of Muktabodha
**
*
*
**
** Encoded in Velthius transliteration
****
****

[आ]

श्रीमच्छन्दपादकेभ्यो नमः।

श्रीमीनसहजानन्दं स्वकीयाङ्गसमुद्भवम्।

सर्वमाधारगम्भीरमचलं व्यापकं परम्।

मायामलविनिर्मुक्तं मीननाथं नमाम्यहम्॥

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि अकुलवीरं महद्भूतम्।

गुह्याद् गुह्यतरं गुह्यं सिद्धसद्भावसन्ततिः॥ १॥

अनुग्रहाय लोकानां सिद्धनाथेन भाषितम्।

गोपनीयं प्रयत्नेन यदीच्छन् शाश्वतं पदम्॥ २॥

संसारार्णवमग्नानां भूतानां महदाश्रयम्।

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे समुपागताः॥ ३॥

तथा अकुलवीरेषु सर्वधर्मा लयङ्गताः।

सर्वाधारमशेषस्य जगतः सर्वदा प्रभुः॥ ४॥

सहजानन्दं न विन्दन्ति सर्वधर्मसमासृताः।

अजानन्तमलैर्ग्रस्ता महामायान्धच्छादिताः॥ ५॥

शास्त्रजालेन सन्तुष्टा मोहितास्त्यजयन्तितताः (?)।

न विन्दन्ति पदं शान्तं कौलानां निष्कलं गुरुम्॥ ६॥

संवादयन्ति ये केचिन् न्यायवैशेषिकास्तथा।

बौधास्तु अरिहन्ता ये सोमसिद्धन्तवादिनः॥ ७॥

(p. 85)

मीमांस पञ्चस्रोताश्च वामसिद्धान्तदक्षिणाः।

इतिहासपुराणञ्च भूततत्वन्तु गारुडम्॥ ८॥

एभिः शैवागमैः सर्वैः परोक्षञ्च क्रियान्वितैः।

सविकल्पसिद्धिसञ्चारं तत् सर्वं पापबन्धवित्॥ ९॥

विकल्पबहुलाः सर्वैर्मिथ्यावादा निरर्थकाः।

न ते मुञ्चन्ति संसारे अकुलवीरविवर्जिताः॥ १०॥

सर्वज्ञं सर्वमासृत्य सर्वतो हितलक्षणम्।

सर्वेषां सिद्धिस्तत्रस्था सर्वसिद्धिश्च तत्र वै ॥ ११ ॥

यत्रासौ अकुलवीरो दृश्यते सर्वतोमुखम् ।

तं विदित्वा परं रूपं मनो निश्चलतां व्रजेत् ॥ १२ ॥

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धश्चैवात्र पञ्चमम् ।

सर्वभावाश्च तत्रैव प्रलीणाः प्रलयं गताः ॥ १३ ॥

भावाभावविनिर्मुक्त उदयास्तमनवर्जितः ।

स्वभावमतिमतं शान्तं मनो यस्य मनोमयम् ॥ १४ ॥

अकुलवीरमिति ख्यातं सर्वाधारपरापरम् ।

नाधारलक्षभेदन्तु न नादगोचरे पठेत् ॥ १५ ॥

हृदि स्थाने न वक्त्रे च घण्टिका तालरन्ध्रके ।

न इडा पिङ्गला शान्ता न चास्तीति गमागमे ॥ १६ ॥

न नाभिचक्रकण्ठे च न शिरे नैव मस्तके ।

तथा चक्षुरुन्मीलने च न नासाग्रनिरीक्षणे ॥ १७ ॥

न पूरककुम्भके तत्र रेचके (च) तथा पुनः ।

न बिन्दुभेदके ग्रन्थौ ललाटे न तु वह्निके ॥ १८ ॥

(p. 86)

प्रवेशनिर्गमे नैव नावाहनविसर्जनम् ।

न करणैर्नासनं मुद्रैर्नामासे भिन्नतालुके (?) ॥ १९ ॥

न निरोधो न चोद्धारो नातीतां चालनं न हि ।

न प्रेर्यप्रेरकश्चैव न स्थानन्नैव चाश्रयम् ॥ २० ॥

न चात्मनैव तद् ग्राह्यं ग्राह्यातीतपदं भवेत्।

एतत् पक्षविनिर्मुक्तं हेतुदृष्टान्तवर्जितम्।

सबाह्याभ्यन्तरन्तत्र एकोच्चारं चराचरम्॥ २१॥

न दूरे न च वै निकटे न भरितो न च रिक्तक(ः)।

न उन्नो न सोऽधिक एभिः पक्षैर्विवर्जितम्॥ २२॥

यश्च विंशात्मको ह्येष पुद्गल नास्ति यत्र वै।

यत्र लक्षं न विद्येत अकुलवीर स उच्यते॥ २३॥

यस्यैवं संस्थितं कश्चित् समरस संस्थितः।

स ब्रह्मा सो हरिश्चेशः स रुद्रो स च ईश्वरः॥ २४॥

स शिवः परमदेवः स सोमार्काग्निकस्तथा।

स च सांख्यः पुराणाश्च अर्हन्तबुद्ध एव च॥ २५॥

स्वयं देवी स्वयं देवः स्वयं शिष्यः स्वयं गुरुः।

स्वयं ध्यानं स्वयं ध्याता स्वयं सर्वत्र देवता॥ २६॥

यादृशेन तु भावेन पुरुषो भावयेत् सदा।

तादृशं फलमा(व)प्नोति नात्र कार्यविचारणात्॥ २७॥

अस्यैव हि नामानि पृथग्भूतानि योगिभिः।

अनाम तस्य गीयन्ते भ्रान्तिज्ञानविमोहितैः॥ २८॥

धर्माधर्मसमाक्लिष्टाविकल्पतमश्छादिताः।

तेन मुञ्चन्ति संसारं नरकं योनिसंकुलम्॥ २९॥

(p. 87)

अकुलवीरं महद्भूतं यदा पश्यन्ति सर्वगम्।

स बाह्याभ्यन्तरे नित्यं एकाकारं चराचरम्॥ ३०॥

निस्तरङ्गं निराभासं पदभेदविवर्जितम्।

सर्वावयवनिर्मुक्तं निर्लयं निर्विकारजम्॥ ३१॥

अदृष्टनिर्गुणं शान्तं तत्त्वातीतं निरञ्जनम्।

सर्वज्ञं परिपूर्णञ्च स्वभावश्चैवमक्षयम्॥ ३२॥

कार्यकारणनिर्मुक्तमचिन्त्यमनामयम्।

मायातीतं निरालम्बं व्यापकं सर्वतोमुखम्॥ ३३॥

समत्वं एकभूतञ्च ऊहापोहविवर्जितम्।

अकुलवीरं महद्भूतम् अस्तिनास्तिविवर्जितम्॥ ३४॥

न मनो न च वै बुद्धिर्न चिन्ताचेतनादिकम्।

न कालः कलनाशक्तिर्न शिवो न च इन्द्रियः॥ ३५॥

न भूते गृह्यते सो हि न सुखं दुःखमेव च।

न रसो हि न सुखं दुःखमेव च (?)॥ ३६॥

न रसो विरसश्चैव न कृतो न च जायते।

न च्छाया न च तापस्तु न शीतो न च उष्णवान्॥ ३७॥

न (दृश्यते मन्) स्तत्र उदयास्तमनवर्जितम्।

न सीमा दृश्यते तत्र न च तीर्थ्यं न चैव हि (?)॥ ३८॥

अद्वैतमचलं शान्तं संगदोषविवर्जितम्।

निराकुलं निर्विकल्पञ्च निबद्धञ्च मलक्षणम्॥ ३९॥

अनाथं सर्वनाथञ्च उन्मना मदवर्जितम्।

अनिगूढमसन्धिञ्च स्थावरं जङ्गमेव च॥ ४०॥

(p. 88)

ज्वलज्ज्वलनभूम्या च आपोञ्चैव तथैव च।

सर्वं समरसं पूर्णं अकुलवीरन्तु केवलम्॥ ४१॥

यस्यैषा संस्थिता मुक्तिः स मुक्तो भवबन्धनात्।

न तस्य मातापिता (वा)बान्धवं न च देवता॥ ४२॥

न यज्ञं नोपवासञ्च न क्रिया वर्णभेदकम्।

त्यक्त्वा विकल्पसंघातम् अकुलवीरलयं गताः॥ ४३॥

न जपो नार्चनं स्नानं न होमं नैव साधनम्।

अग्निप्रवेशनं नास्ति हेमन्तभृगु नोदनम्॥ ४४॥

नियमोऽपि न तस्यास्ति नोपवासो विधीयते।

पितृकार्यं न करोताति तीर्थयात्राव्रतानि च॥ ४५॥

धर्माधर्मफलं नास्ति न स्नानं नोदकक्रिया।

स्वयं त्यज सर्वकार्याणि लोकाचाराणि यानि च॥ ४६॥

समयाचारविचारञ्च कृतका बन्धकानि तु।

संकल्पञ्च विकल्पञ्च ये चान्ये किल धर्मिणः॥ ४७॥

भवे योगी निराचारो पशुचारविवर्जितः।

सिद्धिश्च विविधाकारा पाताले च रसायनम्॥ ४८॥

प्रत्यक्षञ्च या लब्धं न गृह्णीयात् कदाचन।

सर्वञ्च पाशजालञ्च अधोमार्गप्रदायकः ॥ ४९ ॥

एतेषु मोचना नास्ति अकुलवीरविवर्जिताः ।

यथा मृताः (न) जानन्ति स्वादं कटुमधुरस्य तु ॥ ५० ॥

तथा अकुलवीरन्तु न जानन्ति स्वभावगम् ।

यथा मदिरा महान्तस्य कथितं नेवशकृते (?) ॥ ५१ ॥

अगे ८९ तो ९६ मिस्सिन्ग्

(p. 97)

रहस्यपरमानन्दमतिगुह्यं सुगोपितम् ।

लोकानां च हितार्थाय सिद्धनाथेन भाषितम् ॥ ३९ ॥

निर्विकल्पं पदं शान्तं यत्र लीनं परापरम् ।

मोक्षस्य तन्महास्थानं मन्त्ररूपविवर्जितम् ॥ ४० ॥

तत्रैव सृष्टिरूपेण पुनस्तत्र लयं गता ।

किन्तेन बहुनोक्तेन सर्वबन्धविवर्जितम् ॥ ४१ ॥

अकुलवीरं यदा लब्धं तदा किं कौलिकैः क्रमैः ।

लब्ध्वा तु मोक्षसद्भावम् अकुलवीरं मलापहम् ॥ ४२ ॥

कौलमार्गे द्वयो सन्ति कृतका सहजा तथा ।

कुण्डली कृतका ज्ञेया सहजा समरसे स्थिता ॥ ४३ ॥

प्रेर्यप्रेरकभावस्था कृतका साऽभिधीयते ।

ततः स पातयेद् भूमौ मुद्रामन्त्रैर्नियोजितैः ॥ ४४ ॥

आहुते पतने चान्ये कर्णजापेन धूपकैः ।

एतत् साध्यमिदं तत्त्वं (एतद्) ध्यानञ्च धारणा ॥ ४५ ॥

अनेकैः कर्मसंघातैः नानामार्गविभावनैः ।

विकल्पकलल्लोल्लोला उद्भ्रान्ता भ्रान्तचेतसः ॥ ४६ ॥

हृदि शोकेन सन्तप्ता व्यासङ्गाच्च महाभयैः ।

हर्षविषादसम्पन्ना शोच्यमाना मुहुर्मुहुः ॥ ४७ ॥

तावद्भ्रमन्ति संसारे कल्पाकल्पैर्भवार्णवैः ।

दग्धबीजेषु संभूतिर्यथा नैव प्रजायते ॥ ४८ ॥

मूलच्छिन्ने यथा वृक्षे न प्ररोहं विद्यते ।

अकुलवीरगतं भिन्नं नानाभावानुबन्धनैः ॥ ४९ ॥

(p. 98)

न बध्यते यथा विमले रसं विप्रलयं गतम् ।

तद्वद्कुलवीरे च सत्त्वे भ्राभ्राख्य यद्गतः (?) ॥ ५० ॥

तिमिरेण यथाच्छन्नमुदितार्कं न पश्यति ।

अज्ञानमनस्तद्वद् भ्रान्तिजालविमोहिता ॥ ५१ ॥

अकुले वीरे च सम्प्राप्ते सर्वमेतद्विनश्यति ।

दधिमध्ये यथा सर्पिः काष्ठे चाग्निः स्थितो यथा ॥ ५२ ॥

पुष्पे गन्धस्तिले तैलं वृक्षे छाया समाश्रिता ।

मद्यमध्ये यथानन्दं दीपे प्रभा समाश्रिता ॥ ५३ ॥

पद्ममध्ये च कुण्डल्या अङ्गप्रत्यङ्गमेव च ।

रक्तार्थाकुलवीरे (?) च तत्सर्वं विनियोजितम् ॥ ५४ ॥

भावाऽभावादिसंयुक्तैः प्रत्ययैर्दृष्टिगोचरैः ।

अकुलवीरं न जानन्ति कृतकैर्मोहितात्मनः ॥ ५५ ॥

पाशजालनिबद्धाश्च महामायाविमोहिताः ।

न जानन्ति पदं शान्तमचिन्त्यं नित्यसम्भवः ॥ ५६ ॥

सर्वव्यापिभावस्थं स्थानवर्णविवर्जितम् ।

सर्वभूतस्थितं ह्येकमध्येयं ध्येयवर्जितम् ॥ ५७ ॥

स च सर्वगतो भावः स्थिरे पूर्णे निरन्तरे ।

तत्र मनो विलीनन्तु अचलं भवतन्मयम् ॥ ५८ ॥

मनोवृद्धिस्तथा चिन्त्यं क्षिप्ता तन्मयतां गता ।

यथा तिष्ठति तत्त्वस्थः शिवनिष्कलमव्यये ॥ ५९ ॥

तदा तन्मयतां याति निर्मलं निश्चलं पदम् ।

अकुलवीरं महद्भुतमेकवीरं च सर्वगम् ॥ ६० ॥

दुर्लभं सुरसिद्धानां योगिनीनाञ्च गोचरम् ।

केचिद् वदन्तीदं धर्ममिदं शास्त्रमिदं तपः ॥ ६१ ॥

अयं लोकमिमं स्वर्गमिदं साध्यमिदं फलम् ।

इदं ज्ञानञ्च विज्ञानं शुद्धाशुद्धमिदं परम् ॥ ६२ ॥

ज्ञेयञ्च तत्त्वकूटञ्च यत्र ध्यानञ्च धारणा ।

तदासौ योगिनी ह्येकः नान्यस्तु हि द्वितीयकः ॥ ६३ ॥

(अ)नागतन्तु गतञ्चैव न गच्छेन्न च तिष्ठति ।

न भूतं न भविष्यञ्च स्थितिप्रलयवर्जितम् ॥ ६४ ॥

न चाहं प्रचितैर्दोषैः लिप्यते न कदाचन ।

नाहं कश्चिन्न मे कश्चिन्न बद्धो न च बाधकः ॥ ६५ ॥

न मुक्तो वै न च न मुक्तमे (?) मोक्षस्य च स्पृहा ।

गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् जाग्रद्भूञ्जानो मैथुनेऽपि वा ॥ ६६ ॥

भयदारिद्रशोकैश्च विविधैर्भक्षणैस्तथा ।

चिकित्सा नैव कुर्वीत इन्द्रियार्थैः कदाचन ॥ ६७ ॥

आचरेत् सर्ववर्णैस्तु न तु भक्ष्यं विचारयेत् ।

एवं स चरते योगी यथारण्ये हुताशनः ॥ ६८ ॥

पिण्डबधाञ्च नानास्ति अवस्था मूर्खवासनाम् (?) ।

सोमशून्यस्तथा वह्निप्राणायामविवर्जितम् ॥ ६९ ॥

अप्रमेयनिराभासं धारणाध्यानवर्जितम् ।

येन जन्मसहस्राणि भक्त्या संपूजितो गुरुः ॥ ७० ॥

(p. 100)

ते लभन्ति महाज्ञानं अकुलवीरन्तु मोक्षदम् ।

योगिनीराकिणीचक्रे यस्य भक्तिः सुनिश्चला ॥ ७१ ॥

अकुलवीरं महद्भूतं गम्भीरं गहनामयम् ।

पिण्डातीतं यदा ज्ञेयमपिण्डं पिण्डवर्जितम् ॥ ७२ ॥

पदव्यञ्जननिर्मुक्तं विमलं सततोदितम् ।

तल्लीने तन्मयात्मानं विन्दते श्वाश्वतं पदम्॥ ७३॥

चिन्तातीतं भवेत् सो हि योगसंयोगवर्जितम्।

निर्वाणं वासनाहीनं तृप्तात्मा च निरामयः॥ ७४॥

तेन लब्धा न सन्देहोऽमला मलच्छेदनाः।

तस्य प्रवर्तते क्षिप्रं तस्यैव सर्वसर्वगम्॥ ७५॥

वेदसिद्धान्तशास्त्राणि नानाविधानि शिखानि च।

तानि सर्वाणि मोहानि कायक्लेशैर्निरर्थकम्॥ ७६॥

विद्याहङ्कारग्रस्तास्तु गर्विताः कुगतिं गताः।

अनर्थेन च सन्तुष्टा बहुग्रन्थार्थचिन्तकाः॥ ७७॥

अकुलवीरं न विन्दन्ति कृतकैर्मोहितात्मनः।

गर्वितानां कुतो ज्ञानं ग्रन्थकोटिशतैरपि॥ ७८॥

कर्पूरकुङ्कुमादीनां वस्त्रताम्बूलमेव च।

खरवद्भवति तद्भारं सर्वं तस्य निरर्थकम्॥

अकुलवीरञ्च देहस्थं यदा पश्यति सर्वगम्॥ ७९॥

धर्माधर्मफलं नास्ति नोदकं तीर्थसेवना।

न क्रिया सत्यशौचं वा कर्मकाण्डे न भावना॥ ८०॥

(p. 101)

न तस्य कर्मकर्माणि लोकाचाराणि यानि च।

चरिताः समयाचारा जनैर्भ्रान्तिविमोहितैः॥ ८१॥

अकुलवीरं न जानन्ति किं विशिष्टं कुतः स्थितम्।

कृतका बन्धना लोके कल्पिताश्च कुपण्डितैः ॥ ८२ ॥

संकल्पविकल्पञ्च कलाकर्माणि यानि च ।

सिद्धयो विविधा लोके पातालं च रसायनम् ॥ ८३ ॥

प्रत्यक्षञ्च यदा लब्धं न विगृह्णीयात् कदाचन ।

सर्वे ते पाशबद्धश्च अधोमार्गप्रदायकाः ॥ ८४ ॥

न चैतैर्मुक्तिः संसारे अकुलं वीरवर्जिताः ।

यथा मदिरमानन्दं कथितं नैव जायते ॥ ८५ ॥

तद्वदकुलवीराख्यं स्वसंवेद्यनिरोपणम् ।

न जानन्ति नरा मूढाः सारात् सारतरं परम् ॥ ८६ ॥

तावद् भ्रान्तिविमुग्धात्मा यावत्तलं न विन्दति ।

चिन्तातीते यदा योगी स योगी योगचिन्तकः ॥ ८७ ॥

विरक्ता वासना यस्य तृप्तात्मा च निरामयः ।

तावद् भ्रमन्ति मोहात्मा नानाभावानुबन्धनैः ॥ ८८ ॥

यावत् सममेकत्वं परमानन्दं न विन्दति ।

मूर्खाणां च यथाशास्त्रं कुमारीसुरतिं यथा ॥ ८९ ॥

अकुलवीरं विन्दन्ति कथ्यमानैः कुमारिकाः ।

दिशवेशविनिर्मुक्तं स्थानवर्णविवर्जितम् ॥ ९० ॥

(p. 102)

निराकुलं निर्विकल्पं निर्गुणञ्च सुनिर्मलम् ।

अनाथं सर्वनाथञ्च प्रमादोन्मादवर्जितम् ॥ ९१ ॥

घननिविडनि(ः)सन्धिस्थावरे जङ्गमेषु च ।

जले ज्वलने तथा पवने भूम्याकाशे तथैव च ॥ ९२ ॥

सर्वत्र समरसं भरितमकुलवीरन्तु केवलम् ।

तं ज्ञातं येन देहस्थं स मुक्तः सर्वबन्धनात् ॥ ९३ ॥

न तस्य क्रियाबन्धेन न वेद्यं न च वेदना ।

न यज्ञो नोपवासश्च न चर्या न क्रियोदयः ॥ ९४ ॥

न वर्णो वर्णभेदश्च अकुलवीरं यदागतम् ।

न जापो नार्चनाग्नीनां न होमो नैव साधनम् ॥ ९५ ॥

नाग्निप्रवेशनन्तस्य मन्त्रपूजाचरणोदकम् ।

नियमाश्च न तस्यास्ति क्षेत्रपीठे च सेवनैः ॥ ९६ ॥

न क्रिया नार्चनाकार्यैर्न तीर्थानि व्रतानि च ।

निरालम्बपदं शान्तं तथातीतं निरञ्जनम् ॥ ९७ ॥

सर्वज्ञपरिपूर्णञ्च स्वभावेन विलक्ष्यते ।

कार्यकारणनिर्मुक्तमचिन्तितञ्च अनामयम् ॥ ९८ ॥

मायातीतं निरालम्बं व्यापकं सर्वतोमुखम् ।

स्वदेहे संस्थितं शान्तमकुलवीरं तदुच्यते ॥ ९९ ॥

समस्तमेकदाभूतं द्वैताभावविवर्जितम् ।

अकुलवीरं महद्भूतमस्तिनास्तिविवर्जितम् ॥ १०० ॥

(p. 103)

मनोबुद्धिचित्तस्तचित्ता नैव स्वचेतना (?) ।

न कालकलना चैव न शक्तिश्च न चेन्द्रियः ॥ १०१ ॥

न भूते गृह्यते सो हि न दुःखं सुखमेव च ।

न रसोऽधिरसश्चैव कृतकं नैव कारकम् ॥ १०२ ॥

न च्छाया नातपो वह्निर्न च शीतोष्णवेदना ।

न दिनं रात्रिमित्युक्तमुदयास्तमनवर्जितम् ॥ १०३ ॥

न मनो दृश्यते तत्र नोर्द्ध्वमध्यं च ज्ञायते ।

अक्षोभ्यमचलं शान्तमीदृशं तत्त्वनिर्णयम् ॥ १०४ ॥

यादृशेन तु भावेन पुरुषो भावयेत् सदा ।

तादृशं फलमाप्नोति नात्र कार्यविचारणात् ॥ १०५ ॥

एवञ्च कुलसद्भावमवाच्यं परमामृतम् ।

अगम्यं गम्यते कस्माद् भ्रान्तिज्ञानविमोहिताः ॥ १०६ ॥

न दूरे निकटे चैव प्रत्यक्षं न परोक्षता ।

न भरितो न रिक्तो वा निपुणो नापि चाधिकः ॥ १०७ ॥

एतत् पक्षविनिर्मुक्तो हेतुदृष्टान्तवर्जितः ।

कृतकैर्मोहिता मूढाः कर्मकाण्डरतास्तु ये ॥ १०८ ॥

न तेषां मुक्तिः संसारे नरके योनिसंकुले ।

अकुलवीरं महद्भूतं यदा पश्यति सर्वगम् ॥ १०९ ॥

सबाह्याभ्यन्तरैकत्वं सर्वत्रैव व्यवस्थित(म्) ।

निस्तरङ्गं निराभासं पदच्छेदविवर्जितम् ॥ ११० ॥

सर्वावयवनिर्मुक्तं निर्विकारञ्च निर्मलम् ।

अदृश्यं निर्गुणं नित्यं निर्णिरोधञ्च निश्चलम् ॥ १११ ॥

(p. 104)

न ध्यानं धारणा नैव न स्थानं वर्णमेव च ।

न रेचकं पूरकञ्चैव नरोद्धातञ्च (?) कुम्भकम् ॥ ११२ ॥

न चान्तमादिमध्यस्थं न सतो वृद्धिरेव च ।

ग्राह्यग्राहकनिर्मुक्तग्रन्थातीतञ्च यद्भवेत् ॥ ११३ ॥

एतैः सर्वैर्विनिर्मुक्तं हेतुदृष्टान्तवर्जितम् ।

सबाह्याभ्यन्तरैकत्वं सर्वत्रैव व्यवस्थितम् ॥ ११४ ॥

समरसानन्दरूपेण एकाकारं चराचरे ।

ये च ज्ञातं स्वदेहस्थमकुलवीरं महद्भूतम् ॥ ११५ ॥

यस्या (?) वशं स्थितः कश्चित् समरसं रससंस्थितम् ।

स ब्रह्मा स हरिश्चैव स रुद्रश्चै(वे)श्वरस्तथा ॥ ११६ ॥

स शिवः शाश्वतो देवः स च सोमार्कशङ्करः ।

स विशाख्यो मयूराक्षो अर्हन्तो बुधमेव च ॥ ११७ ॥

स्वयं देवि स्वयं देवः स्वयं शिष्यः स्वयं गुरुः ।

स्वयं ध्यानं स्वयं ध्याता स्वयं सर्वेश्वरो गुरुः ॥ ११८ ॥

सर्वज्ञः सर्वमासृत्य सर्वतो हितलक्षणः ।

सर्वयोगिनी तत्रस्था सर्वे सिद्धाश्च तत्र वै ॥ ११९ ॥

सर्वं सर्वार्थकं चैव सर्वज्ञानश्च तत्र वै ।

यथासौ महार्थञ्च अकुलवीरमिति स्मृतम् ॥ १२० ॥

शब्दः स्पर्शौ रसो रूपं गन्धो वद्याणिपम च (?) ।

सर्वे भीराश्च (?) तत्रैव ये प्रलीनाः प्रलयं गताः ॥ १२१ ॥

नाधारे ध्येयलक्ष्ये च न नादगोचरे परे ।

न हृदि नाभिकण्ठे वा वक्त्रे घण्टिकरन्ध्रयोः ॥ १२२ ॥

न इडा पिङ्गला चैव सुष्मणा च गमागमैः ।

न नाभिचक्रे कण्ठे च न शिरे बिन्दुके तथा ॥ १२३ ॥

चक्षुकर्णोन्मीलनं नैवं नासिकाग्रनिरीक्षणे ।

न पूरके कुम्भके चैव रेचके च तथा पुनः ॥ १२४ ॥

न बिन्दुभेदग्रन्थौ च ललाटे न च चन्द्रमाः ।

प्रवेशे निर्गमे चैव शिखा ऊद्ध्वे न बिन्दुके ॥ १२५ ॥

न करैर्न सरैर्मुद्रैः नाकाशे वायुमण्डले ।

न चापे चन्द्रसूर्ये च भावाभावे समागमे ॥ १२६ ॥

अनौपम्यं निरालम्बं पक्षापक्षविवर्जितम् ।

अज्ञानमलग्रस्तात्मा महामायाविमोहिताः ॥ १२७ ॥

शास्त्रार्थेन विमुढात्मा मोहिता विदुषो जनाः ।

न विदन्ति पदं शान्तं कैवल्यं निष्क्रियं गुरुम् ॥ १२८ ॥

संख्यादयश्च ये केचित् न्यायवैशेषिकास्तथा ।

बौद्धारहन्ताश्च ये केचित् सोमसिद्धान्तदक्षिणाः ॥ १२९ ॥

मीमांसा पञ्चरात्रञ्च वामदक्षिणकौलिकाः ।

इतिहासपुराणानि भूततत्त्वञ्च गारुडम् ॥ १३० ॥

एते चैव समाः सर्वे केचित् वा(ऽपि) क्रियान्विताः ।

विकल्पसिद्धिदाः सर्वे तद्विदुर्न च पण्डिताः ॥ १३१ ॥

विकल्पबहुलाः सर्वे मिथ्यावादनिरर्थकाः ।

न ते मुच्यन्ति संसारे अकुलवीरविवर्जिताः ॥ १३२ ॥

यानि कानि च स्थानानि गिरिर्नगरसागरम् ।

सर्वत्र संस्थितं नित्यं स्थावरे जङ्गमेषु च ॥ १३३ ॥

पञ्चभूतात्मकं सर्वे यत् किञ्चित् सचराचरम् ।

शिवाद्यदेवपर्यन्तं सर्वं तत्रैव संस्थितम् ॥ १३४ ॥

ईदृशं योगिनं दृष्ट्वा उपसर्पन्ति ये नराः ।

गन्धैः पुष्पैश्च धूपैश्च खानपानादिभक्षणैः ॥ १३५ ॥

तर्पयन्ति च ये भक्तास्त्रिविधैश्चैवान्तरात्मना ।

तेऽपि बन्धैः प्रमुच्यन्ति मुक्तिमार्गी न (?) काङ्क्षिणः ॥ १३६ ॥

ब्रह्मेन्द्रविष्णुरुद्रञ्च अरहन्ता बुद्धमेव च ।

विषाख्यो मयूराक्ष (?) ये च ऋषयस्तपोधनाः ॥ १३७ ॥

देवादिभ्यो नरेन्द्राश्च ये चान्ये मोक्षकाङ्क्षिणः ।

ते (सर्वे) मोक्षमिच्छन्ति अकुलवीरन्तु मोक्षदम् ॥ १३८ ॥

अथान्यं संप्रवक्ष्यामि भिन्नावस्थां स्वभावगः ।

पूर्वं यदुक्ता सर्वे अन्वयमार्गे त्वकौलिके (?) ॥ १३९ ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * * ।

* * * * * * * * * * * नात्र संशयः ।

परमामृतसन्तृप्ताः सहजानन्दं च केवलम् ॥ १४० ॥

न जरास्तेषां न मृत्युश्च न शोको दुःखमेव च ।

सर्वव्याधिहरश्चैव न पुनर्भवसंभवः ॥ १४१ ॥

अकुलवीरं स्थितं दिव्यं सिद्धनाथप्रसादतः ।

सर्वतः सर्वदा शुद्धः सर्वतः सर्वदा प्रभुः ॥ १४२ ॥

इति मच्छेन्द्रपादावतारिते कामरूपिस्थाने योगिनी प्रसादाल्लब्ध(म्) अकुलवीरं समाप्तम् ॥

शुद्धस्फटिकसंकाशां शुद्धक्षौमविराजिताम् ।
मुक्तावज्रस्फुरद्भूषां जपमालां कमण्डलुम् ॥ ६६ ॥
पुस्तकं वरदानं च बिभ्रतीं परमेश्वरीम् ।
एवं ध्यात्वा न्यसेत्पश्चाद्विद्यान्यासं सुरेश्वरि ॥ ६७ ॥
कुर्वीत देहसंनाहं त्रिभिर्बीजैः क्रमात्प्रिये ।
करयोर्विन्यसेदादौ मणिबन्धे तले नखे ॥ ६८ ॥
दक्षे वामे च विन्यस्य कक्षकर्पूरपाणिषु ।
पुनर्दक्षे च वामे च पादयोश्च तथा न्यसेत् ॥ ६९ ॥
नादान्ते हृदये लिङ्गे न्यसेद्देवि ततः परम् ।
एतेष्वङ्गेषु देवेशि संहारक्रमतो न्यसेत् ॥ ७० ॥
विद्यां सृष्टिक्रमेणैव जानीहि परमेश्वरि ।
ततो न्यसेन्महादेवि नवयोन्यङ्किताभिधम् ॥ ७१ ॥
कर्णयोश्चुबुके भूयः शङ्खयोर्मुखमण्डले ।
नेत्रयोर्नासिकायां च बाहुयुग्मे हृदि प्रिये ॥ ७२ ॥
तथा कूर्परयोर्नाभौ जान्वोरन्धुनि विन्यसेत् ।
पादयोर्देवि गुह्ये च पार्श्वयोर्हृत्स्तनद्वये ॥ ७३ ॥
कण्ठे च नवयोन्याख्यं न्यसेद्बीजत्रयात्मकम् ।
षडङ्गमाचरेद्देवि द्विरावृत्त्या क्रमेण तु ॥ ७४ ॥
त्रिद्व्येकदशार्कत्रिद्विसंख्यया शैलसंभवे ।
अङ्गुलीनां पुनर्देवि बाणान्कामांश्च विन्यसेत् ॥ ७५ ॥
ललाटगलहृन्नाभिमूलाधारेषु वै क्रमात् ।
मूलेन व्यापकं कृत्वा प्राणायामं समाचरेत् ॥ ७६ ॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे बालान्यासविधिर्नाम
द्वितीयः पटलः ॥ २ ॥

अथ तृतीयः पटलः ।

ईश्वर उवाच—

एवं विन्यस्तदेहः सन्समाहितमनास्ततः ।
अन्तर्यागविधिं कुर्यात्साक्षाद्ब्रह्ममयं प्रिये ॥ १ ॥

---

१ क. °सेद्देवि पश्चा° । २ क. °था सु° । ३ क. तलाग्रके । ४ ख. कद्वित्रिद्वं° । ५ °वं सन्यस्तदे° ।

मूलाधारे मूलविद्यां विद्युत्कोटिसमप्रभाम् ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशां चन्द्रकोटिद्रवां प्रिये ॥ २ ॥
बिसतन्तुस्वरूपां तां बिन्दुत्रिवलयां प्रिये ।
ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन सहजेन वरानने ॥ ३ ॥
मूलशक्तिदृढत्वेन मध्यबीजप्रबोधतः ।
परमानन्दसंदोहसानन्दं चिन्तयेत्पराम् ॥ ४ ॥
इत्यन्तर्यजनं कृत्वा बाह्यपूजां समाचरेत् ।
तत्र प्राङ्मुख आसीनश्चक्रोद्धारं समाचरेत् ॥ ५ ॥
सुस्थले श्रीभवे पट्टे लिखेद्यन्त्रमनुत्तमम् ।
ईशानादग्निपर्यन्तमृजुरेखां समालिखेत् ॥ ६ ॥
ईशादग्नेस्तदग्राभ्यां रेखे आकृष्य देशिकः ।
एकीकृत्य च वारुण्यां शक्तिरेखा परा प्रिये ॥ ७ ॥
त्रिकोणाकाररूपेयं तस्या उपरि संलिखेत् ।
त्रिकोणाकाररूपा तु शक्तिद्वयमुदाहृतम् ॥ ८ ॥
पूर्वशक्त्यग्रभागे तु मानयष्टिवदालिखेत् ।
रेखां तु परमेशानि वायुराक्षसकोणगाम् ॥ ९ ॥
संधिभेदक्रमेणैव तयोः शक्त्योस्ततः परम् ।
रेखे आकृष्य कोणाभ्यां तदग्रात्पूर्वगे कुरु ॥ १० ॥
वह्निमण्डलमेतत्तु पूर्वाग्रं वीरवन्दिते ।
एकेन वह्निना शक्तिद्वयेनैतद्भवेत्प्रिये ॥ ११ ॥
नवयोनिविशोभाढ्यं चक्रराजमिदं प्रिये ।
सर्वसौभाग्यजनकं सर्वैश्वर्यप्रदायकम् ॥ १२ ॥
सर्वसिद्धिप्रदं रोगहरणं धनदायकम् ।
एतद्बाह्ये तु संलेख्यं वृत्तं पूर्णेन्दुसंनिभम् ॥ १३ ॥
तद्बाह्यमष्टपत्रं च ग्रन्थिभिश्चाष्टभिर्युतम् ।
ग्रन्थयः प्रणवाभ्यां च संपुटत्वेन कारयेत् ॥ १४ ॥
ग्रन्थयः कुलिशा ज्ञेयाः प्रणवैरेव सुव्रते ।
त्रिशूलाष्टकमालिख्य चतुरस्रं लिखेत्प्रिये ॥ १५ ॥

---

१ ख. °ध्यशक्तिप्र° । २ ख. °तु । श्रीखण्डसंभवे पट्टे स्थापयेद्यन्त्रमुत्त° । ३ ख. तस्योपरि च सं° । ४ ख. °रूपं तु श° ।

चतुर्द्वारविशोभाढ्यं सर्वानन्दकरं तथा ।
हसौःकारं त्रिकोणान्तः संलिख्य वरवर्णिनि ॥ १६ ॥
कामबीजं मध्यमं यद्दष्टकोणेषु संलिखेत् ।
स्वरान्षोडश देवेशि युग्मयुग्मप्रभेदतः ॥ १७ ॥
दलाष्टकेषु संलिख्य पश्चिमादिप्रदक्षिणम् ।
ग्रन्थिस्थानेषु वर्गाणां कादीनां परमेश्वरि ॥ १८ ॥
विलिखेत्सप्तसंख्यानामाद्यार्णं क्रमतः प्रिये ।
क्षकारमष्टमे योज्यं शेषान्वर्णान्क्रमेण तु ॥ १९ ॥
त्रिशूलाग्रेषु संलिख्य पश्चिमादिक्रमेण तु ।
तद्बाह्ये मातृकावृत्तं विलिख्य परमेश्वरि ॥ २० ॥
चतरस्रे महेशानि मातृकां कामगर्भिताम् ।
विलिख्य पूजयेद्यन्त्रं हेमरौप्यादिपट्टके ॥ २१ ॥
ताम्रे वा दर्पले ताणे काश्मीरप्रभवेऽपि वा ।
चन्दनाद्यन्विते भूमौ कुङ्कुमेनाथ वा पुनः ॥ २२ ॥
सिन्दूररजसा वाऽपि कस्तूरीघुसृणेन्दुभिः ।
भूर्जे गोरोचनाद्रव्यैः कल्पितं मानसेऽथ वा ॥ २३ ॥
सुवर्णरत्नलेखिन्या सर्वकार्यार्थसाधकः ।
विलिख्य यन्त्रं देवेशि पूजाद्रव्यैः प्रपूजयेत ॥ २४ ॥
कुलागमक्रमेणैव ध्यात्वा ब्रह्मविकाशिनीम् ।
मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं बिसतन्तुतनीयसीम् ॥ २५ ॥
*उद्यदादित्यरुचिरां स्मरेदशुभशान्तये ।
भ्रमद्भ्रमरनीलाभधम्मिल्लामलपुष्पिणीम् ॥ २६ ॥
ब्रह्मरन्ध्रस्फुरद्भृङ्गमुक्तारेखाविराजिताम् ।
मुक्तारेखालसद्रत्नतिलकां मुकुटोज्ज्वलाम् ॥ २७ ॥
विशुद्धमुक्तारत्नाढ्यां चन्द्ररेखाकिरीटिनीम् ।
भ्रमद्भ्रमरनीलाभनयनत्रयराजिनीम् ॥ २८ ॥
सूर्यभास्वन्महारत्नकुण्डलालंकृतां पराम् ।
शुक्राकारस्फुरन्मुक्ताहारभूषणभूषिताम् ॥ २९ ॥

---

* इदमर्धं ख. पुस्तके नास्ति ।

---

१ ख. ग्रन्थि स्था° । २ क स्थाने । ३ ख. वा । चारुपीठेऽथ वा भू° । ४ ख. कुङ्कुमागरुचन्दनैः । ५ ख. °धकम् । वि° ।

ग्रैवेयाङ्गदमुक्ताभिः स्फुरत्कान्तिविराजिताम् ।
गङ्गातरङ्गकर्पूरशुभ्राम्बरविराजिताम् ॥ ३० ॥
श्रीखण्डवल्लीसदृशबाहुवल्लीविराजिताम् ।
कङ्कणादिलसद्भूषां मणिबन्धलसत्प्रभाम् ॥ ३१ ॥
प्रवालपल्लवाकारपाणिपल्लवराजिताम् ।
वज्रवैडूर्यमुक्तालिमेखलां विमलप्रभाम् ॥ ३२ ॥
रक्तोत्पलदलाकारपादपल्लवभूषिताम् ।
नक्षत्रमालासंकाशमुक्तामञ्जीरमण्डिताम् ॥ ३३ ॥
वामेन पाणिनैकेन पुस्तकं चापरेण तु ।
अभयं च प्रयच्छन्तीं साधकाय वरानने ॥ ३४ ॥
अक्षमालां च वरदं दक्षपाणिद्वयेन हि ।
दधतीं चिन्तयेद्देवीं वश्यसौभाग्यवाक्प्रदाम् ॥ ३५ ॥
क्षीरकुन्देन्दुधवलां प्रसन्नां संस्मरेत्प्रिये ॥ ३६ ॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे त्रिपुरेश्वरीध्यानं नाम तृतीयः पटलः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थः पटलः ।

श्रीदेव्युवाच—

चक्रमण्डलमाख्यातं न पूजा तत्र मण्डले ।
कथिता परमेशान श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

ईश्वर उवाच—

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि पूजामण्डलमुत्तमम् ।
पीठपूजां विधायाऽऽदौ रविदेवीविराजिताम् ॥ २ ॥
वामा ज्येष्ठा च रौद्री च अम्बिकेच्छा ततः परम् ।
ज्ञाना क्रिया कुब्जिका च ऋद्धिश्चैव विषघ्निका ॥३॥
दूतरी चैव आनन्दा देवि द्वादश शक्तयः ।
मुक्ताफलामलमणिस्फुरच्छत्रं शशिप्रभम् ॥ ४ ॥
गङ्गातरङ्गधवलं चामरद्वयमाद्रिजे ।
नवरत्नस्फुरद्दीप्ति ताम्बूलस्य करण्डकम् ॥ ५ ॥

---

१ ख. °दपत्रालिस्फु° । २ क. °न्तिजितामृता° । ३ ख. °न्धमणिप्र° । ४ ख. °मर-
कत लि° । ५ ख. °शमञ्जुम° । ६ ख. °विवेदवि° ।

अध्याय – चतुर्थ

आचार्य अमृतवाग्भव के अनुसार

सैद्ध योग

1) नादयोग :-

' श्रीसिद्धमहारहस्व्यम् ' में श्रीमदअमृतवाग्भवाचार्य ने जिस योग विशेष का निरूपन किया है, उसको उन्होंने सिद्धों द्वारा अनुसरित होने से ' सैद्धयोग ' संबोधित किया है । जिस नाद योग का विशेषतः उन्होंने उल्लेख किया है, उसको नादयोग के अतिरिक्त ध्वनियोग एवं वर्णयोग भी कहा जाता है । शंकराचार्य ने योगतारावली में इसे 'नादानुसंधानयोग ' कहा है । सिद्ध गोरखनाथ की परम्परा एवं योग ग्रन्थों में भी इसे इसी नाम से स्मर्ण किया गया है । भक्तिकाल के कबीर, गुरूनानक, रविदास, मीरां, तुलसीदास आदि सन्तों ने इसे 'सुरति शब्द' योग नाम से अभिहित किया है । अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में इसके सम्बन्ध में कहा है कि प्राण के उच्चार से एक अव्यक्त ध्वनि का सतत स्फुरण होता है, जिसको 'ध्वनिवर्ण ' कहते है ।[1] इस नादात्मक वर्ण में सभी प्रकार के वर्ण अभिव्यक्त रूप में रहते हैं । चूंकि यह शास्वत् और अकृत्म, अकृत्रम तथा स्वाभाविक रूप वाला है, इसलिए इसे ' अनाहतनाद ' भी कहते हैं ।[2]

---

1) उक्तो य एष उच्चारस्तत योऽसौ स्फुरन् स्थितः ।
अव्यक्तानुकृतिप्रायो ध्वनिर्वर्णः स कथ्यते ।। (तं. आ. 2 - 131)

2) एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णविभागवान् ।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत होदितः ।। (तं. आ., 6/216)

स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है कि इस अनाहदनाद को कोई उच्चारित नहीं करता है और न ही किसी से यह उत्पन्न होता है । सभी प्राणियों के हृदय में यह स्वयं ही स्फुरित होता रहता है ।[1]

नदयोग की विधि :- आचार्य अमृत्वाग्भव जी के अनुसार इस प्राचीन महान् योग के करने से आत्म स्वरूप की अभिव्यक्ति सहज ही हो जाती है । यह नादयोग गुफा आदि एकान्त और निःशब्द स्थान में अपनी दो तर्जनियों के द्वारा अपने दोनों कर्णछिद्रों को बन्द करके किया जाता है ।[2]

'योगप्रदीपिका' में श्रीस्वात्माराम योगी ने 'नादयोग' पर विस्तृत प्रकाश डाला है । उनके अनुसार यह नाद साधन विक्षिप्तचित मूर्खों के लिए भी चित्त को समाहित करने में विशेष उपयोगी है ।[3] बहुत ही सरल साधन होने से सर्व साधारण अभ्यासी भी इसके अभ्यास से मन की एकाग्रता पा सकते हैं । नादयोग की चार अवस्थाएँ मानी जाती हैं –

---

1) नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते ।
स्वयमुच्चरते देवः प्राणिनामुरसि स्थितः ।। (तं. आ. वि. पृ.-149)

2) पिधान कर्णकुहरे तर्जनीभ्यां गुहादिषु ।
नादयोगेन सेवन्ते मुनयः शाकमेव नः ।। (सि. रह. आह. 6/2)

3) अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि सम्मतम् । (यो. प्र. पृ.-65 श्लो. - 65)

आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था और निष्पत्त्यवस्था ।[1]

1) <u>आरम्भावस्था</u> :- इन चारों अवस्थाओं में आरम्भावस्था को प्रथम कहा जाता है । प्राणायाम के अभ्यास से जब 'हृदय देश के समीपस्थ अनाहत चक्र ' में वर्तमान ब्रह्मगन्थि का भेदन हो जाता है । तब वहाँ पर चित्त को स्थित करने से शरीर के भीतर हृदयरूप आकाश से आनन्दप्रद आभूषणों की सी विचित्र ध्वनि सुनाई देती है, जिस के श्रवण से मन स्थित होने लगता है ।[2]

जिस अभ्यासी को हृदय आकाश से आनन्दप्रद ध्वनि श्रवण होने लगती है, वह अभ्यास के दृढ़भूमि होने पर उत्तमदेह, सुन्दरगन्ध तेजस्वी, स्वस्थ योगी हो जाता है । इस अवस्था को आरम्भावस्था करते हैं ।[3]

2) <u>घटावस्ता</u> :- नाद श्रवण के उपरान्त चित्त की एकाग्रता के परिणामस्वरूप द्वितीय स्थिति का नाम घटावस्था है । जब विशेष प्राणायाम एवं नाद श्रवण से अभ्यासी के, प्राणवायु, अपानवाय,

---

1) आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ।
निष्पतिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ।। (यो. प्र. 4/49)

2) ब्रह्मग्रन्थेर्भवेद् भेदोह्यानन्दः शून्यसम्भवः ।
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहत्तः श्रूये ध्वनिः ।। (यो. प्र. 4/7)

3) दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धस्त्वरोगवान् ।
सम्पूर्णहृदयः शून्य आरम्भो योगवान् भवेत ।। (यो. प्र. 4/71)

अभ्यासी के, प्राणवायु, अपानवायु, वीर्य और चित्त समानचेष्टा हो जाते हैं तथा सुषुम्ना मार्ग से प्राणगति होने लगती है वह 'घटावस्था ' होती है । जो अभ्यासी घटावस्था को प्राप्त कर लेता है । वह स्थिर – आसन, विवेकी देवसदृश मेघावी हो जाता है ।[1]

3. परिचयावस्था :- जब प्राणवायु सुषुम्ना मार्ग से भृकुटी में पहुँच जाती है तथा मन भी समाहित हो जाता है । तब सम्प्रज्ञात् समाधि का भृकुटी स्थान में ही परिचय होने लगता है । भृकुटी में प्राण और चित्त के समाहित होने पर जो स्थिति बनती है, वह परिचयावस्था कहलाती है । उस अवस्था में अनेक प्रकार के शब्द श्रवण होते हैं तथा अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होने लगती हैं ।[2]

4. निष्पत्त्यवस्था :- कुछ योगी भृकुटी को ईश्वर का स्थान मानते हैं । जब भृकुटी ध्यान करते हुए प्राणवायु भी वहाँ चली जाती है तब ''रूद्रग्रन्थि '' का भेदन माना जाता है ।

---

1) द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ।
दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ।। (यो. प्र. 4/72)

2) तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायोमर्दलध्वनिः ।
महाशून्य तदायाति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ।। (यो. प्र. 4/74)

जिस अवस्था में प्राणवायु भृकटी से ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में चली जाती है, उस अवस्था को निष्पत्त्यवस्था कहते हैं । निष्पत्त्यवस्था में बॉस की वीणा के तुल्य शब्द होता है ।[1]

इन चारों साधनों के अभ्यास से जब चित्त समाहित हो जाता है, जब पातञ्जल राजयोग के अन्तरङ्ग साधन धारणा, ध्यान और समाधि की योग्यता हो जाती है । समाधि में जब चित्तधर्मों से पृथक् आत्मा को अनुभव कर लिया जाता है, तब चेतना, विशुद्धता और नित्यता गुणों से जीवात्मा स्वस्वरूप को, सृष्टि के पालक और संहारक योगीश्वर परमात्मा के समान ही सजातीय मानने लग जाता है । उस समय बैषयिक संस्कारों का पर्यवसान हो जाता है ।[2] भगवान् गौतम आचार्य के "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम् " इस मनोलक्षण के अनुसार किसी एक पदार्थ में चित्त के लगने पर अन्य पदार्थ की ओर चित्तवृति नहीं जाती है ।"

---

1. रूद्रगन्थिं यदा भित्त्वा शर्वपीठगतोऽनिलः । (यो. प्र. 4/76)
   निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ।।
2. एकीभूतं यदा चित्तं राजयोगाभिधानकम् । (यो. प्र. 4/77)
   सृष्टिसंहारकर्त्तासौ योगीश्वरसमो भवेत् ।।

इससे नादानुरक्त चित्त अन्य विषयों में नहीं जाता ।[1]

नादयोग की उपयोगिता :- श्रीस्वात्माराम योगी 'योगप्रदीपिका' में नादयोग की उपयोगिता पर प्रकार डालते हुए लिखते हैं कि शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पञ्च विषयरूपी उद्यान में स्वच्छन्द विचरण करने वाले चित्तरूपी उन्मत्त हाथी को अपने वश में करने के लिए नादरूपी तीक्ष्ण अंकुश आवश्यक है ।[2] जिस प्रकार से सपेरे की बीन ध्वनि को सुनकर सर्प शीघ्र ही धावन क्रिया का परित्याग करके स्थिर हो जाता है । उसी प्रकार अन्तःकरण चित्तरूपी सर्प (भुजङ्ग) नाद श्रवण द्वारा अन्य रूप स्पर्श, गन्ध, रस इन विषयों की ओर दौड़ना त्याग कर समाहित हो जाता है ।[3]

नाद श्रवण के निरन्तर अभ्यास से निश्चित् ही चित्त और प्राण समाहित हो जाते हैं । चित्त और प्राण के अवस्थित होने पर चित्त में होने वाले काम - क्रोध, लोभ, मोह आदि मानस विकार रूपी पापचक्र क्षीण हो जाता है । तथा आत्मदर्शन की योग्यता आ जाती है । जिस प्रकार से औषधि प्रयोग विशेष द्वारा आबद्ध पारा चाञ्चल्य हीन होकर आकाश में गमनागमन करने योग्य हो जाता है, उसी प्रकार नाद रूप गन्धक भस्म द्वारा विक्षिप्त चित्त समाहित हो कर निराकार सर्वव्यापक परमात्मा में अवस्थित होने योग्य हो जाता है ।[4]

---

1) " नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्नहि काङ्क्षते " ।। (यो. प्र. 4/90)

2) मनो मत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ।
नियन्त्रणे समर्थोऽयं निनादनिशिताङ्कुशः ।। (यो. प्र. 4/91)

3) नादश्रवणतः क्षिप्रमन्तरङ्गम् :
विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति ।। (यो. प्र. 4/97)

4) बद्धं विमुक्तचाञ्चल्यं नाद्रगन्धकजारणात् ।
मनः पारदमाप्नोति निशलम्बाख्यखेऽटनम् ।। (यो. प्र. 4/96)

2. **त्राटक योग** :- आचार्य अमृत्वाग्भव जी के अनुसार त्राटक योग को निर्वात स्थान पर निश्चित्तया चमकती हुई दीपक की ज्योति पर अथवा दीवार पर अङ्कित किए हुए बिन्दु पर दृष्टि जमा कर किया जाता है ऐसा करके योगी महानुभाव अपने आपको शक्तिधन चिद्रूपदा में पहचान लेते हैं ।[1] इस योग में किसी सूक्ष्म पदार्थ को तब तक देखते रहना चाहिए, जब तक ऑखों में ऑसु न आ जाए । अश्रुपात होने पर ही देखना बन्द करना चाहिए ।[2]

त्राटक कर्म के लाभ :- श्रीस्वात्माराम योगी ने योगप्रदीपिका में त्राटक कर्म के लाभ बताते हुए कहा है कि त्राटक करने से नेत्रों के अनेक रोगों का तथा तन्द्रा, आलस्य आदि दोषों का विनाश हो जाता है । इस त्राटक कर्म को अजितेन्द्रिय, सदाचारहीन एवं अधर्मात्मा लोगों से सदा स्वर्ण पेटिका के समान बचाकर रखना चाहिए ।[3]

---

1) दीपज्योतिषि निर्वाते बिन्दौ वा भित्तिलाञ्छिते ।
केचित् त्राटकयोगेन शाक्तं प्रत्यभिजानते ।। (सि. रह. आह. 6/3)

2) निरीक्षेन्निरचलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ।। (यो. प्र. 2/31)

3) मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ।। (यो. प्र 2/32)

3. लययोग :- श्रीमदामृतवाग्भवाचार्य जी के अनुसार लययोग के द्वारा योगी महानुभाव प्रपञ्च को अपने में विलीन करके तथा पुनः स्वयमपि परम्परा से कारण तत्त्वों से उनके भी कारण तत्त्वों में विलीन होकर परमशिव अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होते हैं ।[1] क्योंकि अन्ततोगत्वा सारी की सारी कारण परम्परा का मूल कारण परमेश्वर है, जिसका वास्तविक स्वरूप परिपूर्ण शक्ति ही है। शिवसूत्र में भी ऐसा ही कहा गया है ।[2] राजानक क्षेमराज भी लययोग के सम्बन्ध में ऐसा ह ीमत अभिव्यक्त करते हैं ।[3] विज्ञानभैरभ में इसके लिए भुवनाध्वा एवं कालाध्वा शब्द प्रयुक्त किये गए हैं। भुवनाध्वा के अनुसार साधक को मन के द्वारा समस्त स्थूल प्रपञ्च को सूक्ष्म में और सूक्ष्म को परमकारण में तब तक लय चिन्तन करना चाहिए, जब तक की मन का भी उसमें लय न हो जाए ।[4] कालाध्वा योग के अनुसार साधक को अपने पॉव के दायें अंगुष्ठ से कालाग्निरूद्र का उदय चिन्तन करते हुए क्रमशः सम्पूर्ण शरीर का दहन अनुभव करना होता है, जब तक के अन्त में शानताभास की अनुभूति न हो जाए । इसको दाहभावना भी कहते हैं ।[5]

---

1) आपाद्य पञ्चतां केचित् प्रपञ्चं लययोगतः ।
कारणात् कारणे लीनाः शाकमेवाश्रयन्ति नः ॥ (सि. रह. आह. 6/6)

2) शरीरे संहारः कलानाम् (शि. सू. 3/4)

3) महाभूततात्मकं, पुर्यष्टकरूपं , समनान्तं यत् स्थूलं , सूक्ष्मं, परं
शरीर, यत्रं याः पृथिव्यादिशिवान्ततत्त्वरूपाः कला भागाः
तासां संहारः , स्वकारणे लयभावनया दाहादिचिन्तनयुक्त्या वा ध्यातव्यः (शि.सू.वि. पृ-135)

4) भुवनाध्वादिरूपेण चिन्तयेत्क्रमशोऽखिलम् ।
स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या यावदन्ते मनोलयः ॥ (शि. सू. 3/56)

5) कालाग्निन कालपदादुत्थितेन स्वकं पुरम ।
प्लुष्टं विचिन्तयेदन्ते शान्ताभासः प्रजायते ॥ (वि. भै. श्लो.-52)

4. खेचरी मुद्रा :- शब्दिक रूप से खेचरी का तात्पर्य आकाश में विचरण करने वाली होता है और शरीर के अंगों के विशेष प्रकार के विन्यास को मुद्रा कहते हैं । परन्तु अध्यात्मपरक शास्त्रों में 'ख ' से तात्पर्य चेतना से लिया गया है । अतेव खेचर से तात्पर्य 'शिव ' लिया गया है और इससे सम्बन्धित मुद्रा को खेचरी मुद्रा कहा जाता है । जिसके अनुसरण से शैवी चेतन्यता की अनुभूति अनयास हो जाती है । मुद्रा शब्द शैवागमानुसार अनेक अर्थों का प्रतीक है -

1. मुदम् (हर्षम्) राति (ददाति) अर्थात् जो आनन्द प्रदान करती है ।
2. मुम् (बन्धनम्) द्रावयति निवारयति अर्थात् जो बन्धन को दूर कर देती है ।
3. मुद्रयति इति मुद्रा अर्थात् जो जगत की सृष्टि, स्थिति, संहार को तुर्या में मुद्रित करती है , उसे मुद्रा कहते हैं । अभिवन गुप्त ने तन्त्रालोक में कहा है कि इसको मुद्रा इसलिए कहते हैं क्योंकि यह शरीर की सभी जाग्रत् आदि अवस्थाओं में आत्मस्वरूप को अनुभव करने के योग्य बनाती है । [1]खेचरी मुद्रा को व्योमचक्र भी कहते हैं ।

---

1) मुदं स्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मना ।
रात्यर्पयति यत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता ।। (तं. आ. आह. - 32)

भगवान शिव सिद्धवसुगुप्त को उपदेश देते हुए बतलाते हैं कि शुद्धविद्या के उदय होने पर स्वाभाविक खेचरी शिव अवस्था की प्राप्ति हो जाती है ।[1] कुलचूड़ामणि में कहा गया है कि परमसत्ता का एक ही सृष्टिमय बीज और मुद्राओं में एक ही खेचरी मुद्रा है इन दोनों की जिनको अनुभूति हो जाती है, तो वह अतिशान्त पद को प्राप्त हो जाता है ।[2] स्पन्दशास्त्र में मन्त्रवीर्य के स्वरूप को निरूपित करते हुए मुद्रावीर्य को संग्रहित किया गया है , जिसमें बताया गया है कि जब क्षोभ नष्ट (प्रलीन) हो जाता है, तब परमपद की प्राप्ति हो जाती है ।[3]

खेचरी मुद्रा की विधि :- श्रीमदअमृतवाग्भवाचार्य के अनुसार इस अद्वितीय मुद्रा को करने के लिए ऊपर की ओर सञ्चार करने वाली अपनी जिहा से अपने मस्तिष्क की ओर जाने वाले छिद्र को भरकर चन्द्रमण्डल से टपकने वाले अमृत का पान किया जाता है ।[4]

---

1) ' विद्यासमुत्थाने स्वाभाविके खेचरी शिवावस्था ' (शि. सू. 2/5)

2) त्रयुक्तं कुलचुड़ामणो –
एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
द्वावेतो यस्य जायेते सोऽतिशान्तपदे स्थित : ।। (शि. सू. पृ.– 99)

3) यदा क्षोमः प्रतीयेत तदा स्यात्परमं परम् ।
इत्यर्धेन अन्यपरेणापि चूड़ामण्युक्तं खेचरीस्वरूपं भङ्गया सूचितम् ।। (स्. का. 1/9)

4) केचित् कपालक कुहरं खेचर्यापूर्य जिह्वया ।
सोमपीयूषपानेन यजन्ते शाकमेव नः ।। (सि. रह. आह. 6/5)

खेचरी मुद्रा के लाभ :-

खेचरी मुद्रा को करते हुए जो योगी जिह्वा को लौटाकर कपाल के मध्य छिद्र में लगाकर अर्धक्षण भी स्थित रहता है, वह सर्प वृश्चिक आदि के विषों से तथा शीघ्र जरा और मृत्यु के आक्रमण से सुरक्षित रहता है । [1] खेचरी मुद्रा का अभ्यास करनेवाले योगी को रोग, मृत्यु, निद्रा, आलस्य, भूख, प्यास, मुर्च्छा शीघ्र नहीं सताते हैं । अर्थात् इसके अभ्यास से तितिक्षा बढ़ती है । रोगों के आक्रमण से मुक्त होकर कर्मबन्धन का क्षय तथा दीर्घायुष्य लाभ होता है । [2] जो योगी इस खेचरी मुद्रा से अपने वीर्य की सुरक्षा करके अपने शरीर को पुष्ट बना लेता है, वह सर्पादि विषैले जन्तुओं के काटने पर भी विषाक्रान्त नहीं होता है ।[3] जिस प्रकार से अग्नि काष्ठों को तथा दीपक तेल और बत्ती को नहीं त्यागते, ठीक उसी प्रकार से ब्रह्मचर्ययुक्त शरीर को आत्मा नहीं त्यागती ।[4] अथर्ववेद में भी कहा गया है कि ब्रह्मचर्य तप से ही देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की है ।[5]

---

1) रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ।। (यो. प्र. 3/38)

2) न रोगो मरणं तन्द्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।। (यो. प्र. - 3/45)

3) नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ।। (यो. प्र. - 3/45)

4) इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्ति च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ।। (यो.प्र. 3/46)

5) ''ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ''। (अथर्व 11/5/19)

खेचरी मुद्रा में जिह्वा को तालुभाग में लगाने पर तथा मन को भृकुटी में स्थिर करने पर प्राणवायु सुषुम्ना मार्ग से चलकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर होने लगती है । वायु सुषुम्ना मार्ग से बहने पर वीर्य भी मस्तिक की ओर गति करने लगता है । इस स्थिति में ऊपर मस्तिक में स्थित चन्द्रवत् शीतल वार्य के प्रभाव से जो ब्रह्म को प्राप्त करने में आनन्द प्राप्त होगा, उस आनन्द को अमरवारूणी आनन्द कहेंगे । [1] जब कपालछिद्र जिह्वा द्वारा, लवण, कटु, अम्ल, दुग्ध, मधु, धृत के तुल्य रसों का आस्वादन होने लगता है, तब अनेक रोगों का क्षय, वृद्धत्व नाश, शास्त्र प्रहारकाल में रक्षा, अणिमा आदि अष्ट ऐश्वर्य लाभ तथा सिद्धों का साक्षात्कार इत्यादि लाभ होने लगते हैं ।[2] जिस प्रकार से सृष्टिरूपी कार्य का कारण मूल प्रकृति, तथा देवों में परमात्मा देव है एवं प्रत्याहारात्मक अवस्ताओं में मनोन्मनी अवस्था श्रेष्ठ है उसी प्रकार सम्पूर्ण मुद्राओं में खेचरी मुद्रा उत्तम है ।[3]

---

1) जिह्वाप्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात् यः सारः स स्यादमरवारूणो ।। (यो. प्र. 3/49)

2) चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पन्दिनी,
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं,
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ।। (यो. प्र. 3/50)

3) एकं सृष्मियं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ।। (यो. प्र. 3/54)

5. बज्रोली मुद्रा :- श्रीमद् अमृतवाग्भव आचार्य जी ने श्रीसिद्धमहारहस्यम् में बज्रोली क्रिया पर अधिक प्रकाश नहीं डाला है । उनके अनुसार कोई विरले ही साधक स्त्री के साथ मिथुन बनकर बज्रोली क्रिया के अभ्यास के द्वारा अपने शरीर को वज्रसार जैसा सुदृढ़ बनाकर ' सकने ' (परमशिव) का भजन करते हैं ।[1] अतः बज्रोली क्रिया का मूल प्रयोजन अपनी शक्तिघनता का साक्षात्कार करना ही है ।

योगप्रदीपिका में श्रीस्वात्माराम योगी ने बज्रोली क्रिया के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि योग और भोग ये दोनों शब्द सर्वथा परस्पर विरोधार्थक हैं । ''ब्रह्मचर्य की रक्षा योग की सिद्धि के बिना तीनों कालों में असम्भव है '' पतञ्जलि आदि महर्षियों ने जो योग में यम और नियम को योग की आधार शिला माना है तथा वही मार्ग श्रेयस्कर है । श्रीस्वात्माराम योगी के अनुसार वीर्य की सुरक्षा से जीवन तथा वीर्य के विनाश से मृत्यु होती है, अतः योगी को मृत्युञ्जय

---

1) योषिता मिथुनीभूता विरलाः साधकाः पुनः ।
वज्रोल्या वज्रसाराङ्गा भजन्ते शाकमेव नः ।। (सि. रह. आह. 6/7)

के उत्कृष्ट साधन वीर्य की सुरक्षा करनी चाहिए । [1] वीर्य सुरक्षा से योगी का शरीर सुगन्धमय हो जाता है । जब तक ब्रह्मचर्य के सुपरिपालन से शरीर में वीर्य सुरक्षित रहता है, तब तक असामयिक मृत्यु नहीं होती है तथा दीर्घायुष्य प्राप्त होता है । [2] अतः योगाभ्यासी को महान् प्रयत्न से मन तथा वीर्य की सुरक्षा करनी चाहिये । क्योंकि मनुष्यों के चित्त की पवित्रता से वीर्य रक्षा तथा वीर्य की रक्षा से चित्त स्वच्छ बनता है । [3]

---

1) एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ।। (यो. प्र. 3/88)

2) सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद् बिन्दुः स्थिरो देहे तावत् कालभयं कुतः ।। (यो. प्र. 3/89)

3) चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् । (यो. प्र. 3/90)

5. षण्मुखी मुद्रा :- आचार्य के अनुसार योग की इस मुद्रा को पद्मासन लगाकर तथा प्राणों को रोककर किया जाता है ।[1] अर्थात् दोनों हाथों के अंगुठों कनिष्टिकाओं ओर अनामिकाओं के द्वारा क्रम से कर्णछिद्रों को और नेत्रों को दबाए रखते हुए शेष दो – दो अंगुलियों को माथे पर जमाकर रखकर षण्मुखी मुद्रा की जाती है ।

सैद्धदर्शन में माया दशा को भव, विद्या दशा को अभव और शक्ति दशा को अतिभव कहा जाता है । साधक द्वारा अपने आप का परम – आनन्दमय चमत्कारात्मक विमर्शन ही उसका अभिनन्दन होता है । इस प्रकार साधक में कृतकृत्यता रूपीं अपूर्व सन्तोष अभिष्यक्त होता रहता है । अतः साधक पद्मासन में ठहरकर, शरीर के सभी अंगों को समभाव में सीधे ठहराकर, एक दूसरे के ऊपर रखे हुए दोनों हाथों को (हथेलिया ऊपर किए हुए) गोद में ठहराकर [2] निर्वात स्थान पर जलते हुए दीपज्योति की तरह निश्चल बैठा हुआ, इच्छा, ज्ञान और क्रिया, इन सभी का न ही उपादान और न ही परित्याग करता हुआ तथा स्थिर एवं निश्चल ठहरा हुआ नित्य आत्मरूप परमशिव का लगातार साक्षातकार करता है ।[3]

---

1) पद्मासनमधिष्ठाय मुद्रामालम्ब्य षण्मुखीम् ।
केचित् प्राणनिरोधेन भजन्ते शाकमेव नः ।। (सि. रह. आह. 5/4)

2) पद्मासनमधिष्ठाय समसर्वाङ्गविग्रहम् ।
परस्परोपरिधृतो करौ कृत्वाङ्गावुभौ ।। (सि. रह. आह. 6/21)

3) निवातदीपवत्तिष्ठन् क्रियाज्ञानैषणाः समाः ।
अमृह णन्नत्यजन् नित्यं स्वात्मानं शम्भुमीक्षते ।। (सि. रह. आह. 6/22)

क्योंकि असीम सामर्थ्य युक्त और असीम परमशिव रूपी सकना ही माया दशा और विद्यादशा में अपने ही प्रकाश से शक्ति दशा का विमर्शन करके साधकों को आनन्दित करता है ।[1]

इस प्रकार जब इच्छा, ज्ञान और क्रिया तीनों ही शान्त हो जाती है और अन्तःकरण निश्चल ठहरे रहते हैं तो सारे संकल्प – विकल्पों के शान्त हो जाने पर आत्मदेव अपने ही चित्प्रकाश से स्वयमेव चमकता हुआ अपने आप का अपने आप ही साक्षात्कार करता रहता है । इस अवस्था में किसी उपाय के अभ्यास को किए बिना ही स्वयमेव आत्मसाक्षात्कार हो जाता है ।

निष्कर्षतः आचार्य के अनुसार सैद्ध ही सभी योगों में अत्कृष्ट योग तथा सभी राजयोगों में महाराजाधिराज योग है । इस प्रकार सैद्ध योग ही स्वात्मरूप ' सकने ' की प्रत्यभिज्ञा को प्राप्त कराने में महाशक्ति स्वरूप है । इस योग के अभ्यास से साधक अवश्य ही समस्त दिव्य शक्तियों के एकधन स्वरूप अपने वास्तविक आप (स्वरूप) को पहचान कर पूरी तरह से कृतकृत्य हो जाता है ।[2]

---

1) भवाभवे चातिभवं विमृश्य स्वप्रकाशतः ।
स्वात्मानमभिनन्दामि महाशाको महाबलः ।। (सि. रह. आह. 6/20)

2) महाराजाधिराजोऽयं योगानामुत्तमोत्तम : ।
स्वशाकप्रत्यभिज्ञाने महाशाको न संशयः ।। (सि. रह. आह. 6/33)

कैलाशशिखरासीनं देवदेवं जगद्गुरुम्।
पृच्छति स्म महादेवी ब्रूहि ज्ञानं महेश्वर ॥ १ ॥

देवी उवाच

कुतः सृष्टिर्भवेद् देव कथं सृष्टिर्विनश्यति।
ब्रह्मज्ञानं कथं देव सृष्टिसंहारवर्जितम्॥ २ ॥

ईश्वर उवाच

अव्यक्ताच्च भवेत् सृष्टिरव्यक्ताच्च विनश्यति।
अव्यक्तं ब्रह्मणो ज्ञानं सृष्टिसंहार वर्जितम्॥ ३ ॥
ओङ्कारादक्षरात् सर्वास्त्वेता विद्याश्चतुर्दश।
मन्त्र - पूजा - तपो - ध्यानं कर्माकर्म तथैव च ॥ ४ ॥
षडङ्गं वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रपुराणानि एता विद्याश्चतुर्दश ॥ ५ ॥
तावद् विद्या भवेत् सर्वा यावद् ज्ञानं न जायते।
ब्रह्मज्ञानं पदं ज्ञात्वा सर्वविद्या स्थिरा भवेत्॥ ६ ॥
वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।

या पुनः शाम्भवी विद्या गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ७ ॥

देहस्थाः सर्वविद्याश्च देहस्थाः सर्वदेवताः ।

देहस्थाः सर्वतीर्थानि गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ८ ॥

अध्यात्मविद्या हि नृणां सौख्यमोक्षकरी भवेत् ।

धर्मं कर्म तथा जप्यमेतत् सर्वं निवर्तते ॥ ९ ॥

काष्ठमध्ये यथा वह्निः पुष्पे गन्धः पयोऽमृतम् ।

देहमध्ये तथा देवः पुण्यपापविवर्जितः ॥ १० ॥

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।

इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती ॥ ११ ॥

त्रिवेणीसंगमो यत्र तीर्थराजः स उच्यते ।

तत्र स्नानं प्रकुर्वीत सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १२ ॥

देवी उवाच

कीदृशी खेचरी मुद्रा विद्या च शाम्भवी पुनः ।

कीदृश्यध्यात्मविद्या च तन्मे ब्रूहि महेश्वर ॥ १३ ॥

ईश्वर उवाच

मनः स्थिरं यस्य विनावलम्बनं

वायुः स्थिरो यस्य विना निरोधनम्।

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनावलोकनं

सा एव मुद्रा विचरन्ती खेचरी॥ १४॥

बालस्य मूर्खस्य यथैव चेतः

स्वप्नेन हीनोऽपि करोति निद्राम्।

ततो गतः पथो निरावलम्बः

सा एव विद्या विचरन्ती शाम्भवी॥ १५॥

देवी उवाच

देवदेव जगन्नाथ ब्रूहि मे परमेश्वर।

दर्शनानि कथं देव भवन्ति च पृथक् पृथक्॥ १६॥

ईश्वर उवाच

त्रिदण्डी च भवेद् भक्तो वेदाभ्यासरतः सदा।

प्रकृतिवादरताः शाक्ता बौद्धा शून्यातिवादिनः॥ १७॥

अतोर्ध्वं गामिनो ये वा तत्त्वज्ञा अपि तादृशाः।

सर्वं नास्तीति चार्वाका जल्पन्ति विषयाश्रिताः॥ १८॥

उमा पृच्छति हे देव पिण्डब्रह्माण्डलक्षणम्।

पञ्चभूतं कथं देव गुणाः के पञ्चविंशतिः ॥ १९ ॥

ईश्वर उवाच

अस्थि मांसं नखं चैव त्वङ्लोमानि च पञ्चमम् ।
पृथ्वी पञ्चगुणा प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते ॥ २० ॥
शुक्रशोणितमज्जा च मलं मूत्रं च पञ्चमम् ।
अपां पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते ॥ २१ ॥
निद्रा क्षुधा तृषा चैव क्लान्तिरालस्यपञ्चमम् ।
तेजः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते ॥ २२ ॥
धारणं चालनं क्षेपं संकोचं प्रसरं तथा ।
वायोः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते ॥ २३ ॥
कामं क्रोधं तथा मोहं लज्जा लोभञ्च पञ्चमम् ।
नभः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते ॥ २४ ॥
आकाशाज्जायते वायुर्वायोरुत्पद्यते रविः ।
रवेरुत्पद्यते तोयं तोयादुत्पद्यते मही ॥ २५ ॥
मही विलीयते तोये तोयं विलीयते रवौ ।
रविर्विलीयते वायौ वायुर्विलीयते तु खे ॥ २६ ॥
पञ्चतत्त्वाद् भवेत् सृष्टिस्तत्त्वात् तत्त्वं वीलीयते ।
पञ्चतत्त्वात् परं तत्त्वं तत्त्वातीतं निरञ्जनम् ॥ २७ ॥

स्पर्शनं रसनं चैव घ्राणं चक्षुश्च श्रोत्रकम्।

पञ्चेन्द्रियमिदं तत्त्वं मनः साधकमिन्द्रियम्॥ २८॥

ब्रह्माण्डलक्षणं सर्वं देहमध्ये व्यवस्थितम्।

साकाराश्च विनश्यन्ति निराकारो न नश्यति॥ २९॥

निराकारं मनो यस्य निराकारसमो भवेत्।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साकारं तु परित्यजेत्॥ ३०॥

देवी उवाच

आदिनाथ मयि ब्रूहि सप्तधातुः कथं भवेत्।

आत्मा चैवान्तरात्मा च परमात्मा कथं भवेत्॥ ३१॥

ईश्वर उवाच

शुक्रशोणितमज्जा च मेदो मांसं च पञ्चमम्।

अस्ति त्वक् चैव सप्तैते शरीरेषु व्यवस्थिताः॥ ३२॥

शरीरं चैवमात्मानमन्तरात्मा मनो भवेत्।

परमात्मा भवेच्छून्यं मनो यत्र विलीयते॥ ३३॥

रक्तधातुर्भवेन्माता शुक्रधातुर्भवेत् पिता।

शून्यधातुर्भवेत् प्राणो गर्भपिण्डं प्रजायते॥ ३४॥

देवी उवाच

कथमुत्पद्यते वाचा कथं वाचा विलीयते ।
वाक्यस्य निर्णयं ब्रूहि पश्य ज्ञानमुदाहर ॥ ३५ ॥

ईश्वर उवाच

अव्यक्ताज्जायते प्राणः प्राणादुत्पद्यते मनः ।
मनसोत्पद्यते वाचा मनो वाचा विलीयते ॥ ३६ ॥

देवी उवाच

कस्मिन् स्थाने वसेत् सूर्यः कस्मिन् स्थाने वसेच्छशी ।
कस्मिन् स्थाने वसेद् वायुः कस्मिन् स्थाने वसेन्मनः ॥ ३७ ॥

ईश्वर उवाच

तालुमूले स्थितश्चन्द्रो नाभिमूले दिवाकरः ।
सूर्याग्रे वसते वायुश्चन्द्राग्रे वसते मनः ॥ ३८ ॥

सूर्याग्रे वसते चित्तं चन्द्राग्रे जीवितं प्रिये।
एतद्युक्तं महादेवि गुरुवाक्येन लभ्यते॥ ३९॥

देवी उवाच

कस्मिन् स्थाने वसेच्छक्तिः कस्मिन् स्थाने वसेच्छिवः।
कस्मिन् स्थाने वसेत् कालो जरा केन प्रजायते॥ ४०॥

ईश्वर उवाच

पाताले वसते शक्तिर्ब्रह्माण्डे वसते शिवः।
अन्तरिक्षे वसेत् कालो जरा तेन प्रजायते॥ ४१॥

देवी उवाच

आहारं काङ्क्षते कोऽसौ भुञ्जते पिबते कथम्।
जाग्रत् स्वप्नसुषुप्तौ च को वाऽसौ प्रतिबुध्यति॥ ४२॥

ईश्वर उवाच

आहारं काङ्क्षते प्राणो भुञ्जतेऽपि हुताशनः।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तौ च वायुश्च प्रतिबुध्यति॥ ४३॥

देवी उवाच

को वा करोति कर्माणि को वा लप्येत पातकैः।
को वा करोति पापानि को वा पापैः प्रमुच्यते॥ ४४॥

शिव उवाच

मनः करोति पापानि मनो लिप्येत पातकैः।
मनश्च तन्मना भूत्वा न पुण्यैर्न च पातकैः॥ ४५॥

देवी उवाच

जीवः केन प्रकारेण शिवो भवति कस्य च।
कार्यस्य कारणं ब्रूहि कथं किञ्च प्रसादनम्॥ ४६॥

शिव उवाच

भ्रान्तिबद्धो भवेज्जीवो भ्रान्तिमुक्तः सदाशिवः।

कार्यं हि कारणं त्वञ्च पुनर्बोधो विशिष्यते॥ ४७॥

मनोऽन्यत्र शिवोऽन्यत्र शक्तिरन्यत्र मारुतः।

इदं तीर्थमिदं तीर्थं भ्रमन्ति तामसा जनाः॥ ४८॥

आत्मतीर्थं न जानाति कथं मोक्षो वरानने॥

न वेदं वेदमित्याहुर्वेदो ब्रह्म सनातनम्।

ब्रह्मविद्यारतो यस्तु स विप्रो वेदपारगः॥ ४९॥

मथित्वा चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि चैव हि।

सारं तु योगिभिः पीतं तक्रं पिबन्ति पण्डिताः॥ ५०॥

उच्छीष्टं सर्वशास्त्राणि सर्वा विद्या मुखे मुखे।

नोच्छिष्टं ब्रह्मणो ज्ञानमव्यक्तं चेतनामयम्॥ ५१॥

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्।

ऊर्ध्वरेता भवेद् यस्तु स देवो न तु मानुषः॥ ५२॥

न ध्यानं ध्यानमित्याहुर्ध्यानं शून्यगतं मनः।

तस्य ध्यानप्रसादेन सौख्यं मोक्षं न संशयः॥ ५३॥

न होमं होममित्याहुः समाधौ तत्तु भूयते।

ब्रह्माग्नौ हूयते प्राणं होमकर्म तदुच्यते॥ ५४॥

पापकर्म भवेद् भव्यं पुण्यं चैव प्रवर्तते।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन ताद्रूप्यं च त्यजेद् बुधः॥ ५५॥

यावद् वर्णं कुलं सर्वं तावज्ज्ञानं न जायते।

ब्रह्मज्ञानपदं ज्ञात्वा सर्ववर्णविवर्जितः ॥ ५६ ॥

देवी उवाच

यत्त्वया कथितं ज्ञानं नाहं जानामि शङ्कर ।
निश्चयं ब्रूहि देवेश मनो यत्र विलीयते ॥ ५७ ॥

शंकर उवाच

मनो वाक्यं तथा कर्म तृतीयं यत्र लीयते ।
विना स्वप्नं यथा निद्रा ब्रह्मज्ञानं तदुच्यते ॥ ५९ ॥
एकाकी निस्पृहः शान्तश्चिन्ताविवर्जितः ।
बालभावस्तथा भावो ब्रह्मज्ञानं तदुच्यते ॥ ६० ॥

श्लोकार्धं तु प्रवक्ष्यामि यदुक्तं तत्त्वदर्शिभिः ।
सर्वचिन्तापरित्यागो निश्चिन्तो योग उच्यते ॥ ६१ ॥
निमिषं निमिषार्द्धं वा समाधिमधिगच्छति ।
शतजन्मार्जितं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥ ६२ ॥

देवी उवाच

कस्य नाम भवेच्छक्तिः कस्य नाम भवेच्छिवः।

एतन्मे ब्रूहि भो देव पश्चाज्ज्ञानं प्रकाशय॥ ६३॥

ईश्वर उवाच

चलच्चित्ते वसेच्छक्तिः स्थिरचित्ते वसेच्छिवः।

स्थिरचित्तो भवेद्देवि स देहस्थोऽपि सिध्यति॥ ६४॥

देवी उवाच

कस्मिन् स्थाने त्रिधा शक्तिः षट्चक्रं च तथैव च।

एकविंशतिब्रह्माण्डं सप्तपातालमेव च॥ ६५॥

ईश्वर उवाच

ऊर्ध्वशक्तिर्भवेत् कण्ठः अधशक्तिर्भवेत् गुदः।

मध्यशक्तिर्भवेन्नाभिः शक्त्यतीतं निरञ्जनम्॥ ६६॥

आधारं गुह्यचक्रं तु स्वाधिष्ठानं च लिङ्गकम्।

चक्रभेदं मयाख्यातं चक्रातीतं नमो नमः॥ ६७॥

कायोर्ध्वं च ब्रह्मलोकः स्वाधः पातालमेव च।
ऊर्ध्वमूलमधःशाखं वृक्षाकारं कलेवरम्॥ ६८॥

देवी उवाच

शिव शंकर ईशान ब्रूहि मे परमेश्वर।
दशवायुः कथं देव दशद्वाराणि चैव हि॥ ६९॥

ईश्वर उवाच

हृदि प्राणः स्थितो वायुरपानो गुदसंस्थितः।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमाश्रितः॥ ७०॥
व्यानः सर्वगतो देहे सर्वागात्रेषु संस्थितः।
नाग ऊर्ध्वगतो वायुः कूर्मस्तीर्थानि संस्थितः॥ ७१॥
कृकरः क्षोभिते चैव देवदत्तोऽपि जृम्भणे।
धनञ्जयो नादघोषे निविशेच्चैव शाम्यति॥ ७२॥
एष वायुर्निरालम्बो योगिनां योगसम्मतः।
नवद्वारं च प्रात्यक्षं दशमं मन उच्यते॥ ७३॥

देवी उवाच

नाडीभेदं च मे ब्रूहि सर्वगात्रेषु संस्थितम्।
शक्तिः कुण्डलिनी चैव प्रसूता दशनाडिका॥ ७४॥

ईश्वर उवाच

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना चोर्ध्वगामिनी।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च प्रसवा गमनायता॥ ७५॥
अलम्बुसा यशा चैव दक्षिणाङ्गे च संस्थिताः।
कुलश्च शङ्खिनी चैव वामाङ्गे च व्यवस्थिताः॥ ७६॥
एतासु दशनाडीषु नानानाडीप्रसूतिका।
द्विसप्ततिसहस्राणि शरीरे नाडिकाः स्मृताः॥ ७७॥
एता यो विन्दते योगी स योगी योगलक्षणः।
ज्ञाननाडी भवेद्देवी योगिनां सिद्धिदायिनी॥ ७८॥

देवी उवाच

भूतनाथ महादेव ब्रूहि मे परमेश्वर।
त्रयो देवा कथं देव त्रयो भावास्त्रयो गुणाः॥ ७९॥

ईश्वर उवाच

रजोभावस्थितो ब्रह्मा सत्त्वभावस्थितो हरिः।

क्रोधभावस्थितो रुद्रस्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः॥ ८० ॥

एकमूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।

नानाभावं मनो यस्य तस्य मुक्तिर्न जायते॥ ८१ ॥

वीर्यरूपी भवेद् ब्रह्मा वायुरूपः स्थितो हरिः।

मनोरूपः स्थितो रुद्रस्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः॥ ८२ ॥

दयाभावस्थितो ब्रह्मा शुद्धभावस्थितो हरिः।

अग्निभावस्थितो रुद्रस्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः॥ ८३ ॥

एकं भूतं परं ब्रह्म जगत् सर्वं चराचरम्।

नानाभावं मनो यस्य तस्य मुक्तिर्न जायते॥ ८४ ॥

अहं सृष्टिरहं कालोऽप्यहं ब्रह्माऽप्यहं हरिः।

अहं रुद्रोऽप्यहं शून्यमहं व्यापी निरञ्जनम्॥ ८५ ॥

अहं सर्वात्मको देवि निष्कामो गगनोपमः।

स्वभावनिर्मलं स्वान्तं स एवाहं न संशयः॥ ८६ ॥

जितेन्द्रियो भवेच्छूरो ब्रह्मचारी सुपण्डितः।

सत्यवादी भवेद् भक्तो दाता धीरो हितेरतः॥ ८७ ॥

ब्रह्मचर्यं तपोमूलं धर्ममूला दया स्मृता।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन दयाधर्मं समाश्रयेत्॥ ८८ ॥

देवी उवाच

योगेश्वर जगन्नाथ उमायाः प्राणवल्लभ ।
वेदसन्ध्या तपो ध्यानं होमकर्म कुलं कथम् ॥ ८९ ॥

ईश्वर उवाच

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ।
ब्रह्मज्ञानसमं पुण्यं कलां नार्हंति षोडशीम् ॥ ९० ॥
सर्वदा सर्वतीर्थेषु यत् फलं लभते शुचिः ।
ब्रह्मज्ञानसमं पुण्यं कलां नार्हंति षोडशीम् ॥ ९१ ॥
न मित्रं न च पुत्राश्च न पिता न च बान्धवाः ।
न स्वामी च गुरोस्तुल्यं यद्दृष्टं परमं पदम् ॥ ९२ ॥
न च विद्यागुरोस्तुल्यं न तीर्थं न च देवताः ।
गुरोस्तुल्यं न वै कोऽपि यद्दृष्टं परमं पदम् ॥ ९३ ॥
एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत् ।
पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्त्वा चानृणी भवेत् ॥ ९४ ॥
यस्य कस्य न दातव्यं ब्रह्मज्ञानं सुगोपितम् ।
यस्य कस्यापि भक्तस्य सद्गुरुस्तस्य दीयते ॥ ९५ ॥

मन्त्रं पूजां तपो ध्यानं होमं जप्यं बलिक्रियाम् ।
संन्यासं सर्वकर्माणि लौकिकानि त्यजेद् बुधः ॥ ९६ ॥
संसर्गाद् बहवो दोषा निःसङ्गाद् बहवो गुणाः ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन यतिः सङ्गं परित्यजेत् ॥ ९७ ॥
अकारः सात्त्विको ज्ञेय उकारो राजसः स्मृतः ।
मकारस्तामसः प्रोक्तस्त्रिभिः प्रकृतिरुच्यते ॥ ९८ ॥
अक्षरा प्रकृतिः प्रोक्ता रक्षरः स्वयमीश्वरः ।
ईश्वरान्निर्गता सा हि प्रकृतिर्गुणबन्धना ॥ ९९ ॥
सा माया पालिनी शक्तिः सृष्टिसंहारकारिणी ।
अविद्या मोहिनी या सा शब्दरूपा यशस्विनी ॥ १०० ॥
अकारश्चैव ऋग्वेद उकारो यजुरुच्यते ।
मकारः सामवेदस्तु त्रिषु युक्तोऽप्यथर्वणः ॥ १०१ ॥
ओङ्कारस्तु प्लुतो ज्ञेयस्त्रिनाद इति संज्ञितः ।
अकारस्त्वथ भूर्लोक उकारो भुव उच्यते ॥ १०२ ॥
सव्यञ्जनो मकारस्तु स्वर्लोकस्तु विधीयते ।
अक्षरैस्त्रिभिरेतैश्च भवेदात्मा व्यवस्थितः ॥ १०३ ॥
अकारः पृथिवी ज्ञेया पीतवर्णेन संयुतः ।
अन्तरीक्षं उकारस्तु विद्युद्वर्ण इहोच्यते ॥ १०४ ॥
मकारः स्वरिति ज्ञेयः शुक्लवर्णेन संयुतः ।
ध्रुवमेकाक्षरं ब्रह्म ॐ इत्येवं व्यवस्थितम् ॥ १०५ ॥

स्थिरासनो भवेन्नित्यं चिन्तानिद्राविवर्जितः ।
आसु स जायते योगी नान्यथा शिवभाषितम् ॥ १०६ ॥
य इदं पठते नित्यं शृणोति च दिने दिने ।
सर्वपापविशुद्धात्मा शिवलोकं स गच्छति ॥ १०७ ॥

देवी उवाच

स्थूलस्य लक्षणं ब्रूहि कथं मनो विलीयते ।
परमार्थं च निर्वाणं स्थूलसूक्ष्मस्य लक्षणम् ॥ १०८ ॥

शिव उवाच

येन ज्ञानेन हे देवि विद्यते न च किल्बिषी ।
पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ।
स्थूलरूपी स्थितोऽयं च सूक्ष्मश्च अन्यथा स्थितः ॥ १०९ ॥

इति ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रं समाप्तम् ॥

श्रीः

योगप्रकरणम् सर्वज्ञानोत्तरवृत्तिः

अतः परं प्रवक्ष्यामि योगं

योगस्यारब्दकार्याक्षिप्तमलादिक्षपणोपायत्वात्पदार्थसंबन्धः

पतिपदार्थतया पाटलिकः संबन्धः। * द्विहेतुत्वात् शुचिशब्देन

सूचितः प्रकरणसंबन्धो योगकाण्डतया सूत्रसंबन्धः

समुच्चयपदेनैव वाक्यात्मकोऽपि योगि योगात्मकान् गुणानि *

भिर्वाक्यैः। अतश्चर्याकाण्डादनन्तरं योगं संक्षेपतः

प्रकर्षाद्वक्ष्यामि। कस्यायं योगसंस्कार अत-आह-

एकाकिनस्तु शान्तस्य यतचित्तस्य विरागिणः निस्पृहस्य।

उक्ताहारविहारस्य उक्तचेष्टस्य कर्मसु। उक्तस्वप्नोवबोधस्य तत्त्वतः

शृणु षण्मुख। पुरुषस्यैवायं संस्कारको न * * तं

जलानामिवचित्तस्येत्यर्थः। शिवयोगस्य सर्वज्ञत्वादि प्रकाशकात्।

कीदृशस्य एकाकिनः सर्वसङ्गपरित्यागादपरिग्रहस्य

संन्यासाश्रमः शान्तस्य हिंसादिरहितस्य

यमनियमयुक्तस्येत्यर्थः। चित्तसंयमो हि यमो

नियमश्चेंद्रियसंयमः। यदाह पतञ्जलिः -

अहिंसां सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहः यमाः।

शौचसंतोषस्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमा इति॥

अत एव यतचित्तस्य प्राणायामप्रत्याहाराभ्यां वशीकृत * * *

पलक्षितसर्वज्ञः यस्य शक्तिपादवशात् विरागिणः

p. 2) संसारवैराग्ययुक्तस्य निस्पृहस्य वैहिका भोगविमुखस्य

युक्ताहारविहारस्य यदु * मन्मृगेन्द्रेमिलं जीर्णाशनस्वस्थेत्यादि।

किं च। सर्वकर्मसु युक्तचेष्टस्य उचितकरण इति यावत्।

उक्तस्वप्नावबोधश्चोक्तकालानति * मयस्य? तस्य तं योग ध्येय

ध्यातृ संबन्धात्मकस्त्वतः शृणु। न तु पतञ्जलादेरिव

समाधिरूपं तस्य योगाङ्गत्वेन श्रुते यदुक्तं श्रीमन्मतङ्गे -

प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽय धारणम्।
नर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते इति॥

अत एव युजिन् योग एव इत्यस्माद्धातोर्योगशब्दोन तु युज
समाधाविति। एतदेव सूचयन् ज्ञानिन एव योगाधिकार इत्याह योध्यो
यच्चत ध्यानं तद्वै ध्यानप्रयोजनम्। सर्वाण्येतानि यो सयोगं
योक्तुमर्हति। च शब्दा ध्येयं चेत्यर्थः। यदाह -

आत्मा ध्याता मनो ध्यानं ध्येयः सूक्ष्मो महेश्वरः।
यत्परं परमैश्वर्यमेतध्यान प्रयोज * ननं मनः।
यथावध्येय वस्तुस्वरूपालोचनं चिन्तेत्यर्थः। ततो ध्यानमुच्येते।
यच्छ्रूयते तद्रूपचिन्तनं ध्यानमिति ननु मनश्चित्तमिति व्या * यं
तस्य योगाङ्गत्वेनाप्रसिद्धेः। उपलक्षणं चैतत् अन्यान्यपि
यागाङ्गान्यं गिनं च योगं ज्ञात्वा योगाभ्यासः कार्यः।

p. 3) किं च।

मानामानौ समौ कृत्वा सुखदुःखे समे तथा।
हर्षं भयं विषादं च संत्यज्य योगमभ्यसेत्॥

यदाहुः -

न हृष्यत्युपकारेण नापकारेण कुप्यति।
यः समः सर्वभूतेषु जीवन्मु * * * म इष्यत इति॥

अथ योगस्थानम्-

शून्यागारे मठे रम्ये देवतायतने शुभे।
नदीतीरे विविक्ते वा गृहे घोरवनेऽपि वा॥

प्रच्छन्ने च विविक्ते च निः * तनवर्जिते।
योगदोषविनिर्मुक्ते निर्विकल्पे निरातपे॥

योगदोषा पिपीलिकादयः। निर्विकल्प इति परकीयत्वादि विकल्परहिते॥

योगाभ्यासोपक्रमः।

स्नात्वा शुचिरूपस्पृश्य प्रणम्य शिरसा शिवम्।
योगाचार्यं नमस्कृत्य योगं युञ्जीत मानवः॥

योगासनान्याह -

पद्मस्वस्तिकं वापि उपस्थायाञ्जलिं तथा।

पीठार्थमर्धचन्द्रं वा सर्वतोभद्रमेव च॥

आसनं रुचितं बध्वा पद्माद्यासनलक्षणम्।

संहितान्तरो देवध *॥

अथकरणमाह -

p. 4) ऊर्ध्वकायः समशिराः।

सर्वसंगान्परित्यज्य आत्मसंस्थमनोगुहः।

कुर्यादित्यध्याहारः?।

ततश्च सर्वसंगान्परित्यज्य आत्मसंस्थं मनः कुर्यादिति

विषयेभ्यः समस्तेन्द्रियाधिष्ठातुर्मनसः प्रत्याहरणं कुर्यादिति

यावत्। अनेन प्रत्याहाराख्यं योगाङ्गं संक्षेपात् ज्ञेयम्। किं च

तदानीं न दंतैः संस्पर्शैद्दन्तान् सृक्कण्यौ च न जिह्वया,

किंचित्कुञ्चितनेत्रस्तु शिवं सम्यक् नदोच्चरेत्। प्रत्याहारकाले

विबीजात्मकमूल * * मनसा स्मरेदित्यर्थः। अथतदुच्चारप्रयोजनम्।

सोद्गासयति तत्वानि तन्मात्राद्यानि देहिनाम्। अयमभिप्रायः।

छांदसो।

विसर्जनीयलोपात् * ति शिवमन्त्रो श्वक्ष्यमाणवत्।

सगर्भप्राणायामपूर्वं शिवाधिष्ठिततत्वाद्यनेनोच्चार्यमाणः।

समाधिलाभक्रमेण तत्त्वानि तावत्प्रकाशयति। मन *

त्रानुसंधानेन शिवाधिष्ठिताभिमतत्वयोजना॥ तत्तत्साक्षात्कारो

भवतीति यावत् तन्मात्रा माद्यानि यानि पृथिव्यादीनि भूतानि तन्मा

वाद्या एषामिन्द्रियादीनां तानि सर्वाणितत्त्वानि

श्रीमन्मतङ्गाद्युक्तवत्प्रकाशयतीति वेदितव्यम्। तानि च तत्त्वानि।

तस्यैव च शास्त्रस्यानुसं(धाना)त् बन्धकत्वान्निवर्तत इत्याह-

पुनर्विनाशकश्चैव असंयुक्तः षडाननः। तेषामिति शेषः।

p. 5) तदानीं चाङ्गानामपि तदुद्भूतत्वात् पृथगुच्चारणयोगीत्याह

। न पृथक् हृदयं तस्य शिरो न शिखा गुह। चर्मास्त्र नेत्रसहितं

तस्मादेव प्रवर्तते। अथ प्राणायामस्यापि सगर्भतां प्रय * नु

कुंभक प्राणायामपूर्वकं ध्यानं कार्यमित्याह।

प्राणापानौ समौ कृत्वा सुषुम्नान्तरचारिणौ।

तयोर्वृत्तिं निरुध्यात्मा शिवं ध्यायेद्वि * गः॥

प्राणायामस्य सगर्भतोक्तां श्रीमन्मृगेन्द्रेऽपि।
सोऽपि ध्यानजपोपेतः सगर्भौ न्यस्तदुज्झित इति॥

अथ ध्यानस्यैव प्रकर्षावस्थात्मकं समा * * * ह

अविनाभावसंयुक्तो ज्योतीरूपं सुनिर्मलम्।
सुसूक्ष्मव्यापकं नित्यं निर्विकल्पं सदा बुधः॥

निर्विकल्पमिति ध्येयाकारस्फुटीभावेन ध्यात्रादि * * गेरहितमित्यर्थः
। यदाह पतञ्जलिः। प्रत्ययै तानता ध्यानं तदेव
स्वरूपशून्यमेव समाधिरिति। इत्थं सगर्भनिगर्भभेदेन
प्राणायामानां द्वैविध्ये * न्यथा त्रैविध्यमाह।
उत्तमामध्यमामन्दाः सगर्भास्त्रिविधाः स्मृताः। सगर्भा
इत्युपलक्षणम्। अगर्भाणामप्युत्तमादि भेदं चानन्तरमेव
वक्ष्यति। * * रांतरेणापि त्रैविध्यमाह।

प्राणायामांश्च तान् कुर्यात् पूरककुम्भकरेचकान्। सगर्भाणां
प्राणायामादीनां समाधिलाभक्रमेण तत्त्वजयस्योक्त * * *

p. 6) अगर्भाणां फलमाह -

प्राणायामैर्बहिर्दोषान् धारणाभिस्तु किल्विषम्।
प्रत्याहारेण संसृज्य ध्यानेनानश्वरान्गुणान्॥

यावच्छरीरभावि * * णि मादीन् गुणानित्यर्थः। अनश्वरः अशून्यः शरीरः स्थैर्यमपि जायत इति सिद्धम्। अथ पूरकादिलक्षणमाह -

उदरं पूरयित्वा तु वायुना या * * प्सितम्।
प्राणायामो भवेदेव पूरको देहपूरकः
विधाय सर्वद्वाराणि निश्वासोच्छ्वासवर्जितः।
संपूर्णकुम्भवत्तिष्ठेत्प्राणायामः स कुम्भकः।
तदो * रेचयेद्वायुं मृदुनिश्वाससंयुतम्।
रेचकस्त्वेषविख्यातः प्राणसंशयकारकः।

पूरकरेचकौवामदक्षिणनाडीभ्यां कार्यावित्युक्तं प्राणसंशयकारक इत्युत्क्रान्तिदशायां ग्रन्थिछेदपूर्वं रेचकस्य प्राणवियोगहेतुत्वादुच्यते।

तेषामेव कालभेदादुत्तमादि भेदमाह।

प्रसार्यं चाग्रहस्तं तु जानु कृत्वा प्रदक्षिणम्॥

छोटिकां तु ततो दद्यान्मात्रैषा त्वभिधीयते।

मात्राद्वादशविज्ञेयः प्रमाणं तालसंज्ञकम्।

तालद्वादशकं ज्ञेयं प्राणायामस्तु कस्यसः।

मध्यमस्तु चतुर्विंशत् ज्येष्ठो द्विगुणो भवेत्॥

तेषां चानुष्ठानविधिः।

p. 7) एकैकान्वर्धयेन्मात्रां प्रत्यहं योगवित्तमः।

सत्वरेण विलम्बेन क्रमेणैव विवर्धयेत्॥

इदानीं हृदयादिस्थानेषु ध्येयस्वरूपविषये निबद्धस्य मनसो

धारणादिकालमाह।

प्राणायामोत्तमो यत्तद्विगुणा धारणामता।

धारणाद्विगुणो योगो योगोऽपि द्विगुणी कृतः।

योगसिद्धिरिति ज्ञेया शिवेन परमात्मना॥

अत्र योगशब्देन ध्येयस्वरूपचिन्तनमपि।

ध्यात्रा सह ध्येयस्थ संबन्ध इति कृत्वाध्यानमुच्यते।

योगसिद्धिशब्देन तु समाधि। धारणाध्यानसमाधीनां
योगाङ्गानां क्रमेण प्राप्ते श्रवणात्।

ननु श्रीमन्मृगेन्द्रे धारणादीनां कालाधिक्यं श्रूयते
उक्तं हि तत्र -

अयमर्कगुणः कालः कृतचित्तव्यवस्थितिः।
प्राप्नोति धारणाशब्दो धारणा सिद्धिदानतः॥

धारणा द्वादश ध्यान दिव्यालोकप्रवृत्तितः।
समाधिमणिमादीनां द्वादशैतानि कारणमिति॥

सत्यं क्रियाभेदस्य तन्त्रभेदहेतुत्वादविरोधः अङ्गी तु योगो
ध्येयवस्तुसाक्षात्कारात्मको विशेषसंबन्ध इत्याह। तदानु पश्यते
सूक्ष्मं गन्धतन्मात्रमात्मनि।

रसं तेजश्च स्पर्शं च सब्दतन्मात्रमेव च।
पश्यते क्रमयोगेन वर्णभावैः पृथग्विधैः॥

p. 8) अहंकारं मनोबुद्धिगुणमव्यक्तपूरुषम्।

अभिव्यक्तानि जानीयात् स्वधर्मगुणलक्षणम्॥

विद्यां कलां ततः कालमायां विद्यां ततः परम्।
दृष्ट्वानुक्रमशः सर्वान् पुनरस्त्रेण भेदयेत्॥

विद्येश्वरं ततस्तत्वं ततस्सादाशिवं परम्।
हित्वार्कं तु क्षुरिकास्त्रेण ततः सूक्ष्मं शिवं विशेत्॥

अत्र च भूतानां स्थूलानामस्य प्रत्यक्षेणापि विज्ञातुं
शक्यत्वात् केवलयोगसाक्षात्कार्याणि तन्मात्रादीन्युच्यन्ते
परमार्थतः पृथिव्यादिस्वरूपमपि सूक्ष्मयोगेन
साक्षात्कर्तव्यमित्युक्तं श्रीमन्मतङ्गादौ।

ततश्च पृथिव्यादीनि शिवान्तानि तत्त्वान्येवं साक्षात्कृत्य
प्रागुक्तवन्मूलयुक्तेन क्षूरिकास्त्रेण भेदयेज्जयेत्।
बन्धकत्वान्निवर्तयेदित्यर्थः। उक्तं हि प्राक् सोद्वासयति तत्त्वानि
तन्मात्राद्यानि देहिनाम् पुनर्विनाशकश्चैव अस्त्रयुक्तः षडाननेति।
एवमेतानि सालम्बनेन योगेन निष्कले शिवे स्वात्मानं युज्यादित्यर्थः।
अत्र च तत्वजयोपयोगित्वेन शास्त्रान्तरोक्तं तर्काख्यमपि
योगाङ्गमर्थसिद्धिमेव यच्छ्रूयते-ऊहोऽन्तरङ्गो योगस्येति। अथ

योगफलं दर्शयति।

अमृतात्मा शिवः साक्षात् तस्मिन्विष्ठस्तु योगवित्।
सर्वज्ञः सर्वगः सूक्ष्मः सर्वेशः सर्वकृद्भवेत्।

ननु। यद्येवं योगेनैव मुक्तिसिद्धेर्दीक्षाया अप्यानर्थक्यप्रसङ्गः।

p.9) तन्न एवं विधस्य शिवयोगस्य दीक्षाया विनानुष्ठानासिद्धेरारब्धकार्यकर्मक्षिप्तमलादिनिवर्तन एव चरितार्थत्वादनधिकारिणां शिवशास्त्रं विना समस्ततत्त्वविषयज्ञानाद्यभावाच्च। अत एव मात्रप्रसङ्गात् ज्ञेयं वस्तुदर्शयति।

सर्वेष्वेव शास्त्रेषु ज्ञेयं वस्तुचतुष्टयम्।
पशुः पाशः पतिश्चैव शिवश्चेति यथाक्रमम्।

पतिरधिकारावस्थं शिव एवातश्च पतिपदार्थः सैव सोपाधिका निरूपाधिकाभ्यां भेदद्वयमुपचारादुच्यत इति वक्ष्यामः। ततश्च ज्ञानस्यापि दीक्षाद्यङ्गत्वान्मोक्षहेतुत्वं परंपरया सिद्धमित्याह।

ज्ञात्वा तु तत्त्वसद्भावं तत्रसारं तु दुर्लभम्।
सर्वथावर्तमानोऽपि गृह्णाति न पुनस्तनुम्॥

इति लक्षद्वयाध्यापक श्रीमदघोरशिवाचार्यविरचितायां
शीमत्सर्वज्ञानोत्तरवृत्तौ योगप्रकरणम्॥

॥ सप्तमः पटलः॥

श्री देव्युवाच

आसां मन्त्रोदयं दिव्यं कथय स्व प्रसादतः।
येन विज्ञानमात्रेण मन्दपुण्योऽपि सिद्ध्यते॥१॥

एतच्छ्रुत्वा तु वैष्णव्यं देवदेवेन शूलिनः।
विहस्य सुचिरं कालं प्राश्यपञ्चामृतं चरुम्॥२॥

सन्दष्टोष्ठ पुटं नाथं प्राह गद्गदया गिरा।

श्री भैरव उवाच

शृणुत्वं खेचरी ज्ञानं स्वपिण्डे खगतिप्रदम्।
भुक्तिमुक्तिप्रदातारं सर्वकामविभूतिदम्॥४॥

शान्तौघरूपकं दिव्यं मन्त्रोद्धारं तु कौलिकम्।
द्विधाभेदेन वक्ष्यामि कर्णान्ते खटिकागमे॥५॥

शून्यं शून्यसमायुक्तं वह्निसम्पुटमध्यगम्।
मायानादकलोपेतं ना रुद्रो लभते स्फुटम्॥६॥

कामसम्पुटमध्यस्थं कामारिङ्कामसंस्थितम्।
नादबिन्दुकलोपेतं लभते योगिनी सुतम्॥७॥

सर्वगाद्यं पुनर्भद्रे सर्वगं बिन्दुभूषितम्।
षष्ठस्वरसमारूढं जीवं चन्द्रार्कभूषितम्॥८॥

एतत्पञ्चाक्षरं मन्त्रं स्वपिण्डे भोगमोक्षदम्।
प्रेतनाथस्य कथितं हृदयं सर्वकामदम्॥९॥

अधुना क्षेत्रपालानां सपत्नीकं शृणु प्रिये।
सप्तादशाक्षरं पूर्वं तृतयं तु चतुष्कलम्॥१०॥

चतुर्थं कथितं बीजं रक्षां तदनन्तरम्।
कामराजपराबीजमेतदष्टाक्षरान्तिमम्॥११॥

चणा - - क्षेत्रपालानां सपत्नीकां प्रकीर्तितम्।
सामान्यं हृदयं वीक्ष्य - - - रिक्षनन्तरम्॥१२॥

शक्तिबीजं शिवं शान्तं तृतीयं पारमेश्वरम्।
अनेनार्चयते दिव्यं गुरुपर्वक्रमान्तिमम्॥१३॥

तृतीयं भोगमन्त्राद्यं रावं रेफविवर्जितम्।
पायहा पञ्चमी बीजं एतत्पञ्चाक्षरान्तिमम्॥१४॥

धर्माधर्मक्षयकरं श्रीमन्त्रानक्षमान्वयम्।
अनेनार्चयते दिव्यं सिद्धचक्रं सदोदितम्॥१५॥

सर्वाधिकारफलदं शापानुग्रहसिद्धिदम्।
भोगहस्ते मयाख्यातं दिव्यरूपमकीलितम्॥१६॥

अथान्यं तु चतुष्पीठं चतुष्पीठसमन्वितम्।
सप्ताक्षरं महादीप्तं सुसिद्धं सर्वसिद्धिदम्॥१७॥

ह्रीं हुँ क्रीं तृतीयं पूर्वं निष्फलं निष्फलात्मकम्।
सर्वगं पूर्व सम्भिन्नं जीवसृष्टिसमन्वितम्॥१८॥

एषोसौ कौलिकं गुह्यं मन्त्रराजात्मतो लभेत्।
हृदयं सर्वपीठानां योगिनीनां महोदयम्॥१९॥

अधुना शक्ति सङ्घट्टं तृतीयं परमेश्वरम्।
परा च अपरा चैव तृतीया तु परापरा॥२०॥

अपरे संस्थिता ह्येव इत्याद्या सर्वदेहिनः।
आसां मन्त्रोदयं वक्ष्ये स्वपिण्डे भोगमोक्षदा।।२१।।

शिव शक्तिमयं युग्मं पराबीजं सदारुणम्।
एतत् त्रिरक्षरं मन्त्रं परादेव्या प्रकाशितम्।।२२।।

ज्ञानविज्ञानफलदमपरा च मतश्शृणु।
तदेवाद्यं परं युग्मं पराख्यं वरुणोर्ज्जितम्।।२३।।

सर्वगो दीपितं कृत्वा अपरा तृतयोदितम्।
सर्वस्वहृदयान्तस्थं - - - - - - - - - - ।।२४।।

- - - - - - ष्टस्तु मदिरानन्दनन्दितः।
- - - - - - - - - - - भैरवं वपुम्।।२६।।

प्रस्तरे भूतलं - - - - - - - - - - - - - ।।२७।।

- - स्व स्वभाव स्वरूपेण शिवं भु - - - ।।२८।।

- - - न्यसेत्पुष्पं ध्यात्वां प्रेतं जगद् गुरुम्।
- - - - - - - - - - - - - सर्वकारणम्।।२९।।

पूजयित्वा ततः पश्चात् स्वे स्वे मन्त्रेण सुब्रते।
अर्चयेत् क्षेत्रपालेशं ततो धूपं सुकल्पयेत्।।३०।।

ततो वै स्थापयेल्लिंग गन्धधूपाद्यनुक्रमैः।
दधिक्षीराज्यमधुकै द्राक्षश्चेक्षुरमासवः।।३१।।

सुरादि सोत्तमैर्द्रव्यैर्दध्यमासादिनुक्रमैः।
पश्चाद्वेषोत्तमं दिव्यं महास्नानं प्रकल्पयेत्।।३२।।

मणिरत्नमये पात्रे सौवर्णे राजतेऽपि वा।
कास्ये चैवात्र सङ्कट्टे तदाभावास्तु बिल्वजे।।३३।।

मध्यवृत्तिपदोद्भूतं गृहीत्वा स्वकुलामृतम्।
कर्पूरागुरुसंयुक्ते मृगजामलयान्वितम्॥३४॥

मूलमन्त्रेति सत्कृत्वा मुनिसङ्ख्या विधानवित्।
अयमेवाथोऽयस्कान्ते पात्रान्ते लिङ्गमुत्तमम्॥३५॥

स्नात्वा चैवोपविष्टे वै लिङ्गावित्सङ्ख्यया शुभम्।
धर्माधर्मक्षये प्रोक्ते विशुद्धे विशुवे परे॥३६॥

चिच्चितान्तरसंल्लीने ध्यात्वा सङ्घट्टभैरवम्।
युक्ति युक्तं पिवेन्मद्यं पिङ्गलं निर्मलं रसम्॥३७॥

तत्क्षणाद् भवती वीरो वलीपलित वर्जितः।
- - - - - - - मपरे नित्यं द्वितीयमिव भैरवः॥३८॥

एवं स्नानविधिङ्कृत्वा कर्णिकान्ते जगद्गुरुम्।
मुनिसङ्ख्यार्चयेद्देवं पराशक्तिसमन्वितम्॥३९॥

अष्टत्रिंशाक्षरं घोरं काली सप्तादशाक्षरा।
पूजामन्त्रेण वो पश्चात् त्र्यक्षरे सर्वकामदे॥४०॥

भूतसङ्ख्यार्चयेद्देवं द्विधाशाक्ति स्त्रिधाशिवम्।
पश्चात्क्रमेऽर्चयेत्सर्वा गुरुसिद्धादिपीठगाः॥४१॥

तृसङ्घट्टं ततः पद्मं द्वादशारं ततोर्चयेत्।
षट्कोणं परमं धाम सर्वशक्त्यालयोद्भवम्॥४२॥

गृह्य पुष्पात्र्जलिं पश्चाज्जातंत्यक्त्वा तु भूतले।
विद्यायुग्मं ततः पूज्यं त्रिवर्णेशं सकृत् सकृत्॥४३॥

ततो वै समयाख्या तु भोगमोक्षार्थकामदा।
पञ्चषड्भिस्तु कोटीनां विद्यां समयमुत्तमाम्॥४४॥

या स्मृता राजराजेशी पञ्चशार्णा पराकला।
मूलमुख्यतरा दीप्ता धर्माधर्मक्षयङ्करी।।४५।।

यत्रोत्पन्नास्तु ते मन्त्रा अघोराद्यादिनुक्रमा।
सप्तादशाक्षराद्यादि मूलमुख्यतरान्तिमा।।४६।।

राजराजेश्वरादिव्या तया विद्याजगाम्बिके।
त्रिरावृत्तं प्रयोगेण नित्यमेवं प्रपूजयेत्।।४७।।

यया पूजित मात्रा वै सकृत्स्मृत्वा वानधे।
अनेन शरीरेण सायोज्यत्वं प्रयच्छति।।४८।।

पश्चात्प्रकल्पये धूपं पञ्चब्रह्मनवात्मकम्।
ततश्चाष्टाङ्गविधिना दण्डपातं प्रदक्षिणम्।।४९।।

कृत्वा दिव्या महाराणि कर्मणा मनसागिरा।
निवेदयेत्परे तत्त्वे पुष्पहस्तं प्रकल्पयेत्।।५०।।

धर्माधर्मं च - - पुण्यपापं शुभाशुभम्।
कामक्रोधमलं लोभं शब्द स्पर्श रसं तथा[क]।।५१।।

ब्रह्माविष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वर श्च सदाशिवः।
एतत् सर्वमशेषेण नानावृत्यौघमण्डलम्।।५२।।

पञ्चाभूतात्मकं पिण्डं तत्त्व षट्त्रिंशबृंहितम्।
चतुर्विंशपदोपेतं षड्ध्वनिलयं परम्।।५३।।

षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्षं व्योमपञ्चकम्।
आब्रह्मभुवनं सर्वं स्वकुलं कौलिकं पशुम्।।५४।।

निवेदयेत्परे ब्रह्मे भैरवोत्सङ्गबृंहिते।
स्वदेहोत्कर्तनं कृत्वा ज्वलयेत् - - - ।।५५।।

क. खण्डितोऽत्र पाठः।

होम एतत्समाख्यातं यन्त्रस्याप्यायनं महत्।
एतद्वै त्रिविधं का - - - - - ट्कायिक वाचिकम्।।५६।।

कृत्वा पूर्वेनयेत्पश्चात् महापशूपहारकम्।
सर्वाङ्गलक्षणोपेतं प्रत्यग्रं तु नरेश्वरम्।।५७।।

स्वसातं सुमहानन्दं बद्धनेत्रपदं शुभान्।
तदनाप्तमशेषं व अजं वा महिषं वृषम्।।५८।।

मीनं चाथ वरारोहे यत्किञ्चिज्जीवरूपिणम्।
सुशुष्कं चैव सुस्नातं सुरोमं श्रृंङ्गिणं शुभम्।।५९।।

सर्वलक्षणसम्पूर्णं अक्षताङ्गमरोगिणम्।
ह्रीं क्षां क्षं तृतीये नेन आकर्णान्तावलोकयेत्।।६०।।

ततो नेत्रपटोद्धाट्य कुलाचारसमन्वितैः।
अर्घपुष्पासवोपेते शिरः पृष्ठे कटिस्थले।।६१।।

प्रेक्षयित्वा प्रधानेन दिव्येन वेघ रूपकैः।
यावन्न चालयेद्देहं तावन्न पशुपातयेत्।।६२।।

ह्रीं धूंक्षः तृतये नैव वीरकर्म समार्चयेत्।
- - - - - - - - - - कामविभूतिदम्।।६३।।

यदादौ चालयेद् वक्त्रं पश्चाद् देहं वरानने।
अशुभं ते तु विज्ञेयं दुःख शोकामयप्रदम्।।६४।।

यदादौ धुनते वक्त्रं पश्चाद्देहं पुनश्शिरम्।
सिद्धिदं तत्र विज्ञेयं सप्तदेहविलम्बितम्।।६५।।

प्रवृष्टिं तु यदा मुञ्चे पुरीषाण्डानि शोभने।
समैर्वित्तागमैविन्द्या द्विषमं ज्ञानसिद्धिदम्।।६६।।

पुरीषं तु यदा मुञ्चेत् गृहीत्वा वीर वन्दिते।
स्वकुलामृतसंयुक्तं मातृभृङ्गिरजान्वितम्।।६७।।

कुहा कुष्ठसमोपेतं मुनिसंख्याभिमन्त्रितम्।।६८।।

सप्तादशाक्षरा विद्या नस्ये पाने पिवेद् गुदः।
आपादतलमुण्डान्त्तं सर्वाङ्गेषु समालभेत्।।६९।।

चतुष्षष्ठिविधैर्घोरैः कालकूटादिनुक्रमात्।
नाभिभूयति सो भद्रे शस्त्रास्त्रै तु स बाध्यति।।७०।।

स्तम्भयेत्सर्वसैन्यानि मन्त्रं देवासुरोपमः।
दिक्पूर्वोभिमुखे भूत्वा यदा यासौ धुनतेऽनघे।।७१।।

तदा अक्षागमं विन्द्याद दिव्यस्त्रीप्रियसंगमम्।
स्थानलाभं शरीरस्य वज्रकायवलं भवेत्।।७२।।

आग्नेया तु भवं घोरे वह्नि सञ्जाननं भवेत्।
दुर्भिक्षं राष्ट्र संपातं राजा चैव विनश्यति।।७३।।

याम्यायां मरणं घोरं कष्टारं - - - भा।
अतिवृष्टिरनावृष्टिः भवते वाम सुव्रते।।७४।।

मन्त्रहस्ताद्भवेत् - - - - - भूहानिर्वियोगम्।।७५।।

कटुबन्धुर्जनैस्सार्धं दुष्ट शत्र्वभयं भवेत्।
सुभिक्षं वारुणे भागे सर्व सत्त्वसुसिद्धिदम्।।७६।।

- - - गास्साधकेन्द्रस्य सर्वभूताश्चराचराः।
वायव्यां विधुसंपातं विद्वेषोच्चाटमारणम्।।७७।।

वज्रपाताशिरभयं मरणेचार्थनाशनम्।
यत्किञ्चिदशुभं भद्रे तत्सर्वं वायवीदिशम्।।७८।।

उत्तरे ज्ञान सिद्धिः स्याद्वश्याकर्षणमारणम्।
प्रसादं सर्वदेवीनां सिद्धिं चैव मनेप्सितम्।।७९।।

अधमां मध्यमां कामां कौबेर्यां धुनते यदा।
ईशान्यभिमुखो भूत्वा यदासौ धुनते पशुम्।।८०।।

।। इति महाकौलागमे पातालपिङ्गलान्तरखण्डविनिर्गते श्री वृद्धस्वच्छन्द-कौलाभिधाने व्याधिभक्षभैरवे सप्तमः पटलः।।

योग

डॉ. अनिता स्वामी
सहायक, आचार्य, संस्कृत विभाग
इन्द्रप्रस्थ महिला महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

भारतीय ज्ञान–परम्परा का सनातन ज्ञान 'योग' है। 'योग' शब्द का प्रयोग श्रुति एवं स्मृति ग्रन्थों में अति पुरातन काल से होता आया है। योग का ज्ञान इस ब्रह्माण्ड में अनादि काल से विद्यमान है अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व भी योग विद्यमान था। अतएव ''योग'' उतना ही प्राचीन है जितनी कि ''सृष्टि''। योग साधना–पद्धति से ही प्राप्त ऋतम्भरा–प्रज्ञा के द्वारा वैदिक ऋषि यों ने ऋचाओं का साक्षात्कार किया एवं सृष्टि की उत्पत्ति के कारण 'ब्रह्म' (चेतन), कार्य रूपी सृष्टि तथा उसके शाश्वत एवं अपरिवर्तनशील नियमों का अनुभव प्राप्त किया। अतएव योग भारतीय प्राचीन परम्परा एवं संस्कृति की अमूल्य धरोहर है जो कि आज भी सुरक्षित है एवं मानव–सभ्यता के लिये उपयोगी है।

'योग' मोक्ष के 'साधन' एवं 'साध्य' दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। ''युज् समाधौ'' धातु से ''घञ्''
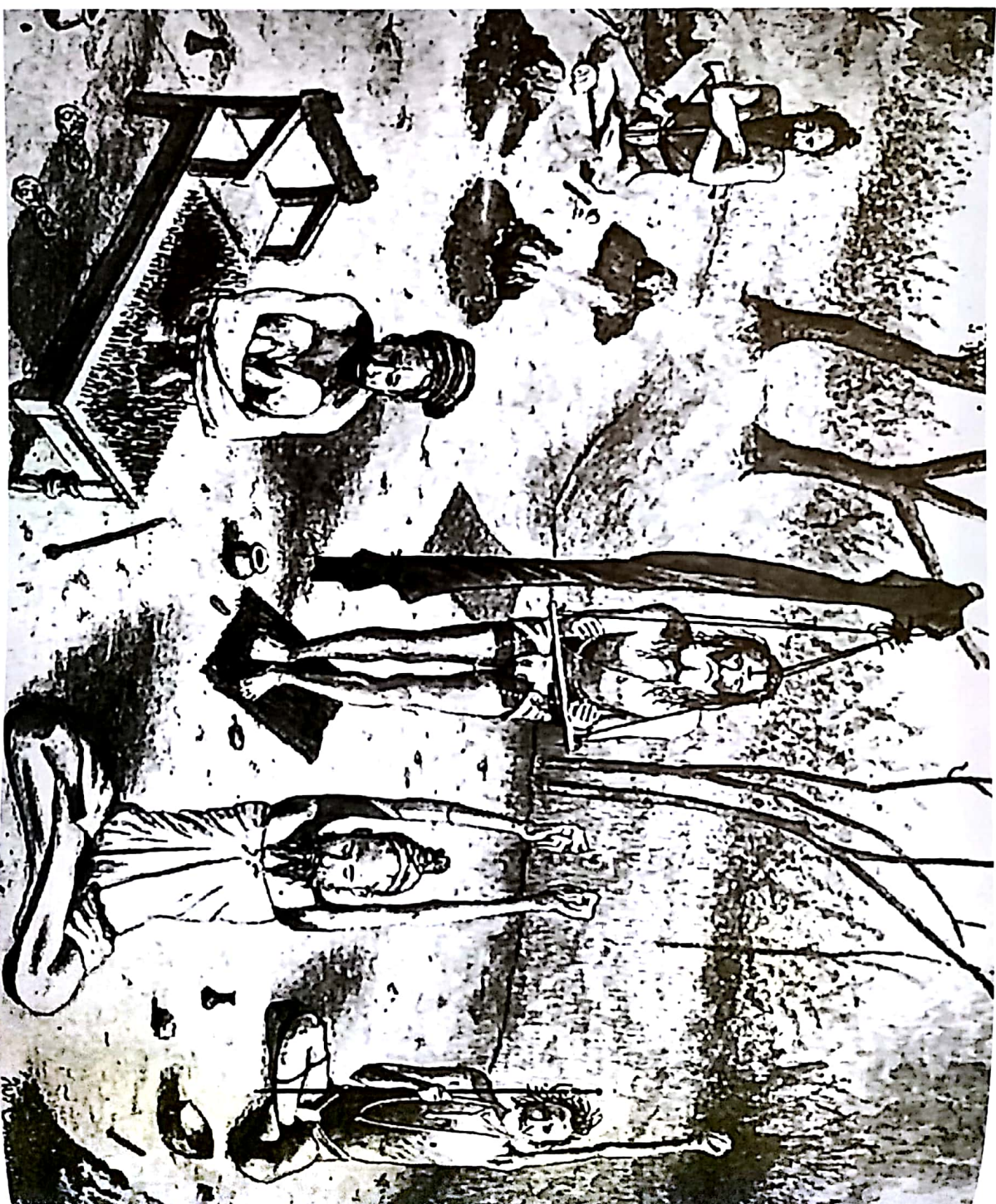
प्रत्यय लगाने से निष्पन्न योग शब्द 'चित्तवृत्तिनिरोध' रूपी 'समाधि' के अर्थ में है जो कि 'योग' के 'साधन' के रूप में स्वीकृत है। अतएव पतंजलि कृत योग–दर्शन में 'योग' शब्द 'साधन' अर्थ में प्रयुक्त है। युजिर् योगे धातु से बने 'योग' शब्द ''आत्मा एवं परमात्मा के संयोगरूप'' साध्य के अर्थ में प्रयुक्त है, जो कि वेदान्त द्वारा स्वीकृत है। बृह्दारण्यकोपनिषद् (2/4/5) के सारतम उपदेश याज्ञवल्क्य–मैत्रेयी–संवाद– 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'– में भारतीय जीवन–प्रवाह की समग्र आशा, आकांक्षा का पर्यवसान होता है। आत्मतत्त्व के विश्लेषण एवं उसके साक्षात्कार के साधन और स्वरूप के निरूपण में ही योग–दर्शन का तात्पर्य है। महाभारत में शुकदेवजी ने कहा है कि – 'न तु योगमृते प्राप्तुं शक्या सा परमागतिः।' इसीलिये श्रीमद भगवद्गीता में श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को 'योगी' बनने की प्रेरणा देते हुए कहा गया है –

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।।

श्रीमद भगवद् गीता, 6/46 ।।

महाभारत एवं याज्ञवल्क्य–स्मृति के अनुसार ऋग्वेदोक्त ''हिरण्यगर्भ'' (ऋग्वेद 10/21) दवेता ही योगशास्त्र के पुरातन ज्ञाता (वेत्ता) हैं। श्रीमद्भागवत में कहा है कि हे योगेश्वर! यह योगकौशल वही है जिसे भगवान् हिरण्यगर्भ ने कहा था। महाभारत (11/339/69) के अनुसार भगवान् नारायण (विष्णु) ही हिरण्यगर्भ हैं। श्रीमद भगवद्गीता (महाभारत भीष्मपर्व–अध्याय–25–42) के चतुर्थ अध्याय (4/1–3) में श्रीकृष्ण, अर्जुन से कहते हैं –

''मैंने इस अविनाशी–योग को सूर्य से कहा था, सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु से कहा था और मनु ने अपने राजा इक्ष्वाकु से कहा था। इस प्रकार परम्परा से प्राप्त–योग को राजर्षियों ने जाना, किन्तु उसके बाद वह योग बहुत काल से इस पृथ्वी लोक में लुप्त हो गया था। तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये वह परम रहस्ययुक्त, पुरातन–योग आज मैंने तुझको कहा है।''

इस प्रकार परम्परा से प्राप्त 'योग' वैदिक एवं लौकिक वाङ्मय में प्राप्त होता है। वेदों (ऋग्वेद–1/5/ 3,11/18/7, 1/30/17 यजुर्वेद–11/2, सामवेद–2/ 2/7/9 (पूर्वार्चिक), 1/2/10/3 (उत्तरार्चिक), तथा अथर्ववेद–20/26/1, 20/99/1, ब्राह्मण–ग्रन्थों (ऐतरेय–ब्राह्मण–11/5, शतपथ–ब्राह्मण– 3/2/2/26, तैत्तिरीय–ब्राह्मण–1/2/1/15), आरण्यकों (ऐतरेय–आरण्यक–2/1/6, शांखायन– आरण्यक–5/2–3), उपनिषदों (बृहदारण्यकोपनिषद्–3/7/2, मुण्डकोपनिषद्–3/1/5, श्वेताश्वतरोपनिषद्– 1/3, 2/8–9, मैत्रायणी– उपनिषद्–6/18, कठोपनिषद् 1/2/12, 2/3/10–11), रामायण (सुन्दरकाण्ड), महाभारत (शान्तिपर्व), पुराण (ब्रह्मपुराण, अध्याय 235, भगवद्पुराण अध्याय– 2,12, अग्निपुराण अध्याय– 352–58, गरुड़पुराण–अध्याय– 14, 49 व 118, शिवपुराण अध्याय–17, 37–39, मार्कण्डेय पुराण अध्याय–36–43) तथा वैदिक–दर्शन के सूत्र–साहित्यों में पूर्णतया योग का स्वरूप उपलब्ध होता है। कठोपनिषद् में योग को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि जिस समय पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के सहित आत्मा में स्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, उस अवस्था को परमगति कहते हैं। उस स्थिर इन्द्रियधारण को ही 'योग' कहते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि सृष्टि के प्रारम्भ से पूर्व 'योग' विद्यमान था तथा तात्विक ज्ञान की प्राप्ति के साधन के रूप में 'योग' की महत्ता सर्वसम्मत रूप से विद्यमान थी।

योग के प्रकार

पद्धतियों की भिन्नता के आधार पर 'योग' के विभिन्न प्रकार होते हैं। इनमें से वैदिक–दर्शन के अन्तर्गत 7 प्रकार के प्रमुख योग होते हैं– राजयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, मन्त्रयोग, लययोग और हठयोग। योगराजोपनिषद् (1,2) में मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग के रूप में योग को विभक्त किया गया है, जबकि 'योगशिखोपनिषद् (129, 130)' में मंत्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग को एक ही महायोग की अन्तर्भूमिकाओं के रूप में स्वीकार किया गया है। जीव एवं ब्रह्म के संयोग को 'परमयोग' के रूप में वर्णित करने वाले 'गरुड़ पुराण' के 14वें अध्याय में
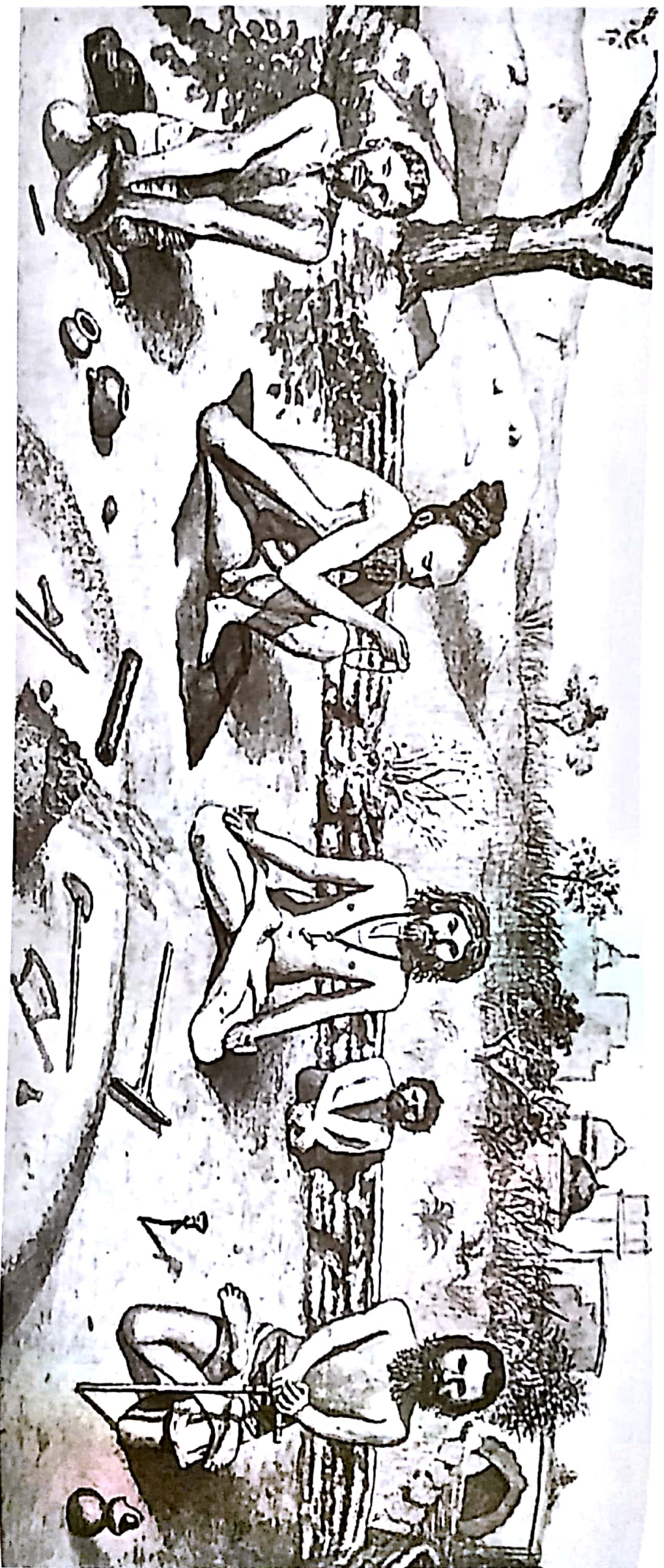
'ध्यान–योग' का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवतपुराण (11/206) में ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग के रूप में मानव– कल्याण हतु 'योग' का वर्णन प्राप्त होता है। देवी भागवत–पुराण में मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप में ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग को स्वीकार किया गया है। श्री मद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण द्वारा चार प्रकार के योग– ज्ञानयोग, अभ्यास योग, भक्तियोग व कर्म योग का वर्णन किया गया है। इस प्रकार वैदिक–दर्शन में प्राप्त 'योग' को हम सात प्रमखु भागों में विभक्त कर सकते हैं जो इस प्रकार हैं –

(1) राज–योग–मंत्रयोग, लययोग, हठयोग का फल राजयोग है, अतः यह योग सर्वश्रेष्ठ योग अर्थात् 'राजयोग' है। साधारणतया 'राजयोग' को पातंजल का सूचक माना जाता है, क्योंकि यह समाधि के साधन के रूप में वर्णित है। योगशिखोपनिषद् (1/136) में राजयोग को परिभाषित करते हुए कहा गया है– 'रजसो रेतसो योगात् शक्तिशिवयोगाद् राजयोगः।' श्रीमद्भगवद्गीता (12/9) में 'राजयोग' को 'अभ्यास–योग' के नाम से कहा गया है। श्रीकृष्ण, धनंज्जय को कहते हैं कि– ''यदि तू अपने मन को अचल स्थापन करने में असमर्थ हो तो अभ्यास रूपी योग के द्वारा मुझको प्राप्त करने की इच्छा कर।'' मन को अन्य

विषयों से हटाकर पुनः–पुनः आलम्बन पर केन्द्रित करना ही 'अभ्यास–योग' अर्थात 'राजयोग' है। जो अभ्यास–योग से मन एवं प्राण दोनों को ही आत्मा में लीन कर लेते हैं, वे राजयोगी सर्वश्रेष्ठ हैं।

(2) हठ–योग – हठ पद दो वर्णों (ह – सूर्य, ठ – चन्द्रमा) से मिलकर बना है। हठयोग का अर्थ है बलपूर्वक शरीर व मन के नियन्त्रण से 'योग–साधना' में सिद्धि लाभ प्राप्त करना। 'हठयोग' के सम्बन्ध में नाथयोगी सम्प्रदाय विशेष ज्ञान रखता है। पातंजल योग के 'अष्टां ङग–योग' में 'शरीर–नियन्त्रण' का अत्यल्प वर्णन प्राप्त होता है। 'हठयोग' के आधारभूत ग्रन्थ 'हठयोगप्रदीपिका'– (4/103) में कहा गया है कि– 'हठयोग' का लक्ष्य 'राजयोग' ही है। हठयोग की साधना का अन्तिम साध्य इड़ा और पिंगला की सुषुम्ना से, 'प्राण' और 'अपान' वायुओं की जीवन–शक्ति के केन्द्रबिन्दु से, 'बिन्दु' और 'रज' को सम्पूर्ण मानसिक–शारीरिक शक्ति के केन्द्रबिन्दु से और अन्ततः चेतना की उच्चतम स्थिति में शिव और शक्ति की एकता स्थापित करना है, जो 'राजयोग' का लक्ष्य है।

(3) लय–योग– 'लययोग' से तात्पर्य है 'लय' के द्वारा 'समाधि' को प्राप्त करना। योगतत्त्वोनिषद् के अनुसार 'लययोग' का स्वरूप 'चित्तलय' है। कठोपनिषद् (1/3/3) में ब्रह्म–साक्षात्कार के साधन के रूप में 'लय' का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ''विवेकी पुरुष वाक्–इन्द्रिय का मन में उपसंहार करे, उसका प्रकाशस्वरूप बुद्धि में लय करे, बुद्धि को महत्–तत्त्व में लीन करे और महत्व को शान्त आत्मा में लीन करे।' हठयोगप्रदीपिका के अनुसार राजयोग के सन्दर्भ में ही हठयोग और लययोग की सार्थकता है। दूसरे शब्दों में हठयोग और लययोग, राजयोग की प्राप्ति में सहायक है, क्योंकि राजयोगी काल की सीमा से परे अर्थात् कालातीत अवस्था को प्राप्त होकर मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है।

(4) मन्त्र–योग – विशिष्ट देव, अवतार या ईश्वर के नाम का या रहस्यमय बीजाक्षरों का जप मंत्रयोग है। योगतत्त्वोपनिषद् (मन्त्र 21, 22) में कहा गया है– ''जो अल्पबुद्धि वाला साधक मातृकादि से युक्त मन्त्र का 12 वर्षों तक जप करते हुए मन्त्रयोग का सेवन करता है वह अणिमादि सिद्धि सहित ज्ञान को क्रमशः प्राप्त कर लेता है।'' राधाकृष्णन ने 'रोगमुक्ति' के साधन के रूप में 'मन्त्रयोग' के महत्व को स्वीकार किया है, क्योंकि 'मन्त्रयोग' द्वारा रोगमुक्ति की सहायिका 'मानसिक–शक्ति' में वृद्धि होती है। शिव–पुराण के 17वें अध्याय में 'ऊँ' मन्त्र के उच्चारण के अभ्यास व फल को बताया गया है। पतंजलि ने भी ईश्वर के वाचक 'प्रणव' के जप से समाधि–लाभ व समाधि–फल की प्राप्ति को बताते हुए मन्त्रयोग के महत्व को स्पष्ट किया है।

(5) ज्ञान–योग– श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मतत्व की प्राप्ति के साधन के रूप में सांख्ययोगियों के लिये ज्ञान–योग का उपदेश किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता (7/2) में श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं– ''मैं तेरे लिये विज्ञान सहित ज्ञान को सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसको जानकर संसार में पुनः और कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रहता''। आध्यात्मज्ञान में नित्य स्थिति और तत्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को देखना– यह सब ज्ञान है। इस ज्ञान को जानने वाला भक्त ईश्वर के स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

(6) कर्म–योग – मीमांसा के अनुसार वेदविहित यज्ञादि कर्मों का विधिवत् अनुष्ठान एवं निषिद्ध कर्मों का असम्पादन 'कर्मयोग' है। गीता में कर्मयोग का तात्पर्य 'निष्काम–कर्म' से है। श्रीमद्भगवद्गीता (3/3) में योगियों के लिये 'कर्मयोग' बताया गया है। गीता के अनुसार कर्मों के फल की कामना न करते हुए एवं कर्मों के फल को ईश्वरार्पण करते हुए लोकसंग्रह के लिये कर्मों को संपादित करना ही 'कर्मयोग' है। जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्म (निष्काम–कर्म) द्वारा परमसिद्धि को प्राप्त हुए थे। अतएव आसक्ति–रहित कर्म करने वाला मनुष्य परमात्मा को प्राप्त होता है। इसीलिये श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को मन–बुद्धि आदि पर विजय प्राप्त करके सम्पूर्ण कर्मों के फल का त्याग करने का उपदेश दिया गया है। क्योंकि कर्मफल के त्याग से तत्काल ही परम–शान्ति प्राप्त होती है। अतएव 'कर्मयोग' से तात्पर्य 'कर्म–फल–संन्यास' से ग्रहण करना चाहिये।

(7) भक्ति–योग – भक्ति शब्द 'भज्' धातु से बना है। इसका अर्थ सेवा, आराधना करना है। जब भक्त सेवा या आराधना द्वारा भगवान् से साक्षात् सम्बन्ध स्थापित कर लेता है तो वही 'भक्तियोग' है। नारद भक्तिसूत्र (1/2) के अनुसार परमेश्वर के प्रति परम–प्रेमरूप ही भक्ति है। वह अमृतस्वरूपा है। जिस भक्ति को प्राप्त करके मनुष्य सिद्धि, अमृतत्व व तृप्ति

को प्राप्त कर लेता है। श्रीमद्भगवद्गीता (12/12) में श्रीकृष्ण ने भक्त को उत्तम योगी बताते हुए कहा है कि "जो भक्त ईश्वर में मन को एकाग्र करके निरन्तर ईश्वर के भजन ध्यान में लगे हुए अतिशय श्रद्धा से युक्त होकर ईश्वर के सगुण रूप की उपासना करते हैं वह योगियों में उत्तम योगी है।" श्रीकृष्ण ने भक्तियोग अर्थात् 'ईश्वर के परायण होकर कर्म करना' का फल भगवद्प्राप्ति बताया है।

इस प्रकार पद्धति के आधार पर योग के प्रकारों की भिन्नता होते हुए भी लक्ष्य में एकत्व है। श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित चारों योगी की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता को बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान विशिष्ट है, ध्यान से सम्पूर्ण कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि त्याग से तत्काल परम शान्ति प्राप्त होती है।

पातंजल–योग

'योग' शब्द का प्रयोग पुरातन–काल से होता आया है। सृष्टि के आदिकाल से ही ऋषियों द्वारा योग–साधना के माध्यम से अनुभूत ब्रह्माण्डीय नियमों को अपने शिष्यों को बताया गया। प्रारम्भ में आन्तरिक एवं बाह्य अर्थात् पिण्ड व ब्रह्माण्ड के कारणरूपी "ब्रह्म" साध्य की प्राप्ति का साधन–रूप 'योगविद्या' गुरु–शिष्य परम्परा के माध्यम से मौखिक रूप में उपलब्ध था। श्रुति एवं स्मृति ग्रन्थों के आधार पर योग के आदि संस्थापक 'हिरण्यगर्भ' हैं, जिसे पतंजलि मुनि के द्वारा योगसूत्र के माध्यम से सूत्रबद्ध किया गया। अतएव पतंजलिकृत 'योगसूत्र' इस विद्या का प्राचीनतम सूत्र–ग्रन्थ है जो चार भागों में विभक्त है– (1) समाधिपाद (2) साधनपाद (3) विभूतिपाद तथा (4) कैवल्यपाद।

योगसूत्र के निगूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करने में व्यासभाष्य नितान्त कृतकार्य है। 'योगसूत्र–व्यासभाष्य' स्वयं अत्यन्त गूढ़ार्थयुक्त है, अतः उसके अर्थ के विश्लेषण हेतु अनेक टीका–प्रटीकाएँ लिखी गयीं। व्यासभाष्य पर लिखित टीका–प्रटीकाओं के अतिरिक्त योगसूत्र पर लिखित अन्य स्वतन्त्र टीका–प्रटीकाएँ उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार योगसूत्र पर लिखित भाष्य–वार्तिक–टीका–प्रटीकाओं के द्वारा 'योग–दर्शन' पर एक समृद्ध एवं विस्तृत साहित्य प्राप्त होता है।

पातंजल योग– दर्शन में 26 तत्त्वों को प्रमेय रूप में स्वीकार किया गया है। सर्वदर्शन–संग्रह में माधवाचार्य ने इन प्रमेय तत्त्वों को भाव्य–वस्तु कहा है। भाव्य–वस्तु के दो भेद हैं– (1) ईश्वर (2) तत्त्वसमूह। तत्त्व समूह दो प्रकार का है– जड़ (प्रकृति) व अजड़ (पुरुष)। प्रकृति, महत्, अहंकारादि चैबीस जड़–पदार्थ हैं। पुरुष आत्मन् अजड़ है।

सांख्य– योग के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष दोनों ही विभु तत्त्व हैं, अतएव इनका अनादि संयोग है। प्रकृति त्रिगुणात्मक (सत्त्व रजस् तमस्) है तथा सृष्टि–लय की स्थिति में अव्यक्तावस्था में रहने के कारण इसे अव्यक्त प्रकृति कहा जाता है। सृष्टि–उत्पत्ति के समय अनादि अविद्या के कारण पुरुष का प्रकृति से संयोग होता है, तब संयोग के कारण प्रकृति के त्रिगुणों में परस्पर क्रिया होने के कारण व्यक्तावस्था को प्राप्त प्रकृति, सत्त्वप्रधान–चित्त के रूप में परिणत हो जाती है। चित्त क्रमशः अस्मिता (अहंकार), पंचतन्मात्राओं, एकादश इन्द्रियों, पंच महाभूत और फिर संसार के विभिन्न पदार्थों में परिणत होता रहता है। पंच महाभूत पर्यन्त प्रकृति का 'तत्त्वान्तर–परिणाम' कहा जाता है।

इस प्रकार अव्यक्त प्रकृति गुणत्रय का अलिगंन परिणाम है और चित्त (बुद्धि) लिंग परिणाम। गुणों के 6 अविशेष परिणाम हैं– अस्मिता और पंचतन्मात्राएँ) 11 इन्द्रियाँ और 5 महाभूत, गुणों के ये 16 विशेष परिणाम हैं। पुरुष (चितिशक्ति) अपरिणामिनी, अप्रतिसंगमा, दर्शितविषया, शुद्ध और अनन्ता है। क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय से अपरामृष्ट पुरुष विशेष 'ईश्वर' हैं।

महर्षि पतंजलि ने समाधि द्वारा सृष्टि–उत्पत्ति की प्रक्रिया को जानने के पश्चात् यह अनुभव किया कि सम्पूर्ण सृष्टि जड़ प्रकृति का परिणाम–मात्र है। प्रकृति, चेतन पुरुष के संयोग से चित्त से लेकर पंचमहाभूत पर्यन्त सम्पूर्ण सृष्टि को उत्पन्न करती है। अतएव चेतन तत्त्व के ज्ञान से ही सम्पूर्ण सृष्टि व स्व–स्वरूप को जानना सम्भव है जो कि योग–साधना से ही सम्भव है। इसीलिये पतंजलि ने साधक (अधिकारी) भेद से चार प्रकार के योग का वर्णन किया है–

(1) संप्रज्ञात योग व असंप्रज्ञात योग (उत्तम साधक हेतु)

(2) क्रियायोग (मध्यम साधक हेतु)

(3) अष्टांग–योग (प्रारम्भिक साधक हेतु)

(4) भक्ति–योग (सर्व साधारण हेतु)

सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात–योग

योग–दर्शन के अनुसार इन्द्रियों के माध्यम से वस्तु का पूर्ण ज्ञान न होकर आंशिक–ज्ञान होता है। अतएव योग दर्शन पूर्ण ज्ञान प्राप्ति हेतु समाधि को साधन के रूप में स्वीकार करता है। व्यास के अनुसार (योगः समाधिः – योगसूत्रव्यासभाष्य–1/1) समाधि ही योग है। पतंजलि के अनुसार (योगश्चित्तवृत्ति–निरोधः –योगसूत्र–1/2) चित्त की वृत्तियों का निरोध 'योग' है। प्रख्या, प्रवृत्ति एवं स्थिति धर्म से युक्त होने के कारण चित्त त्रिगुणात्मक (सत्वरजसतमस्) है। त्रिगुणात्मक चित्त की वृत्ति सात्त्विक, राजसिक व तामसिक भेद से तीन प्रकार की होती है। रजस् व तमस से युक्त सत्व अवस्था वाले चित्त में क्लिष्टवृत्ति उत्पन्न होती है। अविद्यादि क्लेश से उत्पन्न तथा कर्म–संस्कार–समूह को उत्पन्न करने वाली क्लिष्टवृत्ति जन्म, आयु व भोग की जनिका है। राजसिक व तामसिक वृत्ति का निरोध होने पर शुद्ध सत्त्व प्रधान सात्त्विक–वृत्ति से चित्त में अक्लिष्टवृत्ति उत्पन्न होती है, जो कि अक्लिष्ट–संस्कार की जनक है तथा योगी को विवेक–ज्ञान से युक्त करने में सहायक है। सत्त्वगुण के प्राधान्य से समाहित चित्तवाले योगी को उस वैशारदकाल में सत्य को धारण करने वाली ऋतुम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है। इसलिये चित्तवृत्तिनिरोध से तात्पर्य मुख्यतः राजसिक व तामसिक वृत्तियों के निरोध से है। सात्त्विकवृत्ति के उदय से क्लिष्ट–वृत्ति के क्षीणता को प्राप्त होने पर 'संप्रज्ञात–योग' सिद्ध होता है तथा सात्त्विक–वृत्ति का भी निरोध हो जाने पर 'असम्प्रज्ञात–योग' सिद्ध होता है। इस प्रकार पतंजलि द्वारा स्वीकृत 'योग' दो प्रकार का है– (1) संप्रज्ञात (2) असम्प्रज्ञात।

1. **सम्प्रज्ञात योग** : चित्त की एकाग्रावस्था में राजस एवं तामस वृत्तियों के पूर्ण निरोध होने पर सात्त्विक वृत्ति पूर्ण रूप से उदित हो जाती है, फलस्वरूप साधक को पदार्थ का वास्तविक एवं निर्भ्रान्त ज्ञान होता है– 'सम्यक् प्रज्ञायते अस्मिन्निति सम्प्रज्ञातः समाधिः।'– अतएव इस समाधि को 'सम्प्रज्ञातसमाधि' कहते हैं। 'सम्यक् प्रज्ञायते साक्षात्क्रियते ह्येयमस्मिन्निरोधविशेषरूपे योग इति सम्प्रज्ञातो योगः।' एकाग्रता–काल में राजसिक एवं तामसिक वृत्तियों के निरोध होने पर सत्त्वगुणप्रधान चित्त ध्येय पदार्थ का चिन्तन करने में समर्थ होता है। अतएव जो समाधि एकाग्र–भूमि वाले चित्त को होती है तथा आलम्बन रूप से चित्त में स्थित पदार्थ को पूर्णतया प्रकाशित करती है, अविद्यादि क्लेशों को क्षीण करती है, कर्म–बन्धनों (संचित–संचीयमान आदि) को शिथिल करती है तथा निरोध (असम्प्रज्ञात–समाधि) की ओर अभिमुख करती है, वह समाधि, सम्प्रज्ञात–योग कहलाती है। सम्प्रज्ञात–योग की सिद्धि के चार सोपान–क्रम हैं– (1) सवितर्क (2) सविचार (3) सानन्द (4) सास्मिता।

(1) **सवितर्क** – विशेषेण तर्कणमवधारणं वितर्कः। अर्थात् जिसमें विशेष रूप से निश्चय होता है, उसे 'वितर्क' कहते हैं। वितर्क से युक्त वृत्तिनिरोध 'वितर्कानुगत योग' कहलाता है। योग में वर्णित तत्त्वों के समूहरूप स्थूल–पदार्थ को लेकर योगी चिन्तन की ओर बढ़ता है तो सर्वप्रथम सवितर्क–योग के द्वारा ध्येय विषय के स्थूल–रूप (पंचमहाभूत) का सम्प्रज्ञान होता है।

(2) **सविचार** – सत्त्वप्रधान चित्त में ध्येय विषय के सूक्ष्मरूप की परिपूर्णता 'विचार' है। चित्त के आलम्बन 'स्थूलरूप' (पंचमहाभूत) के कारण 'सूक्ष्मरूप' (पंचतन्मात्रादि) का समाधि द्वारा साक्षात्कार होना ही 'सविचार' अथवा 'विचारानुगत–योग' कहलाता है।

(3) **सानन्द**– आनन्दो ह्लादः विचारः सूक्ष्मतर आभोगस्तृतीयः (योगविवरण–1/17) चित्त का 'विचार' से सूक्ष्मतर' ह्लाद' विषयक आभोग 'आनन्द' है। स्थूलविषयक इन्द्रिय के विषय में चित्त का ह्लाद रूप आभोग 'आनन्द' कहलाता है। सत्त्वगुण सुखात्मक होता है। अतएव सत्त्वप्रधान अस्मिता (अहंकार) से उत्पन्न एकादशेन्द्रियाँ सुखात्मक अर्थात् आनन्द रूप हैं।

आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में योगी स्थूल इन्द्रियों के बिना चित्त के माध्यम से 'आनन्दरूपी ज्ञान' का साक्षात्कार (आभोग) करता है। 'आनन्दानुगत–योग' में ''मैं सुखी हूँ''। इस प्रकार की आनन्दविषयिणी चित्तवृत्ति के उदित होने पर चित्त की पूर्णतः सुखाकाराकारिता ही 'सानन्द' अथवा 'आनन्दानुगत–योग' कहलाता है।

(4) सास्मिता – 'दृग्' (पुरुष/चितिशक्ति) एवं 'दर्शन' (प्रकृति) शक्ति की एकात्मकता ही 'अस्मिता' है। चित्रस्थ अथवा बुद्धिस्थचितिच्छाया ही 'अस्मिता' है। चित्त, स्थूल, सूक्ष्म व सूक्ष्मतम समस्त ज्ञान को स्वप्रतिबिम्बित पुरुष (चितिशक्ति) को अर्पित कर देता है तथा प्रतिबिम्बित पुरुष (चितिशक्ति) सभी अनुभवों को आत्मसात् कर स्वत्व स्थापित कर लेता है। प्रतिबिम्बित पुरुष द्वारा स्वसत्ता का अनुभव 'अस्मि' रूप से करना ही 'अस्मिता' है।53 सम्प्रज्ञातसमाधि में एकात्मिकता (चित्त व पुरुष) का अनुभव ही अस्मिता है। अतएवं योगी का ध्येय 'अस्मिता' होने पर 'अस्मितानुगतयोग' की स्थिति में 'पुरुषतत्त्व' एवं 'प्रकृति के शुद्ध सत्त्वरूप' का ज्ञान होने पर प्रमाता, प्रमेय और प्रमा का भेद समाप्त हो जाता है। योगी की अस्मिता (प्रकृति का शुद्ध सात्विक स्वरूप) ही 'प्रमाता' है, ऐसा अनुभव होता है।

2. असम्प्रज्ञात योग– चित्त की सभी वृत्तियों (सात्त्विक–राजसिक–तामसिक) का निरोध होने पर असम्प्रज्ञात समाधि होती है। असम्प्रज्ञात की अवस्था में चित्त, सम्प्रज्ञात–योग से प्राप्त विवेक–ज्ञान का भी परवैराग्य से निरुद्ध करता है। अतएव चित्त को निरुद्ध अवस्था में निरोधजन्य संस्कारमात्रविशिष्ट, निर्बीजसमाधि प्राप्त होती है। इस अवस्था में चित्त को किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं होता है, इसलिये यह असम्प्रज्ञात योग कहा जाता है। इस प्रकार असम्प्रज्ञात–योग की अवस्था में प्रमाता, प्रमेय व प्रमिति की स्थिति न रहने पर ज्ञान–प्रक्रिया के बीजभूत चित्त का स्वकारण प्रकृति में लय हो जाने पर, पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। इसलिये वह शुद्ध और मुक्त कहा जाता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति का स्वकारण अव्यक्तप्रकृति में लय हो जाना कैवल्य है तथा चितिशक्ति (पुरुष) का अपने रूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य है।

क्रिया योग

'क्रियायोग' एक पारिभाषिक शब्द है। क्रियायोग, चंचल चित्तवाले साधक अर्थात् मध्यम–अधिकारी के लिये बताया गया है। तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर–प्राणिधान क्रियायोग है। इन तीनों क्रियाओं को 'योग' इसलिये कहा गया है, क्योंकि इनके करने से योग सिद्ध होता है। इस प्रकार साधन और साध्य के अभेद कथन होने के कारण इन क्रियाओं का नाम 'क्रियायोग' पड़ा है। रजस्तमोमयी अशुद्धि को क्षीण करने हेतु तप का ग्रहण किया गया है। द्वन्द्वों (सर्दी–गर्मी, भूख–प्यासादि) को सहन करना 'तप' है। तपस्या का पालन साधक को चित्त की प्रसन्नता को बाधित न करने वाली स्थिति तक करना चाहिये। प्रणवादि पवित्र–मन्त्रों का जप अथवा मोक्षपरक शास्त्रों का अध्ययन 'स्वाध्याय' है। सम्पूर्ण क्रियाओं को परमगुरु ईश्वर में समर्पित करना अथवा कर्मों के फलों का संन्यास 'ईश्वर–प्रणिधान' है।

क्रियायोग का पूर्णतया पालन करने पर सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है और अविद्यादि क्लेश क्षीणता को प्राप्त होते हैं। क्रियायोग का निरन्तर पालन करने पर सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है। 'अग्निपुराण' व 'पद्मपुराण' में 'क्रियायोग' को मोक्ष के साधन के रूप में स्वीकार किया गया है।

अष्टांग योग

पतंजलि प्रदत्त अष्टांग–योग प्रारम्भिक साधक के लिये बताया गया है। अष्टांग–योग सामान्य साधक के लिये मानवीय गुणों के विकास, समग्र स्वास्थ्य एवं समाधि द्वारा चेतना के उच्चतम स्तर की प्राप्ति का हेतु (सोपान) है। अष्टांग योग के प्रथम दो अंग यम (अहिंसा–सत्य–अस्तेय–ब्रह्मचर्य–अपरिग्रह) एवं नियम (शौच–सन्तोष–तप–स्वाध्याय–ईश्वर–प्रणिधान) का पालन करने से प्रत्येक व्यक्ति में निहित उच्चतम मानवीय मूल्यों का विकास होता है। उच्चतम मानवीय मूल्यों से युक्त व्यक्ति की आज प्रत्येक समाज को आवश्यकता है, क्योंकि ऐसा व्यक्ति सदैव समाज एवं देश को सही मार्ग एवं दिशा प्रदान करने का प्रयास करता है। आसन एवं प्राणायाम (तृतीय एवं चतुर्थ अंग) के पालन से

समग्र स्वास्थ्य का लाभ होता है। आसन करने से शरीर के अवयव–संस्थान सुदृढ़ होते हैं एवं प्राणायाम करने से श्वसन–प्रक्रिया के सुचारु रहने से शरीर में जीवनी शक्ति का विकास होता है व मनुष्य श्वसन–सम्बन्धी रोगों से मुक्त रहता है। शारीरिक रूप से सुदृढ़ एवं स्वस्थ व्यक्ति ही समाज एवं विश्व की उन्नति के लिये कार्य कर सकता है। आयुर्वेद में भी कहा है– शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्–सम्पूर्ण कार्यों को करने का साधन शरीर है। पंचम अंग प्रत्याहार (इन्द्रियों के नियन्त्रण) से मनुष्य अपनी ऊर्जा को केन्द्रित कर स्व एवं मानव कल्याण के लिये उपयोग कर सकता है। प्रत्याहार, योग के आवश्यक अंग के रूप में स्वीकृत है। यथार्थ रूप में पतंजलि ने यम–नियम– आसन–प्राणायाम–प्रत्याहार को योग के बहिरंग साधन के रूप में स्वीकार किया है एवं धारणा– ध्यान –समाधि को ही योग की संज्ञा दी है जिसे शास्त्रीय परिभाषा में संयम (त्रयमेकत्र संयमः। योगसूत्र–3/4) शब्द कहा गया है।

योग अर्थात् धारणा– ध्यान–समाधि का सम्बन्ध मन (डपदक) से है। धारणा–ध्यान –समाधि करने से मन एवं बुद्धि का विकास होता है तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा (ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। योगसूत्र–1/48) उत्पन्न होती है। योग के द्वारा उत्पन्न ऋतम्भरा प्रज्ञा (पूर्ण सत्य को जानने वाली बुद्धि) के माध्यम से ही ब्रह्माण्ड के मूल कारण प्रकृति एवं पुरुष के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान सम्भव है। योग के अंगों का अनुष्ठान करने से, अशुद्धि का क्षय हो जाने पर विवेकख्याति के उदय तक ज्ञान का प्रकाश होता है। इस प्रकार पतंजलि प्रदत्त अष्टांग–योग का श्रद्धा के साथ निरन्तर पालन करता हुआ योगी, चित्तवृत्ति–निरोध के द्वारा एकाग्र चित्त वाला होकर संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात–योग को प्राप्त करता है।

भक्ति योग (ईश्वप्राणिधानाद्वा)

भक्ति–योग हेतु पतंजलि द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। क्लेश, कर्म, विपाक (कर्मफल) एवं आशय (कर्मफलभोग) से अपरामृष्ट 'पुरुषविशेष' ईश्वर है। 'विशिष्यत इति विशेषः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सामान्य पुरुष से विलक्षण होने के कारण ईश्वर को 'पुरुषविशेष' कहा गया है, क्योंकि 'ईश्वर' जन्म–मृत्यु के चक्र से परे होता है। योग–दर्शन में 'ईश्वर' को 'प्रणव' शब्द से कहा गया है। कर्मफल की अपेक्षा से रहित होकर परमगुरु 'ईश्वर' के प्रति सभी कर्मों को समर्पण करना 'ईश्वर–प्राणिधान' है। 'ईश्वर–प्रणिधान' से समाधि की सिद्धि प्राप्त होती है। प्रणिधान अर्थात् भक्ति–विशेष से प्रसन्न किया गया ईश्वर योगी को संकल्पमात्र से अनुगृहीत करता है। उस ईश्वर के अभिध्यान–मात्र से योगी को शीघ्रता से समाधि–लाभ (असम्प्रज्ञात– समाधि) एवं समाधि–फल (असम्प्रज्ञात– योग) प्राप्त होता है।

नाथ योग

भारत की योग परम्परा को जीवन्त बनाये रखने में ''नाथ–योग सम्प्रदाय'' का प्रमुख योगदान है। योग साधना के सिद्धान्तों को अक्षुण्ण बनाये रखने हेतु योगी गुरु गोरखनाथ (गोरक्षनाथ) द्वारा एक 'योगी–सम्प्रदाय' का प्रवर्तन किया गया जो कि ''नाथ–योग–सम्प्रदाय'' के रूप में प्रसिद्धि को प्राप्त है। गुरु 'गोरखनाथ' योगी 'मत्स्येन्द्रनाथ' के शिष्य तथा 'आदिनाथ' के प्रशिष्य के रूप में प्रसिद्ध हैं। अति प्राचीन काल से ही गुरु गोरखनाथजी सामान्य धार्मिक मानस में शिव के प्रतिनिधि या शिवरूप समझकर पूजे जाते रहे हैं। इसलिये उनका एक नाम ''शिव'' भी हैं। नाथयोगी सम्प्रदाय के विकास के इतिहास तथा अन्य लिखित परम्पराओं के साक्ष्य के आधार पर योगी गोरखनाथ का समय 5वीं शताब्दी से 12वीं शताब्दी के मध्य निश्चित किया जा सकता है।

नाथ– योगियों के मन्दिरों और मठों में गोरखपुर स्थित गोरखनाथ–मन्दिर का विशिष्ट स्थान है। परम्परा के अनुसार गुरु गोरखनाथ ने इस विशिष्ट भूमि को अपनी साधना का केन्द्र बनाया। यह मठ सहस्रवर्षों से स्थित है और इसने सहस्रों युवाओं को आध्यात्मिकता के पथ की ओर अग्रसर किया। इस मठ का प्रबन्ध एक योगी के हाथ में रहता है, जिसे ''महन्त'' कहते हैं। वह योगी गुरु 'गोरखनाथ' का 'प्रतिनिधि' और इस संगठन से सम्बद्ध सभी योगियों का 'आध्यात्मिक–गुरु' माना जाता है। गुरु गोरखनाथ मन्दिर की महन्त–परम्परा, गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा समर्पण का एक जीवन्त उदाहरण है। गोरखपुर स्थित 'गोरखनाथ' मन्दिर इस दृष्टि से भी विशिष्ट है, क्योंकि इसके महन्तों की परम्परा में

कुछ ऐसे महान् योगी हुए जो अपने आध्यात्मिक ज्ञान एवं अद्वितीय योग–शक्ति के कारण दूर–दूर तक विख्यात रहे हैं। गुरु बुद्धनाथ, वीरनाथ, अजबनाथ और पियारनाथ इस मठ के महन्त रह चुके हैं। अलौकिक जीवन के धनी गुरु बालकनाथ (1758–1786) 28 वर्षों तक महन्त रहे हैं। इस प्रकार 17वीं शताब्दी से आज तक इस मठ में प्रख्यात योगियों की एक लम्बी परम्परा प्राप्त होती है।

गुरु गोरखनाथ जी का योगी सम्प्रदाय 12 उपपंथों में विभाजित है। इसीलिये इन्हें 'बारहो पन्थी' कहते हैं। इनमें से प्रत्येक सम्प्रदाय गोरखनाथजी के निकटतम शिष्य अथवा अनुयायी द्वारा प्रवर्तित है। सम्प्रदाय के उपपंथ इस प्रकार हैं–

(1) सतनाथी (2) रामनाथी (3) धर्मनाथी (4) लक्ष्मननाथी (5) दरियानाथी (6) गंगानाथी (7) बैरागपंथी (8) रावलपंथी या नागनाथी (9) जालन्धरनाथी (10) ओपन्थी (11) कापलती या कपिलपंथी (12) षज्जानाथी या महावीरपंथी। उपरोक्त इन विभिन्न पंथियों का भारतवर्ष में अपना प्रमुख केन्द्र हैं तथा ये सभी देशव्यापी एक संगठन से सम्बद्ध हैं।

नाथ पंथी योगियों द्वारा रचित विस्तृत योग साहित्य प्राप्त होता है जिसमें से 'गोरक्ष–शतक', 'गोरक्ष–संहिता', 'सिद्धान्त पद्धति, 'योग सिद्धान्त पद्धति', 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, 'हठयोग', 'ज्ञानामृत' आदि अनेक संस्कृत ग्रन्थ स्वयं गोरक्षनाथजी द्वारा रचित हैं। इसी सम्प्रदाय के योगियों द्वारा रचित 'हठयोगप्रदीपिका', 'शिव–संहिता' और 'घेरण्ड–संहिता' आदि योग–साधना से सम्बन्धित महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार 'गोरक्ष–गीता', 'गोरक्ष–कौमुदी', 'गोरक्षसहस्रनाम', 'योग–संग्रह', 'योगमज्जरी', 'योग–मार्त्तण्ड' आदि ग्रन्थ गोरखनाथजी के शिक्षा–सिद्धान्तों पर आधारित हैं।

गोरखनाथजी द्वारा प्रवर्तित योगी सम्प्रदाय सामान्यतः 'नाथ योगी', 'सिद्ध योगी', 'अवधूत योगी', 'दरसनी योगी' या 'कनफटा योगी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सभी नाम साभिप्राय हैं। योगी का लक्ष्य नाथ अर्थात् स्वामी होना है। प्रकृति के ऊपर पूर्ण स्वामित्व स्थापित करने के लिये योगी को अनिवार्यतः नैतिक, शारीरिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक गोरखनाथजी द्वारा प्रवर्तित योगी सम्प्रदाय सामान्यतः 'नाथ योगी', 'सिद्धयोगी', 'अवधूत योगी', 'दरसनी–योगी' या 'कनफटा योगी' के नाम से प्रसिद्ध है। ये सभी नाम साभिप्राय हैं। योगी का लक्ष्य नाथ अर्थात् स्वामी होना है। प्रकृति के ऊपर पूर्ण स्वामित्व स्थापित करने के लिये योगी को अनिवार्यतः नैतिक, शारीरिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक नियमों की क्रमिक विधि का पालन करना पड़ता है। "सिद्ध योगी" से तात्पर्य यह है कि जो योगी भौतिक जगत् के स्थूल, सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतम तत्त्वों पर तथा स्थूल व सूक्ष्म शरीर के नियन्त्रण द्वारा "सिद्धि" अथवा "आत्मोपलब्धि" प्राप्त करता है। जो योगी आत्मानुभूति की उच्चतम स्थिति को प्राप्त कर लेता है, वह 'अवधूत' कहलाता है। अवधूत योगी प्रकृति की शक्तियों एवं नियमों से परे होने के कारण भौतिक जगत् के दुःखों और बन्धनों से मुक्त होकर शिव के साथ एकत्व को प्राप्त कर लेता है।

इस सम्प्रदाय के योगी कुछ निश्चित प्रतीकों का प्रयोग आध्यात्मिक अर्थ के अभिप्राय से करते हैं। नाथ–योगी का एक प्रकट चिह्न कानों में पहने हुए कुण्डल हैं। इस सम्प्रदाय का प्रत्येक व्यक्ति संस्कार की तीन स्थितियों का अनुभव करता है। तीसरी अथवा अन्तिम स्थिति में गुरु शिष्य के दोनों कानों के मध्यवर्ती कोमल भागों को फाड़ देता है और घाव भरने पर उनमें दो बड़े छल्ले पहना दिये जाते हैं। अतएव इस सम्प्रदाय के योगी को कनफटा योगी कहा जाता है। योगी के द्वारा पहना जाने वाला 'मुद्रा', 'दरसन', 'कुण्डल' आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। यह गुरु के प्रति शिष्य के पूर्ण आत्मसमर्पण का प्रतीक है।

'औघड़ योगी' गोरखनाथजी के उन अनुयायियों को कहा जाता है जो सभी सांसारिक सम्बन्धों का परित्याग कर योग–सम्प्रदाय में प्रविष्ट हो गये हैं परन्तु अन्तिम दीक्षा संस्कार के रूप में कान नहीं फड़वाया है। "दरशनी योगी" वे हैं, जिन्होंने सांसारिक जीवन का पूर्णतः परित्याग कर लक्ष्य सिद्धि प्राप्ति तक योग–साधना के मार्ग से विरत न होने का दृढ़ व्रत लिया है। "औघड़" तथा "दरशनी" योगी ऊन का पवित्र उपवीत (जनेऊ) पहनते हैं। इसी में एक छल्ला जिसे 'पवित्री' कहते हैं, लगा रहता है। छल्ले में एक नादी लगी रहती है जो 'नाद' कहलाती है और इसी के साथ रुद्राक्ष की मनियाँ भी रहती हैं। 'नाद' प्रणव (ऊँ) की अनाहत ध्वनि तथा 'रुद्राक्ष' तत्त्वदर्शन का प्रतीक है।

गोरखनाथ मठ की महन्त परम्परा (1750 ई.–2018 ई.)

- बालकनाथ (1758 ई.– 1786 ई.)
- मानसनाथ (1786 ई.–1811 ई.)
- सन्तोषनाथ (1811 ई.– 1831 ई.)
- मेहरनाथ (1831 ई.– 1855 ई.)
- गोपालनाथ (1855 ई.– 1880 ई.)
- बलभद्रनाथ (1880 ई.–1889 ई.)
- दिलवरनाथ (1889 ई.– 1893 ई.)
- सुन्दरनाथ
- गम्भीरनाथ
- ब्रह्मनाथ
- दिग्विजयनाथ (1934 ई.– 1969 ई.)
- अवैद्यनाथ (1970 ई.– 2014 ई.)
- **योगी आदित्यनाथ** (महन्त– गोरखनाथ मठ) (सितम्बर 2014– वर्तमान तक)

गुरु गोरखनाथ तथा उनकी परम्परा के महायोगी किसी निश्चित दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना किसी शुष्क तर्क के आधार पर न करके पूर्णतः व्यावहारिकता तथा साधना के अनुभवों के आधार पर करते हैं। सिद्ध योगी सम्प्रदाय का सबसे अधिक प्रामाणिक दार्शनिक ग्रन्थ ''सिद्ध–सिद्धान्त–पद्धति'' है। योग सिद्धान्त के अनुसार विश्व, शक्ति–तत्त्व की भेदात्मक आत्म अभिव्यक्ति है। शक्तितत्त्व शिव या ब्रह्म से शाश्वत रूप से सम्बद्ध तथा अभिन्न है – ''शिवस्य अभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।'' शिव और शक्ति एक दूसरे में अन्तरस्थ है। परमतत्त्व 'सत्ता' रूप में द्वैतात्मक और सापेक्षिक स्थिति से ऊपर तथा स्थान और समय की सीमाओं से परे 'शिव' है और स्वरूपात्मक स्थिति में इस द्वैतात्मक सापेक्षिक जगत् में समय और स्थान की सीमाओं में बँधकर अभि व्यक्त रूप में 'शक्ति' है।

योगी गोरखनाथजी के दर्शन की यह विशेषता है कि वह न केवल व्यक्ति की आत्मा को विश्वात्मा से अभिन्न मानते हैं, वरन् ''व्यष्टिपिण्ड'' को भी समस्त ब्रह्माण्ड से अभिन्न मानते हैं। उनके मत के अनुसार 'पिण्ड' ब्रह्माण्ड का ही वैयक्तिक मूर्तरूप है। व्यक्ति के पिण्ड के रहस्यों के पूर्ण ज्ञान एवं उस पर पूर्ण आधिपत्य द्वारा सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जब व्यक्ति के 'आत्मा' और 'विश्वात्मा' तथा 'व्यष्टिपिण्ड' और 'ब्रह्माण्ड' (समष्टिपिण्ड) का अज्ञानजन्य भेद समाप्त हो जाता है और एक ही शक्तियुक्त शिव भीतर और बाहर सर्वत्र अनुभूत होता है, तभी 'समर सकरण' की स्थिति आती है। इस स्थिति को प्राप्त करना ही योगी के जीवन का आदर्श एवं लक्ष्य है। गोरखनाथजी तथा उनके सम्प्रदाय की दार्शनिक पद्धति को ''द्वैताद्वैतविवर्जित'' तथा ''पक्षापक्षविनिर्मुक्त'' कहते हैं।

इस प्रकार 'अवधूत' ही सच्चे अर्थों में नाथ, सिद्ध या दर्शनी है। अवधूत (गुरु) की पूर्ण मुक्त आत्मा के साथ एकत्व स्थापित करके कनफटा योगी की आत्मा अहंकारमयी प्रवृत्तियों और इच्छाओं के बन्धन से मुक्ति को प्राप्त हो जाती है। वह भी साधना की उच्चतम भूमि तक पहुँचकर शिवत्व को प्राप्त हो जाता है।

नाथ योग द्वारा साधना– पद्धति में पातंजल–योग का अनुसरण किया गया है। नाथ–योग द्वारा 'षडङ्ग–योग' को स्वीकार किया गया है तथा पातंजल–योग प्रदत्त 'अष्टांग–योग' के 'यम' एवं 'नियम' को 'षडंग–योग' में समाहित नहीं किया गया, क्योंकि 'यम' एवं 'नियम' का सम्बन्ध विश्वजनीन नैतिकता से है तथा प्रत्येक मनुष्य को जीवन में नैतिक सिद्धान्तों का पालन करना चाहिये, ऐसा नाथ–सम्प्रदाय का मत है।

नाथ–सम्प्रदाय के द्वारा प्रारम्भिक योग–साधना के रूप में 'यम' एवं 'नियम' को महत्त्व देते हैं। पतंजलि द्वारा निर्धारित पाँच 'यम' और पाँच 'नियम' के भेदों के स्थान पर 10 'यम' (अहिंसा सत्यम् अस्तेयम् ब्रह्मचर्यम् क्षमा धृतिः। दयार्जवं मिताहारं शौचं चौव यमो दश।।) तथा 10 'नियम' (तपः सन्तोषं आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्। सिद्धान्त–वाक्य–श्रवणं ह्री मतिश्च जपो हुतम्।। नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः।।) का प्रतिपादन करते हैं जिनका क्रमशः अभ्यास प्रत्येक योग–साधना के जिज्ञासु के लिये आवश्यक है।

गोरख सम्प्रदाय हठयोग साधना में प्रवीण है। हठयोग का अर्थ है 'हठेन बलात्कारेण योगसिद्धिः' अर्थात् बलपूर्वक व कठिन अभ्यास से योग–साधना में सिद्धिलाभ करना। हठयोग के ग्रन्थों में 48000 आसनों का उल्लेख है। योग–साधना की दृष्टि से चार प्रकार के आसनों – सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन– को उत्तम माना गया है। इन चारों में से सर्वोत्तम ''सिद्धासन'' है, क्योंकि यह 72000 नाड़ियों को शुद्ध करता है एवं मुक्ति का मार्ग प्रदान करता है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गोरखनाथजी तथा उनके अनुयायियों ने हठयोग की साधना को एक वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया तथा उन विविध शारीरिक एवं मानसिक प्रक्रियाओं का विस्तृत वर्णन किया जिनके अभ्यास से शारीरिक अवयवों, नाड़ी, मण्डल, इन्द्रियों तथा मन पर पूर्ण संयम स्थापित किया जा सके। इस योगी–सम्प्रदाय से सम्बद्ध अनेक उपलब्ध ग्रन्थों में मुख्यतः 'आसन', 'प्राणायाम', 'धौति', 'मुद्रा', 'चक्रभेद' व नाड़ीशुद्धि आदि की कठिन प्रक्रियाओं का तथा उनके महत्त्वपूर्ण परिणामों का उल्लेख प्राप्त होता है। नाथ–सम्प्रदाय द्वारा 'हठयोग' को साध्य न मानकर केवल 'साधन' के रूप में स्वीकार किया गया है तथा उन्होंने अपनी यौगिक प्रणाली में कर्म, शक्ति एवं ज्ञान के समन्वय की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए इस लक्ष्य पर अधिक बल दिया है कि योगाभ्यास के सम्पूर्ण का साध्य सभी प्रकार की दुर्बलताओं, दुःखों और बन्धनों से मुक्त होकर ''शक्तियुक्त शिव'' के साथ एकत्व स्थापित करना है जिसके परिणामस्वरूप योगी की चतेना नानात्व और सापेक्षकत्व के क्षेत्र, समय तथा स्थान के आवरण एवं शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि की सीमाओं का अतिक्रमण करके परमतत्त्व शिव, ब्रह्म या परमात्मा से आनन्दपूर्वक मिलकर पूर्णतः प्रकाशित हो जाती है। यही नाथ–योग–सम्प्रदाय के प्रत्येक योगी का साध्य है।

वर्तमान में भारतीय योग–परम्परा व सनातन धर्म, जिसके मूल में वैदिक धर्म है, को अक्षुण्ण बनाये रखने में नाथ–योग–सम्प्रदाय का प्रमुख योगदान है। अतएव नाथ–योग–सम्प्रदाय भारतभूमि का गौरव है जिसके प्रति भारत का प्रत्येक नागरिक नतमस्तक है।

उपसंहार

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वर्तमान में व्याप्त समस्याओं के समाधान हेतु योग का पालन व अध्ययन– अध्यापन अत्यन्त आवश्यक है। योग के माध्यम से ही चेतना को समझा जा सकता है। प्राचीन काल से प्राप्त, भारतीय संस्कृति की धरोहर योग–विद्या की महत्ता को अब अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार कर लिया गया है। 11 दिसंबर, 2014 को संयुक्त राष्ट्र महासभा के 193 सदस्यों ने रिकॉर्ड 177 सह–समर्थक देशों के साथ 21 जून को ''अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस'' मनाने का संकल्प सर्वसम्मति से अनुमोदित किया। अपने संकल्प में संयुक्तराष्ट्र महासभा ने स्वीकार किया कि योग स्वास्थ्य एवं कल्याण के लिए पूर्णतावादी दृष्टिकोण प्रदान करता है। योग विश्व की जनसंख्या के स्वास्थ्य के लिए तथा

> नाथपंथी ''नवनाथ'' का आदर करते हैं जो हिमालय पर्वत पर निवास करते हैं, उनके नाम हैंः– मछन्दरनाथ, गोरखनाथ, चरपुतनाथ, मंगलनाथ, घोगूनाथ, गोपीनाथ, प्राणनाथ, सूरतनाथ, चम्बननाथ। ये चौरासी सिद्ध योगियों को भी मानते हैं।

> श्री मोदी ने कहा, "योग प्राचीन भारतीय परम्परा एवं संस्कृति की अमूल्य देन है। योग अभ्यास शरीर एवं मन, विचार एवं कर्म, आत्मसंयम एवं पूर्णता की एकात्मकता तथा मानव एवं प्रकृति के बीच सामंजस्य स्थापित करता है। यह स्वास्थ्य एवं कल्याण का पूर्णतावादी दृष्टिकोण है। योग मात्र व्यायाम नहीं है, बल्कि स्वयं के साथ, विश्व और प्रकृति के साथ एकत्व खोजने का भाव है। योग हमारी जीवन–शैली में परिवर्तन लाकर हमारे अन्दर जागरूकता उत्पन्न करता है तथा प्राकृतिक परिवर्तनों से शरीर में होने वाले बदलावों को सहन करने में सहायक हो सकता है। आइए, हम सब मिलकर योग को अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस के रूप में स्वीकार करने की दिशा में कार्य करें।"

उनके लाभ के लिए विस्तृत रूप में कार्य करेगा। 27 सितंबर, 2014 को संयुक्त राष्ट्र महासभा (यू एन जी ए) के 69वें सत्र को संबोधित करते हुए भारत के माननीय प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी ने विश्व समुदाय से अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस मनाने का आह्वान किया।

वर्तमान में माननीय प्रधानमन्त्री श्री नरेन्द्र मोदी जी के विशेष प्रयासों से योग से सम्पूर्ण विश्व परिचित हो गया है परन्तु योग–परम्परा के अधिकांशतः ग्रन्थ संस्कृत–भाषा में लिखे होने के कारण सामान्यजन इसमें निहित वैज्ञानिक तथ्यों एवं नूतन शोध की सम्भावनाओं से सर्वथा अपरिचित है। अतएव इस दिशा में चिन्तन की नितान्त आवश्यकता है, जो कि संस्कृत शास्त्रों के गहन अध्ययन से ही सम्भव है।

वर्तमान काल में विज्ञान की प्रगति के साथ–साथ भौतिक सुविधाओं के बढ़ने एवं उसके अधिक उपयोग से पर्यावरण एवं मानव जीवन असुरक्षित हो गया है। बाह्य पर्यावरण के दूषित होने एवं कृत्रिम जीवन–यापन से मनुष्य की रोग–प्रतिरोधक क्षमता कम होने से नयी–नयी बीमारियों ने अपने पाँव पसारने शुरू कर दिये हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान निरन्तर इन बीमारियों को उद्घाटित तो कर रहा है परन्तु इनका इलाज अभी भी नहीं खोजा जा सका है। वस्तुतः आज एक ऐसी समन्वित चिकित्सा–पद्धति की आवश्यकता है जिससे व्यक्ति को रोगी बनने से रोका जा सके। अतएव योग–चिकित्सा–विज्ञान को अन्य चिकित्सा विधाओं के साथ जोड़कर एक समन्वित चिकित्सा–पद्धति के पाठ्यक्रम एवं गहन शोध की आवश्यकता है। योगसूत्र में विशेष रूप से मन का विश्लेषण किया गया है। आज के आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी मस्तिष्क की संरचना को समझने का प्रयास कर रहे हैं, क्योंकि मानसिक रोगों के निदान हेतु मन का पूर्णतया अध्ययन आवश्यक है परन्तु उनका सम्पूर्ण अध्ययन पाश्चात्य विद्वानों के मतों पर आश्रित है। अतएव योग एवं मनोविज्ञान के क्षेत्र में समन्वित शोध की आवश्यकता है। योग एवं मनोविज्ञान के समन्वित शोध से ब्रेन–मैपिंग जैसी आधुनिकी तकनीकी का विकास सम्भव है तथा मानसिक–सन्तुलन, मस्तिष्क की स्मृति और भविष्य–कल्पना जैसे गम्भीर विषयों पर भी शोधकार्य सम्भव है। मनोविज्ञान के क्षेत्र (Cognitive Science) के शोध–क्षेत्र में भी योग का समन्वय अत्यन्त आवश्यक है। इसी प्रकार योग का उद्देश्य मन के नियन्त्रण के द्वारा स्व–चेतना के स्तर को प्राप्त करना है जिसे योग में चितिशक्ति कहा गया है। पाश्चात्य–चिकित्सा–विज्ञान की शाखा तन्त्रिका विज्ञान (Neuroscience) के शोध का कार्य–क्षेत्र मानव–शरीर व चेतना है। आज भी तन्त्रिका–वैज्ञानिकों (Neuroscientist) के लिये यह एक पहेली है कि किस तरह से शारीरिक–क्रिया से चेतना (Consciousness) उत्पन्न हो जाती है? क्या शरीर व चेतना दो भिन्न चीजें हैं अथवा एक? योग एवं तन्त्रिका–विज्ञान के समन्वित शोध से इन सभी प्रश्नों के हल से तन्त्रिका–विज्ञान के क्षेत्र में नूतन शोध–कार्य सम्भव है जो मानव एवं प्राणि–वर्ग के लिये कल्याणकारी होगा। योगसूत्रव्यासभाष्य में भाषा–सम्बन्धी चिन्तन का पूर्ण विश्लेषण प्राप्त होता है, जिसके अध्ययन से भाषा–वैज्ञानिकों को निश्चित रूप से एक नूतन शोध–दृष्टि प्राप्त होगी एवं (Speech Therapy) में भी आशातीत सफलता प्राप्त होगी। योगसूत्रव्यासभाष्य एवं योग के अन्यान्य ग्रन्थों में सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रक्रिया का पूर्ण विश्लेषण प्राप्त होता है। अतएव इसके अध्ययन से भौतिक–वैज्ञानिकों (Physicist) एवं ब्रह्माण्ड–विज्ञान (Cosmology) के क्षेत्र में कार्य करने वालों को इस सृष्टि के मूल कारण को जानने में सहायता प्राप्त होगी जिससे वर्तमान विज्ञान–जगत के अन्य सभी क्षेत्रों में शोध के नये मार्ग खुलेंगे।

इस प्रकार हमें पाश्चात्य–ज्ञान की एकाकी दृष्टि का परित्याग करते हुए योग, जो प्राचीन ऋषियों की देन है, का स्वतन्त्र रूप से एवं अध्ययन की अन्यान्य शाखाओं के साथ जोड़कर शोध एवं अध्ययन आवश्यक है। पतंजलि प्रदत्त अष्टाङ्ग–योग का पालन करने वाला प्रत्येक मनुष्य–चाहे वह किसी धर्म अथवा जाति का हो– उच्चमानवीय मूल्यों, समग्र स्वास्थ्य एवं उच्चतम– प्रज्ञा से युक्त होकर स्व–विकास एवं सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण हेतु कार्य करेगा। अतएव योग को किसी धर्म, जाति , देश की सीमाओं में संकुचित न करके हमारी इस वसुधा पर उत्पन्न उच्चतर प्रज्ञा से युक्त ऋषियों द्वारा सम्पूर्ण मानव जाति के लिये प्रदत्त एक अत्यन्त उपयोगी वैज्ञानिकी विधा के रूप में ग्रहण करना चाहिये, जो कि इस सम्पूर्ण विश्व के उपयोग के लिये है।

बारें बरसें बंझ ब्याई हाथ पाव टूटा,
बदंत गोरखनाथ मछिन्द्र ना पूता।[1]

(चींटी के नेत्र में हाथी समा गया। गाय के मुख में बाघ ब्या गया। बाँझ बारह वर्ष में ब्याही। ब्याने में उसके हाथ पैर टूट गये। मत्स्येन्द्र का शिष्य गोरखनाथ कहता है।)

यहाँ चींटी सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप का प्रतीक है और हाथी स्थूल भौतिक रूप का प्रतीक है। जब जीव ब्रह्मानुभूति का अनुभव करता है तो सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप में स्थूल भौतिक रूप समा जाता है। यही चींटी के नेत्र में हाथी का समा जाना है। गाय भौतिक जीवन का प्रतीक है और बाघ आध्यात्मिक ज्ञान का प्रतीक है। भौतिक जीवन में ही आध्यात्मिक ज्ञान उत्पन्न होता है। यही गाय के मुख में बाघ का ब्याना हुआ। बाँझ मायिक जीवन का प्रतीक है। बाँझ के सन्तान नहीं होती, मायिक जीवन भी निष्फल होता है। परन्तु साधना के बाद मायिक जीवन में भी ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। यही बाँझ का बारह वर्ष में ब्यांना हुआ। ज्ञान की उत्पत्ति होने पर माया शक्ति-हीन हो जाती है, यही उसके हाथ पैर टूटना है।

यह ऐसा गोरख-धन्धा है कि जो इसे जानता है, उसके लिए बहुत आसान और जो नहीं जानता, वह उलझ जाता है। कुछ भी सही, सिद्धों से बिरासत में मिली इस 'संधाभाषा' का प्रचार-प्रसार गोरखनाथ ने इस निष्ठा और बहुतायत के साथ किया कि यह शैली-धारा उनके समसामयिक नाथ-सिद्धों से होती हुई संत-साहित्य तक में निरंतर प्रवाहित होती रही और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी-साहित्य के सभी काल न्यूनाधिक रूप में गोरखनाथ की इस 'संधाभाषा' के ऋणी हैं। भाषा और आध्यात्मिक दृष्टि से गोरखनाथ की 'संधाभाषा' का बहुत बड़ा महत्त्व है।

३.३ प्रतीकात्मक शब्दावली

भाषा के अध्ययन का उद्देश्य अर्थ की स्पष्टता है अतः शब्द का रूपात्मक अध्ययन जितना अधिक महत्त्वपूर्ण है उनता ही उसका अर्थपरक अध्ययन भी। गोरखबानी के अर्थ को समझने में हमारे सामने मुख्यतः दो प्रकार की शब्दावली बाधक बनकर आई है। प्रथम प्रकार के वे शब्द हैं जो गोरखबानी में आध्यात्मिक तत्त्वों के लिए प्रतीक बनकर प्रयुक्त हुए हैं। गोरखबानी में इनका अर्थ लौकिक अर्थ से भिन्न है। दूसरे प्रकार की शब्दावली वह है जो सम्प्रदाय विशेष में प्रयुक्त होती है और अपने अन्दर एक परिभाषा को समेटे हुए है। केवल शब्दार्थ से यहाँ काम नहीं चलता। अतः अर्थ की दृष्टि से गोरखबानी की शब्दावली को हम दो भागों में विभक्त करके अध्ययन कर रहे हैं—

१. प्रतीकात्मक शब्द
२. साम्प्रदायिक शब्द

---

1 गोरखबानी—सं० डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पद ३४, पृ. १२६

३.३.१. प्रतीकात्मक शब्द

प्रतीकात्मकता से तात्पर्य—गोरखबानी में प्रतीकात्मक शब्द आध्यात्मिक रूपकों के लिए प्रयुक्त हुए हैं। गोरखबानी के अर्थ अथवा भाव को समझने में सबसे अधिक बाधक गोरखनाथ की उलटबाँसियाँ अथवा आध्यात्मिक रूपक ही हैं, जो प्रकीकात्मक शब्दों में निहित हैं। इन रूपकों का प्रयोग भी अत्यधिक हुआ है। गोरखबानी में आध्यात्मिक रूपकों की कुल संख्या १५३ है जो ११२६ बार प्रयुक्त हुए हैं।[1] जिन प्रतीकों को गोरख ने रूपक अथवा उपमा के माध्यम से स्पष्ट कर दिया है, उनकी संख्या इसमें समाविष्ट नहीं है। आध्यात्मिक रूपकों का इतना अधिक प्रयोग अर्थात्मक दृष्टि से अछूता नहीं रहना चाहिए। गोरखबानी का अर्थ एवं भाव समझने के लिए गोरखनाथ के आध्यात्मिक रूपकों को समझना आवश्यक है। लोक अथवा समाज की सीधी बात को उलटी करके, उलझा करके कहना उलटबाँसी होती है। गोरख कहते हैं—

"आंबलियो थलि मौरियो ऊार नींब बिजौरे फलियौ।
सो फल षातां लागै मीठौ, जांषौ रे जिन गुरु प्रसादै दीठौ॥
ऊँट सिचाणैं जब ग्रह्यौ जाइ करो डाली बैठो।
बांझै बेटा जनमियूं नेणें पुरिष न दीठौ॥
लाकड़ डूबै सिल तिरै, देषता जग जाइ।
ऊँट प्रनालै बहि गयो, सुसिल्यो पोली न माइ॥
डूंगरि मंछा जलि सुसा, पांणीं मैं दौं लागा।
अरहट बहै तुसालवां, सूलै कांटा भागा॥
एक गाइ नौ बछड़ा, पंच दुहेबा जाइ।
एक फूल सोलह करंडियां मालनि मन मैं हरिष न माइ॥
पगां बिहूनड़ै चोरौ कीधी। चोरी नैं आंणी गाई।
मछिन्द्र प्रसादै जती गोरख बोल्या, दूझैं पाणी न ब्याई॥[2]

लोक कहता है कि आम के वृक्ष में आम का फल लगता है किन्तु गोरख कहते हैं कि आम के वृक्ष में निबौरी लगी है। लोक कहता है कि निबौरी कड़वी होती है किन्तु गोरख के अनुसार निबौरी मीठी। बाज पक्षी अपने से छोटे पक्षियों को मारकर उन्हें अपना भोजन बना लेता है किन्तु वह पशुओं को तो पकड़ नहीं सकता। गोरख के अनुसार बाज विशालकाय ऊँट को भी पकड़ता है और ऊँट उसके डर से वृक्ष पर चढ़ जाता है। बाँझ का अर्थ है जिसके बच्चा पैदा हो ही न सके किन्तु यहाँ बाँझ ने बेटे को जन्म दिया और वह भी पुरुष के साथ बिना संसर्ग किये। इस संसार में तो लकड़ी तैरती है और पत्थर डूब जाता है किन्तु गोरख कहते हैं कि लकड़ी डूब जाती है और पत्थर तैरता है। छोटा-सा खरहा एक लम्बे-चौड़े फाटक में भी नहीं समाता। इस

---

1 डा. रांगेय राघव ने 'गोरखनाथ और उनका युग' में गोरख के केवल ७१ रूपक दिये हैं।

2 गोरखबानी, पद २०

संसार में मछली पानी में रहनी चाहिए और खरहा जमीन पर किन्तु गोरख के अनुसार मछली पहाड़ पर चढ़ जाती है और खरहा जल में प्रवेश कर जाता है। पानी से आग बुझा करती है किन्तु यहाँ पानी में ही आग लग गयी। एक गाय एक समय में एक ही बछड़ा देती है–दो दे सकती है, अधिक नहीं, किन्तु यहाँ एक गाय के नौ बछड़े हैं। उस गाय को एक साथ दुहने वाली भी पांच हैं। एक फूल एक ही करंडिया में रखा जा सकता है। अगर अधिक में रखना है तो तोड़–तोड़ करके रख सकते हैं किन्तु यहाँ तो एक फूल सुरक्षित अवस्था में सोलह करंडियों में रखा हुआ है। बिना पैरों के कोई कैसे चल सकता है किन्तु यहाँ तो बिना पैरों के चोरी तक भी कर ली।

गोरख की इस कविता को समझने के लिए कुछ शब्दों के अर्थ इस प्रकार करने होंगे—

आंबलियौ=मूलाधिष्ठान परब्रह्म, नींव बिजौरै=माया, फलियौ—अध्यारोप हुआ, ऊँट=मन, सिचाण=यम, कैरो डाली=जगत्, बांझ=माया, बेटा=ब्रह्मानुभव, पुरिष=ब्रह्म, लाकड़=संसार से प्रभावित व्यक्ति, सिल=संसार से अप्रभावित व्यक्ति, ऊँट=स्थूल माया, सुसिल्यो=सूक्ष्म माया, डूंगरि=उच्च दशा, मंछा=मन, जल=संसार, सुसा=माया, पांणीं=संसार या माया, दौं लागा=नष्ट हुआ, अरहट=ब्रह्मानुभूति, तुसालबां=मुमुक्षुओं के लिए, सूल=विद्या, काँटा=अविद्या (माया), एक गाइ=आत्मा, नौ बछड़ा=नवरंध्र, पंच=पंचेन्द्रियां, एक फूल=अमृतानन्द, सोलह करंडिया=सोलह कलावाला चन्द्रमा, मालनि=आत्मा, पगां बिहूनडै=अचल समाधि से, गाई=ब्रह्मानुभूति, दूझै पाणी न ब्याई=आवागमन न हुआ।

फिर इस पद का अर्थ इस प्रकार होगा—'मूलाधिष्ठान परब्रह्म' पर माया का अध्यारोप हुआ है किन्तु माया में भी ब्रह्मानुभूति का सुख मिल जाता है। मिलता उन्हीं को है जिन्होंने गुरु के प्रसाद से इसका अनुभव कर लिया है। मायाविष्ठ मन यम के शासन में आकर दुःखमय संसार में आवागमन करने लगता है। माया ने ब्रह्म को देखा तक नहीं और फिर भी ब्रह्मानुभव पैदा किया है।

प्रतीकात्मकता के प्रयोग के कारणः—

इस आध्यात्मिक रहस्य को समझाने के लिए गोरख ने इतना झमेला क्यों खड़ा किया ? अपनी बात समझाने के लिए लोक-विपरीत पद्धति क्यों अपनाई ? हमारे विचार से गोरख की उलटबांसियों और आध्यात्मिक रूपकों के प्रयोग के कारण निम्नलिखित हो सकते हैं—

(क) ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि योग–संप्रदाय की और तंत्र-संप्रदाय की रीति यह रही है कि जो श्रेष्ठ है उसको पहले स्थान देना चाहिए और कम श्रेष्ठ को बाद में। जैसे, मोक्ष-धर्म अर्थ–काम; संन्यास-वानप्रस्थ-गार्हस्थ्य–ब्रह्मचर्य; शान्त-करुण-अद्भुत-वीर-रौद्र-हास्य-भयानक-वीभत्स–श्रृंगार-इत्यादि। यह ठीक भी है किन्तु लोक का क्रम ऐसा नहीं है। वह ठीक इसके उल्टा है। योगियों और तांत्रिकों की इस उल्टी रीति का परिणाम यह हुआ कि उन्हें लोक रीति से उल्टी

बात कहने की आदत पड़ गयी है।[1] विरोधाभास का यही चसका गोरखनाथ को भी लगा हुआ था। इसी कारण सीधी बात को भी उल्टी करके, जटिल करके उन्होंने कहा है। फिर चाहे भाव अधिक गंभीर ही क्यों न हो जाये। नीचे देखिए—

चींटी केरा नेत्र मैं गज्येंद्र समाइला,
गावडी के मुष मैं बाघला बिवाइला,
बारें बरसें बंझ ब्याई, हाथ पाव टूटा,
बदंत गोरखनाथ मछिंद्र ना पूता।[2]

चींटी के नेत्र में हाथी समा गया। गाय के मुख में बाघ ब्या गया। बांझ बारह वर्ष में ब्याई। ब्याने में उसके हाथ-पैर टूट गए। जितनी अधिक लोक-विपरीत बात हो सकती है, वह गोरख ने कही है। ऐसी कविताओं का वास्तविक अर्थ जानना आसान नहीं है।

यहाँ चींटी सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप का प्रतीक है और हाथी स्थूल भौतिक रूप का प्रतीक है। जब जीव ब्रह्मरंध्र में ब्रह्मानुभूति प्राप्त करता है तो सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप में स्थूल भौतिक रूप समा जाता है। यही चींटी के नेत्र में हाथी का समा जाना है।

अहरणि नाद नैं ब्यंद हथौड़ा, रवि ससि षालां पवनं।
मूल चापि डिढ आसणि बैठा, तब मिटि गया आवागवनं।
सहज पलांण पवन करि घोड़ा, लै लगाम चित चबका।
चेतनि असवार ग्यांन गुरू करि, और तजौ सब ढबकाई।[3]

(अनाहद नाद अहरन है, बिन्दु (शुक्र) हथौड़ा है और इला-पिंगला दोनों नाड़ियाँ हवा करने की धोंकनी हैं। मूलाधार को दबाकर दृढ़ आसन से बैठो, जिससे संसार का आवागमन मिट जाएगा।

सहज की जीन और पवन का घोड़ा बनाओ। लय की लगाम और चित्त को चाबुक बनाओ। इस प्रकार चेतना को सवार बनाकर गुरु ज्ञान तक पहुँचो, अन्य सभी उपायों को छोड़ दो।)

(ख) गोरखनाथ के समय में भारतीय धर्म साधना की अवस्था विचित्र थी। पूर्ववर्ती और समसामयिक सिद्धों में अनेक कुरीतियाँ और रूढ़ियाँ घर किए हुए थीं। गोरखनाथ इन सबके लिए एक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में पैदा हुए थे। अपने प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त करने के लिए गोरखनाथ ने उन्हें ललकारा ओर यत्र-तत्र अभिव्यंजना के दुरूह माध्यम को अपनाया। गोरखनाथ ने अपनी बात को इस तरह कहा है कि अच्छे-अच्छे पंडित चक्कर खा गए—

---

1 कबीर-डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ८०
2 गोरखबानी, पृ० १२९।
3 गोरखबानी, पृ० १३०।

बूझौ पंडित ब्रह्म गियांनं, गोरष बोलै जाण सुजांनं ।
बीज बिन निसपती मूल बिन बिरषा पांन फूल बिन फलिया ।
बांझ केरा बालूड़ा, प्यंगुल तरवरि चढ़िया ।
गगन बिना चंद्रम ब्राह्मांड बिन सूर, झूझ बिन रचिया थानं ।
ए परमारथ जे नर जांणै, ता घटि परम गियांनं ।[1]

गोरखनाथ पंडितों को चुनौती देते हुए कहते हैं—'हे पंडित ! ब्रह्मज्ञान को समझो । सुज्ञानी गोरखनाथ ब्रह्मज्ञान का वर्णन करता है । उसकी उत्पत्ति बिना बीज के हुई है । वह बिना मूल का वृक्ष है । बिना पत्तों और फूलों के फल जाता है । वह वंध्या का बालक है । लंगड़ा होते हुए भी वृक्ष पर चढ़ा हुआ है । वह बिना आकाश का चन्द्रमा है और बिना ब्रह्माण्ड का सूर्य है । वह बिना मैदान के ही युद्ध है । इस परमार्थ को जो जानता है, ज्ञान उसी के भीतर उदित होता है ।'

गोरख ने अन्य अनेक आध्यात्मिक सिद्धान्तों को इसी प्रकार जटिल बनाकर पंडितों के सामने रखा । जटिलता की इस शैली में ही आध्यात्मिक रूपकों का प्रयोग हुआ है । इस जटिलता के कारण ही सिद्धों की भाषा को पुराने लोगों ने 'सन्ध्या-भाषा' कहा है ।[2]

(ग) नाथपंथी योगियों की अद्भुत करामातों से साधारण जनता चकित और भयभीत रहती थी । गोरखनाथ ने जनसाधारण पर अपना प्रभुत्व एवं भय अधिक करने के लिए भी इस शैली को अपनाया है । गोरखनाथ को तो ऐसी उल्टी चर्चा करनी है कि जनसाधारण उसे सुनकर चमत्कृत हो उठे—

नाथ बोलै अमृत बाँणीं बरिषैगी कंबली भीजैंगा पांणीं ।
गाड़ि पडरवा बाँधिले षूंटा, चलें दमांमां बाजिले ऊँटा ।

---

1 गोरखबानी, पृ. १०८ ।

2 (क) 'सिद्धों ने भाषा में कविता करके यद्यपि अपने विचारों को जनता के समझने लायक बना दिया, तथापि डर था कि विरोधी उनके आचार-विरोधी कर्म-कलाप का खुलेआम विरोध कर कहीं जनता में घृणा का भाव न पैदा कर दें, इसीलिए वह एक तो विशेष योग्यता-प्राप्त व्यक्तियों को ही उन्हें सुनने का अवसर देते थे, दूसरे भाषा भी ऐसी रखते थे, जिसका अर्थ वामाचार और योगाचार, दोनों में लग जाये । इस भाषा को पुराने लोगों ने 'संध्या भाषा' कहा है, और आजकल 'निर्गुण', रहस्यवाद' या 'छायावाद' कह सकते हैं ।'
(पुरातत्व-निबन्धावली-राहुल सांकृत्यायन, पृ. १६)

(ख) डा. दयानन्द श्रीवास्तव ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में प्रतीकार्थों को संध्या अर्थ कहकर उदाहरण दिए हैं । दे. पृ. १६६

(ग) डा. रामकुमार वर्मा 'संध्या भाषा' का दूसरा अर्थ लेते हैं-"मेरे विचार से तो संध्या भाषा का सीधा-सादा अर्थ यही है कि वह भाषा जो अपभ्रंश के संध्याकाल या 'समाप्त होने वाले काल में लिखी गई ।" (—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. ६७)

(घ) 'सहजयानियों में इस प्रकार की उल्टी बानियों का नाम 'सन्ध्या-भाषा' प्रचलित था ।' (कबीर—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ८२)

कउवा की डाली पीपल बासै मूसा के सबद बिलइया नासै ।
चले बटावा थाकी बाट, सोवै डुकरिया ठौरै पाट ।
ढूकिले कूकर भूकिले चोर, काढै धणीं पुकारै ढोर ।
ऊजड़ षेड़ा नगर मझारी तलि गागरि ऊपर पनिहारी ।
मगरी परि चूल्हा धूँधाई, पोवणहारा कौं रोटी षाइ ।
कांमिनी जलै अंगीठी तापै, बिचि बैसन्दर थरहर कांपै ।
एक जु रढिया रढती आई, बहू बिवाई सासू जाई ।
नगरी कौ पाँणी कूई आवैं, उलटी चरचा गोरष गावैं ।

अगर इस आध्यात्मिक चर्चा को सीधा कर दिया जाय तो इस प्रकार कहा जा सकता है—'गोरखनाथ अमृतमयी वाणी से कहता है—जोगी के दैहिक और मानसिक कर्म शुद्ध होकर अस्तित्व को नम बना देंगे । माया से उत्पन्न अविवेक को स्थिर करके माया का विरोध कर लो । अनाहत नाद निरन्तर सुनाई दे रहा है जिससे स्थूल मन बाजे की तरह बजाया जा रहा है । अविवेकी मन उच्च अवस्था को प्राप्त करके ही ब्रह्मानुभव करता है । सूक्ष्म अन्तर्मुखी जीवन से माया भागने लगती है ज्ञान मार्ग पर चलने से मोक्ष प्राप्त होता है और इस प्रकार मार्ग ही समाप्त हो जाता है । माया जब निर्बल पड़ जाती है तो आध्यात्मिक जीवन उसे दबा लेता है । द्रोही मन के छिप जाने पर ही आत्मज्ञान प्रबल होता है । इंद्रियों नवरंध्र आदि में बसी हुई जो माया की नगरी थी वह सब उजड़ा गाँव सी हो गयी है, इन्द्रियाँ अब वैभव हीन हो गयी हैं, उन्हें अब विषयों का खाद्य नहीं मिलता है । इस शरीर में आत्मा ब्रह्मरंध्र में ऊपर रहती है और कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार में रहती है । जीव को जब वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो गया है तो वह ताप रहित हो गया है और माया नष्ट हो रही है । ब्रह्मानुभूति होने पर जीव माया को खा जाता है । ब्रह्म साक्षात्कार के कारण माया जल रही है और जीवात्मा को ब्रह्मसुख प्राप्त हो रहा है । जलती हुई माया ब्रह्माग्नि में थर-थर काँप रही है, क्योंकि उसे पूर्ण नष्ट होने का भय है । दृढ़ लगन और साधना से मायिक उलझन ब्रह्मसत्ता को जन्म देती है । कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मरंध्र से निकल कर मूलाधार चक्र में स्थित है । योगी अपनी साधना से उसे उलट कर फिर उसी स्थान पर पहुँचा देता है ।'

इस आध्यात्मिक चर्चा को उल्टा करके कहने में जनसाधारण को चमत्कृत करने की भावना ही निहित है । अन्य नाथ सिद्धों तथा संत-कवियों में भी यह प्रवृत्ति पायी जाती है । कहीं-कहीं तो प्रतीक-योजनाओं में पर्याप्त साम्य दिखाई देता है [1]

---

1 (अ) एक अचंभा ऐसा हुआ, गागरि मांहि उसारवा कूवा ।
वोछी लेज पहुँचै नांहीं, लोक प्यासा मरि मरि जाही ।
'—जलंध्री पाव जी की सबंदी (नाथ सिद्धों की बानियां, पृ० ५२)
(आ) 'पाताल की मीडकी अकासी जंत्र बजावै ।
चंद सूरिज मिलै गंग जमन गीत गावै ।।

प्रतीकात्मक शब्दावली का विभाजन

गोरखबानी में प्रयुक्त सम्पूर्ण आध्यात्मिक रूपकों को हम तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं--- (क) आध्यात्मिक तत्त्व के लिए विभिन्न लौकिक शब्द। (ख) विभिन्न आध्यात्मिक तत्त्वों के लिए एक लौकिक शब्द (अनेकार्थी स्थिति) और (ग) एक आध्यात्मिक तत्त्व के लिए एक ही लौकिक शब्द (एकार्थी स्थिति)

(क) एक आध्यात्मिक तत्त्व के लिए विभिन्न लौकिक शब्द

माया–गोरखबानी में ४६ ऐसे आध्यात्मिक तत्त्व हैं जिनके लिए एक से अधिक लौकिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। सबसे अधिक 'माया' के लिए ४० लौकिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। माया के लिए सर्वाधिक प्रयुक्त प्रतीक 'बाघनी' है। वाणी में यह शब्द १२ बार प्रयुक्त हुआ है। माया स्त्री रूपिणी होते हुए भी अत्यधिक प्रबल है। बाघनी तो चलते-फिरतों पर भी हाथ साफ़ कर जाती है फिर जो लोग बाघनी को घर में ही पालते हैं वे कैसे बच सकते हैं—

दिन दिन बाघिनी सींया लागी, राति सरीरै सोषै।
बिषै लुबधी तत न बूझै, धरि लै बाघनी पोषै ॥[2]

अधिक शक्तिशाली होने के कारण गोरख ने उसे 'स्यंघ' (शेर) भी कहा है। सर्प का काम डसना होता है; माया भी सर्प की भाँति जीव को डसती रहती है इसीलिए उसे 'सरप', 'काली नागनी' तथा 'स्रपणी' (६ बार) कहा है। जीव एक चूहे के समान है। चूहा बिल्ली का भोजन होता है। जीव माया का भोजन है अतः माया को 'बिलइया' (२ बार) से संकेतित किया है। बिल्ली चुपके-से, धोखे में वार करती है—माया का आक्रमण भी दृष्टिगत नहीं होता। माया को आत्मा के समक्ष तो तुच्छ ही माना जाएगा। आत्मा एक शक्तिशाली बाघ के समान है। इसलिए माया को 'गाय' कहा है। गाय तो वैसे ही सीधेपन के लिए प्रसिद्ध है फिर शेर के सामने तो वह और भी तुच्छ है। आत्मा के ही समक्ष तुच्छता के अर्थ में माया को 'चींटी' भी कहा गया है। यहाँ आत्मा पर्वत के समान है। गाय और शेर तथा चींटी और पर्वत के जोड़े साभि-प्राय प्रयुक्त हुए हैं। माया दो प्रकार की होती है---एक स्थूल माया और दूसरी सूक्ष्म माया। गोरखनाथ ने स्थूल माया के लिए 'ऊँट' तथा सूक्ष्म माया के लिए 'सुसिल्यो' (३ बार) शब्दों का प्रयोग किया है। स्थूलकाय ऊंट के सामने खरहा सूक्ष्मकाय जीव ही कहा जाएगा। माया के दो रूप हैं –एक विद्यामाया और दूसरा अविद्यामाया।

सकल ब्रह्मंड उलटि अधर नाचै डीव।
सति सति भाषंत सिध गरीव ॥'

—सिध गरीब जी की सबदी (नाथ सिद्धों की बानियां, पृ॰ १३)

(इ) 'तरवर एक पींड बिन ठाढ़ा बिन फूलां फल लागा।
साखा पत्र कछु नहिं वाकै अष्ठ गगन मुख बागा ॥'

—कबीर ग्रंथावली—डा. पारसनाथ तिवारी, पृ. १०८/३

2 गोरखबानी, पृ. १४३

जिस प्रकार काँटे से काँटा निकलता है उसी प्रकार विद्यामाया से अविद्यामाया को नष्ट किया जाता है। इसीलिए विद्यामाया के लिए 'शूल' तथा अविद्यामाया के लिए 'काँटा' शब्दों का प्रयोग हुआ है—'सूलैं काँटा भागा'[1] सूल (विद्यामाया) से काँटा (अविद्यामाया) नष्ट हुआ।) विद्यामाया के लिए अन्यत्र 'बूढ़ी' शब्द का प्रयोग हुआ है। युवती नारी पुरुष के लिए एक आकर्षण है किन्तु बूढ़ी होने पर उसमें मातृत्व की भावना आ जाती है। विद्यामाया भी मोक्षदायिनी होती है। जीव माया से बँधा हुआ है इसलिए माया एक 'खूँटा' के समान हुई। निबौरी कड़वी होती है, माया का स्वाद भी तत्वतः कड़वा ही होता है अतः माया को 'नींब बिजौरैं' कहा गया है। आत्मतत्त्व एक बेल के समान है, संसार के दुःख अग्नि के समान हैं। माया बेल की नई-नई कोंपलें हैं। बेल जैसे-जैसे चलती है वैसे-वैसे नई कोंपलें उसमें विकसित होती हैं—सांसारिक दुःख माया के प्रसार के लिए बहुत अनुकूल हैं। 'जिम जिम बेलीं दाझवा लागी, तब मेल्है कूंपल डाला[2] (२ बार)। लाल-लाल नई-नई कोंपलें वहुत ही आकर्षक होती हैं—माया भी आकर्षक है। माया का प्रसार बहुत बड़ा है इसी कारण उसे 'तरवर' कहा है। अत्यधिक प्रसार के कारण ही असत्य माया को 'बेल्यो' अथवा बेली' (३ बार) कहा गया है। कोयल का आम से सगा सम्बन्ध है। इधर आम बौरा उधर कोयल का कुहू कूजन प्रारम्भ हुआ। मनोवृत्ति कोयल के समान है, इसी कारण माया 'अबिला' (आम) अथवा 'आंबो' (आम) के समान हुई। किन्तु ज्ञानोदय होने पर मनोवृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर अपने में ही आनन्द का अनुभव करने लगती हैं फिर माया की कोई आवश्यकता नहीं। यहाँ तो कोयल ही बौरने लगी, फिर आम की क्या आवश्यकता? चलि रे अबिला कोयल मोरी।[3] इसी प्रकार की एक उलटबाँसी में मोर बरसता है और सावन कूकता है (बरषै मोर कहूकै सावण)।[4] यहाँ मन तो मोर है माया सावन है। साधारण स्थिति में सावन बरसता है और मोर कूकता है या यों कहिए कि माया के प्रसार से मन प्रसन्न होता है किन्तु आत्म-ज्ञान होने पर माया अपने जगत् के रूपों की ओर चल देती है और मन अपनी बहिर्मुखी वृत्तियों की वर्षा अर्थात् त्याग कर देता है। माया जीव को जलाने का काम करती है इसलिए उसे 'चूल्हा' कहा गया है। जल का काम डुबाना है, माया में भी जीव डूबा रहता है अतः माया को 'जल' कहा है। लंका राक्षसों की नगरी हैं, वहाँ जाकर बचना असंभव है। माया के जालों से बचना असम्भव है अतः माया को 'लंका' कहा है, माया में फँसे जीव को संशयात्मा कहते हैं। मायावी जीव सदैव शंकित रहता है इसलिए माया को 'संक्या' (शंका) कहा है। अंजन कालिमा युक्त होता है फिर भी वह आकर्षक है।

1 गोरखबानी, पृ० ३०
2 वही, पृ० १०७
3 वही,, पृ० १५२
4 वही पृ० २११

माया भी दोष युक्त है किन्तु आकर्षक है इसलिए माया को 'अंजन' कहा गया है। ब्रह्म माया से निलिप्त होता हैं इसलिए उसे निरंजन कहते हैं। जहाँ मेंढक टर्र-टर्र की रट लगा रहा हो वहाँ किसी काम में ध्यान लगाना कठिन है। माया में बीच रहकर ब्रह्म का ध्यान लगाना कठिन है। इसीलिए माया को 'दुदर' (दादुर) कहा है। देवी पर बकरे की बलि चढ़ाई जाती है, माया पर न जाने कितने बुद्ध अपनी बलि चढ़ाया करते हैं। इसीलिए माया 'देवी' हुई। गोरखनाथ ने माया को सबसे अधिक शक्ति के रूप में देखा है। स्त्री के दो रूप होते हैं, एक मनमोहक तथा आकर्षक और दूसरा घृणात्मक। माया में लिप्त जीव के लिए माया आकर्षक है और एक योगी के लिए घृणात्मक। जहाँ माया का मनमोहक रूप चित्रित करना है वहाँ गोरखनाथ ने उसे 'सुन्दिर', 'कांमनि' कहा है और जहां माया का घृणात्मक रूप चित्रित करता है वहाँ उसे 'रांडी', 'बेस्या' तथा 'निरगुण नारी' कहा है। बाँझ उस औरत को कहते हैं जिसके सन्तान न हो सके। माया भी तत्त्वतः निष्फल होती है इसी कारण माया को 'बाँझ' कहा है। एक उलटबाँसी में 'सोवै डुकरिया ठौरे षाट'[1] (बुढ्ढी औरत के ऊपर खाट सोती है।) खाट एक आध्यात्मिक जीवन के समान है नारी माया के समान। आत्मिक ज्ञान के कारण जब माया निर्बल पड़ जाती है तो आध्यात्मिक जीवन उस पर हावी हो जाता है, यही 'डुकरिया' के ऊपर खाट का सोना हुआ। 'डुकरिया' में माया की निर्बलता का भाव छिपा हुआ है। मायिक जीवन में जीव माया का पुत्र है। ब्रह्मानुभूति जीव की पत्नी है तो माया ब्रह्मानुभूति की सास हुई। इसीलिए माया को 'सासूड़ी' (सास) कहा गया है। यह सम्पूर्ण सृष्टि माया से ही उत्पन्न है अतः इसे 'माई' (२ बार) अथवा 'माता' कहा गया है। इस संसार में जितने विभेद हैं वे सब माया के बनाए हुए हैं और उन विभेद-वस्तुओं को बनाकर माया फिर नष्ट कर देती है। इसी कारण माया को 'पोवणहारी' (रोटी बनाने वाली) कहा है। एक उलटबाँसी में 'रत्ती का काम मासे की चोरी (रत्ती के काम में से मासे की चोरी)[2] में माया को रत्ती कहा गया है और आत्मतत्त्व को मासा। ज्ञानोदय होने पर मायिक जीवन में ही आत्मतत्त्व प्राप्त हो जाता है।

जगत्— जगत् के लिए तीन प्रतीकों का प्रयोग हुआ है-'कैरो डाली' (२ बार), 'रैंणि' तथा 'जलि'। करील का वृक्ष कटीला होता है, यह संसार भी दुःखों से भरा हुआ है अतः इसे 'कैरो डाली' कहा गया है। इस संसार में जीव अज्ञान की नींद में सोया रहता है। संसार को रैंणि' कहा है। संसार में विषयी लोग डूबे रहते हैं इसलिए सागर संसार का समानधर्मी है। सागर में जल होता है इसलिए संसार को सागर न कहकर गोरख ने जल ही कह दिया है। यहाँ जल सागर का वाची है।

ब्रह्म— ब्रह्म के लिए गोरखनाथ ने २२ रूपकों का प्रयोग किया है। गोरखनाथ ने भी अन्तर्यामी ब्रह्म को 'पुरिष' (५ बार), 'परमपुरुष' (२ बार), 'महापुरिष',

1 गोरखबानी, पृ० १४१
2 वही, पृ० ६२

'अलष पुरिष' (३ बार) तथा 'प्रांण पुरिष' कहा है। परब्रह्म इस संसार का स्वामी है इसी कारण गोरख ने उसे 'नाथ', 'नाथसतगुर' तथा 'जगन्नाथ' कहा है। जो कुछ इस ब्रह्माण्ड में है वही इस पिण्ड में है। षट्चक्रों के ऊपर मस्तिष्क में जो शून्यचक्र है वही इस पिण्ड का कैलास है। परमपुरुष से उद्‌बुद्ध होकर शक्ति–रूपी कुण्डलिनी इस शून्य चक्र में ही समागम करती है। इसलिए गोरखनाथ ने ब्रह्म के लिए शिव अथवा शिव के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया है, जैसे—'सीव' (३ बार), 'सदासिव' 'केदार, 'देवं' (२ बार) तथा 'अच्यंत'। ब्रह्म का ज्ञान आत्मा को ही होता है। हीरा को आत्मा के समान कहा है इसलिए ब्रह्म को 'सेत फटक मनि' कहा है। ब्रह्म के दीप्त होने पर ज्ञान का उजाला हो जाता है इसी कारण ब्रह्म को 'दीपक' (२ बार) कहा गया है। संसार के पदार्थ दृष्ट हैं और परमात्मा अदृष्ट है। यहाँ परमात्मा को उसके विशेषण 'अदिष्टि' से ही सूचित कर दिया है। आम के फल का स्वाद मीठा होता है, इसलिए ब्रह्म को 'आंबलियौ' कहा है। इस पंच भौतिक शरीर को 'घर' कहते हैं। परब्रह्म पंचभूतों से परे है। अतः उसे 'अघर' कहा है। एक उलटबाँसी में गोरखनाथ ने सुनार का काम करते हुए एक रत्ती सोने में से एक मासे की चोरी कर ली। रत्ती छोटी होती है और मासा बड़ा, यही तो उलटबाँसी का रहस्य है। रत्ती माया है और 'मासा' परब्रह्म। इस छोटे से मायामयी शरीर में परब्रह्म की खोज करना ही योगियों का साध्य आदर्श है ?

जीवात्मा—जीवात्मा के लिए गोरखनाथ ने २४ लौकिक शब्दों का प्रयोगकिया है। जीवात्मा को 'हंस' कहा गया है। हंस का रंग सफेद होता है वह स्वच्छता का प्रतीक है। जीवात्मा भी शुद्ध हैं। हंस अपनी तेज चाल के लिए प्रसिद्ध है; जीवात्मा भी इस शरीर को त्यागकर इतना शीघ्र जाता है कि पता नहीं लगता कहाँ गया, कब गया। जीवात्मा इस शरीर में माया के चक्कर में पड़ा हुआ है। माया एक नागिन के समान है। रोटी आत्मानुभूति है इसलिए 'कागा' जीवात्मा के समान हुआ। इस शरीर में तो आत्मा ऐसे ही रहती है जैसे पिंजड़े में तोता। यह शरीर सात धातुओं का एक पिंजड़ा है अतः आत्मा इसके अन्दर रहने वाला 'सूवा' हुआ। नवरंध्र तथा पचेन्द्रियाँ आध्यात्मिक शक्ति का पान करती रहती हैं अतः आत्मा की शक्तियाँ विक–सित नहीं होने पातीं। नवरंध्र नौ बछड़े हैं तथा पंचेन्द्रियाँ दूध दुहने वाली हैं इसलिए आत्मा को 'गाय' (२ बार) कहा है। 'गायां बाघ बिडार्‌याजी' गाय ने बाघ की दुर्दशा कर दी।) यहाँ बाघ शब्द सबल आत्मा का द्योतक है। यह अज्ञानमय जीवन रात्रि के समान है। छोटा बच्चा रात्रि के अंधकार में रोता है और अंधकार से प्रकाश में जाना चाहता है। 'बालक' इस आत्मा का प्रतीक है। आत्मा को बालक इसलिए कहा है कि बालक की तरह आत्मा भी शुद्ध होती है। आत्मा को 'ब्रह्मचारी' इसलिए कहा है कि एक तो आत्मा ब्रह्म का आचरण करती है और दूसरे ब्रह्मचारी जिस प्रकार वीर्य को रक्षित रखता है उसी प्रकार आत्मा भी अपने मूल रूप को सुरक्षित रखती है। मन एक मदमस्त हाथी के समान है जो भागना चाहता है। आत्मा एक

'राजा' (२ बार) के समान है जो उस हाथी को वश में रखता है। योगाभ्यास से ब्रह्मरंध्र के चन्द्रमा में व्याप्त अमृत प्राप्त हो जाता है। यह अमृतानन्द एक फूल के समान है। अतः इस फूल को प्राप्त कर प्रसन्न होने वाली 'मालिन' आत्मा हुई। एक उलटबाँसी में 'तलि गागरि ऊपर पनिहारी' (नीचे गागर और ऊपर पनिहारिन) में कुण्डलिनी को गागर कहा है और आत्मा को -पनिहारी' कहा है। आत्मा को 'पांगुल' इसलिए कहा है कि ब्रह्म साक्षात्कार से आत्मा अपने को इन्द्रियों से हीन समझने लगती है या इन्द्रियाँ बेकाम हो जातीं हैं जीव माया के त्रयताप से जलता रहता है। माया एक चूल्हे के समान है इसलिए जीवात्मा 'मगरी' (लकड़ी) के समान हुआ। तुच्छ माया महत्त्वपूर्ण आत्मा को दबाए रहती है। माया एक चींटी से अधिक नहीं किन्तु जीवात्मा तो एक 'पर्वत' के समान है। चींटी ने पर्वत को गिरा दिया—यही तो आश्चर्य है। आत्मा ही परमात्मा का साक्षात्कार करती है। ब्रह्मरंध्र में आसन लगाकर बालयोगी जब ध्यानस्थ होकर बैठ जाता है तो आत्मा उसी प्रकार मद के प्याले पीती है जैसे कि कोई राजा। इसी कारण आत्मा को यहाँ 'चेतनि रावल' कहा है।

जीवन—गोरखनाथ ने जीवन के लिए कुल ६ रूपकों का प्रयोग किया है। मानव जीवन एक वास्तविकता नहीं हैं—वह अज्ञान है। परम्पराओं के अनुसार शरीर को दीपक, आयु को तेल तथा जीवन को शिखा कहते आए हैं। गोरखनाथ ने एक स्थान पर जीवन को दीपक कहा है–'षूटै तेल न बूझै दीया' (जब तक आयु रूपी तेल समाप्त नहीं होता तब तक दीपक नहीं बुझता।) लक्षणा से दीपक का तात्पर्य दीपशिखा है। जिस प्रकार चूहा बिल्ली के सामने तुच्छ है उसी प्रकार यह जीवन माया के सामने तुच्छ है किन्तु सूक्ष्म अन्तर्मुखी जीवन के सामने माया की हार हो जाती है इसीलिए गोरख कहते हैं—'मूंसा के सबद बिलइया नासै।' चूहे (सूक्ष्म अन्त-र्मुखी जीवन) के शब्द से बिल्ली (माया) नष्ट हो जाती है। शेर गाय को मार सकता है, आध्यात्मिक ज्ञान भौतिक जीवन को नष्ट कर सकता है इसलिए जहाँ शेर आध्या-त्मिक ज्ञान का प्रतीक है वहाँ 'गावडी' भौतिक जीवन का प्रतीक है। एक उलटबाँसी में गोरख कहते हैं—'गऊ पद मांही पहोकर फदकै' (गोपद में तालाब तरंगित हो रहा है।) यहाँ 'गऊ पद' सूक्ष्म आध्यात्मिक जीवन के समान है तथा पहोकर स्थूल अस्तित्व के समान।

मन—मन के लिए ११ रूपकों का प्रयोग किया है। सबसे अधिक ८ बार मन का प्रतीक मृग माना है। जैसे 'मृगला'। चांचल्य एवं भटकाव धर्म के समान होने से मन को मृग कहा है। कालान्तर में मन का विशेषण 'चंचल' ही मन का पर्याय हो गया और गोरख ने मन के लिए 'चंचल' (२ बार) शब्द का प्रयोग किया है। योगियों के वेष में अन्य वस्तुओं के साथ ही साथ 'जोगोटा' भी आता है। गोरख ने 'जोगोटा' को मन के लिए प्रयुक्त किया है। मदमस्त हाथी को वश में करना आसान नहीं है। मन को वश में करना भी सरल काम नहीं है। अतः मन को 'हस्तिय' (२ बार) कहा

गया है। साधना के द्वारा मन की बाह्य वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर लेता है। मछली पकड़ने के लिए बगला भी अन्तर्मुखी ध्यानस्थ हो जाता है इसलिए मन को 'बगु' कहा गया है। वर्षा में मोर नाचता है, आनन्द मनाता है। माया के सम्पर्क से मन भी आनन्दित होता है। अतः मन को 'मोर' तथा 'भर्‌य' कहा है। इसी भाव को लेकर 'दादुर' भी कहा गया है। एक उलटबाँसी में मन को 'ऊँट' कहा गया है। स्थूल-काय ऊँट स्थूल मन का सूचक है। स्थूलता के आधार पर 'ऊँटा' भी कहा गया है। कुत्ता द्रोही होता है वह किसी को भी देखकर भोंकने लगता है, पास नहीं आने देता। मन भी द्रोही है—वह आत्मज्ञान को पास नहीं आने देता। अतः मन को 'कूकर' कहा गया है। कौआ एक क्षुद्र पक्षी है, वह अविवेकी है, उसे ग्राह्याग्राह्य का विचार नहीं है। मन भी अविवेकी है। अतः मन को 'कउआ' कहा गया है। मछली सदैव पानी में ही रहती है। बिना जल के उसका जीवन ही असम्भव है। मन भी माया रूपी जल में ही पड़ा रहता है, उससे बाहर उसकी गति नहीं है इसलिए मन को 'मंछा' कहा है।

मनसा— मन में जो इच्छा उत्पन्न होती है उसे मनसा कहते हैं। गोरखनाथ ने मनसा को ५ प्रतीकों से प्रकट किया है—'कोयल' (२ बार), 'तृया', 'भेंसि', 'नदी' तथा 'सिघ'। कोयल काली होती है किन्तु मीठा बोलती है। मन में उठने वाली इच्छाएं भी कलुषित होती हैं किन्तु मन को मीठी लगती हैं। इसलिए मनसा को कोयल कहा है। मनसा इन्द्रियों को बलवती बनाती है इसलिए मनसा को इन्द्रियाँ 'तृया' (स्त्री) कहा है। उसी प्रकार मनोवृत्तियों के सामने शान्त प्रकृति दबीदबी सी रहती है। अतः मनसा को शेर कहा है।

चेतना— योगी की चेतना योग साधना में काम देती है। योगी अचेत हुआ और साधना असफल हुई। चेतना के लिए गोरख ने तीन रूपकों का प्रयोग किया है 'मछलड़ी' 'बावन बीर' तथा 'छैल'। मायिक अहंकार एक बगुले के समान है तो चेतना एक मछली के समान हुई। बावन बीर का अर्थ है बौना-एक छोटा-सा आदमी। छोटा-सा आदमी बड़ा काम नहीं कर सकता किन्तु एक उलटबाँसी मे बावन बीर तीन सौ साठ थेगलियों का इक्कीस हजार छः सौ (२१६००) धागों से एक कंथा तैयार करता है। यहाँ ३६० थेगलियाँ ही शरीर की हड्डियाँ हैं। २१६०० धागे ही दिनभर की साँसें हैं, कंथा ही यह शरीर है और बावन बीर ही चेतना है। छैला या रसिया नींद के न होने पर ही अपनी प्रवृत्ति में सक्रिय रहता है। चेतना भी नींद के चले जाने पर सक्रिय रहती है। इसीलिए चेतना को छैल कहा गया है।

अहंकार—अहंकार के लिए गोरखनाथ ने चार रूपकों का प्रयोग किया है—'मगरमच्छ' 'विषहर' 'पिता' 'बगलों'। शक्ति और घातकता के समान धर्म के कारण अहंकार को मगरमच्छ कहा गया है, सर्प के काटने से जैसे तुरन्त जहर सारे शरीर में फैल जाता है और मानव-जीवन विपत्ति में पड़ जाता है उसी प्रकार अहंकार का

प्रभाव सारे शरीर में तुरन्त फैल जाता है और ज्ञान नष्ट हो जाता है। बाप–बेटी का सम्बन्ध स्थापित करते हुए अहंकार को पिता तथा षड्रिपुओं को उसके बच्चे कहा है। अहंकार अन्य अनेक विकारों को उत्पन्न करने वाला होता है। जिस प्रकार बगुला मछली को निगल जाता है उसी प्रकार अहंकार चेतना को समाप्त कर देता है। इसलिए अहंकार को 'बगला' कहा है।

ज्ञान—ज्ञान के लिए १८ रूपकों का प्रयोग हुआ है। गोरख ने ज्ञान के लिए 'दीपक' 'उजाला' 'प्रकाश' 'ज्योति' 'दौं', 'अगनि' तथा 'ब्रह्म अग्नि' शब्दों का प्रयोग किया है। इसलिए उसे 'हीरा' 'मोती' 'माणिक' 'स्वातिबूंद' कहा है। स्वातिबूंद का अर्थ यहाँ लक्षणा से मोती है। ज्ञान को 'मतीरा' कहा गया है। मतीरा का अर्थ है तरबूज, जो शीतलता दायक होता है। ज्ञान भी अहंकार आदि को नष्ट कर शान्ति और परमानन्द की प्राप्ति कराता है। आनन्ददायक, सात्विक और महत्त्वपूर्ण होने के कारण ज्ञान को 'माषण' कहा गया है। ज्ञान को 'अषाड़ा' इसलिए कहा गया है कि साधक ज्ञान के अखाड़े में ही सांसारिक भोगों को परास्त करता है। एक उलटबाँसी में गोरख ने 'गावड़ी के मुष में बाघला विवाइला (गाय के मुख में बाघ बिआ गया) कहा है। गाय भौतिक जीवन है और बाघ ज्ञान है, ज्ञान भौतिक जीवन में ही उत्पन्न हो जाता है। यही गाय के मुख में बाघ का बियाना हुआ। 'कटार' किसी वस्तु को काटने का काम करती है। ज्ञान से पंच ज्ञानेन्द्रियाँ काटी जाती हैं इसीलिए ज्ञान को कटार कहा गया है। मन एक कुत्ते की तरह रखवाली करता रहता है और इस शरीर में ज्ञान को नहीं आने देता। मन कुत्ते के रहते हुए, ज्ञान इस शरीर में ऐसे ही आता है जैसे 'चोर'। यहाँ चोर शब्द निष्कृष्ट भाव में प्रयुक्त नहीं हुआ हैं। फिर भी ज्ञान मन के लिए तो चोर है ही।

यमराज—गोरखनाथ ने यमराज के लिए तीन रूपकों का प्रयोग किया है। 'सिचाण' (बाज) 'सूद्र' तथा सुसूपाल (शिशुपाल)। बाज निर्दयी, शक्तिशाली, एवं भयानक होता है। अन्य पक्षियों को दाँव लगने पर झपट्टा मारकर ले जाता है। बाज के आक्रमण का पूर्व ज्ञान पक्षियों को नहीं होता। इसी प्रकार यमराज भी संसार के प्रत्येक प्राणी पर अचानक ही झपट्टा मारता है। और बाज की तरह ही उसकी जीवन लीला समाप्त कर देता है। इसलिए यमराज को सिचाण कहा है। 'सूद्र' का अर्थ है मृतक पशु को खींच कर ले जाने वाला। यहाँ शूद्र में अर्थ संकोच है। इस प्रकार के शूद्र में घृणित एवं निर्ममता का भाव भरा हुआ है। यमराज अथवा काल के लिए शिशुपाल का प्रयोग गोरखनाथ का अपना है—परम्परागत नहीं है। कुछ विचित्र भी है। वैसे इसमें संदेह नहीं है कि राजा शिशुपाल का चित्र निर्दयी, भयानक एवं शक्ति का खिचा हुआ है। एक ओर कृष्ण को जनता चाहती थी और दूसरी ओर शिशुपाल को नहीं चाहती थी। यहाँ द्रष्टव्य यह है कि एक आध्यात्मिक शब्द के लिए एक व्यक्तिवाचक संज्ञा का प्रयोग हुआ है।

पंच ज्ञानेन्द्रियाँ—आध्यात्मिक दृष्टि से पंच ज्ञानेन्द्रियाँ योग–साधना में साधक

और बाधक दोनों रूप लिये हुए हैं। नियन्त्रित ज्ञानेन्द्रियाँ साधक होती हैं और अनि-यंत्रित ज्ञानेन्द्रियाँ बाधक होती हैं। गोरखनाथ ने पंच ज्ञानेन्द्रियों के लिए दस प्रतीकों का प्रयोग किया है। ज्ञानेन्द्रियों के लिए प्रयुक्त शब्दावली दो प्रकार की है-एक तो विशे-षण के रूप में 'पंच' शब्द लगाकर जैसे 'पाँचों भाइला' 'पंचवाहक' (पाँच सैनिक) 'पंच ग्वालिया', 'पंचदेव', 'पांच संगाती' और 'पंच चोर' तथा दूसरे बिना पंच शब्द लगाकर जैसे 'चंचल', 'मृघां तथा 'गोरू' (गाय)।

पाँच ज्ञानेन्द्रियों को पांचों भाइला (पाँच भाइयों) कहकर गोरखनाथ इन्द्रियों के साथ आत्मीयता एवं प्रेम प्रदर्शित करना चाहते हैं। ज्ञानेन्द्रियों को अगर अपने पक्ष में करना है तो उन्हें पुचकार कर ही पक्ष में किया जा सकता है—डंडे से नहीं। जब गोरखनाथ को ब्रह्म-साक्षात्कार हो गया है तो पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ विरोधी नहीं हैं, साथी हैं। नाथ उनके साथ मिलकर खेलता है अत: ज्ञानेन्द्रियों को 'पाँच संगाती' कहा। देवता प्रसन्न होने पर हितकारी होते हैं और रुष्ट होने पर हानिकारक होते हैं। किन्तु प्रश्न देवताओं को प्रसन्न करने का है। इन्द्रियों को भी गोरख ने 'पंचदेव' कहा है।

बार-बार 'पंच' विशेषण का प्रयोग करते-करते वह इतना महत्त्वपूर्ण हो गया कि केवल 'पंच' शब्द ही पंच ज्ञानेन्द्रियों के लिए प्रयुक्त होने लगा। गोरखनाथ ने पंच ज्ञानेन्द्रियों के लिए 'पंच' शब्द का सात बार प्रयोग किया है।

ज्ञानेन्द्रियाँ चंचल होती हैं। यह विशेषण इतना प्रबल और प्रसिद्ध है कि गोरखनाथ ने पंच ज्ञानेन्द्रियों के लिए केवल 'चंचल' शब्द का ही प्रयोग किया है। तृष्णा और चांचल्य धर्म के समा[illegible]ने से ज्ञानेन्द्रियों को मृघां (मृग) कहा गया है। गाय जब 'हरिया'[1] हो जाती है तो वह किसी अच्छे ग्वालिये मे ही घेरी जा सकती है। गोरखनाथ ने जब स्वयं अपने को ग्वालिया कहा है तो ज्ञानेन्द्रियों को 'गोरू' (गाय) कहा है।

गोरखनाथ—गोरखनाथ के लिए 'नाथ' तथा 'लाल-ग्वालिया' शब्दों का प्रयोग हुआ है। नाथ शब्द तो गोरखनाथ का ही संक्षिप्त रूप है। यह बात दूसरी है कि इसमें इन्द्रियों को भी वश में करने का अर्थ निहित है। ग्वालिया शब्द का प्रयोग भी गाय रूपी इन्द्रियों को वश में करने के कारण ही हुआ है किन्तु 'ग्वालिया' से पूर्व 'लाल' विशेषण क्यों लगा है, बहुत संभव है 'लाल' शब्द में गोरखनाथ का रंग-रूप और सुन्दरता छिपी हुई हो। चंचल गायों को वश में करने वाले ग्वालिये में कुछ तो विशेषता होनी ही चाहिए।

योगी—'योगी' अथवा 'साधक' का काम बहुत ही वीरता का है। साधना के युद्ध में बहुत ही कम लोग डट पाते हैं। इसी कारण साधक के लिए 'सूर' का प्रयोग किया है। सूर, सूरा अथवा 'सूरिवाँ' की आवृत्ति ८ बार हुई है। गोरखनाथ ने साधक के

---

1 हरे-हरे चारे से आकृष्ट होकर उसे खाने के लिए बार-बार उसकी ओर दौड़ने वाली गाय को ब्रजभाषा में 'हरिया' गाय कहते हैं।

लिए २ वार 'धोवी' शब्द का प्रयोग किया है । धोवी का काम कपड़ों का मैल छुड़ाना है। साधक भी अपनी योग-साधना द्वारा माया का मैल छुड़ाया करता है। बुद्धि दो प्रकार की होती है-आत्म-बुद्धि और अनात्म-बुद्धि। आत्म-बुद्धि रूपी फसल में अनात्म-बुद्धि रूपी खरपतवार है। जिस प्रकार किसान अपनी फसल में से खरपत-वारों को उखाड़ फेंकता है उसी प्रकार साधक भी आत्म-बुधि की रक्षा करता हैं और अनात्म बुधि को उखाड़ फेंकता हैं। इसलिए साधक को 'हाली' (किसान) कहा है। जब तक आत्म साक्षात्कार नहीं हो जाता तब तक साधक अपने ज्ञान मार्ग पर चलता ही रहता है। अतः उसे 'बटावा' (पथिक) कहा गया है। हंस स्वच्छता एवं निर्मलता का प्रतीक है। साधक भी पाप-पुण्य से रहित और निर्मल होता है इसलिए साधक को 'हंसा' कहा गया है। सिद्धों के लिए 'पुरुषां' (पुरुषों ने) शब्द प्रयुक्त हुआ है। यहाँ पुरुष का अर्थ आत्म साक्षात्कार करने-वाले योगी से है। ब्रज क्षेत्र में 'पुरिखा' शब्द आज भी उन पूर्वजों के लिए चलता है जो ज्ञानी और उपदेष्टा थे।

शरीर—हठयोगियों के लिए यह 'शरीर' बड़े ही महत्त्व का है। जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है।[1] साधक अपनी सम्पूर्ण साधनाएँ इसी शरीर में करता है। शरीर के लिए गोरखनाथ ने १७ प्रतीकों का प्रयोग किया है। जिस प्रकार एक नगर में राजा, काजी, वजीर इत्यादि होते हैं उसी प्रकार इस शरीर में भी क्रमशः ब्रह्म, विचार, पंचतत्त्व होते हैं। इसलिए शरीर को 'नग्र' (२ बार) कहा है। शरीर के लिए अगर सम्पूर्ण नगर प्रतीक रूप में न आकर केवल राजनगर का किला आए तो अधिक समीचीन रहे। दरवाजे इत्यादि से किले की रचना जिस प्रकार की होती है शरीर की रचना भी उसी प्रकार की होती है। गोरखनाथ ने 'नग्र-कोट' (२ बार) (नगर का किला) तथा 'गढ़' (२ बार) रूपकों का प्रयोग भी किया है। किले से मिलता-जुलता ही 'भुवन' शब्द भी शरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है। जो कुछ इस भुवन में है वही इस शरीर में भी है। माया रूपी विस्तृत खेल के फैलाव के लिए किसी पर्वत की ही आवश्यकता हो सकती है। इस शरीर को गोरख ने पर्वत तो कहा है किन्तु यहाँ आकर साम्य नहीं है। शरीर साढ़े तीन हाथ लम्बा होता है इसलिए शरीर को 'अहूँठ' पर्वत (साढ़े तीन हाथ का पर्वत) कहा है। एक दूसरे स्थान पर 'अष्ट कुल पर्वत' कहा है। मोटी दृष्टि से पृथ्वी और आकाश दोनों अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं किन्तु वास्तव में पृथ्वी पर ही आकाश का साक्षात्कार हो जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मतत्व और शरीर दोनों मोटी दृष्टि से अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं किन्तु तत्त्वतः ब्रह्म का साक्षात्कार इसी शरीर में होता है। इसी कारण शरीर को 'धरे' (पृथ्वी पर) कहा है। 'धरे' में-ए प्रत्यय सप्तमी विभक्ति का है। शरीर के लिए 'घट' (३ बार) उपमान परम्परागत है। यह प्रतीक इतना अधिक प्रचलित हुआ कि लोक में भी 'घट[2] माने शरीर' होने लगा। गोरखनाथ ने घट का समानार्थी 'कलस'

1 ब्रह्माण्डवर्तियत् किञ्चित, तत पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा'। सिद्ध सिद्धान्त संग्रह—पं० गोपीनाथ कविराम।

2 नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ २०

शब्द का भी प्रयोग किया है। परब्रह्म की आरती में निरति और सुरति के फूलों के साथ गोरखनाथ इस शरीर रूपी कलश को भी अर्पित करने की कामना रखते हैं। फटे पुराने चिथड़ों से बना हुआ गले में डाल लेने का जो चिह्न योगियों के पास मिलता है उसे 'कंथा' या 'कंथी' कहते हैं। गोरखनाथ कहते हैं कि इस शरीर को ही 'कंथी' समझना चाहिए, अलग से इसकी कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि शरीर में जो ३६० हड्डियाँ हैं, वे ही चिथड़े हैं जिनको सांस रूपी धागे से सींया गया है। 'घट' और 'कलश' की तरह ही शरीर के लिए 'तूंबी' शब्द का प्रयोग किया है। इस 'तूंबी' में त्रैलोक्य समाया हुआ है। कड़ुए-सूखे कद्दू से बनाया हुआ बरतन 'तूंबी' कहलाता है। तूंबी का बना हुआ एक प्रकार का बाजा, जिसे सपेरे बजाया करते हैं, 'तूमड़ी' कहलाता है। जिस प्रकार 'तूमड़ी' एक मीठी ध्वनि उत्पन्न करती है उसी प्रकार इस शरीर में भी अनाहतनाद होता है। पिंजड़े में तोता आदि पक्षी बन्द रहता है। शरीर में भी आत्मा या ब्रह्म विद्यमान है। अन्तर केवल इतना है कि तोता पिंजड़े में दिखायी देता है और ब्रह्म इस शरीर में दिखाई नहीं देता। हाँ, दसवें दरवाजे के खुलने पर उससे साक्षात्कार अवश्य होता है। इस भाव को लेकर ही गोरख ने शरीर को 'पिंजर' (पिंजड़ा) कहा है। बांबी में सर्प रहते हैं। इस शरीर में माया एक सर्पिणी के समान ही विद्यमान है। इसलिए शरीर को 'वांबी' कहा है। खेत तो बहुत होते हैं किन्तु अच्छा खेत वही है जिसमें फसल उगे। यह शरीर भी 'क्यारी' के समान है। इसमें बीज रूप से परमात्मा विद्यमान है किन्तु वही शरीर सफल है जिसमें कुछ उपज हो जाये—ब्रह्म का स्वानुभव हो जाये। शरीर की रचना पाँच तत्त्वों से हुई है इसलिए 'पंचतत' (दो बार) शब्द ही शरीर का पर्याय बन गया है। शरीर में चेतना तो प्राणों की होती है वरना यह शरीर तो जड़ है—मरा हुआ है अतः इसे 'मूवां' कहा है। 'षड़ासण' हठयोग का तकनीकी शब्द है। इसे 'अधारी' भी कहते हैं। यह काठ के डंडे में लगा हुआ काठ का पीढ़ा होता है। योगी इसे अपने साथ रखते हैं और आवश्यकता पड़ने पर इस पर बैठ जाते है। गोरख ने शरीर को 'खड़ासन' कहा है। गोरखनाथ केवल भेष धारी जोगी पर अधिक विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार हठयोग के सभी साधन इस शरीर में ही विद्यमान हैं।

हड्डियाँ—शरीर की सम्पूर्ण हड्डियों के लिए गोरख ने 'थेगली' तथा 'तीन सै साठी' प्रतीकों का प्रयोग किया है। शरीर पुराने चिथड़ों की एक कंथा है और इसमें चिथड़े हैं इसकी हड्डियाँ। हड्डियों की संख्या ३६० होती है अतः हड्डियों का यह संख्यावाची विशेषण 'तीन सै साठी' ही शरीर की हड्डियों के लिए प्रयुक्त होने लगा। शरीर की हड्डियों में चौसठ जोड़ होते हैं अतः इन जोड़ों के लिए 'चौंसठ हाट' कहा गया है।

नव द्वार—शरीर के अन्दर नौ द्वार होते हैं। इन द्वारों के लिए गोरखनाथ ने ६ प्रतीकों का प्रयोग किया है। शरीर एक नगरी के समान है अतः शरीर के नव

द्वारों को 'नग्री द्वार' कहा है। 'नव दरवाजा' (४ बार) 'नव घाटी' (२ बार) तथा 'नौ लष षाई' शरीर के नव दरवाजों को ही प्रकट कर रहे हैं। शरीर में नव रन्ध्रों के लिए नौ के स्थान पर 'नौ लाख' का प्रयोग इस शरीर की केवल विस्तृतता को ही सूचित करता है—संख्या नहीं। केवल 'दर' शब्द ही नौ दरवाजों के लिए प्रयुक्त हुआ है। दो बार गोरखनाथ ने केवल संख्यावाची विशेषण 'नव' को ही शरीर के नव द्वारों के लिए प्रयुक्त किया है। यह उसी प्रकार है जैसे पंच ज्ञानेन्द्रियों के लिए प्रयुक्त 'पंच' शब्द। यह शरीर सम्पूर्ण पृथ्वी के समान है। पृथ्वी के नौ खण्ड होते हैं अतः शरीर के नौ दरवाजे 'नव षंडा' (४ बार) हुए। शरीर को एक कमल के पौधे के रूप में चित्रित करते हुए शरीर के नवरन्ध्रों को 'नौ कली' कहा है। जिस प्रकार गाय का बछड़ा उसका दुग्धपान करता रहता है उसी प्रकार शरीर के नवरन्ध्र आध्यात्मिक शक्ति का पान करते रहते हैं—ह्रास करते रहते हैं। आध्यात्मिक शक्ति अगर गाय है तो नवरन्ध्र 'नौ बछड़ा' हुए। जब एक ही बछड़ा गाय के दूध का पान करता रहता है तो नौ बछड़ों का क्या ठिकाना ?

प्राण—शरीर के अन्दर 'प्राण' ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। प्राण शरीर की उस वायु का नाम है, जिससे मानव जीवित रहता है। इसलिए प्राण के लिए 'जीविता' (जीवन) तथा 'दंम' (जीवन) शब्दों का प्रयोग किया हैं। यह एक प्रकार की वायु तो होती ही हैं अतः इसको 'पवन' या 'पवनां' (७५ बार) 'बाइ' या 'बाई' (२२ बार) तथा 'अनील' शब्दों में सूचित किया गया है। प्राणवायु को गोरखनाथ ने ४ स्थानों पर 'द्वादश अंगुल बाई' भी कहा है। प्राण-वायु का निवास नासारंध्रों से बाहर बारह अंगुल तक माना जाता है। रेचक के अभ्यास से जब योगी प्राणवायु को मुख से १२ अंगुल बाहर रोकने का अभ्यस्त हो जाता है तो वह दूसरे पुरुष के शरीर में प्रवेश कर सकता है। प्राणायाम के द्वारा मस्तिष्क द्वार उन्मुक्त कर वहाँ से कुण्डलिनी शक्ति को १२ अंगुल ऊपर मस्तिष्क में रोके रहने से सिद्ध पुरुषों का दर्शन होता है। प्राण वायु की इस १२ अंगुल की क्रिया के द्वारा ही इसे 'द्वादश अंगुल बाई' कहा गया है। इसी के समान एक स्थान पर 'द्वादस हंसा' का प्रयोग भी प्राणवायु के लिए किया गया है। रूप साम्य एवं गति साम्य से प्राणवायु को हंस कहा है। तीन स्थानों पर 'पूरब देश' कहा है। पूर्व देश वे तात्पर्य ज्ञानोदय की दिशा अर्थात् सहस्रार चक्र है। सिद्धि के समय प्राण सहस्रार चक्र में स्थित रहते हैं अतः प्राण को पूर्व देश कहा गया है। प्राणों का निरोध करके जब ब्रह्मरन्ध्र में स्थित कर दिया जाता है तब सिद्धि प्राप्त होती है। सिद्धि अग्नि के समान है और प्राण 'धुआँ' के समान है। जैसे धूम अग्नि का होना सिद्ध करता है, वैसे ही प्राणों का ऊपर उठकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित होना सिद्धि प्राप्ति का लक्षण है। धुवाँ हल्का होता है और उसकी गति ऊपर की ओर होती है। प्राण भी हल्के होते हैं और सिद्धि के लिए उर्ध्वगामी होते हैं। प्राण को 'गरड़' (गरुड़) कहने में दो भाव हैं। एक तो गति साम्य और दूसरा उलटबाँसी के आधार पर कुण्डलिनी को सर्पिणी बताकर उससे सामंजस्य स्थापित करना। गरुड़ और सर्प में

जन्मजात शत्रुता होती है किन्तु योगाभ्यास से इनमें सामंजस्य हो जाना ही उलटबाँसी है। एक दूसरे स्थान पर ठीक इसके विपरीत प्राण अथवा श्वास को 'भुवंगम' (सर्प) कहा है और निरोध-क्रिया को गरुड़। जब तक प्राण आते-जाते हैं, उनका निरोध नहीं होता, तब तक सिद्धि-योग दुर्लभ है। श्वास-क्रिया के द्वारा अजपाजाप सिद्ध होता है इसलिए प्राण को 'धंमणि' (धौंकनी=श्वास क्रिया) कहा है। आदमी दिनभर २१६०० साँसें लेता है। ये साँसें ही शरीर की रचना में 'धाग' (धागें) (२ बार) का काम करती हैं।

नाड़ियाँ—शरीर के अन्दर अनेक नाड़ियाँ होती हैं। उनकी कुल संख्या बहत्तर हजार हैं। उनमें से बहत्तर श्रेष्ठ हैं और उनमें से भी दस अधिक प्रसिद्ध हैं। जहाँ गोरख ने बहत्तर नाड़ियों का वर्णन करना चाहा है वहाँ तो 'बुरिज बहत्तरि' (बहत्तर बुर्ज), 'बहत्तर कोठड़ी' (बहत्तर कोठे), 'कोठड़ी बहतीर' (बहत्तर कोठे) तथा 'नदी अठारह गंडिक' (१८×४=७२) कहा है और जहाँ नौ नाड़ियों का वर्णन करना चाहा है वहाँ 'नौ नाटिका' (नौ नाड़ियाँ) 'नौ सै नदी', 'नौ सै षाई' तथा 'नौ सै जोगणी' कहा है। सुषुम्ना को छोड़कर दस में से नौ नाड़ियाँ शेष रहती हैं। सुषुम्ना को इसलिए छोड़ दिया गया है क्योंकि ये सभी नाड़ियाँ सुषुम्ना में आकर ही मिलती है। जहाँ नौ और बहत्तर दोनों का ध्यान एक साथ रहा है वहाँ 'नव बहत्तरि (२बार) कहा है। इन सभी प्रतीकों में देखने से विदित होता है कि नाड़ियों को 'नदी', 'खाई', 'बुर्ज', 'जोगिनी' तथा 'कोठे' कहा गया है। नदियों में जल होता है और वे खेतों को सींचती हैं। शरीर की नाड़ियाँ भी प्राणधारा से आत्मा को सींचती हैं। नाड़ियाँ खाई की तरह से किले रूपी शरीर की रक्षा करती हैं और वे ही बुर्ज के समान शरीर में विद्यमान हैं। कायारूपी गढ़ में नाड़ियाँ कोठे के समान हैं। नाड़ियों को 'जोगिनी' कहने से स्पष्ट होता है कि गोरखनाथ अपने सम्प्रदाय में जोगिनियों को सम्मिलित नहीं करना चाहते। इसीलिए नाड़ियों के रूप में इस शरीर में ही जोगिनियों की खोज की है। नौ नाड़ियों के लिए 'नौसै' शब्द नाड़ियों की अधिक संख्या ही सूचित करता है। निश्चित 'नौ सौ' नहीं। यहाँ 'नौ सौ' का अर्थ 'नौ' ही है।

सुषुम्ना—शरीर की सम्पूर्ण नाड़ियों में 'सुषुम्ना नाड़ी' सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसे ही ब्रह्मनाड़ी भी कहते हैं। यह मेरुदण्ड में स्थित है। साधक कुण्डलिनी शक्ति को इस सुषुम्ना नाड़ी में होकर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचाता है। टेढ़ी-मेढ़ी होने के कारण इसे 'वंकनालि' (७ बार) (टेढ़ी नाड़ी) कहा गया है। एक स्थान पर केवल 'नाली' (नाड़ी) शब्द से ही इसे सूचित किया गया है। मेरुदण्ड में स्थित होने के कारण इसे 'मेर नाली' (मेरु दण्ड की नाड़ी) कहा गया है। (३ बार) केवल 'मेर' शब्द ही सुषुम्ना के लिए प्रयुक्त हुआ है। मेरु में स्थित नाड़ी का नाम भी मेरु है जैसे—आम पर आने वाला फल भी आम। सुषुम्ना शरीर में पीछे की ओर अर्थात् पश्चिम की ओर स्थित है अतः इसे 'पछिम' (६ बार) 'पछांही' (२बार) 'पछांही घाटी' तथा 'पछिम क्षेत्र' कहा गया है। सुषुम्ना नाड़ी इड़ा और पिंगला के बीच में स्थित है।

इड़ा गंगा तथा पिंगला यमुना के समान है अतः सुषुम्ना 'गंग यमुन की घाटी' हुई। प्राणवायु सुषुम्ना में आती जाती रहती है। प्राणवायु सर्प के समान है। सर्प को सुगन्धि प्रिय होती है अथवा वह चन्दन के वृक्ष पर रहता है। इसलिए सुषुम्ना को 'सुरहि घरि' (सुगन्धित अथवा चन्दन का घर) कहा गया है। इड़ा और पिंगला के लिए क्रमशः इकटी, विकटी शब्दों का प्रयोग किया गया है। इकटी–विकटी के साम्य से ही सुषुम्ना के लिए 'त्रिकुटी' (तीसरी) शब्द का प्रयोग किया है। सुषुम्ना ज्ञान–मार्ग तक पहुँचाती है अतः उसे ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी 'बांणीं' (सरस्वती) कहा है। सुषुम्ना में इड़ा–पिंगला दोनों के प्रवाह की सन्धि होती है अतः इसे 'विषमी सन्धि' कहा गया है। एक स्थान पर 'सहस्र नाड़ी' का प्रयोग हुआ है। डा०बडथ्वाल ने 'सहस्र नाड़ी' का अर्थ सुषुम्ना अथवा सहस्रार दोनों ही किया है। सहस्र से 'सहस्रार' तो आसान है किन्तु एक तो सहस्रार नाड़ी नहीं है दूसरे प्राणवायु का निवास सुषुम्ना में होता है। अतः 'सहस्र नाड़ी' का अर्थ सुषुम्ना ही अधिक ठीक है। हो सकता है 'सहस्र' शब्द ब्रह्म के लिए आया हो और 'सहस्र नाड़ी' का अर्थ ब्रह्मनाड़ी हो।

इड़ा—शरीर की दूसरी महत्त्वपूर्ण नाड़ी का नाम है 'इड़ा'। मेरुदण्ड में यह सुषुम्ना के बाँई ओर होती है जो नाक के बाँये छेद में समाप्त होती है। प्राणवायु की संचालिका होने के कारण इसे 'गंग' (७ बार) 'बारि गंगा' (इस ओर की गंगा) और 'नीली गंगा' कहा है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना तीन नाड़ियों में से पहली होने के कारण इसे 'इकटी' (पहली) कहा गया है। इड़ा नाड़ी में चन्द्रमा का प्रकाश रहता है इसलिए इसे ससिहर (शशधर=चन्द्रमा), 'षोडस नाड़ी' (सोलह–कला=चन्द्रमा की नाड़ी), 'नोसत' (९+७=१६ अर्थात् चन्द्रमा), 'ससि' (२ बार) तथा 'चंदा' (१२ बार) कहा है। चन्द्रमा की सोलह कला होती हैं।

पिंगला—शरीर की तीसरी महत्त्वपूर्ण नाड़ी पिंगला है। मेरुदण्ड में यह सुषुम्ना के दाँई ओर होती है, जो नाक में दांये छेद में समाप्त होती है। प्राणवायु की संचालिका होने के कारण इसे भी गंगा कहा है किन्तु इड़ा से भेद करने के लिए इसे 'काली गंगा', 'पारिगंगा' कहा है। इतने से भी भेद सुस्पष्ट न हो सके तो फिर इसे 'जमुन' (६ बार) कहा है। तीन नाड़ियों में से दूसरी होने के कारण 'बिकुटी' कहा है। पिंगला में सूर्य का प्रकाश रहता है अतः इसे 'द्वादश नाड़ी' (बारह कला वाले सूर्य की नाड़ी), 'द्वादश' (बारह कला अर्थात् सूर्य), 'भाँण (३बार) (भानु) 'रवि' (३ बार) 'सूरजि' तथा 'सूर' (९ बार) कहा है।

इड़ा+पिंगला—तीन प्रतीक ऐसे हैं जो इड़ा—पिंगला दोनों के लिए एक साथ आये हैं। इड़ा चन्द्रमा है और पिंगला सूर्य है। दोनों को एक साथ कहना हुआ तो 'रविचन्दा' कह दिया। इड़ा गंगा है। और पिंगला जमुना है। दोनों को एक साथ कहना हुआ तो 'गंगा जमुना' कह दिया। एक स्थान पर दोनों को 'पूरब देश' कहा है। इड़ा और पिंगला नासिका के अग्र भाग में अर्थात् शरीर के आगे के भाग में समाप्त होती हैं अतः इन्हें 'पूर्वदेश' कहा गया है।

षट्चक्र—इस शरीर में षट्चक्र होते हैं-मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा। 'मूलाधार चक्र' रीढ़ के अधोभाग के वायु और मुष्कमूल के मध्य स्थित है। यह चार दल वाले पद्म के समान होता है। यह शरीर के मूल में स्थित होने के कारण 'मूल' (४ बार), 'मूल कमल', 'धरती (५ बार) तथा 'अरध' (३ बार) कहा गया है। शरीर में ब्रह्मरंध्र का भाग उत्तर दिशा माना गया है अतः उसके विपरीत नीचे का भाग दक्षिण माना गया। मूलाधार चक्र नीचे होने के कारण उसे 'दक्षिण' (३ बार) कहा गया है। षट्चक्रों में सबसे प्रथम होने के कारण 'उदैग्रहि' कहा गया है। जिस प्रकार पानी कुएँ से निकाल कर नगर में पहुँचाया जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मरन्ध्र से अलग होकर कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार चक्र में आकर स्थित हो गयी है। ब्रह्मरंध्र एक कुएँ के समान है अतः मूलाधार चक्र 'नारी' हुआ।

इस मूलाधार चक्र में ही सूर्य स्थित रहता है। शरीर का आधा भाग सूर्य है और आधा चन्द्र। इन दोनों को मिलाकर सुषुम्ना में केन्द्रित करना योग का परम लक्ष्य है। इस 'मूलाधारस्थ सूर्य' के लिए गोरख ने आठ प्रतीकों का प्रयोग किया है। मूलाधार सूर्य अमृत का शोषण करता रहता है। जब योगाभ्यास द्वारा सहस्रार स्थित चन्द्र से इसका मेल कर दिया जाता है तब शोषण बन्द हो जाता है। यह सूर्य सहस्रार के चन्द्रमा से ही उद्भूत हुआ है। चन्द्रमा आकाश की गाय कहा गया है अतः मूलाधार के सूर्य को 'बछरा' (बछा) कहा है। अन्यत्र सूर्य के पर्यायवाची शब्दों से इसे द्योतित किया गया है जैसे—'सूर', (१३ बार) 'दिनकर', 'रवि', 'भाण' (भानु), 'बारह'(सूर्य की बारह कलाऐं होती हैं), 'बारा कला' तथा 'द्वादश' (२ बार)।

मूलाधार चक्र के ऊपर, नाभि के पास 'स्वाधिष्ठान चक्र' होता है। यह छह दल वाले पद्म के समान होता है। मूलाधार चक्र के पास ही स्थित होने के कारण दिशा साम्य से स्वाधिष्ठान चक्र को भी मुलाधार की तरह 'दछिण' (२बार) कहा है। 'पाताल' शब्द स्वाधिष्ठान चक्र के लिए आया है। वैसे तो सबसे नीचे मूलाधार चक्र है। पाताल उसी के लिए आना चाहिए था किन्तु यहाँ पाताल का अर्थ 'सबसे नीचे' न लगाकर 'नीचे' ही लगाना होगा और प्रसंग से यह स्पष्ट है कि वह स्वाधिष्ठान के लिए ही आया है। छह दल वाले कमल के समान होने के कारण इसे 'षटसां' कहा है।

षट्चक्रों से ऊपर मस्तिष्क में शून्यचक्र है। यह सहस्र दलों के कमल के आकार का है अतः इसे 'सहस्रार' भी कहते हैं। यही ज्ञानोदय की दिशा है अतः इसे 'पूरब' कहा है। हजार दल वाले कमल के समान होने के कारण ही इसे 'असंप दल पंषुड़ी' तथा कंवन कंवल' कहा है। इस शून्य चक्र को ही 'ब्रह्मरन्ध्र' कहते हैं। यह पिण्ड का कैलास है अतः इसे 'गगन कविलासा' 'तिरलोक' ब्रह्मंड' (२ बार' 'गोढ़' (गोष्ट=गोस्थान) तथा 'सिवघरि' कहा गया है। इस ब्रह्माण्ड में सबसे ऊपर आकाश विद्यमान है इस शरीर में ब्रह्मरन्ध्र भी सबसे ऊपर स्थित है अतः इसे आकाश के पर्यायवाची शब्दों से प्रकट किया गया है; जैसे, 'गगन' (३४ बार) 'गगन मंडल'

(१२ बार) 'गगन-सिषर' (६ बार) 'गगन अस्थांन' (२ बार) 'गगनघरि' 'आकाश' (६ बार) 'अंबर' (५ बार) 'आसमांनं' (२ बार) 'अंतरष' (अंतरिक्ष)। शरीर में उच्च स्थानीय होने के कारण इसे 'डूंगरि' (पर्वत) 'परबत' 'हेम ग्रहि' कहा गया है। भारत में हिमालय उत्तरी की ओर है। अतः ब्रह्मरन्ध्र को उत्तर दिशा में कल्पित मान लिया है और इसके लिए 'उत्तर देस' (३ बार) 'उत्तर खंड' तथा 'मुलतान' शब्दों का प्रयोग हुआ है। मुलतान भी उत्तर दिशा में ही है। शून्य चक्र होने के कारण इसे 'सुनि' (१८ बार) 'सुंनि द्वार' 'सुंनि मंडल' तथा 'सून्य आकास' कहा गया है। शरीर के दस द्वारों पें से यह दसवां तथा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है अतः इसे 'दसवां' 'दसवां द्वार' (१५ बार) 'द्वार' तथा 'बार' कहा है। उच्च स्थानीय होने के कारण ही इसे 'अधर' (२ बार) 'उरध' (उर्ध्व) तथा 'ढ़कणी' (ढक्कन) कहा है। तीन बार 'भ्रमर गुफा' कहा गया है।

इस सहस्रार चक्र में ही 'चन्द्र' स्थित रहता है। मूलांधारस्थ सूर्य इस चन्द्रमा से ही अलग हुआ है। सूर्य को उर्ध्वगामी बनाकर चन्द्रमा से मेल कराना ही योगी का लक्ष्य है। मूलाधारस्थ सूर्य को उत्पन्न करने के कारण इसे 'आकास की घेन' कहा है। इसके अतिरिक्त सभी प्रतीक चन्द्रमा के पर्यायवाची हैं; जैसे, 'चंद' (१७ बार) 'ससि' (३ बार) 'ससिहर' (२ बार) (शशधर-चन्द्रमा) 'पूनम चंदा' 'सोलह' (चन्द्रमा की सोलह कलाएें होती हैं।) 'सोला कला' 'सोलह करंडियां' (एक करंड़िया एक कला के समान) तथा 'पूरण कला'।

त्रिकुटी—त्रिकुटी दोनों भौंहों के बीच का भाग है। 'जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है' के अनुसार त्रिकुटी को 'त्रिलोक' कहा है। दोनों नेत्रों की दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच में केन्द्रित करने पर तीन चीजों का संगम होता है अतः इसे 'त्रिवेणी' (८ बार) कहा है। शरीर से बाहर कोई तीर्थ नहीं सब इसी के अन्दर हैं अतः त्रिकुटी को 'देव देदुरा कासी' (देव, देवालय, काशी) कहा है। शुक्र का मूल स्थान त्रिकुटी में ही है और वहीं से अमृत की धारा सारे शरीर को पुष्ट करती है।

कुण्डलिनी—हठयोग के क्षेत्र में 'कुण्डलिनी शक्ति' का महत्त्व सर्वोपरि है। मेरुदण्ड जहां सीधे आकर वायु और उपस्थ के मध्यभाग में लगता है वहाँ एक स्वयंभू लिंग है जो एक त्रिकोण चक्र में अवस्थित है। इसे अग्निचक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्र में स्थित स्वयंभू लिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेटकर सर्पिणी की भाँति कुण्डलिनी अवस्थित है। यह कभी-कभी आठ वलयों में लपेटकर सोई हुई बतायी गई है। यह ब्रह्माण्ड में व्याप्त महाकुण्डलिनी रूपी शक्ति का ही व्यष्टि में व्यक्त रूप है। यह शक्ति ही है जो ब्रह्मद्वार का अवरोध करके सोई हुई है। इसे जगाकर शिव से समरस कराना योगी का चरम लक्ष्य है।[1] यह शरीर में एक प्रबल शक्ति है इस कारण इसे केवल 'शक्ति' (१२ बार) शब्द से ही सूचित किया है। आकार साम्य से इसे 'डीबी' (६ बार) 'डिबिया) कहा गया है। कुण्डलिनी को 'सापणि' (२ बार) और

1 नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २०

'नांगणि' दो कारणों से कहा गया है, एक तो यह सांप की तरह कुण्डली मारे हुए है और दूसरे जब यह ऊर्ध्वगामी होती है तो सर्प की तरह फुफकारती हुई उठती है। ऊपर उठकर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचकर यह कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार कमल के रस का पान ऐसे ही करती है जैसे कमल के फूल के रस का पान भौंरा करता है। अतः इसे 'भँवरा' (३ बार) तथा 'भुवंगम' (२ बार) ('भौंरा') कहा है। कुण्डलिनी शिव की इच्छा शक्ति है और उसका शिव से समागम ही योगी का चरम लक्ष्य है। इसलिए उसे 'देवी' (२ बार) कहा है। यह शरीर एक किले के समान है। ब्रह्मरन्ध्र में स्थित शिव इसके राजा हैं। यह 'राजंदरि' राजद्वार के मार्ग को रोके खड़ी हुई है। कुण्डलिनी शक्ति भी इसी प्रकार नीचे से ऊपर को बढ़ती है और सुषुम्ना में बढ़ने के कारण किसी को दिखायी भी नहीं देती अतः उसे 'मीमां' (मछली) कहा है। यहाँ ब्रह्मरन्ध्र बर्तन है और कुन्डलिनी 'झाल' (ज्वाला) है। कुण्डलिनी को जगाकर ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर करना योगाग्नि को प्रज्वलित करना है। इसी कारण दूसरे स्थान पर इसे 'अगनि' कहा है। आत्मा का निवास ब्रह्मरन्ध्र में है और कुण्डलिनी का मूलाधार में। एक उलटबाँसी के द्वारा इसी बात को गोरख ने कहा है कि गागर नीचे है और पनिहारिन ऊपर है। आत्म पनिहारिन है और कुण्डलिनी 'गागरि' है। शरीर में निम्न स्थान में होने के कारण इसे 'पाताल की गंगा' कहा गया है।

शुक्र—मेरुदण्ड के मूल में सूर्य और चन्द्र के बीच योनि में स्वयंभू लिंग है जिसे पश्चिम-लिंग भी कहते हैं। यही पुरुषों के शुक्र और स्त्रियों के रजःस्खलन का मार्ग है। यही काम, विषहर और निरंजन का स्थान है। वीर्य स्खलन की दो अवस्थाएँ होती हैं। इन दोनों के परिभाषिक नाम, प्रलयकाल और विषयकाल हैं। इन दोनों अवस्थाओं में जो आनन्द होता है वह घातक है। एक का अधिष्ठाता काम है और दूसरी का विषधर। तीसरी अवस्था नाना भाव विनिर्मुक्त सहजानन्द की अवस्था है। इसमें बिन्दु ऊर्ध्वमुख होकर ऊपर उठता है, तब यह सहज समाधि प्राप्त होती है जिसमें मन और प्राण अचंचल हो जाते है। ब्रह्मचर्य और प्राणायाम के द्वारा इस बिन्दु को स्थिर और ऊर्ध्वमुख किया जा सकता है।[1]

'शुक्र' के लिए पारिभाषिक शब्द 'बिन्दु' भी प्रचलित है। गोरखनाथ ने 'व्यंद' बिंद, बूंद, बूंदि तथा जलव्यंद (४२ बार) शब्दों का प्रयोग किया है। सांसारिक शरीर के लिए जल की बहुत अधिक आवश्कयता है। शुक्र को जल या उसके पर्यायवाची शब्दों द्वारा प्रकट करने का एक कारण यह भी है कि जिस प्रकार जल की स्वाभाविक गति निम्नगामी होती है उसी प्रकार शुक्र की स्वाभाविक गति भी अधोगामी होती है। ऊर्ध्वगामी तो उसे साधना के द्वारा बनाया जाता है। ऊर्ध्वगामी होकर शुक्र अमृतमय आनन्ददायक हो जाता है अतः इसे 'अमी रस' (२ बार), 'महारस (५ बार) 'रस' (२ बार) तथा 'रस–कुस' (३ बार) कहा गया है। शरीर के लिए बहुमूल्य और आनन्ददायक वस्तु होने के कारण ही इसे 'षीर' (२ बार), 'पीरसागर' 'दूध'

1 नाथ सम्प्रदाय—हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० ८४

'पारा' 'रेत', 'रेतस' तथा 'रतन' कहा गया है। 'सरोवर' कहने का भी भाव अमृत सरोवर ही है। 'नवसै नवासि सायर' कहने में शुक्र की अपरिमितता ही सूचित होती है। शरीर के निम्न भाग में स्थित रहने के कारण इसे 'अरध' तथा 'मूल' कहा है। 'मूल' कहने में शरीर के स्थायित्व का कारण भी निहित है।

अनाहतनाद—हठयोगियों में 'अनाहत नाद या अनहद नाद' एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। कुण्डलिनी शक्ति जब ब्रह्मरन्ध्र की ओर उठने लगती है तो प्राण स्थिर हो जाता है और योगी को एक विशेष प्रकार का शब्द सुनाई पड़ता है। हठयोग की पारिभाषिक शब्दावली में इसे 'शब्द' कहते आए हैं। गोरखनाथ ने तेईस बार इस का प्रयोग अनाहत नाद के लिए किया है। 'शब्द' की तरह ही 'नाद' भी परम्परागत प्रतीक है। इस विचारधारा के अन्तर्गत ही उन्होंने अनाहद नाद को 'सींगी' तथा 'सींगी नाद' कहा है। अनाहद नाद की ध्वनि साधक को पहले तो समुद्र गर्जन, मेघ गर्जन, भेरी, झर्झर की सी, फिर मृदंग, शंख, घंटा की सी और फिर अन्त में किंकिणी, वंसी, तथा वीणा की सी सुनाई पड़ती है। गोरखनाथ ने इन ध्वनि-साम्यों के आधार पर ही अनाहदनाद को 'तूरा' (५ बार) (बाजा विशेष), 'मेघ', 'दमांमां' (नगाड़ा) तथा 'धूं-धूंकार' कहा है।

ब्रह्मतत्त्व—साधक का चरम लक्ष्य 'ब्रह्मतत्त्व' की प्राप्ति है। केवल 'बिन्दु' की रक्षा से ही सब कुछ नहीं होता। शुक्र-रक्षा के साथ ब्रह्मानुभूति की आवश्यकता है। अतः ब्रह्मतत्त्व को 'महाबिंदु' कहा है। (शुक्र से अधिक महत्त्वपूर्ण) ब्रह्मतत्त्व की प्राप्ति ब्रह्मरन्ध्र में होती है। ब्रह्मरन्ध्र के लिए प्रतीक उत्तरदेश ही है अतः ब्रह्मतत्त्व के लिए 'उत्तर' (२ बार) शब्द का प्रयोग किया है।

ब्रह्माग्नि—ब्रह्मरन्ध्र में ब्रह्म का निवास है और वहाँ निरन्तर 'ब्रह्म-ज्योति' जलती रहती है। ब्रह्मज्योति को ही ब्रह्माग्नि कहते हैं। गोरखनाथ ने ५ बार इसे 'अगनि' शब्द से सूचित किया है। अग्नि अथवा ज्योति के प्रतीक 'तेज' तथा 'दीपक' शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं।

ब्रह्मानुभूति—प्राणवायु के निरोध के बाद कुण्डलिनी शक्ति जब ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है तो साधक को 'ब्रह्मानुभूति', आत्मानुभूति' या 'सहजानन्द' प्राप्त होता है। ब्रह्मानुभूति को गोरख ने 'धेन' (३ बार) 'गाय (गाइ, गाई)' (४ बार), 'गावत्री' (गाय) तथा 'कामध्येनि' (कामधेनु) कहा है। 'गाय' शब्द में भी कामधेनु की कल्पना निहित है। ब्रह्मानुभूति से साधक अमृत-पान करता है। ब्रह्मानुभूति ब्रह्मरन्ध्र से मिलने वाला फल है अतः इसे 'सुनिफल' तथा 'फल' कहा है। सूर्य में बारह कलाएँ होती हैं और चन्द्रमा में सोलह। दोनों मिलकर 'अनंत कला' बन जाती हैं। ये ही आत्मानुभूति है। एक स्थान पर ब्रह्मानुभूति को 'कला' कहा है। ब्रह्म को पुहुप कहते हैं और आनन्द को रस। इस प्रकार ब्रह्मानन्द होने से ब्रह्मानुभूति को 'मानिक' (माणिक्य) कहा है। एक उलटबांसी में गोरख कहते हैं—'सूकै तरवर कूपल मेल्हीं'[1]

1 गोरखबानी, पृष्ठ ३०

(वृक्ष के सूख जाने पर कोपलें निकलती है।) माया एक वृक्ष के समान है। माया के नष्ट हो जाने पर ही ब्रह्मानुभूति होती है अतः ब्रह्मानुभूति 'कोपलें' हुई। आत्मानुभूति को 'पीपल' कहा गया है। पीपल का वृक्ष पवित्र एवं शीतल छाया देने वाला होता है। आत्मानुभूति भी शुद्ध एवं शक्तिदायिनी होती है। ब्रह्मरन्ध्र में स्थित चन्द्रमा से अमृत झरा करता है। यह अमृतानन्द ही सहजानन्द है। इसलिए सोलह करंडियों में एक फूल की बात कही गयी है। 'एक फूल' आत्मानुभूति ही है। सहजानन्द एक बार प्राप्त होकर फिर कभी समाप्त नहीं होता अतः इसे 'अषंडितधार' कहा गया है। माया सास है। जीव माया का पुत्र है। उसने ब्रह्मानुभूति से विवाह कर लिया है। इसलिए ब्रह्मानुभूति माया की बहुड़ी (बहू) हुई।

समाधि—ब्रह्मानुभूति, सहजानुभूति या अमृतानन्द के बाद साधक समाधिस्थ हो जाता है। 'समाधि' के लिए गोरख ने ८ प्रतीकों का प्रयोग किया है समाधि के लिए 'ताली' (७ बार) शब्द इस क्षेत्र में परम्परागत है। यह पारिभाषिक शब्द है। जिस प्रकार ताली से ताला खुलता है उसी प्रकार साधक के लिए मोक्ष का द्वार खुल जाता है। 'कूँची' शब्द ताली का पर्यायवाची होने के कारण प्रयुक्त हुआ है। 'डोरी' (३ बार) प्रतीक भी पारिभाषिक है। साधक की अन्तिम साधना है। सर्वानन्द परि-पूर्ण होने के कारण इसे 'महारस' कहा गया है। समाधि के लिए 'सूंनि' (२ बार) शब्द साधक की शून्यावस्था प्रकट करता है।

ब्रह्मपद—समाधिस्थ योगी ब्रह्मपद प्राप्त करता है। तीन बार इसके लिए 'पद' शब्द का प्रयोग किया है। यह एक पारिभाषिक शब्द है। योगी के लिए प्राप्य स्थान ब्रह्म पद ही है अतः इसे 'थांन' कहा गया है। योगी का वास्तविक 'घर' भी ब्रह्मपद ही है।

मुक्ति—ब्रह्मपद प्राप्त करने के बाद साधक की मुक्ति हो जाती है। यही साधक की अन्तिम स्थिति है। बहुमूल्य होने के कारण इसे 'मोत्याहल' (मुक्ताफल तथा 'माँणिक' (मांणिक्य) कहा है।

(ख) विभिन्न आध्यात्मिक तत्त्वों के लिए एक लौकिक शब्द

इस प्रकार के शब्दों को हम अनेकार्थी या विभिन्नार्थी कह सकते हैं। जहाँ आध्यात्मिक तत्त्वों के लिए प्रयुक्त लौकिक शब्दों का प्रश्न है तो वहाँ यह संभावना और भी अधिक हो जाती है। कोई भी सांसारिक शब्द अपनी किसी विशेषता के कारण किसी आध्यात्मिक तत्त्व के लिए प्रयुक्त हो सकता है। किन्तु जब एक ही शब्द विभिन्न आध्यात्मिक तत्त्वों के लिए प्रयुक्त हुआ है तो देखना यह है कि शब्द की कौन विशेषता किस तत्त्व के लिए प्रयुक्त हुई है। आध्यात्मिक तत्त्वों के लिए प्रयुक्त लौकिक शब्दों की भागवत विशेषताओं का विवेचन पीछे के अध्ययन में हो चुका है, यहाँ केवल सूची भर प्रस्तुत की जा रही है—

लौकिक शब्द	आध्यात्मिक शब्द
अगनि	कुण्डलिनी, ब्रह्माग्नि, ज्ञान।

लौकिक शब्द	आध्यात्मिक शब्द
अरध	शुक्र, मूलाधार चक्र।
अबिला (आम)	माया, परब्रह्म।
उत्तर	ब्रह्मरंध्र, ब्रह्मतत्त्व।
षीर (दूध)	अमृत, शुक्र, लौकिक आनन्द।
गाय	आत्मा, ब्रह्मानुभूति, शान्त प्रकृति, निर्बल माया, इन्द्रियाँ भौतिक जीवन।
गगन	ब्रह्मरंध्र, अनाहद नाद, त्रिकुटी।
गंगा	कुण्डलिनी, इड़ा।
चंचल	इन्द्रियाँ, मन।
चंदा	इड़ा, ब्रह्मरंध्रस्थ चन्द्र, अमृत, चन्द्रस्वर।
पांणीं	शुक्र, अमृत, अमृतमय कर्म, कुण्डलिनी, भवसागर।
जल	अमृतरस, माया।
देवी	कुण्डलिनी, माया।
दीपक	ब्रह्मज्योति, सविकल्प एवं निर्विकल्प समाधि।
धरती	कुण्डलिनी, मूलाधारचक्र, सांसारिकता।
नगर/नगरी	शरीर, शून्य चक्र, मूलाधार चक्र।
पुरुषा	परब्रह्म, सिद्ध लोग।
परवत	ब्रह्मरंध्र, आत्मा।
पंच	पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच तत्त्व, पंच तन्मात्राएँ।
पूरब/पूरब देश	सहस्रार, इड़ा-पिंगला, प्राण।
फल	तत्त्व, ब्रह्मानुभूति।
बगु/बगलो	मन, अहंकार।
बछड़ा	मूलाधारस्थ सूर्य, नवरंध्र।
बिन्द	शुक्र, कामवासना
बहू/बहूड़ी	मायिक उलझन, सहजानुभूति।
मृघ	मन, इन्द्रियाँ।
मूल	अधिष्ठान, मूलाधार, सत्यता।
रांडी	माया, स्त्री।
रोटी	जीव, ब्रह्मानुभूति।
भुवंगम	कुण्डलिनी, श्वास।
सबद	अनाहद नाद, गुरुवचन।
सूर (सूर्य)	पिंगला, मूलाधारस्थ सूर्य, सूर्यस्वर, ब्रह्म।
सूर (बहादुर)	समर्थ गुरु, साधक।
स्यंध (सिंह)	माया, अशान्त प्रवृत्ति।

सु ंनि (शून्य)	ब्रह्मरंध्र, समाधि-अवस्था ।
हंस/हंसा	प्राणवायु, सिद्ध, जीवात्मा ।
मांणिक	ब्रह्मानुभूति, ज्ञान ।
डाल/डाली	नामरूपोपाधि, उच्चावस्था ।
कूपल	आध्यात्मिकता, माया ।
दौं	ज्ञान, सांसारिक दुःख ।
फूल	ब्रह्मानुभूति, वृद्ध ।
मींन	लक्ष्य-तत्त्व, मत्स्येन्द्रनाथ ।

(ग) एक आध्यात्मिक तत्त्व के लिए एक ही लौकिक शब्द

इस प्रकार के शब्दों को हम आध्यात्मिक शब्दावली के अन्तर्गत एकार्थी शब्द कह सकते हैं। किसी भी भाषा में एकार्थी शब्द बहुत थोड़े होते हैं क्योंकि एक ही शब्द विभिन्न संदर्भों में विभिन्न अर्थ रखता है। जिन शब्दों को एकार्थी मानकर विचार किया जा रहा है वे अन्यत्र अनेकार्थी हो सकते हैं किन्तु गोरखबानी में प्रयुक्त ये सभी लौकिक शब्द अपना एक ही आध्यात्मिक अर्थ रखते हैं। जैसे 'चीता' प्रतीक के रूप में जहाँ कहीं भी आया है उसका अर्थ केवल 'आतमतत्व' ही है। अरबी भाषा का 'जिंद' शब्द शरीर का वह तत्त्व है जो अमर है। शरीर के नष्ट होने पर भी वह नष्ट नहीं होता। गोरख ने अमरतत्त्व के लिए 'ज्यंद' (२ बार) शब्द का प्रयोग किया है। शरीर एक नगर है और इसके छिद्र नगर की गलियाँ हैं। इसलिए शरीर के छिद्रों के लिए 'गली' शब्द का प्रयोग किया है। एक शब्द है-'अहूठ कोटि बनासपती माला' (अहूठ=साढ़े तीन/=साढ़े तीन करोड़ बनस्पतियों का बाग)। यह शब्द शरीर के रोमों के लिए आया है। पाँच कर्मेन्द्रियों के लिए 'पंच महारिषि' शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ 'बाला' शब्द स्त्रीलिंग नहीं है। हाँ, उसमें स्त्री की सी सुकुमारता और आकर्षण अवश्य विद्यमान है। 'कानों की मुद्रा' के लिए दरसण' (२ बार) शब्द परम्परागत एवं पारिभाषिक है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"नाथ पंथियों का मुख्य संप्रदाय गोरखनाथी योगियों का है। इन्हें साधारणतः कनफटा और दर्शनी साधु कहा जाता है। कनफटा नाम का कारण यह है कि ये लोग कान फाड़कर एक प्रकार की मुद्रा धारण करते हैं। इस मुद्रा के नाम पर ही इन्हें 'दरसनी' साधु कहते है।[1] 'विशुद्ध चक्र' के लिए 'षोडि' शब्द का प्रयोग है, विशुद्धाख्य चक्र कंठ के पास होता है और यह सोलह दल वाले कमल के आकार का होता है। षोड़ि=षोड़ष =षोड़श दल कमल। 'कंबली' शब्द दैहिक और मानसिक कर्मों के लिए आया है। दूध का जमा हुआ रूप 'दही' है। दही के रूप में दूध स्थिर हो जाता है अतः यही 'स्थिरता' का प्रतीक बन गया। एक स्थान पर गोरख कहते हैं—पिता बिनां मूवा छोरू लो'[2] (=बिना पिता के छोरा मर गया)। यहाँ छोरू शब्द षड्रिपु के लिए

1 नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १०
2 गोरखबानी, पृ० ११३/७

आया है। षड्रिपु का पिता अहंकार है। अहंकार के नष्ट हो जाने पर षड्रिपु भी नष्ट हो जाते हैं। तीन गुणों के लिए उसका संक्षिप्त प्रतीक 'तीनि' प्रयुक्त हुआ है। 'शब्दाडम्बर' के लिए 'छाछि' शब्द आया है। अन्यत्र निस्सार वस्तु के लिए 'मही' आया है। दूध में से मक्खन निकालकर जो बचता है उसे मही (छाछ, मट्ठा) कहते हैं और मक्खन की तुलना में वह होता भी निस्सार है। 'बाफ' (बाष्प) शब्द मद, लोभ, मोह आदि भावनाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। योगी के समाधिस्थ होने पर उक्त भावनाएँ ऐसे ही उड़ जाती हैं जैसे भाप। षट्चक्रों के लिए 'चोर पचास' आया है। सभी चक्रों के कमलों के दल मिलकर पचास होते हैं। षट्चक्रों का वेधन किये बिना साधना पूरी नहीं होती अतः इन्हें चोर कहा है। 'बत्तीस षांषुड़ी' (=बत्तीस पंखुड़ियाँ) शब्द 'लक्षणों' के लिए आया है। लक्षणों की संख्या ३२ होती है। अविवेक के लिए 'पडरवा' (=पड़रा=भैंस का बच्चा) शब्द अज्ञान, अविवेक आदि के साम्य से प्रयुक्त है। एक उलटबाँसी में गोरख के अनुसार 'लाकड़ डूबै सिल तिरै'[1] (=लक्कड़ डूब जाता है और पत्थर तैरता है)। इस भवसागर में जो माया में फँसे हुए हैं अथवा अपने विचारों में हलके हो गए हैं वे लक्कड़ के समान हैं और भवसागर में डूबे रहते हैं किन्तु माया से अलग, अपने विचारों में भारी लोग पत्थर के समान हैं और वे इस भवसागर में तैरते रहते हैं, तर जाते हैं। स्थूल अस्तित्व को 'पहौकर' (=पुष्कर=तालाब) कहा है। आध्यात्मिक परिस्थिति के लिए 'चोमासौ' कहा है। जिस प्रकार से चौमासे (बरसात) में चातक प्रसन्न होता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक परिस्थिति पाकर आत्मा प्रसन्न हो जाती है। आत्म बुद्धि के लिए 'षेत' (खेत) शब्द का प्रयोग हुआ है। एक प्रकार की सिद्धि विशेष के लिए 'गोटिका बंध' शब्द का प्रयोग हुआ है। ऐसा कहा जाता है कि सिद्ध योगी अभिमंत्रित गोली (गुटिका) मुँह में रखकर अदृश्य हो जाता है। अतः इस सिद्धि को 'गोटिका बंध' कहा गया है। 'मृतक पसू' का प्रयोग आत्मानुभूति रहित व्यक्ति के लिए हुआ है। अगर किसी में आत्मानुभूति नहीं है तो उस मरे हुए पशु को यमराज रूपी शूद्र खींचकर ले जाता है—जीवित को नहीं। योग-मार्ग के लिए 'धरम का पेंडा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यहाँ पेंडा का अर्थ मार्ग है। गोरख के अनुसार धर्म का मार्ग तो योग-मार्ग ही है। 'कागद' शब्द में महत्त्वहीनता लक्षित होती है। संख्या और दरवाजों के आधार पर शरीर के तेरह द्वारों को 'पौलि तेरह' (तेरह फाटक) कहा है। नवरंध्र तथा दसवाँ ब्रह्मरंध्र—ये तो दस द्वार प्रकट हैं; तीन गुप्त द्वारों का वर्णन गोपनीय होने के कारण योगियों ने नहीं किया है। 'चींटी केरा नेत्र' सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप के लिए आया है। चींटी स्वयं ही छोटी होती है उसका नेत्र तो और भी छोटा हुआ अतः आकार साम्य से वह सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'गुरमुष' (गुरुमुख) शब्द नाथ–सम्प्रदाय में दीक्षित योगी के लिए चलता था। गोरख

1 गोरखबानी, पृ० ११२, पंक्ति ३

ने यहाँ भिक्षा के अर्थ में प्रयुक्त किया है। 'सप्त गाँठि' सात चक्रों के लिए आया है। शरीर की नाड़ियों में सात चक्र ही सात गाँठें हैं। यह शरीर एक दीपक के समान है जो तेल रूपी आयु से जल रहा है। अतः आयु के लिए 'तेल' शब्द का प्रयोग हुआ है। स्थूल भौतिक रूप के लिए 'गजेन्द्र' प्रयुक्त हुआ है। पीछे सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप के लिए चीटी के नेत्र की बात कह आए हैं। चींटी के नेत्र की तुलना में घोर स्थूल तो होता ही है अतः वह स्थूलता का प्रतीक हुआ। हिंसक होने के कारण भौतिकता का प्रतीक हुआ। चौरासी लाख योनियों को उनके संख्यामूलक विशेषण "चौरासी" से सूचित किया गया है। अर्थ प्रसंग के अनुसार लगता है।

३.४ पारिभाषिक शब्दावली

आध्यात्मिक रूपकों के पश्चात् पारिभाषिक शब्दावली आती है, जो गोरख-बानी के अर्थ को समझने में बाधक है। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द चला करते हैं जिनके शाब्दिक अर्थ से काम नहीं चलता; उनकी व्याख्या अपेक्षित होती है। गोरखबानी में भी ऐसे पारिभाषिक शब्द पर्याप्त हैं। कुछ शब्दों की व्याख्या आध्यात्मिक रूपकों के प्रसंग में हो चुकी है, शेष शब्द उनकी व्याख्या के साथ यहाँ प्रस्तुत हैं—

अंडज रोमा० २०३/४ =जीव चार प्रकार के होते हैं—अंडज, स्वेदज, जरायुज और उद्भिज। गोरख ने इनके लिए क्रमशः अंडज, स्वेत-रज, जेरज और उदबीरज कहा है। ब्रह्माण्ड की कल्पना पिण्ड में करके नाथपंथ में हड्डियों को स्वेदज, वीर्य को जरायुज, नेत्रों को अंडज तथा रोमावली को उद्-भिज कहा गया है। इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति का संकेत इस पिण्ड में ही कर दिया है। इन्हीं को "चारि षांणी" कहा है।

अगोचरी सि० १२८/७ =जब बुद्धि इन्द्रियातीत हो जाती है तो उसे अगोचरी बुद्धि कहते हैं।

अजपा स० १८/१ =बिना जप किये हुए ही होने वाला जाप। ब्रह्मरंध्र में मन को लीन करके बिना मंत्र के उच्चारण के सहज रूप में सोहं सोहं का जाप करना ही अजपा जाप है।

अतीथ रोमा० २०३/८ =दे० चारि षांणी।

अधारी स० ४८/२ =काठ के डंडे में लगे हुए पीढ़े को अधारी कहते हैं, जिसे योगी लोग सहारे के लिए अपने पास रखते हैं।[1]

---

1 "अधारी (४२२१-४३११) एक प्रकार की टिकरी सी थी जिस पर योगी बैठते या सोते थे—"ऊधौ जोग सिखावन आए। सिंगी भसम अधारी मुद्रा दै जदुनाथ पठाए।"'—सूर-सागर शब्दावली (एक सांस्कृतिक अध्ययन)—डा० निर्मला सक्सेना

अरहंत प० १३३/४=जैनियों के आदि देव ।

आकासी प० ११०/६=चार प्रकार के योगी कहे गए हैं—नादी, बिंदी, सींगी और आकाशी । जो अनाहद नाद के अनुसंधान को प्रधानता देते हैं वे नादी; जो बिन्दु (शुक्र) की रक्षा को प्रधानता देते हैं वे बिन्दी, जो अनाहद नाद के प्रतीक स्वरूप शृंगीनाद बजाते हैं वे सिंगी और जो आकाश अर्थात् त्रिकुटी को लक्ष्य किये रहते हैं वे आकाशी कहे जाते हैं ।

उदबीरज रोमा० २०५/४=दे० अंडज ।

उनमन स० १६/१=योगी की मौनावस्था । प्रपंच में पड़े हुए बहिर्मुखी मन को निर्विषय कर देना और ब्रह्मरंध्र में ध्यानस्थ होना योगी की उनमनी मुद्रा है । इस अवस्था का चित्रण कबीर ने बहुत किया है ।[1]

ऊरम स० ८६/२ =दे० चारि आपकला ।

एक अषिरी प० १०१/५=लोग वाचनिक मंत्रों का जाप किया करते हैं । जितने अक्षरों का जाप होगा उतने ही अक्षरों का मंत्र कहलाएगा जैसे एकाक्षर मंत्र ।[2] गोरखनाथ ने एकअषिरी, द्वैअषिरी, त्रिअषिरी, चौअषिरी इस प्रकार चार मंत्रों की चर्चा की है किन्तु गोरखनाथ के मंत्र बाह्य वाणी से सम्बद्ध नहीं हैं अतः वे एकाक्षरी आदि से दूसरा ही अर्थ लेते हैं ।

शून्य और स्थूल दोनों वाणियों से एकाकार अद्वय परब्रह्म का जाप ही एकाक्षरी-मंत्र जप है । निराकार का जप करते हुए इहलोक और परलोक, निर्गुण और सगुण, सूक्ष्म और स्थूल दोंनों पक्षों का उद्धार करना ही द्विअ-क्षरी-मंत्र जप है । त्रिकुटी में ब्रह्म का कुण्ड है और आत्मा का निज स्थान है । अजपा-जाप करते हुए ज्ञान को प्राप्त करना ही अछरी-मंत्र-जप है । चतुर्वेद (ब्रह्म) में चार खानि तथा चार वाणी हैं । इनके बीच अजपा जाप करना ही चतुरक्षरी-मंत्र-जप है ।[3]

कहणि स० ११६/१=कहणि और रहणि योगी की दो स्थितियाँ हैं । सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का केवल बखान करना 'कहणि' तथा

---

1 'हंसे न बोलै उनमनी, चंचल मेंल्ह्या मारि''—कबीर ग्रन्थावली—डा० पारसनाथ तिवारी (सा० १/६/१)

2 विस्तार के लिए दे०-नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० १५७ ।

3 — गोरखबानी डा० बड़थ्वाल, पृ० १०१, १०२

सिद्धान्तों का पालन करना 'रहणि' होता है।

कापड़ी संन्यासी स. ६६/२=गंगोत्तरी से गंगा जल लाने वाले और तीर्थों में विश्वास करने वाले संन्यासियों को कापड़ी संन्यासी कहते हैं।

काया पलटिबा स० ३३/८=नाग (सीसे का भस्म), वंग (जस्ते का भस्म) और वनस्पति के प्रयोग से कायाकल्प करना ही काया का पलटना है। यह क्रिया नाथ-पंथियों में चलती थी।

पढ़ासण म० ४८/२=लकड़ी का बना हुआ एक प्रकार का आसन है जिसके सहारे योगी खड़े रहकर भी बैठने का सा आनन्द लेता है।

षेचरी रोमा० २०३/१४=योग में चार प्रकार की मुद्राएँ होती हैं—खेचरी, भूचरी गुप्त, प्रगट। नाथ-पंथियों में मन का निरौधना खेचरी मुद्रा, प्राण-वायु का निरोधन भूचरी मुद्रा, ज्ञान-प्राप्ति गुप्त मुद्रा तथा शरीर साधन प्रगट मुद्रा कहलाती हैं।

गुटिका नवो० १७०/२=एक गोली विशेष, जिसे मुंह में रखकर योगी अदृश्य हो जाता है।

गुपत रोमा० २०३/१४=दे० षेचरी।

गूढ़ारथ रोमा० २०४/३=ब्रह्मविचार को नाथ-पंथियों में गूढ़ार्थ कहा है।

चारि आपकला रोमा० २०४/१६=शरीर के अन्दर चार आपकलाएँ होती हैं—ऊरम, धूरम, जोति और ज्वाला। ये योग की मुद्राएँ होती हैं। मन का निरोध ऊरम, प्राणवायु का निरोध धूरम, नेत्रों का निरोध ज्योति तथा श्रवणों का निरोध ज्वाला कहा गया है।

चारि पांणी रोमा० २०५/३=दे० अंडज।

चारि बांणी रोमा० २०५/७='खाणी वाणी' एक ग्रन्थ का नाम है। गोरख ने चार खानों तथा चार वाणियों का शरीर के अन्दर ही उल्लेख किया है। चार वाणियाँ हैं—सहज, संजम, सुपाई और अतीत। शरीर को सहज, पवन को संजम, महामुद्रा को सुपाइ तथा परमपद को अतीत कहा गया है।

चारि तकबीर रोमा० २०४/६=शरीर के अन्दर चार प्रकार की योग-युक्तियाँ होती हैं—'दृष्टि', 'सुरति', 'नासिका' और 'जिभ्या' के विषयों को वश में करना ही तकबीर (तदबीर) है।

चारि दिशा रोमा० २०४/१३=जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में भी है, इस सिद्धान्त के अनुसार चार दिशाएं भी इस शरीर के अन्दर ही हैं। उत्तर=सबद, पछिम=पवन, दषिण=दृष्टि और पूरब=सुरति।

चारि पीर रोमा० २०४/६ = इस पिण्ड में ही चार पीर समाहित हैं। वे हैं—मन के रूप में मत्स्येन्द्रनाथ, पवन के रूप में ईश्वर, चेतना के रूप में चौरंगीनाथ तथा ज्ञान के रूप में गोरखनाथ।

चारि महाधर प० १३३/१ = चार महाधुरंधरों से तात्पर्य संभवतः सनक, सनन्दन सनातन और सनत्कुमार से है। छांदोग्य में सनत्कुमार ने नारद को निवृत्ति मूलक अद्वैत की शिक्षा दी है। अन्य तीन भी उन्हीं के समान समझे जा सकते हैं।[1]

चाचरी निधि सि० १५६/७ = योग की एक मुद्रा।

चौअपिरी प० १०२/५ = दे० एक अपिरी।

जंत्र नवो० १७०/६ = जनता को चमत्कृत करने के लिए योगी लोग तंत्र, मंत्र वैद्यक, गुटिका, धात, थंभन, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि क्रियाओं को काम में लाते थे। तंत्र = तांत्रिक विद्या मंत्र = मंत्रविद्या, जंत्र = यांत्रिक विद्या, वैद्यक = दवाओं का चमत्कार, गुटिका = मुँह में रखकर अदृश्य करने वाली गोली, धात = भस्म का रमाना, थंभन = स्तम्भन, औचाट = उच्चाटन।

जपमाली प० ६५/५ = योगियों के अनुसार मनुष्य प्रतिदिन २१६०० बार साँस लेता है। पवन पुरुष अर्थात् बाहर-भीतर जाती हुई साँस ही जप की माला है, जिसे 'सोहं हंसा' भी कहा गया है दे० अजपा जाप।

जरणा स० १४/१ = योगी दो प्रकार के हो सकते हैं—जरणा योगी और झरना योगी। जो शुक्र को अथवा ब्रह्मानुभूति को पचानेवाला होता है उसे जरणा योगी और जोशुक्र को अथवा ब्रह्मानुभूति को स्थिर नहीं रख सकता उसे झरणा योगी कहेंगे।

जेरज रोमा० २०५/४ = दे० अंडज।

जोति रोमा० २०४/१७ = दे० चारि आपकला।

ज्वाला रोमा० २०४/१७ = दे० चारि आपकला।

झरणा जोगी स० १५२/४ = दे० जरणा।

डंडी सं० ७६/१ = चिह्न के रूप में दंड को धारण करने वाले योगी। गोरख पंथ में जो अहंकार को दंडित करे वही 'दंडी' साधु कहा जाना चाहिए। एक दंडी, द्विदंडी और त्रिदंडी संन्यासी होते हैं किन्तु गोरख उन्हें ब्रह्मपरक नहीं मानते।

तंत नवो० १७०/१ = दे० जंत्र।

त्रिअपिरी प० १०२/३ = दे० एक अपिरी।

---

1 गोरखबानी—डा० बड़थ्वाल, पृ० १३३

त्रियडंडी प० १३२/६=दे० डंडी।
दूधाधारी स० ४६/२=दूध पर ही शरीर को आश्रित रखने वाले संन्यासी।
दुडंडी प० १३२/६=दे० डंडी।
द्वै अषिरी प० १०२/१=दे० एक अषिरी।
धात नवो० १७०/२=दे० जंत्र।
धूरम रोमा० २०४/१७=दे० चारि आपकला।
नवषंड प्राण० १६४/५=भूमि के नौ विभाग जैसे—भारत, इलावृत, त्रिपुरुष, भद्र, केतुमाल, हरि, हिरण्य, रमयवकश। नाथ-पंथियों में शरीर के नवद्वार ही नवखण्ड हैं।
नादी प० ११०/६=दे० आकासी।
निरति स० ११०/१=मन को बाह्य वृत्तियों से हटाकर अन्तर्मुखी बनाना ही सुरति और निरति योग-साधना होती है।
निराकार रोमा० २०५/११=गोरख ने चार वाणियों तथा चार खानों (दे० चारि बांणी तथा चारि पांणि) का विचार करने वाले को निराकार कहा है।
निसपती-जोगी स० १३६/१=नाना कठोर साधनाओं के द्वारा जब योगी शुद्ध हो जाता है तो वह निष्पत्ति प्राप्त योगी कहा जाता है।
नौ नाथ प० १३३/७='महार्णव तंत्र' में नव नाथों के नाम हैं—गोरखनाथ, जालंधरनाथ, नागार्जुन, सहस्रार्जुन, दत्तात्रेय, देवदत्त, जड़भरत, आदिनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ। नव नाथों के नाम विभिन्न प्रकार बताये गये हैं।[1]
परचय जोगी स० १३८/१=उन्मन समाधि में लीन रहने वाला योगी परिचय जोगी कहलाता है।
परमारथ रोमा० २०४/३=प्राण-भेद करना नाथ-पंथियों में परमार्थ कहलाता है।
पीर स० १४/१=योग-मार्ग में जैसे गुरुओं को माना जाता है, मुसलमानों में वैसे ही पीरों को माना जाता है। गोरख ने 'पीर' शब्द को ही स्वीकार कर लिया है। उनके गुरु महंत भी कहलाते हैं। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि वस्तुतः कोई तात्विक मुसलमानी प्रभाव उन पर पड़ा हो।[2] (दे० चारि पीर)
प्रगट रोमा० २०३/१४=दे० षेचरी।
बजर आत्म० १७६/६=शुक्र का शोषण करके उर्ध्वगामी बनाना बज्रोली मुद्रा कही जाती है।

---

1 देखिए—नाथ संप्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २७-२८
2 गोरखवानी—बड़थ्वाल, पृ० ६

बारह् कला रोमा० २०५/१६ = सूर्य की बारह् कला कही जाती हैं। नाथ-पंथियों में ये बारह् कलाएँ शरीर के अन्दर ही हैं, जैसे चिंता, तरंग, ड्यंभ, माया, परगृहणे, परपंच, हेतु, बुधि, काम, क्रोध, लोभ, दृष्टि ।

बारह् चेला प० १३३/१ = बारह् चेलों से गोरख का तात्पर्य संभवतः नारद, जनक, याज्ञवल्क्य, लोमश, मार्कंडेय, व्यास, वसिष्ठ, शुक्र, जड़-भरत, दत्त, गौड़पाद और शंकर से हो सकता हैं।[1]

ब्यंदी प० ११०/६ = दे० आकासी ।

भूचरी-सिधि सि० १५६/७ = दे० षेचरी ।

मंत नवो० १७०/२ = दे० जंत्र ।

येक डंडी प० १३२/६ = दे० डंडी ।

संजम रोमा० २०५/८ = दे० चारि बांणी ।

ससंवेद प० १२७/३ = वेद के स्थान पर गोरख ने स्वसंवेद को पढ़ने अर्थात् अपरोक्षानुभूति को प्राप्त करने का उपदेश दिया है।[2]

सहज रोमा० २०५/८ = दे० चारिबाणी ।

सप्त दीप प्राण० १६४/५ = पुराणानुसार पृथ्वी के सात विभाग थे-जंबू, कुश, प्लक्ष, शाल्मलि, क्रौंच, शाक और पुष्कर द्वीप ।

सरीरारथ रोमा० २०४/३ = शरीर-भेद करना ही नाथ-पंथियों में शरीरार्थ कहा जाता है।

सींगी प० ११०/६ = दे० आकासी ।

सुपाइ रोमा० २०५/८ = दे० चारि बांणी ।

सुरति स० ११०/१ = दे० निरति ।

सोलह् कला रोमा० २०६/१ = चन्द्रमा की सोलह् कलाएं मानी जाती हैं। शरीर के अन्दर ये सोलह् कलाएं हैं—साँति, नृवर्त, क्षिमां, निर्मल निहचल, ग्यांन, सरूप, पद, नृवाँण, नृविष, निरंजन आहार, निन्द्रा, मैथुन, बाई, अमृत ।

सोहं हंसा स० ४६/२ = दे० अजपा जाप तथा जपमाली ।

स्वेतरज रोमा० २०५/४ = दे० अंडरज ।

□

---

1 गोरखबानी—डा० बड़थ्वाल, पृ० १३३

2 'स्वसंवेदन' ज्ञान ही सूक्ष्मवेद है—शब्द रूप में भी और अर्थ रूप में भी। परन्तु नाथयोगी प्रणव या ओंकार को ही सूक्ष्मवेद मानते हैं। (नाथ संप्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० १५५)

योग

समाध्यर्थक युज् धातु से करण में घञ् प्रत्यय कर योगशब्द निष्पन्न होता है--युज्यते अनेन इति योगः; कुछ आचार्यों ने अधिकरण में घञ् प्रत्यय कर युज्यते अस्मिन् इस अर्थ में योग शब्द का प्रयोग किया है। इसीलिये योग और समाधि को अपर पर्याय माना गया है।

याज्ञवल्क्य के अनुसार जीवात्मा ओर परमात्मा का संयोग ही योग है। "संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः"। महाभारत के अनुसार--परब्रह्म के साथ एकत्व ही योग है। इस विश्लेषण के अनुसार परमात्मा और आत्मा का ऐक्यस्वरूप योग साध्य है, इसको समाधि कहा जा सकता है, जो योग का साध्य है। ज्योंकि जैसे--जल और लवण का संयोग से ऐक्य होता है, उसी प्रकार आत्मा और मन के ऐक्य को समाधि कहा जाता है।

जलसैन्धवयोः साम्यं यथा भवति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरिह भण्यते॥

योग और समाधि व्युत्पत्ति के भेद से साधन और साध्य उभय रूप में व्यवहृत होता है। योगभाष्य में व्यास ने 'घृत ही आयु है' इत्यादि व्यवहार के समान उपकार्य और उपकारक रूप में अङ्ग और अङ्गी में अभेद की विवक्षा होने से योग और समाधि को अपर पर्याय माना है। जिससे चित्त को एकाग्र किया जाता है, इस रूप में करण साधन समाधि शब्द को मान कर योगाङ्ग अर्थ को समाधि शब्द कहता है "समाधीयते = एकाग्रीक्रियते चित्तमनेन" इति समाधिः"। जिस अवस्था विशेष में प्राण आदि वृत्तियों का अवरोध होता है, उसको समाधि कहा जाता है। इस अधिकरण साधन योग में सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों का ग्रहण हो जाता है।

योग दर्शन में अपरिणामी कूटस्थ नित्य चिति शक्ति है, पुरुष शब्द से निर्दिष्ट यह ज्ञान का धर्म नहीं है। बुद्धि = चित्त की परिणामात्मक ज्ञान रूप राजस-तामस वृत्तियों का निरोध ही योग है। विक्षिप्त चित्त के द्वारा ऐसा नहीं किया जा सकता है, अतः राजस तामस वृत्ति को छोड़कर केवल सात्त्विक वृत्ति का अभ्यास करना चाहिए, सात्त्विक वृत्ति के दृढ होने पर एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए, इस अवस्था में योग्यता की सम्प्राप्ति होती है, उसकी दृढ़ता

की अवस्था होने पर निरोध का अभ्यास सम्भव होता है और निरोध स्थिर होने पर असम्प्रज्ञात योग तक होता है। दूसरे रूप में यह अष्टाङ्ग योग है। समाधि मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका और संस्कारशेषा के भेद से चित्त की चार भूमियों वाली हैं। चित्त प्रख्या, प्रवृत्ति, और स्थिति-शील के कारण त्रिगुणात्मक है। प्रख्या तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञान से उपलक्षित प्रसन्नता, लघुता प्रकाशकत्व आदि सात्त्विक गुण होते हैं। प्रवृत्तिशील होने से शोक, दुःख आदि राजस गुण होते हैं। प्रवृत्ति-विरोधिनी स्थिति-शील तमोगुण होने से गुरुता, आवरण दैन्य, निद्रादि तामस होते है। चित्त त्रिगुणात्मक है, गुणों की विचित्रता के कारण विचित्र परिणाम सम्पन्न होता हुआ पाँच अवस्था वाला होता है। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पाँच अवस्थाएँ है। रजोगुण के कारण विषयों में क्षिप्यमाण= अस्थिर क्षिप्त अवस्था है। क्षिप्त चित्त दैन्य, दानव, मद-भ्रान्त विषयी पुरुषों का रहता है। तमोगुण के आधिक्य होने ने निद्रा आदि वृत्तियों से मूढ़ चित्त, राक्षस, पिशाच एवं मादक द्रव्यों के सेवन से उन्मत्त विवेक शून्य व्यक्तियों का रहता है। क्षिप्त से विशिष्ट अस्थिरता बहुल अर्थात् कभी स्थिरता कभी अस्थिरता यह अवस्था स्वाभाविक या व्याधि आलस्य भय आदि से उत्पन्न होती है। ऐसा चित्त ब्रह्मज्ञान इच्छा रखनेवाले एवं विवेकी पुरुषों का चित्त होता है। एकाग्रता=एकतानता है। सभी वृत्तियों के निरुद्ध होने पर संस्कार मात्र शेष चित्त निरुद्ध होता है। क्षिप्त और मूढ़ अवस्था में योग की सम्भावना नहीं है। विक्षिप्त हृदय में कभी समाधि हो भी सकती है, परमार्थ विषयक चित्त की स्थिरता योगपक्ष में नहीं हो सकती है, अतः समाधिविशेष के कारण गौण रहती है। यह क्लेशादि की निवृत्ति में सक्षम नहीं है। कुछ क्षणों के लिए जो तप्त बीज हैं, उनमें अंकुर के उत्पादन की क्षमता रहती है। एकाग्र चित्त में सम्यक् प्रतिष्ठित परमार्थभूत अर्थ का प्रकाशन अर्थात् साक्षात्कार होता है, वह पंचविध क्लेशों की उत्पत्ति कराकर कर्मरूप बन्धन शिथिल करता हुआ अदृष्ट पापपुण्य के उत्पादन में अक्षम होता है एवं निरोध की ओर अभिमुख रखता है यही सम्प्रज्ञात योग है। चित्त की सत्त्ववृत्ति के द्वारा सम्वेदन योग्य विषयों का सम्यक् साक्षात्कार जिस अवस्थाविशेष में होता है—वह सम्प्रज्ञात ही अर्थात् अच्छी तरह संयम विपरीत अनिश्चित रहित होने से प्रकृष्ट रूप से

भाव्य स्वरूप का ज्ञान, जिस भावना विशेष से, जिस अवस्था में होता है, वह सम्प्रज्ञात है। भावना से तात्पर्य अन्य विषयों को छोड़कर पुनः-पुनः चित्तवृत्ति-सन्निवेश है।

सम्प्रज्ञात चार प्रकार का है--

(१) वितर्कानुगत।
(२) विचारानुगत।
(३) आनन्दानुगत।
(४) अस्मितानुगत।

(१) पाञ्चभौतिक चतुर्भुजादि ध्येय मूर्ति में चित्त की उस साक्षात्कार विषयक प्रज्ञा वितर्क है, स्थूल विषयक होने से यह स्थूल है।

(२) चित्त के आलम्बन सूक्ष्म शरीर में स्थूल कारणीभूत सूक्ष्म तन्मात्र लिङ्ग अलिङ्ग विषयक साक्षात्कार विचार है।

(३) इन्द्रिय के स्थूल आलम्बन में चित्त का साक्षात्कार आह्लादात्मक है, प्रकाशशील होने से एवं सत्त्व प्रधान रहने से अहङ्कार ने इन्द्रियों की सत्त्व प्रधान उत्पत्ति है, अतः वे सुखात्मक है।

(४) ग्रहीतृ–विषयक-सम्प्रज्ञातस्वरूप एकात्मक ज्ञान अस्मिता है।

योग का फल और साधन

सभी वृत्तियों का निरोध होने पर पुरुष की उपाधि रहित अपने चैतन्य में अवस्थिति होती है। यह सत्य है कि चिति शक्ति व्युत्थान अवस्था में अपने कूटस्थ स्वरूप को नहीं छोड़ती है, किन्तु असम्प्रज्ञात रूप होने से प्रकाशित नहीं होती है। पुरुष चेतन स्वरूप असङ्ग है, यह प्रकाश स्वरूप एवं ज्ञानमय है, प्रकाश और ज्ञान उस निर्गुण का धर्म नहीं है। सभी धर्मों से रहित होने पर बुद्धि वृत्ति में प्रतिफलित होने के कारण भ्रमवश बुद्धि के धर्मो का पुरुष पर आरोप होता है। वस्तुतः पुरुष, बुद्धि से भिन्न है, क्योंकि बुद्धि परिणामी है और बुद्धि का विषय ज्ञात और अज्ञात हो सकता है। जिस वस्तु के आकार में बुद्धि का परिणाम है, वह ज्ञात होता है और अन्य अज्ञात रहता है। पुरुष का परिणाम न होने पर भी प्रतिबिम्ब-पात के कारण बुद्धि की वृत्तियों को जान पाते हैं। बुद्धि दूसरे के लिए है। क्लेश, कर्म, वासना, विषय, इन्द्रिय आदि के साथ मिलकर पुरुष का उद्देश्य

सिद्ध करती है, क्योंकि संहत्यकारी अर्थात् अन्य से मिलकर जो कार्य करता है, वह दूसरे के प्रयोजन का साधक होता है। संहत्यकारी न होने से असङ्ग पुरुष स्वार्थ में प्रवृत्त होता है। शान्त, घोर और मूढ के रूप में सभी वस्तुओं के आकार में बुद्धि परिणत होती है एवं ज्ञान उत्पन्न होता है। त्रिगुणात्मक बुद्धि अचेतन और ज्ञेय है, पुरुष ज्ञाता और चेतन है। पुरुष स्वतन्त्र है, बुद्धि पुरुष के अधीन है, पुरुष द्रष्टा, बुद्धि दृश्य है। अचेतन बुद्धि पुरुष के सम्बन्ध से चेतन के समान प्रतीयमान होती है। व्यास एवं पतञ्जलि तथा वाचस्पति मिश्र ये तीनों ही पुरुष की बुद्धि में प्रतिबिम्ब के पक्षपाती हैं। पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्ब नहीं मानते हैं।[1]

पञ्चशिखाचार्य भी बुद्धि में ही प्रतिबिम्ब की कल्पना करते हैं। पुरुष चेतन, अपरिणामी, प्रतिसम्भरण शून्य है, बुद्धि विषयाकार में परिणत होती है। पुरुष विषयाकार में परिणत नहीं होता है। विषयाकार परिणत बुद्धिवृत्ति में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है और भ्रमवश बुद्धि के धर्मों को पुरुष अपना धर्म समझा करता है। योग-भाष्यकार ने इस मत को उद्धृत किया है।[2]

व्यासदेव ने भी कहा है, जय या पराजय सैनिकों के द्वारा सम्पन्न किये जाते है, किन्तु राजा में उसका आरोप होता है और राजा की जय या पराजय कही जाती है, क्योंकि वही उस फल का भोक्ता है, इसी प्रकार पुरुष का सुख आदि का साक्षात्कार रूप भोग एवं दुःख-त्रय की आत्यन्तिक निवृत्ति रूप अपवर्ग बुद्धिकृत होने से बुद्धि में ही वर्तमान रहता है, पुरुष में वे आरोपित है। पुरुष उस फल का भोक्ता नहीं है। पुरुष बुद्धिवृत्ति को साक्षात् ग्रहण नहीं करता है, अपि तु प्रतिबिम्ब रूप में ग्रहण करता है। पुरुष का यह भोग वास्तविक नहीं है, आपाततः प्रतीयमान है।

व्योमवती में एक कारिका उद्धृत करते हुए लिखा गया है कि विषय सम्बद्ध इन्द्रिय की विषयाकार में परिणति होती है, क्रमशः

---

१. पा० योगभाष्य २।२०

२. अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिप्रथिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रति-संक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति। तस्याश्च प्राप्तः चैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनु-मात्रतया बुद्धिवृत्त्यवशिष्टो हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते। —पञ्चशिख० योग-भा० २।२८।२, यो० भा० २।१८

बुद्धि उस विषयाकार में परिणत इन्द्रिय के रूप को प्राप्त करती है। इसी स्थिति में सत्त्वगुण का प्राधान्य रहता है, सत्त्वगुण की प्रबलता से बुद्धि स्वच्छ रहती है, और इस अवस्था में बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है। निर्मल जल में ही चन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ता है। निर्मल जल में ही चन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ता है, कलुषित में नहीं। इस प्रकार सत्त्वप्रधान बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तमः प्रधान में नहीं पड़ता है।[1] पुरुष में स्वाभाविक भोग मानने पर पूर्व स्वरूप की निवृत्ति और अन्य स्वरूप प्रतिरूप परिणामित्व का प्रसङ्ग नहीं है।

बौद्ध दर्शन में चित्त अर्थात् बुद्धि से पृथक् पुरुष का अस्तित्व नहीं माना जाता है। योगदर्शन में इस मत की आलोचना करते हुए लिखा गया है कि विभिन्न वासनाओं के द्वारा चित्रीकृत चित्र दूसरे के भोग और अपवर्ग के लिए ही है, अपने लिए नहीं है। चित् का कार्य अनेक अङ्गों से साध्य होने से संहत रूप है। संहत्यकारी संहत स्वरूप दूसरे के उपकार की सिद्धि के लिए होता है, जैसे अनेक उपादानों से रचित गृह दूसरे के भोग के लिए ही वर्तमान है। भोग्यचित् चित् के भोग के लिए नहीं है, इसी प्रकार अपवर्ग चित् भी चित् के अपवर्ग के लिए नहीं है, वह दूसरे के लिए ही है। चित् जिसके उद्देश्य का साधन करता है, वह असंहत पुरुष है। पुरुष ही चित् के द्वारा उपस्थित सुख-दुःख का भोग करता है। ज्ञान पुरुष के लिए ही अभिप्रेत है। ज्ञान ही पुरुष की मुक्ति का साधन करता है। इस प्रकार चित् पुरुष का ही भोग और अपवर्ग का साधन करता है। बौद्ध-गण द्रष्टा, ज्ञाता और भोक्ता का पृथक् अस्तित्व भले ही न माने किन्तु ज्ञेय से ज्ञाता का, दृश्य से द्रष्टा का, भोग्य से भोक्ता का पृथक् अस्तित्व उन्हें मानना ही पड़ेगा।[2]

अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति मानी गई है। पुरुष निष्क्रिय होते हुए भी चेतन है। अदृष्ट के अधीन पुरुषों के सान्निध्यवश प्रकृति की साम्यावस्था समाप्त होती है। अयस्कान्तमणि जिस प्रकार सान्निध्य वश ही लोहे के काँटे को निकाल लेता है, किन्तु स्वयं स्थिर रहता है, पुरुष भी इसी प्रकार स्वयं स्थिर रहते हुए भी केवल सामीप्य

---

१. प्रशस्तपादभाष्य पृ० ५२१।

२. योगभा० पृ० ४।२४

के कारण प्रकृति को कार्योन्मुख करता है। प्रकृति का सत्त्व-बहुल प्रथम परिणाम महत्=चित् तत्त्व है। किन्तु यह परिणाम उद्देश्य-मूलक है। इसमें दो उद्देश्य है, एक प्रकृति पक्ष में और दूसरा पुरुष पक्ष में। प्रकृति पुरुष की भोग सामग्री के रूप में जब परिणत होती है, तब प्रकृति सम्बन्धी उद्देश्य की सिद्धि होती है, प्रकृति सुख-दुःख मोहात्मिका है। इस दुःख-दुख का अनुभव न होने पर इसकी त्रिगुणात्मकता विफल होगी। भोक्ता के विना भोग्य निरर्थक है। भोक्ता की अपेक्षा कर ही भोग्य है। अतः भोग्य प्रकृति भोक्ता पुरुष की अपेक्षा करती हैं। पुरुष असङ्ग मुक्त स्वभाव है। इसलिए मुक्ति के लिए पुरुष अपेक्षा करता है। मुक्त स्वभाव भी पुरुष अविवेक के कारण प्रकृति के साथ सर्वथा संयुक्त होता है। प्रतिबिम्ब होकर बुद्धि के दुःखत्रय को अपने ऊपर आरोपित करता है। दुःख ज्वाला से सन्तप्त पुरुष इनके आत्यन्तिक निवृत्ति की कामना करता है। आत्यन्तिक रूप में दुःखत्रय निवृत्ति रूप कैवल्य के लिए तत्त्व पुरुष का भेद ज्ञान अर्थात् विवेकज्योति अपेक्षित है। इस विवेकख्याति के साधन के लिए बुद्धि=चित् की अपेक्षा है, विना उसके ज्ञान सम्भव ही नहीं है। साम्यावस्थापन्न प्रकृति का भोग सम्भव नहीं है, वह अव्यक्त है। क्योंकि पुरुष और महत् तत्त्व के विना भोग अपवर्ग सम्भव ही नहीं है।

जीव के विचित्र कर्मकलाप ही प्रकृति के विचित्र परिणाम का कारण है। प्रकृति जीवन का उपादान कारण और जीव का धर्म, अधर्म निमित्त कारण है। प्रकृति के साथ पुरुष का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है। प्रकृति के एक होने पर भी पुरुष के विविध कार्य के लिए विचित्र सृष्टि करती है। प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध जगत् की निष्कारण सृष्टि मानकर खरहे की सींग के समान अलीक माना जा सकता है। अपरिणामी ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि, ब्रह्म अपरिणामी है, अतः जगत् के रूप में उसका परिणाम सम्भव नहीं है। ईश्वरकर्तृक प्रकृति का महत्तत्त्व आदि के रूप में परिणाम नहीं हो सकता है। क्योंकि, क्लेश-कर्म विपाक आशय में अपरामृष्ट पुरुष विशेष रूप ईश्वर सभी व्यापारों से रहित है, और अधिष्ठान व्यापार शून्य ईश्वर प्रकृति का अधिष्ठाता नहीं हो सकता है।

अचेन प्रकृति को प्रवृत्ति कैसे सम्भव है ? यह आपत्ति भी ठीक नहीं है। गौ के स्तन्य की वृद्धि और उससे दूध का क्षरण होता है। अतः स्तन की प्रवृत्ति है और वह चेतन नहीं है। गौ के चेतन रहने पर भी स्तन की प्रवृत्ति गौ की प्रवृत्ति के अधीन नहीं है। गौ की प्रवृत्ति होने पर बहुधा स्तन की वृद्धि और दूध का क्षरण नहीं होता है। स्तन दूध की प्रवृत्ति का कारण वत्स पोषण है। इसी प्रकार अचेतन प्रकृति की भी पुरुष के मोक्ष और भोग के लिए प्रवृत्ति सम्भव है, अतः प्रकृति का महत् तत्त्व के रूप में परिणाम होता है।

योग और चरकसंहिता—चरकसंहिता के अनुसार एक धातुक, षड् धातुक एवं चतुर्विंशतिक इस प्रकार त्रिविध पुरुष का निर्देश मिलता है। चरक मत में धात्मा अनादि, अनन्त और शाश्वत है। उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। वह परमात्मा है।[1] सृष्टि के आरम्भ में वे वर्तमान थे। यह व्यक्त, अव्यय सर्वव्यापक अचिन्तनीय है। शुद्ध चिन्मय अद्वितीय एक होते हुए भी सभी प्राणियों के चैतन्य का शरण है। अन्तरात्मा के रूप में शरीर में वह अवस्थित रहता है। शरीर में अवस्थित होने के कारण ब्रह्म की पुरुष संज्ञा है। जीवात्मा के रूप में अनेक होते हुए भी परमात्मा के रूप में एक है। रजोगुण और तमोगुण के कारण देह कोष में जब तक आबद्ध रहता है—तब तक वह बद्ध ही जीव के कर्मो से उत्पन्न देह की असंख्यता के कारण जीवात्मा असंख्य है। किन्तु मुक्त अवस्था में ब्रह्म रूप में अवस्थान करता है, अतः परं ब्रह्मभुतो जीवात्मा नोपलभ्यते (च० शा० १।१५५) कहा गया है। चरक और योग में समन्वय होने पर भी आत्मा को ब्रह्म स्वरूप कहा हैं। यह पुरुष बहुत्व ब्रह्म की प्रतिमूर्ति स्वरूप है। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्[2] इस योगसूत्र के अनुसार कोई भेद नहीं है। पञ्च महाभूत के साथ सम्मिलित चिन्मय आत्मा षड्धातुमय पुरुष के रूप में वर्णित हैं।[2]

चरक के प्रकृति, बुद्धि, अहङ्कार, मन, दश इन्द्रिय, पञ्चभूत एवं पञ्चतन्मात्र या पञ्चविषयक के समवाय को चातुर्विंशतिक पुरुष माना है। प्रकृति और विकृति वर्ग को लेकर वह कहा गया है।

---

१. प्रभवो न विद्यते ह्यनादित्वाद् विद्यते परमात्मनः। च० शा० १।५३

२. स्वादयश्चेतना षष्ठधातवः पुरुषः स्मृतः। च० शा० १।१३

चक्रपाणि ने इसकी व्याख्या में कहा है—अयं च वैशेषिकदर्शनपरिगृहीतचिकित्साविषयः पुरुषः।

बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद् योगधरं परम्।
चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः ॥

(च० शा० १।३५)

यह राशि पुरुष का जीवन-मरण होने से यह चिकित्सा के योग्य है। क्योंकि, निर्विकार आत्मा चिकित्सा के योग्य नहीं है। यह ज्ञातव्य है कि महाभारत में भी स्थूल देह के अर्थ में राशि शब्द का प्रयोग किया गया है। चरक संहिता में प्रकृति जात तत्त्वसमूह क्षेत्र और आत्मा को क्षेत्रज्ञ के नाम ने कहा जाता है। क्षेत्र के साथ क्षेत्रज्ञ का अनादि और अनन्त सम्बद्ध माना गया है। तमोगुण और रजोगुण की प्रबलता के कारण प्रकृति के साथ आत्मा का सम्बन्ध अविच्छिन्न भाव से चलता है। सत्त्वगुण की प्रबलता होने पर तत्त्वज्ञान के उत्पन्न होने पर संसार के कारण रजोगुण और तमोगुण का विलय होने पर विवेक ज्ञान वश आत्मा की मुक्ति होती है।[1] भोगतृष्णा ही शरीर की उत्पत्ति का साधन है। भोगतृष्णावश धर्माधर्म का अर्जन कर एवं उसके फलभोग के लिए शरीर ग्रहण करता है। भोगवासना का नाश होते ही जीव का किसी भी विषय में राग और द्वेष नहीं रहता है, फलतः कर्म में प्रवृत्ति न होने से धर्माधर्म की उत्पत्ति नहीं होती है। भोग के द्वारा आबद्ध कर्म का क्षय होने पर विवेकी व्यक्ति का शरीर नाश होने पर मुक्ति होने से पुनः संसार में आगमन नहीं होता है। अविवेक के कारण सुखदुःख आदि का आत्मा में आरोप होता है।

आत्मा के ज्ञाता होने पर भी सभी समय सभी विषयों का ज्ञान उसको नहीं रहता है। मन, बुद्धि और इन्द्रिय के साथ संयोग के फलस्वरूप ही ज्ञान प्रवर्तित होता है। कारण समूह के मलिन होने पर अथवा उनके साथ संयोग के अभाव में ज्ञान नहीं होती है। डा० दासगुप्ता ने भी आत्मा में ज्ञान की विद्यामानता नहीं मानी है। मन और ज्ञानेन्द्रिय के संयोग से ही ज्ञान होता है।[2] करण समूह के

---

१. रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान्।
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्ववृद्ध्या विवर्तते ॥ च० शा० १।३६

२. आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज् ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते।
करणानामवैमल्यात् अयोगाद्वा न प्रवर्तते ॥ च० शा० १।५४

The self is in it self without consiousness. Con-

साथ योग होने से कर्म और बन्धन एवं योग के अभाव में कर्म निवृत्ति और मुक्ति होती है। वस्तुओं की उत्पत्ति के लिए कारण की आवश्यकता होती है, कारण और सहकारी के विना एकाकी वह कार्य के सम्पादन में असमर्थ रहता है। अविवेकवश कारण समूह के साथ आत्मा का संयोग स्थापित होता है। ज्ञाता ही साक्षी होता है। आत्मा ज्ञाता होकर साक्षी के रूप में अवस्थित है। भूत समुदाय उसके द्वारा परिदृष्ट होता रहता है। आत्मा चेतन होते हुए भी निष्क्रिय है, मन अचेतन होते हुए भी सक्रिय है। आत्मा के साथ वियुक्त होने में गति नहीं होती है, मन की क्रिया की ही आत्मा की क्रिया के रूप में भ्रान्ति है। चिन्मय पुरुष के अधिष्ठान के फलस्वरूप मन की क्रिया परिलक्षित होती है और आत्मा कर्ता होता है। वस्तुतः आत्मा निष्क्रिय है। मन सक्रिय होते हुए भी कर्ता नहीं है। परमार्थिक दृष्टि से कार्य का निष्पादक मन ही है। आत्मा स्वतन्त्र स्वयं स्व का परिचालक है। उसका अन्य कोई नियन्ता नहीं है। आत्मा धर्म और अधर्म का सहायक बनाकर अनेक योनियों में गमन के लिए स्वतन्त्र है और यह व्यापक है। रजोगुण और तमोगुण संयुक्त बद्ध जीव पूर्वजन्मार्जित कर्मों के अनुसार विभिन्न शरीर ग्रहण करता है। देह स्थिर इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न सुख-दुखादि का अनुभव करता है। एक देह के इन्द्रियों से अन्य देह का सुख-दुःखादि ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः व्यापक होते हुए भी सभी शरीरों के सुख-दुःखादि का ज्ञान करने में समर्थ नहीं है। सुख-दुःखादि की अनुभूति में प्रधान सहकारी मन है और वह कर्म के अनुसार विभिन्न रूप में है। किन्तु योगी और तान्त्रिक योग और साधन के प्रभाव से दूसरे में स्थित वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष करते हैं। इस प्रकार योग तन्त्र से चरक सिद्धान्त बुद्धि और मन के भेद को छोड़कर साम्य रखता है। श्वास-प्रश्वास चक्षु का उन्मेष और निमेष, जीवन-मरण मन की विभिन्न देश में गति, इन्द्रियान्तर से मन का संयोग, विषयान्तर से मन का सम्पर्क, स्वप्नयोग में मन की विभिन्न देशों में गति, इच्छा द्वेष, सुख-दुःख, धैर्य्य, चैतन्य, बुद्धि, स्मृति अहङ्कार आदि आत्मसंयुक्त देह में देखा जाता है, शून्य मृत शरीर में इन चिह्नों की उपलब्धि नहीं

---

siousness can only come to it through its connection with the sence organe an manas. Hist. of Ind. Phil. vol. I, P. n14

है। षड्धातुमय यह शरीर है, आत्मा के अभाव में पाँच धातु अवशिष्ट रह जाता है, इसी लिए मृत्यु को पञ्चत्व प्राप्ति कहा गया है।[1]

योग एवं तन्त्र में ये सभी बुद्धि के धर्म हैं। इस विश्लेषण में वैशेषिक दर्शन का प्रभाव भी तन्त्र पर लक्षित है।

खण्डन

बौद्धों का चरक के अनुसार खण्डन—

बौद्ध दर्शन में सभी पदार्थ क्षणिक है, वे अस्थायी आत्मा नहीं मानते हैं। चरक में उनका खण्डन मिलता है। जीव की प्रतिभा और मोह का कारण धर्माधर्म है। आत्मा के अभाव में निराश्रित धर्माधर्म उत्पन्न नहीं हो सकता है। सत्य उपादेय धर्म का जनक एवं मिथ्या अनुपादेय अधर्म का जनक है। स्थायी आत्मा के अभाव में सत्य और मिथ्या से धर्म और अधर्म नहीं हो सकता है। आत्मा के अभाव में शुभाशुभ कर्मो की भी सम्भावना नहीं है। कर्ता ही कारणों का ज्ञाता होता है। बोद्धा पूर्व और ऊपर अवस्था का द्रष्टा होता है। स्थिर आत्मा के अभाव मैं यह सम्भव नहीं है। आत्मा के भोग का आयतन शरीर है। भोग्य भोक्ता के विना व्यर्थ है। सुख दुःख की भोग्यता भी आत्मा के विना सम्भव नहीं है। ज्ञाता के लिए शास्त्र और शास्त्रार्थ-विज्ञान व्यर्थ ही है।

आत्मा के अभाव में जन्म मृत्यु, बन्धन और मुक्ति सभी निरर्थक है। गृह-निर्माता के अभाव में केवल मिट्टी, दण्ड, चक्र के द्वारा घट आदि का उत्पादन सम्भव नहीं है। आत्म-निरपेक्ष सम्मिलित उत्पादन से देह की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। आत्मा के स्थायित्व के विना किसी के द्वारा किये गये कर्मों का कोई दूसरा भोग करेगा। जब कि भावी फल की प्राप्ति की अभिलाषा से कर्म में प्रवृत्ति होती है। किसी का फल कोई भोग करेगा तो कर्म में प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः देहातिरिक्त आत्मा है। (च० शा० १-३६-४८) विवेकज्ञान एवं साधना से मुक्ति एवं पुरुष के भोग और सृष्टि के लिए आत्मा है, यह चरक में भी स्वीकृत है, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से प्रकृति से बुद्धि आदि की उत्पत्ति एवं प्रलय से प्रकृति में लय उभयत्र समान है, पुरुष और प्रकृति का भेद ज्ञान होने पर प्रकृति उनके लिए शरीर का उत्पादन नहीं करती है।

---

१. चरकशा० १। ६०–६३।

तन्त्र और योग—

तन्त्र में कुण्डलिनी का जागरण अपेक्षित है। इसके विना पूजा, अर्चा साधना सभी व्यर्थ है। जितने समय तक कुण्डलिनी निद्रित रहती है, तब तक सिद्धि लाभ की सम्भावना नहीं है, योगाभ्यास करने पर भी ज्ञान नहीं होता है। देवी कुण्डलिनी के जागरण से ही अष्टविध ऐश्वर्य मुक्त हो महायोगी शिव के समान संसार में विचरण करता है।[1]

इस कुण्डलिनी के जागरण के लिए योग और तन्त्र साधना एकान्त रूप से अपेक्षित है। योग तन्त्र के विना कुण्डलिनी का चङ्क्रमण सम्भव नहीं है। रुद्रयामल में योग के अधीन ही कुण्डलिनी का जागरण कहा गया है।

विना योगं न सिध्येत कुण्डली-चङ्क्रमः प्रभो। (ग० त० ६।३६)
वेदाधीनं महायोगं योगाधीना कुण्डली।
(कुरु० या० उ० न० प० २१)

इतना सत्य है कि विश्वास, प्रेम, भक्ति, कर्म, ज्ञान इनसे सम्बलित योग के द्वारा ही कुण्डलिनी का जागरण सम्भव है। कुण्डलिनी नाद ब्रह्म है, अतः सङ्गीत के द्वारा भी कुण्डलिनी का जागरण सम्भव है, क्योंकि स्वर नाद ब्रह्म है। वेद और तन्त्र में कर्म, ज्ञान, भक्ति सम्बलित योग की अपेक्षा कही गई है। वस्तुतः योग के विना कुण्डलिनी का जागरण सम्भव ही नहीं हैं, क्योंकि, कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग से अतिरिक्त कोई साधना ही नहीं हैं। अतः साधना का अर्थ ही योग है। किन्तु कुण्डलिनी-जागरण की दृष्टि से कुण्डलिनी योग, हठयोग एवं लययोग ही गृहीत है। कुण्डलिनी शब्द ब्रह्म सर्वमन्त्रमयी सर्वदेवमयी, सर्वसत्त्वमयी है। योग की चितिशक्ति या पुरुष कुण्डलिनी से अभिन्न है, क्योंकि यह ब्रह्मस्वरूपा, सनातनी, विश्वातीता ज्ञानस्वरूपा है। योग के अनुसार चेतन निष्क्रिय है, किन्तु चितिशक्ति को सक्रिय एवं निष्क्रिय उभय माना है। कुण्डलिनी पद्म के मृणाल सूत्र के आकार की है, आदित्य के या अङ्गार के समान जाज्वल्यमान है, सूर्य कोटि की प्रभा के समान उसकी प्रभा है, होती

---

१. जार्गात यदि सा देवी बहुभिः पुण्यसञ्चयैः।
तदा प्रसादमायान्ति मन्त्रयन्त्रार्चनादयः॥
शिववद् विहरेल्लोकेऽष्टैश्वर्यसमन्वितः॥ गन्धर्वतन्त्र ६।३५-३८

मूलाधार में चतुर्दल रक्त कमल है, गुह्यदेश से ऊपर और लिङ्गमूल से नीचे सुषुम्णा नाडी के मुख से संलग्न अधोमुख पद्म है। इस पद्म की कर्णिका के अभ्यन्तर में बज्रा नाडी के मुख में त्रैपुर नामक विजली के समान उज्ज्वल कोमल त्रिकोण है। उस त्रिकोण में परिव्याप्त कोटि सूर्य के समान देदीप्यमान रक्तबन्धु पुष्प के समान रक्ताभ जीवधारक कन्दर्प नामक वायु है। श्रीक्रम के सिद्धान्तानुसार यह त्रिकोण कामाख्ययोनि है और कन्दर्प अपानवायु है।[1] शाक्तानन्द-तरङ्गिणी के अनुसार त्रिकोण के मध्य में कामबीज के ऊपर अधोमुख छिद्र युक्त स्वमन्युलिङ्ग है। मृणालसूत्र के समान सूक्ष्म जगन्मोहिनी कुल कुण्डली अपने मुख के द्वार ब्रह्मद्वार = स्वयम्भु है, गोरक्षसंहिता में कहा गया है कि जिस द्वार से निरामय ब्रह्म स्थान में प्रगति की जाती है, वही ब्रह्मद्वार है। ब्रह्मद्वार की ओर मुख कर उसको सदा आवृत कर यह रहती है--यही स्वतन्त्र लिङ्ग--रन्ध्र ब्रह्मद्वार है।

"ब्रह्मद्वार-मुखं नित्यं मुखेनावृत्य तिष्ठति।
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारं निरामयम्॥

यह कुण्डलिनी केवल शिव को ही आवृत करती है--ऐसी वात नहीं है। वरन् सभी नाडियों को संवेष्टन कर स्थिर रहती है। गुह्य और मेढ्र के मध्य में अधोमुख त्रिकोण योनि है, वहाँ सभी नाडियों का मूलाधार कन्द है, उस कन्द से सदा कुण्डलिनी वर्तमान रहती है, सुषुम्णा नाडी के विवर में पुच्छ को मुख में निविष्ट कर अवस्थित है।

गुदा से दो अङ्गुल ऊपर मेढ्र से दो अंगुल नीचे चार अंगुल विस्तृत पक्षी के अण्ड के समान स्थित कन्दमूल है। इसी से वहत्तर हजार नाडियाँ उत्पन्न होती है।

यह कुण्डलिनी शक्ति ही विश्व की प्राण शक्ति एवं जीव की जीवन शक्ति है। यह जीवन शक्ति प्राण के रूप में है। कुण्डलिनी के सुप्त रहने पर भी उसका श्वास-प्रश्वास अव्याहत गति से चलता रहता है। इसके निःश्वास प्रश्वास के द्वारा यह जगत् में जीव को धारण करती है, विश्वास क्रिया जीवन प्रवाह का मूल है और

---

१. कर्णिकायां स्थिता योनिः कामाख्या परमेश्वरी।
अपानाख्यं हि कन्दर्पम् आधारे तत्त्रिकोणके॥ विश्वनाथ टीका

कुण्डलिनी जीव का जीवत्व है। प्राणायाम जो यह योग का आधार है, यह कुण्डलिनी के सम्मुख में ही उपयुक्त होता है। प्राण के 'हंस' कहने का अर्थ दो अक्षरों के अनवरत प्रवाह के कारण ही प्राण को हंस यह संज्ञा है। इसी हंस का आश्रय कर कुण्डलिनी अपने को व्यक्त करती है।

उच्छ्वासे चैव निःश्वासे हंस इत्यक्षरद्वयम्।
तस्मात् प्राज्ञस्तु हंसाख्य आत्माकारेण संस्थितः॥

(ष० नि० श्लो० ११)

प्राणाकार में अभिव्यक्त पराशक्ति कुण्डलिनी को प्राणकुण्डलिनी कहा जाता है, इस शक्ति को कुण्डलिनी शब्द से कहने का कारण यह है कि साँप के समान कुण्डली मार कर रहती है, अतः यह नाडी कुण्डलिनी है। योगियों ने अपनी योग दृष्टि के आधार पर सर्पाकार में इसका प्रत्यक्ष किया है--इसलिए इसको सर्पी भी कहा है। सर्प को प्राणशक्ति का प्रतीक माना गया है, अतः प्राण शक्ति के प्रतीकभूत सर्प के आधार पर भी इसे सर्पी कहा जाता है। जोड़ा साँप की अलङ्करण मूर्ति (motif) मेसोपोटामिया के लेगोश के राजा King Gudea of Lagash के यज्ञीय पान पात्र में चिह्नित पायी जाती है। इस राजा का आनुमानिक समय ३६०० B. c. माना गया गया है। प्रायः यह ऐतिह्य भी समसामयिक ही है। साँप प्राणशक्ति का प्रतीक है, यह साधारण जनता में भी प्रसिद्ध है।

इस सर्व-सत्त्वमयी महाकुण्डली के द्वारा अनेक विलक्षण क्रियात्मक प्रपञ्च मूर्ति विश्व की सृष्टि होती है। इसका प्रसारण ही चिद् अचिद् जगत् का उन्मेष है, इसी लिए यह मूलाधार है। गुरु कृपा ही इसकी उपलब्धि का साधन है।

योग दृष्टि के आधार पर मानव शरीर का केन्द्र मूलाधार है, इसी लिए मूलाधार में इसका स्थान माना गया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि चतुर्दश भुवन एवं उससे सम्बद्ध सभी पदार्थ इस पिण्ड में अवस्थित है। मूलाधार पाद के अधोभाग में सप्तभुवन= सप्त पाताल और ऊपर शिर तक भूः आदि सात भुवन है।

इस मूलाधार से ऊपर चक्र का स्थान है। मेरुदण्ड में सुषुम्णा नाडी है। इसी में या चित्रिणी नाडी में पद्म का स्थान है। सुषुम्णा नाडी में श्वास नाडी है और उसके अभ्यन्तर चित्रिणी नाडी का

स्थान है। चक्र कथन से मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, एवं विशुद्ध, इन प्रधान छ चक्रों को समझा जाता है। इनसे अतिरिक्त ललना सोमचन्द्र आदि का भी निर्देश मिलता है। ये चक्र प्राणशक्ति के अतिसूक्ष्म केन्द्र है, सजीव मानव के शरीर में प्राणवायु के द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है। ये चक्र चक्राधिष्ठात्री सूक्ष्म शक्ति के स्थूल स्पन्दन से होते है, उक्त स्थान को व्याप्त कर चन्द्र अवस्थित रहता है एवं उसी स्थान को वह नियन्त्रित करता है। इन चक्रों का स्वरूप ग्रहण महाशक्ति ही करती है। शक्ति की गति वृत्ताकार और चक्राकार धारण करती है. यह चक्राकार अवस्था ही योगशास्त्र का चक्रतत्त्व है। पद्म चक्र के चार दल है। योगनाडी की संख्या के अनुसार पद्म का दल निर्णीत होता है। मूलाधार चक्र घेर कर एवं मूलाधार के मध्य में चार नाडियों के जाने से चतुर्दल पद्म आकार की प्राप्ति होती है। ये योग नाडियाँ स्नायु नहीं वरन् प्राणवायु का प्रवाह पथ है, गत्यर्थक नड् धातु से निष्पन्न नाडी शब्द प्राणवायु के यातायात की बोधक है। प्रधान दश नाडियाँ है—ईडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, सरस्वती, वारुणी, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, अलम्बुषा और शङ्खिनी, किसी के मत में चौदह प्रधान नाडियाँ हैं:—ईडा, पिङ्गला, सुषुम्णा सरस्वती, वारुणी, पुषा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, विश्वादरी, कुडु, शङ्खिनी पयस्विनी, अलम्बुषा, गान्धारी।[1] इनमें भी प्रधान ईडा, पिङ्गला और सुषुम्णा है। मेरुदण्ड के बाह्यदेश में वाम भाग स्थित चन्द्रनाडी, दक्षिण में सूर्यनाडी और मेरुदण्ड के मध्य ने तीन गुणों वाली चन्द्रसूर्य और दीप्तिस्वरूपा सुषुम्णा है।

मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे।
मध्ये नाडी सुषुम्णा त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा।

(ष० नि० श्लो०)

यह नाडी सुषुम्णा, वज्रा, चित्रिणी इन तीन रूप के भेद से त्रिसूत्ररूपा है। चित्रिणी चन्द्ररूपा शुक्लवर्णा, वज्रा सूर्यरूपा अनार किञ्जल्क-कान्ति और सुषुम्णा अग्निरूप रक्तवर्ण है।

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के अनुसार मूलाधार से ऊर्ध्वगति के समय अन्नमय-कोश में अभिमान होता है, तब ईडा और पिङ्गला की क्रिया चलती है, किन्तु जब सुषुम्णा उद्बुद्ध होती है,

---

१. ध्यानबिन्दूपनिषद् ५१-५३। योगियाज्ञवल्क्य

तब इस जागरण की मात्रा के अनुसार ईडा और पिङ्गला की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है प्राणवायु के सञ्चार के अनुसार ईडा और पिङ्गला के सञ्चार में ह्रास आता है और क्रिया में अवरोध भी होता है। अभिमान अहन्तत्त्व की प्राणमय कोश में क्रीडा आरम्भ हो जाती है। प्राणमय कोश ने प्रवेश के अनुरूप अन्नमयकोश समाप्त हो जाता है इस कोश की क्रिया के अवसान के साथ अथवा इस क्रिया की अवस्था में ही गुरु कृपा या साधना के बल पर वज्रिणी या (वज्रा) नाडी का द्वार अनावृत्त हो जाता है। शक्ति इसी नाडी से क्रियाशील होती है। अहन्ता प्राणमय कोश का त्याग कर प्राणमय कोश का आश्रयण करता है। वज्रिणी नाडी से चित्रिणी नाडी में प्रवेश होता है। अहन्ता मनोमयकोश से ज्ञानमय कोश में प्रवेश करती है चरमावस्था में चित्रिणी नाडी का भी त्याग हो जाता है। इस अवस्था में यथार्थ ब्रह्मनाडी का आश्रयण होता है और शक्तिलीला आरम्भ हो जाती है। अहन्ता विज्ञानमय को छोड़कर आनन्दमयकोश का आश्रयण करता है। इस कोश में किसी प्रकार का मालिन्य नहीं है। यही जीव का शक्ति के अङ्ग में अवस्थान है आनन्दमय कोश की सम्यक् अनुभूति वर्तमान रहती है। यही महा-चैतन्य का परम साक्षी अवस्था में अवस्थान है।[1]

प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह।
सुचिवद् गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥
(ध्या० दि० उप० पृ० ६६)

शास्त्र की प्रक्रिया के सनुसार साधना करने पर कुण्डलिनी के प्रबुद्ध होने पर प्रबुद्ध कुण्डलिनी सुषुम्णा नाडी में ऊर्ध्वगमन करती है। चित्रिणी नाडी के मुख पर ब्रह्मद्वार है। पञ्चशिव शक्ति के सामरस्य से निःसृत अमृत धारा में अभिषिक्त देश में प्रवेश करती है, जहाँ से निकलने का यही द्वार है इस द्वार से कुण्डलिनी परम शिव के सन्निधान में गमनागमन करती है। योग प्रक्रिया में उपलब्ध इसी को कन्द सुषुम्णा का ग्रन्थिस्थान या सुषुम्णाका मुख कहते हैं।

ब्रह्मद्वारं तदास्ये प्रविलसति सुधधार–गम्य–प्रदेशम्।
ग्रन्थिस्थानं तदेतद्वदनमिति सुषुम्णाख्यनाड्या लपन्ति ॥
(षट् च० निरूपण श्लोक ३)

---

१. पू. त. पृ. ६९-७०

कुण्डलिनी के ऊर्ध्वगमन करने पर यह विचारणीय है कि मूलाधार को वह शून्य करती हुई जाती है क्या ? कुण्डलिनी जब मूलाधार से ऊपर जाती है, देह के अस्तित्व एवं प्राण क्रिया तथा जीवनाधार स्वरूप यह शवदेह नहीं होता है, क्योंकि सहस्रार में शिवशक्ति के मिलन के लिए प्रवाहित अमृत ही रक्षक रहता है। कतिपय आचार्य ऊर्ध्वगमन के समय भी मूलाधार की शून्यता को नहीं मानते है। मूलाधार स्थित कुण्डलिनी की एक प्रसृति (ejection) का ही ऊर्ध्वगमन मानते हैं। प्रपञ्चसार के अनुसार मूलाधार से स्फुरित विद्युत आभा के समान सूक्ष्माभा प्रभा ही मस्तक पर्यन्त ऊर्ध्वगमन करती है, यह सभी तेज रूप का मूलाधार है। प्रभा का अर्थ कुण्डलिनी मस्तक होता है। फलतः सर्पाकार कुण्डलिनी का मस्तक ऊपर जाता है और अधोभाग नीचे रहता है।

"मूलाधारात् स्फुरति–तडिदाभा प्रभा सूक्ष्मरूपोद्गच्छन्त्या मस्तकमनुतरा तेजसां मूलभूता" (प्र० सा० १०।७)

इस प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि मूलाधारस्थ कुण्डलिनी असीम और पूर्णरूप है, अतः स्थितिशील रूप में और असीम गतिशील रूप में चक्रों का भेदन करती हुई वलयाकारता में नहीं रहती है, जीव का स्थूल सूक्ष्म और कारण तीन प्रकार के देहों का लय हो जाता है और विदेह मुक्ति को प्राप्त करता है। किन्तु इस व्यष्टि मुक्ति में संसार का लय नहीं होता है, क्योंकि समष्टि का आधार महाकुण्डली व्यष्टि के समष्टि का आधार महाकुण्डली व्यष्टि की विदेह मुक्ति होने पर भी सार्द्धत्रिवलय के आकार में अवस्थान करती है। अतः संसार की स्थिति रहती है। कुण्डलिनी के जागरण और उद्ध्र्वगमन में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है।

योग और कुण्डलिनी

योग के विना कुण्डलिनी का जागरण सम्भव नहीं है। गौतमीयतन्त्र में योग शब्द से संसार का उत्तीर्ण होना कहा है। इस जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य रूप योग द्रष्टा-स्वरूप में अवस्थान है।

"संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदः॥ (गौ० त०)

पातञ्जलयोगदर्शन में चित्तवृत्ति निरोध स्वरूपयोग के साथ तन्त्रोक्त योग का विरोध नहीं है, चित्तवृत्ति निरोधस्वरूप योग के

द्वारा किसी अभीष्ट योग विषय में चित्त को स्थिर करना होता है।

कुण्डलिनी के ऊर्ध्वगमन के समय ग्रन्थि भेद की चर्चा हुई है। ग्रन्थि भेद से तात्पर्य यह है कि ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि त्रय अर्थात् पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा, अतः कुण्डलिनी का जागरण एक सामान्य चर्चा नहीं वरन् इसके अधिकारी होने के लिए ग्रन्थि भेद आवश्यक है। ब्रह्मग्रन्थि भेद से साधक कामादि प्रवृत्ति अर्थात् सृष्टि वासनादि का सर्वथा परित्याग कर जितेन्द्रिय होता है। इससे पुत्रैषणा दूर होती है विष्णु ग्रन्थि के भेद से वैष्णवी माया, धन, ऐश्वर्य आदि का प्रलोभन साधक को विचलित नहीं करते हैं, इसके द्वारा वित्तैषणा समाप्त होती है। रुद्रग्रन्थि भेद के बाद साधक प्रतिष्ठा मोह पर विजय करता है, फलतः लोकैषणा दूर होती है प्रतीकात्मक रीति से चिन्मय भूमि की उत्तीर्णता या अमृतत्व की प्राप्ति है। क्योंकि ग्रन्थि भेद का सहज अर्थ ही बन्धन-मुक्ति है। बन्धन का तीन प्रकार है——

(१) देहज
(२) प्राणज
(३) आत्मज

जगद् ब्रह्माण्ड एक विराट् स्थूल देह है। समुद्र के ऊपर तरङ्ग के समान विराट् देह पर व्यष्टि देह उत्थित होकर कुछ क्रीड़ा के बाद विराट् में विलीन होता है। मनुष्य बुद्धि दोष या प्रज्ञा-अपराध के संस्कार ने एक-एक तरङ्ग को अपना समझता है और आबद्ध होता है, अतः बन्धन-प्रसूत एवं विश्व-तादात्म्य-परिच्छेद से होता है। इस कल्पित बन्धन का परित्याग कर देहात्म को समुद्र स्थानीय या विश्वात्मा के देह के रूप में अनुभव करना ब्रह्मग्रन्थि भेद है।

प्राण-मय विज्ञानमयकोश में सर्वव्यापी प्राणादि की सत्ता को विस्तृत होकर एक निर्दिष्ट व्यष्टि प्राणमन में अहन्ता का स्थापन करता है और उसके सुख-दुःख के मध्य में इस तरह आबद्ध हो जाता है कि व्यष्टि देह के दुःख के लिए समष्टि का विसर्जन कर देता है। एक ही जीवनी शक्ति या प्राण का खेल चल रहा है, सभी दुःख-सुख समष्टि से सम्बद्ध है——इस तत्त्व की उपलब्धि करने पर व्यष्टि देह का सीमाबद्ध सुख-दुःख समष्टि गत सुख-दुःख के साथ मिलना ही प्राणग्रन्थि या विष्णुग्रन्थिभेद का उद्देश्य है। विष्णु शब्द व्यापक अर्थ को समाहित कर विश्वात्म सत्ता के रूप में संस्थित है।

आत्मा का अर्थ आनन्द है, उसकी एक सीमाबद्ध शरीर के साथ आबद्ध करना और व्यष्टि देह के आनन्द के लिए समष्टि देह के आनन्द को नष्ट करने से म्लानता का अनुभव नहीं होता है। इस व्यष्टिगत शरीर का बन्धन समष्टि गत आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि दूर करती है, सभी प्राणियों के हित साधन में एवं आनन्द-वर्द्धन में रत होना ही रुद्रग्रन्थि के भेद का लक्ष्य है।[१] ब्रह्मग्रन्थि भेद के साथ साधक समष्टि रूप में स्थिति लाभकर सत्यप्रतिष्ठ हो जाता है। इस अवस्था में समस्त जीवों को एक सत्स्वरूप के अङ्गरूप में अनुभव करता है--सभी की एकरूपता के साथ सब में विभिन्न रूप में आत्म प्रकाश का अनुभव करता है। इष्ट मूर्ति भी इस अवस्था में विश्वरूप को धारण करती है। सर्वत्र एक ही तेज का दर्शन करता है, साधक अपनी आत्मा को सर्वभूतात्मा के रूप में उपलब्ध करता है। ब्रह्मग्रन्थि भेद होने पर प्रारब्ध कर्मबीज दग्ध हो जाता है और स्थूल देह का संस्कार हो जाता है। विष्णु ग्रन्थि भेद से प्राण प्रतिष्ठा की उपलब्धि होती है। खण्ड प्राण में महाप्राण का अनुभव करता है। सभी के कर्मों को अपना कर्म मानता है सभी के सुख-दुःख में आत्म सुख-दुःख का अनुभव करता है, सभी के प्रति प्रेम-भाव उत्पन्न होता है। सभी के सुख के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग करता है।

विष्णु-ग्रन्थि के भेद से साधक के सञ्चित कर्म का बीज दग्ध हो जाता है और सूक्ष्म देह का संस्कार होता है। रुद्रग्रन्थि के भेदन से साधक एक अखण्ड अद्वयभाव द्रष्टा की स्वरूप स्थिति का लाभ करता है, इससे सभी के आनन्द का लाभ करता है। इस ग्रन्थि के भेद से सञ्चीयमान कर्म का बीज दग्ध होता है और कारण देह में संस्कार होता है। दुर्गासप्तशती का ग्रन्थित्रय भेद का यही आशय लाहिड़ी महाशय एवं सन्याल महाशय ने योगर्द्धि के द्वारा उद्बुद्ध किया है। यह कुण्डलिनी जागरण का योग साधना में तत्पर ही अधिकारी है, अन्य नहीं। कविराज महाशय ने व्यक्त किया है कि इन्द्रिय संयम ब्रह्मचर्य, पवित्र जीवन, पवित्र चिन्ता इनका स्थायी रूप में आयत्त करने पर ही कुण्डलिनी के जागरण मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। मस्तिष्क के शुद्ध केन्द्र के साथ देह के निम्नस्तर स्थित

---

१. पूजातत्त्व—पृ. ५७-५८

जनन केन्द्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इन्द्रियलोलुप व्यक्ति के लिए (Paraclete) कुण्डलिनी के जगाने की साधना के पथ में आगे आनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिए। अतः योग और मोक्ष का सर्वत्र समत्व भावना के साथ व्यष्टि स्वरूप विसर्जन के साथ समष्टि का तादात्म्य एवं समष्टि का हित साधन है।

प्रागैतिहासिक युग के महेञ्जोदारों के भग्नावशेष में भी योगी की मूर्ति उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त योग की भङ्गिमा में दण्डायमान देवमूर्तियाँ भी उपलब्ध है।[1] इस भङ्गी को किसी ने जैनियों की कायोत्सर्ग भङ्गी माना है तो किसी ने योगमुद्रा या वायुपुराण-वर्णित पाशुपतयोगमुद्रा माना है। ऋग्वेद के सूक्त[2] में योगी का वर्णन उपलब्ध है रुद्र के साथ केशी विषपात्र से विषपान कर रहा है, और वह वायुरूप प्राप्त करता है और कुत्सित लोगों को ध्वस्त करना चाहता है। वायुस्मा उपामथन्त् पिनष्टिस्मानु कृर्णनमा केशी विषस्य पात्रेण यद्रुद्रेणादिवत्सह (१०।१३६) अर्थात् यह योगी योग बल से वायुरूपता को प्राप्त कर आकाश पथ से गमन करता है। गमन काल में विश्व के सभी पदार्थों को अपने तेज से देखता चलता है। इस अतीन्द्रिय पदार्थ द्रष्टा व्यक्ति का आहार वायु का मित्र है। यह वायु रूप को ही प्राप्त करता है। अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत् (१०।१३४।४)

"वातस्याश्वो वायोः सखायो देवेषितो मुनिः" (१०।१३६।५)

इस साधना से सम्पन्न अनेक मुनि थे। वे अतीन्द्रिय पदार्थद्रष्टागण कपिल वर्ण मलिन वस्त्र को धारण करते थें, तपस्या की महिमा से देदीप्यमान देवता के स्वरूप में प्रवेश करते थे और वायु गति सम्पन्न थे।

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसने मला।
वातस्यानुध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥ १०।१३६।२

योग साधना की प्राचीनता होने पर भी इस साधना में प्राणवायु संयमन ही मुख्य है। इस दृष्टि से प्राणायाम का अतिशय महत्त्व है, अतः प्राणायाम की अवगति आवश्यक है। बुद्धदेव के समय योग-साधना सिद्धि के लिए एकान्त रूप से अपेक्षित थी, स्वयं सिद्धार्थ

---

१. PL × cVili, Pls, c × Vi 29& c × viii, ll)
२. ऋग्वेद १५।१३६

प्राणवायु के नियन्त्रण के आधार पर बुद्ध हुए। यह भी सत्य है कि स्वयं उस मार्ग पर चलते हुए भी सिद्धों की निन्दा की है।

योग शास्त्र का अनुशासक पतञ्जलि को मानने पर भी इनको योगशास्त्र का प्रवर्तक नहीं माना गया है। सभी साधनाओं में योग का स्थान किसी न किसी रूप में उपलब्ध होता है, चाहे वह सनातनी हो, बौद्ध हो या जैनी हो—योग का स्थान मानना ही पड़ता है।

कुण्डलिनी का सङ्केत वेद में मन्त्रों के अध्ययन से भी उपलब्ध है। षोडशी, भुवनेश्वरी जो चितिशक्तिरूपा भुवन की उत्पत्ति का हेतु है। अन्धकार से आलोक की ओर आगमन में सूर्य की दुहिता सूर्या कही गई है, इसमें अपत्य वाचक प्रत्यय नहीं हैं, अतः यह सूर्य की शक्ति है, चैतन्य का परिणाम नहीं होता है, वह विकास मात्र है जैसे चन्द्रमा की अभिवृद्धि होती है। तन्त्र में भी देखने को मिलता है कि गिरीश की जाया, अर्द्धाङ्गिनी और अभिन्न शक्ति स्वरूपा है। गिरि के कूटस्थ चैतन्य के आधार पर ही गिरीश की जाया या दुहिता कुछ भी प्रतीत रूप में कहा है। संहिता में ही "स्वायां देवो दुहितरि त्विषि धात्" देवता अपनी दुहिता ने ही अपने तेजको सन्निहित करते हैं। अध्यात्म दृष्टि से सूर्या सूर्य की दुहिता है और उषा अर्थाद् चेतना में श्रद्धा का आवेश, जिसको योगदृष्टि ने प्रतिभा संवित् कहते हैं। तादुण्य में वह सूर्य की योषा, दिव की दुहिता ही भुवन की पत्नी या भुवनेश्वरी हैं। "दिवो दुहिता भुवनस्य पत्नी" (ऋ ७।७।७५।४) सूर्य भी विशुद्ध चैतन्य एवं परमरूप में उत्तम ज्योति है, स्थावरजङ्गम की आत्मा तुरीय ब्रह्म गम्य है। किन्तु इसके भी परे एक सत्य का बन्धु है, वह जाना भी जा सकता है, और नहीं भी जाना जा सकता है "परमे व्योम्न्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद" १०।१२९॥४।७

अश्विद्वय रथ ही त्रिचक्र है। तेज की उपासना में रत विप्रगण दो चक्रों का ज्ञान रखते हैं, वह है दिन और रात का आवर्तन; किन्तु इससे परे भी एक भूमि है, जहाँ न दिन है न रात है। इसी को मुण्डक में सूर्यद्वार का भेद कहा गया है!

पितृगृह सूर्य का त्यागकर अपने चन्द्र स्वामिगृह में रश्मि का गमन है। इसी स्थान में अश्विद्वय का रथ तृतीय चक्र से चलता है। इसी को 'अचक्र स्वधा' कहा गया है। उस चन्द्र के गम्भीर गहन में आलोक की एक गुप्त रश्मि का आगमन है। यह नित्य वर वधू का

अनुपमेय वासर है। सोम से अमृत क्षरण लोकोत्तर अमृत की दीप्ति है। ऋग्वेद ने कहा है--"गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्' इत्था चन्द्रमसो गृहे"। १।८४।१५॥ इसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य ने कहा है--नाम नमनं प्रह्वत्वेनावस्थानमित्यर्थः।४२५ यजुर्वेद में इस रश्मि को "सुषुम्णः सूर्यरश्मिः" कहा है (वा० १८।४०) यह वही रश्मि है जो आदित्य से प्रसूत हो चन्द्रमा को आलोकित करती है। त्वष्टा की गो सविताकी किरण है। क्योंकि त्वष्टा सविता है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ह्रासवृद्धियुक्त चन्द्रमा आदित्य के इस पार है और उसकी षोडशी ध्रुवा कला आदित्य के उस पार है। इसके बाद तन्त्र में वर्णित सप्तदशी अमा की कला है। इस रूपकरणसे साधना की अद्वैत भावना विकसित हो रही है। यहीं सतरहवीं कला सुषुम्णा की रश्मि है जिसका नाम अपीच्य या गुह्य है। यह संहिता का "अमृतस्य लोकः" है (१०।८५।२०) इस ध्रुवा और अमा कला के ऊपर है जहाँ रात और दिन का निशान भी नहीं है, "न रात्र्या अह्नः आसीत् प्रकेतः" (१०।१२९।२)।

अब पवमान सोममन्त्र की ओर दृष्टिपात करे। इसके ऋषि काश्यप या असित देवल हैं। सात ध्यान चेतना के द्वारा निहित पवमान सोम प्राण को चञ्चल करता है। जैसे द्रोहहीन उस नदी के एक नेत्र के सम्बर्द्धित करता है। "धीतिभिर्हितो नद्यो अजिन्वद् अद्रुहः या एकम् अक्षिवावृधुः" (९।९।४) वैदिक सोमयाग सभी यागों में श्रेष्ठ है--इसी का फल अमृतत्व प्राप्ति है। अमृतत्व एक दीप्ति है और इसी ज्योति की विभूति देवता हैं। "अपाम् सोम-ममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम् देवान्" (ऋ० ८।४८।३) अद्वैत का सम्यक् अनुभव एक और बहुत्व का समन्वय यहीं होता है। आधिभौतिक दृष्टि से सोम एक औषधि है। औषधि शब्द की ओर दृष्टिपात करने पर उष या उषस, वस् दीप्ति या उष् दहन अर्थ में उष् के आगे धि अर्थात् उषाका आलोक जिसमें निहित है, वैदिक दृष्टि से चेतना का प्रथम उन्मेष औषधि में इसके बाद पशु में अनन्तर मनुष्य में है। इस यथाक्रम में चिन्मय अन्न, प्राण और मन का वाहन है। ओषधि सोम राज्ञो और सोम राजा है। सवन या निष्पीडन से पृथिवी स्थानीय सोम की दीप्त्यर्थक मन्त्रात्मक देवी के उद्देश्य से अग्नि में रस का निक्षेप एक रहस्यपूर्ण व्यापार है। सोम की मत्तता, आत्मविस्मृति, जगत् विस्मृति की तन्मयता है। योग

चेतना में प्राकृत चेतना और विक्षेप की गूढता होती है। इतिहास में आत्माराम की योगशक्ति बलराम वारुणीपान से नित्य मत्त एवं आत्माराम के अग्रज है। आत्म समर्पण सुधापान की मत्तता एक अनिवर्चनीय है।

इस विश्लेषण से ज्योति रूप में सोम चन्द्रमा है। अग्नि, सूर्य और सोम तीन ज्योति हैं, व्यक्ति चेतना में अग्नि, विश्वचेतना में सूर्य और लोकोत्तर चेतना में सोम है। सोम की सोलह कला है। यह षोडशी कला नित्य ध्रुवा है--इसीलिए वेद पुरुष षोडशकला है। तन्त्र की महाशक्ति षोडशी है। वैष्णव भावना के विकास में चन्द्रावली ह्लादिनी पन्दरहवी कला राधा षोडशी है, और षोडश कला से युक्त कृष्ण अनिर्वचनीय है। उपसंहार में अध्यात्म दृष्टि से सोम ही तन्त्र की सुषुम्णा है सूर्य रश्मि ही आदित्य मण्डल में अमृत है, वह अमृत सूर्य रश्मि के द्वारा वाहित होकर ब्रह्म रन्ध्र की प्रणालिका से जोवन के हृदय को आधान करती हैं। उपनिषद् में अनेक स्थान में इसका वर्णन उपलब्ध है। अमृत दाहिनी यह नाडी हठयोग की सुषुम्णा है। अध्यात्म दृष्टि में नाडी और अधिभूत दृष्टि में नही है, योग तन्त्र की सुषुम्णा नाडी ऋक्संहिता की सुषोमा नदी है इस तरह सुषोमा, सुषुम्णा सोम इन तीनों की व्युत्पत्ति एक धातु से है और तीनों में अमृत प्रवाह की व्यञ्जना है। निघण्टु के अनुसार इसका अर्थ सुख होता है, फलतः सोम आनन्द चेतना, साहित्यिकों की रस चेतना अमृत और महासुख है। सोमयाग इसकी प्राप्ति का साधन है और योग में कुण्डलिनी का जागरण इसी सुषुम्णा से होता है जिससे आनन्द धारा का क्षरण सम्भव है। अतः कुण्डलिनी का जागरण में वैदिक, तान्त्रिक और योग का समन्वय है।

१. उपनिषद् में इस प्रणालिका का नाम हिता नाडी है (ऐ० उ० ११२) (बृ० उ० ४।२।३, ३।२०।) रश्मि नाडी और नदी की एकता ऋक् संहिता में सिद्ध है। "याः सूर्यो रश्मिभिराततान याभ्य इन्द्रो अरदद गातुर्मूमिम्, ते सिन्धवो वरिवो धातुना नः" (ऋ० ७।४४।४) सूर्य जिनका विस्तार करते हैं, उनकी रश्मियों से इन्द्र जिनके लिए पथनिर्माण करते हैं, वह सिन्धु हमलोगों के मध्य वैपुल्य धारण करे। नाडी विज्ञान का भी यहाँ सङ्केत उपलब्ध है। सूर्य रश्मि में चिन्मय ही हठयोग में चित्रिणी है, इन्द्र तेज में

ओजस्वी वज्रिणी वृत्र की परिधि में अर्थात् आवरक तमः शक्ति की वेष्टनी में नदी की धारा अवरुद्ध है इन्द्र वज्र शक्ति से उस अवरोध का विदारण करता है (द्र० ३।३३।११) धारा चेतना के साथ प्रवाहित होती है। इसी तरह ऋक संहिता में ही "अथ ते शर्यणावति सुषोमायाम् अधि प्रियः आर्जीकीय मदिन्तमः (८।७।२९) हे इन्द्र तुम्हारा यह प्रिय सोम शर्यणावत् सुषोमा एवं आर्जीयकी में रहता है आदि। वीर्यशाली मरुद्गण ज्योतिर्मय महाप्राण को रथ चक्र गभीर से वहाँ पहुँचे तीन धामों में उनका नाम आर्जीक, सुषोम और शर्यनावत् है। (८।६४।११) शाकटायन ब्राह्मण के शर्यणावत् का अर्थ कुरुक्षेत्र के अधोदेश में स्पन्दमान सरोवर (सायण भा० १।८४।१३) वस्तुतः इस शरीर में ही कुरुक्षेत्र एवं देवयजन भूमि है, ऐसी स्थिति में शर्याणवत् उसके अधोदेश में स्थित मूलाधार है, आर्जीक या आर्जीकीय का व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ ऋजुता रूप में जो चले वर्थात् जहाँ से चेतना की अकुटिल गति होती है। इस प्रकार इसको सहस्रार कह सकते है, दोनों के मध्य में सुषोमा नदी या सुषोम धाम है। सुषमा अमृत प्रवाहिनी सोम की धारा उसके मध्य में प्रवाहित है। इसका सङ्केत हठयोग की योनि मुद्रा में है। यथा "यत्र ब्रह्मा ग्राब्णो सोमे महीयते सोमेनान्द जनयन्। (९।९९३। ६) ग्रावा सोमचेतनाका पाषाण अर्थात् योनिकन्द है। अतः इसमें सन्देह नहीं है कि कुण्डलिनी जागरण का सङ्केत वेद में है इसके मूल में सुषुम्णा नाडी की आवश्यकता है कुण्डलिनी की अकुटिलता के साथ सहस्रार गति और वहाँ सोम समन्विति और अमृत क्षरण होता है, महासुख की दीप्ति और प्रातिभ सवित की यही सम्पत्ति है।

भारतीय दर्शन में योग :—

वैदिक ऋचाओं के अनेक स्थलों में योग का विश्लेषण उपलब्ध है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के अट्ठाहरवें सूक्त में लिखा है कि कोई भी क्रियायें विना योग के सिद्ध नहीं होती हैं ' "यस्मादृते न सिध्यन्ति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति।" (ऋ० १।१८।७) इसी का छाया गीता के "योगः कर्मसु कौशलम्" पद्य में उपलब्ध है।

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' यो० सू० १।१७ इस सूत्र की मूलाधार "स धा नो योग आ भुवत् स राये स पुरन्ध्याम्। गमद् वाजेभिरा, सनः"'। (ऋ० १।५।४, साम ३०१।२।१०३, अथर्ववेद २०।६९१)

में मिलता है (ईश्वर की कृपा से समाधि की प्राप्ति होती है)। मुझे उसका सन्निधान प्राप्त हो। इतना ही नहीं ईश्वर प्रणिधान के लिये वेद में अनेक मन्त्र उपलब्ध है प्रत्येक समाधि में ऐश्वर्य सम्पन्न इन्द्र का आह्वान करे। "योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे सवाय इन्द्र भूतये"। (ऋ० १।३०।७) इन मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि संहिता भाग से चलती हुई योग धारा ने उपनिषद् युग में पुष्पित पल्लवित होकर अनेक योगों के आधार पर सूक्ष्मतम समाधि से स्वरूप प्रतिष्ठा का मार्ग प्रशस्त किया।

आत्मज्योतिः के आनन्दमयकोष, विज्ञानमयकोष, मनोमयकोष, प्राणमयकोष, और अन्नमयकोष आचरण के रूप में है ; इन कोषों के कारण ही प्रकृति के सूक्ष्म और स्थूल तत्त्वों के प्रतिबिम्बन से राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि का आत्मा में आरोप होता है।

योग सभी दर्शनों के साथ अक्षुण्ण रूप में उपलब्ध होता है। यही कारण है कि सामान्य दार्शनिक मान्यनाओं के खण्डन होने पर भी योग की मान्यतायें सर्वत्र स्वीकृत है।

आस्तिक दर्शनों के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि, वेदमूलक होने से वहाँ विरोध की सम्भावना ही नहीं है, नास्तिक दर्शनों के साथ भी योग का अनिवार्य सम्बन्ध है।

जैन दर्शन में कर्मपुद्गल को नष्ट किये विना सर्वज्ञता नहीं आती है। कषाय ही बन्धन के कारण है, नवीन कर्मपुद्गलों के आश्रय के अवरोध के विना कर्मपुद्गलों का क्षय सम्भव ही नहीं है। ज्ञान ही इनका प्रधान कारण है, अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र इन तीन रत्नों का अनुष्ठान आवश्यक है। सम्यग्दर्शन आत्मा के स्वरूप प्रतिष्ठा का प्रतीक है। इसके द्वारा जीव, आजीव आस्रव, वन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का यथार्थ ज्ञान होता है।

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"। (मोक्षशास्त्र १।१)

संयम और तप के विना आस्रव का निरोध और सञ्चित कर्मों का विनाश नहीं हो सकता है और इनके विनाश के विना आत्मा की शुद्ध अवस्था नहीं आ सकती है।

"संजमएण भन्ते, जीवे किअणयइ ? संजमएण अण्णह एतं जणयइ। तवेण भन्ते, जीवे किं जणयइ ? तवेणं जणयइ। (उत्तराध्ययन, २९, २६–२७)

बौद्ध दर्शन में सम्यग्दर्शन के ही अर्थ में सम्यग्दृष्टि (सम्मा-दिट्ठि) मानी गई है[1] जागतिक दुःखों की प्रकृति को जानकर सत्काय-दृष्टि आदि से विभूषित होती है। बौद्ध दृष्टि से यह सम्यग्दृष्टि ही प्रज्ञा है। प्रतीत्यसमुत्पाद आदि प्रज्ञा की भूमि है। क्रमशः अनित्य दुःख और अनात्म ज्ञान से विपश्यना आती है जो प्रज्ञा का मार्ग और लोकोत्तर समाधि है। इसके द्वारा दिव्यचक्षु दिव्यश्रोत्र, चेतःपर्यायज्ञान, पूर्वानुस्मृतिज्ञान, च्युत्युत्पादज्ञान और आस्रवक्षयज्ञान षडभिज्ञा उत्पन्न होती है। शब्दान्तर से जैनदर्शन में भी इन्हें स्वीकार किया गया है। मनःपर्यायज्ञान चेतः पर्याय ज्ञान है। यह पूर्वानु-स्मृति और केवल ज्ञान के अन्तर्गत है।

किन्तु सम्यग्ज्ञान का सम्यक् चरित्र के विना रहना सर्वथा निष्प्रयोजन है—सम्यक्चरित्र महाव्रत और अणुव्रत के भेद से दो प्रकार का है। अहिंसा, सत्य आदि बारह व्रत इसके लिए कहे गये हैं। इनसे अतिरिक्त पञ्च समितियों का पालन, इन्द्रियों पर विजय प्राप्ति समता आदि षडावश्यकों का अनुष्ठान करना है। इन सभी अनुष्ठानों के बाद समाधि के आलम्बन के विना परमपद अर्थात् स्वरूप प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है।

सर्वार्थतैकाग्रतपः समाधिस्तु क्षयोदयौ।
तुल्यावेकाग्रता शान्तोदितौ च प्रत्ययाविह॥

कर्मविजय, भावनोपलब्धि, ध्यानसिद्धि, (अ. रा. को. ख. ७। पृ. ४) समत्वप्राप्ति के साथ सर्वज्ञत्वप्राप्ति सोपान क्रम में होती है। सम्यग्दृष्टि ही योगका परम चरम लक्ष्य है।

बौद्ध दर्शन में भी शील समाधि एवं प्रज्ञा का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। कुशलचित की एकाग्रता ही समाधि है। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रज्ञा पारमिता की प्राप्ति अपेक्षित है और इसके लिए दश भूमियों को पार करना पड़ता है, इस प्रकार जैन और 'बौद्ध साधना शुद्ध योग साधना है'—यह कहना अनुचित नहीं है। जैन के ही अष्टाङ्ग मार्ग में प्रज्ञा शील और समाधि ये तीन रत्नों को यहाँ भी माना गया है।

एकालम्बन रूप एकाग्रता ही बौद्धों की समाधि है। यह एकाग्रता अभिन्नालम्बन स्वरूपा है। यह अभिन्न आलम्बन स्वरूप प्रतिष्ठा से अतिरिक्त नहीं हो सकती है।

---

१. बुद्धवचन पृ० २१

प्रसादपूर्ण चित्त की समाधि ही सफल होती है।

"सुखिनो चित्तं समाधियतीति वचनतो पन सुखमस्य पदट्ठान'[1]।

बुद्ध मार्ग की दिशा में अविच्छिन्नरूप से चित्त की एक आलम्बन के आश्रयण की मनोवृत्ति जब होती है तब समाधि होती है[2]। योग एवं गीता की दृष्टि से विश्लेषण करने से इस अर्थ का स्फुट परिष्कार मिलता है। अभिधर्मकोषभाष्य के अनुसार स्वरूप प्रतिष्ठान से भिन्न समाधि नहीं हो सकती है। एकाग्रता का विवरण देते हुए लिखा है कि "एकालम्बन ही एकाग्रता है। ऐसी स्थिति में एकालम्बन चित्त ही समाधि है चित्त का धर्मान्तर समाधि नहीं है। चित्त ही समाधि नहीं है, जिससे एकाग्रता होती है वह धर्म समाधि है[3]। स्फुटार्था में भी इसी अर्थ को कहा है। फलतः योग और समाधि अभिन्न है और द्रष्टा के स्वरूप की प्रतिष्ठा है। अन्य धर्म की प्राप्ति सिद्धान्त विरोध के कारण सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार योग-प्रस्थान का सर्वत्र समादर है। भारतीय साधना में योग के साहाय्य की प्राप्ति के विना साध्य की प्राप्ति हो ही नहीं सकती है। चित्त की एकाग्रता ही बहिरंग साधन प्रणाली से विमुक्त कर अन्तरङ्ग एकाग्रता का सम्पादन कर बोध में विषम विश्व का उन्मूलन कर कर समत्व की भूमि पर अवस्थित कराती है।

यह सत्य है कि अनादि अविद्या के कारण मानव मन स्वभावतः बहिर्मुख रहता है। इसको अन्तर्मुख करने के लिए सक्रिय चेष्टा ही प्रथम योग है। यह योग एकाग्रता के द्वारा बहिरङ्ग प्रवृत्तियों से निरुद्ध होता है और अन्त में स्वसत्ता में अवबुद्ध होता है। अवबुद्ध प्रकाश से समग्र विश्व उद्भासित होता है और इससे लोक के प्रति करुणा और कल्याण की कामना उद्बुद्ध होती है, अहंशून्यता अस्मिता में परिणत होती है। अस्मिता भूमि में ज्योतिः स्वरूप प्रज्ञा का प्रोल्लास होता है। विभूतियों की दीप्ति में भूतों के जय से

---

१. विशुद्धिमग्गो पृ० १८१।

२. अविच्छिन्नरूपेण चित्तस्यैकालम्वेन प्रवृत्तिः समाधिः। अभि० को० पृ० ३०।

३. केयमेकाग्रता नाम ? एकालम्वना। एवं तर्हि चित्तान्येवैकालम्बानि समाधिर्न चैतसिकं धर्मान्तरमिति प्राप्नोति। न चित्तान्येव समाधिः। येन तु तान्येकाग्राणि वर्तते स धर्मः समाधिः। अभि० भा० पृ० ४३२

कायसम्पत् समृद्ध होता है । मधुमती भूमिका के साथ भूमा साक्षात्कार तथा भोग वितृष्णा रूप विवेक ख्याति होती है ।

भारतीय सभी साधनाओं का मूल लक्ष्य भेद में अभेद दर्शन ही है। एक तत्त्व में अवस्थान करना ज्ञान विचार का प्रधान कार्य है । वेद से लेकर सभी दर्शनों में अध्यात्म और अधिभूत Subjeet and objeet रूप द्वैतदर्शन का एकतत्त्व में ले जाने का मार्ग दर्शन ही है । बुद्धि तत्त्व की द्विधा अभिव्यक्ति Moral and natural law' नैतिक और प्राकृतिक रूप में होती है । किन्तु इनकी उपसंहृति आत्मा के साक्षात्कार से होती है । अद्वयपुरुषोत्तम की यही भूमिका है । प्रकृति भूमि भावमयी भूमि में प्रकाश लाभ करती है । भावभूमि ज्ञानभूमिक्रम में पुरुष या चेतन स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है ।

बाह्य जगत् में धर्म का आधान बुद्धि के द्वारा होता है। intellect अर्थात् बुद्धि ही इस दिशा से कर्तव्य का त्रान कराती है । कर्तव्य में निहित गुप्त प्रेम निर्झरिणी की दिशा hidden spring of love उद्भूत होती है, moral conciousness अर्थात् कर्तव्य विवेक का विकास प्रेम में परिणत होता है यह प्रेम ही प्रज्ञा का अवलम्बन करता है । इस विचार प्रज्ञा intellect and intuition का मूल अद्वय पुरुष रूप स्वरूप प्रतिष्ठा है ।

ज्ञान की प्रथम किरण दृष्टिपथ में आने पर मन में बोध होता है कि यह बाहर की है और इसी से वस्तु परिचालित है । किन्तु दैहिक क्रिया की अवगति के साथ यह विश्वास होता है--यह शक्ति अन्तर्निहित ही है । Immanent Dynamices की धारणा अर्थात् concepticn उद्भूत होता है। स्वाभाविक गति का अनुसन्धान होते ही सर्वानुस्यूत चेतनशक्ति का सन्धान होता है । इसी क्रम में intelligent direction upon an end का बोध होता है । विश्व की ज्ञानचालित के रूप में अनुभूति होती है और अन्त में ज्ञान चेष्टा-शून्य स्वतः उद्भासित सहज प्रकाश में अवगत स्वरूप प्रतिष्ठित होता है ।

प्रत्येक भूमि में रसास्वादावस्था रहती है। एक भूमि अन्य भूमि में जाने की सोपान परम्परा है । आनन्दकार में परिणत जीव को सीमा से दूर सर्वभाव में उपस्थापित करना है सङ्कीर्णता की भूमि से छुडाकारा अर्थात् Paricularity के region से अलगकर unive-

rsality भूमा के राज्य में प्रतिष्ठित करता है। कर्म भक्ति या ज्ञान इस सत्त्व समाधि में आकर; विघ्न-द्वन्द्व शून्य हो; समता और स्वच्छन्दता सुख की भूमि में रहता है। समाधि भक्ति, ज्ञान और कर्म सभी में एक रूप ही रहती है। समाधि mere trance state शुद्ध मूर्च्छाभाव नहीं है यह absorpiton into highest concentrated thought गम्भीर अनुभूति है। इसे परमविचार, परमप्रेम, परमज्ञान का समष्टिभूत फल कह सकते हैं। यह वही भूमि है जहाँ धारणा thorugh understanding aud firm fixity of attention ध्यान deep meditation एवं समाधि absorbed attention इनका पुञ्जीभूत होता है। धृतिगृहीत ज्ञान के रूप में परिपूर्णता का लाभ करता है। इस समाधि के फल स्वरूप ही प्रज्ञा intuition का उदय होता है यह भावना विशेष developed reason है, मन की सभी सत्यशक्ति इससे नियोजित होती है। यही कारण है कि यह मानव को शुद्ध विचार Pure thought के राज्य में, सत्यज्ञान Pure ideation के राज्य में शुद्धभावना की भूमि में अवस्थित रखता है। योग की इस समाधि में कर्म ज्ञान और भक्ति भी अवसान लाभ कर योग संज्ञा प्राप्त करते हैं। पातञ्जल की दृष्टि में आकर शून्य स्वरूप मात्र निर्भास अवस्था है। इस स्थिति में ज्ञान को जीव को स्मृति या संस्कार contribute आरोपित होकर अन्यथा अनुरञ्जित नहीं कर पाते है। सर्वथा स्वरूप अवस्थिति शब्दान्तर से ब्रह्मार्पण या ब्रह्महवि है। इस अवस्था में जीव न तो इन्द्रियों में न शरीरसुखावह कर्मों में प्रस्तुत होता है।

योग भूमि में छ शत्रुओं का नाश :—

स्वच्छन्द भैरव में भी इसी का समर्थन मिलता है प्राण, मन और अन्तःकरण के विनाश से समूल माया की निवृत्ति होने से शिवानन्द स्फुरण ही योग है। उत्तराम्नाय के अनुसार शिव और शक्ति का अभेदात्मक ज्ञान ही योग है। शक्ति को संवित्स्वरूप तथा परमानन्द रूपिणी माना है। सभी विश्लेषणों से आत्मस्वरूप ज्ञान से सर्वत्र ज्ञान की भूमि पर समता का सञ्चरण ही योग है।[1]

अन्य दार्शनिक दृष्टि में भी आत्मस्वरूप के चिन्तन एवं संवित्प्रकाश से सर्वसंविद्रूपता के स्फुरण से स्त्री भोगाभिलाष स्वरूप

---

१. शारदाति० पदार्थादर्श–पृ० ५३८।

काम, प्राणियों के मारने की इच्छास्वरूप हिंसा, धनादि की तृष्णा रूप लाभ, तत्त्वज्ञान रूप मोह, मैं सुखी हूँ, मैं धनिक हूँ इत्यादि गर्व स्वरूप मद, अन्य व्यक्तियों के कल्याण के प्रति द्वेष रूप मत्सर——ये दुःखप्रद होने से इन छ शत्रुओं का नाश हो जाता है। क्योंकि योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि, इन आठ योग के साधनों से क्रमशः मैं किसी की हत्या न करूँ इस अभ्यास की प्रवणतारूप अहिंसा, असत्य नहीं कहूँ इस अभ्यास की प्रवणता चित्तता रूप सत्य, चोरी के व्यवहार से निवृत्ति रूप अस्तेय, स्त्री संभोगरूप इच्छा की निवृत्ति स्वरूप ब्रह्मचर्य, प्राणियों के प्रति क्रूर बुद्धि की निवृत्ति स्वरूप कृपा, चित्त की कुटिलता निवृत्तिरूप ऋजुता, अभिभावक के प्रति अक्रोध चित्तता रूप क्षमा, अभीष्ट वस्तु के अप्राप्ति से जो चिन्ता उसका अभावरूप धृति, क्रमशः भोजन को कम करने से शरीर धारण के लिए अनिवार्य रूप से अपेक्षित भोजनस्वरूपमिताहार, चित्त की निर्मलता के लिए पूर्व कथित शौचशीलता रूप शौचरूप यह है इनमें धृति से सर्वत्र अनुषङ्ग का अभाव, अहिंसा और ब्रह्मचर्य से काम जय, कृपा और क्षमा से क्रोधजय, अस्तेय, सत्य और ऋजुता से लोभ जय, मिताहार और शौच से मोह जय, क्षमा और ऋजुता से मदजय, अहिंसा, कृपा, ऋजुता और क्षमा से मत्सर का जय होता है।

इस विश्लेषण से यह सिद्ध है कि सभी प्राणियों को वाणी, मन और शरीर से क्लेशन देना ही अहिंसा है। जिस रूप में देखा, अनुमित, सुना है उसको उसी रूप में कथन एवं चिन्तन, किन्तु वह वाक्य बाधक, भ्रान्त, अर्थ शून्य न हो। किन्तु 'इदं वाक्यं' को सभी प्राणियों के लिए उपघातक न हो कर उपकार के लिए प्रयुक्त होने पर ही सत्य होगा अर्थात् विचार पूर्वक सर्वभूतहित के लिए कहना सत्य वाक्य बोलना अर्थात् सत्य है।[1]

दूसरे की तृणादि के समान तुच्छ वस्तुओं का भी ग्रहण न करना अस्तेय है। कर्म, मन और वाणी से सभी अवस्थाओं में स्त्री की सङ्गति का परित्याग ही ब्रह्मचर्य है। किसी के दुःख को देखकर अपना समझ कर उसको हटाने की चिन्ता करना ही दया है। मन, वाणी और क्रिया से सभी व्यवहारों में सभी के साथ कुटिलता रहित

---

१. व्यासभाष्य–पृ० २।३०

होना ही आर्जव है। सभी रूपसे सदा सभी के साथ अर्थात् अपने साथ अपकार करने वालों के प्रति बन्धु के समान सम्यक् आचरण करना ही क्षमा है। ज्ञात विषयों में इच्छा प्रयत्न राहित्य लाभवान् रहना धृति है। भोज्य पदार्थ का स्वच्छ चित्त पूर्वक चतुर्थांश हित मेध्य भोजन ही मिताहार है। रोमकूप नवरन्ध्रां के द्वारा निर्गत मल का क्षालन ही शौच है।[1] मिट्टी और जल से बाह्य शुद्धि होती है, अन्दर भूत की शुद्धि के लिए पूर्वोक्त शौच की आवश्यकता है।

योग और दश नियम :—

इसी प्रकार शुद्धि के लिए तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, देव-पूजन, सिद्धान्त श्रवण ही, मनन, जप और हवन इन दश नियमों की आवश्यकता है।

शास्त्र के द्वारा विहित कठोरव्रत का आचरण तपस्या है। अनेक विषयों में उत्तर की इच्छा न रखना सन्तोष है। परलोक है यह मानने वाला आस्तिक है और परलोक की प्राप्ति के अनुकूल धर्म आदि का आचरण आस्तिक्य है। अपनी शक्ति के अनुसार देवता, पितर और मनुष्यों के उद्देश्य से देना दान है। यथाशक्ति सन्तोषपूर्वक मोक्ष के साधन में प्रवृत्त व्यक्ति के द्वारा विघ्न को हटाने के लिए आराधना देव पूजन है। वेद में प्रदर्शित उपायों की दृष्टि से उपदेश प्रद शास्त्रों का श्रवण सिद्धान्त है। कुत्सित आचार से स्वयं उद्वेग होना ही है, क्योंकि चित्त की मलिनता से ज्ञान का उदय नहीं होता है। वेदादि के द्वारा सुने गये विषयों का पुनः पुनः युक्तियों से अनुशीलन मनन है। चित्त की शुद्धि से ईश्वर की पुनः पुनः भावना या अनुचिन्तन जप है। अग्निहोत्र आदि शास्त्र विहित हवन होम है। मन्त्र आदि के जप करने पर दशांश हवन के न करने पर प्रत्यवाय से चित्त की मलिनता के कारण चित्त की शुद्धि न होने से ज्ञान का उदय नहीं होगा।[2] ये नियम हैं, अतः इनका आचरण न

---

१. शा. ति. प० पृ० ५३६।

२. तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानं देवस्य पूजनम्।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो हुतम्॥
नाजपात्सिद्ध्यते मन्त्रो नाहुतश्च फलप्रदः।
अनर्चितो 'हरेत्' कामान् तस्मांत्त्रितयमाचरेत्॥

करने पर प्रत्यवाय होता है, अवश्य कर्तव्य होने के कारण इनका आचरण आवश्यक है।

योग और प्राणायाम आदि :—

इसी प्रकार योगी के लिए आसन भो आवश्यक है। आसन के द्वारा रोग का विनाश होता है, प्राणायाम के द्वारा पातक का नाश होता है, प्रत्याहार के द्वारा मानस विकार का विनाश होता है, धारणाओं से मन में धैर्य्य आता है, ज्ञान से उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है और सभी शुभाशुभ कर्मों का परित्यागपूर्वक समाधि से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1] अनेक आसनों का शास्त्र में रोगों की निवृत्ति के लिए शास्त्र में निर्दिष्ट किया है, किन्तु योग में जप एवं समाधि के लिए प्रसिद्ध पाँच आसनों का अनुष्ठान आवश्यक है। वे प्रसिद्ध पाँच आसन निम्नलिखित है--

प्राणायाम :--बाहर सोलह मात्रा से वायु का इडा के द्वारा अन्दर आकर्षण है, अथवा बारह या सोलह बार प्राणायाम का आचरण करें। चौसठ मात्रा से पूरित वायु को धारण करे, बत्तीस मात्रा से सुषुम्णा नाडी के मध्य में धीरे-धीरे अवस्थित करे--यह कुम्भक है। पिङ्गला नाडी से पूरित वायु को छोड़ दे-यह रेचक है।

मात्रा :--जितने समय से अपना हाथ जांघ के नीचे आता है, वह एक श्वास के समान एक मात्रा है। कतिपय आचार्यों ने जानु (जङ्घा के मध्य भाग) को तीन बार हाँथ से स्पर्श कर स्फोटन छोटी मात्रा है। अन्य लोगों की दृष्टि में अंगुलि के आठ बार स्फोट बजाना के समान मात्रा है। वायवीय संहिता के अनुसार दोनों जानु भाग की न जल्दी और न देरी से परिक्रमा कर अंगुलि का स्फोटन मात्रा है।[2]

---

१. आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम्।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण सर्वदा ।।
धारणाभिर्मनो धैर्य्यं ज्ञानादैश्वर्य्यमुत्तमम्।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्तकर्मशुभाशुभः ।।

(व० सं०, शा० ति० पृ० ५४४)

२. कालेन यावता स्वीयो हस्तः स्वं जानुमण्डलम्।
पर्येति मात्रा सा तुल्या स्वयैकश्वासमात्रया ।।

पूर्वोक्त प्राणायाम दो प्रकार का है। १ सगर्भ, २ अगर्भ। जप और ध्यान के साथ किया गया प्राणायाम सगर्भ है। यह सगर्भ प्राणायाम अतिशय फल देने वाला है एवं अगर्भ प्राणायाम सभी पापों का नाशक है। प्राणायाम उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन प्रकार का है। प्राणायाम का अभ्यास करने पर पसीना होना अधम प्राणायाम है। कम्पन से युक्त प्राणायाम मध्यम है। और भूमित्याग गुण की प्राप्ति उत्तम प्राणायाम है।

प्राणायाम :--मन की स्थिति के लिए अभ्यन्तर वायु को नासिका रन्ध्रों से प्रयत्न-विशेषपूर्वक यमन रूप प्रच्छर्दन एवं प्राण का संयम रूप निधारण से मन में स्थिरता आती है। हठयोग आदि में निर्दिष्ट प्राणायाम से योगसूत्र में निर्दिष्ट प्राणायाम में अन्तर है। आसन जप से स्थिरता लाभ के बाद वाह्य वायु का आरम्भ में रेचन अन्दर की वायु का निःसारण इन दोनों गतियों का विच्छेद प्राणायाम है। आसन जय से शारीरिक स्थिरता आती है एवं मानसिक वृत्तिशून्य के समान भावना का अनुभव होने पर प्राणायाम का अभ्यास विहित है। अस्थिर चित्त का प्राणायाम योगाङ्ग नहीं है।

"तस्मिन् सति श्वासश्वासयोर्गतिविच्छिन्नः प्राणायामः। (यो. सू. २।४९) प्राणायाम के लिए उपयुक्त स्थान, काल, मिताहार एवं नाडी-शुद्धि आवश्यक है।[1]

स्थान :--निरुपद्रव एवं प्राचीर वेष्टित कुटीर प्राणायाम का स्थान है।

काल :--घेरण्ड संहिता के अनुसार वसन्त और शरत् प्राणायाम के आरम्भ का उचित काल है। इस मास में प्राणायाम का आरम्भ करना श्रेयस्कर है[2]।

अथवा—स्वजानुमण्डलं पूर्वं त्रिःपरामृश्य पाणिना।
प्रपद्य छोटिकामेकां मात्रा सा स्याल्लघीयसी॥
अथवा—जानुं प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम्।
अङ्गुलिस्फोटनं कुर्यात् सा मात्रेति प्रकीर्त्तिता॥
(शा० ति० पद्मा० पृ० ४४१)

१. घे० सं० ५।२

२. वसन्ते शरदि प्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत्।
तथा रोगी भवेत् सिद्धौ रोगान्मुक्तो भवेद् ध्रुवम्॥ (घे० सं० ५।९)

अस्सी मात्रा पर्यन्त कुम्भक करना चाहिए या अस्वीवार बीज-मन्त्र का जाप करता हुआ कुम्भक का अभ्यास करे।

अस्सीवार कुम्भक करने पर बीसवार पूरक एवं चालीसवार रेचक करना चाहिए, प्रातः मध्याह्न एवं सायंकाल एवं आधी रातमें प्राणायाम का विधान है। मिताहार, नाडीशुद्धि प्राणायाम के लिए आवश्यक है। मलयुक्त समस्त नाडी-चक्र की शुद्धि होने पर ही योगी प्राण का संयम करे।

समनु और निर्मनु के भेद से नाडीशुद्धि दो प्रकार की है। धौति आदि षट्कर्म से नाडीशुद्धि निर्मनु है, बीजमन्त्रजप के साथ प्राण संयम के द्वारा नाडीशुद्धि को समनु कहते हैं।

मूलाधार में भुजङ्गाकार कुण्डलिनी अधिष्ठित है; इस शिखा को तेजोमय ब्रह्मरूप में ध्यान करे यही तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान है। मन से ऊपर भ्रूके मध्य में प्रणवात्मक तेज है, उस ज्वालावली प्रयुक्त तेज का ध्यान तेजो ध्यान है[1]।

प्रत्याहार :--विषयों के प्रति विना रोक टोक इन्द्रियों की प्रवृत्तियों का बलपूर्वक रोकना प्रत्याहार है।

अर्थात्--अपने-अपने विषय में इन्द्रियों का असंयोग होने से चित्त की द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थिति प्रत्याहार है अर्थात् प्रत्याहार शब्द का अर्थ घूमाना है, चञ्चल अस्थिर मन आदि जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ से लौटाकर आत्मविष्ट करना प्रत्याहार है। वेदान्तसार में, इन्द्रियों को अपने विषय से प्रत्याहरण प्रत्याहार है।

धारणा :--अंगूठा, पैर की गाँठ, जानु, उरः सीवनी लिङ्ग, [गुदा लिङ्ग के मध्य में उन्नत रेखा सीवनी है] नाभि, हृदय, कण्ठ, लम्बिका, नासिका, भौओं के मध्य, मस्तक, मूर्धा इन बारह स्थानों में प्राण वायु का धारण-धारणा है। वसिष्ठ संहिता में धारणा का पाँच भेद कहा गया है। मन की निश्चलता के लिए धारणा का विधान है।

(१) क्षमा धारणा :--हरिताल सुवर्ण के समान सुन्दर श्री सम्पन्न लक्ष्मी कमलासन से समन्वित चतुष्कोण हृदय में स्थित है और

---

१. भ्रुवोर्मध्ये मन ऊर्ध्वे यत्तेजः प्रणवात्मकम्।
ध्यायेत् ज्वालाबलीयुक्तं तेजोध्यानं तदुच्यते॥ (घे० सं० ६।१७)

कलाल युक्त है वहाँ पाँच घड़ी तक चित्त समन्वित प्राण को धारण करे सदा स्तम्भ करने वाली यह क्षितिपरक क्षमा नामक धारण कही जाती है।[1]

(२) वारुणी धारणा :--अर्द्ध चन्द्र के समान कुन्द पुष्प के सदृश धवल कण्ठ अर्थात् ग्रीवा में तत्त्व समन्वित अमृत वकार बीज-युक्त सदा विष्णु के साथ युक्त स्थित है वहाँ चित्तयुक्त प्राण को पाँच घड़ी तक लाकर धारण करे दुःसह काल कूट के समान तरल यह वारुणी कही जाती है।[2]

(३) वैश्वनरी धारणा :--तत्त्वस्थित इन्द्रगोप के समान शिव के अनेक तेजोमय प्रवाल के समान सुन्दर त्रिकोण अनल रुद्र से समन्वित है वहाँ प्राण को पाँच घड़ी तक लाकर चित्तान्वित धारण करे वह्नि के समान शरीर को धारणा करतो हुई यह वैश्वानरी धारणा कही जाती है।[3]

(४) वायु धारणा :--जगत्प्रपञ्च सहित जो मूल देखा गया है, भौओं के मध्य में उसके समान सत्त्वमय यकार सहित जहाँ ईश्वर देवता है, पाँच घड़ी तक वहाँ चित्तसमन्वित प्राण की धारणा करे, यह वायु की धारणा है, यह सदा नियत रूप से आकाश में गमन करती है।[4]

---

१. प्रासश्रीहरितालहेमरुचिरा तत्त्वकलालान्वितं
संयुक्ता कमलासनेन च चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिपरा ख्याता क्षमा धारणा॥

२. अर्द्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठे च तत्त्वान्वितं
तत्पीयूषवकारबीजसंहितं युक्तं सदा विष्णुना।
प्राणाँस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा दुःसहकालकूटतरला स्याद्वारुणी धारणा॥
(शा० ति० अ० पृ० ४१)

३. तत्त्वस्थं शिवमिन्द्रगोपसदृशं तत्र त्रिकोणेऽनलं
तेजोऽनेकमयं प्रवालरुचिरं रुद्रेण तत्संगतम्।
प्राणाँस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा वह्निसमं वपुर्विदधती वैश्वानरी धारणा॥

४. यन्मूलं च जगत्प्रपञ्चसहितं दृष्टम्भ्रुवोरन्तरे
तद्वत्सत्त्वमयं यकारसहितं यन्त्रेश्वरी देवता।

(५) नभोधारणा:--सुविशुद्ध जल सदृश आकाश जो ब्रह्मरन्ध्र में स्थित है जो उसके साथ सदा शिव से सहित हकार अक्षर से युक्त है, वहाँ प्राण को लाकर चित्त के साथ समन्वित धारण करे यह मोक्ष कपाट को भेदन में पटु नभो धारणा कही जाती है।[१]

कर्मों की साधिकायें ये सभी धारणायें दुर्लभ हैं उनके जानने से योगी सभी पापों से मुक्त होता है।[२]

योग :—

पातञ्जल दर्शन में चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है। यह योग सर्व श्रेष्ठ मानस बल है, । चित्त का परिणामी वृत्ति है। और इस वृत्ति का निरोध समाधि या योग है, यह कहा गया है कि सांख्य के समान ज्ञान नहीं है और योग के समान बल नहीं है, वृत्ति का निरोध एक अभीष्ट विषय में चित्त को स्थिर करना है। अर्थात् अभ्यास के द्वारा यथेच्छ अभीष्ट ध्येय में चित्त की निश्चल स्थित करना योग है। स्थैर्य और ध्येय इन दो विषयों के अनुसार योग का अनेक भेद है। चित्त में स्थैर्य्य की उत्पत्ति से मनोवृत्ति चित्त में स्थिर रहती है। वृत्ति की स्थिरता की वृद्धि मानसिक बल बृद्धि सम्पत्ति है। स्थिरता की चरम सीमा समाधि है। और यह शाश्वती शान्ति का साधन है। आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए श्रवण मनन और निदिध्यासन अर्थात् समाधि को चरम कारण माना है। योगी अपने कर्म समूह को दग्ध कर समाधि सिद्ध होने पर इसी जन्म में मुक्त होता है।[३] आत्मदर्शन समाथि लभ्य परम धर्म है। ईश्वर के प्रणिधान से भी चित्त की स्थिरता होती है। दान, संयम आदि के

प्राणाँस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति नियतं वायोः सदा धारणा ॥

१. आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रे स्थितं
तन्नाथेन सदा शिवेन सहितं युक्तं हकाराक्षरैः ।
प्राणाँस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटभेदनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ॥

२. कर्मणो साधिकाः सर्वा धारणा पञ्च दुर्लभाः ।
तासां विज्ञानतो योगी सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

३. विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि ।
प्राप्नोति योगी योगाग्निर्दग्धकर्मचयोचिरात् । (वि० पृ० ७ अंश)

द्वारा परम्परा क्रम चित्त स्थिर होता है। चित्त के रूप में परिणत सत्त्व गुण ही विशुद्ध ज्ञान वृत्ति है, जिसे सत्त्व भी कहा जाता है। तमो गुण और रजो गुण से चित्त के अनुविद्ध होने पर चाञ्चल्य और आवरण के कारण ध्यान की प्रवणता नहीं होती है।

योग के विना कुण्डलिनी का जागरण नहीं होता। गौतमीयतन्त्र में—संसार से उद्धार होने के साधन को योग कहा गया है, इस दृष्टि से जीव और आत्मा का ऐक्य ही योग है।[1] शारदातिलक टीका में राघवभट्ट ने भी वेदान्तानुसार जीव और आत्मा के ऐक्य को ही योग माना है। (ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः[2]।) कुलार्णवतन्त्र के अनुसार भी पूर्वोक्त ही योग माना है।

न पद्मासनतो योगे न नासाग्रनिरीक्षणम्।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः॥

(कु० त० ३०।९)

महानिर्वाणतन्त्र के अनुसार भी योग की यही परिभाषा स्वीकृत है। योगो जीवात्मनोरैक्यं पूजनं सेवकेशयोः। (म० त० १४।१२३) महातन्त्र के अनुसार शिवशक्ति का सामरस्य योग है।

प्रपञ्चसार के अनुसार अपने में हाथ पैर मुख आदि से रहित अनन्य आत्म स्वरूप का अनवरत दर्शन ही तात्त्विक दृष्टि से योग है।[3] पातञ्जल योग दर्शन की दृष्टि से प्रदर्शित चित्तवृत्ति-निरोध रूप योग के साथ तन्त्र एवं गीतोक्त योग का कोई विरोध नहीं है। क्योंकि आत्मस्वरूप में चित्तवृत्ति की स्थिरता ही योग है, यह अर्थ "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् (यो. सू. १।३) इस सूत्र में सुस्पष्ट है। गीता के द्वितीय अध्याय के पद्य के द्वारा स्पष्ट कहा गया है कि समाधि में स्थिर बुद्धि का अवस्थान ही योग है। "समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यति।"

---

१. संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते। (गो० त० २२।८);
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः॥ (ग० त० २२।९)

२. शा० ति० २५

३. करपादमुखातिविहीनं मनोरदृश्यमनन्यगमात्मपदम्।
यमिहात्मनि पश्यति तत्त्वविदस्तमिमं किल योगमिति ब्रुवते॥

(आ० पृ० ५४३)

योग का भेद :--सभी साधनायें साधारण रूप से योग के नाम से परिचित है। ज्ञान हो या कर्म हो या भक्ति सभी के साथ योग शब्द का संयोग कर ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, हठयोग, नादयोग, लययोग, जपयोग आदि।

इसी प्रकार अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग के भेद से भी योग का दो भेद माना गया है। बहिरङ्ग योग-साधना के बल से ज्ञान का उदय होता है। किन्तु इस ज्ञान के होने पर भी ज्ञान और ज्ञेय का भेद नष्ट नहीं होता है। अन्तरङ्गयोगनिर्विकल्पक की साधना करने पर जिसे महाज्ञान कहा जाता है, इस अवस्था में ज्ञान और ज्ञेय का पृथक् रूप से ज्ञान नहीं होता है। सत्य वस्तु का ज्ञान जो बहिरङ्ग योग है, उसके फलस्वरूप सत्य का भान अवश्य होता है, किन्तु अन्तरङ्ग योग के विना द्रष्टा के सत्यस्वरूप में अवस्थिति की प्राप्ति नहीं होती है।[1] दत्तात्रेय संहिता के अनुसार राजयोग सर्वश्रेष्ठ माना है।

"योगो हि बहुधा ब्रह्मन् तत्सर्वं कथयामि ते।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठयोगस्तथैव च॥
राजयोगश्च सर्वेषां योगानामुत्तमः स्मृतः।[2]

योगशिखोपनिषद् के अनुसार महायोग के रूप में भिन्न-भिन्न रूप में उपलब्ध सभी योग एक ही है। मन्त्रयोग लययोग, हठयोग एवं राजयोग ये अवस्था भेद मात्र है।

मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते॥[3]

लययोग--योगशिखोपनिषद् के अनुसार हठयोग से सभी दोषों से उत्पन्न जडता का नाश हो जाता है, क्योंकि क्षेत्र और परमात्मा का ऐक्य = अभेद होता है, फलतः चित्त की विलीनता भी सम्पन्न होती है, यही लययोग है।

लययोग होने पर प्राणवायु स्थिर होता है। योगो को लययोग से परम पद की उपलब्धि के साथ स्वरूपानन्द का लाभ होत्ता

---

१. कल्याण योगाङ्क पृ० ३२५
२. प्रा० तो० का० ५। प० उ० पृ० ४३९
३. यो० शि० १।१२९

है।[1] हठयोगप्रदीपिका के अनुसार वासना का पुनः उत्थान न होने के लिए विषय विस्मृति लय है। सभी सङ्कल्प के विनष्ट होने पर जब अशेष चेष्टायें निःशेष हो जाती है तब लययोग उत्पन्न होता है। वाणी की अविषय अपने अनुभव मात्र से गम्य यह अवस्था है।

दूसरे शब्द से श्वास-प्रश्वास निरुद्ध हो जाता है, इन्द्रिय का विषय ग्रहण विध्वस्त हो जाता है एवं मन निश्चेष्ट हो जाता है; तब लय-योग के उत्कर्ष की अवस्था आती है। यह लययोग अनेक प्रकार के हैं। वस्तुतः चित्तलय ही लययोग है। चलते, उठते, बैठते, निद्रा, आहार सभी अवस्थाओं में निष्कल ईश्वर का ध्यान करना—यही लययोग है। बाह्य एवं आभ्यन्तर जितने भी कर्म सभी लय की साधना लययोग है। आदिनाथ ने सवा करोड़ लययोग के भेद को कहते हुए नादानुसन्धान को मुख्यतम माना है। शिव संहिता में तो स्पष्ट कहा कि खेचरी के समान मुद्रा नहीं है और नाद के समान कोई लय नहीं है। अतः नादानुसन्धान = आत्मज्योतिः का दर्शन जिसे पातञ्जल दर्शन के अनुसार स्वरूपावस्थान अर्थात् अन्य दृष्टि से कुण्डलिनी उत्थापन कहा है, श्रेष्ठ लययोग है।

मन्त्र योग :—

हकार के द्वारा श्वास बाहर आता है और सकार के द्वारा भीतर प्रवेश करता है, इस प्रकार सभी लोग हंसःमन्त्र का जप करते हैं गुरु की कृपा से सुषुम्णा में विपरीत जप होता है अर्थात् सोऽहं हो जाता है—यही मन्त्रयोग है।

मन्त्र जप के लिए जो मनोलय है—वही मन्त्रयोग है, पातञ्जल के अनुसार तज्जपस्तदर्थभावनम् (पा० सू० १।२८) के द्वारा इसी का निर्देश किया है। इसकी दूसरी संज्ञा महाभाव मानी गई है, इसमें बाह्यव्यवहार विहित है, बाह्यानुष्ठान भी चलता है, वर्णाश्रम धर्म आदि भी चलता है, देव देवी की मूर्ति का प्रतीकात्मक ध्यान भी चलता है, उनके रूपका ध्यान और नाम के जप के द्वारा मन्त्रयोग समाधि होती है।

---

१. यो० शि० उ० पृ० ३६

"उच्छिन्न-सर्वसङ्कल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः॥"

(ह० प्र० ४।३२)

दत्तात्रेय संहिता में इसको अधम योग कहा है, किन्तु शक्तिसङ्गम-तन्त्र में और पातञ्जल दर्शन में इसकी प्रशंसा की गई है। मन्त्र योग के अभ्यास से सुखदुःख रहित केवल परब्रह्म परिस्फुट होता है। इसके द्वारा चित्त शुद्ध होता है। कामक्रोध से युक्त परमात्मा का ऐक्य चिन्तन दुःख का कारण होता है, मन कहीं, ध्येय कहीं, तब सुख कहाँ ? मानस भावना के द्वारा जीव ध्येय स्वरूप रहता है और भावना के त्याग के साथ ही जीव हो जाता है।[1] कविराजजी की व्याख्या के अनुसार मन्त्र का आश्रयण कर जीवात्मा और परमात्मा का सम्मेलन मन्त्रयोग है। शब्दात्मक मन्त्र चेतन हो जाता है और ऊर्ध्वगति क्रम में शब्दातीत परमधाम पर्यन्त गमन करता है। वैखरी से मध्यमा होते हुए पश्यन्ती अवस्था तक प्रवेश कराना मन्त्रयोग का उद्देश्य है। पश्यन्ती स्वप्रकाश चिदानन्दमय चिदात्मक-पुरुष की अमर षोडशी कला है। शब्द चैतन्य का फल आत्मा की स्वरूप स्थिति है। मूलाधार से इन्द्रिय अवरुद्ध रहती है, और चेतन शब्द सुनने का अधिकारी होता है। अभिधान जनित शब्द अनाहत नाद में लीन हो जाता है। अक्षर समष्टि मात्र रह जाती है, इसमें भी ईडा और पिङ्गला की गति अवरुद्ध हो प्राण सुसुम्णा में प्रविष्ट होता है, वहाँ बिन्दु स्थान का भेदन कर सहस्रार महाबिन्दु में अवस्थित है--यही तज्जपस्तदर्थभावन रूप मन्त्र योग है।

हठयोग :—

योगशिखोपनिषद् के अनुसार हकार सूर्य है और ठकार चन्द्र है, सूर्य चन्द्र का ऐक्य ही हठयोग है। शरीर में आपानवायु चन्द्र है और प्राणवायु सूर्य है। अतः प्राण और आपानवायु का संयोग हठ योग है। किसी-किसी के मत में हठात् ज्योतिर्मय होकर अन्तर में शिव स्वरूपता की प्राप्ति करता है, अतः सिद्धि प्रदसिद्धि सेवित यह हठ योग है।

साधन में प्रधान साधन शरीर है, शरीर के विना साधना नहीं चल सकती है। सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध, अतः स्थूल शरीर की साधना का प्रभाव सूक्ष्म शरीर और मन पर होता है। हठयोगप्रदीपिका के अनुसार सभी तापतप्त मानवों के लिए यह आश्रय गृह स्वरूप है, एवं कर्म जैसे पृथिवी का आधार है

---

१. श० सं० त० १।२६–३०

वैसे ही यह सभी योगों का आधार है। इस योग के करने से साधक के शरीर में दुर्बलता, मुख में प्रसन्नता, अनाहत नाद की व्यक्तता, चक्षु की निर्मलता एवं शरीर की स्वस्थता होती है, बिन्दु-जय से अग्नि उद्दीप्त तथा नाडी विशुद्धि होती है। इससे सुप्त कुण्डलिनी का जागरण एवं ब्रह्मद्वार मुक्त होता है।

"वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगताविन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्"॥[1]

हठयोग का उपदेश गोरक्षनाथ एवं इनके पूर्ववर्ती मृकण्ड पुत्र मार्कण्डेयादि ने किया है। हठयोग अष्टाङ्ग है, जिसका निर्देश पातञ्जलयोग दर्शन के यम आदि से किया है। गोरक्षनाथ के अनुसार यह षडङ्ग है। इन्होंने यम और नियम का परित्याग कर अन्य सभी अङ्गों को माना है। घेरण्ड संहिता के अनुसार इसके सात अङ्ग है। उससे प्रत्येक का विभिन्न फल है, षट् कर्मों से शरीर शोधन, आसन से शरीर दृढ़, मुद्रा से शरीर स्थिर प्रत्याहार से धीरता, प्राणायाम से प्राणिधान होता है और ध्यान से आत्म प्रत्यक्ष और समाधि से निर्लिप्तता और मुक्ति होती है।[2]

राजयोग :—

योगेश्वरोदय में कहा गया है कि आकाश में घूमती हुई वायु जैसे स्वयं आकाश स्वरूप को प्राप्त करती है अर्थात् आकाश में लीन होती है, वैसे ही आकाश में अर्थात् ब्रह्म में मन का लय ही राजयोग है।

यथाकाशे भ्रमन् वायुराकाशं व्रजते स्वयम्।
तथाकाशे मनो लीनं राजयोगक्रियामतम्॥ (योगेश्वरोदय)

योगशिखोपनिषत् के अनुसार शक्ति और शिव का योग ही राजयोग है।

रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः।
(योग. उप. १।१३७)

राजयोग द्वैत-भाव-रहित है। 'राजयोगः स्यात् द्विधाभाव-विवर्जितः' (शि० सं० ५।१७) इस योग में दीप्तिका साक्षात्कार होता है। दीप्ति अर्थ को कहने वाले राजृ (राज्) से यह निष्पन्न

१. ह० प्र० २।७८ २. घे० सं० १।१०–११

है। इसके फल की श्रेष्ठता को ध्यान में रखकर कतिपय आचार्यों ने योगों का राजा यह अर्थ किया है। किन्तु इस अर्थ में 'योगराज' प्रयोग होगा। सर्वदा शिवप्रद होने के कारण ही यह राजयोग है। योगेश्वरोदय के मत में यह पन्द्रह प्रकार का है।

"पञ्चदशप्रकारोऽयं राजयोगः शिवप्रदः।
क्रियायोगः ज्ञानयोगः कर्मयोगो हठस्तया॥
ध्यानयोगो मन्त्रयोग उपयोगश्च वासना।
राजन्त्येतद् ब्रह्मविष्णुशिव एभिश्च पञ्चधा॥

योगी स्वात्माराम ने श्रीशुकनाथ को प्रणाम करके केवल राजयोग की सिद्धि के लिए हठयोग का उपदेश दिया है।

"प्रणम्य श्रीशुकं नाथं स्वात्मारामेण योगिना।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते॥"
(ह. प्र. १।२)

समाधिः—ध्यान की चरम परिणत समाधि है। पातञ्जल योगसूत्र के अनुसार समाधि ही योग है। योग की चरमावस्था समाधि है। घेरण्डसंहिता में भी श्रेष्ठ योग को समाधि कहा गया है। ईश्वरात्मक गुरु कृपा से ही इसका लाभ होता है।[1] ध्येय विषय मात्र का ज्ञान सम्प्रज्ञात समाधि है। जिस अवस्था में केवल ध्येय विषय मात्र का ज्ञान रहता है—वही ध्यान समाधि है। चित्त ध्येय के चित्र के स्वरूप का आधान करता है। योग समाधि है और यह चित्त का सार्वभौम धर्म है। योगः समाधिः, स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः। (व्या. भा. ३।३)

घेरण्डसंहिता के अनुसार मन को देह से पृथक् कर परमात्मा के साथ युक्त करे। इसी अवस्था को समाधि कहा जाता है। इस अवस्था में दश इन्द्रियों से सर्वथा असंयुक्त मन रहता है।[2] समाधि का यह स्वरूप शब्द भेद के साथ सभी दार्शनिकों एवं तान्त्रिकों ने स्वीकार किया है। द्रष्टा की स्वरूप स्थिति कहे या हठयोग प्रदीपिका के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य कहा जाय किन्तु इस

---

१. तदेवार्थमात्रनिर्भासंस्वरूपशून्यमिव समाधिः। (यो. सू. ३।३)
२. घटाद्भिन्नं मनः कृत्वा ऐक्यं स्यात् परमात्मनोः।
समाधि तं विजानीयात् मुक्तसंज्ञो दशादिभिः॥ (ह० प्र० ६।२)

अवस्था में सभी सङ्कल्पादि विनष्ट हो जाते हैं। इसका विश्लेषण करते हुए लिखा गया है कि मन की स्वतन्त्र स्थिति नहीं रहती है— जैसे लवण जल के साथ युक्त होने पर एक हो जाता है; वैसे ही मन आत्मा के साथ संयुक्त होकर एक हो जाता है—मन और आत्मा का ऐक्य ही समाधि है। समाधि के विषय में कहीं जीवात्मा परमात्मा के वाक्य को ही मन की लयावस्था कही गई है। समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः'। किसी भी स्थिति में नित्यसमत्व भावनात्मक ध्येयाकारता समाधि है। इसी लिए तन्त्र में सर्वत्र ब्रह्म-भावना के साथ अपने को भेद मूलक संसारी न मानकर संसार में आत्मस्वरूप से अतिरिक्त कुछ नहीं है—यह समत्व, ऐक्य, अभेद की स्थिति समाधि है[1]। इस अवस्था की प्राप्ति से मनुष्य चराचर के कल्याण की दृष्टि से ही जीवन का उपयोग करता है, अतः राष्ट्र भावना एवं सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति ऊर्ध्वतम भूमि पर अवस्थित रहती है।

कुलार्णवतन्त्र के अनुसार—एकादश इन्द्रियों की अपने कार्य से विरति प्रदर्शन करते हुए अचल एकत्व भावना को समाधि कहा गया है। "न सुनता है, न सूंघता है, न स्पर्श करता है, न देखता है, सुख दुःख कुछ भी अनुभव नहीं करता है, सङ्कल्पहीन मन रहता है काठ के समान वह कुछ भी नहीं जानता है, ध्येय में विलीन आत्मावस्था समाधि है"।[2]

आचार्य अभिनवगुप्त ने समाधि का वर्णन करते हुए लिखा है— "जो काम की (कामना) अभिलाषा से सम्पन्न हैं वे देहात्मक इस वेदवाणी को स्वर्गफल से परिव्याप्त मानते हैं, जन्म और कर्म फल मानते हुए भेद भावना संश्लिष्ट समत्व से दूर ही रहते हैं, अतः वे विवेकी नहीं हैं। वेद को अपनी कल्पित वाणी के अनुरूप अभिप्रेत फल की प्राप्ति के लिए मानकर अपहृतचित्त हो व्यवसाय बुद्धि से युक्त जीवन व्यतीत करते हैं, वे समाधि की स्वरूप योग्यता भी नहीं रखते हैं, क्योंकि, नियत फल के अधीन ही वे रहते हैं, अतः

---

१. तत्समं च द्वयोरैक्यं को वात्मपरमात्मनोः।
प्रनष्टसर्वसङ्कल्पः समाधिः सोऽभिधीयते॥ (ह० प्र० ४।६)

२. ह० प्र० ४।५। यो० उ० १०६
कु० व० ९।१०-१४

सुख-दुःख-मोहात्मक बुद्धि से वैदिक कर्मों के अनुष्ठान में वे बन्धन में ही अपना जीवन–प्रवाह चलाते रहते हैं, किन्तु फलाभिलाषा से शून्य होने पर सम्प्रज्ञात समाधि सम्पन्न होने से वेद उनके लिए बन्धन का कारण नहीं होता है। जीवन युद्ध में वे आत्मानुग्रहशून्य होते हुए भी प्राणियों के प्रति अनुग्रह सम्पन्न हो लोक जीवन-यात्रा में तत्पर छ दोषों से मुक्त सुख-दुःख-मोह-शून्य निष्काम कर्म रत हो समत्व भावना सम्पन्न होने से वास्तविक समाधि में रहते हैं। फल की कामना के कालुष्य से परिव्याप्त रहने पर ही, कर्म फल के प्रति साधन होता है योग = समाधि में स्थित हो कर्म करे, क्योंकि साम्य ही योग है[1]। रागद्वेष रहित मुनि स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। उसको शुभ से प्रसन्नता और अशुभ से ताप नहीं होता है। इन्द्रियों को विषयों से खींचकर आत्मा में स्थिर करना ही योग या स्थिरप्रज्ञा है। उपसंहार में कहा है—योगी का लोकोत्तर व्यवहार रहता है, अन्धकार-रूपिणी माया के विषय में वह उद्बुद्ध रहता है कि कैसे इसका त्याग करे, क्योंकि वहाँ प्राणी अनेक कामनानुरूप चेष्टाओं में सुख दुःख मोह से अभिभूत होकर उनमें ही सतत रत रहता है, किन्तु नाम रूप एवं सुख सन्ततियों का अनादर कर योगी ज्ञान से सम्बुद्ध स्थिरप्रज्ञ प्रबुद्ध स्थिति में रहता है। वह कामनावश बाह्य विषयों की ओर गतिशील नहीं रहता है, अतः, निर्मम, निरहंकार निःस्पृह होकर लोकयात्रा निर्वाह करता हुआ शान्तिपूर्ण सन्तुष्ट जीवन यापन करता है, अविद्या हेय या कामना का अवसान होने से इसको मोक्ष या निर्वाण कहा जाता है। उपसंहार में असम्प्रज्ञात निर्विल्पक समाधि एवं माध्यमिकों के अनुसार शून्यता की यही स्थिति है।

षट्कर्मः—धौति, वस्ति, नेति, नौली, त्राटक कपालभाति ये छ कर्म हैं।

धौति चार प्रकार की है। अन्तःधौति, दन्तधौति हृद्धौति, मूलशोधनधौति इन से शरीर निर्मल होता है।

अन्तःधौति भी चार प्रकार की है—वातसार, वारिसार, अग्निसार, एवं बहिष्कृत।

वस्ति—जिस प्रक्रिया से वस्ति प्रदेश का शोधन होता है, उसे

---

१. गी० अभिनव व्या० पृ० ११९–१३२

वस्ति कहा जाता है, जलवस्ति और शुद्धवस्ति के भेद से यह दो प्रकार की है।

जलवस्तिः शुद्धवस्तिः वस्तिः स्याद्विधा स्मृता।
जलवस्ति जले कुर्याच्छुकवस्ति सदा क्षितौ॥ (घे० सं० १।४६)

लौलिकी या नौली:—पेट को एक तरफ से दूसरी ओर आन्दोलित करना है, इससे सभी रोग दूर होते हैं और देहाग्नि वर्द्धित होती है।

नेति:—एक वित्ता परिमित सूक्ष्म तागा लेकर नासिका के छिद्र में प्रवेश करे और इसको मुख से बाहर करे—यही नेति कर्म है। इसमें खेचरी सिद्धि होती है; तथा कफ दोष का नाश एवं दिव्यदृष्टि का लाभ होता है।

त्राटक:—नेत्र से जब तक पानी नहीं आता है, तब तक एक सूक्ष्म लक्ष्य की ओर पलक गिराये विना देखना त्राटक है। इससे शाम्भवी की सिद्धि होती है। सभी नेत्र रोगों का विनाश और दिव्यदृष्टि का लाभ होता है।

कपालभाति:—वामक्रम व्युत्क्रम, शीत्कर्म के भेद से कपाल-भाँति तीन प्रकार की है, उसके द्वारा दिव्यदृष्टि की प्राप्ति होती है।

वामक्रम:—वाँई नाक में ईडासे वायु भरकर दक्षिण नाक से रेचन करे अर्थात् पिङ्गला से रेचन करे। इस प्रकार पर्यायक्रम में पिङ्गला से धीरे-धीरे पूरक और ईडासे रेचन करे। इस योगाभ्यास से कफ दोष हटता है।[1]

व्युत्क्रम:—नाक से जल धींचकर धीरे-धीरे मुख से बाहर करे। इससे श्लेष्मा दोष नष्ट होता है।[2]

शीत्क्रम:—शीत्कार पूर्वक मुख से श्वास खीच कर नाक से बाहर करे। इस क्रिया से कामदेव के समान होता है, इस योगाभ्यास से वार्द्धक्य ज्वराधिक्य नहीं रहता है, इससे शरीर स्वच्छन्द एवं कफ दोष नष्ट होता है।[3]

---

१. घे० सं ६।५ २. घे० सं० १।५९

३. शीत्कृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासानालैर्विरचयेत् एवमभ्यासयोगेन कामदेव-समो भवेत्। न जायते वार्द्धक्यं च ज्वरो नैव प्रजायते। भवेत्स्वच्छन्ददेहश्च कफदोषं निवारयेत्॥ (घे० सं० १।५०–५१)

हठयोग-प्रदीपिका एवं दत्तत्रेयसंहिता के अनुसार मेद और श्लेष्मा के आधिक्य रहने पर ही षट्कर्म का आचरण करे, अन्य व्यक्ति नहीं करे।

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत्।
अन्यस्तु नाचरेत् तानि दोषाणां समभावतः॥[1]

कतिपय आचार्यों के अनुसार प्राणायाम के द्वारा ही सभी मलों का शोषण करे--यह माना है, आचार्य पतञ्जलि ने भी प्राणायाम से अतिरिक्त किसी अन्य कर्मों की आवश्यकता नहीं है-यही स्वीकार किया है।

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशम्यन्ति मला इति।
आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत्कर्म न सम्मतम्॥[2]

आसनः--हाथ पैर आदि संस्थान विशेष को विशिष्ट रूप में रखना आसन है। हठयोगप्रदीपिका के अनुसार आसन हठयोग का प्रथम अङ्ग है। इनके अभ्यास से देह की स्थिरता आरोग्य और लघुत्व होता है। आसनों की चौरासी लक्ष संख्या कही गई है। इनमें चौरासी विशिष्ट है और इनमें भी बत्तीस का मुख्यतम स्थान है। यथा--सिद्ध, पद्म, भद्र, वप्र, स्वस्तिक, सिंह, गोमुख, वीर, धन, शव, गुप्त, मत्स्य, मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, पश्चिमोत्तान, उत्कट, सङ्कट, मयूर, कुक्कुट, कूर्म, उत्तानकूर्मक, उत्तानमण्डुक, वृक्ष मण्डुक, गरुड, वृष, शल, वृषमकर, उष्ट्र भुजङ्ग एवं योग। घेरण्डसंहिता में आसन के फलों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है।

मुद्राः--मुद्रा भी आसन के समान ही शारीरिक अवस्था विशेष है। प्रधान रूप से इन मुद्राओं का निर्देश मिलता हैं। महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जालन्धर, मूलबन्धन, महाबन्ध, महाबोध, खेचरी, विपरीतकरी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालनी, ताडागी, माण्डुकी, शम्भवी, पञ्चधारणी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी भुजङ्गिनी। इनके अतिरिक्त भी सुरभि, ज्ञान आदि मुद्रायें वर्णित हैं। इनके अभ्यास से योगियों को सिद्धि लाभ में सहयोग मिलता है।

हठयोग-प्रदीपिका के अनुसार महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धर, विपरीतकरिणी, वज्रोली, शक्तिचालनी ये दशायें वृद्धत्व और मृत्यु की नाशक है। "इदं हि

१. ह० प्र० २।२६   २. ह० प्र० २।३१

मुद्रादशकं जरामरणनाशकम्" मुद्रा का अभ्यास कुण्डलिनी के जागरण का प्रसारण हेतु है।

"तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।"
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥(ह. प्र ३।१२८)

चित्त की वृत्ति के निरोध का नाम योग या समाधि है। योग दो प्रकार का है, निर्विकल्पक योग और सविकल्पक योग। निर्विकल्पक योग की अवस्था में चित्त का ध्वंस होता है और असम्प्रज्ञात में पुरुष की स्वभाव में अवस्थिति होती है अर्थात् अपने स्वरूप में स्थिति रहती है, योगशास्त्र की दृष्टि में यही कैवल्य या मुक्ति है। स्तर स्तर पर प्रज्ञा के विकास के फलस्वरूप चित्त का विनाश होने पर मुक्तावस्था आती है। निम्नलिखित प्रज्ञाओं के फलस्वरूप क्रमशः चित्त का विनाश होता है--

१. दुःख के कारण भूत संसार का ज्ञान होना तथा उसको जानने के लिए कुछ शेष नहीं रहता है।
२. संसार के मूल कारण का उत्पाटन हो गया है, अब उसका उत्पाटन शेष नहीं है।
३. निरोध समाधि के द्वारा यह उत्पाटन कार्य हुआ है।
४. पुरुष और प्रकृति का भेद ज्ञात हो गया है, इस प्रज्ञा की उपलब्धि होने पर कतिपय तात्त्विक घटनायें होती हैं।
   (क) बुद्धि की पुरुषार्थता सम्पन्न होती है।
   (ख) चित्त नष्ट होकर प्रकृति के रूप में अवस्थित होता है।
   (ग) बुद्धि अपने गुणों के स्वभाव में परिणत होती है।

बुद्धि आदि एवं गुण पुरुष के प्रति योग और मुक्ति उत्पन्न करते हैं। पुरुषार्थ विरहित होकर कार्य-बुद्धि आदि और कारण-गुणत्रय का (मूल प्रकृतिस्वरूप गुणत्रय का) प्रतिलोम प्रश्रय या प्रतिपुरुष अर्थात् प्रकृति के रूप में अवस्थान को केवल का धर्म कैवल्य या मुक्ति कहा जाता है। स्वरूप प्रतिष्ठा अर्थात् बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्ब पुरुष में प्रतिबिम्बित न होकर पुरुष का अपने शुद्ध निर्लिप्त चिद् भाव में अवस्थान करता है। चिति शक्ति ही स्वरूप है। ("पुरुषार्थ-शून्यानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति"[1]) प्रकृत में कैवल्य शब्द से पुनः उत्थान रहित विदेह कैवल्यावस्था है।

---

१. योग सू० कै० पा० ३४

कैवल्य अर्थात् चित् शक्ति की स्वरूपस्थिति अर्थात् द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थान--यही असम्प्रज्ञात योग है। यह कैवल्यरूपा चिति-शक्ति असंहत है। संहतशक्ति ही पुनः पुनः कार्य का उत्पादन करती है। चैतन्य मात्र स्वरूपिणी असंहता चिति शक्ति से उस प्रकार का कार्य कभी भी उत्पन्न नहीं होता है, इसीलिए वह केवला है (चिति-शक्तिरेव केवला[1])। इसका किसी भी समय बन्धन नहीं था समाधि की स्थिति में इसका मोक्ष भी किसी समय आविर्भूत नहीं होता है। बन्धन और मुक्ति इन दोनों से यह अतीत है। असम्प्रज्ञात योगावस्था ही मुक्ति है। असम्प्रज्ञात योग के लाभ होने पर पुरुष चितिशक्ति द्रष्टा के रूप में प्रतिष्ठित होती है। प्रथम पाद के तृतीय सूत्र का यही अभिप्राय है। यह अवस्था पुरुष की सर्वथा गुण के वियोग की अवस्था है, पुनः कभी भी गुणों के साथ सम्बन्ध नहीं होता है। गुण के साथ एकान्त अत्यन्त वियोग ही कैवल्य या द्रष्टा का स्वरूप योग है। ("पुरुषास्यात्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यं तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष इति"[2]) सत्त्वपुरुषान्यताख्याति-रूप विवेक ज्ञान में भी विरक्ति आने पर अविद्या आदि क्लेशबीज समस्त मन के साथ विनष्ट हो जाते हैं तभी स्वरूप प्रतिष्ठारूप-मुक्ति होती है। (तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।[3]) कैवल्या-वस्था में अविद्या का अभाव होने पर प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध का अभाव होता है, यह आत्यन्तिक बन्ध्यत्व ही कैवल्य या स्वरूप प्रतिष्ठा है।[4] किसी-किसी ज्ञानी की जीवन दशा में ही आत्मख्याति की स्थिरता और मिथ्याज्ञान शून्यता आती है वे सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा का अनुभव कर कुशल होते हैं; चित्त का अत्यन्त लय होने पर पुरुष कुशल या मुक्त होता है। क्योंकि वह गुणातीत हो जाता है। (सा. प्रा. व्या. भा. २७) प्रथम अवस्था जीवन्मुक्त है, द्वितीय कुशल विदेह मुक्त है, चित्त के लय से पूर्व जीवन्मुक्त अवस्था एवं शरीर के पात के साथ-साथ जब चित्त का भी लय हो जाता है तो इसको विदेह मुक्तावस्था कहा जाता है। कतिपय आचार्यों के मत में आनन्द या सुख प्रकृति का धर्म होने से कैवल्य में आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं रहती है। पुरुष का स्व-स्वरूप

---

१. व्यास भाष्य ३४ २. विभूतिपाद ५० व्या० सा०

३. वि० पा० ५० ४. सा० पाद २५

अवस्थान चैतन्य स्वरूप है, अतः चैतन्यमय अवस्था की स्थिति ही कैवल्य या मुक्ति है।

समाधि का छ भेदः—

१. ध्यानयोग समाधि।	४. लयसिद्धियोग समाधि।
२. नादयोग समाधि।	५. भक्तियोग समाधि।
३. रसानन्दयोग समाधि।	६. राजयोग समाधि।

ध्यानयोग समाधिः—योगी शाम्भवी मुद्रा से आत्मा का प्रत्यक्ष करता है, बिन्दु को ब्रह्ममय समझकर उसके मध्य में मन को निवेश करता है। उसके बाद 'ख' अर्थात् ब्रह्म ('ख' ब्रह्मेतिः छा. उ. म. ४।१०।०) मध्य में आत्मा को और आत्मा के मध्य में ब्रह्म का दर्शन करता है, इस स्थिति में आत्मा का ब्रह्ममय दर्शन करने के बाद किसी प्रकार की बाधा नही रहती है, योगी सदानन्दमय हो समाधिस्थ हो जाता है।[1]

नादयोग समाधिः—खेचरी मुद्रा की साधना से रसना=जिह्वा के ऊर्ध्वगत होने पर समाधिसिद्धि होने से साधारण क्रिया का प्रयोजन नहीं रहता है।[2]

रसानन्दयोग समाधिः—धीरे-धीरे वायु को पूर्ण कर भ्रामरी कुम्भक करने के बाद धीरे-धीरे वायु का रेचन करना होता है, इस स्थिति में भ्रमर गुञ्जन होता है, अन्दर में भ्रमर का गञ्जन सुनकर उसमें मनको निविष्ट करने पर समाधि होती है एवं सोऽहं ज्ञान एवं परमानन्द लाभ होता है।[3]

---

१. शाम्भवीं मुद्रिकां कृत्वा आत्मप्रत्यक्षमानयेत्।
बिन्दुब्रह्ममयं दृष्ट्वा मनस्तत्र नियोजयेत्॥
खमध्ये कुरु आत्मानमात्ममध्ये च खं कुरु।
आत्मानं खमयं दृष्ट्वा न किञ्चिदपि बाधते॥
सदानन्दमयो भूत्वा समाधिस्थो भवेन्नरः॥ (घे० सं० ७।७-८)

२. साधनात् खेचरीमुद्रा रसोर्ध्वगता यदा।
तदा समाधिसिद्धिः स्याद्धित्वा साधारणक्रियाम्॥ (घे० सं० ७।९)

३. अनि। मन्दवेगेन भ्रामरी कुम्भकं चरेत्।
मन्दं मन्दं चरेद् वायुं भृङ्गनादः ततो भवेत्॥
अन्तःस्थं भ्रामरीनादं श्रुत्वा तत्र मनोनयेत्।
समाधिर्जायते तत्र आनन्दः सोऽहमित्यतः॥ (घे० सं० ७।१०)

लयसिद्धियोग समाधिः--योगी योनिमुद्रा का अवलम्बन कर स्वयं शक्तिमय होता है एवं परमात्मा के साथ शृङ्गार रसमय विहार करता है, इस प्रकार आनन्दमय ब्रह्म के साथ ऐक्य अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान होता है।[1]

भक्तियोग समाधिः--साधक अपने हृदय में भक्ति-प्रवण हो परमानन्दमय इष्टदेवता के स्वरूप का ध्यान करे, ध्यान के फल-स्वरूप रोमाञ्च, अश्रुपात आदि होता है और क्रमशः समाधि एवं मनोन्मनी अवस्था को प्राप्त करता है।[2]

राजयोग समाधिः--मनोमूर्च्छा नामक कुम्भक कर मन को आत्मा में संयुक्त करे, परमात्म संयोग होने से ही यह समाधि होती है।[3]

राजयोग समाधि ही योगसूत्र की सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि है। वेदान्त की सविकल्प और निर्विकल्प समाधि भी यही है। सविकल्प और सम्प्रज्ञात में ध्याता, ध्यान, ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान ज्ञेय ये तीन पदार्थ भासमान होते हैं और निर्विकल्प या असम्प्रज्ञात में तीनों का लय होकर स्वस्वरूप में अवस्थिति होती है वाराहोपनिषद् के भाष्य में ब्रह्मयोगी ने इस योग को लययोग का साधन कहा है। क्षेत्र और परमात्मा का ऐक्य या स्वरूपावस्थान ही लय-योग है।

योग की प्राचीनताः--महेञ्जोदाडो के ध्वंसावशेष में एक योगी की मूर्ति है। (Plxcviii) अनेकत्र योगभङ्गी में दण्डायमान देव-

---

१ योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत्।
सुशृङ्गाररसेनैव विहरेत्परमात्मनि॥
सदानन्दमयो भूत्वा ऐक्यं ब्रह्मणि सम्भवेत्।
अहं ब्रह्मेति चाद्वैतं समाधिस्तेन जायते॥ (घे० सं० ८।१२।१३)

२. स्वकीयहृदये ध्यायेदिष्टदेवस्वरूपकम्।
चिन्तयेद्‌ भक्तियोगेन परमाह्लादपूर्वकम्॥
आनन्दाश्रुपुलकेन दशाभावः प्रजायते।
समाधिः सम्भवेत्तेन सम्भवेच्च मनोन्मनी॥ (घे० सं० ८।१४।१५)

३. मनोमूर्च्छां समासाद्य मन आत्मनि योजयेत्।
परात्मनः समायोगात् समाधिं समवाप्नुयात्॥ (घे० सं० १।१६)

मूर्तियाँ हैं। (Pls, exvi 29 and exviii, ii) एक भङ्गी में योगी की कायोत्सर्ड भङ्गी उपलब्ध है। वायु पुराण में वर्णित पाशुपात-योग मुद्रा से इसकी समता है।[1]

ऋग्वेद में वायुरूपता की प्राप्ति आकाशपथ से गमन, समस्त विश्व के सभी रूप्य पदार्थों को अपने तेज से देखता रहता है। अतीन्द्रिय पदार्थदर्शी इस व्यक्ति का आहार वायु रहता है, यह वायु के मित्र और द्योतमान वायु के द्वारा ये वायुरूप होते हैं। अतीन्द्रिय पदार्थदर्शी कपिलवर्ण का मलिनवस्त्र धारण करता है तप की महिमा से दीप्यमान होकर देवतास्वरूप में प्रवेश करता है। यहाँ मुनयः यह वहुवचन का प्रयोग होने से अनेक मुनि हैं।

"मुनयो वातरशनाः पिशङ्ग वसने मला।
वास्याणुघ्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥"

([2]१०।१३६।२)

उपनिषदों में भी इसकी परिपूर्ण चर्चा उपलब्ध है। श्वेताश्वतर (२।८, २।९) एवं कठोपनिषद् का (२।३।१०, २।३।११, १।३।६) द्रष्टव्य है।

तन्त्र आदि में भी इसका विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

बुद्ध के समय में योगसाधना पूर्ण रूप से प्रचलित थी, वे स्वयं योगसाधना करते थे। अपने समय के योगियों की वे निन्दा करते थे किन्तु अपने शिष्यों को योगसाधना का उपदेश देते थे। बौद्धधर्म की प्रतिष्ठा में योगदर्शन का प्रचुर प्रभाव सुव्यक्त है।

आज तो असंख्य योगी एवं असंख्य योग केन्द्र है। वास्तविक योगी कितने हैं—यह भगवान् ही जानता है।

तन्त्र में कुण्डलिनी जागरण के लिए एकमात्र योग ही सहायक है।

भारतीय दर्शन में योग :—

वैदिक ऋचाओं के अनेक स्थलों में योग का विश्ललेषण उपलब्ध है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के अट्ठारहवे रूक्त में लिखा है कि कोई भी क्रियायें विना योग के सिद्ध नहीं होती हैं। "यस्मादृते न सिध्यन्ति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति।" (ऋ.

१. R. I. P. 301–334.

२. ऋ० १०।१३६।४, ५, ७।

१।१८।७) इसी की छाया गीता के "योगः कर्मसु कौशलम्" पद्य में उपलब्ध है।

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' यो० सू० १।१७ इस सूत्र का मूलाधार "स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरन्ध्याम्। गमद् वाजेभिरा स नः"। (ऋ. १।५।४, साम ३०१।२।१०३ अथर्ववेद २०।६९१) में मिलता है (ईश्वर की कृपा से समाधि की प्राप्ति होती है)। मुझे उसका सन्निधान प्राप्त हो। इतना ही नहीं ईश्वर प्रणिधान के लिए वेद में अनेक मन्त्र उपलब्ध हैं प्रत्येक समाधि में ऐश्वर्य सम्पन्न इन्द्र का आह्वान करे। "योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहेसवाय इन्द्र भूतये"। (ऋ. १।३०।७) इन मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि संहिता भाग से चलती हुई योग धारा ने उपनिषद् युग में पुष्पित-पल्लवित होकर अनेक योगों के आधार पर सूक्ष्मतम समाधि से स्वरूप प्रतिष्ठा का मार्ग प्रशस्त किया।

आत्म ज्योतिः के आनन्दमयकोष, विज्ञानमयकोष, मनोमयकोष, प्राणमयकोष, और अन्नमयकोष आवरण के रूप में है इन कोषों के कारण ही प्रकृति के सूक्ष्म और स्थूल तत्त्वों के प्रतिबिम्बन से राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि का आत्मा में आरोप होता है।

योग सभी दर्शनों के साथ अक्षुण्ण रूप से उपलब्ध होता है। यही कारण है कि सामान्य दार्शनिक मान्यताओं के खण्डन होने पर पर भी योग की मान्यतायें सर्वत्र स्वीकृत है।

आस्तिक दर्शनों के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वेदमूलक होने से वहाँ विरोध की सम्भावना ही नहीं है, नास्तिक दर्शनों के साथ भी योग का अनिवार्य सम्बन्ध है।

जैन दर्शन में कर्मपुद्गलों के आश्रव के अवरोध के विना कर्म-पुद्गलों का क्षय सम्भव नहीं है। ज्ञान ही इनका प्रधान कारण है, अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र इन तीनो रत्नों का अनुष्ठान आवश्यक है। सम्यग्दर्शन आत्मा के स्वरूप प्रतिष्ठा का है। इसके द्वारा जीव, आजीव आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का यथार्थ ज्ञान होता है।

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"। (मोक्षशास्त्र १।१)

संयम और तप के विना आश्रव का निरोध और सञ्चित कर्मों

का विनाश नहीं हो सकता है और इनके विनाश के विना आत्मा की शुद्ध अवस्था नहीं आ सकती है।

"संजमएण भन्ते, जीवे किम जणयइ ? संजमएण अण्णहएत्तं जणयइ। तवेणं मन्ते, जीवे किं जणयइ ? (उत्तराध्ययन २९, २६-२७)

बौद्ध दर्शन में सम्यग्दर्शन के ही अर्थ में सम्यग्दृष्टि (सम्मादिती) मानी गई है[1] जागतिक दुःखों की प्रकृति को जानकर सत्कायदृष्टि आदि से विभूति होती है। बौद्ध दृष्टि से यह सम्यग्ददृष्टि ही प्रज्ञा है। प्रतीत्यसमुत्पाद आदि प्रज्ञा की भूमि है। क्रमशः अनित्य दुःख और अनात्म ज्ञान से विपस्सना आती है और जो प्रज्ञा का मार्ग और लोकोत्तर समाधि है। इसके द्वारा दिव्यचक्षु: दिव्यश्रोत्र, चेतः-पर्यायज्ञान, पूर्वानुस्मृति-ज्ञान-च्युत्युत्पादज्ञान और आश्रवक्षयज्ञानरूप षडभिज्ञा उत्पन्न होती है। शब्दान्तर से जैनदर्शन में भी इन्हें स्वीकार किया गया है। मनःपर्यायज्ञान चेतः पर्याय ज्ञान है। यह पूर्वानुस्मृति और केवलज्ञान के अन्तर्गत है।

किन्तु सम्यग्ज्ञान का सम्यक् चरित्र के विना रहना सर्वथा निष्प्रयोजन है। सम्यक् चरित्र महाव्रत और अणुव्रत के भेद से दो प्रकार का है। अहिंसा, सत्य आदि बारह व्रत इसके लिए कहे गये हैं। इनसे अतिरिक्त पञ्च समितियों का पालन, इन्द्रियों पर विजय-प्राप्ति समता आदि षडावश्यकों का अनुष्ठान करना है। इन सभी अनुष्ठानों के बाद समाधि के आलम्बन के विना परमपद अर्थात् स्वरूप प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है।

सर्वार्थतैकाग्रतप: समाधिस्तु क्षयोदयौ।
तुल्यावेकाग्रता शान्तोदितौ च प्रत्ययाविह ॥

कर्मविजय, भावनोपलब्धि, ध्यानसिद्धि, (अ. रा. को. ख. ७पृ. ४) समत्व प्राप्ति के साथ सर्वज्ञत्व प्राप्ति सोपान क्रम में होती है। सम्यग्दृष्टि ही योग का परम चरम लक्ष्य है।

बौद्ध दर्शन में भी शील समाधि एवं प्रज्ञा का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। कुशलचित्त की एकाग्रता ही समाधि है। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रज्ञा पारमिता की प्राप्ति अपेक्षित है और इसके लिए दश भूमियों को पार करना पड़ता है इस प्रकार जैन और 'बोद्ध

---

१. बुद्धवचन पृ० २१

साधना शुद्ध योग साधना है'––यह कहना अनुचित नहीं है। जैन के समान ही अष्टाङ्ग मार्ग में प्रज्ञा, शील और समाधि इन तीन रत्नों को यहाँ भी माना गया है।

एकालम्बन रूप एकाग्रता हीं बौद्धो की समाधि है। यह एकाग्रता अभिन्नालम्बन स्वरूपा है। यह अभिन्न आलम्बन स्वरूप प्रतिष्ठा से अतिरिक्त नहीं हो सकती है।

प्रसादपूर्ण चित्त की समाधि ही सफल होती है।

"सुखिनो चित्तं समाधियतीति वचनतो पन सुखमस्स पदट्ठान[१]।

बुद्धमार्ग की दिशा में अविच्छिन्नरूप से चित्त की एक आलम्बन के आश्रयण की मनोवृत्ति जब होती है तब समाधि होती है[२]। योग एवं गीता की दृष्टि से विश्लेषण करने से इस अर्थ का स्फुट परिष्कार मिलता है। अभिधर्मकोषभाष्य के अनुसार स्वरूप प्रतिष्ठान से भिन्न समाधि नहीं हो सकती है। एकाग्रता का विवरण देते हुए लिखा है कि "एकालम्बन चित्त ही समाधि है चित्त का धर्मान्तर समाधि नहीं है। चित्त ही समाधि नहीं है, जिससे एकाग्रता होती है वह धर्म समाधि है[३]। स्फुटार्था में भी इसी अर्थ को कहा है। फलतः योग और समाधि अभिन्न है। और द्रष्टा के स्वरूप की प्रतिष्ठा है। अन्य धर्म की प्राप्ति सिद्धान्त विरोध के कारण सम्भव नहीं है। इस प्रकार योगप्रस्थान का सर्वत्र समादर है। भारतीय साधना में योग के साहाय्य की प्राप्ति के विना साध्य की प्राप्ति हो ही नहीं सकती है। चित्त की एकाग्रता ही बहिरंग साधन प्रणाली से विमुक्त कर अन्तरङ्ग एकाग्रता का सम्पादन कर बोधको विषम विश्व से उन्मूलन कर समत्व की भूमि पर अवस्थित कराती है।

यह सत्य है कि अनादि अविधा के कारण मानव मन स्वभावतः बहिर्मुख रहता है। इसको अन्तर्मुख करने के लिए सक्रिय चेष्टा ही प्रथम योग है। यह योग एकग्रता के द्वारा बहिरङ्ग प्रवृत्तियों से

---

१. विशुद्धि मग्गों पृ० १८१

२. अविच्छिन्नरूपेण चित्तस्यैकालम्बेन प्रवृत्तिः समाधिः। अभि० को० पृ० ३०।

३. केयमेयकाग्रता नाम ? एकालम्बना। एवं तर्हि चित्तान्येवैकालम्बनानि समाधिर्न चैतसिकं धर्मान्तरमिति प्राप्नोति। न चित्तान्येव समाधिः। येन तु तान्येकाग्राणि वर्तते स धर्मः समाधिः। अभि० भा० पृ० ४३२

निरुद्ध होता है और अन्त में स्वसत्ता में अवबुद्ध प्रकाश से समग्र विश्व उद्भासित होता है और इससे लोक के प्रति करुणा और कल्याण कामना उद्बुद्ध होती है, अहंशून्यता अस्मिता में परिणत होती है। अस्मिता भूमि में ज्योतिः स्वरूप प्रज्ञा का प्रोल्लास होता है। विभूतियों की दीप्ति में भूतों के जय से कायसम्यत् समृद्ध होता है। मधुमती भूमिका के साथ भूमासाक्षात्कार तथा भोग वितृष्णा रूप विवेक ख्याति होती है।

भारतीय सभी साधनाओं का मूल-लक्ष्य भेद में अभेद दर्शन ही है। एक तत्त्व में अवस्थान करना ज्ञान विचार का प्रधान कार्य है। वेद से लेकर सभी दर्शनों में अध्यात्म और अधिभूत Subjeet and objest रूप द्वैतदर्शन का एकतत्त्व में ले जाने का मार्ग दर्शन ही है। बुद्धि तत्त्व की द्विधा अभिव्यक्ति Moral and natural lawi' नैतिक और प्राकृतिक रूप में होती है। अद्वयपुरुषोत्तम की 'यही भूमिका है। प्रकृति भूमि भावमयी भूमि में प्रकाश लाभ करती है। भावभूमि ज्ञानभूमिक्रम में पुरुषस्य या चेतन स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है।'

बाह्य जगत् में धर्म का आधान बुद्धि के द्वारा होता है। intellect अर्थात् बुद्धि ही इस दिशा से कर्तव्य का ज्ञान कराती है। कर्तव्य में निहित गुप्त प्रेम निर्झरिणी की दिशा hidden spring of love उद्भूत होती है, moral conciousness अर्थात् कर्तव्य विवेक का विकाश प्रेम में परिणत होता है यह प्रेम ही प्रज्ञा का स्वरूप अवलम्बन करता है। इस विचार और प्रज्ञा intellect and intuition का मूल अद्वय पुरुष रूप स्वरूप प्रतिष्ठा है।

ज्ञान की प्रथम किरण दृष्टिपथ में आने पर मन में बोध होता है कि यह बाहर की है और इसी से वस्तु परिचालित है। किन्तु दैहिक क्रिया की अवगति के साथ यह विश्वास होता है--यह शक्ति अन्तर्निहित ही है। Immanent Dynamices की धारणा अर्थात् concepticn उद्भूत होता है। स्वाभाविक गति का अनुसन्धान होते ही सर्वानुस्यूत चेतनशक्ति का स्पन्दन होता है। इसी क्रम में intelligent direction upon an end का बोध होता है। विश्व की ज्ञानचालित के रूप में अनुभूति होती है और अन्त में ज्ञान भी चेष्टाशून्य स्वतः उद्भासित सहज प्रकाश रूप में अवगत स्वरूप प्रतिष्ठित होता है।

प्रत्येक भूमि में रसास्वादावस्था रहती है। एक भूमि अन्य भूमि में जाने की सोपान परम्परा है। आनन्दाकार में परिणत जीव को सीमा से दूर सर्वभाव में उपस्थित करता है सङ्कीर्णता की भूमि से छुड़ाकर अर्थात् Particularity के region से अलगकर universalty भूमा के राज्य में प्रतिष्ठित करता है। कर्म भक्ति या ज्ञान इस सत्त्व समाधि में आकर विघ्न-द्वन्द्व-शून्य हो समता और स्वच्छन्दता सुख की भूमि में रहता है। समाधि nere trance state शुद्ध मूर्च्छाभाव नहीं है यह absorption into concentrated thought गम्भीर अनुभूति है। इसे परमविचार, परमप्रेम, परमज्ञान का समष्टिभूत फल कह सकते हैं। यह वही भूमि है जहाँ धारणा thorought understanding and firm fixity of attention ध्यान deep meditation एवं समाधि absorbed attention इनका पुन्जीभूत होता है। यह धृतिगृहीत ज्ञान को प्रीतिगृहीत ज्ञान के रूप में परिपूर्णता का लाभ करता है। इस समाधि के फल स्वरूप ही प्रज्ञा intuition का उदय होता है यह भावना विशेष developed reason है, मन की सभी सत्यशक्ति इससे नियोजित होती है। यही कारण है कि यह मन को शुद्ध विचार Pure thought के राज्य में, सत्यज्ञान Pure ideation के राज्य में शुद्धभावना की भूमि में अवस्थित रखता है। योग की इस समाधि में कर्म ज्ञान और भक्ति भी अवसान लाभकर योग संज्ञा प्राप्त करते है। पातञ्जल की दृष्टि में आकार शून्य स्वरूप मात्र निर्भास अवस्था है। इस स्थिति में ज्ञान को जीवकी स्मृति या संस्कार contribvte आरोपित होकर अन्यथा अनुरञ्जित नहीं कर पाते हैं। सर्वथा स्वरूप अवस्थिति शब्दान्तर से ब्रह्मार्पण या ब्रह्महवि है। इस अवस्था में जीव न तो इन्द्रियार्थों में न शरीरसुखावह कर्मों में प्रवृत्त होता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते तब निष्काय नि.स्पृह विजितेन्द्रिय, अध्यात्म चेता के रूप में समत्व की भूमि में अवस्थित लोककल्याण भावना से प्रवृत्ति करता है इसे कुण्डलिनी को जगाकर सुषुम्णा में प्रवेश कराकर ब्रह्मरन्ध्रभेदन भी कह सकते है। कुण्डलिनी तेजोरूप है। यह अद्वैत भाव की प्राप्ति है। अतः अद्वय प्राप्ति समत्व की भूमि पर अवस्थिति ही योग है और तन्त्र में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान शारदातिलक में माना गया है।